भगवान महावीर के २५सौवें निर्वाण महोत्सव के उपलक्ष्य में प्रकाशित

जैन धर्म का प्राचीन इतिहास

(द्वितीय भाग)

भगवान महावीर और उनकी संघ-परम्परा

प्रेरक

अध्यात्म योगी प्रमुख आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज

सम्पादक व लेखक

परमानन्द शास्त्री

भूतपूर्व सम्पादक 'अनेकान्त'

प्रकाशक

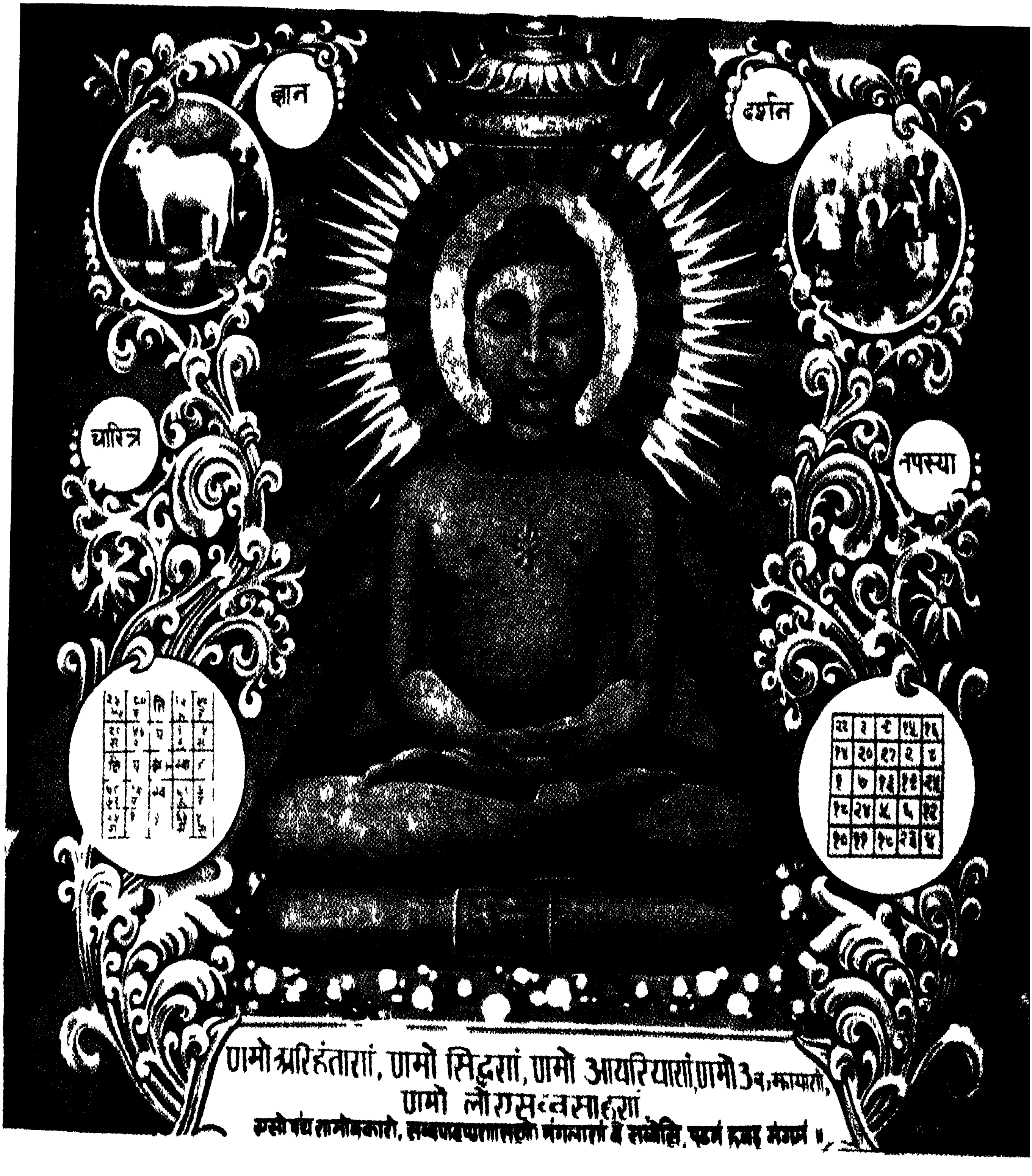
रमेशचन्द्र जैन मोटरवाले

राजपुर रोड, दिल्ली

प्रकाशक :
रमेशचन्द्र जैन
पी० एस० जैन मोटर कम्पनी
राजपुर रोड, दिल्ली

प्रथमावृत्ति	:	११००
वीर नि० संवत्	:	२५००
मूल्य	:	३५.००
		(पैंतीस रुपये)

मुद्रक :
राजस्थानी प्रिंटिंग एजेंसी के लिये
एस० नारायण एण्ड संस (प्रिंटिंग !
पहाड़ी धीरज, दिल्ली-६
फोन : ५१३६६८



श्री १००८ भगवान महावीर स्वामी

समर्पण

जिनके सौजन्य और प्रेरणा से मैं इस ग्रन्थ की रचना में प्रवृत्त हुआ, जिनको जिन साहित्य के सृजन और प्रकाशन का साहित्यानुराग है, जो जैन संस्कृति के प्रचार प्रसार में बराबर अपना योगदान प्रदान करते रहते हैं, उन प्रमुख आचार्य अध्यात्म योगी श्री देशभूषण जी महाराज की साधना से प्रेरित होकर मैं यह ग्रन्थ उन्हें सादर समर्पित करता हूँ।

—परमानन्द जैन शास्त्री

श्री १०८ आचार्यरत्न देशभूषण जी महाराज का

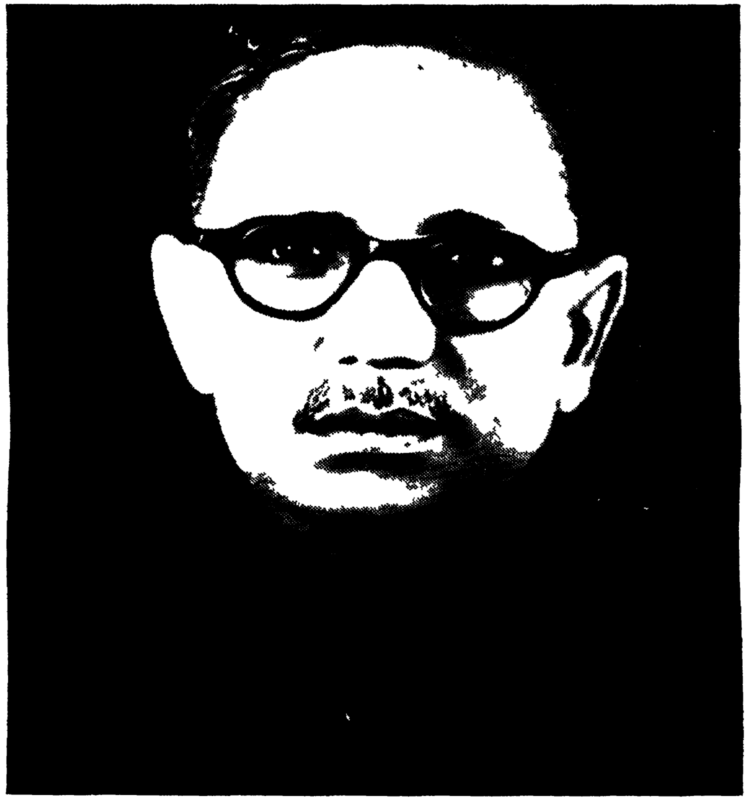
शुभाशीर्वाद

स्वर्गीय आत्मा श्री धर्मानुरागी ला० प्रताप सिंह को सुख शाँति प्राप्त हो। आपने अपने जीवन धार्मिक और सामाजिक कार्य किये थे, उसको लेखनी द्वारा जितना भी लिखें उतना कम ही है। हमारे दि चातुर्मास में लाला प्रताप सिंह और उनकी धर्मपत्नी इलायची देवी ने संघ की सेवा तन, मन और धन उसका कोई वर्णन नही कर सकते। लाला जी की गुरु के बारे में जो श्रद्धा तथा भक्ति थी वह हृदय से थी। ल ने तन-मन से अपना कर्त्तव्य समझ कर गुरु सेवा और अन्य धार्मिक कार्य अपने हाथों से करके अतुल पुण् कर इह पर का साधन जुटा लिया और संतान को भी अपने अनुकरण करने योग्य धर्म और लौकिक व सा सेवा आदि कर्त्तव्य करने का संस्कार तथा योग्य शिक्षण दिलवा कर मनुष्य के कर्त्तव्य कर्म पर उनको नि आप हमेशा के लिए संसार से अलग हुए। इस बात से कुटुम्बी लोगों का हृदय दुःख से द्रवित हुआ परन्तु लीला अत्यन्त विचित्र है उसको कोई ब्रह्म देव भी परिवर्तन नही कर सकता है, फिर मनुष्य क्या कर है। अयोध्या की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा का भार अपने ऊपर लेकर गुरु की आज्ञानुसार काम करके संपू और जैनेतर जनता के हृदय में धर्म का तथा अहिंसा मार्ग का जो प्रभाव गुरु के द्वारा डलवाया और गुरु का अपने द्वारा ही करवाया, यह सब अपने पूर्व जन्म में किया पुण्य का संचय था। आगे भी धर्म कार्य होने क थी, परन्तु कर्म ने उस काम को करने नहीं दिया। तीर्थ क्षेत्र की यात्रा कराकर पुण्य लाभ और प्रभावना अंग इससे इह परलोक का साधन जुटाकर शीघ्र संसार से हमेशा के लिये अलग हुए। इस स्वर्गीय श्री ला० प्रताप आत्मा को हमेशा के लिए सुख शांति मिले ऐसा श्री भगवान जिनेन्द्र देव से प्रार्थना करते है।

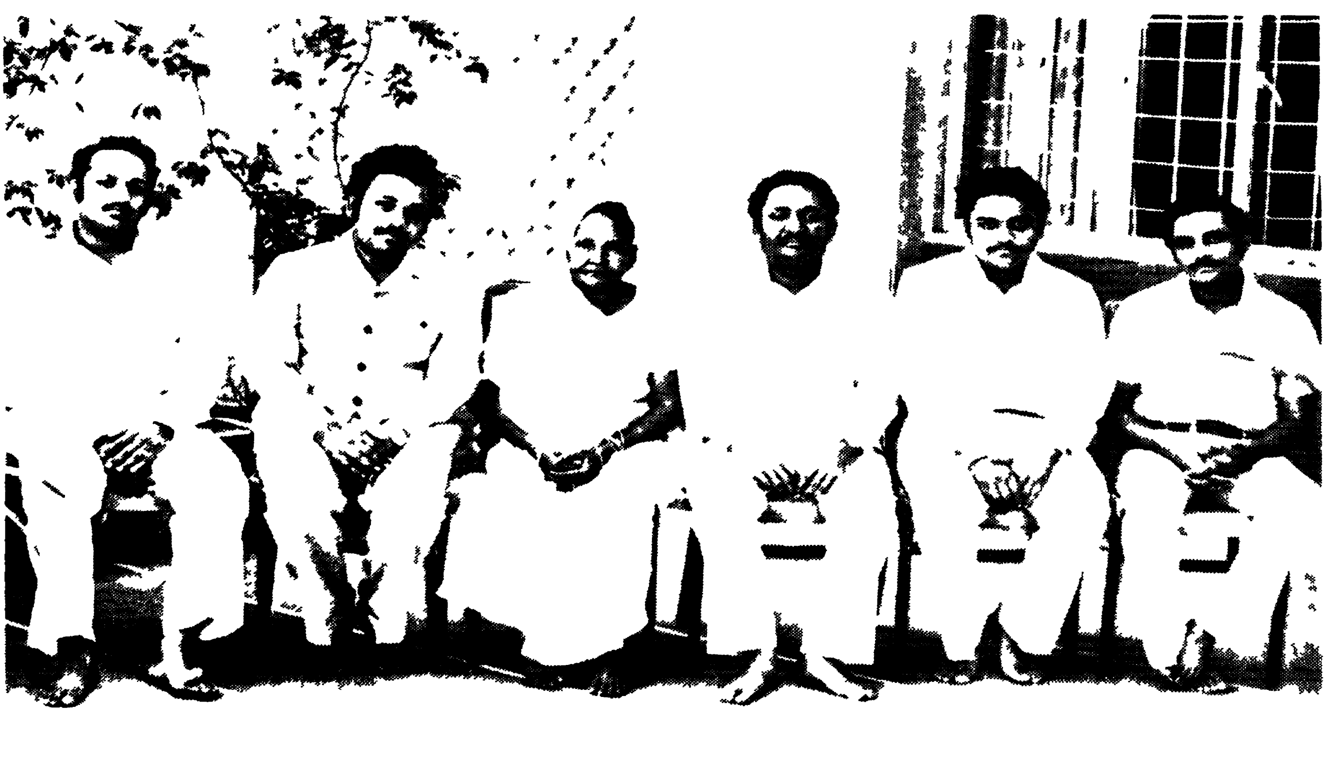
श्री स्वर्गीय लाला प्रताप सिंह जी के जीवन की झाकी के अनुसार उनकी संतान तथा प्रति संता के मार्ग का अनुकरण करके श्री जिनेन्द्र भगवान के मार्ग को बढावें और अपने हृदय में सतत धर्म जागृति त मार्ग पर चलते हुए समाज सेवा भी अपने कर्त्तव्य अनुसार करते रहें हम उन्हें आशीर्वाद देते हैं कि उस धर्म आत्मा को शाँति हो। कुटुम्बियों को धर्म में रुचि बढ़े। इति आशीर्वाद।



श्री १०८ आचार्य रत्न देशभूषण जी महाराज



स्व० ला० प्रताप सिंह जैन



श्रीमति इलायची देवी ध० प० स्व० ला० प्रतापसिंह जैन एवं उनके सुपुत्र
श्री रमेश, श्री सुदेश, श्री उमेश, श्री सुभाष, व श्री प्रभाष जैन

स्वर्गीय श्रीमान् लाला प्रताप सिंह जी मोटर वालों के संबंध में

दो शब्द

श्रीमान् ला० प्रताप सिंह जी मोटर वालों ने अपने जीवन में धार्मिक तथा सामाजिक कार्य तथा सेवा में अपना अमूल्य समय व्यतीत किया है। उनके बारे में जो कुछ भी लिखा जाय थोड़ा ही है। तो भी यहां संक्षेप में जो धार्मिक कार्य अपने जीवन में लाला जी ने किये हैं। उस सत्कार्यो से उनका नाम हमेशा हमेशा के लिये अमर हो गया है। "न धर्मो धार्मिकैं विना" धर्म बिना धर्मात्मा के नही चलना है। सचमुच में वह धर्मात्मा व्यक्ति थे, आप श्री परम पूज्य १०८ आचार्य देशभूषण महाराज श्री का प्रथम चातुर्मास जो दिल्ली में हुआ था तब से आपमें महाराज श्री के संसर्ग से जो धार्मिक प्रवृत्ति एवं दान में विशेष अभिरुचि उत्पन्न हुई थी। तत्पश्चात् आपकी धर्मपत्नी श्रीमती इलायची देवी ने भी विशेष धर्म की अभिरुचि रख अपने पतिदेव के अनुरूप धर्म कार्य भार विशेषरूप से उठाने का प्रयास किया। प्रथम जब महाराज के संसर्ग में रहने का अधिक साधन प्राप्त हुआ, उस समय श्री माघनंदि आचार्य कृत 'शास्त्रसार समुच्चय' मूल कन्नड़ ग्रन्थ का अनुवाद हिन्दी में कराके छपवाने का भार आपने स्वयं उठा कर संपूर्ण जैन समाज को शास्त्र दान देकर महान पुण्य का संपादन किया। यह महान् गौरव की बात है। इस ग्रन्थ के द्वारा कितने ही अज्ञानी जीवों ने ज्ञान प्राप्त करके अपनी आत्मा का कल्याण कर लिया है। आप एक महान् एवं आचार्य श्री के अत्यन्त भक्त थे। आचार्य श्री के मुख से निकले हुए वचनों का कभी उल्लघन नहीं करते थे। किसी भी धार्मिक कार्य को महाराज कहते वह उसे पूरा ही करते थे। यह उनकी अखंड साधना थी।

दिल्ली चातुर्मास

द्वितीय चातुर्मास का संपूर्ण भार स्वयं उठाकर आपने अपने तन, मन, धन से परिपूर्ण सेवा करके महान् पुण्य का संपादन किया। चातुर्मास समाप्त होने के बाद आपने अपने ही व्यय से महाराज का सम्मेद शिखर की यात्रा के निमित्त संघ निकाल कर बिहार में जैन जैनेतरों को धर्म उपदेश का लाभ दिलाकर उनको सन्मार्ग पर लगाने की चेष्टा करते हुए अपने धन का सदुपयोग किया। महान सिद्ध क्षेत्र सम्मेद शिखरजी में भी आपने दान दिया इन प्रवृत्तियों से महत्पुण्य का संपादन किया आपके ५ सत्पुत्र है। वे भी आपके समान आपके कदम पर चलते है। सबसे बड़े पुत्र रमेशचन्द्र ने भी अतीव धार्मिक अभिरुचि के साथ अपने पिताजी के समान अनुगमन किया तथा इनके चार लघु भ्राताओं ने भी पिताजी तथा अपने ज्येष्ठ भ्राता और अपनी पूज्य माता श्रीमती इलायची देवी की आज्ञा का उल्लघन न करते हुए उन्ही की आज्ञानुसार लौकिक, धार्मिक कार्यो को संभाला है। यह अत्यन्त गौरव की बात है कि माता, पिता की सेवा करने उनके पदचिन्हों पर चलने वाली सुसंतान इस युग में दुर्लभ है। यह महान् गौरव की बात है। इसी तरह आगे भी होने वाली संतान भी इन्हीं का अनुकरण करें।

कलकत्ता चातुर्मास

कलकत्ता के चतुर्मास में वर्षायोग पूर्ण होने पर आप धर्मपत्नी सहित संघ की सेवा में तत्पर रहे। श्री ला० प्रतापसिंह जी तथा इसके समधी ला० रामेश्वरदयाल जी इन दोनों ने मिल करके धर्म प्रभावना के साथ संघ की सेवा करके धर्म लाभ उठाया तत्पश्चात् श्री प्रतापसिंह जी धर्मपत्नी सहित कलकत्ता से विहार करने पर श्री गिरि-राज सम्मेद शिखर जी तक सेवा में तत्पर रहे संघ में किसी भी प्रकार का असंतोष व सेवा में कोई भी त्रुटि न आने दी तथा संघ में किसी प्रकार का भी सेवा की दृष्टि से धन का भी अभाव नही आने दिया।

तत्पश्चात् शिखर जी से संघ का विहार कराके जब श्री १००८ बाहुबलिजी के दर्शनार्थ दक्षिण में दानवीर, धर्मवीर श्री नाथमल्ल जी काशलीवाल ने संघ निकालकर, संघ में रह कर बाहुबलि जी के दर्शन कराकर सघ को कोल्हापुर में चतुर्मास कराया; तब दिल्ली की जैन समाज ने पुनरपि चतुर्मास की प्रार्थना करके वापिस लाने में ला० प्रतापसिह जी मोटर वाले, इनकी धर्मपत्नी श्रीमती इलायची देवी ने अपनी ओर से पूर्णतया सहयोग देकर सघ की प्रभावना के साथ दिल्ली लाकर अपने तन, मन, धन, से चतुर्मास की समाप्ति तक पूर्ण सेवा करके धर्म लाभ लिया।

अयोध्या पंचकल्याणक

अयोध्या के पंचकल्याणक में जो वहां की प्रभावना, सहायता की आवश्यकता में तादात से अधिकतर ला० प्रतापसिह जी की प्रेरणा से ला० रामेश्वरदयाल जो, बजरगबली जी इन्ही के सहयोग से यह प्रतिष्ठा सुचारू रूप से चलकर वहां श्री अयोध्या में अजैन, ब्राह्मणों, विद्वानों एव महन्तों ने भी इस पूजा प्रतिष्ठा की अत्यन्त प्रशसा की तथा पूर्ण सहयोग भी दिया।

लाला प्रतापसिह जी ने अपने परिवार के साथ वहा की पूर्ण जवाबदारी अपने ऊपर लेकर १५-२० दिन तक अपना सारा व्यवसाय इत्यादिक पूर्णतया त्यागकर इस पचकल्याणक में पूर्णतया भाग लेकर अपूर्व पुण्य का संचय किया। उनमें जन धन इत्यादि की त्रुटि न हो उस तरह से तन, मन, धन से और भी साधर्मी जैन भाइयों के साथ सेवा मे तत्पर रहे। वहा पच कल्याणक में लाखों रुपयों से दान में असमर्थ एवं दीन लोगों को सहायता देकर उन लोगों को सुचारु रूप से अर्जीविका इत्यादि का भार भी श्री रामेश्वर दयाल जी और आप दोनों ने उठाया था पच-कल्याणक के पश्चात् महाराज जी का चातुर्मास सभवतया लखनऊ तथा बाराबकी मे होने का पूर्ण सम्भावना थी। परन्तु एकाएक सम्मेद शिखर के विशेष मामले को लेकर लाला प्रतापसिह जी ने पुनः प्रार्थना की कि श्री शिखर जी का मामला सम्भवतया राजधानी मे चतुर्मास होने से सुलझ जाय तो उत्तम रहेगा ऐसा विचार करके और अपने निजी खर्च मे सघ दिल्ली लाकर उनकी भावना सेवा करने की प्रार्थना की थी परन्तु अकस्मात आयु कर्म की गति रुकने से या देव का प्रकोप होने से लाला जी महाराज की सेवा छोड़कर पूर्व पुण्य के सहित परलोक सिधार गए। क्योंकि कर्म किसी को भी नहीं छोड़ता। तीर्थंकर, चक्रवर्ती इत्यादि की भी यही स्थिति होती है। यथा—"कर्म गति टारी नाहि टरै" कर्म ने ऐसे वीरों को भी नहीं छोड़ा कर्म की ऐसी विचित्र गति है। इस कहावत के अनुसार ला० प्रतापसिह जी ने महाराज की सेवा से वंचित होकर प्रयाण किया, कर्म के आगे किसी का भी वश नही चलता। लाला प्रतापसिह जी ने अपने पुरुषार्थ से कमाये हुए धन को अनेक स्थानों पर वितरण करके महान पुण्य का संचय किया। आपने एक हाई स्कूल खोलकर अनेकों जैन जैनेतरों को विद्या दान देकर उनकी सेवा करने का उनका उत्थान करने का प्रयास किया था। इस प्रकार उन्होंने अनेक स्थानों में विद्या के निमित्त दान स्कूल या पाठशाला खोलकर दीन-हीन जनों का उपकार किया है। नेपाल, नागपुर, पंजाब, रोहतक फिरोजाबाद, जयपुर इत्यादि स्थानों पर इनका कार्य आज भी अधिकाधिक रूप से चल रहा है। उसी के अनुकरण में उनकी धर्म पत्नी इलायची देवी ने भी अपनी सम्पूर्ण सुसतानों को भी न्याय मार्ग के अनुरूप प्रवर्तन किया है। इस तरह उनको भी सन्मार्ग में लगाये हुए पूर्ववत् अपने व्यवहारादि सहित उनके जीवन में जो धार्मिक अभिरुचि उत्पन्न की है यह अपूर्व बात है। लाला प्रतापसिह जी ने अपने जीवन को जिस तरह बिताया उनकी ही परोपकारी वृत्ति थी। सम्पूर्ण विश्व का बाल गोपाल जानता है। आप जैन व अजैन समाज की दृष्टि में आदर्श तथा मुख्य व्यक्ति थे। आज इनके सुपुत्र श्री रमेशचन्द्र जी सामाजिक, धार्मिक कार्यों में अपने तन, मन, धन से सेवारत है, प्रस्तुत ग्रन्थ इन्हीं के सौजन्य से प्रकाशित हो रहा है।

आपका परिवार हमेशा ही चारों दानों में अग्रणी रहता है, आपके गुप्त दान से कितने ही असमर्थ भाई बहिनों का जीवन सफलता पूर्वक चल रहा है, सारा परिवार पूर्ण धार्मिक विचारों का तथा गुरू भक्त है, हम इनके परिवार की उच्च सफलता की कामना करते हैं।

दिल्ली। —वैद्य प्रेमचन्द जैन

प्राक्कथन

'जैन धर्म का प्राचीन इतिहास और महावीर संघ परम्परा' नाम का यह ग्रन्थ पं० परमानन्द शास्त्री का लिखा हुआ है। परमानन्द शास्त्री जैन समाज के प्रसिद्ध विद्वान हैं। ग्रन्थ के ४१६ पेज मैंने सरसरी निगाह से देखे हैं यह ग्रन्थ भगवान महवीर की पच्चीस सौ वीं निर्वाण जयन्ती के उपलक्ष्य में लिखा गया है। इस पुनीत अवसर पर परमानन्द जी का यह ग्रन्थ सराहनीय महत्वपूर्ण और सर्वत्र संग्राह्य है। ग्रन्थ सुन्दर है जैनाचार्यो, अपभ्रंश कवियों और भट्टारकों के इति वृत्त के साथ जैन संघ की परम्परा पर अच्छा प्रकाश डालता है। ग्रन्थ में ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से १८ वीं शताब्दी तक के, जो महान जैनाचार्य हुए उनका क्रमिक इतिहास संक्षिप्त होते हुए भी उनकी जीवन रचनाओं पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। ग्रन्थ में जैन धर्म व संस्कृति के क्रमिक विकास का संक्षिप्त व सरल रूप देने का प्रयत्न किया गया है।

ग्रन्थ की प्रस्तावना में 'श्रमण संस्कृति' पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। 'श्रमण' शब्द के दो अर्थ हैं, जो सबमें समत्व देखे वह निर्मोही सच्चा श्रमण है, वह सबको समभाव से देखता है। वह अपने अङ्ग प्रत्यङ्ग से तपश्चर्या कर आत्मा को ऊंचा उठाता है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने इन्द्रियों का निग्रह करने का उपदेश दिया था।

समसत्तु बंधुवग्गो समसुखदुक्खो पसंसणिदसमो।
समलोट्ठकंचणो पुण जीवित मरणो समो समणो।।

(प्रवचनसार ३-४१)

जिसने इन्द्रियों का निग्रह किया, उसने क्या नहीं किया है। इसी निग्रह के अनेक प्रकार हैं—श्रमणों के कई विभाग, श्रमण, वातरशना, तपस्वी आदि पठनीय हैं। ऋग्वेद में वातरशना और केशी आदि के नाम की प्राप्ति आनन्द दायिनी है, उससे पता लगता है कि जैन संस्कृति उस समय से पूर्वतन थी। कई विद्वान इसे ई० पू० २५०० वर्ष मानते हैं, और पांचवीं सहस्राब्दी से पूर्व भी कई ने समझा है, कई ने हड़प्पा और मोहन जोदड़ों में इसके अवशेषों को देखा है।

श्री परमानन्द जी ने, जैन संस्कृति के बारे में जो कुछ लिखा है वह सब अध्येय है। जैन इतिहास का इतना वर्णनात्मक इतिहास अब तक हमारे सामने नहीं आया है। आशा है कि अन्य भाग भी शीघ्र ही हमारे सामने पहुंच कर छात्र मण्डल की ज्ञान वृद्धि करेंगे।

लगभग ७०० आचार्यों एवं प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत और कन्नड भाषा के लेखक कवियों का लघु परिचय रचनाओं पर टिप्पणियाँ बहुत परिश्रम से संकलित की गई हैं। भगवान महावीर के द्वारा प्रारब्ध धर्म तथा जीवन परिचय से यह रचना आरम्भ कर लेखक ने ग्यारह गणधरों, पांच श्रुत केवलियों द्वारा इस धर्म के प्रचार का उल्लेख करते हुए जैन संघ के इतिहास का भी यथोचित विस्तार से विवेचन किया है। समग्र साहित्य के रूचिकर अध्ययन के लिये यह पुस्तक पठनीय है। ग्रन्थ के अवलोकन से पता चलता है कि परमानन्द जी ने इसके लिखने में महान श्रम किया है। उन्होंने अपने स्वास्थ्य की विशेष परवाह न करते हुए ग्रन्थ में इतनी अधिक सामग्री एकत्रित की है। जो कार्य बड़े २ विद्वान भी नहीं कर पाते उसे परमानन्द जी ने सम्पन्न किया है। विद्वान लेखक ने जो परिश्रम किया है

उसका मूल्य तो पाठक आंकेंगे ही। मेरी भावना है कि भगवान महावीर की कृपा से इनका बहुत समय तक आयुष्य बना रहे—'भवन्तु दीर्घायुषः श्री परमानन्द शास्त्रिणः' इति भगवतः प्रार्थयते'।

इन आचार्यों में से कई की जीवनी और कई पर विद्वान लेखक ने अपनी ओर से टिप्पणियां दी हैं। इस कार्य की महत्ता समझने के लिये कुवलयमाला, लीलावती, धूर्ताख्यान और उपमिति भवप्रपंच कथा आदि को देखना हितकर हो सकता है। हमें आशा है कि समुचित ग्रन्थों का सामान्य अध्ययन भी इस कार्य में सहायक होगा।

दशरथ शर्मा एम. ए. डी. लिट्

प्रस्तावना

संस्कृति को मानव जीवन के विकास की एक प्रक्रिया कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। संस्कृति शब्द अनेक अर्थों में रूढ है उन सब अर्थों की यहां विवक्षा न कर मात्र संस्कारों का सुधार, शुद्धि सभ्यता, आचार-विचार सादा वेष-भूषा और रहन-सहन विवक्षित है। प्राचीन भारत में दो संस्कृतियां बहुत प्राचीन काल से प्रवाहित हो रही हैं। दोनों का अपना अपना महत्व है फिर भी दोनों हजारों वर्षों से एक साथ रह कर भी सहयोग और विरोध को प्राप्त होती हुई भी एक दूसरे पर अपना प्रभाव अंकित किये हुए हैं। इनमे एक वैदिक संस्कृति है और दूसरी अवैदिक। वैदिक संस्कृति का नाम ब्राह्मण संस्कृति है। इस संस्कृति के अनुयायी ब्राह्मण जब तक ब्रह्म विद्या का अनुष्ठान करते हुए अपने आचार-विचारों में दृढ रहे, तब तक उसमें कोई विकार नहीं हुआ, किन्तु जब उनमें भोगेच्छा और लोकैषणा प्रचुर रूप में घर कर गई, तब वे ब्रह्म विद्या को छोड़कर शुष्क यज्ञादि क्रियाकाण्डों में धर्म मानने लगे। उसमें वैदिक संस्कृति का क्रमशः ह्रास होना शुरु हो गया। अपने उस प्राचीन मूल रूप से मुक्त होकर वह आज भी उज्जीवित है।

दूसरी अवैदिक संस्कृति को श्रमण संस्कृति कहते हैं। प्राकृत भाषा में इसे समन और सुमन कहते हैं और संस्कृति में श्रमण। समन का अर्थ समता है, राग-द्वेष रहित परमशान्त अवस्था का नाम समन है, अथवा शत्रु मित्र पर जिसका समान भाव है ऐसा साधकोपयोगी समण या श्रमण कहलाता है। श्रमण शब्द के अनेक अर्थ हैं परन्तु उन अर्थों की यहां विवक्षा नही है, किन्तु यहाँ उनके अर्थों पर विचार किया जाता है। श्रम धातु का अर्थ खेद है, जो व्यक्ति परिग्रह पिशाच का परित्याग कर घर बार से कोई नाता न रखते हुए अपने शरीर से भी निस्पृह एवं निर्मोही हो जाते है, वन में आत्म साधना रूप श्रम का आचरण करते हैं अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण रखते हैं, काय क्लेशादि होने पर भी खिन्न नहीं होते, किन्तु विषय-कषायों का निग्रह करते हुए इन्द्रियों का दमन करते हैं वे समय पर श्रमण कहलाते है। अथवा जो बाह्याभ्यन्तर ग्रन्थियों का त्यागकर तपश्चरण करते हैं, आत्म-साधना में निष्ठ और ज्ञानी एवं विवेकी बने रहते हे—(**श्राम्यन्ति बाह्याभ्यन्तरं तपश्चरन्तीति श्रमणः**) जो शुभा-शुभक्रियाओं में अच्छे बुरे विचारों में पुण्य-पाप रूप परिणतियों में तथा जीवन, मरण, सुख-दुख में और आत्म-साधनों से निष्पन्न परिस्थितियों में रागी द्वेषी नहीं होते प्रत्युत समभावी बने रहते है वे श्रमण कहलाते हैं।

जो सुमन हैं—पाप रूप जिनका मन नहीं है, स्वजनों और सामान्य जनों में जिनकी दृष्टि समान रहती है। जिस तरह दुख मुझे प्रिय नहीं है, उसी प्रकार संसार के सभी जीवों को भी प्रिय नहीं हो सकता। जो न दूसरों को स्वय मारते हे—न दुख संक्लेश उत्पन्न करते हैं। और न दूसरों को मारने आदि की प्रेरणा करते हैं[1]। किन्तु

---

१. (क) जो समणो जइ सुमणो, भावेण जइ ण होइ पावमणो।
समणे अजणेयसमो समो अमाणाऽवमाणेसु॥
जह न ममन पियं दुःखं जाणिय समेव सव्व जीवाणं।
न हणइ न हणावेइय समणाणई तेण सो समणो॥ —(अनुयोगद्वार १५०

(ख) यो च समेति पापानि अणु थूलानि सव्वसो।
समितत्ता हि पापानं समणोति पवुच्चति॥ (धम्मपद १६-१०

मान-अपमान में समान बने रहते हैं, वही सच्चे श्रमण हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है कि जो श्रमण शत्रु और बन्धु वर्ग में समान वृत्ति हैं। सुख-दुख में समान हैं लोह और कंचन में समान है जीवन-मरण में समान है, वे श्रमण हैं:—

समसत्तु बंधु वग्गो समसुह दुक्खो पसस-णिदं-समो।
समलोट्ठ कंचणो पुण जीविय मरणे समो समणो॥

जो पांच समितियों, तीन गुप्तियों तथा पांच इन्द्रियों का निग्रह करने वाला है, कषाओं को जीतने वाला है, दर्शन, ज्ञान, चरित्र सहित है वही श्रमण संयत कहलाता है।

पंच समिदो तिगुत्तो पचेंदिय संबुडो जिदकसाओ।
दंसणाणाण समग्गो समणो सो संजदो भणिदो॥

स्थानाङ्ग सूत्र (५) की निम्न गाथा श्रमण के व्यक्तित्व और उनकी जीवन वृत्ति पर अच्छा प्रकाश डालत है।

उरग-गिरि-जलण-सागर-णहतल-तरुगणसमोअ जो होइ।
भमर-मिय-धरणि-जलरुह-रवि-पवणसमोअ सो समणो॥

जो उरग सम (सर्प के समान) परकृत गुफा मठादि में निवास करने वाला, गिरिसम—पर्वत के समान अचल, ज्वलनसम—अग्नि के समान अतृप्त—अग्नि जैसे तृणों से अतृप्त रहता है, उसी तरह तप तेज संयुक्त श्रमण सूत्रार्थ चिन्तन में अतृप्त रहता है। सागरसम—समुद्र के समान गंभीर, आकाश के समान निरालम्ब, भ्रमर के समान अनियत वृत्ति, मृग के समान संसार के दुखों से उद्विग्न, पृथ्वी के समान क्षमाशील, कमल के समान देह भोगों में निर्लिप्त, सूर्य के समान बिना किसी भेद भाव के ज्ञान के प्रकाशक और पवन के समान अवरुद्ध गति, श्रमण ही लोक में प्रतिष्ठित होते है। ऊपर जिन श्रमणों का स्वरूप दिया गया है वे ही सच्चे श्रमण है। अनियोग द्वार में श्रमण पाँच प्रकार के बतलाये गये है, निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गेरुय और आजीवक। इनमें अन्तबार्ह्य ग्रन्थियों को दूर करने वाले विषयाशा से रहित, जिन शासन के अनुयायी मुनि निर्ग्रन्थ कहे जाते है। सुगत (बुद्ध) के शिष्य सुगत या शाक्य कहे जाते है, जो जटाधारी हैं, वन में निवास करते हैं वे तापसी है, रक्तादि वस्त्रों के धारक दण्डी कहलाते हैं। जो गोशालक के मत का अनुसरण करते है वे आजीवक कहे जाते है[1]।

इन श्रमणों में निर्ग्रन्थ श्रमणों का दर्जा सबसे ऊंचा है, उनका त्याग और तपस्या कठोर होती है, वे ज्ञान और विवेक का अनुसरण करते हैं। ऐसे सच्चे श्रमण ही श्रमण संस्कृति के प्रतीक है। इस श्रमण संस्कृति के आद्य प्रतिष्ठापक आदि ब्रह्मा ऋषभदेव हैं जो नाभिराय और मरुदेवी के पुत्र थे, और जिनके शत पुत्रों में से ज्येष्ठ पुत्र भरत के नाम से इस देश का नाम भारत वर्ष पड़ा है[2]। महा बन्ध में प्रज्ञा श्रमणों को नमस्कार किया गया है। (**'णमो पण्ह समणाणं'**)।

---

१. निग्गंथ सक्क तावस गेरु आजीव पंचहा समणा।
तम्मिय निग्गंथा ते जे जिण सासणभवा मुणिणो।
सक्काय सुगय सिस्सा जे जडिला तेउ तावसा भणिया।
जे गोसाल समय मणु जे धाउरत्त वत्था निदण्डिणो गेरुया तेण॥
सरंनि यन्नति तेउ आजीवा　　　—(अनुयोगद्वार अ १२०

२. नाभेः पुनश्च ऋषभः ऋषभद् भरतोऽभवत्।
तस्य नाम्नः त्विदं वर्ष भारतं चेति कीर्त्यते॥　　(विष्णुपुराण अ० १
अग्नीध्रसूनो नाभेस्तु ऋषभोऽभूतसुतो द्विजः।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्र शताद्वरः॥
येषा खलु महायोगी भरतो ज्येष्ट श्रेष्ठ गुण आसीत।
येनेद वर्ष भारतमिति व्यपदिशन्ति॥　　　भागवत ५-६

बौद्ध परम्परा में भी श्रमणों का उल्लेख है। धम्मपद में लिखा है कि जो अणु और स्थूल पापों का पूर्ण रूप से शमन करता है वह पापों का शमन करने के कारण समण है।

"यो च समेति पापानि अणुथूला निसव्व सो। सम्मितत्ताति पापानं समणेति पवुच्चति ॥" (१६-१०,

इसी धम्मपद (२६-६) में एक अन्य स्थान पर लिखा है '**समुचरित्ता समणोति वुच्चति**'। समानता की प्रवृत्ति के कारण 'समण' कहा जाता है धम्मपद (१६-६) में बतलाया है कि व्रत हीन तथा झूठ बोलने वाला व्यक्ति केवल सिर मुड़ा लेने मात्र से 'समण' नहीं हो जाता, जो इच्छा और लोभ से व्याप्त है वह 'समण' कैसे हो सकता है?—

'मुंडके न समणो अव्वत्तो अलकं भण। इच्छा लोभ समापन्नो समणो किं भविस्सति।"

आचार्य कुन्द कुन्दने श्रमण धर्म का सुन्दर व्याख्यान किया है, और बतलाया है कि जो दुःखों से उन्मुक्त होना चाहता है उसे श्रामण्य धर्म का स्वीकार करना चाहिए—"**पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं**'। इससे श्रमण धर्म की महत्ता का बोध होता है। जिनसेनाचार्य ने महापुराण में ऋषभदेव को वात रसना बतलाते हुए उसका अर्थ नग्न किया है.— **दिग्वासा वातरसनो निर्ग्रन्थेशो निरम्बरः**। (२५—२-४)।

वैदिक साहित्य में भी श्रमण का उल्लेख उक्त अर्थ में किया गया है। भागवत के (१२-३-१६) के अनुसार श्रमण जन प्रायः सन्तुष्ट करुणा और मैत्री भावना से युक्त, शान्त दान्त, तितिक्षु, आत्मा में रमण करने वाले और समदृष्टि कहे गये है।

सन्तुष्टाः करुणा मैत्राः शान्ता दान्तास्तितिक्षवः।
आत्मारामाः समदृशः प्रायशः श्रमणा जना ॥

इसी ग्रन्थ में वातरशना श्रमणों को आत्मविद्या विशारद ऋषि, शान्त, सन्यासी और अमल कह कर ऊर्ध्वगमन द्वारा उनके ब्रह्म लोक में जाने की बात कही है

"श्रमणा वातरशना आत्मविद्या विशारदः" (श्री भागवत् १२-२-२०)

"**वातरशनाय ऋषयः श्रमणाऊर्ध्वमन्थितः। ब्रह्माख्य धाम ते यान्ति शान्ताः सन्यासिनोऽमलाः** (श्री भाग० ११-६-४७)

वैदिक साहित्य में 'श्रमण' का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में मिलता है ऋग्वेद में वातरशना मुनि का उल्लेख किया गया है, उसमें उनके सात भेद[1] भी बतलाये हैं।

पर उन सब वातरशना मुनियों में ऋषभ प्रधान थे। क्योंकि अर्हत धर्म की शिक्षा देने के लिए उनका अवतार हुआ बतलाया है।

"मुनयो वातरशना पिशंगा वशते मला।
वात स्थानु ध्राजिं यान्ति यद्देवासो अविक्षत ॥
उन्मादिता मौनेयेन वातां आतस्थिमा वयम्।
शरीरेदस्माकं यूय मर्ता सा अभिपश्यथ ॥"

(ऋग्वेद १०-१३६, २, ३)

अतीन्द्रियार्थ दर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते हैं जिससे वे पिंगल वर्ण दिखाई देते है, जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते है—रोक लेते है—तब वे अपने तपश्चरण की महिमा से दीव्यमान हो कर देवता रूप को प्राप्त हो जाते है। सर्वलौकिक व्यवहार को छोड़कर हम मौन वृत्ति से उन्मत्त वत (उत्कृष्ट आनन्द सहित) वायु भाव को—अशरीरी ध्यान वृत्ति को—प्राप्त होते है, और तुम साधारण जन हमारे बाह्य शरीर मात्र को देख पाते हो, हमारे सच्चे आभ्यन्तर स्वरूप को नहीं, ऐसा वे वातरशना मुनि प्रकट करते हैं।

ऋग्वेद की उक्त ऋचाओं के साथ केशी की स्तुति की गई है—

१. जूनि-वातजूनि-विप्रजूनि-वृषाणक-करिक्रत-एतशः ऋषिशृङ्ग, एते वातरशना मनुयः। (ऋग्वेद म० १० सूक्त १३५)

केश्यग्निं केशी विषं केशी बिर्भात रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदे ज्योति रुच्यते॥

(ऋग्वेद १०-१३६-१)

केशी अग्नि जल तथा स्वर्ण और पृथ्वी को धारण करता है, केशी समस्त विश्व तत्त्वों के दर्शन कराता है। केशी ही प्रकाशमान (ज्ञान) ज्योति (केवल ज्ञानी) कहलाता है। केशी की यह स्तुति वातरशना मुनियों के कथन में की गई है। जिससे स्पष्ट है कि केशी वातरशना मुनियों में प्रधान थे।

केशी का अर्थ केश वाला जटाधारी होता है सिंह भी अपनी केशर (आयाल) के कारण केशरी कहलाता है। ऋग्वेद के केशी और वातरशना मुनि और भागवत पुराण में उल्लिखित वातरशना श्रमण एवं उनके अधिनायक ऋषभ की साधनाओं की तुलना दृष्टव्य है[1] क्योंकि दोनो एक ही सम्प्रदाय के वाचक हैं। वैदिक ऋषि वैसे त्यागी और तपस्वी नहीं थे, जैसे वातरशना मुनि थे। वे गृहस्थ थे, यज्ञ यज्ञादि विधाना में आस्था रखते थे, और अपनी लौकिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए तथा धन इत्यादि सम्पत्ति के लिए इन्द्रादि देवताओं का आह्वान करते थे, किन्तु वातरशना मुनिअन्तर्बाह्य ग्रन्थियां के त्यागी, शरीर से निर्मोही, परीषहजयी और कठोर तपस्वी थे, वे शरीर से निस्पृही, वन कदराओं, गुफाओं, और वृक्षों के तले निवास करते थे।

श्रमण संस्कृति वेदों से प्राचीन है, क्योंकि वेदों में तीन तीर्थंकरों का-ऋषभदेव, अजित नाथ और नेमिनाथ का—उल्लेख है[2]। वेदों में ऋग्वेद सबसे प्राचीन माना जाता है, उसमें वातरशना मुनियों में श्रेष्ठ ऋषभदेव का उल्लेख होने से जैन धर्म की प्राचीन परम्परा पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। यद्यपि वेदों के रचनाकाल के सम्बन्ध मतभेद पाया जाता है। कुछ विद्वान उन्हें ईस्वी सन् से १००० वर्ष पूर्व की रचना मानते है और कुछ और बाद की मानते है। यदि वेदों का रचना ईस्वी सन् से १५०० वर्ष भी पूर्व मानी जाय तो भी श्रमण संस्कृति प्राचीन ठहरती है।

जैन कला में ऋषभ देव की अनेक प्राचीन मूर्तियाँ जटाधारी मिलती है। आचार्य यति वृषभ ने तिलोय पण्णत्ति में लिखा है कि उस गंगा कूट के ऊपर जटा मुकुट से शोभित आदि जिनेन्द्र की प्रतिमाएं हैं। उन प्रतिमाओं का मानों अभिषेक करने के लिए ही गगा उन प्रतिमाओं के ऊपर अवतीर्ण हुई है। जैसा कि निम्न गाथा से स्पष्ट है।

आदि जिण पडिमाओ जड़मउडसेहरिल्लाओ।
पडिवोवरम्मि गगा अभिसित्तु मणा व पडदि॥

रविषेण ने पद्मचरित (३-२८८) में—"**वातोद्धता जटास्तस्य रेजुराकुल मूर्तयः।**" और पुन्नाट सघी जिनसेन ने हरि वश पुराण (९-२०४) में "**स प्रलम्ब जटाभार भ्राजिष्णु**" रूप से उल्लेखित किया है। तथा अपभ्रंश भाषा के सुकमाल चरित्र मे भी निम्न रूप उल्लेख पाया जाता है:—

"**पढमु जिणवरु णविविभावेण।**

जड-मउड विहूसिउ विसह मयणारि णासणु। अमरासुर-णर-थुय चलणु। सत्ततत्त्व णवपयत्थ णवणयहि पयासणु लोयालोय पयासयरु जसुउप्पण्णउ णाणु। सो पणवेप्पिणु रिसह जिणु अक्खय-सोक्ख णिहाणु॥"

जटा-केश-केशर सब एक ही अर्थ के वाचक है 'जटा सटा केशरयो:' इति मेदिनी। इस सब कथन पर से उक्त अर्थ की पुष्टि होती है। केशी और ऋषभ एक ही है, क्योंकि ऋग्वेद की एक ऋचा में दोनों का एक साथ उल्लेख हुआ है और वह इस प्रकार है:—

ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद अवावचीत् सारथिरस्य केशी।
दुधर्युक्तस्य द्रवतःसहानस ऋच्छन्ति मा निष्पदो मुद्गलानीम्॥

(ऋग्वेद १०-१०२, ६)

---

१. भवगत पुराण ५-६, २८-३१

२. Indian Philosophiy vol. I p. 287

इस सूक्त के ऋचा की प्रस्तावना में निरुक्त में **'मुदगलस्य हृता गाव ।** आदि श्लोक उद्धृत किये गये है, जिन में बतलाया है कि मुद्गल ऋषि की गायो को चोर चुरा ले गए थे, उन्हे लौटाने के लिए ऋषि ने केशी वृषभ का अपना सारथी बनाया, जिसके वचन से वे गौएँ आगे न भागकर पीछे की ओर लौट पड़ी इस ऋचा का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने केशी और वृषभ का वाच्यार्थ पृथक् बतलाया है, किन्तु प्रकारान्तर से उसे स्वीकृत भी किया है—**"अथवा अस्य सारथि: सहाय भूतः प्रकृष्ट केशी वृषभ अवाचीत अशमशब्दयत्"** इत्यादि ।

मुद्गल ऋषि के सारथी (विद्वान नेता) केशी वृषभ जो शत्रुओ का विनाश करने के लिए नियुक्त थे, उनकी वाणी निकली, जिसके फलस्वरूप जो मुद्गल ऋषि की गौव (इन्द्रिया) जुते हुए दुर्धररथ (शरीर) के साथ दौड़ रही थी वे निश्चल होकर मौदगलानी (मुद्गल की स्वात्मावृत्ति) को ओर लौट पड़ी, अर्थात् मुद्गल ऋषि की इन्द्रियाँ, जो स्वरूप से पराङ् मुख हो अन्य विषयों की ओर भाग रही थी व उनके योग युक्त ज्ञानी नेता केशी वृषभ के धर्मोपदेश को सुनकर अन्तर्मुखी हो गई —अपने स्वरूप में प्रविष्ट हो गई [1] ।

ऋग्वेद के (३-५८-३) सूक्त मे—**"त्रिधा बद्धो वृषभो रोर वीति महादेवो मर्त्यान विवश ।"** बतलाया गया है कि (दर्शन-ज्ञान-चरित्र से अनुबद्ध वृषभ (ऋषभ) ने घोषणा की और वे एक महान् देव के रूप में मर्त्यो में प्रविष्ट हुए ।

इस तरह वेद, भागवत और उपनिषदो मे श्रमणो के तपश्चरण की महत्ता का भी वर्णन उपलब्ध होता है वह महत्त्वपूर्ण है और उसका सम्बन्ध ऋषभ देव की तपश्चर्या से है [2] । श्रमणो ने आत्म-साधना का जो उत्कृष्टतम आदर्श लोक मे उपस्थित किया है तथा अहिसा की प्रतिष्ठा द्वारा जो आत्म निर्भयता प्राप्त की । उससे श्रमण सस्कृति का गोरव सुरक्षित है । श्रमण सस्कृति ने भारतीय सस्कृति को जो अहिसा अपरिग्रह अनेकान्त और स्याद्वाद आदि महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो की अपूर्व देन दी है, उससे भारतीय सन्त परम्परा यशस्वी हुई है । भगवान ऋषभदेव इस सन्त परम्परा एव श्रमण सस्कृति के आद्य प्रतिष्ठापक थे । उनको इस भूतल पर अवतरित हुए बहुत काल व्यतीत हो गया है, तो भी उनकी तपश्चर्या की महत्ता और उनका लोक कल्याण कारी उपदेश भूमडल मे अभी वर्तमान है व श्रमण सस्कृति के केवल सस्थापक ही नही थे किन्तु उन्होने उसे उज्जीवित और पल्लवित भी किया था । उनके अनुयायी २३ तीर्थकरो ने उसका प्रचार एव प्रसार किया है । इन चौबीस तीर्थकरो मे अन्तिम तीन तीर्थकरो को—नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर को—इतिहासज्ञो ने ऐतिहासिक महापुरुष मान लिया है और बाइसवे तीर्थकर नेमिनाथ ने अहिसा के लिए वैवाहिक कार्य का परित्याग कर अपने को आत्म-साधना मे लगाया । यह श्री कृष्ण के चचेरे भाई थे ।

पार्श्वनाथ तेईसवे तीर्थकर थे जो बनारस के राजा विश्वसेन और वामा देवी के पुत्र थे । उन्होने तपश्चरण द्वारा आत्म-सिद्धि प्राप्त की और विहार तथा कलिंगादि देशो मे उपदेश द्वारा श्रमण सस्कृति का प्रसार किया । और जनता को सन्मार्ग मे लगाया ।

पार्श्वनाथ से २५० वर्ष बाद महावीर ने भरी जवानी मे राज्य वैभव का परित्याग कर आत्म-साधना का अनुष्ठान किया, और पूर्ण ज्ञानी बन जगत को **'स्वय सुख पूर्वक जियो**, और **दूसरो को भी सुख पूर्वक जीने दो'** के सिद्धान्त का केवल प्रसार ही नही किया । प्रत्युत उसे अपने जीवन मे उतार कर लोक मे अहिसा को पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त की । उनकी कल्याणकारी मृदु वाणी ने अनेकान्त दृष्टि द्वारा जगत के विरोधो को दूर किया । उनमे अहिसा और समता की भावना को प्रोत्साहित किया । और अहिसा द्वारा विश्व शान्ति का लोक मे प्रचार किया उससे यज्ञादि हिसा का प्रतीकार हुआ । पशुकुल को अभय मिला । और जनता में अहिसा के प्रति अनुराग ही नही हुआ, अनेको ने उसे अपने जीवन का आदर्श बनाया । उनके बाद उनकी सघ परम्परा के श्रमणो द्वारा उन्ही लोक हितकारी सिद्धान्तो का प्रसार किया जाता रहा । और अब भी उनके सिद्धान्तो के अनुयायी मौजूद है । जो अहिसा मे विश्वास रखते है । उन्हे अवतरित हुए २५०० वर्ष पूरे हो रहे है तो भी उनका उपदेश और उनके मौलिक

१. भारतीय सस्कृति मे जैनधर्म का योगदान पृ० १५, १६
२. भागवत पुराण ५-६, २८-३१) ऋषभदेव की तपश्चर्या का वर्णन है ।

सिद्धान्त लोक में फैले हुए हैं। अब समय आ गया है कि विश्व का संरक्षण उनके पावन सिद्धान्तों के आचरण से ही हो सकता है

इस अणुयुग में परमाणु की अनन्त शक्ति और उनकी दाहकता की विभीषिका से लोक भयभीत हैं, दुःखी और चिन्ता ग्रस्त है। उससे यदि विश्व को संरक्षित करना है तो महावीर के अहिंसा और अनेकान्त आदि सिद्धान्तों को जीवन में प्रवाहित करना होगा, उनको जीवन के व्यवहार में लाये विना विश्व में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। क्योंकि साम्राज्य की लिप्सा और अहंकार ने मानवता का तिरस्कार और दुरुपयोग किया है। और किया जा रहा है, जिसका परिणाम अशान्ति और विनाश है।

महात्मा बुद्ध के समय भगवान महावीर को 'णिग्गंठ णात पुत्र' कहा जाता था, और उनका शासन भी 'निग्गंठ' नाम से प्रसिद्ध था। अशोक के शिलालेखों में भी 'णिग्गंठ नाम से उसका उल्लेख है। महावीर के बाद 'णिग्गठ' श्रमण परम्परा द्वादश वर्षीय दुर्भिक्षादि के कारण दो भेदों में विभक्त हो गई। एक णिग्गंठ श्रमण संघ दूसरा श्वेत पट श्रमण सघ। इन दो भेदों का उल्लेख कदम्ब वश के लेखों में मिलता है[1]।

पश्चात् निर्ग्रन्थ महाश्रमण सघ ही मूल सघ के नाम से लोक में विश्रुत हुआ। मूलसंघ परम्परा ही भगवान महावीर की निर्ग्रन्थ श्रमण परम्परा है, दूसरी परम्परा मूल परम्परा नहीं कही जा सकती। इसी से इस ग्रन्थ मे भगवान महावीर की मूल निर्ग्रन्थ संघ परम्परा के आचार्यो व विद्वानों, भट्टारको और कवियों का यहां परिचय दिया गया है। दूसरी परम्परा के सम्बन्ध में फिर कभी विचार किया जायेगा। इस परम्परा की प्रतिष्ठा कुन्दकुन्दाचार्य जस निर्ग्रन्थ श्रमणों से हुई। उनकी कृतिया वस्तु तत्व की निदर्शक और लोक कल्याणकारी हैं। उनकी समता अन्यत्र नही पायी जाती। इस परम्परा में अनेक महान आचार्य हुए, जिनकी कृतियां लोक में प्रसिद्ध हुई। दार्शनिक विद्वानो में गृद्धपिच्छाचार्य, समन्तभद्र, पात्र केसरी, सिद्धसेन, पूज्यपाद, अकलक देव, सुमतिदेव और विद्यानन्दादि महान आचार्य हुए। जिनके व्यक्तित्व और कृतित्व से लोक में श्रमण संस्कृति का प्रसार हुआ। इस परम्परा मे भी अनेक सघ-भेद हुए, गण-गच्छादि हुए, परन्तु मूल परम्परा बराबर संरक्षित रही, और रह रही है।

भारतीय इतिहास में शिलालेख ताम्र पत्र, लेखक प्रशस्तियां, ग्रन्थ प्रशस्तियां, पट्टावलियां और मूर्तिलेखों की महत्ता से कोई इकार नही कर सकता। इनमें उपलब्ध साधन सामग्री इति वृत्तों के लिखने में सहायक ही नहीं होती। प्रत्युत अनेक उलझी हुई समस्याओं के सुलझाने में योगदान देती है। जैन साहित्य और इतिहास के लिखने मे उनकी उपयोगिता लिये बिना किसी आचार्य विशेष, विद्वान कवि या भट्टारक, राजा आदि का परिचय लिखना सम्भव नही होता। इसी से इस ऐतिहासिक सामग्री का संकलन होना आवश्यक है। इसके साथ पुरातत्त्व-सबंधी अवशेषों आदि का उल्लेख भी आवश्यक होता है। उससे उसमें प्रामाणिकता आ जाती है।

जब हम किसी आचार्य विशेष आदि का परिचय लिखने बैठते है तब समुचित सामग्री के संकलन के अभाव मे एक नाम के अनेक विद्वानों आदि के समय निर्णय करने में बड़ी कठिनाई का अनुभव करना पड़ता है। तब हमें उक्त सामग्री की उपयोगिता की महत्ता ज्ञात होती है और हम उसके सकलन की आवश्यकता का अनुभव करते है। विद्वान इस कठिनाई का अनुभव करते हुए भी उसके सकलन का प्रयत्न नहीं कर पाते, समाज और श्रीमानों का तो उस ओर ध्यान ही नही है। विद्वानों के सामने अनेक समस्याएं हैं, जिनके कारण उसमें प्रवृत्त नहीं हो पाते। उनमें सबसे पहला कारण अर्थाभाव है दूसरा कारण गृही समस्याएं हैं और तीसरा कारण सामग्री की विरलता और समय की कमी है। यद्यपि वर्तमान में ऐतिहासिक विद्वानों के समक्ष बहुत कुछ ऐतिहासिक सामग्री बिखरी हुई यत्र-तत्र दृष्टि गोचर होती है। कुछ प्रकाश में आ चुकी है, कुछ प्रकाश में लाने के प्रयत्न में है। और अधिकांश सामग्री ग्रन्थ भण्डारों, मूर्ति लेखों और ग्रन्थ प्रशस्तियों में निहित है। अतएव इतिवृत्तों की सामग्री का संकलित होना अत्यन्त आवश्यक है। इसी आवश्यकता को देखते हुए मेरा विचार बहुत दिनों से महावीर संघ परम्परा के कुछ आचार्यो, विद्वानों, भट्टारकों, कवियों आदि का जैसा कुछ भी परिचय मिलता है, संकलित करने की भावना चल रही

१. इंडियन एण्टी क्वेरी जि० ६ पृ० ३७-३८

थी, परन्तु इस महान कार्य में सामग्री की विरलता, साधनों की कमी और अपनी अल्पज्ञता बाधक हो रही थी, इस लिये उससे विराम ले लेना पड़ता था।

मेरे पास जो थोड़े बहुत नोट्स थे, उनके आधार पर अनेक लेख लिखे गये जो समय पर अनेकान्तादि पत्रों में प्रकाशित होते रहे हैं। जिनसे विद्वान प्रायः परिचित ही हैं। जिन्होंने मेरे नोट रूप लेखों का अवलोकन किया है, वे उन्हें बहुत उपयोगी प्रतीत हुए और उन्होंने उन्हें प्रकाशित कराने की प्रेरणा दी। मैंने अपने नोटों को अनुसन्धान प्रिय मुनि श्री विद्यानन्द जी को दिखलाये थे, उन्होंने देखकर कहा था कि इन्हें पुस्तक का रूप देकर प्रकाशित कर देना चाहिये। मेरी भी इच्छा प्रकाशित करने की थी ही, परन्तु अशुभोदय से मैं बीमार पड़ गया, उससे जैसे तैसे बचा तो शारीरिक कमजोरी ने लिखने में बाधा उपस्थित कर दी। अस्तु,

भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव की चर्चा ने मुझे प्रेरित किया कि तू इस समय इस कार्य को पूरा कर दे। डा० दरबारी लाल जी की विशेष प्रेरणा रही इस कार्य को पूरा करने की। अन्य मित्रों की भी यही राय थी। अतः मैंने लिखने का संकल्प कर लिया। एक दिन पं० बलभद्र जी ने कहा कि आप अपनी सामग्री को तैयार करो, प्रकाशन की चिन्ता न करो, मैं उसकी जिम्मेदारी लेता हूं। इस सम्बन्ध में मेरी आचार्य देश भूषण जी से चर्चा हो गई है। अतः आप निश्चिन्त रहें और उसे पूरा कर दें। मुझे इस कार्य के लिये अनेक ग्रन्थों का अध्ययन करना पड़ा, और पुरातत्त्व विभाग की लाइब्रेरी से अनेक बार जाकर लाभ उठाया। दूसरों की सहायता से अंग्रेजी लेखों की जानकारी प्राप्त की, इसके लिये मैं उनका आभारी हूं।

तदनुसार मैंने इस ग्रन्थ को पूरा करने का प्रयत्न किया, दिन रात परिश्रम किया तब किसी तरह यह ग्रन्थ पूरा हो सका है। प्रस्तावना संक्षिप्त रूप में लिखी है। कागज की समस्या के कारण कुछ परिशिष्ट छोड़ दिये हैं। पहले ग्रन्थ का पूरा मैटर तो लिखा नहीं गया था किन्तु कुछ मैटर प्रेस में देने के बाद उसे लिखता गया और देता गया। इससे इसमें और कुछ आचार्यों के समय आदि के परिचय में कमी रह सकती है। परन्तु पाठकों के सामने लगभग सात सौ आचार्यों, विद्वानों, भट्टारकों और संस्कृत अपभ्रंश के कवियों का परिचय संक्षेप में उनकी रचनादि के साथ दिया गया है। मेरी अल्पज्ञता वश उसमें कमी रह जाना स्वाभाविक है। अतः विद्वान उसे सुधार लें, और मुझे उसकी सूचना दें। श्रीमान् डा० ए. एन. उपाध्ये पं० कैलाश चन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री, डा० भागचन्द जी नागपुर, पं० बालचन्द जी, शास्त्री पं० बलभद्र जी और प० रतनलाल जो केकड़ी आदि विद्वानों की सलाह मुझे मिलती रही है। इसके लिए मैं उनका आभारी हूं।

आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में जो सौजन्य पूर्ण सहयोग दिया है इसके लिये मैं उनका विशेष आभारी हूं। और आशा करता हूं कि भविष्य में उनका सहयोग मुझे मिलता रहेगा। भारतीय इतिहास के विशेषज्ञ विद्वान डा० दशरथ शर्मा ने अस्वस्थ होते भी मेरे निवेदन पर ग्रन्थ का प्राक्कथन बोलकर अपनी सुपुत्री शान्ताकुमारी से लिपि कराया है। उनकी इस महती कृपा के लिये मैं उनका बहुत आभारी हूं।

परमानन्द जैन शास्त्री

नामानुक्रमणिका

(आचार्य, भट्टारक और विद्वान कवि सूची)

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

प्रस्तुत ग्रंथ में ग्रन्थकार और उनके ग्रन्थों के अतिरिक्त जिन ग्रन्थों का उपयोग किया गया है—उनकी तालिका निम्न प्रकार है :—

अनेकान्त (वीर सेवामन्दिर दिल्ली)
आचाराग सूत्र सटीक शीलांकाचार्य
आवश्यक निर्युक्ति
इंडियन एण्टी क्वेरी जिल्द ३
इंडियन एण्टी क्वेरी भाग ११ जिल्द ५
इंडियन एण्टी क्वेरी जि० १२
इंडियन एण्टी क्वेरी वाल्यूम ११, जि० १५
इंडियन एण्टी क्वेरी जि० १२
एपिग्राफ़िया इंडिका जि० १
,, जि० ३
,, जिल्द ४-५
,, जि० ६
,, जि० ८
,, जि० १०
,, जि० २०
कनिघम रिपोर्ट नं० १—१०
गौतम धर्मसूत्र
ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह के. भुजबली शास्त्री, आरा
ग्रंथ सूची (आमेर भंडार) भा० १
ग्रंथसूची भा० २ राजस्थान शास्त्र भंडार, जयपुर
ग्रंथसूची भा ३ ,, ,,
ग्रंथसूची भा० ४ ,, ,,
ग्रंथसूची भा० ५ ,, ,,
चौपन्न पुरिस चरिउ आचार्य शीलांक
जागर्फीकल डिक्सनरी आफ नन्दलाल डे
जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह भा० १ वीर सेवामंदिर
जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह भा० २ वीर सेवा मंदिर
जैनिज्म इन साउथ इंडिया-पी० वी० देसाई (शोलापुर)
जैन दर्शन, पत्र भा० दि० जैन संघ चौरासी मथुरा

जैन लेख संग्रह भा० १, भा० २, भा० ३, भा० ४, भा० ५,
(माणिकचन्द्र ग्रंथमाला बम्बई)
जैन सन्देश शोधांक १५ सम्पादक डा० ज्योति प्रसाद जैन
जैन सन्देश शोधांक ३-४
जैन साहित्य और इतिहास, नाथूराम जी प्रेमी, बम्बई
जैन साहित्य में विकार थवा थयेली हानि, प० वेचरदास
जैन हितैषी भाग १३ पं० नाथूराम प्रेमी
डिक्शनरी शिवराम वामन एप्टे
तत्त्व संग्रह भा० १, २ (बौद्ध ग्रन्थ)
दक्षिण भारत में जैन धर्म, पं० कैलाश चन्द शास्त्री
दी राष्ट्रकूटाज इन देअर टाइम, डा० अल्तेकर
धर्मोत्तर प्रस्तावना
पचाशक हरिभद्राचार्य
परिशिष्ट पर्व हेमचन्द सूरि
पुरातत्त्व निबंधावली, राहुल सांकृत्यायन
प्लूटार्च एन्शियेंट इंडिका
प्रस्तावना उपासकाध्ययन, पं० कैलाशचन्द जी शास्त्री
प्रस्तावना पुरातन जैन वाक्य-सूची प० जुगल किशोर मुख्तार
प्रस्तावना परमात्म प्रकाश डा० ए० एन उपाध्ये
प्रस्तावना प्रवचनसार (डा० ए० एन० उपाध्याय)
प्राकृतपिगल पिंगलाचार्य
प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास
भारत के प्राचीन राजवंश विश्वेश्वर नाथ रेउ भा० ३
भारतीय इतिहास की रूप रेखा, जयचन्द्र विद्यालंकार प्रथम एडीसन,
मिडियावल जैनिज्म (डा० ए० बी० सालेतोर)
मनुस्मृति
राजपूताने का इतिहास प्रथम जिल्द म० म० हीराचन्द जी ओझा
वशिष्ट स्मृति
विशेपावश्यक जिनभद्रगणिक्षमा श्रमण
शासनगढ़ ा दानपत्र (शक सं०)
श्रमण भगवान महावीर मुनि कल्याण विजय
सगमतंत्र
स्कन्ध पुराण
हिन्दु भारत का उत्कर्ष (सी० वी० वैद्य)
हिस्टरी आफ इंडियन लिटेरचर वाल्यूम II
हैदराबाद आरक्यो लाजिकल सीरीज संख्या १२

जैन धर्म का प्राचीन इतिहास

भगवान महावीर और उनकी संघ-परम्परा

द्वितीय भाग

❖

प्रथम परिच्छेद

❖

१. महावीर से पूर्व देश-काल की स्थिति
२. भगवान महावीर के ग्यारह गणधर
३. अन्तिम केवली जम्बू स्वामी

१. महावीर से पूर्व देश-काल की स्थिति

आज से लगभग छब्बीस सौ वर्ष पूर्व भारत की स्थिति अत्यन्त विषम थी। चारों ओर हिंसा, असत्य, शोषण, दम्भ और अनाचार का साम्राज्य था। देश का वातावरण अत्यन्त क्षुब्ध, पीड़ित और सत्रस्त हो रहा था। धर्म की रुचि मन्द पड़ गयी थी। ब्राह्मण संस्कृति के बढ़ते हुए वर्चस्व में श्रमण संस्कृति दबी जा रही थी। जाति भेद की दुर्गन्ध से देश का प्राण घुट रहा था। जातिभेद के अभिमान ने ब्राह्मणों को पतित बना दिया था। ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, लोभ, अज्ञान, अकर्मण्यता, क्रूरता और धूर्ततादि दुर्गुणों का निवास हो गया था। बहुदेवतावाद की कल्पना साकार हो उठी थी। धर्म के नाम पर मानव अधर्म और विकृतियों का दास बन गया था। धर्म का स्थान याज्ञिक क्रियाकाण्डों ने ले लिया था। यज्ञों में घृत, मधु आदि के साथ पशु भी होमे जाते थे और डंके की चोट यह घोषणा की जाती थी कि भगवान ने यज्ञ के लिए ही पशुओं की रचना की है। वेद विहित यज्ञ में की जाने वाली हिंसा, हिंसा नहीं किन्तु अहिंसा है।[1] शस्त्र के द्वारा मारने पर जीव को दुःख होता है। इसी शस्त्रवध का नाम पाप है, हिंसा है, किन्तु शस्त्र के बिना वेद मन्त्रों से जो जीव मारा जाता है वह लोक-धर्म कहलाता है।[2] मानव अधिकारों का दिन दहाड़े हनन होता था। व्यक्ति की सत्ता विनष्ट हो चुकी थी। ब्राह्मण ही धर्मानुष्ठान के उच्च अधिकारी माने जाते थे। शासन विभाग में उन्हें खास रियायतें प्राप्त थी। बड़े से बड़ा अपराध करने पर भी उन्हें प्राणदण्ड नहीं दिया जाता था, जबकि दूसरों को साधारण से साधारण अपराध होने पर मृत्युदण्ड दे दिया जाता था। धर्म का स्थान अधर्म ने ले लिया था, अराजकता का साम्राज्य बढ़ रहा था। मानवता कराह रही थी। उसकी गरिमा का पतन हो चुका था। धर्म राजनीति का एक कुण्ठित हथियार मात्र रह गया था। जनता की आस्था धर्म से उठ चुकी थी। स्वार्थलोलुप धर्मगुरु उसके ठेकेदार समझे जाते थे। स्थिति अत्यन्त दयनीय हो रही थी। मूक पशुओं की हत्या और उनके आक्रन्दन आदि से पृथ्वी तिलमला उठी थी। मानव का कोई मूल्य नहीं रह गया था। उसकी चेतना को लकवा मार गया था।

नारी की सामाजिक स्थिति भयावह थी, उसका अपहरण हो चुका था। उसे धर्म-साधन करने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। वे वेद आदि की उच्च शिक्षा से भी वंचित थी। 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' 'स्त्री

१. यज्ञार्थं पशवः सृष्टा स्वयमेव स्वयंभुवा।
यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद् यज्ञे वधोऽवधः॥
या वेदविहिता हिंसा नियताऽस्मिंश्चराचरे।
अहिंसामेव तां विद्याद् वेदाद् धर्मो हि निर्बभौ॥ —मनुस्मृति ५-२२, ३६, ४४

२. या वेदविहिता हिंसा सा न हिंसेति निर्णयः।
शस्त्रेण हन्यते यच्च पीडा जन्तुषु जायते॥७०
स एव धर्मएवास्ति लोके धर्मविदांवर।
वेदमन्त्रैर्विहन्येत विना शस्त्रेण जन्तवः॥७९

— स्कन्ध पुराण

स्वतन्त्र नही हो सकती जैसी कठोर आज्ञायें प्रचलित थी। स्त्री और शूद्रों को वेद पढ़ने का अधिकार नही था।[१] शूद्रों से पशुओं जैसा व्यवहार किया जाता था। उन्हें धर्म-सेवन करने का कोई अधिकार प्राप्त नही था। वे पददलित और नीच समझे जाते थे। उनकी छाया पड़ जाने पर उन्हें दण्डित किया जाता था और स्पर्श हो जाने पर सचेल स्नान किया जाता था। शिक्षा-दीक्षा और वेदादि शास्त्रों के सुनने का अधिकार केवल द्विजातियों को था। शूद्र को वेद की ऋचाएं सुनने पर कानों में शीशा भरने, बोलने पर जीभ काटने और ऋचाओं के कठस्थ करने पर शरीर नष्ट कर देने का कठोर विधान था तथा यह प्रार्थना की जाती थी कि उन्हें बुद्धि न दें, यज्ञ का प्रसाद न दें और व्रतादि का उपदेश भी न दें।[२]

यद्यपि २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के निर्वाण को अभी पूरे दो सौ वर्ष भी व्यतीत नही हुए थे, किन्तु फिर भी उनके संघ और धर्म की स्थिति शोचनीय हो गई थी। तात्कालिक क्रियाकाण्डों के प्रभाव से जैन संघ भी अछूता नही बचा था। उसमें भी वर्ण और जाति-भेद के संस्कारों का प्रभाव किसी न किसी रूप में प्रविष्ट हो गया था। धार्मिक संस्कारों पर भी अन्धविश्वास, हिंसा और रूढ़ियों का प्रभाव अंकित हो रहा था। पार्श्वनाथ-परम्परा के श्रमणों में भी शैथिल्य प्रविष्ट हो गया था। वे स्वयं अशक्त हो रहे थे। ऐसी स्थिति में हिंसक क्रियाकाण्डों को मिटाना उनके लिये सम्भव नही था। राजनैतिक दृष्टि से भी उक्त समय उथल-पुथल का था। उसमें स्थिरता नही थी। कई स्थानों पर प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य थे जिनका शासन अपेक्षाकृत सुख-शान्ति सम्पन्न था। पर याज्ञिक क्रियाकाण्डों में होने वाली हिंसा का ताण्डव दूर नही हुआ था और न उन राज्यों में ऐसी शक्ति ही थी, जो उन याज्ञिक क्रियाकाण्डों से पशु हिंसा का निवारण कर पशुओं को अभयदान दिला सके। क्योंकि अशक्त आत्मा अपना स्वय भी उत्थान नहीं कर सकता, फिर अन्य के करने का प्रश्न ही नही उठता। उस समय देश का वातावरण विषम हो रहा था। ऐसी स्थिति में किसी ऐसे योग्य नेता की आवश्यकता थी, जो आत्मबल से क्रान्ति ला दे और याज्ञिक क्रियाकाण्डों का विरोध कर उनमें अहिंसा की भावना भर दे। अधर्म को धर्म समझ कर जो कार्य निष्पन्न किया जाता था, उसमें परिवर्तन ला दे। धर्म की यथार्थ परिभाषा को जन-मानस में प्रतिष्ठित कर दे और जनता के कष्टों को दूर कर उसके उत्थान का मार्ग सरल एवं सुलभ बना दे। उस समय किसी ऐसे शक्तिमान नेतृत्व की आवश्यकता थी, जिसके व्यक्तित्व के प्रभाव से हिंसा का ताण्डव अहिंसा में परिणत हो सके। 'जनता में हो कोई अवतार नया' की आवाजें उठ रही थीं। जब अन्याय अत्याचार के साथ अधर्म की मात्रा अधिक हो जाया करती है, तभी क्रान्तिकारी नेता का प्रादुर्भाव होता है। परिणामस्वरूप लोक में महावीर का अवतार हुआ।

१ 'न स्त्रीशूद्रौवेदमधीयेताम्' वशिष्ठ-स्मृति

२. वेदमुपशृण्वतस्तस्य जतुभ्यां श्रोत्र प्रतिपूरणमुच्चारणे जिह्वाच्छेदो, धारणे शरीरभेदः। (गौतम धर्मसूत्रम् १६५)

न शूद्राय मति दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्।

न चास्योपदिशेद्धर्मं, न चास्य व्रतमादिशेत्।

(वशिष्ठ स्मृति १८, १२, १३)

भगवान महावीर की जन्म-भूमि

भगवान महावीर की जन्मभूमि विदेह[1] देश की राजधानी वैशाली थी, जिसे वर्तमान में बसाढ़ कहा जाता है। प्राचीन काल में वैशाली की महत्ता और प्रतिष्ठा शक्तिशाली गणतन्त्र की राजधानी होने के कारण अधिक बढ़ गई थी। मुजफ्फरपुर जिले की गंडकी नदी के समीप स्थित बसाढ़ ही प्राचीन वैशाली है। उसे राजा विशाल की राजधानी बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। पाली ग्रन्थों में वैशाली के सम्बन्ध में लिखा है कि—दीवारों को तीन बार हटा कर विशाल करना पड़ा था, इसीलिए इसका नाम वैशाली हुआ जान पड़ता है। वैशाली में उस समय अनेक उपशाखा नगर थे जिनसे उसकी शोभा और भी द्विगुणित हो गई थी। प्राचीन वैशाली का वैभव अपूर्व था और उसमें चातुर्वर्ण के लोग निवास करते थे।

वज्जी देश की शासक जातियों में मुख्य लिच्छवि थे। लिच्छवि उच्च वंशीय क्षत्रिय थे। उनका वंश उस समय अत्यन्त प्रतिष्ठित समझा जाता था। यह जाति अपनी वीरता, धीरता, दृढ़ता, सत्यता और पराक्रमादि के लिये प्रसिद्ध थी। इनका परस्पर संगठन और रीति रिवाज,[1] धर्म और शासन-प्रणाली सभी उत्तम थे। इनका शरीर अत्यन्त कमनीय और ओज एवं तेज से सम्पन्न था। ये अपने लिये विभिन्न रंगों के वस्त्रों का उपयोग करते थे और अच्छे आभूषण पहनते थे। परस्पर में एक दूसरे के सुख-दुख में काम आते थे। यदि किसी के घर कोई उत्सव वगैरह या इष्ट-वियोग आदि जैसा कारण बन जाता था तो सब लोग उसके घर पहुंचते थे, और उसे अनेक तरह से सान्त्वना प्रदान करते थे प्रत्येक कार्य को न्याय-नीति से सम्पन्न करते थे। वे न्यायप्रिय और निर्भय वृत्ति थे तथा स्वार्थपरता से दूर रहते थे। वे एकता और न्यायप्रियता के कारण अजेय बने हुए थे। वे अपने सभी कार्यों का निर्णय परस्पर में विचार-विनिमय से करते थे। राजा चेटक उस गणतन्त्र के प्रधान थ। राजा चेटक की रानी का नाम भद्रा था, जो बड़ी ही विदुषी और शीलादि सद्‌गुणों से विभूषित थी। राजा चेटक की सात पुत्रियाँ और सिंहभद्रादि दश पुत्र थे।[2] सिंहभद्र की सातों बहनों के नाम—प्रियकारिणी (त्रिशला), सुप्रभा, प्रभा-

---

१. गण्डकी नदी से लेकर चम्पारन तक का प्रदेश विदेह अथवा तीरभुक्त (तिरहुत) के नाम से भी ख्यात था। शक्ति-संगम तन्त्र के निम्न पद्य से उसकी स्पष्ट सूचना मिलती है :—

गण्डकीतीरमारभ्य चम्पारण्यान्तकं शिवे।
विदेहभूः समाख्याता तीरभुक्ताभिधो मनु ॥

(अ) अथ वज्राभिधेदेशे विशाली नगरी नृपः ॥

—हरिषेण कथाकोष ५५ श्लोक १६५

(आ) विदेहो और लिच्छवियों के पृथक्-पृथक् संघों को मिला कर एक ही संघ या गण बन गया था जिसका नाम वृजि या वज्जिगण था। समूचे वृजि संघ की राजधानी वैशाली ही थी। उसके चारों ओर तिहरा परकोटा था जिसमे स्थान-स्थान पर बड़े-बड़े दरवाजे और गोपुर (पहरा देने के मीनार) बने हुए थे।

—भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ३१० से ३१३

(इ) वज्जी देश मे आजकल का चम्पारन और मुजफ्फरपुर, जिला दरभंगा का अधिकांश भाग तथा छपरा जिले का मिर्जापुर, परसा, सोनपुर के थाने तथा अन्य कुछ और भूभाग सम्मिलित थे। —पुरातत्व निबन्धावली पृ० १२

२. (अ) अथ वज्राभिधे देशे विशाली नगरी नृपः ॥
अस्यां केकोऽस्य भार्याऽसीत् यशोमतिरिति प्रभा ॥
विनयाचार संपन्नः प्रतापाक्रान्तशत्रवः ।
अभूत् साधुकृतानन्दश्चेटकाख्यः सुतोऽनयोः ॥ —बृहत्कथाकोष ५५-१६६-१६७

वती, मृगावती, ज्येष्ठा, चेलना और चन्दना था। इनमे त्रिशला कुण्डपुर के राजा सिद्धार्थ को विवाही थी। सुप्रभा दशार्ण देश के राजा दशरथ को, और प्रभावती कच्छदेश के राजा उदायन की रानी थी। मृगावती कौशाम्बी के राजा शतानीक की पत्नी थी। चेलना मगध के राजा बिम्बसार (श्रेणिक) की पटरानी थी। ज्येष्ठा और चन्दना आजन्म ब्रह्मचारिणी रही। ये दोनो ही भगवान महावीर के संघ मे दीक्षित हुई थी। उनमें चन्दना आर्यिकाओ में प्रमुख थी, संघ की गणनी थी। सिंहभद्र वज्जिसंघ की सेना के सेनापति थे। इस तरह चेटक का परिवार खूब सम्पन्न था।

वज्जिसंघ मे ९ गणतन्त्र सम्मिलित थे, जिनमें वृजि, लिच्छवि, ज्ञात्रिक, विदेह, उग्र, भोग और कौरवादि आठ जातियाँ शामिल थी।

वृजि लोगों में प्रत्येक गांव का एक सरदार राजा कहलाता था। लिच्छवियो के अनेक राजा थे, और उनमें प्रत्येक के उपराज, सेनापति और कोषाध्यक्ष आदि अलग-अलग होते थे। ये सब राजा अपने अपने गांव के स्वतन्त्र शासक थे; किन्तु राज्य-कार्य का संचालन एक सभा या परिषद् द्वारा होता था। यह परिषद ही लिच्छवियों की प्रधान-शासन शक्ति थी। शासन-प्रबन्ध के लिये संभवत उनमें से नौ आदमी गण राजा चुने जाते थे। इनका राज्याभिषेक एक पोखरनी के जल मे होता था[1]।

वैशाली गणतंत्र के अधिकांश निवासी व्रात्य कहलाते थे। ये अर्हन्त के उपासक थे। उनमें जैनियों के तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ का शासन या धर्म प्रचलित था।

वर्तमान बसाढ के समीप ही 'वासुकुण्ड' नाम का ग्राम है, वहाँ के निवासी परम्परा से एक स्थल को भगवान महावीर की जन्म-भूमि मानते आये है और उन्होंने पूज्य भाव से उस पर कभी हल नही चलाया। समीप ही एक विशाल कुण्ड है, जो अब भर गया है और जोता बोया जाता है। वैशाली की खुदाई मे एक ऐसी प्राचीन मुद्रा भी मिली है, जिसमे 'वैशाली नाम कुंडे' ऐसा उल्लेख है। इन सब प्रमाणो के आधार पर विद्वानो ने वासुकुण्ड को महावीर की जन्मभूमि कुण्डग्राम स्वीकार किया है।

वैशाली के पश्चिम में गण्डकी नदी बहती थी। उसके पश्चिम तट पर क्षत्रिय कुण्डपुर, ब्राह्मण कुण्डपुर, वाणिज्यग्राम, कर्मारग्राम और कोल्लाग सन्निवेश आदि उपनगर एवं शाखानगर अवस्थित थे। क्षत्रिय-कुण्डपुर में णात्त, णात, ज्ञात या णाह क्षत्रियो के पांचसौ घर थे[2]। राजा सिद्धार्थ क्षत्रिय कुण्डपुर के अधिनायक थे। वे राजा सर्वार्थ और रानी श्रीमती के धर्मात्मा पुत्र थे। उन्हे श्रेयास और यशांश भी कहते थे। वे काश्यप वंश के चमकते रत्न थे। सिद्धार्थ वीर योद्धा और पराक्रमी शासक थे। राजा सिद्धार्थ का विवाह वैशाली गणतंत्र के अध्यक्ष राजा चेटक की अत्यन्त सुन्दर एवं विदुषी पुत्री[3] त्रिशला के साथ सम्पन्न हुआ था, जिसका अपर नाम 'प्रिय-कारिणी' था, और जो लोक मे 'विदेहदत्ता' के नाम से प्रसिद्ध थी। वह पुण्यात्मा और सौभाग्यशालिनी थी। राजा सिद्धार्थ नाथ या ज्ञात क्षत्रियो के प्रमुख नेता के रूप मे ख्यात थे। इसी कारण वे सिद्धार्थ कहलाते थे। वे शस्त्र और शास्त्र विद्या मे पारगामी थे और भगवान पार्श्वनाथ के उपासक थे।

(आ) सिन्ध्वाख्यविषये भूभद् वैशाली नगरेऽभवत्।
चेटकाख्योऽति विख्यातो विनीत परमार्हत.॥३॥
तस्य देवी सुभद्राख्या तयो पुत्रा दशाभवन्।
धनाख्यो दत्तभद्रान्तावुपेन्द्रो ऽन्य सुदत्तवाक्॥४॥
सिंहभद्र सुकुम्भोजो ऽकंपन सपतगक:।
प्रभंजन प्रभासश्च धर्मा इव सुनिर्मला॥५॥

—उत्तर पुराणे गुणभद्र पर्व ७५

१. भारतीय इतिहास की रूप-रेखा भा० १ पृ० १३४

२ श्रमण भगवान महावीर पृष्ठ ५

३. श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में त्रिशला को राजा चेटक की बहिन बतलाया है। चेटक की अन्य पुत्रियो के नामों मे भी विभिन्नता है। चन्दना को अगदेश के राजा दधिवाहन की पुत्री बतलाया है।

महावीर का जन्म

भगवान महावीर का जीव अच्युत कल्प के पुष्पोत्तर नामक विमान से च्युत होकर आषाढ शुक्ला षष्ठी के दिन, जबकि हस्त और उत्तरा नक्षत्रों के मध्य में चन्द्रमा अवस्थित था, त्रिशला देवी के गर्भ में आया। उसी रात्रि में त्रिशला देवी ने सोलह स्वप्न देखे[1], जिनका फल राजा सिद्धार्थ ने बतलाया कि तुम्हारे शूरवीर, धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक और पराक्रमी पुत्र का जन्म होगा जो अपनी समुज्ज्वल कीर्ति से जनता का कल्याण करेगा। भगवान महावीर जबसे त्रिशला के गर्भ में आये, तबसे राजा सिद्धार्थ के घर में विपुल धन-धान्य की वृद्धि होने लगी, राज्य में सुख-समृद्धि हुई। सिद्धार्थ के घर में अपरिमित धन और वैभव में बढोत्तरी होती हुई देखकर जनता को बड़ा आश्चर्य होता था कि सिद्धार्थ का वैभव इतना अधिक क्यों बढ़ रहा है और उसकी प्रतिष्ठा में भी निरन्तर वृद्धि हो रही है।

नौ महीने और आठ दिन व्यतीत होने पर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की रात्रि में सौम्य ग्रहों और शुभ लग्न में जब चन्द्रमा अवस्थित था, उत्तरा फाल्गुणी नक्षत्र के समय भगवान महावीर का जन्म हुआ।[2] पुत्रोत्पत्ति का शुभ

---

१. (क) सिद्धार्थनृपतितनयो भारतवास्ये विदेह कुण्डपुरे।
देव्या प्रियकारिण्यां सुस्वप्नान् सम्प्रदर्श्य विभुः॥
आषाढसुसितषष्ठयां हस्तोत्तर मध्यमाश्रिते शशिनि।
आयातः स्वर्गसुखं भुक्त्वा पुष्पोत्तराधीशः॥—(निर्वाणभक्ति)

(ख) यहाँ यह प्रकट कर देना अनुचित न होगा कि श्वेताम्बरीय कल्पसूत्र और आवश्यक भाष्य में ८२ दिन बाद महावीर के गर्भापहार की असभव और अप्राकृतिक घटना का उल्लेख किया है। यह घटना ब्राह्मणों को नीचा दिखाने की दृष्टि से घड़ी गई प्रतीत होती है। उसमे कृष्ण के गर्भापहार का अनुसरण पाया जाता है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में उसे अछेरा या दश आश्चर्यों में गिनाया गया है। दिगम्बर सम्प्रदाय के किसी भी ग्रन्थ मे इस घटना का उल्लेख तक नही है। दूसरे यह बात सभव भी नही जचती। सभी तीर्थंकरो और महापुरुषो को जब एक ही माता-पिता की सन्तान बतलाया गया है तब भगवान महावीर के दो-दो माता-पिताओ का उल्लेख करना कैसे उचित कहा जा सकता है? यह घटना अवैज्ञानिक भी है। इतिहास में ऐसी एक भी घटना का उल्लेख देखने मे नही आया जिसमे एक ही बालक के दो पिता और दो माताएँ हों।

वसुदेव की पत्नी देवकी के गर्भ को सातवे महीने मे दिव्य शक्ति के द्वारा पत्नी रोहिणी के गर्भ में रखे जाने की जो बात हिन्दू पौराणिक आख्यानो में प्रचलित थी, उसका अनुसरण करके महावीर के लिये भी ऐसी अप्राकृतिक अद्भुत घटना को किन्ही विद्वानों ने अछेरा कहकर अग-सूत्रों मे अंकित कर दिया। श्वेताम्बरी मान्य विद्वान् पं० सुखलालजी भी इसे अनुचित बतलाते है। चार तीर्थकर पृ० १०६

२. (अ) सिद्धत्थराय पियकारिणीहि णयरम्मि कुंडले वीरो।
उत्तरफग्गुणिरिक्खे चित्तसियातेरसीए उप्पण्णो॥—तिलो. प०

(आ) चैत्र सित पक्ष फाल्गुनि शशाङ्क योगे दिने त्रयोदश्या।
जज्ञे स्वोच्चस्थेषु ग्रहेषु सौम्येषु शुभलग्ने॥ —निर्वाण भक्ति

(इ) "आसाढ जोण्ह पक्ख—छट्ठीए कुंडपुर णगराहिव-णाहवंस—सिद्धत्थ-णरिंदस्स तिसला देवीए गब्भमागतूण तत्थ अट्ठदिवसाहिय णवमासे अच्छिय चइत्त सुक्ख-पक्ख तेरसीए रत्तीए उत्तरफग्गुणी णक्खत्ते गब्भादो णिक्खंतो बड्ढमाण जिणिंदो॥ —जय ध० भा० १ पृ० ७६-७७

(इ) उन्मीलितावधिदशा सहसा विदित्वा तज्जन्म भक्तिभरतः प्रणतोत्तमागाः।
घटानिनादसमवेतनिकायमुख्या दृष्ट्या ययुस्तदिति कुण्डपुरं सुरेन्द्राः॥—असगकवि कृत वर्धमान चरित

समाचार देने वालों को खूब पारितोषिक दिया गया और नगर पुत्रोत्पत्ति की खुशी में तोरणों और ध्वज-पंक्तियों से अलंकृत किया गया। सुन्दर वादित्रों की मधुर ध्वनि से अम्बर गूंज उठा। याचक जनों को मनवांछित दान दिया गया। उस समय नगर में दीन दुखियों का प्रायः अभाव-सा था। नगर के सभी नरनारी हर्षातिरेक से आनन्दित थे। धूप-घटों से उद्गत सुगन्धित धूम्र से नगर सुरभित हो रहा था। जिधर जाइये उधर ही बालक महावीर के जन्मोत्सव की धूम और कलरव सुनाई पड़ रहा था।

देव और इन्द्रों ने भगवान महावीर का जन्मोत्सव मनाया और सुमेरु पर्वत पर ले जाकर इन्द्र ने उनके जन्माभिषेक का महोत्सव धूम-धाम से सम्पन्न किया और बालक को दिव्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत किया गया।

बालक का जन्म जनता के लिये बड़ा ही सुखप्रद हुआ था। उनके जन्म के समय संसार के सभी जीवों ने क्षणिक शान्ति का अनुभव किया था। इन्द्र ने श्रीवृद्धि के कारण बालक का नाम वर्द्धमान रक्खा। बालक के जात-कर्मादि संस्कार किये गए। राजा सिद्धार्थ ने स्वजन-सम्बन्धियों, परिजनों, मित्रों, नगर के प्रतिष्ठित व्यक्तियों, सरदारों और जातीय जनों को तथा नगरनिवासियों का भोजन, पान, वस्त्र, अलंकार और ताम्बूलादि से उचित सन्मान किया।

बाल्य-जीवन

बालक वर्द्धमान बाल्यकाल से ही प्रतिभासम्पन्न, पराक्रमी, वीर, निर्भय और मति-श्रुत-अवधि रूप तीन ज्ञान नेत्रों के धारक थे। उनका शरीर अत्यन्त सुन्दर, सम्मोहक एवं ओज तेज से सम्पन्न था। उनकी सौम्य आकृति देखते ही बनती थी। उनका मधुर संभाषण प्रकृतितः भद्र और लोकहितकारी था। उनका शरीर दूज के चन्द्र के समान प्रतिदिन बढ़ रहा था।

पार्श्वापत्तीय संजय (जयसेन) और विजय नाम के दो चारण मुनियों को इस बात में भारी सन्देह उत्पन्न हो गया था कि मृत्यु के बाद जीव किसी दूसरी पर्याय में जन्म लेता है या नहीं। वर्द्धमान के जन्म के कुछ समय बाद उन चारण मुनियों ने जब वर्द्धमान तीर्थंकर को देखा, उसी समय उनका वह सन्देह दूर हो गया। अतएव उन्होंने भक्ति से उनका नाम सन्मति रक्खा[1]। उनका शरीर अत्यन्त रूपवान और सर्वलक्षणों से भूषित था। वे जन्म-समय के दस अतिशयों से सम्पन्न थे। एक दिन इन्द्र की सभा में देवों में यह चर्चा चल रही थी कि इस समय सबसे अधिक शक्तिशाली शूरवीर वर्द्धमान हैं। यह सुनकर 'संगम' नाम का एक देव उनकी परीक्षा करने के लिये आया। आते ही उसने देखा कि देदीप्यमान आकार के धारक बालक वर्द्धमान समवयस्क अनेक बालक राजकुमारों के साथ एक वृक्ष पर चढ़े हुए क्रीड़ा करने में तत्पर हैं। यह देख संगम देव इन्हें डरावने की इच्छा से एक बड़े सांप

---

१. (क) संजयस्यार्थसंदेहे संजाते विजयस्य च।

जन्मानन्तरमेवैनमभ्येत्यालोकमात्रतः ॥२८२

तत्संदेहे गते ताभ्यां चारणाभ्यां स्वभक्तितः।

अस्त्वेष सन्मतिर्देवो भावीति समुदाहृतः ॥ २८३

—उत्तर पुराण पर्व ७४

(ख) निवृत्तो जयसेनाख्यचारिणा विजयेन च।

तन्त्वेष सन्मतिर्देव इत्युक्तः प्रमदादसौ ॥२६

—त्रिषष्ठि स्मृति शास्त्र

का रूप धारण कर उस वृक्ष की जड़ से लेकर स्कन्ध तक लिपट गया। सब बालक उसे देखकर भय से कांप उठे और शीघ्र ही डालियों पर से नीचे कूद कर भागने लगे। परन्तु राजकुमार वर्द्धमान के हृदय में जरा भी भय का संचार न हुआ। वे उसके विशाल फण पर चढ़कर उससे क्रीडा करने लगे। सर्प का रूप धारण करने वाला संगम देव उनकी वीरता और निर्भयता को देखकर विस्मित हुआ और अपना असली रूप प्रकट कर उन्हें नमस्कार किया, स्तुति की और उनका नाम 'महावीर' रक्खा।

महाकवि धनंजय ने नाममाला में भगवान महावीर के सन्मति, अतिवीर, महावीर, अन्त्यकाश्यप, नाथान्वय और वर्द्धमान नामों का उल्लेख किया है और बतलाया है कि इस समय उन्हीं का शासन प्रचलित है।

भगवान महावीर का गोत्र काश्यप था। उनके तेज पुंज से वैशाली का राज्य-शासन चमक उठा था। उस समय वैशाली और कुण्डपुर की शोभा द्विगुणित हो गई थी और वह इन्द्रपुरी से कम नहीं थी।

वैराग्य और दीक्षा

भगवान महावीर का बाल्य-जीवन उत्तरोत्तर युवावस्था में परिणत होता गया। इस अवस्था में भी उनका चित्त भोगों की ओर नहीं था। यद्यपि उन्हें भोग और उपभोग की वस्तुओं की कमी नहीं थी, किन्तु उनके अन्तर्मानस में उनके प्रति कोई आकर्षण नहीं था। वे जल में कमलवत् उनसे निस्पृह रहते थे। वे उस काल में होने वाली विषम परिस्थिति से परिचित थे। राज्यकार्य में भी उनका मन नहीं लगता था। राजा सिद्धार्थ और माता त्रिशला उन्हें गृहस्थ-मार्ग को अपनाने की प्रेरणा करते थे और चाहते थे कि वर्द्धमान का चित्त किसी तरह राज्य-कार्य के संचालन की ओर हो। एक दिन राजा सिद्धार्थ और माता त्रिशला ने महावीर को वैवाहिक सम्बन्ध करने के लिए प्रेरित किया। कलिंग देश का राजा जितशत्रु, जिनके साथ राजा सिद्धार्थ की छोटी बहिन यशोदा का विवाह हुआ था, अपनी पुत्री यशोदया के साथ कुमार वर्द्धमान का विवाह सम्बन्ध करना चाहता था। परन्तु कुमार वर्द्ध-

---

१. (अ) उत्तर पुराण पर्व ७४ श्लोक २८८ से २९५

(आ) वीरः शूरोऽयमित्युक्तिं सुराणामिन्द्रसंसदि।
श्रुत्वा सङ्गमकोऽन्येद्युरागतस्तं परीक्षितुम्॥२७॥
दृष्ट्वा क्रीडन्तमुद्यानेऽश्वमारूढो नृपात्मजैः।
काकपक्षधरैः सार्धं सवयोभिर्महाफणी॥२८॥
भूत्वा वेष्टिताभास्कन्धादस्थात्तद्भयतोऽखिलाः।
विटपिभ्यो निपत्याशु राजपुत्रा पलायताः॥२९
वीरोऽस्थादारुह्य भीष्म मात्रक वदरीरमत्।'
ततः प्रीतो महावीर इत्याख्यां तस्य सव्यधात्॥३०

त्रिषष्ठि स्मृति शास्त्रम् पृ. १५४

२. सन्मतिः महतिवीरः महावीरोऽन्त्यकाश्यपः।
नाथान्वयः वर्धमानः यत्तीर्थमिह साम्प्रतम्॥

—धनंजय नाममाला

मान ने विवाह करने से सर्वथा इनकार कर दिया और विरक्त होकर तप में स्थित हो गये।[1] इससे राजा जितशत्रु का मनोरथ पूर्ण न हो सका। महावीर के विवाह सम्बन्ध में श्वेताम्बरों की मान्यता इस प्रकार है :—

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में महावीर के विवाह सम्बन्ध में दो मान्यतायें पाई जाती हैं - विवाहित और अविवाहित। कल्पसूत्र और आवश्यक भाष्य की विवाहित मान्यता है और समवायांग सूत्र, ठाणांगसूत्र, पउमचरिउ तथा आवश्यक निर्युक्तिकार द्वितीय भद्रबाहु की अविवाहित मान्यता है। यथा—"**एगूणवीसं तित्थयरा अगारवास मज्झे वसित्ता मुंडे भवित्ता णं अगाराओ अणगारियं पव्वइया।**" (समवायांग सूत्र १९ पृ० ३५)

इस सूत्र में १९ तीर्थंकरों का घर में रह कर और भोग भोगकर दीक्षित होना बतलाया गया है। इससे स्पष्ट है कि शेष पांच तीर्थङ्कर कुमार अवस्था में ही दीक्षित हुए हैं। इसी से टीकाकार अभयदेव सूरि ने अपनी वृत्ति में 'शेषास्तु पचकुमारभाव एवेत्याह च' वाक्य के साथ 'वीरं अरिट्ठनेमि' नाम की दो गाथाएं उद्धृत की हैं—

वीरं अरिट्ठनेमिं पासं मल्लिं च वासुपुज्जं च।
ए ए मोत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो ॥२२१
रायकुलेसु वि जाया विसुद्धवंसेसु वि खत्तिअ कुलेसु।
न य इच्छियाभिसेया कुमारवासंमि पव्वइया ॥२२२॥

— आवश्यक निर्युक्ति पत्र १३६

इन गाथाओं में बतलाया गया है कि वीर, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ, मल्लि और वासुपूज्य इन पाँचों को छोड़कर शेष १९ तीर्थङ्कर राजा हुए थे। ये पांचों तीर्थंकर विशुद्ध वंशों, क्षत्रिय कुलों और राजकुलों में उत्पन्न होने पर भी राज्याभिषेक रहित कुमार अवस्था में ही दीक्षित हुए थे।

आवश्यक निर्युक्ति की २२६ वी गाथा में उक्त पांच तीर्थंकरों को 'पढमवए पव्वइया' वाक्य द्वारा प्रथम अवस्था (कुमार काल) में दीक्षित होना बतलाया है। उक्त निर्युक्ति की निम्न गाथा में इस विषय को और भी स्पष्ट किया गया है :—

गामायारा विसया निसेविया ते कुमारवज्जे हिं।
गामागराइए सु य केसि (सु) विहारो भवे कस्स।२५५

आगमोदय समिति से प्रकाशित आवश्यक निर्युक्ति की मलयगिरि टीका में महावीर का नाम छपने से रह गया है। इसमें स्पष्ट रूप से बतलाया है कि पाँच कुमार तीर्थङ्करों को छोड़ कर शेष ने भोग भोगे हैं। कुमार का अर्थ अविवाहित अवस्था से है। परन्तु कल्पसूत्र की समरवीर राजा की पुत्री यशोदा से विवाह सम्बन्ध होने, उससे प्रियदर्शना नाम की लड़की के उत्पन्न होने और उसका विवाह जमालि के साथ करने की मान्यता का मूलाधार क्या है यह कुछ मालूम नहीं होता, और न महावीर के दीक्षित होने से पूर्व एवं पश्चात् यशोदा के शेष

---

१ (अ) भवान्न किं श्रेणिक वेत्ति भूपतिं नृपेन्द्रसिद्धार्थकनीयसीपतिम्।
इमं प्रसिद्धं जितशत्रुमाख्यया प्रतापवन्तं जितशत्रुमण्डलम् ॥६॥
जिनेन्द्रवीरस्य समुद्भवोत्सवे तदागतः कुण्डपुरं सुहृत्परः।
सुपूजितः कुण्डपुरस्य भूभृता नृपोऽयमाखण्डलतुल्यविक्रमः ॥७॥
यशोदयायां सुतया यशोदया पवित्रया वीरविवाहमंगलम्।
अनेककन्यापरिवारयारुहत्समीक्षितुं तुंगमनोरथं तदा ॥८॥
स्थितेऽथ नाथे तपसि स्वयंभुवि प्रजातकैवल्यविशाललोचने।
जगद्विभूत्यै विहरत्यपि क्षितिं क्षितिं विहाय स्थितवांस्तपस्ययम् ॥९॥

—हरिवंश पुराण, जिनसेनाचार्य, पर्व ६६

(आ) आचार्य यतिवृषभ ने तिलोय पण्णत्ती' की 'वीरं अरिट्ठनेमि' नामक गाथा में वासुपूज्य, मल्लि, नेमिनाथ और पार्श्वनाथ के साथ वर्द्धमान को भी पांच बालयति तीर्थंकरों में गणना की है, जिन्होंने कुमार अवस्था में ही दीक्षा ग्रहण की थी। इस सम्बन्ध में दिगम्बर सम्प्रदाय की एक ही मान्यता है।

जीवन अथवा उसकी मृत्यु आदि के सम्बन्ध मे ही कोई उल्लेख श्वेताम्बरीय साहित्य मे उपलब्ध होता है, जिससे यह कल्पना भी निष्प्राण एवं निराधार जान पडती है कि यशोदा अल्पजीवी थी, और वह भगवान महावीर के दीक्षित होने से पूर्व ही दिवगत हो चुकी थी। अत उसकी मृत्यु के बाद भगवान महावीर ब्रह्मचारी रहने से ब्रह्मचारी के रूप मे प्रसिद्ध हो गये थे।

कुमार वर्द्धमान अपना आत्म-विकास करते हुए जगत का कल्याण करना चाहते थे। इसी कारण उन्हे सासारिक भोग और उपभोग अरुचिकर प्रतीत होते थे। वे राज्य-वैभव में पले और रह रहे थे, किन्तु वे जल मे कमलवत् रहते हुए उसे एक कारागृह ही समझ रहे थे। उनका अन्त करण सासारिक भोगाकाक्षाओ से विरक्त और लोक-कल्याण की भावना से ओत-प्रोत था। अत विवाह-सम्बन्ध की चर्चा होने पर उसे अस्वीकार करना समुचित ही था। कुमार वर्द्धमान स्वभावत ही वैराग्यशील थे। उनका अन्त.करण प्रशान्त और दया से भरपूर था, वे दीन-दुखियो के दु खो का अन्त करना चाहते थे। इस समय उनकी अवस्था २८ वर्ष ७ माह और १२ दिन की हो चुकी थी।[1] अत आत्मोत्कर्ष की भावना निरन्तर बढ रही थी, जो अन्तिम ध्येय की साधिका ही नही, किन्तु उसके मूर्त रूप होने का सच्चा प्रतीक थी। अत भगवान महावीर ने द्वादश भावनाओ का चिन्तन करते हुए ससार का अनित्य एव अशरणादिरूप अनुभव किया। उन्हे सासारिक वैभव की अस्थिरता एव विनश्वरता का स्वरूप प्रतिभासित हो रहा था और अन्त करण की वृत्ति उससे उदासीन हो रही थी। अत उन्होने राज्य-विभूति को छोड कर जिन-दीक्षा लेने का दृढ सकल्प किया। उनकी लोकोपकारी इस भावना का लौकान्तिक देवो ने अभिनन्दन किया। भगवान महावीर चन्द्रप्रभा नाम की शिविका (पालकी) मे बैठ कर नगर से बाहर निकले और ज्ञात खण्ड नाम के वन मे मार्गशिर कृष्णा दशमी के दिन अपराण्ह मे जबकि चन्द्रमा हस्तोत्तरा नक्षत्र के मध्य मे स्थित था, षष्ठोपवास से दीक्षा ग्रहण की।[2] वे सिद्ध परमेष्ठियो को नमस्कार कर अशोक वृक्ष के नीचे शिलासन पर उत्तर दिशा की ओर मुख कर विराजमान हुए। सर्व बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर—बहुमूल्य वस्त्राभूषणो को उतार कर फक दिया और पच मुष्टियो से अपने केशो का लौंच कर डाला। इस तरह भगवान महावीर ने दिगम्बर मुद्रा धारण की और आत्मध्यान मे तन्मय हो गए। दीक्षा लेते ही उन्हे मन.पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। उपवास की परिसमाप्ति पर जब वे पारणा के लिए वन से निकले और विद्याधरो के नगर के समान सुशोभित कुलग्राम की नगरी (वर्तमान कर्मार ग्राम) मे पहुँचे, वहाँ कूल नाम के राजा ने भक्तिभाव से उनके दर्शन किये, तीन प्रदक्षिणाएँ दी, और चरणो मे सिर झुका कर नमस्कार किया, उनकी पूजा की और मन, वचन काय की शुद्धिपूर्वक नवधाभक्ति से परमान्न (खीर) का आहार दिया[3]। दान के आनुषङ्गिक फलस्वरूप उस राजा के घर पंचाश्चर्यो की वर्षा हुई। आहार लेकर वर्द्धमान पुन तप मे स्थित हो गए और आत्म-साधना के लिये कठोर तप का आचरण करने लगे। वे निर्जन एवं दुरूह वनो मे विहार

---

१ मणुवयत्तणहमतुलं देवकय सेविऊण वासाइं।
अट्ठावीस सत्त य मासे दिवसे य बारसय॥
आभिणिबोहियबुद्धो छट्ठेण य मग्गसीसबहुलाए।
दसमीए णिक्खतो सुरमहिदो णिक्खमणे पुज्जो॥

—जयधवला भा० १ पृ० ७८

२ नानाविधरूपचिता विचित्रकूटोच्छ्रिता मणिविभूषाम्।
चन्द्रप्रभाख्य शिविकामारुह्य पुराद्विनिष्क्रान्त ॥८॥
मार्गशिरकृष्णदशमी हस्तोत्तरमध्यमाश्रिते सोमे।
षष्ठेन त्वपराण्हे भक्तेन जिन प्रवव्राज ॥९॥

—निर्वाण भक्ति पूज्यपाद

३. देखो उत्तर पुराण पर्व ७४ श्लोक ३१८ से ३२१

करके एकान्त स्थान में निर्भय हो योग-साधना करते थे। वे तीन दिन से अधिक एक स्थान पर नहीं ठहरते थे। किन्तु वर्षा ऋतु को विताने के लिए वे चार महीने एक स्थान पर अवश्य ठहरते थे और मौनपूर्वक तप का अनुष्ठान करते थे। वे अट्ठाईस मूलगुणों का बड़ी दृढ़ता से पालन करते थे। इस तपस्वी जीवन में महावीर ने अनेक देशों, नगरों और ग्रामों आदि विविध स्थानों में विहार कर तप द्वारा आत्म-शोधन किया। वे इन्द्रियजयी कषायों के रस को सुखाने के लिए निरन्तर प्रयत्न करते थे। ध्यान में स्थित हो आत्मतत्व का चिन्तन करते थे। वे ध्यान में इस तरह स्थित होते थे जैसे कोई पाषाण-मूर्ति स्थित हो। वे हलन-चलन से रहित निष्कम्प मूर्ति हो जाते थे।

केवलज्ञान

भगवान महावीर ने अपने साधु-जीवन में अनशनादि द्वादश कठोर दुर्धर एवं दुष्कर तपों का अनुष्ठान किया। भयानक हिंस्र जीवों से भरी हुई अटवी में विहार किया। डास-मच्छर, शीत, उष्ण और वर्षादिजन्य घोर कष्टों को सहा। साथ ही, उपसर्ग-परिषहों को सहन किया परन्तु दूसरों के प्रति अपने चित्त में जरा भी विकृति को स्थान नहीं दिया। यह महावीर की महानता और सहनशीलता का उच्च आदर्श है। उन्होंने बारह वर्ष पर्यन्त मौनपूर्वक कठोर तपश्चर्या की। श्रमण महावीर शत्रु-मित्र, सुख-दुख, प्रशंसा-निन्दा, लोह-कांचन और जीवन-मरणादि में सम भाव को—मोह क्षोभ से रहित वीतराग भाव को—अवलम्बन किये हुये थे।[1] वे स्व-पर कल्पना रूप अहंकार ममकारात्मक विकल्पों को जीत चुके थे और निर्भय होकर सिंह के समान ग्राम-नगरादि में स्वच्छन्द विचरते थे। महावीर अपने साधु-जीवन में वर्षा ऋतु को छोड़कर तीन दिन से अधिक एक स्थान पर नहीं ठहरे। उनके मौनी-साधु जीवन से भी जनता को विशेष लाभ पहुँचा था। अनेकों को अभयदान मिला, अनेकों का उद्धार हुआ और अनेक को पथ-प्रदर्शन मिला। भगवान महावीर ने श्रमण अवस्था में श्रावस्ती, कौशाम्बी, वाराणसी, राजगृह, नालन्दा, वैशाली आदि नगरों तथा राढ़ आदि देशों में विहार किया और अपनी योग-साधना में निष्ठता प्राप्त की। कौशाम्बी में तो चन्दना की बेड़ी टूट गई। उसने नवधाभक्ति से उन्हें जो आहार दिया, उससे उसने सातिशय पुण्य का संचय किया। उसे सेठानी की कैद से छुटकारा मिला, दुःख का अवसान हुआ।

यद्यपि श्रमण महावीर के मुनि-जीवन में होने वाले उपसर्गों का दिगम्बर साहित्य में श्वेताम्बर परम्परा के साहित्य के समान उल्लेख उपलब्ध नहीं होता, किन्तु पांचवी शताब्दी के आचार्य यतिवृषभ रचित तिलोय पण्णत्ती के चतुर्थाधिकार गत १६२० नम्बर की गाथा के निम्न—'सत्तम तेवीसतिम तित्थयराणं च उवसग्गो' वाक्य में सातवें, तेईसवें और अन्तिम तीर्थंकर महावीर के सोपसर्ग होने का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। इससे महावीर के सोपसर्ग जीवन का स्पष्ट आभास मिल जाता है। भले ही उनमें कुछ अतिशयोक्ति से काम लिया गया हो; परन्तु श्रमण महावीर के सोपसर्ग साधु जीवन से इनकार नहीं किया जा सकता। उत्तर पुराण में महावीर के सोपसर्ग जीवन की घटना का उल्लेख मिलता है। उसमें लिखा है कि—किसी समय भगवान महावीर भ्रमण करते हुए उज्जैनी की अतिमुक्तक स्मशान भूमि में प्रतिमा-योग ध्यान से विराजमान थे। उन्हें देख कर महादेव नाम के रुद्र ने अपनी दुष्टता से उनके धैर्य की परीक्षा लेनी चाही। अतः उसने रात्रि के समय अनेक बड़े बड़े वैतालों का रूप बनाकर उपसर्ग किया। वे तीक्ष्ण चमड़ा छील कर एक दूसरे के उदर में प्रवेश करना चाहते थे।

---

१. सम-सत्तु-बन्धु वग्गो सम-सुह-दुक्खो पसंस-णिंद-समो।
सम-लोट्ठ-कंचणो पुण जीविद-मरणे समो समणो॥

—प्रवचनसार ३-४१

वे खोले हुए मुखो से अत्यन्त भयकर दीखते थे। इनके अतिरिक्त सर्प, हाथी, सिह, अग्नि और वायु के साथ भीलों की सेना बनाकर उपसर्ग किया। इस तरह पाप का अर्जन करने मे निपुण उस रुद्र ने अपनी विद्या के प्रभाव से भीषण उपसर्ग किये किन्तु वह उन्हे ध्यान से विचलित करने मे समर्थ न हो सका। अन्त मे उसने उनके महति और महावीर नाम रखकर स्तुति की और अपने स्थान को चला गया।[1]

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की आचाराङ्ग निर्युक्ति मे वर्द्धमान को छोड कर शेष २३ तीर्थङ्करो के तप कर्म को निरुपसर्ग बतलाया है।[2] अन्य श्वेताम्बरीय ग्रन्थो मे भी महावीर के उपसर्ग की अनेक घटनाए उल्लिखित मिलती है, जिनसे स्पष्ट है कि महावीर को अपने साधु-जीवन मे अनेक उपसर्ग और परीषहो का सामना करना पडा, परन्तु वे उनसे रचमात्र भी विचलित नही हुए, प्रत्युत आत्मसहिष्णुता से उनके आत्मप्रभाव मे हो अभिवृद्धि हुई और लोगो ने उनके अमित साहस और धैर्य की सराहना की।

महावीर अपने साधु-जीवन मे पच समितियो के साथ मन-वचन-कायरूप तीन गुप्तियो को जीतने—उन्हे वश मे करने—और पचेन्द्रियो को उनके विषयो से निरोध करने तथा कषाय-चक्र को कुशल मल्ल के समान मल-मल कर निष्प्राण एव रस रहित बनाने अथवा कषायो के रस को सुखाने, उनकी शक्ति को निर्बल करते हुए क्षीण करने का उपक्रम करने हेतु, दर्शन-ज्ञान-चारित्र की स्थिरता मे समता एव सयत जीवन व्यतीत करते हुए समस्त परद्रव्यो के विकल्पो से शून्य विशुद्ध आत्म स्वरूप मे निमग्न वृत्ति मे अवगाहन करते थे। श्रमण महावीर को इस तरह ग्राम, खेट, कर्वट, और वन मटम्बादि[3] अनेक स्थानो मे मौनपूर्वक उग्रोग्र तपश्चरणो का अनुष्ठान एव आचरण करते हुए बारह वर्ष, पाच महीने और पन्द्रह दिन का समय व्यतीत हो गया[क]। उन्हे इन बारह वर्षो के समय में बारह चातुर्मासो में चार चार महीने एक एक स्थान पर रहना पडा, परन्तु अपनी मौन वृत्ति के कारण उन्होने कभी किसी से सभाषण तक नही किया और न किसी को उपदेशादि द्वारा ही तुष्ट किया। उपसर्ग और परीषहो के कठिन अवसरो पर भी समभाव का आश्रय लिया। महावीर का साधु-जीवन कष्टसहिष्णु और

---

१ देखो, उत्तर पुराण पर्व ७४ श्लोक ३३१ से ३३६

२. सव्वेसिं तवो कम्म निरुवसग्ग तु वण्णियं जिणाण।
नवर तु वड्ढमाणस्स सोवसग्ग मुणेयव्व ॥२७६॥
आचाराग निर्युक्ति

ग्राम पुर खेट कर्वट मटबघोषाकरान्प्रविजहार।
उग्रैस्तपोविधानैर्द्वादशवर्षाण्यमरपूज्य ॥१०॥ निर्वाणभक्ति

(क) श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे आमतौर पर तीर्थंकरो के मौनपूर्वक तपश्चरण का विधान नही है किन्तु उनके यहाँ जहा तहाँ वर्षावास मे चौमासा बिताने और छद्मस्थ अवस्था मे उपदेशादि स्वय देने अथवा यक्षादि के द्वारा दिलाने का उल्लेख पाया जाता है। परन्तु आचाराङ्ग सूत्र के टीकाकार शीलाक ने साधिक बारह वर्ष तक मौनपूर्वक तपश्चरण करने का दिगम्बर परम्परा के समान ही विधान किया है। वे वाक्य इस प्रकार है :—

"नानाविधाभिगतपतो घोरान् परीषहोपसर्गानपि सहमानो महासत्वतया म्लेच्छानप्युपशमन नयन् द्वादशवर्षाणि साधिकानि छद्मस्थो मौनव्रती तपश्चचार।" —(आचाराङ्ग सूत्रवृत्ति पृ० २७३)

आचार्य शीलाक के इस उल्लेख पर से श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे भी तीर्थंकर महावीर के मौनपूर्वक तपश्चरण का विधान होने से छद्मस्थ अवस्था मे उपदेशादि की कल्पना निरर्थक जान पड़ती है।

धवलाटीका मे महावीर के तपश्चरण का काल बारह वर्ष साढे पाच महीना बतलाया है—

गमइय छदुमत्थत्त बारसवासाणि पच मासेय।
पण्णारस दिणाणि य तिरयण सुद्धो महावीरो॥

—धवला मे उद्धृत प्राचीन गाथा

सयम की निर्दोष चर्या से देदीप्यमान रहा है।

इस तरह महावीर अन्तर्बाह्य तपों के अनुष्ठान द्वारा आत्म-शुद्धि करते हुए जृम्भिक[1] ग्राम के समीप आये, और ऋजुकूला नदी के किनारे शाल वृक्ष के नीचे बैठ गये। वैशाख शुक्ला दशमी को तीसरे पहर के समय जब वे एक शिला पर पष्ठोपवास से युक्त होकर क्षपक श्रेणी पर आरूढ थे, उस समय चन्द्रमा हस्तोत्तर नक्षत्रके मध्य में स्थित था। भगवान महावीर ने ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा ज्ञानावरणादि घाति-कर्म-मल को दग्ध किया और स्वाभाविक आत्म-गुणों का विकास किया और केवलज्ञान या पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया[2]। जिस समय भगवान महावीर ने मोह कर्म का विनाश किया, उसके अनन्तर वे केवलज्ञान, केवल दर्शन और अनन्तवीर्य युक्त होकर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो गए तथा वे सयोगी जिन कहलाये। ऐसा नियम है कि सयोगी जिन प्रति समय असख्यात गुणित श्रेणी से कर्म प्रदेशाग्र की निर्जरा करते हुए। धर्म रूप तीर्थ-प्रवर्तन के लिये यथोचित धर्म-क्षेत्र में महाविभूति के साथ) विहार करते है[3]।

केवलज्ञान होने पर उन्हे ससार के सभी पदार्थ युगपत् (एक साथ) प्रतिभासित होने लगे और इस तरह भगवान महावीर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होकर अहिसा की पूर्ण प्रतिष्ठा को प्राप्त हुए। उनके समीप जाति विरोधी जीव भी अपना वैर-विरोध छोडकर शान्त हो जाते थे।[4] उनकी अहिसा विश्वशान्ति और वास्तविक

---

१. जमुई या जृभक ग्राम वज्रभूमि मे है। जो राजगिर से लगभग ३० मील और भरिया से सवासौ मील के लगभग दूरी पर स्थित है। ऋजुकूला नदी का संस्कृत नाम 'ऋष्यकूला' है। इसी जृम्भक ग्राम के दक्षिण मे लगभग चार-पाच मील की दूरी पर 'केवली' नाम का एक गाव है। इस ग्राम के पास बहने वाली नदी का नाम अजन है। सभव है, उक्त केवली ग्राम भगवान महावीर के केवलज्ञान का स्थान हो। वैशाख शुक्ला दशमी के दिन वहाँ मेला भरता है, जो भगवान महावीर के केवलज्ञान की तिथि है। जयधवला मे जृम्भक ग्राम के बाहर का निकटवर्ती प्रदेश महावीर के केवलज्ञान का स्थान बतलाया है। जैसा कि—वइसाह जोण्हपक्ख-दसमीए उजुकूलणदी तीरे जभियगामिस्स वाहि छट्ठोववासेण सिलावट्टे आदावेतेण अवरण्हे पाद छायाए केवलणाणमुप्पाइद।' (जयधव० पु० १ पृ० ७६)

२. (अ) वइसाह सुद्धदसमी माघा रिक्खम्मि वीरणाहस्स।
ऋजुकूलणदीतीरे अवरण्हे केवल णाणं ॥ तिलो० प०

(आ) ऋजुकूलायास्तीरे शालद्रुमसश्रिते शिलापट्टे।
अपराण्हे षष्ठेनास्थितस्य खलु जृंभिका ग्रामे ॥
वैशाखसितदशम्या हस्तोत्तरमध्यमाश्रिते चन्द्रे ॥ नि० भ०

(इ) उजुकूलणदीतीरे जभियगामे वहि सिलावट्टे।
छट्ठेणादावेते अवरण्हे पाद छायाए ॥
वइसाह जोण्हपक्खे दसमीए खवगसेढिमारूढो।
हंतूण घाइकम्मं केवलणाण समावण्णो ॥ (जय ध० पु० १ पृ० ८०)

(ई) हरिवंशपुराण २।५७-५९।

(उ) उत्तर पुराण पर्व ७४ श्लोक ३४८ से ३५२

३ तदो अणतर केवलणाण-दसण-वीरियजुत्तो जिणो केवली सव्वण्हू सव्वदरिसी भवदि सजोगिजिणो त्ति भण्णइ। असंखेज्ज गुणाए सेढीए पदेसग्ग णिज्जरे माणो विहरदित्ति।

कसाय पा० चुण्णिसुत्त १५७१, १५७२ पृ० ८९६

भगवान महावीर की सर्वज्ञता और सर्वदर्शित्व की चर्चा उस समय लोक में विश्रुत थी। यह बात बौद्ध त्रिपिटकों से प्रकट है:—

देखो, मज्झिमनिकाय के चूल-दुक्खक्खन्ध सुत्तन्त पृ० ५९ तथा म० नि० के चूल सकुलु दायी सुत्तन्त पृ० ३१८

४. अहिसा प्रतिष्ठाया तत्सन्निधौ वैरत्याग:।

—पातंजलि योगसूत्रम् ३५

स्वतंत्रता की प्रतीक है। इसीलिये आचार्य समन्तभद्र ने उसे परम ब्रह्म कहा है[1]।

केवलज्ञान होने पर इन्द्रादिकदेव उनके केवलज्ञान का कल्याणक मनाने के लिये आये और उन्होने भगवान महावीर के केवलज्ञान कल्याणक की पूजा की। परन्तु उस समय उनकी दिव्यध्वनि नही खिरी—उनका धर्मोपदेश नही हुआ।

धर्मोपदेश न होने का कारण—क्षायोपशमिक ज्ञान के नष्ट हो जाने पर अनन्त रूप केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर नौ प्रकार के पदार्थो से गर्भित दिव्यध्वनि सूत्रार्थ का प्रतिपादन करती है। किन्तु भगवान महावीर को केवलज्ञान होने के पश्चात् ६६ दिन तक गणधर के अभाव मे धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन नही हुआ। उनकी वाणी नही खिरी।[2]

सौधर्म इन्द्र ने गणधर को तत्काल उपस्थित क्यो नही किया? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा गया है कि काल लब्धि के बिना सौधर्म इन्द्र गणधर को कैसे उपस्थित कर सकता था। उस समय उसमे गणधर को उपस्थित करने की सामर्थ्य नही थी, क्योकि जिसने जिनके पादमूल मे महाव्रत स्वीकार किया है ऐसे व्यक्ति को छोडकर अन्य के निमित्त से दिव्यध्वनि नही खिरती। ऐसा उसका स्वभाव है[3]।

सौधर्म इन्द्र को जब यह ज्ञात हुआ कि गणधर के अभाव मे धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन नही हुआ, तब उसने उपयुक्त पात्र के अन्वेषण करने का प्रयत्न किया। उसका ध्यान इन्द्रभूति की ओर गया और वह तत्काल वृद्ध ब्राह्मण का वेष बनाकर इन्द्रभूति के पास पहुँचा। अभिवादन के पश्चात् बोला—विद्वन्! मेरे गुरु ने मुझे एक गाथा सिखाई थी, उस गाथा का अर्थ मेरी समझ मे अच्छी तरह से नही आ रहा है। मेरे गुरु इस समय मौन धारण किये हुए है। अत कृपाकर आप ही इसका अर्थ समझा दीजिये। उत्तर मे इन्द्रभूति ने कहा—मै तुम्हे गाथा का अर्थ इस शर्त पर समझा सकता हूँ कि उस गाथा का अर्थ समझ जाने पर तुम मेरे शिष्य बन जाओगे। देवराज ने इन्द्रभूति की शर्त सहर्ष स्वीकार कर ली और उसने इन्द्रभूति के सामने गाथा पढ़ी।

पंचेव अत्थिकाया छज्जीवणिकाया महव्वया पंच।
अट्ठय पवयणमादा सहेउओ बंध-मोक्खो य॥

—धवला. पु० ९ पृ० १२९

---

१. अहिंसा भूताना जगति विदित ब्रह्मपरम।
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परम करुणो ग्रन्थमुभयं,
भवानेवाऽत्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरत.।

—वृहत्स्वयंभूस्तोत्र

२. श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे ऐसी मान्यता है कि जृंभक ग्राम की ऋजुकूला नदी के किनारे जब भगवान महावीर को केवलज्ञान हुआ, तब देवता गणो ने आकर उनकी पूजा की। ज्ञान की महिमा की। देवताओं ने समवसरण की रचना की, किन्तु प्रथम देशना का परिणाम विरति-ग्रहण की दृष्टि से शून्य रहा। प्रथम समवसरण मे भगवान महावीर की वाणी नही खिरी। इसलिए उस दिन धर्मतीर्थ का प्रवर्तन न हो सका। आवश्यक निर्युक्ति गाथा २३८ के अनुसार केवलज्ञान उत्पन्न होने पर महावीर रात्रि मे ही मध्यमा के महासेन वन नामक उद्यान मे चले गए। टीकाकार मलयगिरि के अनुसार ऋजुकूला से १२ योजन दूर मध्यमा नगरी के महासेन वन मे आये और वहाँ सोमिल ब्राह्मण के यज्ञ मे आये हुए ११ उपाध्यायो को उनके शिष्यो के साथ दीक्षित किया। वे महावीर के ११ गणधर हुए।

३. केवलणाणे समुप्पण्णे वि तत्थ तित्थाणुप्पत्ती दो। दिव्वज्झुणीए किमट्ठ तत्थापउत्ती? गणिदाभावादो। सोहम्मिदेण तक्खणे चेव गणिदो किण्ण ढोइदो? काललद्धीए विणा असहायस्स देविदस्स तड्ढोयणसत्तीए अभावादो। सगपादमूलम्मि पडिवण्णमहव्वय मोतूण अण्णमुद्दिसिय दिव्वज्झुणी किण्ण पयट्टदे? साहावियादो। ण च सहावो परपज्जणियोगारुहो, अव्ववत्थावत्तीदो।

—धवला० पु० ६। पृ० १२१

इन्द्रभूति गाथा को सुनते तथा पढ़ते ही असमंजस में पड़ गया। उसकी समझ में नहीं आया कि पांच अस्तिकाय, षट् जीवनिकाय और अष्ट प्रवचन मात्राएं कौन-सी हैं? 'छज्जीवणिकाया' पद से वह और भी विस्मित हुआ, जीवों के छह निकाय कौन से है? क्योंकि जीव के अस्तित्व के सम्बन्ध में उसका मन पहले से ही शंकाशील बना हुआ था। इन्द्रभूति ने अपने विचार प्रवाह को रोकते हुए उस आगन्तुक से कहा—'तुम मुझे अपने गुरु के पास ले चलो, उनके सामने ही मै इस गाथा का अर्थ समझाऊँगा। इन्द्र अपने अभीष्ट अर्थ को सिद्ध होता देख बड़ा प्रसन्न हुआ और वह इन्द्रभूति को उसके भाइयों और उनके पाँच-पाँच सौ शिष्यों को साथ लेकर महावीर के समवसरण में पहुँचा।

वीर-शासन

छयासठ दिन तक मौन मे विहार करते हुए वर्द्धमान जिनेन्द्र राजगृह के प्रसिद्ध भूधर विपुलगिरि पर पधारे। जिस तरह सूर्य उदयाचल पर आरूढ़ होता है, उसी प्रकार वर्द्धमान जिनेन्द्र भव्य लोगों को प्रबुद्ध करने के लिए विपुल लक्ष्मी के धारक विपुलाचल पर आरूढ हुए[1]। वर्द्धमान जिनेन्द्र के आगमन का वृत्तान्त अवगत कर सुर-असुरादि सपरिकर पधारे और उन्होंने एक योजन विस्तार वाले समवसरण की रचना की, जो कोटों, द्वारों, गोपुरों, अष्टमंगल द्रव्यों, ध्वजाओं, मानस्तम्भों, स्तूपों, महावनों, वापिकाओं, कमल समूहों और लता गृहों से अलंकृत था और जिसमें बारह प्रकोष्ठ या विभाग बने हुए थे। समवसरण की देवोपुनीत रचना अत्यन्त सम्मोहक और प्रभावक थी। उसकी महिमा अद्भुत थी। समवसरण की यह खास विशेषता थी कि उस समवसरण सभा में देव विद्याधर, मनुष्य और तिर्यचादि पशु सभी जीव अपने-अपने विभाग में शान्तभाव मे बैठे हुए थे और भगवान महावीर' उसमें आठ प्रातिहार्यो और चौतीस अतिशयों से संयुक्त विराजमान थे[2]। उनकी निर्विकार प्रशान्त मुद्रा प्राकृतिक आदर्शरूप की जनक थी। वे अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा को पाकर परमब्रह्म परमात्मा बन गए थे। अत: उनकी अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा के प्रभाव से जाति-विरोधी जीवों का परस्पर में कषायरूप विष धुल गया था। उनकी मोह-क्षोभ रहित वीतराग मुद्रा अत्यन्त प्रभावक थी। इसी से विरोधी जीवों पर उसका अमित प्रभाव अंकित था। जनता ने जाति विरोधी जीवों का विपुलगिरि पर एकत्र मिलाप देखा, उसमें देव और मनुष्यों के अतिरिक्त सिंह-हिरण, सर्प-नकुल, और चूहा-बिल्ली आदि विरोधी जीव भी शान्तभाव मे बैठे थे। उन्हें देखकर उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वे बार-बार कहने लगे कि यह सब उस क्षीणमोही विगतकल्मष, योगीन्द्र महावीर का ही प्रभाव है। जैसा कि संस्कृत के निम्न प्राचीन पद्य से स्पष्ट है :—

सारंगी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोतं।
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशाकेकिकान्ता भुजंगीम्।
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति,
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम्॥

१. षट्षष्टि दिवसान् भूयो मौनेन विहरन् विभुः।
आजगाम जगत्ख्यातं जिनो राजगृहं पुरम्॥ ६१
आरुरोह गिरिं तत्र विपुलं विपुलश्रियम्।
प्रबोधार्थं स लोकानां भानुमानुदयं यथा॥ ६२॥ हरिवंश पु० २। ६१, ६२

२. प्रातिहार्यैर्युतोऽष्टाभिश्चतुस्त्रिंशन्महाद्भुतैः।
तत्र देवैर्वृतोऽभासीज्जिनश्चन्द्र इव ग्रहैः॥—हरिवंश पुराण २। १६७

समवसरण की महत्ता और प्रभुता को देखकर ऐसा कौन व्यक्ति होगा, जो प्रभावित हुए बिना न रहता। उनका छत्रत्रय तीन लोक की प्रभुता को व्यक्त कर रहा था। सौधर्म और ईशान इन्द्र चमर ढोल रहे थे, और शेष इन्द्र जय-जय शब्दों का उच्चारण कर रहे थे। फिर भी भगवान वर्द्धमान उस विभूति से चार अंगुल ऊपर अन्तरिक्ष में विराजमान थे। वे उस विभूति से अत्यन्त निस्पृह दिखाई दे रहे थे। उनकी यह निस्पृहता आत्म-बोध और वैराग्य की जनक थी।

इन्द्रभूति ने भाइयों और शिष्यों के साथ समवसरण की महत्ता का अवलोकन किया। उसे अपनी विद्या का बड़ा अभिमान था। वह अपने सामने किसी दूसरे को विद्वान् मानने के लिए तैयार न था। किन्तु जब वह समवसरण में प्रविष्ट हुआ, तब मानस्तम्भ देखते ही उसका सब अभिमान गल गया और मन मार्दव भावना से ओतप्रोत हो गया। मन में भगवान के प्रति आदर भाव जागृत हुआ। और आन्तरिक विशुद्धि के साथ वह समवसरण के भीतर प्रविष्ट हुआ। उसने दिव्यात्मा महावीर को देखते ही भक्ति से नमस्कार किया, तीन प्रदक्षिणाएं दीं, उस समय उसका अन्तःकरण विशुद्धि से भर रहा था। आन्तरिक वैराग्य भावना ने उसे प्रेरित किया, और उसने पाँच मुट्ठियों से अपने केशों का लोंच किया और वस्त्राभूषण के त्यागपूर्वक अपने भाइयों और पाँच-पाँच सौ शिष्यों के साथ संयम धारण किया[1] —यथा जात दिगम्बर मुद्रा धारण की और वह गौतम गोत्री इन्द्रभूति भगवान महावीर का प्रथम गणधर बना, और अग्निभूति वायुभूति भी गणधर पद से अलंकृत हुए। दीक्षा लेते ही इन्द्रभूति मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययरूप ज्ञानचतुष्टय से भूषित हुए। उनका जीव-विषयक सन्देह भी दूर हो गया, और तपोबल से उन्हे अनेक ऋद्धियां (विशेष शक्तियाँ) प्राप्त हुई। वे अणिमादि सप्त ऋद्धिसम्पन्न सप्त भय रहित, पचेन्द्रिय-विजयी, परीषह सहिष्णु, और षट् जीव निकाय के सरक्षक थे। वे प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग रूप चार वेदों में अथवा साम, ऋक, यजु और अथर्व वेदादि में पारगत तथा विशुद्ध शील से सम्पन्न थे। भावश्रुतरूप पर्याय से बुद्धि की परिपक्वता को प्राप्त इन्द्रभूति गणधर ने एक मुहूर्त में बारह अंग और चौदह पूर्वों की रचना की। जैसा कि तिलोय पण्णत्ती की निम्न गाथाओं से प्रकट है :—

'विमले गोदमगोत्ते जादेण इंदभूदि णामेण।
चउवेदपारगेणं सिस्सेण विसुद्धसीलेण॥
भावसुदपज्जयेहिं परिणदमयिणा अ बारसंगाणं।
चोद्दस पुव्वाण तहा एक्कमुहुत्तेण विरचिणा विहिदो॥ —तिलो० प० १।७८-७९

इन्द्रभूति को भगवान महावीर के सान्निध्य से तथा विशुद्धि और तपोबल से ऐसी अपूर्व सामर्थ्य प्राप्त हुई, जिससे उन्हें सर्वार्थसिद्धि के देवों से भी अनन्तगुणा बल प्राप्त था, जो एक मुहूर्त में बारह अंगों के अर्थ और द्वादशांगरूप ग्रन्थों के स्मरण तथा पाठ करने में समर्थ थे, और अमृतास्रव आदि ऋद्धियों के बल से हस्तपुट में गिरे हुए सब आहारों को वे अमृत रूप से परिणमाने में समर्थ थे तथा महातप गुण से कल्प वृक्ष के समान, एवं अक्षीण महानस लब्धि के बल से अपने हाथों में गिरे हुए आहारों की अक्षयता के उत्पादक थे अघोरतपऋद्धि के माहात्म्य से जीवों के मन, वचन और कायगत समस्त कष्टों को दूर करने वाले, सम्पूर्ण विद्याओं के द्वारा जिनके चरण सेवित थे। आकाश चारण गुण से सब जीव समूहों की रक्षा करने वाले, वचन एवं मन से समस्त पदार्थों के सम्पादन करने में समर्थथे, अणिमादि आठ गुणों के द्वारा सब देव समूहों को जीतने वाले, और परोपदेश के बिना अक्षर अनक्षर रूप सब भाषाओं में कुशल गणधर देव ग्रन्थकर्ता है[2]। ऐसी दिव्य शक्तियों के धारक गणधर इन्द्रभूति भगवान महावीर के प्रथम गणधर बने। और उनके दोनों भाई भी गणधर पद से अलंकृत हुए। श्वेताम्बरीय आवश्यक निर्युक्ति में भी सभी गणधरों को द्वादश अंग और चौदह पूर्वो का धारक बतलाया है, भगवान महावीर के ग्यारह गणधर थे, जिनका परिचय आगे दिया गया है।

---

१. प्रत्येक सहिताः सर्वे शिष्याणा पञ्चभिःशतैः।
त्यक्ताम्बरादिसम्बन्धाः संयमं प्रतिपेदिरे॥ (हरिवंश पु० २।६९)

२. धवला पु० ९ पृ० १२८

मगधनरेश बिम्बसार (श्रेणिक) ने वनपाल से जब यह सुना कि विपुलाचल पर भगवान महावीर का समवसरण आया है, तब उसने सिंहासन से उठकर सात पैंड चलकर भगवान को परोक्ष नमस्कार किया। और नगर में महावीर के दर्शन को जाने के लिए डोंड़ी पिटवाई। वह स्वयं वैभव के तथा अपनी रानी चेलना के साथ विपुलाचल के समीप आया। तब समवसरण के दृष्टिगोचर होते ही समस्त वैभव को छोड़कर रानी के साथ समवसरण में प्रविष्ट हो गया। श्रेणिक ने भगवान की वंदना कर तीन प्रदक्षिणाएं दीं, और गदगद हो भक्तिभाव से उनकी स्तुति की और स्तवन करते हुए कहा कि—'हे नाथ! मुझ अज्ञानी ने हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के संचय में आरंभादि द्वारा घोर पाप किये हैं। और तो क्या मुझ मिथ्यादृष्टि पापी ने मुनिराज का वध करने में बड़ा आनन्द माना था, उन पर मैंने बहुत उपसर्ग किया था, जिससे मैंने नरक ले जाने वाले नरकायु कर्म का बन्ध किया, जो छूट नहीं सकता। आपकी वीतराग मुद्रा का दर्शन कर आज मेरे दोनों नेत्र सफल हो गए। अब मुझे विश्वास हो गया है कि मैं इस संसार समुद्र से पार हो जाऊंगा। हे भगवन्! आपके दर्शन से मुझे अत्यन्त शान्ति मिली है। आपके दर्शन से मुझे ऐसी सामर्थ्य प्राप्त हो, जो मैं इस दुस्तर भवसागर से पार हो सकूं। इस तरह वह भगवान महावीर का स्तवन कर मनुष्यों के कोठे में बैठ गया, और उपदेशामृत का पान किया। बिम्बसार भगवान के असाधारण व्यक्तित्व से प्रभावित ही नहीं हुआ; किन्तु उसने उन्हें लोक का अकारण बन्धु समझा। उसका हृदय आनन्द से छलछला रहा था। ऐसा आनन्द और शान्ति उसे अपने जीवन में कभी प्राप्त नहीं हुई थी। उनके दर्शन से उसके हृदय में जो विशुद्धि और प्रसन्नता बढ़ी, उसका कारण केवल वीतराग प्रभु का दर्शन है।

उसी दिन वैशाली के राजा चेटक की पुत्री चन्दना ने दीक्षा ली और वह आर्यिकाओं की प्रमुख गणिनी हुई[1]। उस समय अनेक राजाओं, राजपुत्रों तथा सामान्य जनों ने महावीर की देशना से प्रभावित होकर यथाजात मुद्रा धारण की। अनेकों ने श्रावकादि के व्रत धारण किये। राजा श्रेणिक के अक्रूर, वारिषेण, अभयकुमार और मेघकुमार आदि पुत्रों ने राज वैभव का परित्याग कर दीक्षा ली और तपश्चरण द्वारा आत्म-साधना की और उनकी माताओं ने तथा अन्तःपुर की स्त्रियों ने सम्यग्दर्शन, शील, दान, प्रोषध और पूजन का नियम लेकर त्रिजगद्गुरु वर्द्धमान जिनेन्द्र को नमस्कार किया और व्रतादि का अनुष्ठान कर जीवन सफल बनाया।

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को प्रातःकाल सूर्योदय के समय अभिजित नक्षत्र, और रुद्र मुहूर्त में भगवान महावीर की प्रथम धर्मदेशना हुई[2]। वह वर्ष का प्रथम मास, प्रथम पक्ष और युग की आदि का प्रथम दिवस था, जिसमें भगवान महावीर के सर्वोदय तीर्थ की धारा प्रवाहित हुई। भगवान महावीर ने इस पावन तिथि में समस्त संशयों की छेदक, दुन्दुभि शब्द के समान गम्भीर और एक योजन तक विस्तृत होने वाली दिव्य ध्वनि के द्वारा शासन की परम्परा चलाने के लिए उपदेश दिया[3]। महावीर का यह धर्मोपदेश एक योजन के भीतर दूर या समीप

१. सुता चेटकराजस्य कुमारी चन्दना तदा।
धौतैकाम्बरसवीता जातार्याणां पुरःसरी॥ —हरिवंश पु० २-७०

२. वासस्स पढम मासे सावण णामम्मि बहुलपडिवाए।
अभिजीणक्खत्तम्मि य उप्पत्ती धम्मतित्थस्स॥
सावणबहुले पाडिवरुद्दमुहुत्ते सुहोदये रविणो।
अभिजस्स पढमजोए जुगस्स आदी इमस्स पुढं॥
—तिलो० प० १-६९, ७०

३. स दिव्यध्वनिना विश्वसंशयच्छेदिना जिनः।
दुन्दुभिध्वनिधीरेण योजनान्तरयायिना॥
श्रावणस्यासिते पक्षे नक्षत्रेऽभिजिति प्रभुः।
प्रतिपद्यह्नि पूर्वाण्हे शासनार्थमुदाहरत्॥
—हरिवंश पु० २।९०-९१

बैठे हुए देव-देवांगनाओं, मनुष्य, स्त्रियों, तिर्यंचों तथा नाना देश सम्बन्धी संज्ञी जीवों की अक्षर अनक्षर रूप अठारह महा भाषा और सात सौ लघुभाषाओं में परिणत हुआ था। तालु, ओष्ठ, दन्त, और कण्ठ के हलन-चलन रूप व्यापार से रहित, तथा न्यूनाधिकता से रहित मधुर, मनोहर और विशद रूप भाषा के अतिशयों से युक्त एक ही समय में भव्य जीवो को आनन्दकारक उपदेश हुआ। उससे समस्त जीवो का संशय दूर हो गया, क्योंकि भगवान महावीर राग-द्वेष और भय से रहित थे। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, कल्पवासी देवो के द्वारा तथा नारायण, बलभद्र, विद्याधर, चक्रवर्ती, मनुष्य, तिर्यच और अन्य ऋषि महर्षियो के द्वारा जिनके चरण पूजित है ऐसे भगवान महावीर अर्थागम के कर्ता हुए[1] और गणधर इन्द्रभूति ग्रन्थ कर्ता हुए।

महावीर ने अपनी देशना में बताया कि घृणा पाप से करनी चाहिए, पापी जीव से नही। यदि उस पर घृणा की गई तो फिर उसका उत्थान होना कठिन है। उस पर तो दयाभाव रखकर उसकी भूल सुझाकर प्रेम भाव से उसके उत्थान का प्रयत्न करना ही श्रेयस्कर है। वीरशासन में शूद्रों और स्त्रियों को अपनी योग्यतानुसार आत्म-साधन का अधिकार मिला। महावीर ने अपने संघ में सबसे पहले स्त्रियो को दीक्षित किया और चन्दना उन सब आर्यिकाओ की गणिनी बनी। महावीर के शासन की महत्ता का इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय के बडे-बडे राजा गण, युवराज, मत्री, सेठ, साहूकार आदि सभी ने अपने-अपने वैभव का जीर्ण तृण के समान परि-त्याग किया और महावीर के संघ में दीक्षित हुए, तथा ऋषिगिरि पर कठोर तपश्चर्या द्वारा आत्म-साधना कर मुक्ति के पात्र बने। उनमे राजा उद्दायन आदि का नाम खासतौर से उल्लेखनीय है। राजा उद्दायन की रानी प्रभावती, चेटक की पुत्री ज्येष्ठा, और राजा उदयन की माता मृगावती तथा अन्य नारियाँ भी दीक्षा लेकर आत्म-हित की साधिका हुई। उस समय महावीर के संघ में चौदह हजार मुनि, चन्दनादि बत्तीस हजार आर्यिकाए, एक लाख श्रावक, और तीन लाख श्राविकाएं, असंख्यात देव-देवियाँ, तथा संख्यात तिर्यचों की अवस्थिति थी। महावीर का यह शासन सर्वोदयतीर्थ के रूप से लोक में प्रसिद्ध हुआ। यह शासन संसार के समस्त प्राणियों को संसार-समुद्र से तारने के लिए घाट अथवा मार्ग स्वरूप है, उसका आश्रय लेकर संसार के सभी जीव आत्म-विकास कर सकते है। यह सबके उदय, अभ्युदय, उत्कर्ष एव उन्नति में अथवा आत्मा के पूर्ण विकास मे सहायक है। यह शासनतीर्थ संसार के सभी प्राणियों की उन्नति का द्योतक है।

महावीर के इस शासनतीर्थ में एकान्त के किसी कदाग्रह को स्थान नही है। इसमें सभी एकान्त के विषय प्रवाह को पचाने की शक्ति है- क्षमता है। यह शासन स्याद्वाद के समुन्नत सिद्धान्त से अलकृत है, इसमें समता और उदारता का रस भरा हुआ है। वस्तुतत्त्व मे एकान्त की कल्पना स्व-पर के वैर का कारण है, उससे न अपना ही हित होता है और न दूसरे का ही हो सकता है। वह तो सर्वथा एकान्त के आग्रह से अनुरक्त हुआ वस्तु तत्त्व से दूर रहता है।

महावीर का यह शासन अहिंसा अथवा दया से ओत-प्रोत है। इसके आचार-व्यवहार में दूसरों को दुःखो-त्पादन की अभिलाषा रूप अमैत्री भावना का प्रवेश भी नही है। पाच इन्द्रियों के दमन के लिए इसमें सयम का विधान किया गया है, इसमें प्रेम और वात्सल्य की शिक्षा दी गई है, यह मानवता का सच्चा हामी है। अपने विपक्षियों के प्रति जिसमें रागद्वेष की तरग नही उठती है, जो सहिष्णु तथा क्षमाशील है ऐसा यह वीरशासन ही सर्वोदय तीर्थ है। उसी में विश्व-बन्धुत्व की लोककल्याणकारी भावना अन्तर्निहित है। भगवान महावीर के सिद्धांत गम्भीर और समुदार है, वे मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और मध्यस्थ की भावना से ओत-प्रोत है। उनमे मानव जीवन के विकास का खास सम्बन्ध है। उनके नाम है अहिंसा, अनेकान्त या स्याद्वाद, स्वतन्त्रता और अपरिग्रह। ये सभी सिद्धान्त बडे ही मूल्यवान है क्योंकि उनका मूल अहिंसा है।

इस तरह भगवान महावीर ने ३० वर्ष के लगभग अर्थात् २९ वर्ष ५ महीने और २० दिन के केवली जीवन में काशी, कोशल, वत्स, चपा, पाचाल, मगध, राजगृह, वैशाली, अग, बंग, कलिग, ताम्रलिप्ति, सौराष्ट्र, मिथिला,

१ देखो, तिलोय पण्णत्ती १।६० से ६४ तक गाथाए।

मथुरा, नालंदा, पुण्ड्रवर्धन, कोशाम्बी, अयोध्या, पुरिमतालपुर, उज्जैनी, मल्लदेश, दशार्ण, केकयदेश, कोलागसन्निवेश, किरात, श्रावस्ती, कुमारगिरि, और नैपाल आदि विविध देशों और नगरों में विहार कर कल्याणकारी सन्मार्ग का उपदेश दिया। असख्य प्राणियों के अज्ञान-अन्धकार को दूर कर उन्हें यथार्थ वस्तुस्थिति का बोध कराया। आत्म-विश्वास बढ़ाया, कदाग्रह दूर किया। अन्याय अत्याचार को रोका, पतितों को उठाया, हिंसा का विरोध किया, उनके बहमों को दूर भगाया और उन्हे सयम की शिक्षा देकर आत्मोत्कर्ष के मार्ग पर लगाया तथा उनकी अन्धश्रद्धा को समीचीन बनाया। दया, दम, त्याग और समाधि का स्वरूप बतलाते हुए यज्ञादि क्रियाकाण्डों में होने वाली भारी हिंसा को विनष्ट किया—यज्ञों के वास्तविक स्वरूप और उनके रहस्य को समझाया, जिससे बिलबिलाट करते हुए पशु-कुल को अभयदान मिला। जन समूह को अपनी भूले ज्ञात हुई, और वे सत्पथ के अनुगामी बने।

भगवान महावीर का निर्वाण

इस तरह विहार करते हुए भगवान महावीर पावा नगर के मनोहर उद्यान में आये और तालाब के मध्य एक महामणिमय शिलातल पर स्थित होकर दो दिन पूर्व विहार से रहित हो कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के व्यतीत होने पर स्वातियोग में तृतीय शुक्लध्यान समुच्छिन्न क्रियाप्रतिपाति में निरत हो मन-वचन-कायरूप योगत्रय का निरोध कर चतुर्थ शुक्लध्यान व्युपरतक्रियानिवृत्ति में स्थित होकर अवशिष्ट अघाति कर्मचतुष्टय का विनाश कर अमावस्या के प्रातःकाल अकेले भगवान महावीर निर्वाण को प्राप्त हुए[1]। किन्तु उत्तर पुराण में एक हजार मुनियों के साथ मुक्त होना लिखा है[2]।

---

१. (क) पच्छा पावाणयरे कत्तियमासे किण्ह चोद्दसिए।
मादीए रत्तीए सेसरय छेत्तु निव्वाओ॥
—जयध० भा० १ पृ० ८१

(ख) कत्तिय किण्हे चोद्दसि पच्चूसे सादिणामणक्खत्ते।
पावाए णयरीए एक्को वीरेसरो सिद्धो॥
(तिलो० प० ४-१२०८)

(ग) कत्तियमासकिण्हपक्खचौदसदिवसे च केवलणाणेण सह एत्थ गमिय णिव्वुदो। अमावासीए परिणिव्वाण पूजा सयलदेवेहि कया। —धव० पु० ९ पृ० १२५

२. (घ) क्रमात्पावापुरं प्राप्य मनोहरवनान्तरे।
बहूना सरसां मध्ये महामणिशिलातले॥५०९॥
स्थित्वा दिनद्वयं वीतविहारो वृद्धनिर्जरः।
कृष्णकार्तिकपक्षस्य चतुर्दश्यां निशात्यये॥५१०॥
स्वातियोगे तृतीयेद्ध शुक्लध्यानपरायणः।
कृतत्रियोगसरोध समुच्छिन्न क्रिय श्रितः॥५११॥
हत घाति चतुष्कः सन्न शरीरो गुणात्मकः।
गन्ता मुनि सहस्रेण निर्वाण सर्ववाञ्छितम्॥५१२॥
—उत्तर पुराण पर्व ७६, श्लोक ५०९ से ५१२

(ङ) पद्मवनदीर्घिकाकुल विविध द्रुमखण्डमण्डिते रम्ये।
पावा नगरोद्याने व्युत्सर्गेण स्थितः स मुनिः॥

उसी समय गौतम इन्द्रभूति को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।

भगवान महावीर के निर्वाण महोत्सव के समय चारों निकायों के देवों ने विधिवत उनके शरीर की पूजा की। उसी समय सुर और असुरों के द्वारा जलाई हुई दीपकों की पंक्ति से पावानगरी का आकाश सब ओर से जगमगा उठा। लिच्छिवि गण, मल्लगणों आदि के अनेक राजाओं ने और राजा बिम्बसार (श्रेणिक) ने भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की। उसी समय से भगवान के निर्वाण कल्याणक की भक्ति से युक्त, संसार के प्राणि भारतवर्ष में प्रतिवर्ष आदरपूर्वक दीपमालिका द्वारा भगवान की पूजा करते हैं। उसी दिन से भारतवर्ष में दीपावलि पर्व सोत्साह मनाया जाता है[1]। यह महोत्सव अढ़ाई हजार वर्ष से सारे भारतवर्ष में मनाया जाता है।

वीर-निर्वाण सम्वत्

भगवान महावीर का निर्वाण ईसवी सन् के ५२७ वर्ष पूर्व हुआ है और महात्मा बुद्ध का परिनिर्वाण महावीर के निर्वाण से लगभग १७ वर्ष पूर्व अर्थात् ईसवी सन् के ५४४ वर्ष पूर्व में हुआ है। सिंहल आदि देशों में बुद्ध के निर्वाण का यही काल माना जाता है। वीर निर्वाण संवत् के विवाद पर प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान स्व० पं० जुगलकिशोर मुख्तार ने अनेक ग्रन्थों के प्रमाण देकर यह प्रमाणित किया कि प्रचलित विक्रम संवत् राजा विक्रम की मृत्यु का संवत् है, जो वीर निर्वाण संवत् से ४७० वर्ष बाद प्रारम्भ होता है। मुनि कल्याण विजय ने अपने 'वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना' नाम के निबन्ध में भी सप्रमाण यही विवेचन किया है।

कार्तिककृष्णस्यान्ते स्वातावृक्षे निहत्य कर्मरजः।
अवशेषं सम्प्रापद्व्यजरामरमक्षयं सौख्यम्॥
(निर्वाण भ० १६, १७)

(ख) कृत्वा योगनिरोधमुज्झितसमः पष्ठेन तस्मिन्वने।
व्युत्सर्गेण निरस्य निर्मलरुचिः कर्माण्यशेषाणि सः॥
स्थित्वेन्द्रावपि कार्तिकासितचतुर्दश्या निशान्ते स्थितौ।
स्वातौ सन्मतिरासमाद भगवान्सिद्धिप्रसिद्धश्रियम्॥
(वर्धमान चरित, असगकृत प० ४८४

१. जिनेन्द्रवीरोऽपि विबोध्य सन्ततं समन्ततो भव्यसमूहसन्ततिम्।
प्रपद्य पावा नगरीं गरीयसीं मनोहरोद्यानवने तदीयके॥
चतुर्थकालेऽर्धचतुर्थमासकैर्विहीनताविश्चतुरब्दशेषके।
स कार्तिके स्वातिषु कृष्णभूतसुप्रभातसन्ध्यासमये स्वभावतः॥
अघातिकर्माणि निरुद्धयोगको विधूय घातीन्धनवद्विबन्धनः।
विबन्धनस्थानमवाप शङ्करो निरन्तरायोरुसुखानुबन्धनम्॥
स पञ्चकल्याणमहामहेश्वरः प्रसिद्धनिर्वाणमहे चतुर्विधैः।
शरीरपूजाविधिना विधानतः सुरैः समभ्यर्च्यत सिद्धशासनः॥
ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्धया सुरासुरैः दीपितया प्रदीप्तया।
तदा स्म पावानगरी समन्ततः प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते॥
तथैव च श्रेणिकपूर्वभूभुजः प्रकृत्य कल्याणमहं सहप्रजाः।
प्रजग्मुरिन्द्राश्च सुरैर्यथायथं प्रयाचमाना जिनबोधिमर्थिनः॥
ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात्प्रसिद्धदीपालिकयात्र भारते।
समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वरं जिनेन्द्रनिर्वाणविभूतिभक्तिभाक्॥
—हरिवंशपुराण ७६-१५ से २१

महाकवि वीर ने सं० १०७६ में समाप्त हुए जंबूस्वामिचरित की निम्न गाथा में वीर निर्वाण काल और विक्रम काल के वर्षों का अन्तर ४७० वर्ष बतलाया है। यथा :—

वरिसाण सय चउक्कं सत्तरि जुत्तं जिणेंद वीरस्स।
णिव्वाणा उववण्णो विक्कमकालस्स उप्पत्ती॥

इसमे स्पष्ट है कि वीर निर्वाण काल से ६०५ वर्ष और ५ महीने बाद होने वाले शक राजा अथवा शक काल को विक्रम राजा या विक्रम काल कैसे कहा जा सकता है।

वीर निर्वाण सवत् की प्रचलित मान्यता में दिगम्बरों और श्वेताम्बरों में परस्पर कोई मतभेद नही है। दोनो ही वीर निर्वाण से ६०५ वर्ष ५ महीने बाद शक शालिवाहन की उत्पत्ति मानते है। दूसरे विक्रम राजा शक नही, शकारि था—शत्रु था। यह बात वामन शिवराम आप्टे (V. S. Apte) के प्रसिद्ध कोष में भी इसे specially applied to Salivahan जैसे शब्दो द्वारा शालिवाहन राजा तथा उसके सवत् (era) का वाचक बतलाया है। इस कारण विक्रम राजा 'शक' नही, किन्तु शकों का शत्रु था। ऐसी स्थिति में उसे शक बतलाना या 'शक' शब्द का अर्थ शक राजा न करके विक्रम राजा करना किसी भूल का परिणाम है।

भगवान महावीर के निर्वाण के बाद केवलियो और श्रुतधर आचार्यों की परम्परा का उल्लेख करते हुए उनका काल ६८३ वर्ष बतलाया है। इस ६८३ वर्ष के काल मे से ७७ वर्ष ७ महीने घटा देने पर ६०५ वर्ष ५ महीने का काल अवशिष्ट रहता है। वही महावीर के निर्वाण दिवस से शक काल की आदि—शक स० की प्रवृत्ति तक का काल मध्यवर्ती काल है—महावीर के निर्वाण दिवस से ६०५ वर्ष ५ महीने के बाद शक सवत् का प्रारम्भ हुआ है और बतलाया है कि छहसौ वर्ष पाच महीने के काल में शक काल को—शक सवत् की वर्षादि सख्या को—जोड़ देने से महावीर के निर्वाण काल का परिमाण आ जाता है :—

"सव्व काल समासो तेयासीदीए अहिय छस्सदमेत्तो (६८३) **पुणो एत्थ सत्तमासाहिय सत्तहत्तरिवासेसु** (७७-७) **अवणिदेसु पंचमासाहियपंचुत्तरछस्सदवासाणि** (६०५-५) **हवंति, एसो वीरजिणिंदणिव्वाणगद दिवसादो जाव सगकालस्स आदि होदि तावदिय कालो। कुदो? एदम्हि काले सगणरिदकालस्स पक्खित्तो वड्ढमाणजिणणिव्वुद कालागमणादो।** —(धवला० पु० ६ पृ० १३१-२)

आचार्य वीरसेन ने धवला टीका में वीर निर्वाण सवत् को मालूम करने की विधि बतलाते हुए प्रमाण रूप से जो प्राचीन गाथा उद्धृत की है वह इस प्रकार है :—

पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वाससया।
सगकालेण य सहिया थावेयव्वो तदो रासी॥

इस गाथा मे बतलाया है कि शक काल की सख्या के साथ यदि ६०५ वर्ष ५ महीने जोड़ दिये जावे तो वीर जिनेन्द्र के निर्वाणकाल की संख्या आ जाती है। इस गाथा का पूर्वार्ध, वीर निर्वाण से शक काल (संवत्) की उत्पत्ति के समय को सूचित करता है। श्वेताम्बरों के तित्थोगाली पइन्नय की निम्न गाथा का पूर्वार्ध भी, वीर निर्वाण से ६०५ वर्ष ५ महीने बाद शक राजा का उत्पन्न होना बतलाता है।

पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वाससया।
परिणिव्वुअस्सऽरहितो उप्पन्नो सगो राया॥ ६२३

इस गाथा में भी ६०५ वर्ष ५ महीने बाद शक राजा का उत्पन्न होना लिखा है। इससे दोनो सम्प्रदायों में निर्वाण समय की एकरूपता पाई जाती है। इसका समर्थन विचार श्रेणि मे उद्धृत श्लोक से भी होता है :—

श्रीवीरनिवृ तेर्वर्षैः षड्भिः पंचोत्तरैः शतैः।
शाकसंवत्सरस्यैषा प्रवृत्तिर्भरतेऽभवत्॥

ऊपर के इस कथन से स्पष्ट है कि प्रचलित वीर निर्वाण सवत् ठीक है। उसमें कोई गलती नहीं है। और वि० स० ४७० विक्रमादित्य की मृत्यु का सवत् है। मुनि कल्याण विजय आदि ने भी प्रचलित वीर निर्वाण संवत् को ही ठीक माना है।

भगवान महावीर के ग्यारह गणधर

इन्द्रभूति आदि भगवान महावीर के ग्यारह गणधर हुये। ये सभी गणधर तप्त दीप्त आदि तप ऋद्धि धारक तथा चार प्रकार की बुद्धि ऋद्धि, विक्रिया ऋद्धि, अक्षाण ऋद्धि, औषधि ऋद्धि, रस ऋद्धि और बलऋद्धि से सम्पन्न थे। उनका नाम और परिचय यथाक्रम नीचे दिया जाता है :—

प्राप्तसप्तर्द्धिसम्पद्भिः समस्तश्रुतपारगः।
गणेन्द्रैरिन्द्रभूत्याद्यैरेकादशभिरान्वितः ॥४०
इन्द्रभूतिरिति प्रोक्तः प्रथमो गणधारिणाम्।
अग्निभूतिर्द्वितीयश्च वायुभूतिस्तृतीयकः ॥४१॥
शुचिदत्तस्तुरीयस्तु सुधर्मः पञ्चमस्ततः।
षष्ठो माण्डव्य इत्युक्तो मौर्यपुत्रस्तु सप्तमः ॥४२॥
अष्टमोऽकम्पनाख्यातिरचलो नवमो मतः।
मेदार्यो दशमोऽन्त्यस्तु प्रभासः सर्वएव ते ॥४३॥
तप्तदीप्तादितपसः सुचतुर्बुद्धिविक्रियाः।
अक्षीणौषधिलब्धीशाः सद्रसर्द्धिबलर्द्धयः ॥४४॥

—हरिवंश पुराण ३।४०-४४

इन ग्यारह गणधरों की सब मिलाकर गण संख्या (शिष्य संख्या) चौदह हजार थी। इन चौदह हजार शिष्यों में से तीन सौ पूर्व के धारी, नौ सौ विक्रिया ऋद्धि के धारक, तेरहसौ अवधिज्ञानी, सातसौ केवलज्ञानी, पांचसौ विपुलमति मनःपर्ययज्ञान के धारक, चार सौ परवादियों को जीतने वाले वादी, और नौ हजार नौ सौ शिक्षक थे।[1] ये सब साधु आत्म-शोधन तथा ध्यान में संलग्न रहते थे और कर्मशृङ्खला को तोड़ने वाली आत्म-सामर्थ्य को बढ़ा रहे थे। वीर शासन के सिद्धान्तों को जीवन में उतार रहे थे। उनमें कुछ आत्म-शुद्धि के लक्ष्य को प्राप्त करने का उपक्रम कर रहे थे। इन विद्वान् और मुमुक्षु शिष्यों से महावीर का शासन चमक रहा था। गण के नायक गणधरों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है :—

इन्द्रभूति—के पिता का नाम वसुभूति था, जो अर्थसम्पन्न विद्वान और अपने गाँव का मुखिया था और गोवर ग्राम का निवासी था। इनकी जाति ब्राह्मण और गोत्र गौतम था। वसुभूति की दो स्त्रियाँ थी। पृथ्वी और केशरी। इनमें इन्द्रभूति की माता का नाम पृथ्वी देवी था। इन्द्रभूति का जन्म ईस्वी पूर्व ६०७ में हुआ था। यह व्याकरण, काव्य, कोष, छन्द, अलकार, ज्योतिष, सामुद्रिक, वैद्यक और वेद वेदाँगादि चौदह विद्याओं में पारंगत था।[2] गौतम इन्द्रभूति की विद्वत्ता की धाक लोक में प्रसिद्ध थी। इसके ५०० शिष्य थे, जो अनेक विद्याओं में पारंगत थे। गौतम को अपनी विद्या का बड़ा अभिमान था। अपने से भिन्न दूसरे विद्वानों को वह हेय समझता था।

सौधर्म इन्द्र की प्रेरणा से इन्द्रभूति अपने भाइयों और अपने तथा उनके पाँच-पाँच सौ शिष्यों के साथ विपुलाचल पर महावीर के समवसरण में आया। समवसरण में प्रविष्ट होते ही उसने समवसरण के वैभव

१. देखो, हरिवंश पुराण, सर्ग ३ श्लोक से ४५ से ४६ पृ० २७
(भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित)

२. विमले गोदमगोत्ते जादेणं इंदभूदिणामेणं।
चउवेदपारगेणं सिस्सेण विसुद्धसीलेण ॥

—तिलो० प० १-७८

के साथ मानस्तम्भको देखा। उसके देखते ही उसका मान गलित हो गया।[1] उसने वर्द्धमान विशुद्धि से संयुक्त भगवान महावीर का—असंख्यात भवों में अर्जित महान कर्मों को नष्ट करने वाले जिनदेव का—दर्शन कर तीन प्रदक्षिणायें दीं, और पाँच अंगों द्वारा भूमिस्पर्शपूर्वक वन्दना करके हृदय में जिन भगवान का ध्यान किया। इन्द्रभूति का विद्या सम्बन्धी सब अभिमान चला गया, और अन्तःमानस अत्यन्त निर्मल हो गया। हृदय में विनय और विशुद्धि का उद्रेक बढ़ा, और वैराग्य की तरङ्गों ने उन्हें झकझोर डाला। इन्द्रभूति ने तत्काल वस्त्रादि ग्रंथों का परित्याग किया और पंच मुष्टि से केशों का लोच किया और दिगम्बर दीक्षा धारण की।[2] उस समय उन की अवस्था पचास वर्ष के लगभग थी उन्होंने पच महाव्रतों का अनुष्ठान किया, पांच समितियों का आचरण किया, और रागद्वेष रहित हो तीन गुप्तियों से सम्पन्न, निःशल्य, चार कषायों से रहित, पंचेन्द्रियों के विषयों से विरक्त, तथा मन-वचन-काय रूप त्रिदण्डों को भग्न करने वाले, षट् निकाय जीवों के संरक्षक, सप्तभय रहित, अष्टमद वर्जित, दीप्त, तप्त और अणिमादि वैक्रियिक लब्धियों से सम्पन्न, पाणिपात्र में दी गई खीर को अमृतरूप से परिवर्तित करने और उसे अक्षय बनाने में समर्थ, क्षुधादि बाईस परिषहों के विजेता, जिन्हें आहार और स्थान के विषय में अक्षीण ऋद्धि प्राप्त थी तपोबल से विपुलमति मनःपर्ययज्ञान के धारक और सर्वावधि अवधिज्ञान से अशेष पुदगल द्रव्य का साक्षात् करने वाले ऋद्धि सम्पन्न प्रमुख गणधर पद से अलंकृत हुए।

यह घटना आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन घटित हुई, इसी से उसे गुरु पूर्णिमा' कहते हैं। उसके पश्चात् श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के दिन ब्राह्म मुहूर्त में भगवान महावीर की दिव्य ध्वनि खिरी और गौतम गणधर ने उसे द्वादशांग रूप से निबद्ध किया।

केवलज्ञान से विभूषित भगवान महावीर द्वारा कहे गये अर्थ को, उसी काल में और उसी क्षेत्र में क्षयोपशमविशेष से उत्पन्न हुए चार प्रकार के निर्मल ज्ञान से युक्त, वर्ण से ब्राह्मण, गौतम गोत्री, सम्पूर्ण दुःश्रुतियों में पारंगत, जीव-अजीव विषयक सन्देह को दूर करने के लिये श्री वर्द्धमान के पाद मूल में उपस्थित इन्द्रभूति ने अवधारण किया। अनन्तर भावश्रुतरूप पर्याय से परिणत उस इन्द्रभूति ने वर्द्धमान जिन के तीर्थ में श्रावणमास के कृष्ण पक्ष में, युग के आदि में, प्रतिपदा के पूर्व दिन में द्वादशाँग श्रुत की रचना एक मुहूर्त में की।[3] अतः भावश्रुत

---

१. मानस्तम्भ तमालोक्य मान तत्याज गौतमः।
निज प्रशोभया येन विस्मित भुवनत्रयम्॥ —गौतम चरित्र ४-९६

२. ततो जैनेश्वरी दीक्षा भ्रातृभ्या जग्रेह मह।
शिष्यैः पचशतैः सार्द्ध ब्राह्मणकुलसभवः॥
—गौतम च० ४-१०१

३. महावीर भासियत्थो तस्सिं खेत्तम्मि तत्थ काले य।
खायोवसमविवड्ढिदचउरमलमईहि पुण्णेण॥
लोयालोयाण तहा जीवाजीवाण विविहविसयेसु।
सन्देहणासणत्थ उवगदसिरिवीरचलणमूलेण
विमले गोदमगोत्ते जादेण इन्दभूदिणामेण।
चउवेदपारगेण सिस्सेण विसुद्धसीलेण॥
भावसुदपज्जयेहि परिणदमइणा अ वारसगाण।
चोद्दसपुव्वाण तहा एक्कमुहुत्तेण विरचणा विहिदो॥
—तिलो० प० १।७६—७९

'पुणो तेणिंदभूदिणा भावसुद-पज्जय-परिणदेण वारहगाण चोद्दस-व्वाणं च ग्रन्थाण मेक्केण चेव मुहुत्तेण कमेण-रयणा कदा। तदो भावसुदस्स अत्थपदाण च तित्थयरो कत्ता। तित्थयरादो सुद-पज्जाएण गोदमो परिणदो त्ति दव्व-सुदस्स गोदमो कत्ता।
—धवला० पु० १ पृ० ६४-६५

और अर्थपदों के कर्त्ता तीर्थंकर हैं। तीर्थंकर के निमित्त से गौतम गणधर श्रुत पदार्थ मे परिणत हुए। अतएव द्रव्यश्रुत के कर्त्ता गौतम गणधर हैं। इन्द्रभूति ने दोनों प्रकार का श्रुतज्ञान लोहाचार्य (सुधर्म स्वामी) को दिया।

जिस दिन (कार्तिक कृष्णा अमावस्या के प्रातःकाल) भगवान महावीर का निर्वाण हुआ, उसी दिन गौतम इन्द्रभूति को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। उन्होंने केवली पर्याय में बारह वर्ष पर्यन्त विविध देशों में विहार कर धर्मोपदेश के द्वारा भव्य जीवों का कल्याण किया—वीर शासन का लोक में प्रचार किया। और ईस्वी पूर्व ५१५ में राजगृह के विपुलगिरि से निर्वाण प्राप्त किया[1]।

अग्निभूति—(द्वितीय गणधर)

यह इन्द्रभूति गौतम का मंझला भाई था। पिता का नाम वसुभूति और माता का नाम पृथ्वीदेवी था। वह भी अपने ज्येष्ठ भ्राता इन्द्रभूति के समान ही व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, अलंकार, दर्शन और वेद वेदांग आदि चौदह विद्याओं में कुशल था। वह ४७ वर्ष की वय में अपने पांच सौ शिष्यों के साथ भगवान महावीर के समवसरण में दीक्षित हुआ था और बारह वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में त्रयोदश प्रकार के चारित्र का अनुष्ठान करते हुए अपने गण का पालन किया। पश्चात् घाति कर्म का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया और १६ वर्ष केवली पर्याय में रह कर महावीर के जीवन काल में ही लगभग ७४ वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया।

वायुभूति—(तृतीय गणधर)

यह इन्द्रभूति गौतम का छोटा भाई था। इसकी माता का नाम केशरी और पिता का नाम वही वसुभूति था। यह वेद वेदांगादि चतुर्दश विद्याओं का पारगामी विद्वान था और व्याकरण छन्दादि समस्त विषयों में निष्णात था। वायुभूति के भी ५०० शिष्य थे। यह भी अपने दोनों भाइयों, उनके शिष्यों तथा अपने शिष्यों के साथ विपुलगिरि पर महावीर के समवसरण में दीक्षित हुआ और उनका तीसरा गणधर बना। उस समय इन की अवस्था ४२ वर्ष के लगभग थी। इन्होंने १० वर्ष का जीवन आत्म-साधना में व्यतीत किया। पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त कर १८ वर्ष तक केवली जीवन में विहार करते रहे और भगवान महावीर के निर्वाण से दो वर्ष पूर्व ही ७० वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया।

आर्य व्यक्त या शुचिदत्त—(चतुर्थ गणधर)

भगवान महावीर के चौथे गणधर का नाम आर्य व्यक्त या शुचिदत्त था। यह मगध देशस्थ संवाहन नामक नगर के राजा थे, इनका नाम सुप्रतिष्ठ था, इनकी पटरानी का नाम रुक्मणि था, इनसे सुधर्म नाम का एक पुत्र हुआ था, जो कुशाग्र बुद्धि था, विद्याओं के परिज्ञान में श्रेष्ठ, समस्त शास्त्रों का ज्ञाता और कलाओं का धारक था। सज्जनों के मन को आनन्ददायक और शत्रुपक्ष के कुमारों को भय उत्पन्न करने वाला था। एक दिन वह विशुद्धमति सुप्रतिष्ठ राजा अपनी पत्नी और पुत्र के साथ भव-समुद्र-सतारक भगवान महावीर के समवसरण में गया और उनकी दिव्य-ध्वनि सुन कर सांसारिक देह-भोगों से विरक्त हो दिगम्बर मुनि हो गया और भगवान महावीर का चतुर्थ गणधर हुआ[2] और तपश्चरण का अनुष्ठान कर केवलज्ञान प्राप्त कर

---

१. गत्वा विपुलशब्दादिगिरौ प्राप्स्यामि निर्वृतिम्
—उत्तर पु० ७६-५१७

२. अह एत्थु जि वर मगहाविसए, सुर रमणि साम वासिय दिसए।
जिनमंदिरमंडियधरणियले, इन्दीवर-रय-कय सुरहि जले।
संवाहणु नामु अत्थि नयरु, नायरविलासमहासियखयरु॥
\+ \+ \+
सो जाउ पुत्तु जण जाणिय हे, नरनाहें रुप्पिणी राणियहे।
सउहम्म नामु विज्जा पवरु नीसेससत्थ विण्णाण घरु।

महावीर के जीवन काल में ही मुक्ति को प्राप्त हुआ।

श्वेताम्बर परम्परानुसार आर्य व्यक्त कोल्लाग सन्निवेश के भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम वारुणी और पिता का नाम धनमित्र था। इनके मन में यह सन्देह था कि 'ब्रह्म के अतिरिक्त सारा संसार मिथ्या है। भगवान महावीर के समवसरण में उनकी दिव्य वाणी से समाधान पाकर अपने पाँच सो शिष्यों के साथ पचास वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण की। बारह वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में आत्म-साधना कर केवलज्ञान प्राप्त किया। १८ वर्ष तक केवली रहकर महावीर के जीवन काल में अस्सी वर्ष की अवस्था में मुक्ति पथ के पथिक बने—कर्म बन्धन से मुक्त हुए।

सुधर्मस्वामी—(पंचम गणधर)

सुधर्म स्वामी मगधदेशस्थ संवाहन नगर के राजा सुप्रतिष्ठ और रानी रुक्मणि का पुत्र था।[1] वह कुशाग्र बुद्धि, विद्याओं के परिज्ञान में ज्येष्ठ, समस्त शास्त्रों का ज्ञाता और कलाओं का धारक था और सज्जनों के मन को आनन्द देने वाला एवं शत्रु पक्ष के राजकुमारों को भय उत्पन्न करने वाला था। एक दिन राजा सुप्रतिष्ठ सपरिवार भव-समुद्र-सतारक भगवान महावीर के समवसरण में गया, और उनकी दिव्य ध्वनि सुनकर देह-भोगों से विरक्त हो दिगम्बर मुनि हो गया और भगवान का चतुर्थ गणधर हुआ।

कुमार ने जब देखा कि पिता ने राज्य विभूति का परित्याग कर दिगम्बर मुद्रा धारण कर ली, तब सुधर्म ने भी अपने जनक की राज्य सम्पदा का परित्याग कर शाश्वत सुख की साधक दीक्षा अंगीकार की और वह महावीर का पंचम गणधर बना और तपश्चरण द्वारा आत्म-साधना में तत्पर हुआ। एक दिन वह मुनि संघ के साथ विहार करता हुआ राजगृह के एक उद्यान में पहुँचा। वहाँ जम्बूस्वामी ने उन्हें देख कर नमस्कार किया और फिर उन्ही की ओर देखने लगा। उसके मन में उनके प्रति अनुराग हुआ। जम्बू कुमार ने सुधर्म स्वामी से उसका कारण पूछा, तब उन्होंने बतलाया कि 'मैं वही भवदत्त का जीव हूँ, जो राजा वज्रदन्त का सागरचन्द्र नाम का पुत्र था, और मुनि होकर ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में देव हुआ था और तुम भवदेव के जीव हो, जो महापद्म राजा के शिवकुमार नाम के पुत्र थे और पिता के मोह से दीक्षा न लेकर घर में ही पाणिपात्र में प्रासुक आहार लिया करते थे। वहाँ से जलकान्त विमान में विद्युन्माली नामक देव हुआ, जो चार देवियों से युक्त था। अब वहाँ से अर्हद्दास वणिक का पुत्र हुआ है। यही परस्पर के स्नेह का कारण है।

गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति ने एक मुहूर्त में द्वादशांग का अवधारण कर बारह अंग रूप ग्रन्थों की रचना की और अपने गुणों के समान सुधर्माचार्य को उसका व्याख्यान किया।

सुधर्म स्वामी का अपर नाम लोहाचार्य भी था। धवला टीका में सुधर्म के स्थान पर लोहाचार्य का उल्लेख किया गया है।[2]

सज्जण मण णयणाणंदयउ, लाइय पडिवक्ख कुमार डरु।
एक्कहि दिणे सुप्पइट्ठ निवइ, सकलत्तु सनदणु सुद्धमइ।
गउ वदण भत्तिए भवतरणु, सिरिवीरजिणंद समोसरणु।
णिसुणे वि परमेट्ठिहि दिव्वझुणि, पवज्ज लेविहुउ परम मुणि।
गणहर चउत्थु तव-तवियतणु, सिद्धवहु निमेसिय विमलमणु।।

—जंबू सामिचरिउ पृ० १५०-१५१

१. आचार्य रविषेण ने पद्मचरित के ४१ वे पद्य में 'सुधर्म धारिणी भवम्' द्वारा उन्हें धारिणी का पुत्र प्रकट किया है।

२. तेण गोदमेण दुविहमवि सुदणाणं लोहज्जस्स संचारिदं।

—धवला० पु० १ पृ० ६५

मुनि पद्मनन्दि ने भी जम्बूदीपपण्णत्ती में सुधर्म का नाम स्पष्ट रूप से लोहाचार्य बतलाया है, जैसा कि उसकी निम्न गाथा से स्पष्ट है:—

तेण वि लोहज्जस्स य लोहज्जेण य सुधम्मणामेण।
गणधर सुधम्मणा खलु जम्बूणामस्स णिद्दिट्ठो॥

(जबू० प० १-१०)

इससे सुधर्म का नाम लोहाचार्य निश्चित है। जब ईस्वी पूर्व ५१५ में इन्द्रभूति गौतम का निर्वाण हुआ, उसी दिन सुधर्म स्वामी को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। सुधर्म स्वामी ने ३० वर्ष गणधर अवस्था में रहकर अपने आत्मा का विकास किया और संघ सचालन किया, तथा जैन धर्म के प्रचार एव प्रसार में सहयोग प्रदान किया। सुधर्म स्वामी ने ३० वर्ष के मुनि जीवन मे जो कार्य किया है, सहस्रो को जैनधर्म में दीक्षित किया, उसका यद्यपि कोई विवरण उपलब्ध नही है। किन्तु उनके मुनि जीवन की एक घटना का उल्लेख निम्न प्रकार उपलब्ध होता है।

एक समय सुधर्माचार्य ससघ विहार करते हुए उड़ देश के धर्मपुर नगर में आये और उपवन में ठहरे। वहाँ के राजा का नाम 'यम' था। उसकी अनेक रानियाँ थी। उनमें धनवती नाम की रानी से गर्दभ नाम का पुत्र और कोणिका नाम की पुत्री उत्पन्न हुई थी। अन्य रानियों से पाच सौ पुत्र उत्पन्न हुए थे। ये पाँच सौ पुत्र परस्पर में प्रेमी, धर्मात्मा और ससार से उदासीन रहते थे। राजमत्री का नाम दीर्घ था, जो बहुत बुद्धिमान और राजनीतिज्ञ था।

सुधर्माचार्य का आगमन जानकर, तथा नगर-निवासियों को पूजा की सामग्री लेकर उनकी पूजा-वन्दना को जाते देखकर राजा भी अपने पाण्डित्य के अभिमान में मुनियों की निन्दा करते हुए उनके पास गया। मुनि-निन्दा और ज्ञान के अभिमान से उसके ऐसे तीव्र कर्म का उदय आया कि उसकी सब बुद्धि नष्ट हो गई। उसे अपनी यह दशा देखकर बड़ा आश्चर्य और खेद हुआ। उसने उनकी तीन प्रदक्षिणा दी और नमस्कार कर उनसे धर्मोपदेश सुना। उससे उसे बहुत कुछ शान्ति मिली। उसने अपने पाच सौ पुत्रों के साथ गर्दभ को राज्य देकर दीक्षा धारण कर ली और तपश्चरण द्वारा आत्म-साधना करने लगा। उनके पुत्र भी आत्म-साधना में सलग्न होकर कठोर तप का आचरण करने लगे।

इस तरह सुधर्माचार्य ने सहस्रों को दीक्षा दी, उन्हे सन्मार्ग में लगाया, और महावीर-शासन का प्रचार किया।

अन्त में सुधर्मस्वामी ने अपना सब सघभार जम्बूस्वामी को सोंप दिया और घातिकर्मो का विनाश कर केवली (पूर्णज्ञानी) बने। उन्होंने बारह वर्ष पर्यन्त विविध देशों में विहार कर जनता का कल्याण किया—महावीर के सर्वोदय तीर्थ का प्रचार किया। अन्त में ईस्वी पूर्व ५०३ में सौ वर्ष की अवस्था में विपुलाचल से निर्वाण प्राप्त किया[१]।

श्वेताम्बर परम्परानुसार पांचवे गणधर सुधर्म का परिचय निम्न प्रकार है :—

पचम गणधर सुधर्मा 'कोल्लाग' सन्निवेश के अग्नि वैश्यायन गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम भद्दिला और पिता का नाम धम्मिल था। इन्होंने भी जन्मान्तर विषयक अपने सन्देह को मिटाकर भगवान महावीर के चरणों में पांच सौ छात्रों के साथ दीक्षा ग्रहण की। ये भगवान महावीर के उत्तराधिकारी हुए, और महावीर निर्वाण के बीस वर्ष बाद तक संघ की सेवा करते रहे। अन्य सभी गणधरों ने इन्हे दीर्घ जीवी समझ कर अपने-अपने गण सम्हलवाए। इनकी आयु सौ वर्ष के लगभग थी। ५० वर्ष की वय में दीक्षा ली और ४२ वर्ष छद्मस्थ पर्याय में

१- सन्निर्वृतिदिने लब्धा सुधर्मः श्रुतपारगः॥
लोकालोकावलोकैकालोकमनन्यविलोचनम्॥
—उत्तर पु०, ७६।५१७-५१८

और ८ वर्ष केवली रूप में धर्म का प्रचार कर शत वर्ष की आयु में राजगृह नगर से मुक्त हुए।[1]

माण्डव्य—(छठवें गणधर)

यह मौर्य सन्निवेश के वशिष्ठ गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम धनदेव और माता का नाम विजया था। इन्होंने भी इन्द्रभूति की तरह अपने ३५० छात्रों के साथ तिरेपन वर्ष की अवस्था में महावीर के समक्ष मुनि दीक्षा अंगीकार की। चौदह वर्ष तक आत्मसाधना के मार्ग में रहकर ६७ वर्ष की अवस्था में केवलज्ञान प्राप्त किया। लगभग १६ वर्ष केवली जीवन में रहकर भगवान महावीर के जीवन समय में ही मुक्त हुए।

मौर्य पुत्र—(सातवें गणधर)

सातवें गणधर मौर्य पुत्र हैं, जो मौर्य सन्निवेश के निवासी थे। इनका गोत्र काश्यप था। इनके पिता का नाम मौर्य और माता का नाम विजया देवी था। देव और देवलोक सम्बन्धी शंका की निवृत्ति के परिणामस्वरूप लगभग पैंसठ वर्ष की अवस्था में अपने ३५० छात्रों के साथ जिनेश्वरी दीक्षा अंगीकार की। कुछ वर्ष छद्मस्थ अवस्था में बिताकर ७९ वर्ष की वय में केवल ज्ञान प्राप्त किया। १६ वर्ष केवली पर्याय में रहकर महावीर के जीवन-काल में ही मुक्त हुए।

अकम्पित—(आठवें गणधर)

आठवें गणधर का नाम अकम्पित था। यह मिथिला नगर के निवासी गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम देव और माता का नाम जयन्ती था। इन्हें नरक और नारकीय जीवों के सम्बन्ध में सन्देह था। अपने संशय की निवृत्ति के कारण ४८ वर्ष की अवस्था में अपने तीन सौ शिष्यों के साथ महावीर के चरणों में दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण की। तपश्चरणादि द्वारा छद्मस्थ जीवन बिताकर, केवलज्ञान प्राप्त कर, २१ वर्ष पर्यन्त केवली पर्याय में रहकर राजगृह से मुक्ति प्राप्त की।

अचलभ्राता—(नौवें गणधर)

भगवान महावीर के नौवें गणधर का नाम अचलभ्राता था। जो हारीय गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम वसु और माता का नाम नन्दादेवी था। पुण्य-पाप-सम्बन्धी अपनी जिज्ञासा की निवृत्ति के बाद उन्होंने अपने तीन सौ शिष्यों के साथ छयालीस वर्ष की अवस्था में भगवान महावीर के सन्मुख दिगम्बर दीक्षा ली और कठोर साधना करते हुए उन्होंने केवल बोधि प्राप्त की। लगभग बहत्तर वर्ष की अवस्था में विपुलाचल से निर्वाण प्राप्त किया।

मेतार्य—(दसवें गणधर)

दशवें गणधर का नाम मेतार्य है। ये वत्स देशान्तर्गत तुंगिक सन्निवेश के निवासी थे। इनका गोत्र कौडिन्य था। इनके पिता का नाम दत्त और माता का नाम वरुणा था। पुनर्जन्म के सम्बन्ध में इनके मन में संशय था। किन्तु भगवान महावीर के उपदेश से उसका समाधान हो गया। निश्शंक होने पर इन्होंने छत्तीस वर्ष की अवस्था में भगवान महावीर के समक्ष अपने तीन सौ शिष्यों के साथ द्विविध परिग्रह का परित्याग कर दिगम्बर दीक्षा ले ली। तपश्चरण द्वारा कठोर साधना करते हुए घाति चतुष्टय का विनाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया और लगभग बासठ वर्ष की अवस्था में राजगृह से मुक्ति प्राप्त की।

प्रभास—(ग्यारहवें गणधर)

ग्यारहवें गणधर का नाम 'प्रभास' था। ये राजगृह के निवासी थे। इनका गोत्र कौडिन्य था। इनके

---

१. मोक्षं ते महावीरे सुधर्मागणभृद्वरः।
छद्मस्थो द्वादशाब्दानि तस्थौ तीर्थप्रवर्तयन्॥
ततश्च द्वानवत्यब्दी प्रान्ते सम्प्राप्तकेवलः।
अष्टाब्दी विजहारोर्वी भव्यसत्वान् प्रबोधयत्॥
प्राप्ते निर्वाण समये पूर्ण वर्ष शतायुषा।
सुधर्म स्वामिना स्थापि जम्बूस्वामी गणाधिपः॥

—परिशिष्ट पर्व ४-५७, ५८, ५९

पिता का नाम बल और माता का नाम अतिभद्रा था। इनको मोक्ष के सम्बन्ध में शंका थी। भगवान महावीर द्वारा उसका समाधान हो जाने पर उन्हीं के समक्ष उन्होंने दिगम्बर मुद्रा धारण की। आठ वर्ष तक कठोर तपश्चरण द्वारा आत्म-शोधन किया और घाति चतुष्टय का विनाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया। कुछ वर्ष केवली पर्याय में रहकर अविनाशी पद प्राप्त किया।

यम मुनि

उड्र देश में धर्मपुर नाम का एक नगर था। वहाँ के राजा का नाम 'यम' था। राजा बड़ा बुद्धिमान् और शास्त्रज्ञ था। उसकी धनवती रानी से गर्दभ नाम का एक पुत्र और कोणिका नाम की पुत्री उत्पन्न हुई थी। इसके अतिरिक्त और भी रानियाँ थी। जिनमे पाँच सौ पुत्र उत्पन्न हुए थे। वे पाँच सो भाई परस्पर में प्रेमी और धर्मात्मा थे। संसार से उदासीन रहा करते थे। राजा का दीर्घ नाम का एक मंत्री था जो लोक शास्त्र और राजनीति का पंडित था। एक दिन किसी नैमित्तिक ने राजा से कहा कि कुमारी कोणिका का जो पति होगा वह सारी पृथ्वी का भोक्ता होगा। यह सुनकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ। वह पुत्री की बड़े यत्न से रक्षा करने लगा। उसने उसके लिए एक सुन्दर तलघर बनवा दिया, जिससे उसे छोटे-मोटे बलवान राजा न देख सकें।

एक समय सुधर्माचार्य विहार करते हुए पाँच सौ मुनियों के संघ सहित धर्मपुर में पधारे, और नगर के बाहर उपवन में ठहरे। उनका एकमात्र लक्ष्य ससार के जीवों का हित करना था। नगर निवासियों को उनकी पूजा, वन्दना के लिये पूजन सामग्री को लेकर जाते हुए देखकर राजा भी अपने पाण्डित्य के अभिमान में मुनियों की निन्दा करते हुए उनके पास गया। मुनि निन्दा और ज्ञान का अभिमान करने से उसी समय उसके ऐसे तीव्र पाप कर्म का उदय आया कि उसकी बुद्धि विनष्ट हो गई, और वह महामूर्ख बन गया। नीति में भी कहा है कि कुल, जाति, बल, ऋद्धि, ऐश्वर्य, शरीर, तप, पूजा प्रतिष्ठा और ज्ञानादि का मद नही करना चाहिये, क्योंकि इनका अभिमान बड़ा दुःखदायी होता है।

राजा को अपनी यह दशा देखकर बड़ा आश्चर्य और खेद हुआ। उसने अपने कृत कर्मों का बड़ा पश्चात्ताप किया। मुनिराज को भक्ति पूर्वक नमस्कार किया, और उनकी तीन प्रदक्षिणाएं दीं। और उसने उनका भक्तिपूर्वक उपदेश सुना। उसस उसे कुछ शान्ति मिली। उसका प्रभाव राजा पर पड़ा, परिणामस्वरूप राजा का चित्त देह-भोगों से विरक्त हो गया। वे उसी समय गर्दभ नाम के पुत्र को राज्य देकर अपने अन्य पाँच सौ पुत्रों के साथ, जो बाल अवस्था से वैरागी थे, मुनि हो गए।

मुनि अवस्था में सबने शास्त्रों का खूब अभ्यास किया। आश्चर्य है कि पाँच सौ पुत्र तो खूब विद्वान् बन गए[1]। किन्तु यम मुनि को पंच नमस्कार मत्र का उच्चारण करना तक नहीं आया। अपनी यह दशा देखकर वे बड़े शर्मिन्दा और दुखी हुए। उन्होंने वहाँ रहना उचित न समझ अपने गुरु से तीर्थ-यात्रा करने की आज्ञा ले ली, और अकेले ही वहाँ से निकल पड़े।

एक दिन यात्रा में यम मुनि अकेले ही स्वच्छन्द हो मार्ग में जा रहे थे। उन्होंने गमन करते हुए एक रथ

१. एतस्मिन् सकले नष्टे गर्वहीनो नराधिपः। मुनिपार्श्वं स सम्प्राप्य भक्तिहृष्टतनूरुहः ॥१४॥
आहूय गर्दभाभिख्यं पुत्रं प्राप्तं स भूपतिः। राज्यपट्टं बबन्धास्य समस्तनृपसाक्षिकम् ॥१५॥
शतैः पंचभिरायुक्तः स्वपुत्राणांप नृपैः सह। अन्यैः सुधर्मसामीप्ये राजेन्द्रः स तपोऽग्रहीत् ॥१६॥
एवं प्रव्रजिते तस्मिंस्तत्पुत्रा नृप्तंकुञ्जराः। ग्रन्थार्थपारगाः सर्वे बभूवुः स्वल्पकालतः ॥१७॥

—हरिषेण कथा कोश, कथा ६१, पृ० १३२

देखा जिसमें गधे जुते हुए थे और उस पर एक आदमी बैठा हुआ था। गधे उसे हरे धान के खेत की ओर ले जा रहे थे। रास्ते में मुनि को जाते हुए देख कर रथ में बैठे हुए मनुष्य ने उन्हें पकड़ लिया, और उन्हें वह कष्ट पहुँचाने लगा। मुनि के ज्ञान का कुछ क्षयोपशम हो जाने से उन्होंने एक खण्ड गाथा पढ़ी—कड्ढसि पुण णिक्खेवसिरे गद्दहा जवं पेच्छसि खादिदुमिति'। रे गधो, कष्ट उठाओगे तो तुम जो भी चोहो खा सकोगे।

एक दिन कुछ बालक खेल रहे थे, दैवयोग से कोणिका भी वहीं पहुँच गई। उसे देखकर वे बालक डरे। उस समय कोणिका को देखकर यम मुनि ने एक और खण्ड गाथा बनाकर पढ़ी—

'अण्णत्थ किं पलोवह तुम्हे पत्थणि बुद्धि या छिद्दे अच्छई कोणिआ इति।

दूसरी ओर क्या देखते हो? तुम्हारी पत्थर सरीखी कठोर बुद्धि को छेदने वाली कोणिका तो है।

एक अन्य दिन यम मुनि ने एक मेंढक को एक कमल पत्र की आड़ में छुपे हुए सर्प की ओर आते हुए देखा। देखकर वे मेंढक से बोले—'अम्हादो णत्थि भयं दीहादो दीसदे भयं तुम्हेति'। —मेरे आत्मा को किसी से भय नहीं है, किन्तु भय है तुम्हें।

यम मुनि ने जो कुछ थोड़ा-सा ज्ञान सम्पादन कर पाया, वह उक्त तीन खण्ड गाथात्मक ही था। वे उन्हीं का स्वाध्याय करते, इसके अतिरिक्त उन्हें कुछ नही आता था। किन्तु उनका अन्तर्मानस पवित्र था। वे यथाजात मुद्रा के धारक थे, तपश्चरण करते और अनेक तीर्थो की यात्रा करते हुए वे धर्मपुर आए। वे शहर के बाहर एक बगीचे में कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित हो ध्यान करने लगे। उनके आने का समाचार उनके पुत्र गर्दभ और राजमंत्री दीर्घ को ज्ञात हुआ। उन्होंने समझा कि ये हमसे पुन: राज्य लेने के लिये आये हैं। अतएव वे दोनों मुनि को मारने का विचार कर आधी रात के समय वन में आए और तलवार खींच कर उनके पीछे खड़े हो गए। मुनिवर ने निम्न गाथा पढ़ी—धिक् राज्यं धिङ् मूर्खत्वं कातरत्वं च धिक्तराम्। निस्पृहाच्च मुनेर्येन शंका राज्येऽभवत्तयो:॥ —ऐसे राज्य को, ऐसी मूर्खता और ऐसे डरपोकपने को धिक्कार है, जिससे एक निस्पृह और संसारत्यागी मुनि के द्वारा राज्य के छीने जाने का उन्हें भय हुआ। यद्यपि गर्दभ और दीर्घ दोनों मुनि की हत्या करने को आए थे, परन्तु उनकी उन्हें मारने की हिम्मत न पड़ी। उसी समय मुनि ने अपनी स्वाध्याय की पहली गाथा पढ़ी। उसे सुनकर गर्दभ ने मंत्री से कहा—जान पड़ता है मुनि ने हम दोनों को देख दिया है। पश्चात् मुनि ने दूसरी खण्ड गाथा पढ़ी, तब उसने कहा, नहीं जी, मुनिराज राज्य लेने नही आए हैं। मेरा वैसा समझना भ्रम था अज्ञान था। मेरी वहिन कोणिका के प्रेम वश वे कुछ कहने को आये जान पड़ते हैं। अनंतर मुनिराज ने तीसरी गाथा भी पढ़ी। उसका अर्थ गर्दभ ने यह समझा कि मंत्री दीर्घ बड़ा दुष्ट है, मुझे मारना चाहता है। अतएव भ्रमवश ही पिता जी मुझे सावधान करने आये हैं। थोड़ी देर में उनका सब सन्देह दूर हो गया। उन्होंने अपने हृदय की सब दुष्टता छोड़कर बड़ी भक्ति के साथ उन मुनिराज को प्रणाम किया और धर्म का उपदेश सुना। उपदेश सुनकर वे दोनों बहुत प्रसन्न हुए, और श्रावक के व्रतों को ग्रहण कर अपने स्थान को लौट गए।

यमधर मुनि निर्मल चारित्र का पालन करते हुए अपने परिणामों को वैराग्य से सराबोर करने लगे। उनकी निस्पृह वृत्ति, पवित्र संयम का आचरण, और तपश्चरण की निष्ठता, एकाग्रता दिन-पर-दिन बढ़ रही थी। उन्हें तपश्चरण के प्रभाव से सप्त ऋद्धियाँ प्राप्त हुई[1]। वे भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट सम्यक्ज्ञान की आराधना में तत्पर हुए। लब्धि संयुक्त वे मुनि अन्य पाँच सौ मुनियों के साथ कुमारगिरि के शिखर से देवलोक को प्राप्त हुए। जैसा कि कथा कोश के निम्नपद्यों से स्पष्ट है—

---

१. यमयोगी परिप्राप्य गुरुमामीप्यमादरात्। घोरं तपश्चकारेदं विविधर्द्धिसमन्वित: ॥५८॥

पादानुसारिणी बुद्धि: कोष्ठबुद्धिस्तथैव च। संभिन्नश्रोत्रिकाद्या हि बुद्धय: परिकीर्तिता: ॥५९॥

उग्रं तपस्तथा दीप्तं तपस्तप्तं महातप:। घोरादीनि विजानन्तु तपांसीमानि कोविद: ॥६०॥

—हरिषेण कथाकोष पृ० १३३

एताभिर्लब्धिभिर्युक्तः श्रामण्यं परिपाल्य च ।
धर्मादिनगरासन्ने कुमारगिरिमस्तके ।। ६७।।
शतैः पञ्चभिरायुक्तो मुनीनां धर्मशालिनाम् ।
आराधनां समाराध्य यमः साधुर्दिवं ययौ ।। ६८।।

अन्तिम केवली जम्बूस्वामी

मगध देश के राजगृह नगर में अर्हद्दास नाम का सेठ रहता था। उसकी पत्नी का नाम जिनमती या जिनदासी था, जो रूप-लावण्य-संयुक्त और पतिव्रता थी। दोनों ही जैनधर्म के संपालक और धर्मनिष्ठ श्रावक थे। सेठ अर्हद्दास के पिता का नाम धनदत्त और माता का नाम गोत्रवती था। इनके दो पुत्र थे अर्हद्दास और जिनदास। इनमें अर्हद्दास धर्मात्मा था और जिनदास कुसंगति के कारण द्यूतादि दुर्व्यसनों का शिकार हो गया था। वह एक दिन जुए में छत्तीस सहस्र मुद्राए हार गया। घर से मुद्राए लाकर देने का वचन देने पर भी छल नाम के एक जुआरी ने जिनदास के पेट में कटार मार दी। उसकी सूचना मिलने पर अर्हद्दास उसे अपने घर ले आया, और उचित उपचार करने पर भी वह उसे बचा न सका। उसने अर्हद्दास से कहा कि मैंने जीवन में धर्म से विपरीत बुरे कर्म किये है, उनका मुझे पश्चात्ताप है। परलोक सुधारने के लिये कुछ धर्म का स्वरूप बतलाइये। तब अर्हद्दास ने उसे धार्मिक उपदेश दिया और पचनमस्कार मत्र सुनाया, जिससे वह यक्ष योनि में उत्पन्न हुआ। जब उसने यह सुना कि अर्हद्दास सेठ के गृह में अन्तिम केवली जम्बूस्वामी का जन्म होगा, तो वह अपने वंश की प्रशंसा सुनकर हर्ष से नाच उठा।

विद्युन्माली देव का जीव ब्रह्म स्वर्ग से चयकर जब जिनमती के गर्भ में आया तब जिनमती ने पांच शुभ स्वप्न देखे—हाथी, सरोवर, चावलों का खेत, धूम रहित अग्नि, और जामुन के फल। नौ महीने बाद ६०७ ई० पूर्व में जम्बूस्वामी का जन्म हुआ और उसका नाम जम्बूकुमार रक्खा गया। जम्बूकुमार दूज के चन्द्र के समान प्रतिदिन बढ़ता गया। वह स्वभावतः सौम्य, सुन्दर, मिष्टभाषी, भद्र, दयालु और वैराग्यप्रिय था। बाल अवस्था में उसने समस्त विद्याओं की शिक्षा पाई थी। उसके गुणों की सुरभि चारों तरफ फैलने लगी। वह कामदेव के समान सुन्दर रूप का धारक था। उसे देखकर नगर की नारियाँ अपनी सुध-बुध खो बैठती थीं और काम वाण से पीड़ित हो जाती थी। किन्तु कुमार पर उसका कोई प्रभाव अंकित नहीं होता था, क्योंकि उसका इन्द्रिय विषयों में कोई राग नहीं था और युवावस्था में भी वह निर्विकार था। उसके आत्म-प्रदेशों में वैराग्य रस का उभार जो हो रहा था। वह वज्रवृषभनाराच सहनन का धारी और चरम शरीरी था और जैन धर्म का संपालक था।

जीवन-घटनाएं

एक बार राजा श्रेणिक का बड़ा हाथी कोलाहल से भयभीत होकर सांकल तोड़कर क्रोधयुक्त हो वन में घूमने लगा। उसके कपोलों से मद झर रहा था जिस पर भ्रमर गुंजार कर रहे थे। वह नील पर्वत के समान काला था और अपने दांतों से पृथ्वी को कुरेदता हुआ सूंड़ से पानी फेंकता था। वह जिधर जाता वृक्षों को जड़मूल से उखाड़ देता था। उस वन में आम, जामुन, नारंगी, केला, ताल-तमाल, अशोक, कदंब, सल्लकी साल, नीबू, खजूर, नारियल, और अनार आदि के सुन्दर पेड़ लगे हुए थे। कुछ पौधे खुशबूदार फूलों के समूह से लदे हुए थे, जिनकी महक से वह वन सुरभित हो रहा था। उसमें अनेक प्रकार के फल-फूल और मेवों वाले बहुमूल्य पेड़ थे। उस वन की शोभा देखते ही बनती थी। वह मोरणियों के शब्दों से गुंजायमान था और कोयलों की मधुर ध्वनि से मुखरित हो

रहा था। जनता हाथी की भयंकरता से आकुलित हो रही थी। बड़े-बड़े योद्धा भी उसे बांधने का साहस नहीं कर सके। किन्तु जम्बूकुमार ने अचिन्त्य साहस और बल से उस पर सवार होकर उस उन्मत्त हाथी को क्षणमात्र में वश में कर लिया। अतएव जनता में जम्बूकुमार के साहस की प्रशंसा होने लगी। लोग कहने लगे—धन्य है कुमार का अद्भुत बल, जिसने देखते-देखते क्षणमात्र में भयानक हाथी को वश में कर लिया। यह सब उसके पुण्य का माहात्म्य है, इसलिये वह महापुरुषों द्वारा पूज्य है। पुण्य से ही सम्पदा, सुख सामग्री और विजय मिलती है।

जम्बूकुमार ने केरल के युद्ध में जो वीरता दिखलाई वह अद्वितीय थी। रत्नशेखर से युद्ध करते हुए जम्बूकुमार ने उसको बांध लिया। युद्ध कितना भयंकर होता है इसे योद्धा अच्छी तरह से जानते हैं। कहाँ रत्नशेखर की बड़ी भारी सेना और कहां अकेला जम्बूकुमार। किन्तु जम्बूकुमार ने अपने बुद्धि कौशल और आत्मबल से शत्रु पर अपनी वीरता का सिक्का जमा लिया, बन्दी हुए केरल नरेश को बन्धन से मुक्त किया; उसकी सुपुत्री विलासवती का बिम्बसार के साथ विवाह करा दिया; और केरल नरेश मृगांक तथा रत्न शेखर में परस्पर मेल करा दिया। इन सब घटनाओं से जम्बूकुमार की महानता का पता चलता है।

जम्बूकुमार जब केरल से वापिस लौट कर आ रहा था, तब उसे विपुलाचल पर सुधर्म गणधर के आने का पता चला। वह उनके समीप गया, और नमस्कार कर थोड़ी देर एकटक दृष्टि से उनकी ओर देखता रहा। जम्बूकुमार का उनके प्रति आकर्षण बढ़ रहा था। पर उसे यह स्मरण न हो सका कि मेरा इनके प्रति इतना आकर्षण क्यों है? क्या मैंने इन्हें कहीं देखा है, इस अनुराग का क्या कारण है? तब उसने समीप में जाकर पुनः नमस्कार किया और उनसे अपने अनुराग का कारण पूछा। तब उन्होंने बतलाया कि पूर्व जन्मों में मैं और तुम दोनों भाई-भाई थे। हम दोनों में परस्पर बड़ा अनुराग था। मेरा नाम भवदत्त और तुम्हारा नाम भवदेव था। सागरसेन या सागरचन्द्र पुण्डरीकिणी नगरी में चारण मुनियों से अपने पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुनकर देह-भोगों से विरक्त हो मुनि हो गया और त्रयोदश प्रकार के चारित्र का अनुष्ठान करते हुए भाई के सम्बोधनार्थ वीतशोका नगरी में पधारे। वहाँ भवदेव का जीव चन्द्रवती का शिवकुमार नामक पुत्र हुआ था। शिवकुमार ने महलों के ऊपर से मुनियों को देखा, उससे उसे पूर्वजन्म का स्मरण हो आया और देहभोगों से उसके मन में विरक्तता का भाव उत्पन्न हुआ। उससे राजप्रासाद में कोलाहल मच गया। शिवकुमार ने माता-पिता से दीक्षा लेने की अनुमति मांगी। पिता ने बहुत समझाया, और कहा—तप और व्रतों का अनुष्ठान घर में भी हो सकता है। दीक्षा लेने की आवश्यकता नहीं है। पिता के अनुरोधवश कुमार ने तरुणी जनों के मध्य में रहते हुए भी विरक्त भाव से ब्रह्मचर्य व्रत का अनुष्ठान किया। इस असिधारा व्रत का पालन करते हुए शिवकुमार दूसरों के यहाँ पाणिपात्र में प्राशुक आहार करता था। आयु के अन्त में ब्रह्म स्वर्ग में विद्युन्माली देव हुआ। मैं भी उसी स्वर्ग में गया। वहाँ से चयकर मैं सुधर्म हुआ हूँ और तुम जम्बूकुमार नाम के पुत्र हुए। यही तुम्हारा मेरे प्रति स्नेह का कारण है।

जम्बूकुमार ने सुधर्म स्वामी का उपदेश सुना, उससे उसके हृदय में वैराग्य का प्रवाह उमड़ आया, और उसने सुधर्माचार्य से दीक्षा देने के लिए निवेदन किया। तब उन्होंने कहा कि जम्बूकुमार! तुम अपने माता-पिता से आज्ञा लेकर आओ, तब दीक्षा दी जाएगी। कुटुम्बियों ने भी अनुरोध किया, और कहा कि कुमार! अभी दीक्षा न लो। कुछ समय बाद ले लेना। अतः जम्बूकुमार घर वापिस आ गया। माता-पिता ने उसे विवाह के बंधन में बाँधने का प्रयत्न किया। तब जम्बूकुमार ने विवाह कराने से इनकार कर दिया। सेठ अर्हद्दास ने अपने मित्र सेठों के घर यह सन्देश भिजवा दिया कि जम्बूकुमार विवाह कराने से इनकार करता है। अतः आप अपनी पुत्रियों का सम्बन्ध अन्यत्र कर सकते हैं। उनकी पुत्रियों ने कहा कि विवाह तो उन्हीं से होगा, अन्यथा हम कुमारी रहेंगी। वे एक रात्रि हमें दे, उसके बाद उन्हें दीक्षा लेने से कोई नहीं रोकेगा। अतः विवाह हुआ। विवाह के पश्चात् जम्बूकुमार घर आया और रात्रि में स्त्रियों के मध्य में बैठकर चर्चा होने लगी। बहुएं अनुरागवर्धक अनेक प्रश्नोत्तरों और कथा कहानियों, दृष्टान्तों द्वारा जम्बूकुमार को निरुत्तर करने या रिझाने में समर्थ न हो सकीं। उन्होंने शृङ्गार परक हाव-भाव रूप चेष्टाओं का अवलम्बन भी लिया, किन्तु जम्बूकुमार पर वे प्रभाव डालने में सर्वथा असमर्थ रहीं। विद्युत चोर अपने साथियों के साथ जिनदास के घर चोरी करने आया, और छिपकर खड़ा

होगया। वहां जम्बूकुमार और उनकी स्त्रियों की वार्त्ता हो रही थी। विद्युतचोर बड़ी देर से उनके आख्यानों को सुन रहा था, उसे उसमें रस आने से और जागृति रहने से वह चोरी तो नहीं कर सका, पर वह उनकी बातों में तन्मय हो गया। विद्युतचोर ने भी अनेक दृष्टान्तों और कथानकों द्वारा कुमार को समझाने का यत्न किया, पर विद्युतचोर की वकालत भी उन्हें विषयपाश में न फँसा सकी। उल्टा जम्बूकुमार का प्रभाव विद्युतचोर और उसके साथियों पर पड़ा। अतः विद्युतचोर भी अपने साथियों के साथ चोर कर्म का परित्याग कर दीक्षा लेने के लिये तत्पर हो गया। जम्बूकुमार तो दीक्षा लेने के लिये पहले से ही उत्सुक था।

जम्बूकुमार की जिन-दीक्षा

जम्बूकुमार ने अपने विवाह की इस रात्रि में अपनी उन चार पत्नियों को बुद्धिबल से जीत लिया। उनकी शृंगारपरक हाव-भाव चेष्टाओं, कथानकों, उपकथानकों आदि का जम्बूकुमार पर कोई प्रभाव अंकित नहीं हुआ, उन्होंने राग भरी दृष्टि से उनकी ओर झाँका तक भी नहीं। उनकी वैराग्य भरी सौम्य दृष्टि का प्रभाव उन पर पड़ा। विद्युतचोर और उसके साथी सब सोचते कि देखो, कुमार पर देवांगनाओं के सदृश अत्यन्त सुन्दर इन नव युवतियों का और धन वैभव का कोई प्रभाव नहीं है, ऐसी विभूति को छोड़कर यह दीक्षा ले रहा है। हम लोग तो जिंदगी भर पाप कर्म करते रहे, और उसी के लिये यहाँ आये थे; किन्तु कुमार का जिन-दीक्षा लेने का दृढ़ निश्चय देखकर हमारा विचार बदल गया और हम सब भी दीक्षा लेकर आत्म-साधना करेंगे। हमारे इस निश्चय को अब कोई टालने के लिये समर्थ नहीं है। इस प्रकार के विचार विनिमय में ही सब रात्रि चली गयी, और प्रातः काल हो गया।

सेठ अर्हदास ने प्रातःकाल राजभवन में जाकर सम्राट् से निवेदन किया कि जम्बूकुमार की चारों नवोढ़ा पत्नियाँ भी उसे गृहस्थ के बंधन में न बाँध सकीं और वे दीक्षा लेने वन में जा रहे हैं। सम्राट ने कहा—अच्छा उनको जुलूस के रूप में सुधर्म स्वामी के पास ले चलने की व्यवस्था की जाय।

जुलूस में दुन्दुभि बाजे बज रहे थे, हाथी, घोड़े, ऊँट, और पैदल जनता सभी उसमें शामिल थे। बीच में एक सजी हुई पालकी में जम्बूकुमार बैठे हुए थे। उनके शरीर पर बहुमूल्य वस्त्राभूषण थे। उनके सिर पर मुकुट बधा हुआ था, जिसे सम्राट् बिम्बसार ने बांधा था। पालकी को नगर के सम्भ्रांत नागरिक उठाए हुए थे। जनता उत्साह के साथ भगवान महावीर की जय, सुधर्म स्वामी की जय और जम्बूस्वामी की जय बोल रही थी।

जुलूस क्रमशः नगर के सभी प्रधान मार्गों से घूमता हुआ आगे बढ़ता जा रहा था। मार्ग में सभी गवाक्ष और छतें नर-नारियों से भर गईं। सब ओर से उनके ऊपर पुष्प बरसाये जा रहे थे। जिस समय जुलूस अर्हदास सेठ के मकान की ओर आया, तब जम्बूकुमार की माता जिनमती मोहवश दौड़ती हुई पालकी के पास आई। वह मुख से हा पुत्र! हा पुत्र! कहकर एकदम मूर्च्छित हो गई। शीतोपचार से जब वह होश में आई तो आंसू बहाती हुई गद्गद् हो कहने लगी—

हे पुत्र! एक बार तू मुझ अभागिनी माता की ओर तो देख। यह कहकर वह पुनः मूर्च्छित हो गई। अपनी सास को मूर्च्छित हुआ देख जम्बूकुमार की चारों बहुएँ भी अत्यन्त शोकसन्तप्त होकर रुदन करती हुई बोलीं—

हे नाथ! हे कामदेव! हम सबको अनाथ बनाकर आप कहाँ जा रहे हैं? जिस तरह चन्द्रमा के बिना रात्रि की शोभा नहीं, कमल के बिना सरोवर की शोभा नहीं, उसी तरह आपके बिना हमारा जीवन भी निरर्थक है। हे कृपानाथ! आप प्रसन्न हों और थोड़े समय गृहस्थ अवस्था में रहकर बाद में उसका परित्याग कर दीक्षा ले लें। जम्बूकुमार की पत्नियाँ इस प्रकार कह ही रहीं थी कि चन्दनादि के उपचार से माता जिनमती को दुबारा होश आ गया। वह होश में आकर रो-रोकर जम्बूकुमार से कहने लगी—

हे पुत्र! कहाँ तो तेरा केले के पत्ते के समान कोमल शरीर और कहाँ वह असिधारा के समान कठोर जिन दीक्षा! तपश्चरण कितना कठिन है। नग्न शरीर, डाँस-मच्छर, झंझावात, वर्षा, ठण्ड, गर्मी, आदि की अनेक असह्य बाधायें कैसे सहन करेगा? हे बालक! तू इस ऊबड़-खाबड़ कठोर भूमि में कैसे शयन करेगा और भुजाओं को

लटकाए हुए तू किस तरह रात्रि भर कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यान करेगा, और उपसर्ग परिषह की भीषण स्थितियों में अपने को कैसे निश्चल रख सकेगा।

किन्तु सुदृढ़ संकल्पी जम्बूकुमार माता को रोती-बिलखती देखकर बोले—हे माता! तू शोक को छोड़कर कायरपने का परित्याग कर। तुझे अपने मन में यह सोचना चाहिए कि यह संसार अनित्य और अशरण है। हे माता! मैंने अनेक जन्मों में इन्द्रिय-विषयों के सुख का अनेक बार उपभोग किया और उन्हें जूठन के समान छोड़ा। ऐसे अतृप्तकारी विषय सुखों की ओर भला माता! मै कैसे जा सकता हूँ। तुझे तो प्रसन्न होना चाहिए कि तेरा पुत्र ससार के बधनों को काटकर परमार्थ के मार्ग पर अग्रसर हो रहा है।

इस तरह जम्बूकुमार अपनी माता को सम्बोधित कर पालकी में बैठकर आगे बढ़े और राजगृह के सभी मार्गों से घूमकर नगर के बाहर उपवन में पहुँचे।

उपवन में एक वृक्ष के नीचे मुनियों के परिकर सहित महातपोधन सुधर्म स्वामी बैठे हुए थे। जम्बूकुमार पालकी मे उतरकर उनके समीप गए। उन्हे नमस्कार किया, तीन प्रदक्षिणाएँ दी। फिर उनके सामने हाथ जोड़कर नतमस्तक हो बड़े आदर से खड़े हो यह प्रार्थना की—

हे दयासागर! सम्यक् चारित्र के धारक हे मुनिपुँगव! मैं जन्म मरण रूप दुःखों से भरे हुए कुयोनिरूपी समुद्र के आवर्त्तों में डूब रहा हूँ। कृपा कर आप मेरा उद्धार करे। आप मुझे संसार के दुःखों की विनाशक, कर्म क्षय करने वाली दैगम्बरी दीक्षा प्रदान करें। जिससे मैं आत्म-साधना द्वारा स्वात्म-निधि को प्राप्त कर सकू।

सुधर्म स्वामी ने कहा—अच्छा मैं तुझे अभी दीक्षित करता हूं।

यह सुनते ही जम्बूकुमार का हृदय कमल खिल उठा, उन्होंने गुरु के सम्मुख अपने शरीर से सभी आभूषण उतार दिये। कुमार ने अपने मुकुट के आगे लटकने वाली माला को इस तरह दूर किया मानों उन्होंने कामदेव के बाणों को ही बलपूर्वक दूर किया हो। उन्होंने रत्नमय मुकुट को भी इस तरह उतारा मानों उन्होंने मोह रूप राजा को जीत लिया हो। पश्चात् हार आदि आभूषणों और रत्नमय अँगूठी को भी उतार दिया और अपने शरीर से वस्त्रों को इस तरह उतारा मानों चतुर पुरुष ने माया के पटलों को ही फेंक दिया हो। समस्त वस्त्राभूषणों का परित्याग कर जम्बूकुमार ने पंचमुट्ठियों से केशों का लोच कर डाला। और 'ओं नमः' मंत्र का उच्चारण कर गुरु-आज्ञा से अट्ठाईस मूल गुणों को धारण किया[1]—पंचमहाव्रत, पंचसमिति, पचेंद्रियनिरोध, छह आवश्यक, केशलोंच, अचेलक (नग्न) अस्नान, भूशयन, अदंतधावन, स्थितिभोजन—खड़े होकर आहार लेना और दिन में एक बार भोजन इन २८ मूल गुणों का पालन करना प्रारम्भ किया।

जम्बूकुमार ने यह दीक्षा लगभग २५-२६ वर्ष की अवस्था में ग्रहण की होगी। दीक्षा के पश्चात् जम्बू कुमार ने आवश्यक कार्यों के अतिरिक्त ध्यान और अध्ययन में अपना उपयोग लगाया और सुधर्मस्वामी के पास समस्त श्रुत का अध्ययन किया तथा अनशनादि अन्तर्बाह्य दोनों तपों का अनुष्ठान किया। आचाराङ्ग के अनुसार मुनिचर्या का निर्दोष पालन करते हुए साम्यभाव को प्राप्त करने का उद्यम किया। कषाय-विष का शोषण करते हुए उसे इतना कमजोर एवं अशक्त बना दिया, जिससे वह आत्मध्यानादि में बाधक न हो सके। वे मुनि जम्बूकुमार निस्पृह वृत्ति से मुनि धर्म का पालन करते थे। उसमें प्रमाद नहीं आने देते थे; क्योंकि प्रमाद करने वाला साधु छेदोपस्थापक होता है[2]

---

१. पच महव्वयाइं समिदीओ पचजिणवरुद्दिट्ठा।
पचेंदियरोहो छप्पिय आवासया लोचो॥
अच्चेलक मण्हाणं खिदिमयणमदंतधंसणं चेव।
ठिदि भोयणेय भत्तं मूलगुणा अट्ठवीसा दु॥

—मूलाचार १, २, ३

२. तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि।

—प्रवचनसार ३-६

मुनि अवस्था में एक दिन जम्बूकुमार आहार के लिये राजगृह नगर में गए, और वहाँ जिनदास सेठ ने नवधा भक्तिपूर्वक आहार दिया। निर्दोष आहार देने के कारण सेठ के आंगन में दानातिशय से पंचाश्चर्य हुए। आहार लेकर मुनिराज उपवन में आ गए, और ज्ञान-ध्यान में तत्पर हो गए। इन्द्रिय विकारों को जीतने के लिए वे कभी उपवास रखते, और कभी रस का परित्याग करते थे। जम्बूकुमार जितने सुकुमार थे, वे उतने ही सहिष्णु साहसी, धैर्यवान और विवेकी थे। उनकी शान्त मुद्रा और आत्म-तेज देखकर सभी आश्चर्य करते थे। वे यथा-जात मुद्रा के धारी तो थे ही, साथ ही मन-वचन और काय को वश में करने के लिए गुप्तियों का अवलम्बन लेते थे। ध्यान और अध्ययन में प्रवृत्ति होने के कारण वे द्वादशांग के पारगामी श्रुतकेवली हो गए और सुधर्म-स्वामी केवलज्ञानी हो गए। अब सब संघ का भार जम्बू स्वामी वहन करने लगे। बारह वर्ष बाद सुधर्म स्वामी का विपुलाचल से निर्वाण हो गया और जम्बू स्वामी को घाति कर्म के अभाव से केवलज्ञान प्राप्त हो गया। जम्बू स्वामी ने केवली अवस्था में ३८ वर्ष तक विविध देशों और नगरों में विहार कर वीर शासन का प्रचार व प्रसार किया[1]। अन्त में विपुलाचल से ७५ वर्ष की वय में शुक्ल ध्यान द्वारा कर्म कलंक को दग्ध कर अविनाशी पद प्राप्त किया[2]।

जम्बूकुमार के दीक्षा लेने के बाद उनके माता-पिता और चारों पत्नियों ने भी दीक्षा लेकर तपचरण किया, और अपने परिणामानुसार उच्च गति प्राप्त की।

विद्युतचर ने भी अपने पांच सौ साथियों के साथ चौर कर्म का परित्याग कर दिगम्बर दीक्षा ले ली और तपश्चरण द्वारा आत्म-शुद्धि करने लगे। वे मुनियों के त्रयोदश प्रकार के चारित्र के धारक तथा पांच समितियों में प्रवृत्ति करते थे। तीन गुप्तियों का भी पालन करते थे, इस तरह वे मुनि आचाराङ्ग (मूलाचार) के अनुसार प्रवृत्ति करते हुए अपने शिष्यों के साथ ताम्रलिप्त[3] नगरी में आए। वे नगर के बाहर उद्यान में विराजे। उस समय दिन अस्त हो रहा था, तब दुर्गा देवी ने भक्ति से विद्युनचर से कहा कि यहां पांच दिन तक मेरी पूजा होगी उसमें रौद्र भूत सम्प्रदाय आमन्त्रित है, वह तुम्हें असह्य उपसर्ग करेगा। अतएव जब तक यात्रा है तब तक इस पुरी को छोड़कर अन्यत्र चले जाइए। यह कह कर वह चली गई। यतिवर विद्युतचर ने मुनियों से कहा—अच्छा हो आप लोग इस स्थान को छोड़कर अन्यत्र चले जायं। तब उन्होंने कहा—रात्रि व्यतीत हो जाय, तब हम चले जावेंगे। रात्रि में गमन करना मुनियों के लिये वर्जित है। उपसर्ग से डरने वालों को क्या लाभ हो सकता है ? उपसर्ग सहन करना साधुओं के लिए श्रेयस्कर है। अतः सब साधु मौनपूर्वक ध्यान में स्थित हो गए। रात्रि में भयंकर भूतों ने असह्य उपसर्ग किया। बड़े-बड़े डांस मच्छरों की बाधा हुई। शरीर को कष्ट देने वाले घोर उपसर्ग हुए, जिन्हें सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। ऐसा होने पर वे सब साधु स्थिर न रह सके और ध्यान छोड़-कर दिवंगत हुए। किन्तु विद्युतचर अदीन मन से घोर उपसर्ग सहते हुए भी बड़े धैर्य के साथ मेरुवत स्वरूप में

१. बारह वासाणि केवलि विहारेण विहरिय लोहज्ज भडारए णिव्वुदे संते जंबू भडारओ केवलणाणसंताणहरो जादो। अट्ठत्तीसवस्साणि केवलिविहारेण विहरिय जंबू भडारए परिणिव्वुदे संते केवलणाण संताणस्स वोच्छेदो जादो भरह खेत्तम्मि।

—(धवला पु० ९ पृ० १३०)

२. विउलइरि सिहरि कम्मट्ठचत्तु, सिद्धालय सासय सोक्खं पत्तु ॥ —जंबूसामिचरिउ १०-२४ पृ० २१५

३. घत्ता—अह सवणसंघसंजुउ पवरु, एयारसंगधरु विज्जुचरु।
विहरंतु तवेण विराइयउ, पुरि तामलित्ति संपाइयउ ॥
नयराउ नियडे रिसिसंघे थक्के, अत्थवणहो ढुक्कए सूरचक्के।
अह आया तामकंकालिधारि, कंचायणि नामें भद्दमारि।
आहासइ सत्तिणय दिवसपंच, महुजत्त हवेसइ सप्पवंच।
आमंतियभूयावलिरउद्द, उवसग्गु करेसइ तुम्ह खुद्द।
इय कज्जे अण्ण हि किहिम ताम, पुरि मेल्ल वि गच्छहु जत्त जाम।
गय एम कहे वि तो जइवरेण, मुणि भणिय एम विज्जुच्चरेण ॥ —जम्बू स्वामी चरिउ पृ० २१६

निश्चल रहे और अनित्यादि भावनाओं का दृढ़ता से मनन करते हुए शरीर से भिन्न निजात्म तत्त्वका, चैतन्य टंकोत्कीर्ण और ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाले आत्म तत्त्व का चिन्तवन करते हुए, शारीरिक बाधाओं की ओर ध्यान न देते हुए, निर्भय हो चार प्रकार का सन्यास धारण कर व्रत रूपी खड्ग से मोह शत्रु का नाश कर आराधना में स्थित रहे और निर्वाण प्राप्त किया।[1] अन्य साधुओं ने भी परिणामानुसार यथा योग्य स्थान प्राप्त किए।

इससे स्पष्ट है कि ताम्रलिप्त नगरी विद्युतचर का निर्वाण स्थल है और उनके साथी साधुओं का समाधि स्थल है। ऐसी स्थिति में मथुरा जम्बू स्वामी ओर विद्युच्चर का निर्वाण स्थल नही हो सकता।

मथुरा जम्बू स्वामी का निर्वाण स्थल नहीं है

मथुरा एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान है। इस नगर मे जैन, वैष्णव और बौद्धादि भारतीय धर्मो का प्राचीन काल से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। यह यदुवंशी कृष्ण की लीला भूमि रहा है। कुषाण काल में यहाँ कई बौद्ध विहार थे। उत्तरापथ में यह जैन संस्कृति का प्रमुख केन्द्र रहा है। महावीरकालीन जनपदों, प्रमुख राज्यों और राजधानियों में इसकी गणना रही है। दक्षिण के जैनाचार्यो ने दक्षिण मथुरा से भेद प्रकट करने के लिए इसे उत्तर मथुरा नाम से उल्लेखित किया है। निशीथ चूर्णी की एक गाथा में—"उत्तरावहे धम्मचक्कं मथुराए देव णिम्मिओ थूभो।" वाक्य में मथुरा के देव निर्मित स्तूप का[2] उल्लेख किया है। २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का यहाँ विहार हुआ और उनकी स्मृति में उक्त स्तूप बनवाया गया था। सम्भवत: सातवीं आठवी शताब्दी ई० पूर्व उस देवनिर्मित स्तूप को ईंटों से ढक दिया गया था। मथुरा के कंकाली टीले से जैन पुरातत्त्व की महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हुई है। उसमें अनेक कलाकृतियाँ महत्वपूर्ण हैं। यहाँ दिगम्बर जैनों के ५१४ स्तूप रहे हैं, जिनका जीर्णोद्धार साहू टोडर ने कराया था, जो बादशाह अकबर की टकसाल का अध्यक्ष था, और कृष्णामगल चौधरी का मत्री भी था। उसने द्रव्य खर्च करके सं० १६३१ में उनकी प्रतिष्ठा पाण्डे राजमल्ल से करवाई थी। इन सब कारणों से मथुरा जैन सस्कृति का मौलिक स्थान रहा है। पर वह क्या जम्बूस्वामी का निर्वाण स्थान था? उस पर यहाँ विचार किया जाता है—

महुराये अहिछत्ते वीरं पासं तहेव वंदामि।
जम्बु मुणिंदो वंदे णिव्वुई पत्तो वि जम्बूवणगहणे॥

दशभक्त्यादि संग्रह में प्रकाशित प्राकृत निर्वाण भक्ति के अनन्तर कुछ पद्य और भी दिये हुए हैं, जो प्रक्षिप्त है और बाद को उसमें संग्रहीत कर लिये गए हैं। उनमें से उक्त तृतीय पद्य में मथुरा और अहिक्षेत्र में भगवान महावीर और पार्श्वनाथ की वन्दना करने के पश्चात् जम्बू नाम के गहन वन में अन्तिम केवली जम्बू स्वामी

१. ताम्रलिप्तपुरस्यास्य समीपे परिधोरगम्।
तस्थौ पश्चिम दिग्भागे नक्त प्रतिमया मुनि:॥
एव स्थिते मुनौ तत्र रात्रौ देवतया तया।
एषा देशोत्सर्गोऽ य विहित: क्रूरचित्तया॥
नाना देशोपसर्गं तं सहित्वा मेरुनिश्चल:।
विद्युच्चर: समाधानान्निर्वाणमगमद्द्रुतम्॥ —हरिषेण कथाकोश कथा १३८

२. 'सावष्टम्भमष्टान्ही मथुरायाचक्रचरण परिभ्रमय्यार्हत्प्रतिबिम्बाङ्कित मेक स्तूपं तत्रा तिष्ठियत्। अतएवाद्यापि तत्तीर्थं देवनिर्मिताख्यया प्रथते।

—उपासकाध्ययन प्रे० ६३

के निर्वाण का उल्लेख किया गया है। परन्तु जम्बू वन किस देश का वन है यह पद्य पर से कुछ भी फलित नहीं होता। मालूम होता है, जम्बू स्वामी ने जिस वन में या स्थान में ध्यानाग्नि द्वारा अवशिष्ट अघाति कर्मों को भस्म कर कृतकृत्यता प्राप्त की, सम्भवतः उसी वन को जम्बू वन नाम से उल्लिखित करना विवक्षित रहा है। पर यह विचारणीय है कि उक्त स्थान किस नगर या ग्राम के पास है और उसका मथुरा से क्या सम्बन्ध है? इस सम्बन्ध में कोई महत्त्व के प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं जो मथुरा को सिद्धक्षेत्र सिद्ध कर सकें।

मथुरा के समीप ही चौरासी नाम का स्थान है, जहाँ पर एक विशाल जैन मन्दिर बना हुआ है। जिसे मथुरा के सेठ मनीराम ने बनवाया था, और उसमें इस समय अजितनाथ तीर्थंकर की ग्वालियर में प्रतिष्ठित मनोज्ञ मूर्ति विराजमान है। इसी स्थान को जम्बू स्वामी का निर्वाण स्थान कहा जाता है। परन्तु अन्वेषण करने पर भी जम्बू स्वामी के चौरासी पर निर्वाण प्राप्त करने का कोई प्रामाणिक उल्लेख अभी तक मेरे देखने में नहीं आया है। मालूम नहीं, इस कल्पना का आधार क्या है?

डा० हीरालाल जी एम० ए० डी० लिट् ने अपनी पुस्तक 'जैन इतिहास की पूर्व पीठिका और हमारा अभ्युत्थान' के पृ० ८० में संयुक्त प्रान्त का परिचय कराते हुए जम्बू स्वामी की निर्वाण भूमि उक्त चौरासी स्थान पर बतलाई है। उनकी इस मान्यता का कारण भी प्रचलित मान्यता जान पड़ती है क्योंकि उसमें किसी प्रमाण विशेष का उल्लेख नहीं है।

मथुरा जैनियों का प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान है। कंकाली टीले के उत्खनन में जो महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध हुई है, उससे उसकी महत्ता का स्पष्ट बोध होता है। इसमें किसी को विवाद नहीं है किन्तु वह जम्बू स्वामी का निर्वाण-क्षेत्र है यह कोरी निराधार कल्पना है।

दूसरे विद्युतचर और उनके साथियों का भी देवलोक प्राप्ति का स्थल नहीं हैं। क्योंकि विद्युतचर और उनके ५००साथी मुनियों पर होने वाले उपसर्ग का स्थल ताम्रलिप्ति बतलाया गया है, जो जैन संस्कृति और व्यापार का महत्वपूर्ण केन्द्र था। जब ताम्रलिप्ति नगरी समुद्र में विलीन हो गई तब नगरी के विनाश के साथ जैनियों की साँस्कृतिक सम्पत्ति भी विनष्ट हो गई। इस कारण उनकी स्मृति के लिये मथुरा को चुना गया हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

जम्बू स्वामी चरित के कर्ता कवि राजमल्ल (१६३२) ने स्वयं जम्बूस्वामी का निर्वाण विपुलाचल से माना है। वीर कवि (१०७६) ने भी विपुलाचल से ही उनके निर्वाण प्राप्त करने का उल्लेख किया है। इन उल्लेखों के प्रकाश में मथुरा को जम्बू स्वामी की निर्वाण भूमि नहीं माना जा सकता। हाँ, अन्य कोई प्राचीन प्रमाण उपलब्ध हो तो उस पर विचार किया जा सकता है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मथुरा जम्बू स्वामी का निर्वाण क्षेत्र माना जाता है।

द्वितीय परिच्छेद

1. द्वादशांग श्रुत और श्रुतकेवली
2. विष्णुनन्दि
3. नन्दिमित्र
4. अपराजित
5. गोवर्द्धन
6. भद्रबाहु
7. संघ-भेद
8. जैन संघ-परिचय

द्वादशांग श्रुत और श्रुतकेवली

श्रुतावरण कर्म के क्षयोपशय होने पर जो सुना जाय वह श्रुत है। यह श्रुतज्ञान अमृत के समान हितकारी है, और विषय-वेदना से संतप्त प्राणि के लिये परम औषधि है, जन्म मरण रूप व्याधि का नाशक तथा सम्पूर्ण दुःखों का क्षय करने वाला है। जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्द के दर्शन पाहुड की निम्न गाथा मे प्रकट है :—

जिण वयण मोसहमिणं विसय-सुहं विरमणं अमिदभूयं।
जर-मरण-वाहि-हरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं ।।

समस्त द्रव्य और पर्यायों के जानने की अपेक्षा श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों समान हैं, किन्तु उनमें अन्तर इतना ही है कि केवलज्ञान ज्ञेयों को प्रत्यक्ष रूप से जानता है, और श्रुतज्ञान परोक्ष रूप से जानता है। जैसा कि गोम्मटसार की निम्न गाथा से स्पष्ट है :—

सुद केवलं च णाणं दोण्ण वि सरिसाणि होंति बोहादो।
सुदणाणं तु परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं ।।

गोम्मटसार जीव काण्ड गाथा ३६८

केवलज्ञान और स्याद्वादमय श्रुतज्ञान समस्त पदार्थों का समान रूप से प्रकाशक है। दोनों में प्रत्यक्ष परोक्ष का अन्तर है।

वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी अर्हत् तीर्थंकर के मुखारविन्द से सुना हुआ ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है। तीर्थंकर अपने दिव्य ज्ञान द्वारा पदार्थो का साक्षात्कार करके बीजपदों द्वारा उपदेश देते हैं। उस श्रुत के दो भेद हैं, द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। गणधर उन बीजपदों का और उनके अर्थ का अवधारण करके उनका यथार्थ रूप में व्याख्यान करते है। यही द्रव्य श्रुत कहलाता है। आप्त की उपदेशरूप द्वादशांग वाणी को द्रव्य श्रुत कहा जाता है। और उससे होने वाले ज्ञान को भावश्रुत कहते है। जिस तरह पुरुष के शरीर में दो हाथ, दो पैर, दो जाँघ, दो उरु, एक पीठ, एक उदर, एक छाती, और एक मस्तक ये बारह अंग होते हैं, उसी प्रकार श्रुत- ज्ञान रूप पुरुष के भी बारह अंग है। द्रव्य श्रुत के दो भेद हैं, अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य।

अंग प्रविष्ट श्रुत के बारह भेद हैं। १. आचारांग, २. सूत्रकृतांग, ३. स्थानांग ४. समवायांग, ५ व्याख्या प्रज्ञप्ति, ६. ज्ञातृ धर्मकथा, ७. उपासकाध्ययनांग, ८. अन्तः कृतदशांग, ९. अनुत्तरोपपादिक, १०. प्रश्नव्याकरणांग, ११. विपाकसूत्रांग, और १२. दृष्टिवादांग।

आचारांग—इसमें अठारह हजार पदों के द्वारा मुनियों के आचार का वर्णन किया गया है।

कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सये।
कधं भुंजेज्ज भासेज्ज कधं पावं ण बज्झई ।।

१. श्रुतावरणक्षयोपशमाद्यन्तरङ्गबहिरङ्गसन्निधाने सति श्रूयते स्मेतिश्रुतम्

(—तत्त्वा० वा० १-९, २ पृ० ४४ ज्ञानपीठ संस्करण)

२. स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्व प्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्तवन्यतमं भवेत् ।।

—आप्त मीमांसा १०५

जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये ।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झई ।। (मूला० १०-१२१)

मुनियों को कैसे चलना चाहिए, कैसे खड़े होना और बैठना चाहिए। कसे सोना चाहिए, कैसे भोजन करना चाहिए, और कैसे बात-चीत करना चाहिये, और कैसे पाप बन्ध नहीं होता है ? इस तरह गणधर के प्रश्नों के अनुसार साधु को यत्न से चलना चाहिये, यत्न पूर्वक खड़े रहना चाहिए, यत्न से बैठना चाहिये, यत्न पूर्वक शयन करना चाहिए, यत्नपूर्वक भोजन करना चाहिए, और यत्न से सम्भाषण करना चाहिये। इस तरह यत्न पूर्वक आचरण करने से पाप कर्म का बन्ध नहीं होता है। इस अंग में पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, और पंच आचारों आदि का वर्णन किया गया है।

सूत्रकृतांग - छत्तीस हजार पदों के द्वारा ज्ञान विनय, प्रज्ञापना, कल्प, अकल्प, छेदोपस्थापना आदि व्यवहार धर्म की क्रियाओं का वर्णन करता है। साथ ही स्वसिद्धान्त और पर सिद्धान्त का भी कथन करता है।

स्थानांग—बयालीस हजार पदों द्वारा एक से लेकर उत्तरोत्तर एक एक अधिक स्थानों का निरूपण करता है। उसका उदाहरण—यह जीव द्रव्य अपने चैतन्य धर्म की अपेक्षा एक है। ज्ञान और दर्शन के भेद से दो प्रकार का है। कर्मफलचेतना, कर्म चेतना और ज्ञान चेतना की अपेक्षा तीन प्रकार का है। अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की अपेक्षा तीन भेद रूप है। चार गतियों में भ्रमण करने वाला होने से चार भेद वाला है। औदयिक आदि पाँच भावों से युक्त होने के कारण पांच भेद हैं। भवान्तर में जाते समय पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण ऊपर और नीचे इस तरह छह अप कर्म से युक्त होने से छः दिशाओं में गमन करने के कारण छह प्रकार का है। अस्ति, नास्ति आदि सात अंगों से युक्त होने के कारण सात भेद रूप हैं। ज्ञानावरणादि कर्मों के आस्रव से युक्त होने की अपेक्षा आठ प्रकार का है। जीव अजीवादि नो पदार्थ रूप परिणमन होने के कारण नौ प्रकार का है। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येक वनस्पति कायिक, साधारण वनस्पति कायिक, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति तथा पंचेन्द्रिय जाति के भेद से दस प्रकार का है।

चौथा समवायांग—एक लाख चौसठ हजार पदों के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों के समवाय का वर्णन करता है। वह समवाय चार प्रकार का है। द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव। द्रव्य समवाय की अपेक्षा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय लोकाकाश और एक जीव के प्रदेश समान है। क्षेत्र समवाय की अपेक्षा प्रथम नरक के प्रथम पटल का सीमन्तकबिल, मनुष्य लोक, प्रथम स्वर्ग के प्रथम पटल का ऋजुविमान और सिद्ध क्षेत्र इन सबका विस्तार समान है। काल की अपेक्षा उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल समान हैं। दोनों का प्रमाण दस कोड़ाकोड़ि सागर है। भाव की अपेक्षा क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और यथाख्यात चारित्र समान हैं। इस प्रकार समानता की अपेक्षा जीवादि पदार्थों के समवाय का कथन समवायांग में किया गया है।

पाँचवा व्याख्या प्रज्ञप्ति अंग—दो लाख अट्ठाईस हजार पदों के द्वारा 'क्या जीव है अथवा नही है' इत्यादि रूप से साठ हजार प्रश्नों का व्याख्यान करता है। ज्ञातृधर्मकथा नाम का छठा अंग पांच लाख छप्पन हजार पदों के द्वारा तीर्थकरों की धर्म देशना का, सन्देह को प्राप्ति गणधरदेव के सन्देह को दूर करने की विधि का तथा अनेक प्रकार की कथा उपकथाओं का वर्णन करता है।

सातवाँ उपासकाध्ययनांग—ग्यारह लाख सत्तर हजार पदों के द्वारा श्रावकों के आचार का वर्णन करता है। अन्तकृद्दशांग नाम का आठवां अंग तेईस लाख अट्ठाईस हजार पदों के द्वारा एक-एक तीर्थकर के तीर्थ में दारुण उपसर्गों को सहन कर निर्वाण को प्राप्त हुए दस-दस अन्तकृत केवलियों का कथन करता है।

अनुत्तरौपपादिक दशा—नाम का नौवां अंग बानवे लाख चालीस हजार पदों के द्वारा एक-एक तीर्थ में नाना प्रकार के दारुण उपसर्गों को सहन कर विराजमान पांच अनुत्तर विमानों में जन्मे हुए दस-दस मुनियों का वर्णन करता है। जैसे वर्धमान तीर्थंकर के तीर्थ में ऋषिदास-धन्य- सुनक्षत्र-कार्तिक-नन्द-नन्दन- शालिभद्र-

१. विजय वैजयन्त जयंतापराजितसर्वार्थसिद्धाख्यानि पंचानुत्तराणि । तत्त्वा० वा० पृ० ५१

अभय-वारिषेण और चिलात पुत्र इन दशमुनियों ने दारुण उपसर्गों को जीता है और अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए।

प्रश्न व्याकरण—नामक दसवां अंग तिरानवे लाख सोलह हजार पदों के द्वारा आक्षेप-प्रत्याक्षेप पूर्वक युक्ति पूर्ण प्रश्नों का समाधान करता है। अथवा आक्षेपणी विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी इन चार कथाओं का वर्णन करता है। जो एकान्त दृष्टियों का निराकरण करके छः द्रव्य और नौ पदार्थों का निरूपण करती है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं। जिसमें पहले पर सिद्धान्त के द्वारा स्वसिद्धान्त में दोष बतलाकर पीछे पर समय का खण्डन करके स्वसिद्धान्त की स्थापना की जाती है उसे विक्षेपणी कथा कहते हैं। पुण्य के फल का वर्णन करने वाली कथा को संवेदनी कथा कहते हैं। पाप के फल का वर्णन करने वाली कथा निर्वेदनी कहलाती है। प्रश्न व्याकरण अंग प्रश्न के अनुसार नष्ट, चिन्ता लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, जीवित, मरण, जय, पराजय का भी वर्णन करता है।

विपाकसूत्र—नाम का ग्यारहवां अंग एक करोड़ चौरासी लाख पदों द्वारा पुण्य-पाप रूप विवादों का—अच्छे बुरे कर्मों के फलों का वर्णन करता है। इन समस्त ग्यारह अंगों के पदों का जोड़ चार करोड़, पन्द्रह लाख दो हजार है (४१५०२००० है।)

बारहवां अंग दृष्टि प्रवाद है। इसमें तीन सौ त्रेसठ मतों का—क्रियावादियों, अक्रियावादियों अज्ञान दृष्टियों और वैनयिक दृष्टियों का—वर्णन और निराकरण किया गया है। दृष्टिवाद के पाँच अधिकार हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्व और चूलिका। उनमें से परिकर्म के पाँच भेद हैं—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, द्वीपसमुद्रप्रज्ञप्ति, और व्याख्याप्रज्ञप्ति। चन्द्रप्रज्ञप्ति नामक परिकर्म छत्तीस लाख पाँच हजार पदों के द्वारा चन्द्रमा की आयु, परिवार, ऋद्धि, गति और चन्द्रबिम्ब की ऊँचाई आदि का वर्णन करता है। सूर्यप्रज्ञप्ति नाम का परिकर्म पाँच लाख तीन हजार पदों के द्वारा सूर्य की आयु, भोग, उपभोग, परिवार, ऋद्धि, गति, और सूर्यबिम्ब की ऊंचाई, दिन की हानि वृद्धि, किरणों का प्रमाण और प्रकाश आदि का वर्णन करता है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति नाम का परिकर्म तीन लाख पच्चीस हजार पदों के द्वारा जम्बूद्वीप की भोगभूमि और कर्मभूमि में उत्पन्न हुए अनेक प्रकार के मनुष्य और तिर्यञ्चों का तथा पर्वत, हृद, नदी, वेदिका, क्षेत्र, आवास, अकृत्रिम जिनालय आदि का वर्णन करता है। द्वीपसमुद्रप्रज्ञप्ति नाम का परिकर्म बावन लाख छत्तीस हजार पदों के द्वारा उद्धारपल्य के प्रमाण से द्वीप और समुद्रों के प्रमाण का तथा द्वीप-सागर के अन्तर्भूत अन्य अनेक बातों का वर्णन करता है। व्याख्या प्रज्ञप्ति नाम का परिकर्म चौरासी लाख छत्तीस हजार पदों के द्वारा पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य का तथा भव्य और अभव्य जीवों का वर्णन करता है।

दृष्टिवाद अग का सूत्र नाम का अर्थाधिकार अठासी लाख पदों के द्वारा जीव अबन्धक है, अवलेपक है, अकर्ता है, अभोक्ता है, निर्गुण है, व्यापक है, अणुप्रमाण है, नास्ति स्वरूप है, अस्तिस्वरूप है, पृथिवी आदि पंचभूतों से जीव उत्पन्न हुआ है, चेतना रहित है, ज्ञान के बिना भी सचेतन है, नित्य ही है, अनित्य ही है, इत्यादिरूप से क्रियावाद, अक्रियावाद अज्ञानवाद, ज्ञानवाद और वैनयिकवाद आदि तीन सौ त्रेसठ मतों का वर्णन पूर्वपक्षरूप से करता है।

प्रथमानुयोग—नाम का तीसरा अर्थाधिकार पांच हजार पदों के द्वारा चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ प्रतिनारायण के पुराणों का तथा जिनदेव विद्याधर, चक्रवर्ती, चारणऋद्धिधारी मुनि और राजा आदि के वंशों का वर्णन करता है।

चूलिका के पांच भेद हैं—जलगता, थलगता, मायागता, रूपगता, और आकाशगता। जलगता चूलिका दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ पदों के द्वारा जल में गमन तथा जल स्तम्भन के कारण भूत मंत्र-तंत्र तपश्चर्या

---

१. अनुत्तरेष्वौपपादिका अनुत्तरौपपादिका :—ऋषिदास—धन्य—सुनक्षत्र—कार्तिक—नन्द—नन्दन—शालिभद्र—अभय—वारिषेण—चिलातपुत्र इत्येते दश वर्धमानतीर्थकरतीर्थे। एवं वृषभादीनां त्रयोविंशतेस्तीर्थेष्वन्येऽन्ये च दश दशानगारा दश दश दारुणानुपसर्गान्निर्जित्य विजयाद्यनुत्तरेषूत्पन्न इत्येवमनुत्तरौपपादिकाः दशास्या वर्ण्यन्त इत्यनुत्तरौपपादिक दशा।

—तत्त्वा० वा० पृ० ७३

आदि का वर्णन करती है। थलगता चूलिका उतने ही पदों के द्वारा पृथिवी, के भीतर से गमन करने के कारणभूत मंत्र-तंत्र और तपश्चर्या का तथा वस्तुविद्या और भूमि सम्बन्धी अन्य शुभाशुभ कारणों का वर्णन करती है। मायागता चूलिका उतने ही पदों के द्वारा मायारूप इन्द्रजाल के कारणभूत मन्त्रतंत्र और तपश्चरण का वर्णन करती है। रूपगता चूलिका उतने ही पदों के द्वारा सिंह, घोड़ा, हरिण आदि का आकार धारण करने के कारणभूत मंत्र तंत्र तपश्चरण आदि का वर्णन करती है। तथा उसमें चित्रकर्म, काष्ठकर्म, लेप्यकर्म आदि का भी वर्णन रहता है। आकाशगता चूलिका उतने ही पदों के द्वारा आकाश में गमन करने के कारणभूत मंत्र तंत्र तपश्चरण आदि का वर्णन करती है। इन पांचों चूलिकाओं के पदों का जोड़ दस करोड़, उनचास लाख छयालीस हजार है। पूर्व नामक अर्थाधिकार के चौदह भेद हैं—उत्पादपूर्व, अग्रायणीपूर्व, वीर्यानुप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्याननामधेय, विद्यानुप्रवाद, कल्याणनामधेय, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकविन्दुसार।

उत्पादपूर्व एक करोड़ पदों के द्वारा जीव, काल पुद्गल आदि द्रव्यों के उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य का वर्णन करता है। अग्रायणीपूर्व छयानवे लाख पदों के द्वारा सात सौ सुनय और दुर्नयों का तथा छह द्रव्य, नौ पदार्थ और पांच अस्तिकायों का वर्णन करता है। वीर्यानुप्रवाद नाम का पूर्व—सत्तर लाख पदों के द्वारा आत्म वीर्य, परवीर्य उभयवीर्य, क्षेत्रवीर्य, कालवीर्य, भववीर्य तपवीर्य का वर्णन करता है। अस्ति नास्तिप्रवादपूर्व—साठ लाख पदों के द्वारा स्वरूप चतुष्टय की अपेक्षा सब द्रव्यों के अस्तित्व का वर्णन करता है। जैसे स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, और स्वभाव की अपेक्षा जीव कथंचित् सत्स्वरूप है। परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा जीव कथंचित् नास्ति स्वरूप है। स्वचतुष्टय और परचतुष्टय की एक साथ विवक्षा होने पर जीव कथंचित् अवक्तव्य स्वरूप है। स्वद्रव्यादिचतुष्टय और परद्रव्यादिचतुष्टय की क्रम से विवक्षा होने पर जीव कथंचित् अस्ति नास्तिरूप है। इसी तरह अन्य अजीवादि का भी कथन कर लेना चाहिये।

ज्ञान प्रवादपूर्व—एक कम एक करोड़ पदों के द्वारा मतिज्ञान आदि पांच ज्ञानों का तथा कुमति ज्ञान आदि तीन अज्ञानों का वर्णन करता हैं। सत्यप्रवाद नाम का पूर्व एक करोड़ छह पदों के द्वारा दस प्रकार के सत्य वचन अनेक प्रकार के असत्य वचन, और बारह प्रकार की भाषाओं आदि का वर्णन करता है। आत्मप्रवादपूर्व छव्वीस करोड़ पदों के द्वारा जीव-विषयक दुर्नयों का निराकरण करके जीव द्रव्य की सिद्धि करता है—जीव है, उत्पाद व्यय-ध्रौव्य रूप त्रिलक्षण से युक्त है, शरीर के बराबर है, स्व-पर प्रकाशक है, सूक्ष्म है, अमूर्त है, व्यवहारनय कर्मफल का और निश्चयनय से अपने स्वरूप का भोक्ता है, व्यवहारनय से शुभाशुभकर्मो का और निश्चयनय से अपने चैतन्य भावों का कर्ता है। अनादिकाल से बन्धनबद्ध है, ज्ञान-दर्शन लक्षण वाला है, ऊर्ध्व गमन स्वभाव है, इत्यादि रूप मे जीव का वर्णन करता है। कुछ आचार्यो का मत है कि आत्मप्रवादपूर्व सब द्रव्यों के आत्मा अर्थात् स्वरूप का कथन करता है।

कर्म प्रवादपूर्व—एक करोड़ अस्सी लाख पदों के द्वारा आठों कर्मो का वर्णन करता है। प्रत्याख्यानपूर्व चौरासी लाख पदों के द्वारा प्रत्याख्यान अर्थात् सावद्य वस्तु त्याग का, उपवास की विधि और उसकी भावना रूप पाँचसमिति तीन गुप्ति आदि का वर्णन करता है। विद्यानुप्रवाद पूर्व एक करोड़ दशलाख पदों के द्वारा सात सौ अल्प विद्याओं का, पाँच सौ महाविद्याओं का और उन विद्याओं की साधक विधि का और उनके फल का एवं आकाश, भौम, अंग, स्वर स्वप्न, लक्षण, व्यंजन, चिह्न इन आठ महानिमित्तों का वर्णन करता है।

कल्याणवाद पूर्व छव्वीस करोड़ पदों के द्वारा सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह नक्षत्र और तारागणों के चार क्षेत्र, उपपाद स्थान, गति, विपरीत गति और उनके फलों का तथा तीर्थङ्कर, बलदेव, वासुदेव और चक्रवर्ती आदि के गर्भावतार आदि कल्याणकों का वर्णन करता है। प्राणावाय पूर्व तेरह करोड़ पदों के द्वारा अष्टांग आयुर्वेद, भूतिकर्म (शरीर आदि की रक्षा के लिये किये गए भस्मलेपन, सूत्रबन्धन आदि कर्म) जांगुलि प्रथम (विषविद्या) और स्वासोच्छ्वास के भेदों का विस्तार से वर्णन करता है।

क्रियाविशाल पूर्व नौ करोड़ पदों के द्वारा बहत्तर कलाओं का, स्त्री सम्बन्धी चौंसठ गुणों का, शिल्पकला का, काव्य-सम्बन्धी गुण-दोष का और छन्दशास्त्र का वर्णन करता है। लोक बिन्दुसार पूर्व बारह करोड़ पचास लाख

पदों के द्वारा आठ प्रकार के व्यवहारों का, चार प्रकार के बीजों का, मोक्ष को ले जाने वाली क्रिया का और मोक्ष के सुखों का वर्णन करता है।

अङ्ग बाह्यश्रुत

अंगबाह्य श्रुतज्ञान के चौदह भेद हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प व्यवहार, कल्प्याकल्प्य, महाकल्प्य, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिद्धिका।

सामायिक नाम का अङ्ग बाह्य, नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छह भेदों के द्वारा समता-भाव के विधान का वर्णन करता है। चतुर्विंशतिस्तव—उस काल सम्बन्धी चौबीस तीर्थंकरों की वन्दना का विधान और उसके फल का वर्णन करता है। वन्दना नाम का अङ्गबाह्य एक-तीर्थंकर और उस एक तीर्थंकर के जिनालय सम्बन्धी वन्दना का निर्दोष रूप से वर्णन करता है। जिसके द्वारा प्रमाद से लगे हुए दोषों का निराकरण किया जाता है उसे प्रतिक्रमण कहते हैं। वह दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, ईर्यापथिक और औत्तमार्थिक के भेद से सात प्रकार का है। प्रतिक्रमण नाम का अङ्ग बाह्य दुषमादिकाल और छह संहननों में से किसी एक संहनन से युक्त स्थिर तथा अस्थिर स्वभाव वाले पुरुषों का आश्रय लेकर इन सात प्रकार के प्रतिक्रमणों का वर्णन करता है। वैनयिक नामक अंग बाह्य ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, तप विनय और उपचार विनय इन पांच प्रकार विनयों का वर्णन करता है।

कृतिकर्म—नामक अंग बाह्य, अरहंत, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय और साधु की पूजा विधि का कथन करता है। दश वैकालिक अनग साधुओं के आचार और भिक्षाटन का वर्णन करता है। उत्तराध्ययन चार प्रकार के उपसर्ग और बाईस परीषहों के सहने के विधान का और उनके सहन करने के फल का तथा इस प्रश्न का यह उत्तर होता है इसका वर्णन करता है। ऋषियों के करने योग्य जो व्यवहार हैं उनके स्खलित हो जाने पर जो प्रायश्चित्त होता है उन सबका वर्णन कल्प व्यवहार करता है। साधुओं के और असाधुओं के जो व्यवहार करने योग्य हैं और जो व्यवहार करने योग्य नही हैं—अकरणीय हैं। उन सब का द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय लेकर कल्प्याकल्प्य कथन करता है। दीक्षा ग्रहण, शिक्षा, आत्म संस्कार, सल्लेखना और उत्तम स्थापना रूप आराधना को प्राप्त हुए साधुओं के जो करने योग्य है, उसका द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय लेकर महाकल्प्य कथन करता है। पुण्डरीक अग बाह्य भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, कल्पवासी, और वैमानिक सम्बन्धी देव, इन्द्र, सामानिक, आदि में उत्पत्ति के कारण भूत दान, पूजा, शील, तप, उपवास, सम्यक्त्व और अकाम निर्जरा का तथा उनके उपपाद स्थान और भवनों का वर्णन करता है। महापुण्डरीक उन्ही भवनवासी आदि देवों और देवियों में उत्पत्ति के कारणभूत तप और उपवास आदि का वर्णन करता है। निषिद्धिका—अनेक प्रकार की प्रायश्चित्त विधि का वर्णन करता है।

भगवान महावीर के मोक्ष जाने के बाद तीन अनुबद्ध केवली और पांच श्रुत केवली हुए हैं। इनमें भद्र बाहु अन्तिम श्रुत केवली थे। उस समय तक यह अंगश्रुत अपने मूलरूप में चला आया है। इसके पश्चात् बुद्धि बल और धारणा शक्ति के क्षीण होते जाने से तथा अंग श्रुत को पुस्तकारूढ़ किये जाने की परिपाटी न होने से क्रमशः वह विच्छिन्न होता गया। इस इरह एक ओर जहाँ अग श्रुत का अभाव होता जा रहा था, वहाँ दूसरी ओर श्रुत परम्परा को अवच्छिन्न बनाये रखने के लिये और उसका सीधा सम्बन्ध भगवान महावीर की वाणी से बनाये रखने के लिए भी प्रयत्न होते रहे हैं। अंग श्रुत के बाद दूसरा स्थान अंग बाह्य श्रुत को मिलता है। इनके भेदों का संक्षिप्त परिचय पहले लिख आये हैं।

पांच श्रुत केवली

१. विष्णुनन्दि (प्रथम श्रुत केवली)

जम्बूस्वामी ने केवली होने से पहले विष्णुनन्दि आदि आचार्यो को द्वादशांग का व्याख्यान किया। और केवली होकर अड़तीस वर्ष पर्यन्त जिन शासन का उद्योत किया। अन्तिम केवली जम्बू स्वामी के निर्वाण प्राप्त करने पर सकल सिद्धान्त के ज्ञाता विष्णु आचार्य हुए। जो चतुर्दश पूर्वधारी और प्रथम श्रुत केवली थे। तप के अनुष्ठान से जिनका शरीर कृश हो गया था। और क्रोध, मान, माया और लोभादि चारों कषाएँ जिनकी उपसमित हो गई थी। जो ज्ञान-ध्यान और तप में निष्ठ रहते हुए भी संघ का निर्वहन करते थे। आप में संघ के संचालन की अपूर्व शक्ति थी। आपके तप और तेज का प्रभाव भी उसमें सहायक था। आपकी निर्मलता और सौम्यतादि गुण स्पर्धा की वस्तु थे। साधुओं के निग्रह-अनुग्रह में प्रवीण, कठोर तपस्वी थे। संघस्थ मुनियों पर आपका प्रभाव उन्हें अपने कर्तव्य से विचलित नहीं होने देता था। आपकी प्रशान्त मुद्रा और हंस मुख साधु संघ पर अपना प्रभाव अंकित किये हुए था। आपने बीस वर्ष तक विभिन्न देशों में ससंघ विहार कर धर्मोपदेश द्वारा जगत का कल्याण किया। और अन्त में नन्दिमित्र को द्वादशांगश्रुत और संघ का सब भार समर्पण कर देव लोक प्राप्त किया[1]।

२. नन्दिमित्र—(द्वितीय श्रुत केवली)

महामुनि नन्दिमित्र कठोर तपश्चरण द्वारा आत्म-साधना में संलग्न रहते थे। ध्यान और अध्ययन दोनों कार्यो में अपना समय व्यतीत करते थे। वे समागत उपसर्ग और परिषहों से नहीं घबराते थे। प्रत्युत अपने आत्म-ध्यान में अत्यन्त संलग्न हो जाते थे। संघ में वे अपने सौम्यादि गुणों के कारण महत्ता को प्राप्त थे।

आचार्य विष्णुनन्दि के दिवगत होने से पूर्व द्वादशांग का व्याख्यान नन्दिमित्र को किया था और संघ का कुल भार आपको सौंप दिया था। नन्दिमित्र चतुर्दश पूर्वधर श्रुतकेवली हुए। आपने २० वर्ष तक संघ सहित विविध देशों तथा नगरों मे विहार कर वीर शासन का प्रचार किया। और जनता को धर्मोपदेश द्वारा कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया। अन्त में आपने अपना संघ भार अपराजिताचार्य को सौंपकर देव लोक प्राप्त किया।

३. आचार्य अपराजित (तृतीय श्रुत केवली)

आचार्य अपराजित ने तपश्चरण द्वारा जो आत्म-शोधन किया, उससे कषायमल का उपशम हो गया। आपकी सौम्य प्रकृति और मिष्ट संभाषण संघ में अपनी खासविशेषता, रखता था। ध्यान, अध्ययन और अध्यापन ही आप के सम्बल थे। यद्यपि आप शरीर से दुर्बल थे, किन्तु आत्मबल बढ़ा हुआ था। वे पंच आचारों का स्वयं आचरण करते थे, और अन्य साधुओं से कराते थे। निग्रह और अनुग्रह में चतुर थे। नन्दिमित्राचार्य ने देवलोक प्राप्त करने से पूर्व ही संघ का सब भार अपराजित को सौंप दिया था। पश्चात् वे दिवंगत हुए। आचार्य अपराजित वाद करने में अत्यन्त निपुण थे, कोई उनसे विजय नहीं पा सकता था। अतएव वे सार्थक नाम के धारक थे। और द्वादशांग के वेत्ता श्रुत केवली थे। संघ का सब भार वहन करते हुए उन्होंने संघ सहित विविध देशों, नगरों, और ग्रामों में विहार कर धर्मोपदेश द्वारा जनता का कल्याण और वीर शासन के प्रचार एवं प्रसार में अपना पूर्ण सहयोग प्रदान किया। अन्त में आपने अपना सब संघ भार गोवर्द्धनाचार्य को सौंप कर दिवगत हुए।

४. गोवर्द्धनाचार्य (चतुर्दश पूर्वधर) चतुर्थश्रुतकेवली

यह अपराजित श्रुतकेवली के शिष्य थे। अन्तर्बाह्य ग्रन्थि के परित्यागी, महातपस्वी और चतुर्दश पूर्वधर, तथा अष्टांग महा निमित्त के वेत्ता थे। वे एक समय ससंघ विहार करते हुए ऊर्जयन्तगिरि या रैवतक पर्वत के

१. विण्णु आइरियो सयल सिद्धंतिओ उवसमिय चउकसाओ णंदिमित्ताइरियस्स समप्पिय दुवालसंगो देवलोअं गदो।
—जय धवला पु० १ पृ० ८५

भगवान नेमिनाथ जिनकी स्तुति वंदनादि कर विहार करते हुए देवकोट्ट नगर में आए। जो पोड्रवर्धन देश में स्थित था। वहां उन्होंने मार्ग में कुछ बालकों को गोलियों से खेलते हुए देखा, उन बालकों में एक बालक तेजस्वी और प्रखर बुद्धि का था। उसने एक के ऊपर एक इस तरह चौदह गोलियां चढ़ा दी, उसे देख आचार्य श्री ने निमित्त ज्ञान से जान लिया कि यही बालक चतुर्दश पूर्वधर (अन्तिम श्रुतकेवली) होगा[1]। उन्होंने उसका नाम और पिता का नामादि पूछा, बालक ने अपना नाम भद्रबाहु और पिता का नाम सोमशर्मा बतलाया। आचार्य श्री ने पूछा, वत्स, तुम हमें अपने पिता के घर ले जा सकते हो, वह बालक तत्काल उन्हें अपने घर ले गया। सोमशर्मा ने आचार्य महाराज को देखकर विनय से नमस्कार कर उच्चासन पर बैठाया। आचार्य श्री ने कहा कि तुम अपने इस पुत्र को मुझे विद्या पढ़ाने के लिए दे दीजिए। सोम शर्मा ने उनकी बात स्वीकार कर बालक को आचार्य श्री के साथ भेज दिया। गोवर्द्धनाचार्य ने भद्रबाहु को अनेक विद्याएं सिखाई। और उसे निपुण विद्वान बना दिया। और कहा कि अब तुम विद्वान हो गए हो। अपने माता-पिता के पास जाओ। भद्रबाहु अपने पिता के पास गया, उसे विद्वान देखकर वे हर्षित हुए। भद्रबाहु उनको आज्ञा लेकर पुनः संघ में आ गया। और गुरु महाराज से दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर तपश्चरण करना प्रारम्भ किया। आचार्य श्री ने भद्रबाहु को द्वादशांग का वेत्ता श्रुतकेवली बना दिया। और संघ का सब भार भद्रबाहु को सौंप दिया। गोवर्द्धनाचार्य ने स्वयं आत्म-साधना करते हुए अन्त में समाधि पूर्वक देवलोक प्राप्त किया[2]।

भद्रबाहु श्रुतकेवली के स्वर्गवास के पश्चात् भरतक्षेत्र में श्रुतज्ञान रूप पूर्णचन्द्र अस्तमित हो गया। किन्तु उस समय ग्यारह अंगों और विद्यानुवाद पर्यन्त दृष्टिवाद अंग के भी धारक विशाखाचार्य हुए। उनके बाद कालदोष से आगे के चार पूर्वों के धारक भी व्युच्छिन्न हो गए।

प्रस्तुत विशाखाचार्य आचार आदि ग्यारह अंगों के और उत्पादपूर्वादि दश पूर्वों के धारक हुए। तथा प्रत्याख्यान प्राणवाय, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार इन चार पूर्वों के एक देश धारक हुए[1]। इन्हीं की अध्यक्षता बारह हजार मुनियों का संघ भद्रबाहु के निर्देश से पाण्ड्यादि देश की ओर गया था। और बारह वर्ष बाद दुर्भिक्ष की समाप्ति के बाद पुनः वापिस आ गया था।

५. भद्रबाहु पंचम श्रुतकेवली—

अन्तिम केवली जम्बू स्वामी के निर्वाण के बाद दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों की गुर्वावलियां भिन्न-भिन्न हो जाती है। किन्तु श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय वे गंगा-यमुना के समान पुनः मिल जाती हैं। तथा भद्रबाहु श्रुतकेवली के स्वर्गवास के पश्चात् जैन परम्परा स्थायी रूप से दो विभिन्न श्रोतों में प्रवाहित होने लगती है। अतएव भद्रबाहु श्रुतकेवली दोनों ही परम्पराओं में मान्य हैं।

१ गोवर्धनश्चत रोऽस्मावा चतुर्दशपूर्विणाम्।
निर्मलीकृतसर्वाशो ज्ञानचन्द्रकरोत्करैः॥ ९
ऊर्जयन्त गिरिं नेमि स्तोतुकामो महातपाः।
विहरन् त्वावि सप्राप कोटीनगर मुद्ध्वजम्। १०
भद्रबाहुकुमार च स दृष्ट्वा नगरे पुनः।
उपर्युपरि कुर्वाण तांश्चतुर्दशवट्टकान्॥ ११
पूर्वोक्तपूर्विणा मध्ये पञ्चमः श्रुतकेवली।
समस्तपूर्वधारी च नानर्द्धिगणभाजनः॥१२॥ हरिषेण कथा० पृ० ३१७

२ नाना विध तपः कृत्वा गोवर्धनगुरुस्तदा। सुरलोक जगामाशु देवीगीत मनोहरम्॥२२
हरिषेण कथा० पृ० ३१७

१ गावरि विसाहाइरियो तक्काले आयारादीण मेक्कारसण्हमगाणमुप्पायपुव्वाईण दसण्हं पुवाण च पच्चक्खाण-पाणवाय-किरिया विशाल लोगबिदुसार पुव्वाणमेगदेमाण च धारओ जादो। जयधवला पु० १ प० ८५

भद्रबाहुरग्रिमः समग्रबुद्धिसम्पदा,
सु शब्द सिद्धशासनं सुशब्द-बन्ध-सुन्दरम् ।
इद्ध-वृत्त-सिद्धिरन्नबद्ध कर्मभित्तपो,
वृद्धि-र्वधन-प्रकीर्तिरुद्दधे महर्धिक : ।।
यो भद्रबाहु श्रुतकेवलीनां मुनीश्वराणामिह पश्चिमोऽपि ।
अपश्चिमोऽभूद्विदुषां विनेता, सर्वश्रुतार्थप्रतिपादनेन ।।

श्रवण बेलगोल शिला० १०८

पुण्ड्रवर्धन देश में देवकोट्ट नाम का एक नगर था, जिसका प्राचीन नाम 'कोटिपुर' था। इस नगर में सोम शर्मा नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी का नाम सोमश्री था, उससे भद्रबाहु का जन्म हुआ था। बालक स्वभाव से ही होनहार और कुशाग्रबुद्धि था। उसका क्षयोपशम और धारणा शक्ति प्रबल थी। आकृति सौम्य और सुन्दर थी। वाणी मधुर और स्पष्ट थी। एक दिन वह बालक नगर के बाहर अन्य बालकों के साथ गंटुओं (गोलियों) से खेल रहा था। खेलते-खेलते उसने चौदह गोलियों को एक पर एक पंक्तिबद्ध खड़ा कर दिया। ऊर्जयन्तगिरि (गिरनार) के भगवान नेमिनाथ की यात्रा से वापिस आते हुए चतुर्थ श्रुतकेवली गोवर्धन स्वामी संघ सहित कोटि ग्राम पहुंचे। उन्होंने बालक भद्रबाहु को देखकर जान लिया कि यही बालक थोड़े दिनों में अन्तिम श्रुतकेवली और घोर तपस्वी होगा। अतः उन्होंने उस बालक से पूछा कि तुम्हारा क्या नाम है, और तुम किसके पुत्र हो। तब भद्रबाहु ने कहा कि मैं सोमशर्मा का पुत्र हूं। और मेरा नाम भद्रबाहु है। आचार्य श्री ने कहा, क्या तुम चलकर अपने पिता का घर बतला सकते हो? बालक तत्काल आचार्य श्री को अपने पिता के घर ले गया। आचार्यश्री को देखकर सोम शर्मा ने भक्ति पूर्वक उनकी वन्दना की। और बैठने के लिए उच्चासन दिया। आचार्य श्री ने सोम शर्मा से कहा कि आप अपना बालक हमारे साथ पढ़ने के लिए भेज दीजिए। सोम शर्मा ने आचार्यश्री से निवेदन किया कि बालक को आप खुशी से ले जाइए। और पढाइए। माता-पिता की आज्ञा से आचार्यश्री ने बालक को अपने संरक्षण में ले लिया। और उसे सर्व विद्यायें पढाई। कुछ ही वर्षों में भद्रबाहु सब विद्याओं में निष्णात हो गया। तब गोवर्द्धनाचार्य ने उसे अपने माता-पिता के पास भेज दिया। माता-पिता उसे सर्व विद्या सम्पन्न देखकर अत्यन्त हर्षित हुए। भद्रबाहु ने माता-पिता से दीक्षा लेने की अनुमति मागी, और वह माता-पिता की आज्ञा लेकर अपने गुरु के पास वापिस आ गया। निष्णात बुद्धि भद्रबाहु ने महा वैराग्य सम्पन्न होकर यथा समय जिन दीक्षा ले ली। और दिगम्बर साधु बनकर आत्म-साधना में तत्पर हो गया।

एक दिन योगी भद्रबाहु प्रात काल कायोत्सर्ग में लीन थे कि भक्तिवश देव असुर और मनुष्यों से पूजित हुए। गोवर्द्धनाचार्य ने उन्हे अपने पट्ट पर प्रतिष्ठित कर, संघ का सब भार भद्रबाहु को सौप कर निःशल्य हो गए। और कुछ समय बाद गोवर्द्धन स्वामी का स्वर्गवास हो गया। गुरु के स्वर्गवास के पश्चात् भद्रबाहु सिद्धि सम्पन्न मुनि पुगव हुए। कठोर तपस्वी और आत्म-ध्यानी हुए। और सघ का सब भार वहन करने में निपुण थे। वे चतुर्दश पूर्वधर और अष्टाग महानिमित्त के पारगामी श्रुतकेवली थे। अपने सघ के साथ उन्होंने अनेक देशों में विहार धर्मोपदेश द्वारा जनता का महान् कल्याण किया।

भद्रबाहु श्रुतकेवली यत्र-तत्र देशों में अपने विशाल संघ के साथ विहार करते हुए उज्जैन पधारे, और सिप्रा नदी के किनारे उपवन मे टहरे। वहा सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने उनकी वन्दना की, जो उस समय प्रातीय उप राजधानी मे ठहरा हुआ था! एक दिन भद्रबाहु आहार के लिए नगरी में गए। वे एक मकान के आगन में प्रविष्ठ हुए। जिसमें कोई मनुष्य नही था; किन्तु पालना में झूलते हुए एक बालक ने कहा, मुने! तुम यहा से शीघ्र चले जाओ, चले जाओ। तब भद्रबाहु ने अपने निमित्तज्ञान से जाना कि यहा बारह वर्ष का भारी दुर्भिक्ष पड़ने वाला है। बारह वर्ष तक वर्षा न होने से अन्नादि उत्पन्न न होंगे। और धन-धान्य से समृद्ध यह देश शून्य हो जाएगा और भूख के कारण मनुष्य-मनुष्य को खा जाएगा। यह देश राजा, मनुष्य और तस्करादि से विहीन हो जाएगा। ऐसा जानकर आहार लिए बिना लौट आए और जिन मदिर में आकर आवश्यक क्रियाएं सम्पन्न की। और अप-

राण्ह काल में समस्त संघ में घोषणा की कि यहाँ बारह वर्ष का घोर दुर्भिक्ष होने वाला है। अतः सब संघ को समुद्र के समीप दक्षिण देश में जाना चाहिए।

सम्राट् चन्द्रगुप्त ने रात्रि में सोते हुए सोलह स्वप्न देखे। वह आचार्य भद्रबाहु से उनका फल पूछने और धर्मोपदेश सुनने के लिये उनके पास आया और उन्हें नमस्कार कर उनसे धर्मोपदेश सुना, अपने स्वप्नों का फल पूछा। तब उन्होंने बतलाया कि तुम्हारे स्वप्नों का फल अनिष्ट संसूचक है। यहाँ बारह वर्ष का घोर दुर्भिक्ष पड़ने वाला है, उससे जन-धन की बड़ी हानि होगी। चन्द्रगुप्त ने यह सुनकर और पुत्र को राज्य देकर भद्रबाहु से जिन-दीक्षा ले ली [1]। जैसा कि तिलोयपण्णत्ती की निम्न गाथा से स्पष्ट है —

मउडधरेसु चरिमो जिणदिक्खं धरदि चन्द्रगुत्तो य।
तत्तो मउडधरादुं पव्वज्जं णेव गेण्हंति॥ —तिलो० प० ४-१४८१

भद्रबाहु वहाँ से ससंघ चलकर श्रवणबेलगोल तक आये। भद्रबाहु ने कहा—मेरा आयुष्य अल्प है, अतः मैं यहीं रहूँगा, और संघ को निर्देश दिया कि वह विशाखाचार्य के नेतृत्व में आगे चला जाये। भद्रबाहु श्रुतकेवली होने के साथ अष्टांग महानिमित्त के भी पारगामी थे, उन्हें दक्षिण देश में जैनधर्म के प्रचार की बात ज्ञात थी, तभी उन्होंने बारह हजार साधुओं के विशाल संघ को दक्षिण की ओर जाने की अनुमति दी।

भद्रबाहु ने सब संघ को दक्षिण के पाण्ड्यादि देशों की ओर भेजा, क्योंकि उन्हें विश्वास था कि वहाँ जैन साधुओं के आचार का पूर्ण निर्वाह हो जायगा। उस समय दक्षिण भारत में जैनधर्म पहले से प्रचलित था। यदि जैनधर्म का प्रसार वहाँ न होता, तो इतने बड़े संघ का निर्वाह वहाँ किसी तरह भी नहीं हो सकता था। इससे स्पष्ट है कि वहाँ जैनधर्म प्रचलित था। लंका में भी ईसवी पूर्व चतुर्थ शताब्दी में जैनधर्म का प्रचार था, और संघस्थ साधुओं ने भी वहाँ जैनधर्म का प्रचार किया। तमिल प्रदेश के प्राचीनतम शिलालेख मदुरा और रामनाड जिले से प्राप्त हुए हैं जो अशोक के स्तम्भों में उत्कीर्ण लिपि में है। उनका काल ई० पूर्व तीसरी शताब्दी का अन्त और दूसरी शताब्दी का प्रारंभ माना गया है। उनका सावधानी से अवलोकन करने पर 'पल्ली', 'मदुराई' जैसे कुछ तमिल शब्द पहचानने में आते हैं। उस पर विद्वानों के दो मत हैं। प्रथम के अनुसार उन शिलालेखों की भाषा तमिल है, जो अपने प्राचीनतम अविकसित रूपों में पाई जाती है। और दूसरे मत के अनुसार उनकी भाषा पैशाची प्राकृत है जो पाण्ड्य देश में प्रचलित थी। जिन स्थानों से उक्त शिला लेख प्राप्त हुए है, उनके निकट जैन मन्दिरों के भग्नावशेष और जैन तीर्थकरों की मूर्तियाँ पाई जाती हैं, जिन पर सर्प का फण या तीन छत्र अंकित हैं।[2]

बौद्ध ग्रन्थ[3] महावंश की रचना लंका के राजा धंतुमेणु (४६१-४७६ ई०) के समय हुई थी। उसमें ५४३ ई० पूर्व से लेकर ३०१ ई० के काल का वर्णन है। ४३० ई० पूर्व के लगभग पाण्डुगाभय राजा के राज्यकाल में अनुराधापुर में राजधानी परिवर्तित हुई थी। महावंश में इस नगर की अनेक नई इमारतों का वर्णन है। उनमें से एक इमारत निर्ग्रन्थों के लिये थी, उसका नाम गिरि था और उसमें बहुत से निर्ग्रन्थ रहते थे। राजा ने निर्ग्रन्थों के लिये एक मन्दिर भी बनवाया था। इससे स्पष्ट है कि लंका में ईसा पूर्व ५वीं शती के लगभग जैनधर्म का प्रवेश हुआ होगा।

---

१. भद्रबाहुवचः श्रुत्वा चन्द्रगुप्तो नरेश्वरः।
अस्यैव योगिनः पार्श्वे दधौ जैनेश्वरं तपः॥
चन्द्रगुप्तमुनिः शीघ्रं प्रथमो दशपूर्विणाम्।
सर्वसंघाधिपो जातो विसपाचार्य संज्ञकः॥— हरिषेण कथाकोश १३१
(क) - चरिमो मउड धरीमो णरवइणा चन्द्रगुत्तणामाए।
पचमहव्वयगहिया अवरि रिक्खा (य) वोच्छिण्णा॥ श्रुतस्कन्ध ब्र० हेमचन्द्र
(ख)—तदीयशिष्योऽजनि चन्द्रगुप्तः समग्रशीलानतदेववृद्धः।
विवेश यस्तीव्रतपः प्रभाव-प्रभूत-कीर्तिर्भुवनान्तराणि॥६ — श्रवणवेलगोल शि० १ पृ० २१०

२. स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिज्म पृ० ३२ आदि

३. देखें, जैनिज्म इन साउथ इण्डिया, पृ० ३१

भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त वहीं रह गए। चन्द्रगिरि पर्वत के शिलालेख से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त का दीक्षा नाम 'प्रभाचन्द्र' था, वे भद्रबाहु के साथ कटवप्र पर ठहर गए, और उन्होंने वहीं समाधिमरण किया। भद्रबाहु की समाधि का भगवती आराधना की निम्न गाथा में उल्लेख है—

ओमोदरिये घोराए भद्दबाहू य संकिलिट्ठमदी।
घोराए तिगिंच्छाए पडिवण्णो उत्तमं ठाणं॥ १५४४

इस गाथा मे बतलाया गया है कि भद्रबाहु ने अवमोदर्य द्वारा न्यून भोजन की घोर वेदना सहकर उत्तमार्थ की प्राप्ति की। चन्द्रगुप्त ने अपने गुरु की खूब सेवा की। भद्रबाहु के दिवगत होने के बाद श्रुतकेवली का अभाव हो गया[1], क्योंकि वे अन्तिम श्रुतकेवली थे।

दिगम्बर परम्परा में भद्रबाहु के जन्मादि का परिचय हरिषेण कथाकोष, श्रीचन्द्र कथाकोष और भद्रबाहु चरित आदि में मिलता है; और भद्रबाहु के बाद उनकी शिष्य परम्परा अंग-पूर्वादि के पाठियों के साथ चलती है, जिसका परिचय आगे दिया जायगा।

श्वेताम्बर परम्परा में कल्पसूत्र, आवश्यकसूत्र, नन्दिसूत्र, ऋषिमंडलसूत्र और हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व में भद्रबाहु की जानकारी मिलती है। कल्पसूत्र की स्थविरावली में उनके चार शिष्यों का उल्लेख मिलता है। पर वे चारों ही स्वर्गवासी हो गए। अतएव भद्रबाहु की शिष्य परम्परा आगे न बढ़ सकी। किन्तु उक्त परम्परा भद्रबाहु के गुरुभाई सभूति विजय के शिष्य स्थूलभद्र से आगे बढ़ी। वहाँ स्थूलभद्र को अन्तिम श्रुतकेवली माना गया है[2]। महावीर के निर्वाण से १७०वें वर्ष में भद्रबाहु का स्वर्गवास हुआ है और स्थूलभद्र का स्वर्गवास वीर निर्वाण सं० १५७ से २५७ तक अर्थात् ईस्वी पूर्व २७० में या उसके कुछ पूर्व हुआ।

दिगम्बर परम्परा में भद्रबाहु का पट्टकाल २९ वर्ष माना जाता है। जबकि श्वेताम्बर परम्परा में पट्टकाल १४ वर्ष बतलाया है। तथा व्यवहार सूत्र, छेदसूत्रादि ग्रन्थ भद्रबाहु श्रुतकेवली द्वारा रचित कहे जाते है।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार भद्रबाहु का स्वर्गवास वीर नि० सवत् के १६२वें वर्ष अर्थात् ३६५ ई० पूर्व माना जाता है। दिगम्बर परम्परा में भद्रबाहु श्रुतकेवली द्वारा रचित साहित्य नही मिलता। इसमें आठ वर्ष का अन्तर विचारणीय है।

वीर निर्वाण के बाद की श्रुत परम्परा

तिलोयपण्णत्ती में भगवान महावीर के बाद के इतिहास की बहुत सामग्री मिलती है, उसमें से यहाँ श्रुत परंपरा दी जा रही है।

जिस दिन भगवान महावीर ने मुक्ति पद प्राप्त किया, उसी दिन गौतम गणधर को परमज्ञान (केवलज्ञान) प्राप्त हुआ। इन्द्रभूति के सिद्ध होने पर सुधर्म स्वामी केवली हुए। उनके कृत कर्मो का नाश कर चुकने पर जम्बू स्वामी केवली हुए। उनके बाद कोई अनुबद्ध केवली नहीं हुआ। इन तीनों का धर्म प्रवर्तनकाल बासठ वर्ष है।

केवलज्ञानियों में अन्तिम श्रीधर हुए, जो कुण्डलगिरि से मुक्त हुए और चारण ऋषियों में अन्तिम सुपार्श्वचन्द्र हुए। प्रज्ञा श्रमणों में अन्तिम वइर जस या वज्रयश, और अवधिज्ञानियों में अन्तिम श्रुत, विनय एवं सुशीलादि से सम्पन्न श्री नामक ऋषि हुए। मुकुटधर राजाओं में अन्तिम चन्द्रगुप्त ने जिन दीक्षा धारण की। इसके बाद मुकुटधरों में किसी ने प्रव्रज्या या दीक्षा धारण नहीं की।

नन्दि, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये पांच श्रुतकेवली द्वादश अंगों के धारण करनेवाले हुए। इनका एकत्र काल सौ वर्ष है। पंचम काल में इनके बाद में कोई श्रुतकेवली नहीं हुआ।

भद्रबाहु श्रुतकेवली के जीवन के अन्तिम समय के निर्देश से विशाखाचार्य सघस्थ साधुओं को दक्षिणापथ की ओर ले गये। और भद्रबाहु ने स्वयं भी नव दीक्षित चन्द्रगुप्त मुनि के साथ कटवप्र गिरि पर समाधि धारण की।

---

१. तदो भद्दबाहु सग्गगते सयल सुदणाणस्स वोच्छेदो जादो। —जयध० पु० १ पृ० ८५

२. सर्वपूर्वधरोऽथासीत्स्थूलभद्रो महामुनिः।
न्यवेशि चाचार्यपदे श्रीमता भद्रबाहुना॥१११॥ —परिशिष्ट पर्व, सर्ग ९, पृ० ९०

प्रस्तुत विशाखाचार्य आचारांगादि ग्यारह अंगों के तथा उत्पाद पूर्व आदि दश पूर्वों के ज्ञाता और प्रत्याख्यान पूर्व प्राणवाय, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार इन चार पूर्वों के एकदेश धारक हुए[1]। इन्ही विशाखाचार्य के आदेश व निर्देश मे बारह हजार मुनियों ने दक्षिण देश में वीर शासन का प्रचार प्रसार करते हुए पांड्य देशों में विहार किया और अपनी साधुचर्या का निर्दोष रूप मे अनुष्ठान किया।

विशाखाचार्य, प्रोष्ठिलल, क्षत्रिय, जय सेन, नाग सेन, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय, बुद्धिल्ल, गगदेव और सुधर्म (धर्मसेन) ये ग्यारह आचार्य दशपूर्व के धारी हुए। परम्परा से प्राप्त इन सबका काल १८३ वर्ष है। धर्मसेन के स्वर्ग वासी होने पर दशपूर्वों का विच्छेद हो गया।[2] किन्तु इतनी विशेषता है कि नक्षत्र, जयपाल, पाण्ड, ध्रुवसेन और कंस ये पाच आचार्य ग्यारह अ ग और चौदह पूर्वों के एकदेशधारक हुए।[3] इनका एकत्र परिमाण २२० वर्ष है। मेरी राय मे यह काल अधिक जान पड़ता है। एकादश अगधारी कसाचार्य के दिवगत हो जाने पर भरतक्षेत्र का कोई भी आचार्य ग्यारह अगधारी नही रहा। किन्तु उस काल में पुरुष परम्परा क्रम से सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य ये चार आचार्य आचारांग के धारी और शेष अग पूर्वों के एकदेश धारक हुए।[4]

संघ-भेद

भगवान महावीर के सघ की अविच्छिन्न परम्परा भद्रबाहु श्रुतकेवली के समय तक रही। इसमें किसी को भी विवाद नही है। किन्तु दिगम्बर श्वेताम्बर पट्टावलियाँ जम्बू स्वामी के समय से भिन्न भिन्न मिलती हैं। यद्यपि दिगम्बर सम्प्रदाय में श्रुत परम्परा ६८३ वर्ष तक अविच्छिन्न धारा में प्रवाहित रही है। अस्तु

श्रुत केवली भद्रबाहु अपने जीवन के अन्तिम समय में जब वे ससघ उज्जैनी में पधारे और सिप्रानदी के किनारे उपवन में ठहरे, उस समय उन्हे वहाँ वर्षादि के न होने से द्वादशवर्षीय भीषण दुर्भिक्ष के पडने का निश्चय हुआ। तब भद्रबाहु के निर्देशानुसार सघ दक्षिण के चोल पाण्ड्यादि देशों की ओर गया। चन्द्रगुप्त ने भी १६ स्वप्न देखे, जिनका फल उन्होंने भद्रबाहु से पूछा, उन स्वप्नों का फल भी शुभ नही था। अतएव चन्द्रगुप्त मौर्य भद्रबाहु से दीक्षा लेकर उन्ही के साथ दक्षिण को ओर विहार कर गए। इस दुर्भिक्ष का उल्लेख श्वेताम्बर परम्परा भी करती है और साधु सघ के समुद्र के समीप जाकर बिखर जाने की बात भी स्वीकृत करती है। भद्रबाहु सघ के साथ

---

१ विसाहाइरियो तक्काले आयारादीणं मेक्कारसण्हमगाणमुप्पायपुव्वाण दसण्ह पुव्वाण पच्चक्खाण पाणवाय किरियाविसाल लोकबिन्दुसार पुव्वाणमेगदेसाण च धारओ जादो। (जय धवला पु० १ पृ० ८५)

आ पढमो सुभद्दणामो जसभद्दो तह य होदि जसबाहू।
तुरिमो य लोहणामो एदे आयारअगधरा ॥
सेसेक्कारसगाण चोद्दसपुव्वाणमेक्कदेसधरा।
एक्कसय अट्ठारसवासजुद ताण परिमाण ॥
तेसु अदीदेसु तदा आचारधरा ण होंति भरहम्मि।
गोदममुणिपट्टदीण वासाण छस्सदाणि तेसीदी ॥ — तिलो० ४ गाथा १४९० से १४९२

२ धम्मसेणभयवते सग्ग गदे भारहवासे दसण्ह पुव्वाण वोच्छेदो जादो। णवरि णक्खत्ताइरियो जसपालो पाडु धुवसेणो कसाइरियो चेदि एदे पचजणा जहाकमेण एक्कारसगधारिणो चोदसण्ह पुव्वाणमेगदेसधारिणो जादा। एदेसि कालो वीसुत्तर वि सदवाससेत्तो २२०। ज ध० पु० १ पृ० ८३

३. पुणो एक्कारसगधारए कसाइरिए सग्ग गदे एत्थ भरहखेत्ते णत्थि कोइवि एक्कारसगधारओ।

४. देखो वही पृ० ८६ जयध० पु० १ पृ० ८६

दक्षिण को ओर चलते चलते जब वे कलवप्पू या कटवप्र गिरि पर पहुँचे, तब उन्हें अपनी आयु के अन्त समय का आभास हुआ, तब उन्होंने संघ को विशाखाचार्य के नेतृत्व में आगे जाने का निर्देश किया, और वे वहीं रह गए। चन्द्रगुप्त भी उन्हीं के साथ रहा। भद्रबाहु ने समाधि ले ली और उसी पर्वत की गुफा में समभावों से दिवंगत हुए। चन्द्रगुप्त ने जिनका दीक्षा नाम प्रभाचन्द्र लेख में उल्लिखित है, उन्होंने भद्रबाहु की वैयावृत्य की, और उनके निर्देशानुसार ही सब कार्य सम्पन्न किये। किन्तु जो साधु श्रावकों के अनुरोधवश उत्तर भारत में ही रह गए थे, उन्हें दुर्भिक्ष की भीषणपरिस्थितिवश वस्त्रादि को स्वीकार करना पड़ा, और मुनि-आचार के विरुद्ध प्रवृत्ति करनी पड़ी। यह शिथिल प्रवृत्ति ही आगे जाकर संघभेद में सहायक होती हुई श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति का कारण बनी।

जब बारह वर्ष का दुर्भिक्ष समाप्त हुआ और लोक में सुभिक्ष हो गया, तब जो संघ दक्षिण की ओर गया था, वह विशाखाचार्य के साथ दक्षिणापथ से मध्यदेश में लौटकर आया। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भद्रबाहु उस समय नैपाल की तराई में थे, और वह १२ वर्ष की तपस्या विशेष में निरत थे। महाप्राण नामक ध्यान में संलग्न थे। साधु संघ ने उन्हें पटना बुलाया, किन्तु वे नही आये, जिससे उन्हें संघ बाह्य करने की धमकी दी गई और किसी तरह उन्हें पढ़ाने के लिये राजी कर लिया गया। स्थूलभद्र ने उन्हीं से पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया।[1]

यदि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के इस कथन को सत्य मान लिया जाय तो भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय को अपनी परम्परा स्थूलभद्र से माननी होगी। दूसरे भद्रबाहु का पटना वाचना में सम्मिलित न होना, ये दोनों बातें उस समय जैन संघ में किसी बड़े भारी विस्फोट की ओर संकेत करती हैं। और भद्रबाहु के वाचना में शामिल न होने से वह समस्त जैन संघ की न होकर एकान्तिक कही जायगी। वह आचार-विचार शैथिल्य वाले उन कुछ साधुओं की होगी। अतः उसे अखिल जैन संघ का प्रतिनिधित्व प्राप्त नही हो सकता। यहाँ यह भी विचारणीय है कि जब भद्रबाहु के काल में प्रथम वाचना पटना में हुई, तब उसी समय श्रुत को पुस्तकारूढ़ कर सरक्षित क्यों नहीं किया गया? घटनाक्रम से ज्ञात होता है कि उस समय आचार-विचार शैथिल्य वाले संघ के भीतर बड़ा मत-भेद रहा होगा[2]। एक दल कहता होगा कि संघ-भेद की स्थिति में अंग साहित्य में परिवर्तन इष्ट नहीं है। यदि उस समय श्वेताम्बर अंग साहित्य संकलित कर पुस्तकारूढ़ किया जाता तो संभव है उसका वर्तमान रूप कुछ और ही होता।

दक्षिण से जब संघ लौट कर आया, तब उन्होंने यहाँ रह जाने वाले साधुओं के शिथिलाचार को देख कर बहुत दुःख व्यक्त किया, उन्हें समझाया और कहा कि आप लोगों को दुर्भिक्ष की परिस्थितिवश जो विपरीत आचरण करना पड़ा, अब उसका परित्याग कर दीजिये और प्रायश्चित्त लेकर वीर शासन के आचार का यथार्थ रूप में पालन कीजिये, जिससे जैन श्रमणों की महत्ता बराबर बनी रहे। किन्तु आचार और विचार शैथिल्य वाले उन साधुओं ने इसे स्वीकार नहीं किया; क्योंकि मध्यम मार्ग में जो सुख-सुविधा उन्हें १२ वर्ष तक दुर्भिक्ष के समय मिली, वह उन्हें कठोर मार्ग का आचरण करने में कैसे मिल सकती थी। दूसरे उस समय देश में बौद्धों के मध्यम मार्ग का प्रचार एवं प्रसार हो रहा था—वे वस्त्र-पात्रादि के साथ बौद्ध धर्म का अनुसरण कर रहे थे। उसका प्रभाव भी उन पर पड़ा होगा ऐसा लगता है। आचार और वैचारिक शिथिलता ने उन्हें मध्यम मार्ग में रहने के लिए बाध्य किया। यदि उन्हें वस्त्र-पात्रादि रखने का कदाग्रह न होता, तो वे प्रायश्चित्त लेकर अपने पूर्ववर्ती मुनि धर्म पर आरूढ़ हो जाते। पर शैथिल्य प्रवृत्ति के संयोजक स्थूलभद्र जैसे साधु उस मार्ग को कैसे स्वीकार कर सकते थे? ये दोनों ही साधन संघ-भेद-परम्परा के जनक है। आचार शैथिल्य ने साधुओं को वस्त्र और पात्र आदि रखने के लिये विवश किया और विचार शैथिल्य ने अपने अनुकूल सैद्धान्तिक विचारों में क्रान्ति लाने में सहयोग दिया। वे उसे पुष्ट करने के लिए ठोस आधार ढूढ़ने का प्रयत्न करने लगे, क्योंकि शिथिलाचार को पुष्ट करने के लिए उन्हें उसकी महती आवश्यकता थी। इसीलिए उन्होंने खूब सोच-विचार के साथ बौद्धों के अनुसरण पर पाटलिपुत्र (पटना)

---

१. देखो, परिशिष्ट पर्व सर्ग ९ श्लोक ७२ से ११० पृ० ८९

२. सचेल दल के भीतर तीव्र मतभेद की बात प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल जी भी स्वीकार करते हैं। मथुरा के बाद वलभी में पुनः श्रुत संस्कार हुआ, जिसमें स्थविर या सचेल दल का रहा सहा मतभेद भी नाम शेष हो गया।

—तत्त्वार्थ सूत्र प्रस्तावना पृ० ३०

मथुरा और वलभी में वाचनाएं कराई। जिसका उद्देश्य आगमों द्वारा वस्त्र और पात्र को पुष्ट करना रहा है। श्वेताम्बरीय वर्तमान आगम तृतीय वाचना का फल है, जो वलभी में वीरात् ९८० (सन् ४५३ ई०) में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में हुई, और उसमें विच्छिन्न होने से अवशिष्ट रहे त्रुटित-अत्रुटित, भ्रष्ट परिवर्तित और परिवर्द्धित तथा स्वमति से कल्पित आगमों को अपनी इच्छानुसार पुस्तकारूढ किया गया[1]। ये वाचनाएं बौद्ध परम्परा की संगीतियों का अनुकरण करती हैं।

पुस्तकारूढ़ किये जाने वाले आगम साहित्य में वस्त्र और पात्र रखने के जगह-जगह उल्लेख पाये जाते हैं। सचेल परम्परा की स्थिति को कायम करने के लिए ये सब उल्लेख सहायक एवं पुष्टिकारक हैं। इनमें मध्यम मार्ग की स्थिति को बल मिला है। तीर्थंकरों की दीक्षा में भी इन्द्र द्वारा 'देवदूष्य' वस्त्र देने की कल्पना की गई है, और आदिनाथ तथा अन्तिम तीर्थंकर का धर्म अचेलक बतलाते हुए भी देव दूष्य वस्त्र को कंधे पर लटकाने की कल्पना गढ़ी गई है और शेष २२ तीर्थंकरों का धर्म सचेल और अचेल बतलाया गया है[2]।

आचारांग सूत्र की टीका में आचार्य शीलांक ने अपनी ओर से अचेलता को जिनकल्प का और सचेलता को स्थविर कल्प का आधार बतलाया है। चुनांचे श्वेताम्बरीय आचारांग में यहां तक विकार आ गया है कि वहाँ पिण्ड एषणा के साथ पात्र एषणा और वस्त्र एषणा को भी जोड़ा गया है, जिससे यह साफ ध्वनित होता है कि मूल निर्ग्रन्थ आचार में द्वादश वर्षीय दुर्भिक्ष के कई शताब्दी बाद वस्त्र और पात्र एषणा की कल्पना कर उन्हें एषणा समिति के स्वरूप में जोड़ दिया है। गणधर इन्द्रभूति रचित आचारांग में इनका होना सम्भव नहीं है। मूल आचारांग की रचना इन सब कल्पनाओं से पूर्व की है, जिसमें यथाजातमुद्रा का वर्णन था।

पार्श्वनाथ की परम्परा को सचेल बतलाने के लिए केशी-गौतम संवाद की कल्पना की गई है और उसे महावीर तीर्थंकर-काल के १६वें वर्ष में बतलाया है। यहाँ यह विचारने की बात है कि निर्ग्रन्थ तीर्थंकर महावीर अपने शासन के विरुद्ध वस्त्रादि की कल्पना को अपने गणधर द्वारा कैसे मान्य कर सकते थे? फिर उस समय के साधुओं को नग्न रहने की क्या आवश्यकता थी और उस समय साधुओं को वस्त्रादि रहित निर्ग्रन्थ दीक्षा क्यों दी जाती रही। इतना ही नहीं किन्तु सवस्त्र मुक्ति, स्त्री मुक्ति और केवलिभुक्ति आदि की मान्यता सूचक कथन भी लिखे गये। और १९वें तीर्थंकर मल्लिनाथ को स्त्री तीर्थंकर बतलाया गया। 'मल्लि' शब्द के साथ नाथ शब्द का प्रयोग भी किया जाता है, जो उचित प्रतीत नहीं होता। अस्तु,

यह बात सुनिश्चित है कि मूल सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन नहीं होता—वे अपरिवर्तनीय ही होते हैं। नग्नता चूंकि मूलभूत सिद्धांत है, अतः उसमें परिवर्तन सम्भव नहीं।

इतना ही नहीं किन्तु विशेषावश्यक के कर्ता जिनदास गणि क्षमाश्रमण ने तो जिनकल्प के उच्छेद की भी घोषणा कर दी[3]। ये सब बातें वस्त्रादि की कट्टरता की सूचक हैं, और संघ-भेद की खाई को चौड़ा करने वाली हैं।

---

१ जैसा कि समय सुन्दरगणि के समाचारी शतक से स्पष्ट है —'श्रीदेवर्द्धि गणि क्षमाश्रमणेन श्रीवीरात् अशीत्यधिक नव शतकवर्षे जातेन द्वादशवर्षीयदुर्भिक्षवशात् बहुतरसाधुव्यापत्तौ च जातायां ·····भविष्यद् भव्यलोकोपकाराय श्रुत भक्तये च श्रीसंघाग्रहात् मृतावशिष्टतदाकालीन सर्वसाधून् वलभ्यामाकार्य मुखपाठात् विच्छिन्नावशिष्टान् न्यूनाधिकान् त्रुटिता-त्रुटितान् आगमालापकान् अनुक्रमेण स्वमत्या संकलय्य पुस्तकारूढान् कृता। ततो मूलतो गणधर भाषितानामपि तत्संकलनानन्तरं सर्वेषामपि आगमानां कर्ता श्रीदेवर्धिगणि क्षमाश्रमण एव जातः।" —समयसुन्दर गणि रचित सामाचारी शतके

२ आचेलक्को धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स जिणस्स।
मज्झिमगाण जिणाण होइ सचेलो अचेलो य॥ —पंचाशक

३ मणपरमोहि-पुलाए, आहारग-खवग उवसमे कप्पे॥
संजमतिय केवलि सिज्झणा य जंबुम्मि बुच्छिण्णा॥ —विशेषावश्यक भाष्य २५९३

इस घोषणा के सम्बन्ध में पं० बेचरदास जी ने लिखा है—"गाथा में लिखा है कि जम्बू के समय में दस बातें विच्छेद हो गईं। इस प्रकार का उल्लेख तो वही कर सकता है जो जम्बूस्वामी के बाद हुआ हो। यह बात मैं विचारक पाठकों से पूछता हूँ कि जम्बू स्वामी के बाद कौन-सा २५वां तीर्थंकर हुआ है जिसका वचन रूप यह उल्लेख माना जाय? यह एक नहीं किन्तु ऐसे संख्याबद्ध उल्लेख हमारे कुल गुरुओं ने पवित्र तीर्थंकरों के नाम पर चढा दिये हैं।" —जैन सा० वि० थवा थयेली हानि पृ० १०३

यहाँ एक बात अवश्य विचारणीय है और वह यह कि महावीर की बीज पद रूप वाणी को इन्द्रभूति गौतम ने द्वादशांग सूत्रों में ग्रथित किया। और उसका व्याख्यान उन्होंने सुधर्म स्वामी को किया, जो समान बुद्धि के धारक थे। द्वादशांग की यह रचना भ० महावीर के जीवन काल में और उसके बाद गणधर और साधु परम्परा में कण्ठस्थ रही, उस समय उनमें वस्त्र-पात्रादि पोषक कोई सूत्र या वाक्य नहीं थे। क्योंकि महावीर की परम्परा के सभी शिष्य-प्रशिष्यादि अन्तर्बाह्य परिग्रह के त्यागी नग्न दिगम्बर थे। वे सब उसी यथाजात मुद्रा में विहार करते थे। महावीर के निर्वाण के पश्चात् जब इन्द्रभूति केवल ज्ञानी हुए तब उन्होंने उस सब विरासत को सुधर्म स्वामी को सौंपा, जो यथा-जात मुद्रा के धारक थे। इन्द्रभूति के निर्वाण के बाद सुधर्म स्वामी केवली हुए। उन्होंने वीर शासन की उस विरासत या धरोहर को जम्बू स्वामी को सौंपा, जो दिगम्बर मुद्रा के धारक थे। और जम्बू स्वामी के केवली और निर्वाण होने पर वह विरासत ५ श्रुतकेवलियों में रही। तथा उन्होंने अन्य आचार्यों को द्वादशांग की प्ररूपणा की। चार श्रुत केवलियों तक वह विरासत अविच्छिन्न रही—उस समय में कोई भेदजनक घटना न घटी। किन्तु अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय द्वादशवर्षीय भीषण दुर्भिक्ष के कारण परिस्थितिवश उत्तर भारत में रहने वाले साधुओं को मूल परम्परा के विरुद्ध आचरण करना पड़ा, उससे उन्हें मोह हो गया, वह उन्हें सुखकर प्रतीत हुई, इसलिए सुभिक्ष होने पर भी उन्होंने छोड़ना न चाहा। जिन्होंने छोड़ दिया उन्होंने प्रायश्चित्त लेकर पूर्व श्रमण परम्परा को अपना लिया, वे साधु अवश्य धन्यवाद के पात्र हैं। किंतु अधिकांश साधुओं ने आचार-विचार की शिथिलता को जो मध्यम मार्ग की जनक थी, अपना लिया, और कदाग्रहवश उसे छोड़ना न चाहा। उन्हीं के आचार-विचार की शिथिलता से संघ भेद पनपता हुआ संघर्ष का कारण बना। इस तरह महावीर का निर्मल शासन दो भेदों में विभाजित हुआ। उसके बाद साधु परम्परा में बराबर शिथिलता बढ़ती ही रही और आज उसकी भीषणता पहले से भी अधिक बढ़ गयी है। दिगम्बर-श्वेताम्बर संघ में भी अनेक संघ गण-गच्छादि के कारण अनेक संघ बनते-बिगड़ते रहे। आज भी इन दोनों सम्प्रदायों में संघ-गण-गच्छादि की विभिन्नता कटुता का कारण बनी हुई है। और उसके कारण सम्प्रदायों में वात्सल्य का भी अभाव हो गया है। अपने-अपने संघ के विभिन्न गण-गच्छादि में भी वैसा वात्सल्य दृष्टि-गोचर नहीं होता। इसमें कलिकाल के स्वभाव के साथ कलुषाशय वाले व्यक्तियों का सद्भाव भी एक कारण है।

जैनसङ्घ-परिचय

इन्द्रनन्दि के श्रुतावतारानुसार पुण्ड्रवर्धन पुरवासी आचार्य अर्हद्वली प्रत्येक पांच वर्षो के अन्त में सौ योजन में बसने वाले मुनियों को युग प्रतिक्रमण के लिए बुलाते थे। एक समय उन्होंने ऐसे प्रतिक्रमण के अवसर पर समागत मुनियों से पूछा—क्या सब आ गए[1]। मुनियों ने उत्तर दिया—हां, हम सब अपने संघ के साथ आ गये। इस उत्तर को सुनकर उन्हें लगा कि जैनधर्म अब गण पक्षपात के साथ ही रह सकेगा। अतः उन्होंने संघों की रचना की। जो मुनि गुफा से आये थे उनमें से किसी को 'नन्दि' नाम दिया, और उनको 'वीर' जो अशोकवाट से आये थे। उनमें से कुछ को 'अपराजित' और कुछ को 'देव' नाम दिया। जो पंचस्तूप निवास से आये थे उनमें से कुछ को 'सेन' नाम दिया और कुछ को 'भद्र'। जो शाल्मलि वृक्ष मूल से आये थे, उनमें से किन्हीं को 'गुणधर' और किन्हीं को 'गुप्त'। जो खण्डकेसरवृक्ष के मूल से आये थे उनमें से कुछ को 'सिंह' नाम दिया और किन्हीं को 'चन्द्र'। इन्द्रनन्दि ने अपने इस कथन की पुष्टि में एक प्राचीन गाथा भी उद्धृत की है :—

> **"आयातौ नन्दिवीरौ प्रकटगिरिगुहावासतोऽशोकवाटा-**
> **द्देवाश्चान्योऽपरादिर्जित इति यतयो सेन-भद्राह्वयौ च।**
> **पञ्चस्तूप्यात्सगुप्तौ गुणधरवृषभः शाल्मलीवृक्षमूलात्,**
> **निर्यातौ सिंहचन्द्रौ प्रथितगुणगणौ केसरात्खण्डपूर्वात्॥ ९६**

आचार्य देवसेन ने दर्शनसार में श्वेताम्बर, यापनीय, द्रविड़, काष्ठा संघ, और माथुर संघ इन पांचों संघों को जैनाभास बतलाया है[2]।

---

१. देखो, इन्द्रनन्दि श्रुतावतार श्लोक ९१ से ९५ तक

२. दर्शनसार

भट्टारक इन्द्रनन्दि ने अपने नीतिसार मे अर्हद्बली आचार्य द्वारा सघ निर्माण का उल्लेख किया है। उन मघो के नाम सिह, सघ, नन्दि सघ, सेन मघ और देव सघ बतलाये है[1]। और यह भी लिखा है कि इनमें काई भेद नही है। इसमे भी निम्न मघो को जैनाभास बतलाया है। उनकी सख्या पाच है—गोपुच्छिक, श्वेताम्बर, द्रविड़, यापनीय और नि· पिच्छ। इन्द्रनन्दि ने कही भी काष्ठासघ को जैनाभास नही बतलाया।

भगवान महावीर का सघ, जो उनके समय और उनके बाद निर्ग्रन्थ महाश्रमण सघ के रूप मे प्रसिद्ध था, भद्रबाहु श्रुतकेवली के समय दक्षिण भारत मे गया था। वह निर्ग्रन्थ महाश्रमण सघ ही था। वह निर्ग्रन्थ संघ ही बाद मे मूल सघ के नाम से लोक मे प्रसिद्ध हुआ। इसी महाश्रमण सघ का दूसरा भेद श्वेताम्बर महाश्रमण सघ के नाम से ख्यात हुआ।

कुछ समय बाद यही निर्ग्रन्थ मूल सघ विचार-भेद के कारण अनेक अतर्भेदो मे विभक्त हो गया। यापनीय सघ, कूर्चकसघ, द्रविडसघ, काष्ठासघ और माथुरसघ आदि के नामो से विभक्त होता गया, और गण-गच्छ भेद भी अनेक होते गये। किन्तु मूल सघ इन विषम परिस्थितियो मे भी अपने अस्तित्व का कायम रखते हुए, और राज्यादि के सरक्षण के अभाव मे, तथा शैवादि मतो के आक्रमण आदि के समय भी अपने अस्तित्व के रखने मे समर्थ रहा है। अन्तर्भेद केवल निर्ग्रन्थ महाश्रमण सघ मे ही नही हुए, किन्तु श्वेतपट महाश्रमण सघ भी अपने अनेक अन्तर्भेदो में विभक्त हुआ विद्यमान है। वीर शासन सघ के दो भेदो मे विभक्त होने के समय जो स्थिति बनी वह अपने अन्तर्भेदो के कारण और भी दुर्बल हो गया, किन्तु अपनी मूल स्थिति को कायम रखने मे समर्थ रहा।

मूलसंघ

मूल सघ कब कायम हुआ और उसे किसने कहाँ प्रतिष्ठित किया, इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख नही मिला। अर्हद्बलि द्वारा स्थापित सघो में मूलसंघ का कोई उल्लेख नही मिलता। सिह, नन्दि, सेन और देव इन सघो को किसी ने जैनाभास नही बतलाया। ये सघ मूलसघ के ही अन्तर्गत है। इस कारण ये मूलसघ नाम से उल्लेखित किये गये है।

मूलसघ का सबसे प्रथम उल्लेख 'नोण मगल' के दान पत्र मे पाया जाता है, जो जैन शि० स० भा० २ पृ० ६०-६१ मे मुद्रित है। यह शक स० ३४७ (वि० स० ४८२) सन् ४२५ के लगभग का है। जिसे विजयकीर्ति के लिये उरनूर के जिन मन्दिरो को कोंगणि वर्मा ने प्रदान किया था। दूसरा उल्लेख आल्तम (कोल्हापुर) में मिले शक स० ४११ (वि० स० ५१६) के दान पत्र मे मिलता है, जिसमें मूलसघ काकोपल आम्नाय के सिहनन्दि मुनि को अलक्तक नगर के जैन मन्दिर के लिए कुछ ग्राम दान मे दिये है। दानदाता थे पुलकेशी प्रथम के सामन्त सामियार। इन्होने जैन मन्दिरो की प्रतिष्ठा कराई थी, और गगराजा माधव द्वितीय तथा अविनीत ने कुछ और ग्रामादि दान में दिये थे।

कोण्डकुन्दान्वय का उल्लेख वदन गुप्पे के लेख न० ५४ भा० ४ पृ० २८ मे पाया जाता है। जो शक स० ७३० सन् ८०८ का है और उत्तरवर्ती अनेक लेखो मे मिलता है। कौण्डकुन्दान्वय का उल्लेख मर्करा के ताम्रपत्र में पाया जाता है, जिसका समय शक स० ३८८ है, पर उसे सन्देह की कोटि मे गिना जाता है। इसमें कौण्डकुन्दान्वय के साथ देशीयगण का उल्लेख मिलता है। कुन्दकुन्द का वास्तविक नाम पद्मनन्दि था। किन्तु कोण्डकुन्द स्थान से सम्बद्ध होने के कारण वे कुन्दकुन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए।

शिलालेख सग्रह के दूसरे भाग मे प्रकाशित ९० और ९४ नम्बर के लेखो में मूलसघ के वीरदेव[2] और चन्द्रनन्दि नामक दो आचार्यो के नाम उल्लिखित है।

मूलसघ में अनेक बहुश्रुत तार्किकशिरोमणि योगीश विद्वान आचार्य हुए है जिन्होने वीर शासन को लोक में चमकाया। उनमें कुछ नाम प्रमुख है—कुन्दकुन्द, उमास्वाति (गृद्धपिच्छाचार्य) बलाकपिच्छ, समन्तभद्र, देवनन्दी, पात्रकेसरी, सुमतिदेव, श्रीदत्त, अकलक देव, और विद्यानन्द आदि।

१ नीतिसार श्लोक ६-७, तत्त्वानुशासनादि सग्रह पृ० ५८

२ देखो, जैन लेख स० भाग २, पृ० ५५ और ६०

इस संघ के अन्तर्गत सात गणों के नाम मिलते हैं—देवगण, सेनगण, देशोगण, सूरस्थ गण, बलात्कारगण, क्राणूरगण और निगमान्वय। इन गणों का नामकरण मुनियों के नामान्त शब्दों से, तथा प्रान्त और स्थान विशेष के कारण हुए है।

देवगण—इनमें देवगण सबमे प्राचीन है। इस गण का अस्तित्व लक्ष्मेश्वर से प्राप्त चार लेखों में (१११, ११३, ११४ और १५६) से, तथा कडवन्ति से प्राप्त ११वी शताब्दी के एक लेख १६३ मे मालूम होता है। इसके पश्चात् अन्य लेखों में इसका उल्लेख नही मिलता। इसका देवगण नाम कैसे पड़ा, यह तत्कालीन लेखों से कुछ ज्ञात नही होता। सभव है देवान्त नाम होने मे देवगण सज्ञा प्राप्त हुई हो। जैसे उदयदेव, (११३) लाभदेव, जयदेव, विजयदेव अङ्कदेव, महीदेव और अकलकदेव आदि। कुछ विद्वान् अकलकदेव को इस गण का प्रतिष्ठापक मानते है।

सेनगण—यह गण भी प्राचीन है। यद्यपि इसका सबसे पहला उल्लेख मूलगुण्ड से प्राप्त लेख न० १३७ (सन् ९०३) मे हुआ है। पर उत्तरपुराण के रचयिता गुणभद्र ने अपने गुरु जिनसेन और दादा गुरु वीरसेन को सेनान्वय का विद्वान माना है। किन्तु वीरसेन जिनसेन ने अपनी धवला जयधवला टीका में अपने वश को पंचस्तूपान्वय लिखा है। पचस्तूपान्वय ईसा की ५वी शताब्दी में होने वाले निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के साधुओ का एक सघ था। यह बात पहाड़पुर जि० राजशाही, बगाल से प्राप्त एक लेख से जानी जाती है। पचास्तूपान्वय का सेनान्वय के रूप सबसे पहला उल्लेख संभवत: गुणभद्र ने उत्तरपुराण में किया है। इससे यह कहा जा सकता है कि जिनसेन इस गच्छ के प्रथम आचार्य थे। इसके बाद के किसी आचार्य ने पंचस्तूपान्वय का उल्लेख नही किया।

सेनगण तीन उपभेदों में विभक्त हुआ। पोगरी या होगिरी गच्छ, पुस्तकगच्छ और चन्द्रकपाट। पोगरीकच्छ का प्रथम उल्लेख[1] शक स० ८१५ सन् ८९३ (वि० स० ९५०) के लेख में 'मूलसंघ सेनान्वय' पोगरीगण के आचार्य विजयसेन के शिष्य कनकसेन को ग्रामदान देने का उल्लेख है।

देशीगण—कोण्डकुन्दान्वय के साथ प्रयुक्त होने वाले देशीयगण का मूलसघ के साथ प्रयोग सन् ८६० ई० के एक लेख में पाया जाता है। जो पहले ताम्रपत्र के रूप में था और बहुत समय बाद मुनि मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव के शिष्य वीरनन्दी मुनि ने कुछ लोगो के आग्रह से पाषाणोत्कीर्ण कराया था। मेघचन्द्र त्रैविद्य देव और वीरनन्दी की गुरु परम्परा का उल्लेख लेख न० ४१ में पाया जाता है। अनेक शिलालेखो में देसिय, देशिक, देसिग और देशीय आदि नामों से इस गण का उल्लेख मिलता है। देशिय शब्द देश शब्द से बना है, देश का सामान्य अर्थ प्रान्त होता है। दक्षिण भारत में कन्नड़ प्रान्त के उस भू-भाग को, जोकि पश्चिमी घाट के उच्च भूमिभाग (बालाघाट) और गोदावरी नदी के बीच में है, देश नाम से कहा जाता था। वहाँ के निवासी ब्राह्मण अब भी देशस्थ कहलाते हैं। इस गण के आदिम आचार्यो के नाम के साथ 'भट्टारक' पद जुडा हुआ है। ९वी शताब्दी के अनेक लेखो में मुनियो की उपाधि भट्टार या भट्टारक दी गई है। पश्चाद्वर्ती लेखों में इस गण के आचार्यो की उपाधि सिद्धान्तदेव, सैद्धान्तिक या त्रैविद्य पाई जाती है। शिलालेखों के अवलोकन से जाना जाता है कि कर्नाटक प्रान्त के कई स्थानों में इस गण के अनेक केन्द्र थे। उनमें हनसोगे (चिकहनसोगे) प्रमुख था। यहाँ के आचार्यो से ही आगे चलकर इस गण के हनसोगे बलि या गच्छ का उद्भव हुआ है। गच्छ का अर्थ शाखा या बलि होता है। कन्नड़ शब्द बलय या बलग का अर्थ परिवार होता है।

चिक हनसोगे के शिलालेखो से ज्ञात होता है कि वहाँ इस गण की अनेक बसदिया (मंदिर) थीं, जिन्हें चंगाल्व नरेशो द्वारा सरक्षण प्राप्त था। देशीगण का प्रमुख गच्छ पुस्तकगच्छ है। इसका उल्लेख अधिकांश लेखो में मिलता है। हनसोगेबलि पुस्तकगच्छ का ही एक उपभेद है। इस गण की एक शाखा का नाम 'इंगुलेश्वर बलि' है। जिसके आचार्य गण प्राय: कोल्हापुर के आस-पास रहते थे[3]।

---

१ जैनलेख स० भा० ४ लेख न० ६१ पृ० ३९।

२. देखो, जैन शिलालेख स० भा० ४ लेख न० ९४।

३. जैन लेख स० भा० ४ ले० न० ६१ पृ० ३९।

सूरस्थगण—मूलसघ का एक गण सूरस्थ नाम से प्रसिद्ध है। लेख न० १८५, २३४, २६६, ३१८, ४६० और ५४१ से ज्ञात होता है कि इन लेखो मे सूरस्त, सुराष्ट्र अथवा सूरस्थ नाम से उल्लेख है। इनमें अन्वय और गच्छ आदि का कोई उल्लेख नही है। इसका सूरस्थ नाम कैसे पडा, इसका इतिवृत्त ज्ञात नही। इस गण का पहला उल्लेख नं० १८५ मे है जिसमें मूलसंघ को द्रविडान्वय से युक्त लिखा है। जान पडता है, सूरस्थगण पहले मूलसघ के सेनगण से सम्बन्धित था। अथवा उस सघ के साधुगण मूल सघ सूरस्थ गण मे सम्मिलित रहे हो। इस गण के ११वी सदी के पूर्वार्ध से लेकर १३वी शताब्दी तक के लेख है। लेख न० २६६ मे जो शक स० १०४६ का है, सूरस्थगण के विद्वानों का उल्लेख किया है। अनन्तवीर्य, बालचन्द्र, प्रभाचन्द्र, कल्नेलेयदेव (रामचन्द्र) अष्टो पवासि हेमनन्दि, विनयनन्दि, एकवीर और उनके सधर्मा पल्ल पडित (अभिमानदानिक)। इसमे हेमनन्दि मुनीश्वर को राद्धान्तपारग और सूरस्थगण भास्कर बतलाया है।[1] और पल्ल पडित की बडी प्रशसा की है। हेमनन्द के शिष्य विनयनन्दि थे।

बलात्कारगण—का उल्लेख लेख न० २०८ (सन् १०७५) के लगभग मिलता है, जिसमे इस गण के चित्रकूटाम्नाय के मुनि मुनिचन्द्र और उनके शिष्य अनन्तकीर्ति का उल्लेख है। लेख न० २२७ (सन् १०८७ ई०) मे इस गण के कतिपय मुनियो की परम्परा दी गई है। उनके नाम इस प्रकार है—नयनन्दि, श्रीधर, श्रीधर के चन्द्रकीर्ति, श्रुतकीर्ति और वासुपूज्य। चन्द्रकीर्ति के नेमिचन्द्र और वासुपूज्य के पद्मप्रभ। लेख के अन्त मे इस गण का नाम बलात्कारगण दिया गया है।

इस गण का नाम बलात्कार गण कब और कैसे पडा, इसका कोई इतिवृत्त मेरे देखने मे नही आया। डा० गुलाबचन्द चौधरी ने जैन शिलालेख स० तीसरे भाग की प्रस्तावना के पृ० ६२ पर लिखा है कि नाम साम्य का देखते हुए यापनियो के बलहारि या बलगार गण मे निकला है। क्योंकि दक्षिणापथ के नन्दि सघ मे 'बलिहारि या बलगार गण के नाम पाए जाते है, किन्तु उत्तरापथ के नन्दि सघ मे सरस्वती गच्छ और बलात्कार गण ये दो ही नाम मिलते है। 'बलगार' शब्द स्थान विशेष का द्योतक है। लगता है बलगार नामक स्थान से निकलने के कारण 'बलगार' नाम ख्यात हुआ होगा। 'बलगार' नाम का एक ग्राम भी दक्षिण भारत मे है[2]। बलगार गण का पहला उल्लेख सन् १०७१ का है। इसमे मूलसघ नन्दिसघ का बलगार गण ऐसा नाम दिया है। इसमे वर्धमान महावादी विद्यानन्द उनके गुरुबन्धु तार्किकार्क माणिक्यनन्दि-गुणकीर्ति-विमलचन्द्र-गुणचन्द गण्ड विमुक्त उनके गुरु बन्धु अभयनन्दि का नामोल्लेख है। और क्रम न० १५५ मे अभयनन्दि-सकलचन्द-गण्ड विमुक्त त्रिभुवनचन्द्र। इनमे गुणकीर्ति और त्रिभुवनचन्द्र को मिले दानो का वर्णन है[3]। किन्तु बलात्कार शब्द स्थानवाची नही है प्रत्युत जबरदस्ती क्रियाओ मे अनुरक्त होने या लगने आदि के कारण इसका नाम बलात्कार हुआ जान पडता है। १४वी १५वी शताब्दी के विद्वान भट्टारक पद्मनन्दी, जो भट्टारक प्रभाचन्द्र के पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए थे और जो इस गण के नायक थे, सरस्वती की पाषाण मूर्ति को बलात्कार से मंत्र शक्ति द्वारा बुलवाया था, इस कारण उसे बलात्कार कहा जाता है, और गच्छ 'सारस्वत' नाम से ख्यात हुआ है[4]। परन्तु यह बात भी जी को नही लगती, क्योंकि यह घटना अर्वाचीन है। ये पद्मनन्दि विक्रम की १४-१५वी शताब्दी के विद्वान है और बलात्कार गण

---

१. तन्मौखो (?) विबुधाधीशो हेमनन्दि मुनीश्वरः।
राद्धान्त-पारगो जातस्सूरस्थ-गण-भास्करः॥

—जैन ले० स० भा० २ पृ० ४००

२. देखो, मिडियावल जैनिज्म पृ० ३२७

३. पद्मनदी गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी।
पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती॥
ऊर्ज्जयन्तगिरौ तेन गच्छः सरस्वतोऽभवत्।
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्री पद्मनन्दिने॥२

४. जैन लेख स० भा० ४ ले० १५४, १५५, प० १०२, पृ० १११

का उल्लेख वि० स० १०८७ (सन् १०३०) में श्रीनन्दी के शिष्य श्रीचन्द्र ने किया है। श्रीनन्दी का समय श्रीचन्द्र से २० वर्ष पूर्व माना जाय तो सन् १०१० में बलात्कार गण का उल्लेख हुआ है। ऐसी स्थिति में उक्त पद्मनन्दि को बलात्कारगण का सम्थापक नहीं माना जा सकता। क्योंकि यह घटना चार सौ-पांच सौ वर्ष पूर्व की है। बलात्कार गण में अनेक विद्वान भट्टारक हुए हैं और उनके पट्ट भी अनेक स्थानों पर रहे हैं। इस कारण बलात्कार गण का विस्तार अधिक रहा है। इस गण के भट्टारकों ने जैनधर्म की सेवा भी की है। महाराष्ट्र में मलखेड़ का पीठ बलात्कारगण का केन्द्र था। उसकी दो शाखाएं कारंजा और लातूर में स्थापित हुई थी। सूरत में भी बलात्कार गण की गद्दी थी। ग्वालियर और सोनागिरि माथुर गच्छ और बलातकारगण के केन्द्र थे और हिसार माथुर गच्छ का प्रधान पीठ था।

बलात्कारगण के साथ सरस्वती गच्छ का उल्लेख चौदहवी सदी मे मिलता है। यह लेख शक स० १२७७ मन्मथ संवत्सर का है। इसमें कुन्दकुन्दान्वय, सरस्वती गच्छ, बलात्कारगण, मूलसघ के अमरकीर्ति आचार्य के शिष्य, माघनन्दि व्रती के शिष्य भोगराज द्वारा शांतिनाथ की मूर्ति की स्थापना का उल्लेख है।

जैन शिलालेख स० भा० ४ पृ० २८८ पर क्रम न० ४०३, ४०४ और पृ० ३०५ में क्र० ४३४ न० के लेखों में कुन्दकुन्दान्वय की परम्परा में राजा हरिहर के समय इरुग दण्ड नायक द्वारा जिन मन्दिर के निर्माण का उल्लेख है। मूल सघ बलात्कारगण के भट्टारक धर्मभूषण के उपदेश मे इम्मडि बुक्क मंत्री द्वारा कुन्दन व्रोलु नगर में कुन्थुनाथ का चैत्यालय बनवाये जाने का उल्लेख है। और मूलसंघ बलात्कारगण सरस्वती गच्छ के वर्धमान भट्टारक की प्रार्थना पर राजा देवराय द्वारा वरांग नामक ग्राम नेमिनाथ मंदिर को दिये जाने का उल्लेख है।

काणूरगण—इस गण के तीन उपभेदों का उल्लेख मिलता है—तिन्त्रिणी गच्छ, मेपपाषाण गच्छ और पुस्तक गच्छ। इस गण का पहला उल्लेख दसवीं शताब्दी के लेख (जैन शि० स० भा० ४ क्रमाक नं० ८६) में मिलता है। तथा १४वी शताब्दी के अन्त तक के उल्लेख उपलब्ध होते है। मूल संघ के देशिय गण और काणूर गण की अपनी वसदियां (मन्दिर) होती थी। दडिग मे प्राप्त एक लेख में लिखा है कि होयसल सेनापति मरियाने और भरत ने दडिगणकेरे स्थान में पाच वसदियां बनवायी थीं उनमें चार वसदियां देशियगण के लिये और एक काणूर गण के लिए[1]। १४वी शताब्दी के बाद काणूरगण का प्रभाव बलात्कारगण के प्रभावक भट्टारकों के समय प्रभावहीन हो गया।

कल्लूर गुड्ड के लेख[2] में काणूरगण के आचार्यों की वंशावली निम्न प्रकार दी है—दक्षिण देशवासी, गङ्ग-राजाओं के कुल क समुद्धारक श्री मूलसघ के नाथ सिहनन्दि नाम के मुनि थे। उसके पश्चात् अर्हद्बल्याचार्य, बेट्टददाम नन्दि भट्टारक, बालचन्द्र भट्टारक, मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव, गुणचन्द्र, पण्डित देव। इनके बाद शब्दब्रह्म, गुणनन्दिदेव हुए। इनके बाद महान तार्किक एवं वादी प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव हुए, जो मूलसघ कोण्डकुन्डान्वय काणूरगण तथा मेषपाषाण गच्छ के थे। उनके शिष्य माघनन्दि सिद्धान्तदेव, और उनके शिष्य प्रभाचन्द्र हुए। इनके सधर्मा अनन्त वीर्य मुनि, मुनिचन्द्र मुनि, उनके शिष्य श्रुतकीर्ति, उनके शिष्य कनकनन्दि त्रैविद्य हुए, जिन्हें राजाओं के दरबार में त्रिभुवन-मल्ल-वादिराज कहा जाता था इनके सधर्मा माधवचन्द्र, उनके शिष्य बालचन्द्र त्रैविद्य थे।

काणूरगण की तिन्त्रिणी गच्छ की आचार्य परम्परा का उल्लेख लेख न० ३१३, ३७७, ३८६, ४०८ और ४३१ में आया है। रामणन्दि, पद्मणन्दि, मुनिचन्द्र मुनिचन्द्र, के भानुकीर्ति और कुलभूषण (४३१ ले०) भानुकीर्ति के नयकीर्ति और कुलभूषण के सकलचन्द्र हुए।

यापनीय संघ—की स्थापना दर्शन सार के कर्ता देवसेन सूरि के कथनानुसार वि० स० २०५ में श्री कलश नाम के श्वेताम्बर साधु ने की थी[3]। अर्थात् यह सघ श्वेताम्बर-दिगम्बर भेद की उत्पत्ति से लगभग ७० वर्ष

१. जैन एण्टीक्वेरी भा० ६, अक २ पृ० ६६ न० ५८

२. जैन शि० ले० सं० भा० २ पृ० ४१६

३. कल्लाणे वरणयरे दुण्णिसए पचउत्तरे जादे।
जावणिय संघभावो सिरिकलसादो हु सेवडदो॥ —दर्शनसार २६

बाद को उत्पन्न हुआ है। इससे यह तो निश्चित है कि यह संघ, संघ भेद क पश्चात् स्थापित हुआ था। यह सघ दक्षिण भारत की देन है, क्योंकि जो साधु भगवान महावीर के कठोर शासन का पालन करते थे, दिगम्बर साधुओं के समान नग्न रहते थे, मयूर पिच्छी रखते थे, पाणिपात्र (हाथ) में भोजन करते थे, और नग्न मूर्तियों के पूजक थे। किन्तु श्वेताम्बरों के समान स्त्रियों का उसी भव से मुक्ति मानते थे। सवस्त्र मुक्ति ओर केवलिभुक्ति (कवलाहार) भी स्वीकार करते थे। श्वेताम्बर मान्य आगमों को मानते थे, और वन्दना करने वालों को 'धर्मलाभ' देते थे। यद्यपि इनके द्वारा मान्य आगमों में कुछ पाठ भेद थे। यह सम्प्रदाय दिगम्बर-श्वेताम्बरों के बीच की एक कड़ी था। इस संघ में अनेक प्रभावशाली विद्वान आचार्य हुए है। उन विद्वानों मे शिवार्य, अपराजित, पाल्यकीर्ति (शाकटायन) महावीर और स्वयभू आदि प्रमुख हैं। सभवत: पउमचरिय के कर्ता विमलसूरि भी यापनीय थे।

यह सम्प्रदाय राज्य मान्य था। कदम्ब[1], चालुक्य, गंग, राष्ट्रकूट[2] और रट्ट वश के राजाओं ने इस सघ के साधुओं को अनेकों भूमिदान दिये थे। कदम्ब वश के लेख न० ६६, १०० और १०५ से ज्ञात होता है कि उस वश के प्रारम्भिक राजाओं के काल में यह संघ बडा ही प्रभावक था। कदम्ब नरेश मृगेश वर्मा (सन् ४७०-४६०) ने पलासिका स्थान मे इस सघ को और अन्य दूसरे सघो—निर्ग्रन्थ और कूर्चकों के साथ भूमिदान द्वारा सत्कृत किया था। इस राजा के पुत्र रविवर्मा ने इस सघ क प्रमुख आचार्य कुमारदत्त को 'पुरुखेटक' गाव दान मे दिया था।(१००)। इसी वंश की दूसरी शाखा के युवराज देवशर्मा ने भी यापनीय सघ को कुछ क्षेत्रों का दान देकर सम्मानित किया था।

रट्ट नरेशों के लेखो से इस सम्प्रदाय के दो नये गणों का पता चलता है। कारेयगण ओर कन्डूरगण का। लेख न० १३० से विदित होता है कि रट्ट वश के प्रथम नरेश पृथ्वीराय के गुरु इन्द्रकीर्ति (गुणकीर्ति) के शिष्य मैलापतीर्थ कारेय गण क थे। कारेयगण निश्चित रूप से यापनीय था। यह जैन एण्टाक्वेरी से ज्ञात होता है। १८२ न० के लेख म भी कारेयगण का उल्लेख है। इस सम्प्रदाय के कण्डूरगण का उल्लेख रट्ट राजाओं के लेख न० १६० और २०५ से जाना जाता है। लेख न० १६० म यापनीय सघ के कन्डूरगण की गुरुपरम्परा निम्न प्रकार प्राप्त होती है:—देवचन्द्र, देवसिह, रविचन्द्र, अर्हणन्दि, शुभचन्द्र, मौनिदेव और प्रभाचन्द्र। लेख न० २०५ में कण्डूरगण के रविचन्द्र और अर्हणन्दि का उल्लेख है।

यापनीय सघ ने दक्षिण भारत के जैनधर्म के इतिहास में महत्वपूर्ण भाग लिया था। इस सघ का प्रभुत्व कर्नाटक के उत्तरीय प्रदेश मे होने का अनुमान किया गया है। कारण कि कर्नाटक प्रदेश के शिलालेखों में यापनियों के सम्बन्ध में अनेक उल्लेख पाए जाते है। जबकि अन्य प्रदेशों के लेखों में उनका अभाव है। इस सघ ने कर्नाटक प्रदेश में जन्म लेकर धीरे-धीरे अपनी शक्ति को बढ़ाया। और कर्नाटक के अनेक प्रदेशों में राजकीय तथा जनता का संरक्षण प्राप्त किया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कर्नाटक के दक्षिणी भाग में, जिसमें मैसूर भी शामिल है, शिलालेखों में भी यापनियों का उल्लेख विरल है। श्रवण बेल्गोल के लेखों में यापनियों का एक भी उल्लेख नही मिलता। अन्वेषणों के परिणाम स्वरूप जान पडता है कि हन्तिकेरी, कलभावी, सौदन्ति, बेलगांव, बीजापुर, धारवाड़ और कोल्हापुर आदि प्रदेशों के कुछ स्थानों में यापनियों का जोर रहा है।

कर्नाटक के समान तमिल प्रान्त में भी यापनीय सम्प्रदाय का प्रचार रहा है ऐसा लेख नं० १४३-१४४ से ज्ञात होता है। लेख न० १४३ में यापनीय सम्प्रदाय के नन्दि गच्छ (सघ) के कोटि मडुवगण का उल्लेख है और उसके आचार्यो—जिननन्दि, दिवाकर, श्रीमन्दिरदेव का नाम दिया गया है। श्रीमन्दिरदेव कटकाभरणजिनालय के अधिष्ठाता थे। उस जिनालय के लिये पूर्वीय चालुक्य वंश के अम्मराज द्वितीय ने सेनापति (कटकराज) दुर्गराज की

---

१. कदम्बवशी राजाओं के दान पत्र, जैनहितैषी भाग १४ अंक ७-८।

२. इं० ए० १२ पृ० १३-१६ में राष्ट्र कूटराजा प्रभूत वर्ष का दान पत्र

३. जैन एण्टीक्वेरी भाग ६, अंक २ पृ० ६८,६६ में अंकित दो लेख—(५३-५५)।

प्रार्थना पर उक्त सघ के लिये मलिमपुण्डि नाम का एक गांव दान में दिया था। श्री मन्दिरदेव यापनीय संघ, कोटि मडुव या मडुवगण और नन्दिगच्छ के जिननन्दि के प्रशिष्य और दिवाकरनन्दि के शिष्य थे। उसी राजा के दूसरे लेख नं० १४४ में अड्कलिगच्छ वलहारिगण के आचार्यो की पक्ति सकलचन्द्र, अय्यपोटि, अर्हनन्दि। अर्हनन्दि मुनि को अम्मराज द्वितीय ने सर्वलोकाश्रय जिनालय की भोजनशाला की मरम्मत कराने के लिये अत्तलिपाण्डु प्रान्त के कलुचुम्बरू नाम का गाव दान में दिया था। यद्यपि इस लख में स्पष्ट रूप से यापनीय संघ का उल्लेख नही है। किन्तु अड्कलि गच्छ और बलिहारिगण का उल्लेख अन्यत्र न मिलने से वे यापनीय सम्प्रदाय के थे।

यापनीय सघ के अन्तर्गत नन्दिसघ एक महत्वपूर्ण शाखा थी, जो मूलसघ के नन्दिसघ से भिन्न थी। यह नन्दि संघ कई गावों में विभाजित था। जान पड़ता है सघ व्यवस्था की दृष्टि से उसे कई भेदो में बांट दिया गया था। उनमे कनकापल सम्भूत वृक्षमूलगण (१०६) श्री मूलमूलगण (१२१) और पुन्नागवृक्ष मूलगण (१२४) इनमें पुन्नागवृक्ष मूलगण प्रधान था ओर वह उसकी प्रसिद्ध शाखा रूप मे ख्यात था। गणों के नाम कतिपय वृक्षों के नाम से सम्बन्धित है। सन् ११०८ के २५०व लेख मे ज्ञात होता है कि उक्त पुन्नागवृक्ष मूलगण का मूलसघ के अन्तर्गत पाते है। ऐसा जान पड़ता है कि वह बाद मे मूलसघ म अन्तर्भुक्त हो गया है। शिलालेखो म निर्दिष्ट बहुत से साधु इसी गण से सम्बद्ध थे। इसके अतिरिक्त यापनियों के भी अनेक गण थे। दो लेखो (७० और १३१) मे कुमुदिगण का उल्लेख मिलता है। इनमे मे पहला लेख नवी शती का है और दूसरा १०४५ ई० का है। दोनो मे जिनालय के निर्माण का उल्लेख है। इस सब विवरण से यापनीयसघ की ख्याति ओर महत्ता का स्पष्ट बोध होता है। यह सघ ६वी १०वी शताब्दी तक सक्रिय रहा जान पड़ता है। पर बाद मे उसका प्रभाव क्षीण होने लगा। इस सघ के मुनियो मे कीर्ति नामान्त और नन्दि नामान्त नाम अधिक पाये जाते है, विजयकीर्ति, अर्ककीर्ति, कुमारकीर्ति, पाल्यकीर्ति आदि, चन्द्रनन्दि, कुमारनन्दि, कीर्तिनन्दि, सिद्धनन्दि, अर्हनन्दि आदि। किन्तु यह संघ जिस उद्देश्य को लेकर बना वह अपने उस मिशन मे सफल नही हो सका। और अन्त म अपनी हीन स्थिति मे दिगम्बर सघ के अन्दर अन्तर्भुक्त हो गया जान पड़ता है।

वेलगाव 'दोड्डवस्ति' नाम के जैन मन्दिर की श्री नेमिनाथ की मूर्ति के नीचे एक खडित लेख है, जिसमे ज्ञात होता है कि उक्त मदिर यापनीय सघ के किसी पारिसय्या नामक व्यक्ति ने शक ६३५ सन् १०१३ (वि सं. १०७०) मे बनवाया था और उक्त मदिर की यापनीयो द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमा इस समय दिगम्बरियों द्वारा पूजी जाती है[१]। यापनियो का साहित्य भी दिगम्बर सम्प्रदाय मे अन्तर्भुक्त हो गया।

द्राविड़ संघ—द्राविड देश मे रहने वाले जैन समुदाय का नाम द्राविड सघ है। लेखो में इसे द्रविड, द्रविड, द्रविण द्रमिल, द्रविल, द्राविड आदि नामो से उल्लेखित किया गया है। द्रविड़ देश वर्तमान मे आन्ध्र औरमद्रास प्रान्त का कुछ हिस्सा है। इसे तमिल देश में भी होना कहा जाता है। इस देश मे जैन धर्म के पहुचने का काल बहुत प्राचीन है। इस देश में साधुओ का जरूर कोई प्राचीन सघ रहा होगा। आचार्य देवसेन ने दर्शनसार में द्राविड संघ की स्थापना पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दि के द्वारा दक्षिण मथुरा मे वि० स० ५२६ में हुई लिखा है। वज्रनन्दि के सम्बन्ध में लिखा है कि उस दुष्ट ने कछार खेत वसदि और वाणिज्य से जीविका करते हुए शीतल जल से स्नान कर प्रचुर पाप का सचय किया।[२] किन्तु शिलालेखों में इस सघ के अनेक प्रतिष्ठित आचार्यो के नाम मिलते है। अतः देवसेन के उक्त कथन मे सन्देह उत्पन्न होना स्वाभाविक है। मन्दिर बनवाने और खेती बाड़ी करने के कारण इस सघ को दर्शन सार में जैनाभास कहा गया है। वादिराज भी द्राविड सघ के थे। उनकी गुरु परम्परा मठाधीशों की परम्परा

१. देखो, जैनदर्शन वर्ष ४ अक ७

२. सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसघस्स कारगो दुट्ठो। नामेण वज्जणदी पाहुडवेदी महासत्थो॥ २५
पञ्चसये छब्बीसे विक्कमरायो मरणपत्तस्स।
दक्खिण महुराजादो दाविडसघो महामोहो॥२६
कच्छं खेत्त वसहि वाणिज्ज कारिऊण जीवन्तो।
ण्हंतो सीयल णीरे पावं पउर च संचेदि॥२७ (दर्शनसार)

थी। वे मन्दिर बनवाते थे, उनका जीर्णोद्धार कराते थे, मुनियों के आहार की व्यवस्था करते थे। इन्हीं वादिराज के समसामयिक मल्लिषेण थे। इनके मंत्र-तंत्र विषयक ग्रन्थों में मारण-उच्चाटन, वशीकरण, मोहन, स्तम्भन आदि के अनेक प्रयोग निहित हैं। ज्वालामालिनी कल्प के कर्ता इन्द्रनन्दियोगीन्द्र भी द्राविड़ संघ के थे। इस ग्रन्थ की उत्थानिका में लिखा है कि दक्षिण के मलय देश के हेमग्राम में द्राविडसंघ के अधिपति हेलाचार्य थे। उनकी शिष्या को ब्रह्मराक्षस लग गया था। उसकी पीड़ा दूर करने के लिये हेलाचार्य ने ज्वाला मालिनी की सेवा की थी। देवी ने उपस्थित होकर पूछा—क्या चाहते हो? मुनि ने कहा—मुझे कुछ नहीं चाहिये, मेरी शिष्या को ग्रह मुक्त कर दो। देवी के मंत्र से शिष्या स्वस्थ हो गई। फिर देवी के आदेश से हेलाचार्य ने ज्वालिनीमत की रचना की।

इस संघ के अधिकांश लेख होय्सल नरेशों के हैं। इस संघ के आचार्यों ने पद्मावती देवी की पूजा, प्रतिष्ठा में बड़ा योगदान किया था। इस संघ के प्रायः सभी साधु बसदियों में रहते थे। दान में प्राप्त जागीर आदि का प्रबन्ध करते थे।

चल्ल ग्राम के बसिरे देवमन्दिर में शक सं० १०४७ का एक शिलालेख है जिसमें द्राविड संघीय इन्हीं वादिराज के वंशज श्रीपालयोगीश्वर को होय्यसल वंश के विष्णु वर्द्धन पोय्यसल देव ने वसतियों या जैन मन्दिरों के जीर्णोद्धारार्थ और ऋषियों के आहार-दान के लिये शल्य नामक ग्राम दान में दिया[1]। वि० सं० ११४५ के दूबकुण्ड के शिलालेख में कछवाहा वंश के राजा विक्रमसिंह ने पूजन सत्कार, कालान्तर में टूटे फूटे की मरम्मत के लिये कुछ जमीन, वापिका सहित एक बगीचा ओर मुनि जनों के शरीराभ्यंजन (तैल मर्दन) के लिये दो करघटिकाएं दीं[2] ये सब बातें भी चैत्यवास के आचार का उद्भावन करती हैं।

कूर्चकसंघ—कर्नाटक प्रान्त में ईसा की पाचवीं शताब्दी या उसके पहले जैनियों का एक सम्प्रदाय कूर्चक नाम से ख्यात था। जिसका अस्तित्व तथा कूर्चक नाम कदम्बवंशी राजाओं के लेखों (९८-९९) से ज्ञात होता है। यह साधुओं का ऐसा सम्प्रदाय था, जो दाड़ी मूछ रखता था। उसके साथ यापनीय और श्वेतपट संघ का नामोल्लेख है। प्राचीन काल में जटाधारी और नग्न आदि अनेक प्रकार के अजैन साधु थे। इसी तरह जैनियों में भी ऐसे साधुओं का सम्प्रदाय था जो दाड़ा मूछ रखने के कारण कूर्चक कहलाता था।

गौड़ संघ—गौड़ संघ का उल्लेख एक ही लेख में मिलता है। इस सम्बन्ध में अन्य लेख देखने में नहीं आया। गौड़ संघ के आचार्य सोमदेव के लिये चालुक्य राजा बद्दिग द्वारा शुभधाम जिनालय के बनवाने का उल्लेख है। (ए० इ० ए० १९४६-७ क्र-१५८)

काष्ठासंघ-माथुरगच्छ—

देवसेन ने दर्शनसार में काष्ठासंघ की उत्पत्ति दक्षिण प्रान्त में, आचार्य जिनसेन के सतीर्थ विनयसेन के शिष्य कुमारसेन द्वारा जो नन्दि तट में रहते थे वि० सं० ७५३ में हुई बतलाई है। और कहा है कि उन्होंने कर्कश केश अर्थात् गौ की पूँछ की पीछी ग्रहण करके सारे वागड़देश में उन्मार्ग चलाया। किन्तु काष्ठासंघ के संस्थापक कुमारसेन का समय स० ७५३ बतलाया है। वह संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि विनयसेन के लघु गुरु बन्धु जिनसेन ने 'जयधवला' टीका शक स० ७५९ सन् ८३७ में बनाकर समाप्त की है[2]। अतः उसे विक्रम सवत् न मानकर शक संवत् मानने से संगति ठीक बैठ जाती है। और उसके दो सौ वर्ष बाद अर्थात् वि० संवत ९५३ के लगभग मथुरा में माथुरों के गुरु रामसेन ने निःपिच्छिक रहने का उपदेश दिया और कहा कि न मयूरपिच्छी रखने की आवश्यकता है और न गोपिच्छी की।

सभी संघों, गणों और गच्छों के नाम प्रायः देशों या नगरों के नाम पर पड़े हैं। जैसे मथुरा से माथुरसंघ, काष्ठा नाम के स्थान से काष्ठासंघ।

बुलाकीदास ने अपने वचन कोश में उमास्वामी के पट्टाधिकारी लोहाचार्य द्वारा काष्ठासंघ की स्थापना

---

१. जैन शिलालेख सग्रह भाग ४९३ न का लेख

२. जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सग्रह प्रथम भाग तथा धवला पु० १ प्रस्तावना पृ० ३५-३६

अग्रोहा नगर में की थी ऐसा लिखा है। पर इसका कोई प्राचीन उल्लेख मेरे अवलोकन में नहीं आया। किन्तु १६वीं २०वी शताब्दी के लेखों में लोहाचार्य के अन्वय का उल्लेख मिलता है[1]। ऐसी स्थिति में बुलाकीदास का लिखना विश्वसनीय नही जान पड़ता। काठ की प्रतिमा के पूजन से काष्ठासघ नाम पड़ा, यह कल्पना तो निराधार है ही, काठ की प्रतिमा के पूजन का निषेध भी मेरे देखने मे नही आया।

काष्ठा नाम का स्थान दिल्ली के उत्तर में जमुना नदी के किनारे बसा था। जिस पर नागवंशियों की टांक शाखा का राज्य था। १४वी शताब्दी में 'मदन पारिजात' नाम का निबन्ध यही लिखा गया था। काष्ठासंघ की पट्टावली में भी लोहाचार्य का नाम है। ऐसी प्रसिद्धि है कि लोहाचार्य ने ही अग्रवालों को दि० जैन धर्म में दीक्षित किया था। अग्रवालों का उल्लेख करने वाले लेखों में काष्ठासंघ और लोहाचार्यान्वय का निर्देश है।

इस सघ के आचार्य अमितगति द्वितीय ने अपनी जो गुरु परम्परा दी है, उसमें देवसेन, अमितगति प्रथम, नेमिषेण, माधवसेन और अमितगति द्वितीय है। अमितगति द्वितीय ने अपनी रचनाएं सं० १०५० से १०७३ तक बनाई हैं। इसी संघ के अन्तर्गत अमरकीर्ति ने जो गुरु परम्परा दी है वह इन्ही अमितगति से शुरु की है, अमितगति, शान्तिषेण, अमरसेन, श्रीषेण, चन्द्रकीर्ति, अमरकीर्ति। अमरकीर्ति को रचनाएं स० १२४४ से १२४७ तक की उपलब्ध है। इन्हीं अमरकीर्तिके शिष्य इन्द्रनन्दि ने श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र के योग शास्त्र की टीका शक स० ११८० वि० स० १३१५ में बनाकर समाप्त की थी। इससे स्पष्ट है कि काष्ठासघ के माथुरसंघ की यह परम्परा १०५० से १३१५ तक चलती रही है। उसके बाद इसी परम्परा में उदयचन्द्र, बालचन्द्र और विनयचन्द्र हुए। इन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा अपभ्रंश साहित्य को वृद्धिगत किया है। उदयचन्द्र ने गृहस्थ अवस्था में सुगन्ध दशमी कथा की रचना लगभग ११५० ई० में की थी। उसके बाद वे मुनि हो गए थे।

काष्ठासघ मे नन्दितट, माथुर, बागड़ और लाल बागड ये चार गच्छ प्रसिद्ध थे। जैसा कि भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति की पट्टावली मे स्पष्ट है[2]। ये चारों नाम स्थानों और प्रदेशों के नामों पर रक्खे गए है। कुमारसेन नन्दि तट गच्छ के थे। और रामसेन माथुर सघ के, जिसका विकास मथुरा मे हुआ है। वागड़ मे वागड़गच्छ, और लाट गुजरात और वागड मे लाल बागड़गच्छ। लाट और बागड़ बहुत समय तक एक ही राजवश के आधीन रहे है।

माथुर सघ को जैनाभास, जीव रक्षा के लिये किसी तरह की पीछी न रखने के कारण कहा गया है। आचार्य अमितगति द्वितीय के ग्रन्थो से ऐसा कोई भी भेद नजर नही आता जिससे उन्हें जैनाभास कहा जाय। दर्शनसार की रचना वि० स० ६६० में हुई है।

नन्दितट गच्छ—इसमें अनेक विद्वान आचार्य और भट्टारक हुए है। रामसेन नरसिंह जाति के संस्थापक कहे गये है। इनके शिष्य नेमिसेन ने भट्टपुरा जाति की स्थापना की है। भीमसेन के शिष्य सोमकीर्ति ने सवत् १५३२ में वीरसेन गुरु के साथ शीतलनाथ मूर्ति की प्रतिष्ठा का। सोमकीर्ति ने स० १५२६-१५३१ और १५३६ में प्रद्युम्नचरित, सप्तव्यसन कथा और यशोधरचरित की रचना की। सं० १५४० में एक मूर्ति की प्रतिष्ठा की। और सुलतान फिरोजशाह के राज्यकाल में पावागढ़ मे पद्मावती की सहायता से आकाश गमन का चमत्कार दिखलाया। इनके बाद अन्य अनेक भट्टारक हुए, जिन्होने जैनधर्म की सेवा की।

माथुर गच्छ—इस गच्छ में अनेक ग्रन्थकर्ता विद्वान हुए है। इस गच्छ के अनेक विद्वानों का उल्लेख ऊपर दिया जा चुका है। नेमिषेण के शिष्य अमितगति प्रथम ने योगसार की रचना की। माधवसेन के शिष्य अमितगति

१. देखो, पभोसा का स० १८८१ सन् १८२४ का लेख, जैन लेख स० भा० ३ पृ० ५७६-५८०। तथा नया मन्दिर धर्मपुरा के जैन मूर्ति लेख, अनेकान्त वर्ष १६, किरण ३। लेख नं० १०, ११, १२ मे लोहाचार्याम्नाय का उल्लेख है।

२. काष्ठासघे भुविख्यातो जानन्ति नृसुरासुराः।
तत्र गच्छाश्च चत्वारो राजन्ते विश्रुताः क्षितौ॥
श्री नन्दितट संज्ञा च माथुरो बागडाभिधः।
लाल-बागड़-इत्येके विख्याताः क्षितिमण्डले॥

द्वितीय ने सुभाषित रत्नसदोह धर्मपरीक्षा, पचसग्रह, तत्व भावना, उपासकाचार, द्वात्रिशतिका और आराधना ग्रन्थ की रचना की ।

इस सघ के दूसरे आचार्य छत्रसेन थे, जिन्होंने स० ११६६ में परमार राजा विजयराज के राज्यकाल में ऋषभनाथ का मन्दिर बनवाया। गुणभद्र ने स० १२२६ में बिजोल्या के पार्श्वनाथ मन्दिर की विस्तृत प्रशस्ति लिखी। इस परम्परा के अन्य अनेक भट्टारकों ने ग्वालियर किले मे मूर्ति निर्माण और यशःकीर्ति, मलय कीर्ति, गुणभद्र और रइधू आदि ने अनेक ग्रन्थों की रचना की। इनमे यशःकीर्ति के गुरु गुणकीर्ति बहुत प्रभावशाली थे जिन्होंने राजा डूगरसिह आदि को जैनधर्म का श्रद्धाशील बनाया। इन तोमर वश के शासकों के समय जहा जैन धर्म का विस्तार और प्रभाव रहा, वहाँ जैनधर्म का प्रभाव भी जनता पर रहा।

बागडगच्छ—लाडबागड—

बागड का कोई स्वतन्त्र उल्लेख प्राप्त नही हुआ। लाड गुजरात और बागड़ दोनो मिलकर लाडबागड गच्छ हुआ। इसका सस्कृत नाम लाटवर्गट है। जयसेन (१०५५) ने इसका सम्बन्ध भगवान महावीर के गणधर मेतार्य के साथ जोडा है। इससे यह सघ १०वी शताब्दी से भी पूर्व का जान पड़ता है। इसका प्रभाव गुजरात और बागड प्रदेश में रहा है। किन्तु बाद मे मालवा और धारा और उसके आस-पास के प्रदेशो मे अकित रहा है। लाट बागड और पुन्नाट सघो की एकता का आभास ले० न० ६३१ मे प्रतीत होता है। और लाड बागड गच्छ के कवि पासो के उल्लेख मे उसकी पुष्टि होती है। पुन्नाट सघ के आचार्य जिनसेन ने शक सं० ७०५ में वर्धमान पुर के पार्श्वनाथ तथा दोस्तटिका के शान्तिनाथ मन्दिर मे रह कर हरिवश पुराण की रचना की थी। सभव है दक्षिण के माननीय नन्दि सघ तथा पुन्नागवृक्ष मूलगण को अर्ककीर्ति ने अपना संघ बतलाया है। इससे लगता है कि पुन्नाग वृक्षमूलगण पुन्नाट का ही रूपान्तर हो। पुन्नाट सघ के आचार्य हरिषण ने सम्वत् ९८९ मे वर्धमान पुर मे बृहत्कथा कोष की रचना की है। श्रीचन्द्र ने लाडबागड संघ का उल्लख किया है। महासेन ने भी अपने को लाडबागड़ सघ का विद्वान सूचित किया है। प्रद्युम्न चरित में इन्होंने जयसेन, गुणाकर सेन, महासेन के नामोल्लेख से अपनी गुरु परम्परा दी है।

स० ११४५ के दूबकुण्ड के लेख में विजयकीर्ति ने देवसेन कुलभूषण दुर्लभसेन, अम्बरसेन आदि वादियों के विजेता शान्तिषेण और विजयकीर्ति के नाम दिये है। इससे यह सघ भी प्रभावक रहा है।

शिलालेख, मूर्ति लेख, ताम्र पत्र और प्रशस्तियो पर से और भी सघ, गण-गच्छादि का पता चल सकता है। इस परिचय द्वारा दि० जैनाचार्यों के गण-गच्छादि पर सक्षिप्त प्रकाश पड़ता है। आगे जिन आचार्यों, विद्वानों और भट्टारकों आदि का परिचय दिया जायगा, वे सब आचार्य इन्ही सघों और गण-गच्छों के थे।

अध्याय २

ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी से लेकर ईसा की चतुर्थ शताब्दी तक के विद्वान् आचार्य

आचार्य दौलामस (धृतिसेन)
मुनि कल्याण
आचार्य गुणधर
अर्हद्बली
धरसेन
म.घनन्दी सैद्धान्तिक
पुष्पदन्त भूतवली
भद्रबाहु (द्वितीय)
कुन्दकुन्दाचार्य
गुणवीर पण्डित
उमास्वाति
समन्तभद्र
शिवार्य

आचार्य दौलामस (धृतिसेन) और मुनि कल्याण

ईसवी पूर्व ३२६ सन् के नवम्बर महीने में सिकन्दर (Alezander) ने अटक के निकट सिन्धु नदी को पार किया और वह तक्षशिला में आकर ठहरा। उस समय तक्षशिला का राजा अम्भि था। उसने सिकन्दर से बिना युद्ध किये ही उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। उसी की सहायता से सिकन्दर की सेना ने सिन्धु नदी को पार किया और तक्षशिला में पहुंच कर अपनी थकान उतारी। उस समय सिकन्दर ने दिगम्बर जैन श्रमणों (मुनियों) के उच्च चरित्र, तपस्वी जीवन, उन्नत ज्ञान और कठोर साधना के सम्बन्ध में अनेक लोगों से प्रशंसा सुनी थी। इससे उसके मन में दिगम्बर जैन मुनियों के दर्शन करने की प्रबल आकांक्षा थी। जब उसे यह ज्ञात हुआ कि नगर के बाहर अनेक नग्न जैन मुनि एकान्त में तपस्या कर रहे हैं, तब उसने अपने एक अमात्य ओनेसीक्रेट्स (Onesicrates) को आदेश दिया कि तुम जाओ और एक जिम्नोसाफिस्ट (Gymnosophyst) दिगम्बर जैन मुनि को आदर सहित लिवा लाओ।

ओनेसीक्रेट्स वहाँ गया, जहाँ जंगल में जैन मुनि तपस्या कर रहे थे। वह जैन संघ के आचार्य के पास पहुँचा और कहा—आचार्य! आपको बधाई है, आपको परमेश्वर का पुत्र सम्राट् सिकन्दर, जो सब मनुष्यों का राजा है, अपने पास बुलाता है। यदि आप उसका निमन्त्रण स्वीकार करके उसके पास चलेंगे तो वह आपको बहुत पारितोषिक देगा और यदि आप निमन्त्रण अस्वीकार करके उसके पास नहीं जायेंगे तो सिर काट लेगा।

उस समय श्रमण साधु संघ के आचार्य दौलामस (Daulamus) (सम्भवतः धृतिसेन) सूखी घास पर लेटे हुए थे। उन्होंने लेटे हुए ही सिकन्दर के अमात्य की बात सुनी और मुस्कराते हुए बोले—सबसे श्रेष्ठ राजा बलात् किसी की हानि नही करता। वह प्रकाश, जीवन, जल, मानव शरीर और आत्मा का बनाने वाला नहीं है, और न इनका संहारक है। सिकन्दर देवता नहीं है, क्योंकि उसकी एक दिन मृत्यु अवश्य होगी। वह जो पारितोपिक देना चाहता है वे सभी पदार्थ मेरे लिये निरर्थक है। मैं तो घास पर सोता हूं। ऐसी कोई वस्तु अपने पास नहीं रखता जिसकी रक्षा की मुझे चिन्ता करनी पड़े, जिसके कारण अपनी शांति की नींद भंग करनी पड़े। यदि मेरे पास सुवर्ण या अन्य कोई सम्पत्ति होती तो मैं ऐसी निश्चिन्त नींद न ले पाता। पृथ्वी मुझे आवश्यक पदार्थ प्रदान करती है, जैसे बच्चे को उसकी माता सुख देती है। मैं जहाँ कहीं जाता हूँ वहाँ मुझे अपनी उदर-पूर्ति के लिये कमी नहीं। आवश्यकतानुसार सब कुछ (भोजन) मुझे मिल ही जाता है, कभी नहीं भी मिलता तो मैं उसकी कुछ चिन्ता नहीं करता। यदि सिकन्दर मेरा सिर काट डालेगा, तो वह मेरी आत्मा को तो नष्ट नहीं कर सकता। सिकन्दर अपनी धमकी से उनको भयभीत करे जिन्हें सुवर्ण, धन आदि की इच्छा हो, या जो मृत्यु से डरते हों। सिकन्दर के ये दोनों अस्त्र-आर्थिक लोभ-लालच तथा मृत्यु-भय हमारे लिये शक्तिहीन हैं—व्यर्थ हैं। क्योंकि हम न सुवर्ण (सोना) चाहते हैं और न मृत्यु से डरते हैं। इसलिए जाओ और सिकन्दर से कह दो कि दौलामस को तुम्हारी किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। अतः वह (दौलामस) तुम्हारे पास नहीं आवेगा। यदि सिकन्दर मुझसे कोई वस्तु चाहता है तो वह हमारे समान बन जावे।

ओनेसीक्रेट्स ने सारी बातें सम्राट् से कहीं। सिकन्दर ने सोचा—जो सिकन्दर से भी नहीं डरता, वह महान् है, उसके मन में आचार्य दौलामस के दर्शनों की उत्सुकता जागृत हुई। उसने जाकर आचार्य महाराज के दर्शन किये। वह जैन मुनियों के आचार-विचार, ज्ञान और तपस्या से बड़ा प्रभावित हुआ। उसने अपने देश में ऐसे

किसी साधु को ले जाकर ज्ञान प्रचार करने का निश्चय किया। वह कल्याण (Klas) मुनि से मिला और उनसे यूनान चलने की प्रार्थना की। मुनि कल्याण आचार्य दोलामस के संघ के एक शिष्य साधु थे। उन्होंने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। परन्तु आचार्य महोदय को कल्याण का यूनान जाना सम्भवतः पसन्द न था।

जब सिकन्दर तक्षशिला से अपनी सेना के साथ यूनान को लौटा, तब कल्याण मुनि भी उसके साथ विहार कर रहे थे। मुनि कल्याण ने एक दिन मार्ग में ही सिकन्दर की मृत्यु की भविष्यवाणी की। मुनि के वचनों के अनुसार ही बैबीलौन पहुँचने पर ई० पू० ३२३ में अपराण्ह बेला में सिकन्दर की मृत्यु हो गई। मृत्यु से पहले सिकन्दर ने मुनि महाराज के दर्शन किये और उनसे उपदेश सुना। सम्राट् की इच्छानुसार यूनानी कल्याण मुनि को आदर के साथ यूनान ले गये। कुछ वर्षों तक उन्होंने यूनानियों को उपदेश देकर धर्म-प्रचार किया। अन्त में उन्होंने समाधिमरण किया। उनका शव राजकीय सम्मान के साथ चिता पर रख कर जलाया गया। कहते है, उनके पाषाण चरण एथेन्स में किसी प्रसिद्ध स्थान पर बने हुए है।

उस समय तक्षशिला में अनेक दिगम्बर मुनि रहते थे। इस बात की पुष्टि अनेक इतिहास ग्रन्थों से होती है। सिकन्दर ने जब ओनेसीक्रेट्स को दिगम्बर मुनियों के पास भेजा, उसका कहना है कि उसने तक्षशिला में २० स्टैडीज दूरी पर १५ व्यक्तियों को विभिन्न मुद्राओं में खड़े हुए, बैठे हुए या लेटे हुए देखा, जो बिल्कुल नग्न थे। वे शाम तक इन आसनों से नही हिलते थे। शाम के समय शहर में आ जाते थे। सूर्य का ताप सहना सबसे कठिन कार्य है। परन्तु आतापन योग का अभ्यास करने वाले मुनिजन इसको शान्ति के साथ सहन करते थे। परिषह-सहिष्णु बन कर ही मुनिजन कर्मक्षय के योग्य आत्म-शक्ति को सचित करते थे।

—Plutarch—A.I-P. 71

—(प्लूटार्च, एंशियैण्ट इंडिया पृ० ७१)

आचार्य गुणधर—

जेणिह कसायपाहुडमणेय-णयमुज्जलं अणंतत्थं।
गाहाहि विवरियं तं गुणहर-भट्टारयं वंदे।

जयधवलायां वीर सेनः

वे अपने समय के विशिष्ट ज्ञानी विद्वान् थे। वे पांचवें ज्ञानप्रवाद पूर्व स्थित दशमवस्तु के तीसरे पेज्जदोस पाहुड के पारगामी थे। उन्हे पेज्जदोस पाहुड के अतिरिक्त महाकम्मपयडि पाहुड का भी ज्ञान था। उक्त पाहुड से सम्बन्ध रखने वाले विभक्ति, बन्ध, संक्रमण और उदय उदीरणा जैसे पृथक् अधिकार दिये हैं। इनका महाकम्म पयडि पाहुड के चौवीस अनुयोग द्वारों से क्रमशः छठे, दशवे और बारहवें अनुयोग द्वारों से सम्बन्ध है। महाकर्म प्रकृति पाहुड का २४ वां अल्प बहुत्व अनुयोगद्वार भी कसाय पाहुड के अर्थाधिकारों में व्याप्त है। इससे स्पष्ट है कि गुणधर महाकर्म प्रकृति के भी ज्ञाता थे।

इन्होंने अंगज्ञान का दिन-प्रतिदिन लोप होते देखकर श्रुतविच्छेद के भय से और प्रवचन वात्सल्य से प्रेरित होकर १८० गाथा सूत्रों में उसका उपसहार किया और उस विषय को स्पष्ट करने के लिए ५३ विवरण गाथाओं का भी निर्माण किया। अतः ५३ विवरण गाथाओं सहित उसकी संख्या २३३ गाथाओं के परिमाण को लिये हो गई। प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम पेज्जदोस पाहुड है। पेज्ज का अर्थ राग और दोस का अर्थ द्वेष है। अतः इसमें राग-द्वेष-मोह का विवेचन करने के लिये कर्मो की विभिन्न स्थितियों का चित्रण किया गया है। राग-द्वेष क्रोध, मान, माया और लोभादिक दोषों की उत्पत्ति, स्थिति, तज्जनित कर्मबन्ध और उनके फलानुभवन के साथ-साथ उन रागादि दोषों को उपशम करने—दबाने, उनकी शक्ति घटाने, क्षीण करने - आत्मा में से उनके अस्तित्व को मिटा देने, नूतन बंध रोकने और पूर्व में संचित कषाय मल चक्र को क्षीण करने—उसका रस सुखाने—और आत्मा के शुद्ध एवं सहज विमल अकषाय भाव को प्राप्त करने का सुन्दर विवेचन किया गया है। मोह कर्म आत्मा का सबसे प्रबल शत्रु है, राग-द्वेषादिक दोष मोह कर्म की ही पर्याय हैं। कर्म किस स्थिति में और किस कारण से आत्मा के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं, उनके सम्बन्ध से आत्मा में कैसे सम्मिश्रण होता है और उनमें किस

तरह फलदान की शक्ति उत्पन्न होती है और कर्म कितने समय तक आत्मा के साथ सलग्न रहते है आदि का विस्तृत और स्पष्ट विवेचन किया गया है।

ग्रन्थ सोलह अधिकारों में विभक्त है—१. **पेज्जदोस विभक्ति**—इस अधिकार में संसार में परिभ्रमण का कारण कर्म बन्ध बतलाया है और उस कर्मबन्ध का कारण है राग-द्वेष। रागद्वेष का ही दूसरा नाम कषाय है। इसके स्वरूप और भेद-प्रभेदों का इसमें विस्तार पूर्वक कथन किया गया है।

२. **स्थिति विभक्ति**—प्रथम अधिकार में प्रकृति विभक्ति, स्थिति विभक्ति आदि छह अवान्तर अधिकार बतलाये हैं। उनमें प्रकृति विभक्ति का वर्णन प्रथम अधिकार में दिया है। और कर्मप्रकृति का स्वरूप, कारण एवं भेद-प्रभेदों का इसमें वर्णन है।

३. **अनुभाग विभक्ति**—कर्मों की फल-दान-शक्ति का प्रतिपादन इस अधिकार में किया गया है। इसमें प्रदेश, क्षीणाक्षीण और स्थित्यन्तक ये तीन अवान्तर अधिकार है।

४. **बन्ध अधिकार** जीव के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से पुद्गल परमाणुओं का कर्मरूप में परिणमन होकर जीव के प्रदेशों के साथ एकक्षेत्र रूप मे बधने को बंध कहते है। इस अधिकार में कर्मबन्ध का निरूपण किया गया है।

५. **संक्रम अधिकार**—बंधे हुए कर्मो का यथासम्भव अपने अवान्तर भेदों में संक्रान्त या परिवर्तित होने को संक्रम कहते हैं। बन्ध के समान संक्रम के भी चार अवान्तर अधिकार है। प्रकृति संक्रम, स्थिति संक्रम, अनुभाग संक्रम और प्रदेश संक्रम।

६, **वेदक अधिकार** मोहनीय कर्म के फलानुभवन का वर्णन इस अधिकार में किया गया है। कर्म अपना फल उदय और उदीरणा से भी देते है। स्थिति के अनुसार निश्चित समय पर कर्म के फल देने को उदय कहते हैं। और उपाय विशेष से असमय में ही निश्चित समय के पूर्व फल देने को उदीरणा कहते हैं। यथा—आम का समय पर पक कर स्वयं गिरना उदय है, और पकने से पूर्व ही उसे तोड़कर पाल आदि में पका देना उदीरणा है। उदय और उदीरणा का अनेक अनुयोग द्वारों से विवेचन किया गया है।

७. **उपयोग अधिकार**—जीव के क्रोध, मान, मायादि रूप परिणामों के होने को उपयोग कहते हैं। इस अधिकार में क्रोधादि चारों कषायों के उपयोग का वर्णन किया गया है। और बतलाया गया है कि एक जीव के एक कषाय का उदय कितने काल तक रहता है। कषाय और जीव के सम्बन्धो का विभिन्न दृष्टिकोणों से विवेचन किया है।

८. **चतुःस्थान अधिकार** इस अधिकार में शक्ति की अपेक्षा कषायों का वर्णन किया गया है। क्रोध चार प्रकार का है- पाषाण रेखा के समान। जिस तरह पाषाण पर खींची गयी रेखा बहुत समय के बाद मिटती है, उसी प्रकार जो क्रोध तीव्र रूप में अधिक समय तक रहने वाला हो, वह पाषाण रेखा के तुल्य है। यही क्रोध कालान्तर में शत्रुता के रूप में परिणत हो जाता है। पृथ्वी, धूली और जल रेखाये उत्तरोत्तर कम समय में मिटती हैं। इस प्रकार क्रोध भी उत्तरोत्तर कम समय तक रहता है तथा उसकी शक्ति में भी तारतम्य निहित रहता है। उसी तरह अन्य कषायों का भी निरूपण किया गया है।

९. **व्यंजन अधिकार** व्यंजन शब्द का अर्थ 'पर्यायवाची' शब्दों का निरूपण करना है। इस अधिकार में क्रोध के पर्यायवाची रोष, अक्षमा, कलह, विवाद, कोप, संज्वलन, द्वेष, झंझा, वृद्धि और क्रोध ये दश शब्द हैं। गुस्सा को क्रोध या कोप कहते है। क्रोध के आवेश को रोष, शान्ति के अभाव को अक्षमा, स्व और पर दोनों को जलावे—सन्ताप उत्पन्न करे उसे सज्वलन, दूसरे से लड़ने को कलह, पाप, अपयश और शत्रुता की वृद्धि करने को वृद्धि; अत्यन्त संक्लेश परिणाम को झंझा, आन्तरिक अप्रीति या कलुषता को द्वेष, एवं स्पर्धा या सघर्ष को विवाद कहा है। मान के मान, मद, दर्प स्तम्भ और परिभव आदि। माया के माया, निकृति वंचना, सातियोग और अनृजुता आदि, लोभ के लोभ, राग, निदान प्रेयस, मूर्च्छा आदि। कषाय के विविध नामों द्वारा अनेक ज्ञातव्य बातों पर नया प्रकाश पड़ता है।

१०. **दर्शन मोहोपशमना अधिकार**— दर्शन मोहनीय कर्म जीव को अपने स्वरूप का दर्शन, साक्षात्कार या यथार्थ प्रतीति से रोकता है। अतः उसके उपशम होने पर कुछ समय के लिये उसकी शक्ति के दब जाने पर जीव अपने वास्तविक ज्ञान-दर्शन स्वरूप का अनुभव करता है जिसमें उसे वचनातीत आनन्द की उपलब्धि होती है। इस अधिकार में दर्शनमोह को उपशम करने की प्रक्रिया वर्णित है।

११. **दर्शनमोह क्षपणा अधिकार**—दर्शनमोह का उपशम होने पर भी कुछ समय के पश्चात् उसका उदय आने से जीवात्मा आत्मदर्शन से वंचित हो जाता है। आत्म साक्षात्कार सदा बना रहे, इसके लिये दर्शनमोह का क्षय करना आवश्यक है। दर्शनमोह की क्षपणा का प्रारम्भ कर्मभूमि में उत्पन्न मनुष्य ही कर सकता है किन्तु उसकी पूर्णता चारों गतियों में हो सकती है। प्रस्तुत अधिकार में दर्शनमोह के क्षय करने की प्रक्रिया का वर्णन है।

१२. **संयमासंयम लब्धि-अधिकार**—आत्मस्वरूप के साक्षात्कार के पश्चात् जीव मिथ्यात्व रूपी कीचड़ से निकल जाता है और विषय-वासना रूपी पंक में पुन. लिप्त न हो इस कारण देश संयम का पालन करने लगता है। इस अधिकार में देश संयम की प्राप्ति, सम्भावना और उसकी विघ्न-बाधाओं का वर्णन किया गया है। आत्म-शोधन के मार्ग में अग्रसर होने के लिए इस अधिकार की उपयोगिता अधिक है। संयमासंयमलब्धि के कारण ही जीव व्रतादि के धारण करने में समर्थ होता है।

१३. **संयमलब्धि अधिकार**—आत्मा की प्रवृत्ति हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रह मे हट कर अहिंसा, सत्य आदि व्रतों के अनुष्ठान में संलग्न हो सके। क्योंकि आत्मोत्थान का साधन संयम ही है। इसका विवेचन प्रस्तुत अधिकार में किया गया है।

१४. **चारित्र मोहोपशमना अधिकार**—इसमें चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम का विधान बतलाते हुए उपशम, संक्रमण और उदीरणादि भेद-प्रभेदों का कथन किया गया है।

१५. **चारित्र मोहक्षपणा अधिकार**—चारित्र मोहनीय कर्म की प्रवृत्तियों का क्षय क्रम, क्षय की प्रक्रिया में होने वाले स्थितिबन्ध और सभी तत्त्वों का विवेचन किया गया है।

"इस कषाय पाहुड पर आचार्य यतिवृषभ ने छः हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्रों की रचना की। जो कषाय पाहुड सुत्त के साथ वीर शासन संघ कलकत्ता से प्रकाशित हो चुके हैं। इस ग्रन्थ पर और भी अनेक टीकाएं रही हैं, किन्तु वे इस समय उपलब्ध नहीं हैं। हाँ, वीरसेन जिनसेन द्वारा लिखित जयधवला टीका प्राप्त है, जो शक संवत् ७५९, सन् ८३७ में रची गई है और जिसका प्रकाशन भा० दि० जैन संघ मथुरा से हो रहा है।

समय विचार—

आचार्यप्रवर गुणधर ने अपनी गुरु-परम्परा का कोई उल्लेख नहीं दिया और न ग्रन्थ का रचना-काल ही दिया है। अन्य किसी पट्टावली आदि मे भी गुणधर की गुरु-परम्परा का बोध नहीं होता। अर्हद्वली या गुप्तिगुप्त द्वारा स्थापित संघों में एक संघ का नाम गुणधर संघ होने से गुणधर का समय अर्हद्वली से पूर्ववर्ती है, क्योंकि अर्हद्बली को गुणधर की उस परम्परा का ज्ञान नहीं था। प्राकृत पट्टावली में अर्हद्वली का समय वीर-निर्वाण संवत् ५६५ सन् ३८ है। धरसेनाचार्य तो अर्हद्वली के समसामयिक हैं, क्योंकि युग प्रतिक्रमण के समय दो सुयोग्य विद्वान् साधुओं को जो ग्रहण-धारण में समर्थ थे धरसेन के पास भेजा था। यदि अर्हद्बली को गुणधर की गुरु-परम्परा का ज्ञान होता तो वे अपने शिष्यों से उसका उल्लेख अवश्य करते। अधिक समय बीत जाने के कारण उनकी परम्परा का ज्ञान नहीं रहा, पर उनके प्रति बहुमान अवश्य रहा। किन्तु गुणधर की परम्परा को पर्याप्त यश अर्जन करने पर ही 'गुणधरसंघ' संज्ञा प्राप्त हुई होगी। यदि उस यश अर्जन का काल सौ वर्ष माना जाय तो गुणधर का समय ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दि सिद्ध होता है।

अर्हद्बली—

इनका दूसरा नाम गुप्तिगुप्त भी था।[1] ये अंग पूर्वों के एकदेशपाठी और आरातीय आचार्यों के बाद हुए हैं। ये पूर्व देश में स्थित पुण्ड्रवर्धनपुर के निवासी, और अष्टाँग महानिमित्त के ज्ञाता, संघ के

१. श्रीमानशेषनरनायकवन्दितांघ्रि श्रीगुप्तिगुप्त इति विश्रुत नामधेयः ॥—नन्दि संघ पट्टावली

निग्रह अनुग्रह करने में समर्थ आचार्य थे[1]। उस समय पुण्ड्रवर्धन नगर के जैन श्रमण बड़े तपस्वी, विद्वान और संघ नायक के रूप में प्रसिद्ध थे। उस समय संघ में अनेक विद्वान तपस्वी विद्यमान थे, जो ध्यान और अध्ययन आदि में तत्पर रहते थे। इनके समय तक मूल दिगम्बर परम्परा में प्राय: संघ-भेद प्रकट रूप में नही हुआ था। उस समय आन्ध्र देश में स्थित वेण्णा नदी के किनारे बसे हुए वेण्णा नगर में पंचवर्षीय युग प्रतिक्रमण के समय एक बड़ा यति सम्मेलन हुआ था, जिसमें सौ योजन तक के मुनि गण ससंघ सम्मिलित हुए थे।[2] उस समय चन्द्रगुहानिवासी आचार्य धरसेन ने अपनी आयु अल्प जान ग्रन्थ-व्युच्छित्ति के भय से एक पत्र ब्रह्मचारी के हाथ उक्त सम्मेलन में भेजा था, जिसे पढ़ कर आचार्य अर्हद्बली ने ग्रहण धारण में समर्थ दो मुनियों को धरसेनाचार्य के पास भेजा था जो अग्रायणी पूर्व स्थित पंचम वस्तुगत चतुर्थ महाकर्म प्रकृति प्राभृतज्ञ थे, और वृद्ध तपस्वी थे। अंग पूर्वो का एक देश ज्ञान उन्हें आचार्य परम्परा से प्राप्त हुआ था। सम्भवत: अर्हद्बली उन मुनियों के दीक्षा-गुरु रहे हों। आचार्य धरसेन ने उन दोनों मुनियों को शुभ वार और शुभ नक्षत्र में ग्रन्थ का पढ़ाना प्रारम्भ किया था।

विविध संघों की स्थापना

आचार्य अर्हद्बली ने उक्त सम्मेलन में समागत साधुओं से—पूछा आप सब लोग आ गये। तब उन्होंने कहा—हम अपने-अपने संघ सहित आ गए।[3] उन साधुओं की भावनाओं से पक्षपात एवं आग्रह की नीति जानकर, 'नन्दि', 'वीर', 'अपराजित', 'देव', 'पंचस्तूप', 'सेन', 'भद्र', 'गुणधर', 'गुप्त', 'सिंह' और 'चन्द्र' आदि नामों से भिन्न-भिन्न संघ स्थापित किये।[4] जिससे उनमें एकता तथा अपनत्व की भावना, धर्मवात्सल्य और प्रभावना का अभिवृद्धि बनी रहे। इससे अर्हद्बली मुनि-संघ-प्रवर्तक, कहे जाते है। वे पंचाचार के स्वयं पालक थे। अर्हद्बली से पूर्व सम्भवत: संघों के विविध नाम नही थे। विविध संघों की स्थापना अर्हद्बली के समय से हुई है। उनसे पूर्व वह जैन निर्ग्रन्थ संघ के नाम से विश्रुत था।

प्राकृत पट्टावली के अनुसार इनका समय वीर निर्वाण संवत् ५६५ (वि० सं० ९५) ईस्वी सन् ३८ हैं। और यह काल २८ वर्ष बतलाया है।

यहाँ यह बात खास तौर से विचारणीय है कि आचार्य अर्हद्बली को धरसेन और गुणधर की गुरु परम्परा का ज्ञान न था, किन्तु उनके प्रति हृदय में बहुमान अवश्य था। सम्भव है, उनकी कृति 'कसायपाहुड' उस समय विद्यमान थी। इसीसे उन्होंने 'गुणधर' नाम का संघ भी कायम किया था। गुणधर का समय ईसा की प्रथम शताब्दी का पूर्वार्ध जान पड़ता है।

तिलोयपण्णत्ती और धवलादि ग्रन्थों में जो श्रुत परम्परा दी है, वह लोहार्य तक है। उनमें अर्हद्बलि, धरसेन, माघनन्दि और पुष्पदन्त भूतबली का उल्लेख नही है। इनके अनुसार इनका समय लोहार्य के बाद पड़ता है।

---

१. पूर्वाङ्गदेशैक देशवित्पूर्व देश मध्यगते।
श्री पुण्ड्रवर्धनपुरे मुनिरजनि ततोऽर्हद्बल्याख्य: ॥ ८५
स च तत्प्रसारणा धारणा विशुद्धाति सत्क्रियो युक्त:।
अष्टांग निमित्तज्ञ: संघानुग्रह निग्रह समर्थ: ॥ ८६ —इन्द्रनंदि श्रुतावतार

२. आस्ते संवत्सरपञ्चकावसाने युग प्रतिक्रमणम्।
कुर्वन्योजन शतमात्रवर्ति मुनिजनसमाजस्य ॥ ८७
अथ सोऽन्यदा युगान्ते कुर्वन् भगवान्युगप्रतिक्रमणम् ॥
मुनिजनवृन्दमपृच्छत्किं सर्वेऽप्यागता यत : ॥ ८८ —इन्द्रनंदि श्रुतावतार

३. क्योंकि श्रवण बेलगोल के शिलालेख १०५ में पुष्पदन्त और भूतबलि को स्पष्ट रूप से संघभेदकर्ता अर्हद्बली के शिष्य कहा है।

४. इन्द्रनन्दि श्रुतावतार—९१ श्लोक से ९६ श्लोक तक के पद्य—इन्द्रनन्दि श्रुतावतार।

आचार्य धरसेन—

पसियउ मह धरसेणो पर-वाइ-गओह-दाण-वरसीहो।
सिद्धंतामिय-सायर-तरंग-संघाय-धोय-मणो ॥

मुनि पुँगव धरसेन सौराष्ट्र (गुजरात काठियावाड़) देश के गिरिनगर की चन्द्रगुफा के निवासी, अष्टांग महानिमित्त के पारगामी विद्वान थे। उन्हे अग और पूर्वो का एकदेश ज्ञान आचार्य परम्परा से प्राप्त हुआ था।[1] आचार्य धरसेन अग्रायणी पूर्व स्थित पचम वस्तु गत चतुर्थ महाकर्म प्रकृति प्राभृत के ज्ञाता थे। उन्होंने प्रवचन वात्सल्य से प्रेरित हो अग-श्रुत के विच्छेद हो जाने के भय से किसी ब्रह्मचारी के हाथ एक लेख दक्षिणापथ के आचार्यों के पास भेजा।[2] लेख में लिखे गए धरसेनाचार्य के वचनों को भली भांति समझ कर उन्होंने ग्रहण-धारण में समर्थ, देश-कुल-जाति से शुद्ध और निर्मल विनय से विभूषित, समस्त कलाओं में पारगत दो साधुओं को आन्ध्र देश में बहने वाली वेणा नदी के तट से भेजा।

मार्ग में उन दोनों साधुओं के आते समय, जो कुन्द के पुष्प, चन्द्रमा और शख के समान सफेद वर्ण वाले हैं, समस्त लक्षणों से परिपूर्ण है, जिन्होंने आचार्य धरसेन की तीन प्रदक्षिणा दी है, और जिनके अग नम्रीभूत होकर आचार्य के चरणों में पड़ गए है ऐसे दो बैलों को धरसेन भट्टारक ने रात्रि के पिछले भाग में स्वप्न में देखा। इस प्रकार के स्वप्न को देख कर सन्तुष्ट हुए धरसेनाचार्य ने 'श्रुत देवता जयवन्त हो' ऐसा वाक्य उच्चारण किया।

उसी दिन दक्षिणा पथ से भेजे हुए दोनो साधु धरसेनाचार्य को प्राप्त हुए। धरसेनाचार्य की पाद वन्दना आदि कृति कर्म करके तथा दो दिन बिता कर तीसरे दिन उन दोनों साधुओं ने धरसेनाचार्य से निवेदन किया कि इस कार्य से हम दोनो आपके पादमूल को प्राप्त हुए हैं। उन दोनों साधुओं के इस प्रकार निवेदन करने पर 'अच्छा है, कल्याण हो, इस प्रकार कह कर धरसेनाचार्य ने उन दोनों साधुओं को आश्वासन दिया।

धरसेनाचार्य ने उनकी परीक्षा ली, एक को अधिकाक्षरी और दूसरे को हीनाक्षरी विद्या बता कर उन्हें षष्ठोपवास से सिद्ध करने को कहा। जब विद्याएं सिद्ध हुई तो एक बड़े दांतों वाली और दूसरी कानी देवी के रूप में प्रकट हुई। उन्हे देख कर चतुर साधकों ने मन्त्रों की त्रुटि को जानकर अक्षरों की कमी-बेशी को दूर कर साधना की तो फिर देवियाँ अपने स्वाभाविक रूप में प्रकट हुई।

उक्त दोनों मुनियों ने धरसेन के समक्ष विद्या-सिद्धि सम्बन्धी सब वृत्तान्त निवेदन किया, तब धरसेनाचार्य ने कहा - बहुत अच्छा। इस प्रकार सन्तुष्ट हुए धरसेन भट्टारक ने शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र और शुभ वार में ग्रन्थ का पढ़ाना प्रारम्भ किया। धरसेन का अध्यापन कार्य आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी के पूर्वाण्ह काल में समाप्त हुआ। अतएव सन्तुष्ट हुए भूत जाति के व्यन्तर देवों ने उन दोनों में एक की पुष्पावली से तथा शख और तूर्य जाति

१ तदो सव्वेसिमंगपुव्वाणमेगदेसो आइरियपरम्पराए आगच्छमाणो धरसेणाइरियं सपत्तो।
—धवला० पु० १ पृ० ६७।

२. सोरट्ठ-विसय-गिरिणयर-पट्टण चदगुहा-ठिएण अट्ठग-महानिमित्त-पारगएण गथ-वोच्छेदो होहदित्ति जात-भएण पवयण-वच्छलेण दक्खिणावहाइरियाण महिमाए मिलियाण लेहो पेसिदो। लेहट्ठिय-धरसेण-वयणमवधारिय तेहि वि आइरिएहि बे साहू गहण-धारण-समत्था धवलामलबहुविह-विणय-विहूसियगा सीलमालाहरा गुरु पेसणासण-तित्ता देस-कुल-जाइ-सुद्धा सयलकला-पारया तिक्खुत्ता बुच्छियाइरिया अध विसय-वेणायडादो पेसिदा।
(धवला० पु० १ पृ० ६७)

(क) उज्जिते गिरि सिहरे धरसेणो धरइ वय-समिदिगुत्ती।
चदगुहाइ णिवासी भवियहु तसु णमहु पय जुयल ॥ ८१
अग्गायणीय णाम पचम वत्थुगद कम्मपाहुडया।
पयडिट्ठिदिअणुभागो जाणनि पदेसबधो वि ॥ ८२ (श्रुतस्कध ब्रह्महेमचन्द्र)

(ख) इन्द्रनन्दिश्रुतावतार श्लोक १०३, १०४

के वाद्यविशेष के नाद से बड़ी भारी पूजा की। उसे देख कर धरसेन भट्टारक ने उनका भूतबलि नाम रक्खा। और जिनकी भूतों ने पूजा की और अस्त व्यस्त दन्तपक्ति को दूर कर उनके दांत समान कर दिये, अतः धरसेन भट्टारक ने दूसरे का नाम पुष्पदन्त रक्खा। पश्चात् दूसरे दिन वहां से उन दोनों ने गुरु की आज्ञा से चल कर अंकलेश्वर (गुजरात) में वर्षाकाल बिताया।[1]

धरसेनाचार्य ने दोनों शिष्यों को इस कारण जल्दी वापिस भेज दिया, जिससे उन्हें गुरु के दिवंगत होने पर दुःख न हो। कुछ समय पश्चात उन्होंने साम्य भाव से शरीर का परित्याग कर दिया।

आचार्य धरसेन की एकमात्र कृति 'योनि पाहुड' है, जिसमें मन्त्र-तन्त्रादि शक्तियों का वर्णन है।[2] यह ग्रन्थ मेरे देखने में नहीं आया। कहा जाता है कि वह रिसर्च इन्स्टिट्यूट पूना के शास्त्र भण्डार में मोजूद है।

माघनन्दि सिद्धान्ती—नन्दि संघ की पट्टावली में अर्हद्बलि के बाद माघनन्दि का उल्लेख किया है और उनका काल २१ वर्ष बतलाया है। जम्बूद्वीप पण्णत्ती के कर्ता पद्मनन्दी ने माघनन्दि का उल्लेख करते हुए बतलाया है कि वे राग-द्वेष और मोह से रहित, श्रुतसागर के पारगामी, मतिप्रगल्भ, तप और संयम से सम्पन्न, लोक में प्रसिद्ध थे। श्रुतसागर पारगामी पद से उन माघनन्दि का उल्लेख ज्ञात होता है जो सिद्धान्तवेदी थे। इनके सम्बन्ध में एक कथानक भी प्रचलित है। कहा जाता है कि माघनन्दि मुनि एक बार चर्या के लिये नगर में गए थे। वहाँ एक कुम्हार की कन्या ने इनसे प्रेम प्रगट किया और वे उसी के साथ रहने लगे। कालान्तर में एक बार संघ में किसी सैद्धान्तिक विषय पर मतभेद उपस्थित हुआ और जब किसी से उसका समाधान नहीं हो सका, तब संघनायक ने आज्ञा दी कि इसका समाधान माघनन्दि के पास जाकर किया जाय। अतएव साधु माघनन्दि के पास पहुँचे और उनसे ज्ञान की व्यवस्था मांगी। तब माघनन्दि ने पूछा 'क्या संघ मुझे अब भी यह सत्कार देता है? मुनियों ने उत्तर दिया—आपके श्रुतज्ञान का सदैव आदर होगा।' यह सुनकर माघनन्दि को पुनः वैराग्य हो गया और वे अपने सुरक्षित रखे हुए पीछी कमंडलु लेकर संघ में आ मिले और प्रायश्चित किया।

माघनन्दि ने अपने कुम्हार जीवन के समय कच्चे घड़ों पर थाप देते समय गाते हुए एक ऐतिहासिक स्तुति बनाई थी, जो अनेकान्त में प्रकाशित हो चुकी है। पर वह इन्ही माघनन्दि की कृति है, इसके जानने का कोई प्रामाणिक साधन देखने में नहीं आया। शिला लेख नं० १२९ में बिना किसी गुरु शिष्य सम्बन्ध के माघनन्दि को प्रसिद्ध सिद्धान्तवेदी कहा है। यथा—

नमो नम्रजनानन्दस्यन्दिने माघनन्दिने।
जगत्प्रसिद्ध सिद्धान्तवेदिने चित्प्रमेदिने ॥

माघनन्दि नाम के और भी सैद्धान्तिक विद्वान हुए हैं। पर वे इनसे पश्चाद्वर्ती हैं, जिनका परिचय आगे दिया जायेगा। प्रस्तुत माघनन्दि के शिष्य 'जिनचन्द्र' बतलाए गए हैं। पर उनका कोई परिचय उपलब्ध नहीं होता।

पुष्पदन्त और भूतबली—ये दोनों अर्हद्बली के शिष्य थे।[3] दक्षिण भारत के आन्ध्र देश के वेणातट नगर में युग प्रतिक्रमण के समय एक बड़ा मुनि सम्मेलन हुआ था। उस समय सौराष्ट्र देश के गिरिनगर (वर्तमान जूनागढ़) में स्थित चन्द्रगुहा निवासी आचार्य धरसेन ने जो अग्रायणी पूर्व के पंचम वस्तु गत चतुर्थ महाकर्म प्रकृति प्राभृत के

१. पुणो तद्दिवसे चेव पेसिदा संतो 'गुरु-वयण मलंघणिज्ज' इदिचिंतिऊणागदेहि अंकुलेसर वरिसाकालो कओ। जोगं समाणीय जिणवालिय दट्ठूण पुप्फयंताइरियो वणवास-विसय गदो। भूदबलि-भडारओ वि दमिलदेसं गदो।

२. 'जोणि पाहुडे भणिद-मंत-तंत सत्तीओ पोग्गलाणुभागो त्ति घेतव्वो'

—अनेकान्त वर्ष २ जुलाई

३. यः पुष्पदन्तेन च भूतबल्याख्येनापि शिष्यद्वितीयेन रेजे।
फल प्रदानाय जगज्जननां प्राप्तोऽङ्कुराभ्यामिव कल्पभूजः ॥

—जैन शिलालेख सं० भा० १ लेख १०५

ज्ञाता थे। वे उस समय के साधुओं में बहुश्रुत विद्वान तथा अष्टांग महानिमित्त के ज्ञाता थे। उन्होंने प्रवचन वात्सल्य एवं श्रुतविच्छेद के भय से एक लेखपत्र वेण्यातट नगर के मुनि सम्मेलन में दक्षिणा पथ के आचार्यों के पास भेजा। जिसमे देश, कुल, जाति से विशुद्ध, शब्द अर्थ के ग्रहण-धारण में समर्थ, विनयी दो विद्वान साधुओं को भेजने की प्रेरणा की गयी। संघ ने पत्र पढ़कर दो योग्य साधुओं को उनके पास भेजा।[1] इस सम्मेलन में ही सर्वप्रथम निर्ग्रन्थ दिगम्बर सघ में नन्दि, सेन, सिह, भद्र, गुणधर, पंचस्तूप आदि उपसघ उत्पन्न हुए थे। और उनके कर्ता अर्हद्बली थे। यह सम्मेलन सभवतः सन् ६६ ई० पू० में हुआ था। उन विद्वानों के आने पर आचार्य धरसेन ने उनकी परीक्षा कर 'महा कर्म प्रकृति प्राभृत' नाम के ग्रन्थ को शुभ तिथि शुभ नक्षत्र और शुभ वार में पढ़ाना प्रारम्भ किया और उसे क्रम से व्याख्यान करते हुए आषाढ़ महीने के शुक्ल पक्ष की एकादशी के पूर्वाण्ह काल में समाप्त किया। विनयपूर्वक ग्रन्थ समाप्त होने से सन्तुष्ट हुए भूत जाति के व्यतर देवों ने उन दोनों में से एक की पुष्पावली तथा शख और तूर्य जाति के वाद्य विशेष के नाद से व्याप्त बड़ी पूजा की। उसे देखकर आचार्य धरसेन ने उनका भूतबलि नाम रक्खा। और दूसरे की अस्त-व्यस्त दन्त पंक्ति को दूर किया, अतएव उनका नाम पुष्पदन्त रक्खा।

ये दोनों ही विद्वान गुरु की आज्ञा से चलकर उन्होंने अकलेश्वर (गुजरात) में वर्षा काल बिताया। वर्षा योग को समाप्त कर और जिनपालित को लेकर पुष्पदन्त तो उसके साथ वनवास देश को गये। और भूतबलि भट्टारक द्रमिल देश को चले गए। पश्चात् पुष्पदन्ताचार्य ने जिनपालित को दीक्षा देकर बीस प्ररूपणा गर्भित सत्प्ररूपणा के सूत्र बनाकर और जिनपालित को पढाकर, पश्चात् उन्हें भूतबलि आचार्य के पास भेजा। उन्होंने जिनपालित के पास वीसप्ररूपणान्तर्गत सत्प्ररूपणा के सूत्र देखे और पुष्पदन्त को अल्पायु जानकर महाकर्म प्रकृति प्राभृत के विच्छेद होने के भय से द्रव्य प्रमाणानुगम से लेकर जीवस्थान, क्षुद्रक बन्ध, बन्ध स्वामित्वविचय, वेदना, वर्गणा और महाबन्ध रूप षट् खण्डागम की रचना की।[2] ये दोनों ही आचार्य राग-द्वेप-मोह से रहित हो जिन-वाणी के प्रचार में लगे रहे। इन्द्रनन्दि और ब्रह्म हेमचन्द्र के श्रुतावतार से ज्ञात होता है कि जब षट्खण्डागम की रचना पूर्ण हुई, तब चतुर्विध सघ सहित पुष्पदन्त भूतबलि आचार्य ने ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को ग्रंथराज की बड़ी भक्तिपूर्वक पूजा की।[3] उसी समय से श्रुतपंचमी पर्व लोक में प्रचलित हुआ।

षट् खण्डागम की महत्ता इसलिये भी है कि उसका सीधा सम्बन्ध द्वादशांग वाणी से है। क्योंकि अग्रायणी पूर्व के पाँचवें अधिकार के चतुर्थ वस्तु प्राभृत का नाम महाकर्मप्रकृति प्राभृत है, उससे षट्खण्डागम की रचना हुई है। जैसा कि धवला पुस्तक ९ पृष्ठ १३४ के निम्न वाक्यों से प्रकट है :—अग्गेणियस्स पुव्वस्स पंचमस्स वत्थुस्स चउत्थो पाहुडो कम्म पयडीणाम। अतएव द्वादशांग वाणी से उसका सम्बन्ध स्पष्ट ही है।

षट् खण्डागम परिचय

१ **जीवस्थान**—में गुणस्थान और मार्गणा स्थानों का आश्रय लेकर सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर,

---

१. सो 'ट विसयगिरिणयर, पट्टण-चदगुहा-ट्ठिएण महाणिमित्तपारएण गथ-वोच्छेदो होहदित्ति जात भएण पवयण वच्छ-लेण दक्खिणावहाइरियाण महिमाए मिलियाण लेहो पेसिदो। लेहट्ठिय-धरसेण वयणमवधारिय तेहि वि आइ-रिएहि वे साहू गहण-धारण समत्था धवलामल-बहुविहविणय विहूसियगा सीलमालाहरा गुरुपेसणासणतित्ता देस कुल जाइ सुद्धा सयलकला पारया तिक्खुत्ताबुच्छियाइरिया अन्धविसयवेणायडादो पेसिदा।

—धव० पु० १ पृ० ६७

२. भूदवलि भयव दा जिणवालिद पासे दिट्ठवीसदि सुत्तेण अप्पाउओ त्ति अवगय जिण वालिदेण महाकम्मपयडि पाहु-डस्स वोच्छेदो होहदित्ति समुप्पण्ण-बुद्धिणा पुणो दव्वपमाणाणुगमादि काऊण गथरचणा कदा।

—धवला० पुस्तक १ पृ० ७१

३. ज्येष्ठ सितपक्ष पञ्चम्या चतुर्वर्ण्यसघसमवेतः। तत्पुस्तकोपकरणैर्व्यधात् क्रिया पूर्वक पूजाम्।
श्रुतपंचमीति तेन प्रख्याति तिथिरियं परामाप। अद्यापि येन तस्यां श्रुतपूजा कुर्वते जैनाः॥
इंद्र० श्रु० १४३, १४४। ब्रह्महेमचन्द्र श्रुतस्कन्ध गा० ८६, ८७

भाव और अल्प बहुत्व इन आठ अनुयोगद्वारो मे से तथा प्रकृति समुत्कीर्तन, स्थान समुत्कीर्तन, तीन महादण्डक, जघन्य स्थिति, उत्कृष्ट स्थिति, सम्यक्त्वोत्पत्ति और गति आगति इन नो चूलिकाओं द्वारा संसारी जीव की विविध अवस्थाओं का वर्णन किया गया है।

खुद्दाबन्ध— इस द्वितीयखण्ड मे बन्धक जीवो की प्ररूपणा स्वामित्वादि ग्यारह अनुयोगो द्वारा गति आदि मार्गणा स्थानो मे की गई है और अन्त मे ग्यारह अनुयोग द्वारा चूलिका रूप 'महादण्डक' दिया गया है।

बन्ध स्वामित्व–नामक तृतीय खण्ड मे बन्ध के स्वामियों का विचार होने से इस का नाम बन्ध स्वामित्व दिया गया है। इसमे गुणस्थानो और मार्गणा स्थानों के द्वारा सभी कर्म प्रकृतियो के बन्धक स्वामियों का विस्तार से विचार किया गया है। किस जीव के कितनी प्रकृतियो का बंध कहा तक होता है, किसके नही होता है, कितनी प्रकृतियाँ किस-किस गुणस्थान मे व्युच्छिन्न होती है, स्वोदय बन्ध रूप प्रकृतियाँ कितनी है और परोदय बन्ध रूप कितनी है। इत्यादि कर्म सम्बन्धी विषयो का बन्धक जीव की अपेक्षा से कथन किया गया है।

वेदना—महाकर्म प्रकृति प्राभृत के २४ अनुयोगद्वारा मे से जिन छह अनुयोगद्वारो का कथन भूतबलि आचार्य ने किया है उसमें पहले का नाम कृति और दूसरे का नाम वेदना है। वेदना का इस खण्ड मे विस्तार से विवेचन किया गया है।

वर्गणा - इस वर्गणा खण्ड मे स्पर्श कर्म और प्रकृति अनुयोग द्वारो के साथ छठे बन्धन अनुयोग द्वार के अन्तर्गत बन्धनीय का अवलम्बन लेकर पुद्गल वर्गणाओं का कथन किया गया है, इस कारण इसका नाम वर्गणा दिया है।

इन पाँच खडो के अतिरिक्त भूतबलि आचार्य ने महाबन्ध नाम के छठवें खण्ड में प्रकृति बन्ध, स्थितिबंध अनुभाग बंध और प्रदेशबध रूप चार प्रकार के बध के विधान का विस्तार के साथ कथन किया है जिसका प्रमाण ब्रह्म हेमचन्द ने चालीस हजार श्लोक प्रमाण बतलाया है। और पांच खण्डो का प्रमाण छह हजार श्लोक प्रमाण सूत्र ग्रन्थ है। षट् खण्डागम महत्वपूर्ण आगम ग्रन्थ है। उसका उत्तरवर्ती ग्रन्थकारो और ग्रन्थों पर प्रभाव अंकित है। सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकादि ग्रन्थो मे उसका अनुकरण देखा जाता है।

पुष्पदन्त भूतबलि कौन थे ?

जैन अनुश्रुति में नहवाण, नहपान और नरवाहन आदि नाम मिलते है। नहपान वसिदेश में स्थित वसुन्धरा नगरी का क्षहरात वश का प्रसिद्ध शासक था। इसकी रानी का नाम सरूपा था। नहपान अपने समय का एक वीर और पराक्रमी शासक था और वह धर्मनिष्ठ तथा प्रजा का सपालक था। नहपान के अपने तथा जामाता उषभदत्त या ऋषभदत्त और मत्री अयम के अनेक शिलालेख मिलते है, जो वर्ष ४१ से ४६ तक के है। नहपान के राज्य पर ईस्वी सन् ६१ के लगभग गोतमी पुत्र शातकर्णी ने भृगुकच्छ पर आक्रमण किया था। घोर युद्ध के बाद नहपान पराजित हो गया और युद्ध मे उसका सर्वस्व विनष्ट हो गया। उसने सधि कर ली।

१—जुनार के अभिलेख म नहपान की अन्तिम तिथि ४६ का उल्लेख है। यह शक सवत् की तिथि है। इससे स्पष्ट है कि वह शक स० ४६ + ७८ = १२४ ईस्वी म राज्य करता था। उसके बाद उसके राज्य पर गौतम पुत्र शातकर्णी ने घोर युद्ध के बाद अधिकार कर लिया था। शातकर्णी का एक लेख उसके राज्य के १८वे वर्ष का मिला है। यह १०६ ईस्वी के लगभग सिहासन पर बैठा होगा। दूसरा लेख नासिक म २४वे वर्ष का मिला है।

—देखो, प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सास्कृतिक इतिहास पृ० ५२६

नासिक के दो अभिलेखो से स्पष्ट है कि उसने (गौतमी पुत्र शातकर्णी ने) छहरातवश को पराजित कर अपने वश का राज्य स्थापित किया था। जो गलथम्भी-मुद्राभाण्ड-मे भी उस कथन की पुष्टि होती है। इस भाण्ड मे तेरह हजार मुद्राए है जिन पर नहपान और गौतमी पुत्र दोनो के नाम अंकित है। इससे स्पष्ट है कि नहपान को पराजित करने के पश्चात् उसने उसकी मुद्राओ पर अपना नाम अंकित करने के बाद फिर से उन्हे प्रसारित किया।

—देखो प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास पृ० ५२७

सातवाहन ने इस विजय के उपलक्ष्य में नहपान के सिक्कों को प्राप्त कर और उन पर अपने नाम की मुहर अंकित कर राज्य में चालू किया। वह उस समय वहाँ आया हुआ था। उसमें नहपान ने अपने मित्र मगध नरेश को मुनि रूप में देखकर और उनके उपदेश से प्रेरित हो अपने जमाता ऋषभदत्त को राज्यभार सौंप कर अपने राज्य श्रेष्ठि सुबुद्धि के साथ मुनि दीक्षा ले ली। इन दोनों साधुओं ने संघ में रहकर तपश्चरण तथा आवश्यकादि क्रियाओं के अतिरिक्त ध्यान अध्ययन द्वारा ज्ञान का अच्छा अर्जन किया, यह अत्यन्त विनयी विद्वान और ग्रहण धारण में समर्थ थे। इन दोनों साधुओं को आचार्य धरसेन के पास गिरि नगर भेजा गया था। आचार्य धरसेन ने इनकी परीक्षा कर महाकर्मप्रकृति प्राभृति पढ़ाया था। इनमें एक का नाम भूतबलि और दूसरे का नाम पुष्पदन्त रक्खा गया था। उनका दीक्षा नाम क्या था, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता।

नरवाहन या नहपान राजा भूतिबलि हुआ। और राजश्रेष्ठि सुबुद्धि पुष्पदन्त के नाम से ख्यात हुए। बिबुध श्रीधर के श्रुतावतार में इनका उल्लेख है। और नरवाहन को भूतबलि और सुबुद्धि सेठ को पुष्पदन्त बतलाया गया है।

कुन्दकुन्दाचाय

भारतीय जैन श्रमण परम्परा में मुनिपुंगव कुन्दकुन्दाचार्य का नाम खासतौर से उल्लेखनीय है। वे उस परम्परा के प्रवर्तक आचार्य नहीं थे। किन्तु उन्होंने आध्यात्मिक योग शक्ति का विकास कर अध्यात्मविद्या की उस अवच्छिन्न धारा को जन्म दिया था। जिसकी निष्ठा एवं अनुभूति आत्मानन्द की जनक थी और जिसके कारण भारतीय श्रमणपरम्परा का यश लोक में विश्रुत हुआ था।

श्रमण-कुल-कमल-दिवाकर आचार्य कुन्दकुन्द जैन संघ परम्परा के प्रधान विद्वान एवं महर्षि थे। वे बड़े भारी तपस्वी थे। क्षमाशील और जैनागम के रहस्य के विशिष्ट ज्ञाता थे। वे मुनि-पुंगव रत्नत्रय से विशिष्ट और संयम निष्ठ थे। उनकी आत्म-साधना कठोर होते हुए भी दुःख निवृत्ति रूप सुखमार्ग की निदर्शक थी। वे अहंकार ममकार रूप कल्मष-भावना से रहित तो थे ही। साथ ही, उनका व्यक्तित्व असाधारण था। उनकी प्रशान्त एवं यथाजात मुद्रा तथा सौम्य आकृति देखने से परम शान्ति का अनुभव होता था। वे आत्म-साधना में कभी प्रमादी नहीं होते थे। किन्तु मोक्षमार्ग की वे साक्षात् प्रतिमूर्ति थे। वास्तव में कुन्दकुन्द श्रमण-ऋषियों में अग्रणी थे। यही कारण है कि—'मंगलं भगवान वीरो' इत्यादि पद्य में निहित 'मंगलं कुन्दकुन्दार्यो' वाक्य के द्वारा मंगल कार्यों में आपका प्रतिदिन स्मरण किया जाता है।

कुन्दकुन्द का दीक्षा नाम पद्मनन्दी था [1]। वे कौण्डकुण्डपुर के निवासी थे [2]। गुण्टकल रेलवे स्टेशन से दक्षिण की ओर लगभग चार मील पर कौण्ड कुण्डल नाम का स्थान है, जो अनन्तपुर जिले के गुटी तालुके में स्थित है। शिलालेख में उसका प्राचीन नाम 'कौण्डकुन्दे' मिलता है। यहाँ के निवासी इसे आज भी कौण्डकुन्दि कहते हैं [3]। संभव है कुन्दकुन्द का यही जन्म स्थान रहा हो। अतः उस स्थान के कारण उनको प्रसिद्धि कौण्डकुन्दाचार्य के नाम से हुई थी। जो बाद में कुन्दकुन्द इस श्रुति मधुर नाम में परिणत हो गया था। और उनका संघ मूलसंघ और 'कुन्दकुन्दाचार्य' के नाम से लोक में प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। और आज भी वह उसी नाम से प्रचार में आ रहा है।

१. तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः।
श्रीकौण्डकुन्दादि मुनीश्वराख्यस्संयमादुदगत चारणर्द्धि ॥

—जैन लेख सं० भा० १ पृ० २४

(क) श्री पद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्य शब्दोत्तरकोण्डकुन्दः ॥

—जैन लेख सं० भा० १ पृ० ३४

२. देखो इंद्रनन्दि श्रुतावतार

३. जैनिज्म इन साउथ इंडिया

वे मूलसंघ के अद्वितीय नेता थे। यद्यपि उन्होंने अपनी रचनाओं में अपने संघ का कोई उल्लेख नहीं किया। किन्तु उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपनी गुरु परम्परा के रूप में या अन्य प्रकार से उनकी पवित्र कृतियों की मौलिकता के कारण या अपने संघ को 'मूलसंघ' और अपनी परम्परा को 'कुन्दकुन्दान्वय' सूचित किया है। वे ऐसा करने में अपना गौरव समझते थे। क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द ने भगवान जिनेन्द्र द्वारा उपदिष्ट समीचीन मार्ग का अनुपम उपदेश दिया था। साथ ही, उसे अपने जीवन में उतारकर भरत क्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की थी[1]। उन्होंने आत्मानुभूति के द्वारा श्रुत केवलियों द्वारा प्रदर्शित आत्ममार्ग का उद्भावन किया था, जिसे जनता भूल रही थी। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन श्रमणों में प्रधान थे। आपकी आध्यात्मिक कृतियां अपनी सानी नहीं रखतीं, और वे दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में समान रूप से आदरणीय मानी जाती हैं। उनकी आत्मा कितनी विमल थी, और उन्होंने कलमष परिणति पर किस प्रकार विजय पाई थी, यह उनके तपस्वी जीवन से सहज ही ज्ञात हो जाता है।

अटल नियम पालक

मुनि-पुंगव कुन्दकुन्द जैन श्रमण परम्परा के लिये आवश्यकीय मूलगुण और उत्तर गुणों का पालन करते थे और अनशनादि बारह प्रकार के अन्तर्बाह्य तपों का अनुष्ठान करते हुए तपस्वियों में प्रधान महर्षि थे। उन्होंने प्रवचनसार में जैन श्रमणों के मूलगुण[2] इस प्रकार बतलाये हैं—

वद समिदिंदियरोधो लोचावस्सय मचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयण-मेगभत्तं च॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि॥ (३-७-८)

पांचमहाव्रत, पांच समिति, पांचइन्द्रियों का निरोध, केशलोंच, षट् आवश्यकक्रियाएं, अचेलक्य (नग्नता) अस्नान, क्षितिशयन, अदन्त-धावन, स्थिति भोजन और एक भुक्ति (एकासन) ये जैन श्रमणों में अट्ठाईस मूलगुण जिनेन्द्र भगवान ने कहे हैं। जो साधु उनके आचरण में प्रमादी होता है वह छेदोपस्थापक कहलाता है।"

ग्रामों नगरों में ससंघ भ्रमण

वे यथाजात रूपधारी महाश्रमण अनेक ग्रामों, नगरों में ससंघ भ्रमण करते थे, और अनेक राजाओं, महाराजाओं, महात्माओं, राजश्रेष्ठियों, श्रावक-श्राविकाओं और मुनियों के समूह से सदा अभिवन्दित थे, परन्तु उनका किसी पर अनुराग और किसी पर विद्वेष न था। विकारी कारणों के रहने पर भी उनका चित्त कभी विकृत नहीं होता था, वे समदर्शी श्रमण जब गुप्ति रूप प्रवृत्ति में असमर्थ हो जाते थे, तब समिति में सावधानी से प्रवृत्त होते थे। क्योंकि उस समय भी वे अपने उपयोग की स्थिरता के कारण शुद्धोपयोग रूप संयम के संरक्षक थे, इसलिये समिति रूप प्रवृत्ति में सावधान साधु के बाह्य में कदाचित् किसी दूसरे जीव का घात हो जाने पर भी वह प्रमत्तयोग के अभाव में हिंसक नहीं कहलाता, क्योंकि शुभोपयोग प्रवृत्ति सयम का घात करने वाली अन्तरंग हिंसा ही है, उससे ही बन्ध होता है, कोरी द्रव्यहिंसा हिंसा नहीं कहलाती, किन्तु अयत्नाचार रूप प्रवृत्ति करने वाला साधु रागादि भाव के कारण षटकाय के जीवों का विराधक होता है। परन्तु जो अपनी प्रवृत्ति में सावधान हैं—रागादिभाव से उनकी प्रवृत्ति अनुरंजित नहीं है, तब उसकी हलन-चलनादि क्रियाओं से जीव की विराधना होने पर भी वह हिंसक नहीं कहलाता—वह जल में कमल की तरह उस कर्मबन्धन से निर्लेप रहता है—शुद्धोपयोग रूप अहिंसक भावना के बल

---

१. वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः कुन्दप्रभाप्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः।
यश्चारु-चारण-कराम्बुज चञ्चरीकश्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम्॥
—जैन लेख सं० भा० १ पृ० १०२

२. यही मूलगुण मूलाचार मे भी बतलाए गए है। जो लोक में आचारंग रूप में प्रसिद्ध है।

से उसका अन्तःकरण विमल एव सर्वथा अक्षुण्ण बना रहता है।

इस तरह महामुनि कुन्दकुन्द नगर से बाह्य उद्यानों, दुर्गम अटवियों, सघन वनों, तरु कोटरों, नदी पुलिनों गिरि शिखरों, पार्वतीय कन्दराओं में तथा श्मशान भूमियों (मरघटों) में निवास करते थे।[1] जहां अनेक हिंसक जाति-विरोधी जीवों का निवास रहता था। शीत उष्ण डांस, मच्छर आदि की अनेक असह्य वेदनाओं को सहते हुए भी वे अपने चिदानन्द स्वरूप से जरा भी विचलित नहीं होते थे। आवश्यक क्रियाओं में प्रवृत्त होते हुए भी वे महामुनि अपने ज्ञान दर्शन चारित्र रूप आत्म-गुणों में स्थिर रहने के लिये एकान्त प्राशुक स्थानों में आत्म समाधि के द्वारा उस निजानन्द रूप परमपीयूष का पान करते हुए आत्म-विभोर हो उठते थे। परन्तु जब समाधि को छोड़कर ससारस्थ जीवों के दुःखों और उनकी उच्च नीच प्रवृत्तियों का विचार करते, उसी समय उनके हृदय में एक प्रकार की टीस एव वेदना उत्पन्न होती थी, अथवा दया का स्रोत बाहर निकलता था।

चारण ऋद्धि और विदेह गमन

इस तरह सम्यक् तप के अनुष्ठान से आचार्य कुन्दकुन्द को चारण ऋद्धि की प्राप्ति हो गई थी जिसके फल-स्वरूप वे पृथ्वी से चार अंगुल ऊपर अन्तरिक्ष में चला करते थे।[2]

आचार्य देवसेन के 'दर्शनसार' से मालूम होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द विदेह क्षेत्र में सीमधर स्वामी के समवशरण में गए थे और वहां जाकर उन्होंने दिव्य ध्वनि द्वारा आत्मतत्त्व रूपी सुधारस का साक्षात् पान किया था। और वहां से लौटकर उन्होंने मुनिजनों के हित का मार्ग बतलाया था।[3]

श्रवण बेलगोला के शिलालेखों में तो यह भी ज्ञात होता है कि उन्होंने चरणऋद्धि की प्राप्ति के साथ, भरत क्षेत्र में श्रुतकी प्रतिष्ठा की थी—उन्होंने उसे समुन्नत बनाया था।[4] इसमें कोई सन्देह नहीं कि जब तपश्चरण की महत्ता से आत्मा से निगड कर्म का बन्धन भी नष्ट हो जाता है तब उसके प्रभाव से यदि उन्हें चारणऋद्धि प्राप्त हो गई तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है; क्योंकि कुन्दकुन्द महामुनिराज थे, अतः उन जैसे असाधारण व्यक्ति के सम्बन्ध में जिस घटना का उल्लेख किया गया है उसमें सन्देह का कोई कारण नहीं है। और देवसेनाचार्य के उल्लेख से इतना तो स्पष्ट ही है कि विक्रम स० ६६० में उनके सम्बन्ध में उक्त घटना प्रचलित थी।

अध्यात्मवाद और आत्मा का त्रैविध्य

अध्यात्मवाद वह निर्विकल्प रसायन है। जिसके सेवन अथवा पान से आत्मा अपने स्वानुभवरूप आत्मरज में लीन हो जाता है, और जो आत्म सुधारस की निर्मल धारा का जनक है। जिसकी प्राप्ति से आत्मा उस आत्मानन्द में निमग्न हो जाता है, जिसके लिये वह चिरकाल से उत्कंठित हो रहा था। आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मानुभव की उस विमल सरिता में निमग्न होकर भी, ससारी जीवों की उस आत्मरस शून्य अनात्मरूप मिथ्या परिणति का

---

१. सुण्णहरे तरु हिट्ठे उज्जाणे तह मसाण वासे वा।
गिरि-गुह गिरिसिहरे वा भीमवणे अहव वसिते वा॥ —बोध प्राभृत

२. रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्बाह्ये ऽपि सव्यंजयितुं यतीशः।
रजः पद भूमितल विहाय चचार मन्ये चतुरगुल सः॥
—श्रवण बेलगोल लेख नं० १०५

३. जह पउमणंदिणाहो सीमधरसामि-दिव्यणाणेण।
ण वि बोहइ तो समणा कहं सुमग्ग पयाणंति॥
—दर्शनसार

४. वंद्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः कुन्दप्रभा प्रणयिकीर्ति विभूषिताशः।
यश्चारुचारण-कराम्बुजचंचरीकश्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम्॥
—श्रवण० लेख नं० ५४

परिज्ञान किया। साथ ही, चाह-दाहरूप-दुःख-दावानल से भुलसित आत्मा का अवलोकन कर उनका चित्त परम करुणा से आर्द्र हो गया और उनके समुद्धार की कल्याणकारी पावन भावना ने जोर पकड़ा। अत: उन्होंने स्व पर के भेद विज्ञानरूप आत्मानुभव के बल से उस आत्मतत्त्व का रहस्य समझाने एवं आत्म-स्वरूप का बोध कराने के लिये 'सारत्रय' जैसी महत्वपूर्ण कृतियों का निर्माण किया। और उनमें जीव और अजीव के संयोग सम्बन्ध से होने वाली विविध परिणतियों का— कर्मोदय से प्राप्त विचित्र अवस्थाओं का - उल्लेख किया और बतलाया कि: —

हे आत्मन् ! पर द्रव्य के संयोग से होने वाली परिणतिया तेरी नहीं है। और न तू उनका कर्त्ता हर्त्ता है। ये सब राग-द्वेष-मोह रूप विभाव परिणति का फल है। तेरा स्वभाव ज्ञाता द्रष्टा है, पर मे आत्म कल्पना करना तेरा स्वभाव नही है। तू सच्चिदानन्द है, तू अपने उस निजानन्द स्वरूप का भोक्ता बन, उस आत्म स्वरूप का भोक्ता बनने के लिये तुझे अपने स्वरूप का परिज्ञान होना आवश्यक है। तभी तेरा अनादि कालीन मिथ्या वासना से छुटकारा हो सकता है।

इस आत्मा की तीन अवस्थाए अथवा परिणतिया है बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। इनमें से यह आत्मा प्रथम अवस्था मे इतना रोगी हो गया है कि यह अनादिसे अपनी ज्ञान दर्शनादिरूप आत्मनिधि का भूल रहा है और अचेतन (जड़) शरीरादि पर वस्तुओ मे अपने आत्मस्वरूप की कल्पना करता हुआ चतुर्गतिरूप संसार मे परिभ्रमणकर असह्य एवं घोर वेदना का अनुभव कर रहा है, वह दुःख नहीं सहा जाता, किन्तु अपने द्वारा उपार्जित कर्म का फल भोगे बिना नही छूट सकता, इसीसे उसे विलाप करता हुआ सहता है। जीव की यह प्रथम अवस्था ही ससार दुःख की जनक है, यही वह अज्ञान धारा है जिसमे छुटकारा मिलते ही आत्मा अपने स्वरूप का अनुभव करने में समर्थ हो जाता है। आत्मा की यह दूसरी अवस्था है जिसे अन्तरात्मा कहते है, वह आत्मज्ञानी होता है— उसे स्व स्वरूप और पररूप का अनुभव होता है। वह स्व-पर के भेद-विज्ञान द्वारा भूली हुई उस आत्म-निधि का दर्शन पाकर निर्मल आत्म-समाधि के रस में तन्मय हो जाता है और सदृष्टि के विमल प्रकाश द्वारा मोक्षमार्ग का पथिक बन जाता है, और अन्तिम परमात्म अवस्था की साधना में तन्मय हुआ अवसर पाकर उस कर्म-शृखला को नष्ट कर देता है– आत्म-समाधि रूप चित्त की एकाग्र परिणति स्वरूप ध्यानाग्नि से उसे भस्मकर अपनी अनन्त चतुष्टयरूप आत्मनिधि को पा लेता है।

आचार्य कुन्दकुन्द की देन

आचार्य कुन्दकुन्द ने जिस आत्मा के त्रैविध्य की कल्पना की है और उसके स्वरूप का निदर्शन करते हुए उसकी महत्ता एव उसके अन्तिम लक्ष्य प्राप्ति की जो सूचना की है उसके अनुसार प्रवृत्ति करने वाला व्यक्ति अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द की उस देन को उनके बाद के आचार्यो ने अपने-अपने ग्रन्थो मे आत्मा के त्रैविध्य की चर्चा की है और बहिरात्म अवस्था को छोड़कर तथा अन्तरात्मा बनकर परमात्म अवस्था के साधन का उल्लेख किया है।

इस तरह भारतीय श्रमण परम्परा ने भारत को उस अध्यात्म विद्या का अनुपम आदेश दिया है। इसीसे श्रमण परम्परा की अनेक महत्वपूर्ण बाते वैदिक परम्परा के ग्रन्थो में पाई जाती है। और वैदिक परम्परा की अनेक रूढ़ि सम्मत बाते श्रमण परम्परा के आचार-विचार में समाई हुई दृष्टिगोचर होती है; क्योकि दोनों संस्कृतियों के समसामायिक होने के नाते एक दूसरी परम्परा के आचार-विचारो का परस्पर में आदान-प्रदान हुआ है। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द के प्राय: समान अथवा उससे मिलते जुलते रूप में आत्मा के त्रैविध्य की कल्पना का वह रूप कठोपनिषद के निम्न पद्य में पाया जाता है जिसमें आत्मा के ज्ञानात्मा महदात्मा और शातात्मा ये, तीन भेद किये गये है।

यच्छेद्वाःङ् मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञानमात्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छे तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

छान्दयोग उपनिषद् में जो आत्म-भेदों का उल्लेख किया गया है। उसके आधार पर डायसन ने भी आत्मा के तीन भेद किये हैं। शरीरात्मा, जीवात्मा और परमात्मा। इस तरह यह आत्म त्रैविध्य की चर्चा अपनी महत्ता को लिये हुए है।

रचनाएँ

आचार्य कुन्दकुन्द की निम्न कृतिय उपलब्ध हैं। पचास्तिकाय प्राभृत, समयसार प्राभृत, प्रवचनसार प्राभृत, नियमसार, अष्टपाहुड—(दसणपाहुड, चरित्त पाहुड, सुत्त पाहुड, बोध पाहुड, भाव पाहुड, मोक्ख पाहुड, सील पाहुड, लिङ्ग पाहुड)—वारस अणुवेक्खा और भत्तिसंगहो।

इन रचनाओं को दो भागों में बांटा जा सकता है। प्रथम भाग में पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, और समयसार आते हैं। और दूसरे भाग में अन्य अष्ट प्राभृत आदि।

इनमें प्रथम भाग कुन्दकुन्दाचार्य के जैनतत्त्वज्ञान-विषयक प्रौढ़ पाण्डित्य को लिये हुए हैं। और दूसरा भाग सरल एवं उपदेश प्रधान, आचार मूलक तत्त्व चिन्तन की धारा को लिये हुए है। कुन्दकुन्दाचार्य की शैली गम्भीर और सरस है, किन्तु विषय का प्रतिपादन सरलता से किया है। व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग का कथन करते हुए दोनों का सामंजस्य बैठाया है। स्व समय पर समय का वर्णन करते हुए बतलाया है कि जिसके हृदय में अरहंत आदि विषयक अणुमात्र भी अनुराग विद्यमान है वह समस्त आगम का धारी होकर भी स्व-समय को नहीं जानता है।

पंचास्तिकाय—इस ग्रन्थ का नाम पंचास्तिकाय प्राभृत है, क्योंकि इसमें मुख्यतया जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश रूप पांच अस्तिकाय द्रव्यों का वर्णन है। क्योंकि यह अणु अर्थात् प्रदेशों की अपेक्षा महान् है—बहुप्रदेशी है, इसी से इन्हे अस्तिकाय कहा है। ये समस्त द्रव्य लोक में प्रविष्ट होकर स्थित हैं, फिर भी अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं।

इस ग्रन्थ में आचार्य कुन्दकुन्द ने ग्रन्थ के आदि में 'समय' कहने की प्रतिज्ञा की है, और जीव, पुद्गल, धर्म-अधर्म आकाश के समवाय को समय कहा है। इन पांचों द्रव्यों को पंचास्तिकाय कहा है। इन्हीं का इस ग्रन्थ में विशेष कथन किया गया है। सत्ता का स्वरूप बतला कर द्रव्य का लक्षण दिया है, और द्रव्य पर्याय और गुण का पारस्परिक सम्बन्ध बतलाते हुए सप्त भङ्ग के नामों का निर्देश किया है। काल द्रव्य के साथ पांच अस्तिकाय मिला कर द्रव्य छह होती है। षट् द्रव्य कथन के पश्चात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र को मोक्ष मार्ग बतलाते हुए सम्यग्दर्शन के प्रसंग मे सप्त तत्वों का कथन किया है। ग्रन्थ के अन्त में निश्चय मोक्षमार्ग का बड़ी सुन्दरता से स्वरूप बतलाया है।

इस ग्रन्थ पर दो संस्कृत टीकाएं उपलब्ध हैं। जिनमें एक के कर्त्ता आचार्य अमृतचन्द्र हैं। और दूसरी के कर्त्ता जयसेन। अमृतचन्द्र की टीकानुसार गाथाओं की संख्या १७३ है। और जयसेन की टीका के अनुसार १८१ है।

प्रवचनसार—यह ग्रन्थ महाराष्ट्रीय प्राकृत भाषा का मौलिक ग्रन्थ है। इसमें २७५ गाथाएं हैं। और वे तीन श्रुतस्कन्धों में विभाजित हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में ज्ञान की चर्चा ९२ गाथाओं में अंकित है। दूसरे श्रुतस्कन्ध में ज्ञेय तत्व की चर्चा १०८ गाथाओं में पूर्ण हुई है। और तीसरे श्रुतस्कन्ध में ७५ गाथाओं द्वारा चारित्र तत्व का कथन किया गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द की यह कृति बड़ी ही महत्वपूर्ण है। यह कृति उनकी तत्वज्ञता, दार्शनिकता और आचार की प्रवणता से ओत-प्रोत है। इसके अध्ययन से उनकी विद्वत्ता, तार्किकता और आचार निष्ठा का यथार्थ रूप दृष्टिगोचर होता हैं। इसमें जैन तत्व ज्ञान का यथार्थ रूप बहुत ही सुन्दरता से प्रतिपादित है।

ग्रन्थ के प्रथम श्रुतस्कन्ध में इन्द्रिजन्य ज्ञान और इन्द्रिय जन्य सुख को हेय बतलाते हुए अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रिय सुख को उपादेय बतलाया है। और अतीन्द्रिय ज्ञान तथा अतीन्द्रिय सुख की सिद्धि करते हुए हृदयग्राही युक्तियों से आत्मा की सर्वज्ञता को सिद्ध किया गया है। दूसरे श्रुतस्कन्ध में द्रव्यों की चर्चा की है, वह पंचास्तिकाय

की चर्चा से मौलिक और विशिष्ट है। इसमें द्रव्य के सत् उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक और गुण पर्यायात्मक रूप लक्षणों का प्रतिपादन तथा समन्वय, आत्मा के कर्तृत्वाकर्तृत्व का विचार तथा कालाणु अप्रदेशित्व का महत्वपूर्ण कथन किया गया है। तृतीय श्रुतस्कन्ध में चारित्र का वर्णन किया है। आत्मा की मोहादिजन्य विकारों से रहित परिणति चारित्र है, वही चारित्र धर्म है। चारित्र रूप धर्म से परिणत आत्मा यदि शुद्धोपयोग से युक्त है तो वह निर्वाण सुख को पा लेता है। निर्वाण सुख अतीन्द्रिय है। वह कर्मक्षय के अभाव से मिलता है। आत्मोत्थ है, विषयों से रहित है, अनुपम है, और अनन्त है, उसका कभी विनाश नहीं होता। किन्तु इन्द्रिय जन्य सांसारिक सुख पराधीन है, बाधा सहित है—उसमें क्षुधा-तृषादि की बाधाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। वह विषम है और बन्ध का कारण है।

ग्रन्थ में श्रमणों के आचार को महत्वपूर्ण बतलाया गया है। श्रमण का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि—जिसके शत्रु और मित्र एक समान हैं। सुख और दुःख में समान है, प्रशंसा और विकारों में समान है, लोह और कंचन में समान है। जो जीवन और मरण में समता—समान भाव वाला है, वही श्रमण है। मोह से रहित आत्मा के सम्यक् स्वरूप को प्राप्त हुआ जीव यदि राग और द्वेष का परित्याग करता है तो वह शुद्धात्मा को प्राप्त करता है। आज तक जितने अरहन्त हुए हैं वे भी इसी विधि से कर्मों को नष्ट कर निर्वाण को प्राप्त हुए हैं।

समय प्राभृत—

इस ग्रन्थ पर आचार्य अमृतचन्द्र की 'तत्वप्रदीपिका' टीका और जयसेन की तात्पर्यवृत्ति, और बालचन्द्र अध्यात्मीकी टीकाएँ उपलब्ध है, जिनमें ग्रन्थ के दिव्य सन्दर्भ का सुन्दर विवेचन किया गया है।

इस ग्रन्थ का नाम समय प्राभृत है। इसमें शुद्ध आत्मतत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। इसके विषय का प्रतिपादक ग्रन्थ अखिल वाङ्मय में दूसरा नहीं है। इसमें सबसे पहले सिद्धों को नमस्कार किया गया है, जो पदार्थों को एक साथ जाने अथवा गुण पर्याय रूप परिणमन करे वह समय है। समय के दो भेद हैं—स्वसमय और परसमय। जो जीव अपने दर्शन ज्ञान चारित्र रूप स्वभाव में स्थित हो वह स्व समय है। और जो पुद्गल कर्मो की दशा को अपनी दशा माने हुए है वह परसमय है। तीसरी गाथा में बतलाया है कि एकत्व विभक्त वस्तु ही लोक में सुन्दर होती है। अतः जीव के बन्ध की कथा से विसंवाद उत्पन्न होता है। काम भोग सम्बन्धी बन्ध की कथा तो सब लोगों की सुनी हुई है, परिचय में आई है अतएव अनुभूत है किन्तु बन्ध से भिन्न आत्मा का एकत्व न कभी सुना, न कभी परिचय में आया है और न अनुभूत ही है। अतः वह सुलभ नहीं है। उसी एकत्व विभक्त आत्मा का कथन निश्चय नय और व्यवहारनय से किया गया है। किन्तु निश्चयनय भूतार्थ, और व्यवहारनय अभूतार्थ है। इस बात को आचार्य महोदय ने उदाहरण देकर समझाया है।

ग्रन्थ दश अधिकारों में विभाजित है—१. पूर्व रंग, २. जीवाजीवाधिकार, ३. कर्तृ कर्माधिकार, ४. पुण्य पापाधिकार, ५. आस्रवाधिकार, ६. संवाराधिकार, ७. निर्जराधिकार, ८. बन्धाधिकार, ९. मोक्षाधिकार, १०. और सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार।

समय प्रामत की १३ वीं गाथा में बतलाया है कि भूतार्थनय से जाने गये जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष सम्यक्त्व है। अतएव भूतार्थनय से ही इनका विवेचन ग्रन्थ में किया गया है।

जीवा जीवाधिकार में जीव-अजीव के भेद को दिखलाते हुए दोनों के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन किया है। और बतलाया है कि जीव के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं हैं और न वह शब्द रूप ही है। उसका लक्षण चेतना है, उसका आकार भी नियत नहीं है। और इन्द्रियादिक से उसका ग्रहण नहीं होता। किन्तु आत्मा को न जानने वाले आत्मा से भिन्न परभावों को भी संयोग सम्बन्ध के कारण आत्मा समझ लेते हैं। कोई राग-द्वेष को, कोई कर्म को, कोई कर्म फल को, शरीर को और कोई अध्यवसानादि रूप भावों को जीव कहते हैं। पर ये सब जीव नहीं हैं। क्योंकि ये सब कर्म रूप पुद्गल द्रव्य के निमित्त से होने वाले भाव हैं। अतः वे पुद्गल द्रव्य रूप हैं। जीव स्थानों और गुण स्थानों आदि को जीव कहा गया है वह व्यवहार से कहा गया है। क्योंकि व्यवहार का आश्रय लिये बिना परमार्थ का कथन करना शक्य नहीं है। अतएव इन सब आगन्तुक भावों से ममत्व बुद्धि का परित्याग कर

ज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं एक उपयोग मात्र ज्ञान दर्शन रूप हूं। इनके अतिरिक्त अन्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।

दूसरे कर्तृ कर्माधिकार में बतलाया है कि यद्यपि जीव और अजीव दोनों द्रव्य स्वतन्त्र है। तो भी जीव के परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल कर्म वर्गणाएँ स्वय कर्म रूप परिणत हो जाती हैं। और पुद्गल कर्म के उदय का निमित्त पाकर जीव भी परिणमन करता है। तो भी जीव और पुद्गल का परस्पर में कर्त्ता कर्मपना नहीं है। कारण कि जीव पुद्गल कर्म के किसी गुण का उत्पादक नहीं है और न पुद्गल जीव के किसी गुण का उत्पादक है। केवल अन्योन्य निमित्त से दोनों का परिणमन होता है। अतएव जीव सदा स्वकीय भावों का कर्ता है। वह कर्मकृत भावों का कर्ता नहीं है। किन्तु निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण व्यवहारनय से जीव का पुद्गल कर्मों का, और पुद्गल को जीव के भावो का कर्त्ता कहा जाता है। परन्तु निश्चयनय से जीव न पुद्गल कर्मो का कर्त्ता है और न भोक्ता है। अब रह जाते है मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, योग, मोह और क्रोधादि उपाधि भाव, सो इन्हें कुन्दकुन्दाचार्य ने जीव-अजीव रूप दो प्रकार का बतलाया है।

आत्मा जब अज्ञानादि रूप परिणमन करता है, तब राग-द्वेष रूप भावो को करता है और उन भावों का स्वय कर्ता होता है। पर अज्ञानादि रूप भाव पुद्गल कर्मो के निमित्त के विना नहीं होते। किन्तु अज्ञानी जीव परके और आत्मा के भेद को न जानता हुआ क्रोध को अपना मानता है, इसी से वह अज्ञानी अपने चैतन्य विकार रूप परिणाम का कर्ता होता है। और क्रोधादि उसके कर्म होते है। किन्तु जो जीव इस भेद को न जान कर क्रोधादि मे आत्मभाव नहीं करता, वह पर द्रव्य का कर्ता भी नहीं होता।

तीसरे पुण्य-पापाधिकार में पाप की तरह पुण्य को भी हेय बतलाते हुए लिखा है कि—सोने की बेड़ी भी बांधती है और लोहे की बेडी भी बाधती है। अतः शुभ-अशुभ रूप दोनों ही कर्म बन्धक है। इसलिये उनका परित्याग करना ही श्रेयस्कर है। जिस तरह कोई पुरुष खोटी आदत वाले मनुष्य को जानकर उसके साथ संसर्ग और राग करना छोड देता है। उसी तरह अपने स्वभाव में लीन पुरुष कर्म प्रकृतियों के शील स्वभाव को कुत्सित जानकर उनका संसर्ग छोड़ देता है उनसे दूर रहने लगता है। रागी जीव कर्म बांधता है और विरागी कर्मों से छूट जाता है[1]। अतः शुभ-अशुभ कर्म में राग मत करो—राग का परित्याग करना आवश्यक है।

चतुर्थ अधिकार में बतलाया है कि जीव के राग-द्वेष और मोहरूप भाव, आस्रव भाव हैं। उनका निमित्त पाकर पौद्गलिक कर्माण वर्गणाओं का जीव में आस्रव होता है। रागादि अज्ञानमय परिणाम हैं। अज्ञानमय परिणाम अज्ञानी के होते है। और ज्ञानी के ज्ञानमय परिणाम होते हैं। ज्ञानमय परिणाम होने से अज्ञानमय परिणाम रुक जाते हैं। इसलिये ज्ञानी जीव के कर्मो का आस्रव नहीं होता। अतएव बंध भी नहीं होता।

पांचवे अधिकार में संवर तत्व का प्रतिपादन है। रागादि भावों के निरोध का नाम संवर है। रागादि भावों का निरोध हो जाने पर कर्मो का आना रुक जाता है। संवर का मूल कारण भेद विज्ञान है। उपयोग ज्ञान स्वरूप है, और क्रोधादि भाव जड़ है। इस कारण उपयोग में क्रोधादिभाव और कर्म नोकर्म नहीं हैं। और न क्रोधादि भावों में तथा कर्म नोकर्म में उपयोग है। इस तरह इनमें परमार्थ से अत्यन्त भेद है। इस भेद तथा रहस्य को समझना ही भेद विज्ञान है। भेद विज्ञान से ही शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है। और शुद्धात्मा की प्राप्ति से ही मिथ्यात्वादि अध्यवसानों का अभाव होता है। और अध्यवसानों का अभाव होने से आस्रव का निरोध होता है। आस्रव के निरोध से कर्मो का निरोध होता है। और कर्म के अभाव में नो कर्मो का निरोध होता है और नो कर्मों के निरोध से संसार का निरोध हो जाता है।

छठें निर्जरा अधिकार में बतलाया है कि सम्यग्दृष्टि जीव, इंद्रियों के द्वारा चेतन और अचेतन द्रव्यों का उपभोग करता है वह निर्जरा का कारण है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव के ज्ञान और वैराग्य की अद्भुत सामर्थ्य होती

१. रत्तो बधादि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो।
एसो जिणोवदेसो, तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०

है। जिस तरह वैद्य विष खाकर भी नहीं मरता, उसी तरह ज्ञानी भी पुद्गल कर्मों के उदय को भोगता है। किन्तु कर्मों से नहीं बंधता क्योंकि वह जानता है कि यह राग पुद्गल कर्म का है। मेरे अनुभव में जो रागरूप आस्वाद होता है वह उसके विपाक का परिणाम एवं फल है। वह मेरा निजभाव नहीं है। मैं तो शुद्ध ज्ञायक भाव रूप हूँ। अतएव सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञायक स्वभाव रूप आत्मा को जानता हुआ कर्म के उदय को कर्म के उदय का विपाक जानकर उसका परित्याग कर देता है।

७वें बन्धाधिकार में बन्ध का कथन करते हुए बतलाया है कि आत्मा और पौद्गलिक कर्म दोनों ही स्वतन्त्र द्रव्य हैं। दोनों में चेतन अचेतन की अपेक्षा पूर्व और पश्चिम जैसा अन्तर है। फिर भी इनका अनादिकाल से सयोग बन रहा है। जिस तरह चुम्बक में लोहा खीचने और लोहे में खिचने की योग्यता है। उसी प्रकार आत्मा में कर्मरूप पुद्गलों को खीचने की और कर्मरूप पुद्गल में खिचने की योग्यता है। अपनी-अपनी योग्यतानुसार दोनों का एक क्षेत्रावगाह हो रहा है। इसी एक क्षेत्रावगाह को बन्ध कहते हैं। आचार्य महोदय ने एक दृष्टान्त द्वारा बन्ध का कारण स्पष्ट किया है। जैसे कोई मल्ल शरीर में तेल लगा कर धूल भरी भूमि में खड़ा होकर शस्त्रों से व्यायाम करता है। केले आदि के पेड़ों को काटता है तो उसका शरीर धूलि से लिप्त हो जाता है। यहाँ उसके शरीर में जो तेल लगा है—सचिक्कणता है उसी के कारण उसका शरीर धूल से लिप्त हुआ है। इसी प्रकार अज्ञानी जीव इंद्रिय विषयों में रागादि करता हुआ कर्मों से बधता है, सो उसके उपयोग में जो रागभाव है वह कर्मबन्ध का कारण है। परन्तु जो ज्ञानी ज्ञानस्वरूप में मग्न रहता है, वह कर्मों से नहीं बधता।

आठवें मोक्षाधिकार में बतलाया है कि जैसे कोई पुरुष चिरकाल से बन्धन में पड़ा हुआ है और वह इस बात को जानता है कि मैं इतने समय से बधा हुआ पड़ा हूं। किन्तु उस बन्धन को काटने का प्रयत्न नहीं करता, तो वह कभी बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। उसी तरह कर्म बन्धन के स्वरूप को जानने मात्र से कर्म से छुटकारा नहीं होता। परन्तु जो पुरुष रागादि को दूर कर शुद्ध होता है वही मोक्ष प्राप्त करता है। जो कर्मबन्धन के स्वभाव और आत्म स्वभाव को जानकर बन्ध से विरक्त होता है वही कर्मों से मुक्त होता है। आत्मा और बन्ध के स्वभाव को भिन्न भिन्न जानकर बन्ध को छोड़ना और आत्मा को ग्रहण करना ही मोक्ष का उपाय है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि आत्मा को कैसे ग्रहण करे, इसका उत्तर देते हुए आचार्य ने कहा है कि प्रज्ञा (भेद विज्ञान) द्वारा जो चैतन्यात्मा है वही मैं हूं। शेष अन्य सब भाव मुझसे पर है—वे मेरे नहीं है। इत्यादि कथन किया गया है।

सर्व विशुद्धि अधिकार में एक तरह से उन्हीं पूर्वोक्त बातों का कथन किया गया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का विषय शुद्ध आत्म तत्त्व है। वह शुद्ध आत्मतत्त्व सर्वविशुद्धज्ञान का स्वरूप है। न वह किसी का कार्य है, और न किसी का कारण है, उसका पर द्रव्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी विचार से आत्मा और परद्रव्य में कर्त्ता कर्मभाव भी नहीं है। अतएव आत्मा पर द्रव्य का भोक्ता भी नहीं है। अज्ञानी जीव अज्ञानवश ही आत्मा को परद्रव्य का कर्त्ता भोक्ता मानता है।

इस ग्रन्थ पर आचार्य अमृतचन्द्र की आत्मख्याति, जयसेन की तात्पर्यवृत्ति और बालचन्द्र अध्यात्मी की टीकाएं उपलब्ध हैं।

नियमसार—प्रस्तुत ग्रन्थ में १८७ गाथाएं हैं। जिन्हें टीकाकार मलधारि पद्मप्रभदेव ने १२ अधिकारों में विभक्त किया है। किन्तु यह विभाग ग्रन्थ के अनुरूप नहीं है। ग्रन्थकार ने इसमें उन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप श्रद्धान को सम्यग्दर्शन बतलाया है और आप्त आगम का स्वरूप बतलाकर तत्त्वों का कथन किया है, पश्चात् छह द्रव्यों और पंचास्तिकाय का कथन है। व्यवहारनय से पाच महाव्रत, पांच समिति, और तीन गुप्ति यह व्यवहार चारित्र है। आगे निश्चयनय के दृष्टिकोण से प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, कायोत्सर्ग, सामायिक और परम भक्ति इन छह आवश्यकों का वर्णन किया है और बतलाया है कि निश्चयनय से सर्वज्ञ केवल आत्मा को जानता है, और व्यवहारनय से सबको जानता है। इसी प्रसग में दर्शन और ज्ञान की महत्वपूर्ण चर्चा दी है। रचना महत्वपूर्ण और उपयोगी है।

दंसण पाहुड—इसमें सम्यग्दर्शन का स्वरूप और महत्व ३६ गाथाओं द्वारा बतलाया गया है। दूसरी गाथा में बताया है कि धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। अतः सम्यग्दर्शन से हीन पुरुष वन्दना करने के योग्य नहीं है। तीसरी गाथा में कहा है कि जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है, वह भ्रष्ट ही है, उसे मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। सम्यग्दर्शन से रहित प्राणी लाखों करोड़ों वर्षों तक घोर तप करें तो भी उन्हें बोधि लाभ नहीं होता। इत्यादि अनेक तरह से सम्यग्दर्शन का स्वरूप और उसकी महत्ता बतलाई गई है।

चरित्त पाहुड—इसमें ४४ गाथाओं द्वारा चारित्र का प्रतिपादन किया गया है। चारित्र के दो भेद हैं—सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण। निःशंकित आदि आठ गुणों से विशिष्ट निर्दोष सम्यक्त्व के पालन करने को सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहते हैं। संयमाचरण दो प्रकार का है—सागार और अनगार। सागाराचरण के भेद से ग्यारह प्रतिमाओं के नाम गिनाये हैं। तथा पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों को सागार संयमाचरण बतलाया है। पांच अणुव्रत प्रसिद्ध ही हैं, दिशा विदिशा का प्रमाण, अनर्थ दण्ड त्याग और भोगोपभोग परिमाण ये तीन गुणव्रत, सामायिक, प्रोषध, अतिथि पूजा और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत बतलाये हैं। किन्तु तत्त्वार्थ सूत्र में भोगोपभोग परिमाण को शिक्षाव्रतों में गिनाया है और सल्लेखना को अलग रक्खा है। तथा देश विरति नाम का एक गुणव्रत बतलाया है।

अनगार धर्म का कथन करते हुए पांच इंद्रियों का वश करना, पंच महाव्रत धारण करना, पांच समिति और तीन गुप्तियों का पालन करना अनगाराचरण है। अहिंसादि व्रतों की पांच पांच भावनाएं बतलाई हैं।

सुत्त पाहुड—इसमें २६ गाथाएं हैं जिसमें सूत्र की परिभाषा बताते हुए कहा है कि जो अरहंत के द्वारा अर्थरूप से भाषित और गणधर द्वारा कथित हो, उसे सूत्र कहते हैं। सूत्र में जो कुछ कहा गया है उसे आचार्य परम्परा द्वारा प्रवर्तित मार्ग से जानना चाहिए। जैसे सूत्र (धागे) से रहित सुई खो जाती है, वैसे ही सूत्र को (आगम को) न जानने वाला मनुष्य भी नष्ट हो जाता है। उत्कृष्ट चारित्र का पालन करने वाला भी मुनि यदि स्वच्छन्द विचरण करने लगता है तो वह मिथ्यात्व में गिर जाता है। गाथा १० में बतलाया गया है कि नग्न रहना और करपुट में भोजन करना यही एक मोक्षमार्ग है। शेष सब अमार्ग हैं। आगे बतलाया है कि जिस साधु के बाल के अग्रभाग के बराबर भी परिग्रह नहीं है, और पाणिपात्र में भोजन करता है, वही साधु है। इस पाहुड में स्त्री प्रव्रज्या और साधुओं के वस्त्र धारण करने का निषेध किया गया है।

बोध पाहुड में ६२ गाथाओं द्वारा आयतन, चैत्यग्रह, जिनप्रतिमा, दर्शन, जिनविम्ब, जिनमुद्रा, ज्ञान, देव, तीर्थ, अर्हन्त और प्रवज्या का स्वरूप बतलाया है। अंतिम गाथाओं में कुन्दकुन्द ने अपने को भद्रबाहु का शिष्य प्रकट किया है।

भाव पाहुड में १६३ गाथाओं द्वारा भाव की महत्ता बतलाते हुए भाव को ही गुण दोषों का कारण बतलाया है और लिखा है कि भाव की विशुद्धि के लिये ही बाह्य परिग्रह का त्याग किया जाता है। जिसका अंतःकरण शुद्ध नहीं है उसका बाह्य त्याग व्यर्थ है। करोड़ों वर्ष पर्यन्त तपस्या करने पर भी भाव रहित को मुक्ति प्राप्त नहीं होती। भाव से ही लिंगी होता है द्रव्य से नहीं। अतः भाव को धारण करना आवश्यक है। भव्यसेन ग्यारह अंग चौदह पूर्वों को पढ़कर भी भाव से मुनि न हो सका। किन्तु शिवभूति ने भाव विशुद्धि के कारण 'तुष मास' शब्द का उच्चारण करते करते केवलज्ञान प्राप्त किया। जो शरीरादि बाह्य परिग्रहों को और माया कषाय-आदि अन्तरंग परिग्रहों को छोड़कर आत्मा में लीन होता है वह लिंगी साधु है। यह पूरा पाहुड ग्रन्थ सदुपदेशों से भरा हुआ है।

मोक्ख पाहुड की गाथा संख्या १०६ है। जिसमें आत्म द्रव्य का महत्व बतलाते हुए आत्मा के तीन भेदों को—परमात्मा, अंतरात्मा और बहिरात्मा की—चर्चा करते हुए बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा के उपाय से परमात्मा के ध्यान की बात कही गई है। पर द्रव्य में रत जीव कर्मों से बंधता है और परद्रव्यसे विरत जीव कर्मों से छूटता है। संक्षेप में बन्ध और मोक्ष का यह जिनोपदेश है। इस तरह इस प्राभृत में मोक्ष के कारण रूप से परमात्मा के

ध्यान की आवश्यकता और महत्ता बतलाई है। इन छह प्राभृतों पर ब्रह्म श्रुतसागर की संस्कृत टीका है, जो प्रकाशित हो चुकी है।

सील पाहुड—इसमें ४० गाथाएं हैं जिसके द्वारा शील का महत्व बतलाया गया है और लिखा है कि शील का ज्ञान के साथ कोई विरोध नहीं है। परन्तु शील के बिना विषय-वासना से ज्ञान नष्ट हो जाता है। जो ज्ञान को पाकर भी विषयों में रत रहते हैं वे चतुर्गतियों में भटकते हैं और जो ज्ञान को पाकर विषयों से विरक्त रहते हैं, वे भव-भ्रमण को काट डालते हैं।

बारसाणुपेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा)—इसमें ९१ गाथाओं द्वारा वैराग्योत्पादक द्वादश अनुप्रेक्षाओं का बहुत ही सुन्दर वर्णन हुआ है। वस्तु स्वरूप के बार-बार चिन्तन का नाम अनुप्रेक्षा है। उनके नामों का क्रम इस प्रकार है :—

अद्ध्रुवमसरणमेगत्तमण्णसंसारलोगमसुचित्तं।
आसवसंवरणिज्जरधम्मं बोहिं च चिंतेज्जो।।

अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि।

तत्वार्थ सूत्रकार ने अनुप्रेक्षाओं के क्रम में कुछ परिवर्तन किया है।

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा:'।

आचार्य कुन्दकुन्द ने इन बारह भावनाओं के चिन्तन द्वारा श्रमणों के वैराग्य भाव को सुदृढ़ किया है। देवनन्दी (पूज्यपाद) की सर्वार्थसिद्धि के दूसरे अध्याय के 'संसारिणो मुक्ताश्च' की टीका में बारस अनुप्रेक्षा की पांच गाथाएं उद्धृत की हैं।

रयणसार भी कुन्दकुन्दाचार्य की कृति कही जाती है, परन्तु उस रचना में एकरूपता नहीं है—गाथाओं की क्रम संख्या भी बढ़ी हुई है, अनेक गाथाएं प्रक्षिप्त हैं। ऐसी स्थिति में जब तक उसकी जांच द्वारा मूलगाथाओं की संख्या निश्चित नही हो जाती और गण गच्छादि की सूचक प्रक्षिप्त गाथाओं का निर्णय नहीं हो जाता, तब तक उसे कुन्दकुन्दाचार्य की कृति नहीं माना जा सकता।

अब रही मूलाचार और थिरुकुरल के रचयिता की बात, सो मूलाचार को कुन्दकुन्दाचार्य की कृति कहना या मानना अभी तक विवादास्पद बना हुआ है। यद्यपि मूलाचार में कुन्दकुन्द के अन्य ग्रन्थों की अनेक गाथाएं भी पाई जाती हैं और उसका पांचवीं शताब्दी के 'तिलोय पण्णत्ति' ग्रन्थ में उल्लेख होने से वह रचना पुरातन है। परन्तु उसका कर्ता वसुनन्दि ने 'वट्टकेर' सूचित किया है। यद्यपि वट्टकेराचार्य का कोई अन्य उल्लेख प्राप्त नहीं है, और न उनको गुरु परम्परादि का कोई उल्लेख उपलब्ध ही है। ग्रन्थ में 'संघवट्टओ' जैसे शब्दों का उल्लेख है, जिसका अर्थ संघ का उपकार करने वाला टीकाकार ने किया है। उसे कुन्दकुन्दाचार्य की कृति मानने के लिए कुछ ठोस प्रमाणों की आवश्यकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह मूलसंघ की परम्परा का ग्रन्थ है।

थिरुकुरल—जैन रचना है, यह निश्चित है। परन्तु वह कुन्दकुन्दाचार्य की कृति है, और कुन्दकुन्दाचार्य का दूसरा नाम 'एलाचार्य' था, इसे प्रमाणित करने के लिये अन्य प्राचीन प्रमाणों की आवश्यकता है। उसके प्रमाणित होने पर थिरुकुरल को कुन्दकुन्द की रचना मानने में कोई संकोच नहीं हो सकता। स्व० प्रो० चक्रवर्ती ने इस दिशा में जो शोध-खोज की है, वह अनुकरणीय है। अन्य विद्वानों को इस पर विचार कर अन्तिम निर्णय करना आवश्यक है। बहुत सम्भव है कि वह कुन्दकुन्दाचार्य की ही रचना हो।

भक्ति संग्रह

प्राकृत भाषा की कुछ भक्तियाँ भी कुन्दकुन्दाचार्य की कृति मानी जाती हैं। भक्तियों के टीकाकार प्रभाचन्द्राचार्य ने लिखा है कि—'संस्कृता सर्वा भक्तय: पादपूज्य स्वामिकृता: प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृता:।' अर्थात संस्कृत

की सब भक्तियाँ पूज्यपाद की बनाई हुई हैं और प्राकृत की सब भक्तियाँ कुन्दकुन्दाचार्य कृत हैं। दोनों भक्तियों पर प्रभाचन्द्राचार्य की टीकाएं हैं। कुन्दकुन्दाचार्य की आठ भक्तियां हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं।

१ सिद्धभक्ति २ श्रुत भक्ति, ३ चारित्रभक्ति, ४ योगि (अनगार) भक्ति, ५ आचार्य भक्ति, ६ निर्वाण भक्ति, ७ पचगुरु (परमेष्ठि) भक्ति, ८ थोस्मामि थुदि (तीर्थंकर भक्ति)।

सिद्ध भक्ति—इसमें १२ गाथाओं द्वारा सिद्धों के गुणों, भेदों, सुख, स्थान, आकृति, सिद्धि के मार्ग तथा क्रम का उल्लेख करते हुए अति भक्तिभाव से उनकी वन्दना की गई है।

श्रुतभक्ति एकादश गाथात्मक इस भक्ति में जैन श्रुत के आचारांगादि द्वादश अगों का भेद-प्रभेद-सहित उल्लेख करके उन्हें नमस्कार किया गया है। साथ ही, १४ पूर्वो में से प्रत्येक कीवस्तु सख्या और प्रत्येक वस्तु के पाहुडों (प्राभृतों) की संख्या भी दी है।

चारित्र भक्ति—दश अनुष्टुप् पद्यों में श्री वर्धमान प्रणीत सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात नाम के पांच चारित्रों, अहिंसादि २८ मूलगुणों, दशधर्मो, त्रिगुप्तियों, सकल शीलों, परिषहजयों और उत्तर गुणों का उल्लेख करके उनकी सिद्धि और सिद्धि फल (मुक्ति सुख) का कामना की है।

योगी (अनगार) भक्ति—यह भक्ति पाठ २३ गाथात्मक है। इसमें जैन साधुओं के आदर्श जीवन और उनकी चर्या का सुन्दर अंकन किया गया है। उन योगियों की अनेक अवस्थाओं, ऋद्धियों, सिद्धियों तथा गुणों का उल्लेख करते हुए उन्हें भक्तिभाव से नमस्कार किया गया है। और उनके विशेषण रूप, गुणों का—दो दोसविप्प-मुक्क तिदंडविरत, तिसल्लपरिसुद्ध, चउदसगंथपरिसुद्ध, चउदसपुव्वपगब्भ और चउदसमलविवज्जिद—वाक्यों द्वारा उल्लेख किया है, जिससे इस भक्तिपाठ की महत्ता का पता चलता है।

आचार्य भक्ति—इसमें दस गाथाओं द्वारा आचार्य परमेष्ठी के खास गुणों का उल्लेख करते हुए उन्हें नमस्कार किया गया है।

निर्वाण भक्ति—२७ गाथात्मक इस भक्ति में निर्वाण को प्राप्त हुए तीर्थकरों तथा दूसरे पूतात्म पुरुषों के नामों का उन स्थानों के नाम सहित स्मरण तथा वन्दना की गई है जहाँ से उन्होंने निर्वाण पद की प्राप्ति की है। इस भक्ति पाठ में कितनी ही ऐतिहासिक और पौराणिक बातों एव अनुभूतियों की जानकारी मिलती है।

पंचगुरु (परमेष्ठि) भक्ति-इसमें स्रग्विणी छन्द के छह पद्यों में अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ऐसे पाँच पुरुषों का—परमेष्ठियों का– स्तोत्र और उसका फल दिया है और पंच परमेष्ठियों के नाम देकर उन्हें नमस्कार करके उनसे भव-भव में सुख की प्रार्थना की गई है।

थोस्सामि थुदि (तीर्थंकर भक्ति)— यह 'थोस्सामि' पद से प्रारम्भ होने वाली अष्ट गाथात्मक स्तुति है जिसे 'तित्थयरभत्ति' कहते हैं। इसमें वृषभादि-वर्द्धमान पर्यन्त चतुर्विंशति तीर्थकरों की उनके नामोल्लेख पूर्वक वन्दना की गई है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपनी कोई गुरु परम्परा नहीं दी और न अपने ग्रन्थों में उनके नामादि का तथा राजादि का उल्लेख ही किया है। किन्तु बोध पाहुड की ६१ नं० की गाथा में अपने को भद्रबाहु का शिष्य सूचित किया है[1]। और ६२ न० की गाथा में भद्रबाहु श्रुत केवली का परिचय देते हुए उन्हें अपना गमक गुरु बतलाया है और लिखा है कि—जिनेन्द्र भगवान महावीर ने अर्थ रूप से जो कथन किया है वह भाषा सूत्रों में शब्द विकार को प्राप्त हुआ है—अनेक प्रकार से गूँथा गया है। भद्रबाहु के मुभ शिष्य ने उसको उसी रूप से जाना है और कथन किया है। दूसरी गाथा में बताया है कि—बारह अंगों और चौदह पूर्वों के विपुल विस्तार के वेत्ता गमक गुरु भगवान श्रुतज्ञानी श्रुतकेवली भद्रबाहु जयवन्त हों।

---

१. सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१
बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंग विउल वित्थरणं।
सुयणाणी भद्दबाहु गमयगुरु भयवओ जयओ ॥६२

ये दोनों गाथाएं परस्पर सम्बद्ध हैं। पहली गाथा में कुन्दकुन्द ने अपने को जिस भद्रबाहु का शिष्य कहा है, दूसरी गाथा में उन्हीं का जयकार किया है और वे भद्रबाहु श्रुत केवली ही हैं। इसका समर्थन समय प्राभृत की प्रथम गाथा[1] से भी होता है। उन्होंने उस गाथा के उत्तरार्ध में कहा है कि –श्रुत केवली के द्वारा प्रतिपादित समय प्राभृत को कहूँगा। यह श्रुतकेवली भद्रबाहु के सिवाय दूसरे नहीं हो सकते। श्रवणबेलगोल के अनेक शिलालेखों में यह बात अंकित है कि– अपने शिष्य चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ भद्रबाहु वहां पधारे थे, और वहीं उनका स्वर्गवास हुआ था।[2] इस घटना को अनेक ऐतिहासिक विद्वान तथ्यरूप में मानते हैं। अतः कुन्दकुन्द के द्वारा उनका अपने गुरु रूप में स्मरण किया जाना उक्त घटना की सत्यता को प्रमाणित करता है। किन्तु कुन्दकुन्द भद्रबाहु के समकालीन नहीं जान पड़ते, क्योंकि अगज्ञानियों की परम्परा में उनका नाम नहीं है। किन्तु वे उनकी परम्परा में हुए अवश्य हैं। पर इतना स्पष्ट है कि भद्रबाहु श्रुतकेवली दक्षिण भारत में गए थे, और वहाँ उनके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा जैन धर्म का प्रसार हुआ था। अतः कुन्दकुन्द ने उन्हें गमक गुरु के रूप में स्मरण किया है। वे उनके साक्षात शिष्य नहीं थे। परम्परा शिष्य अवश्य थे। उनका समय छह सौ तिरासी वर्ष की कालगणना के भीतर ही आता है।

मूलसंघ और कुन्दकुन्दान्वय

भगवान महावीर के समय में जैन साधु सम्प्रदाय 'निर्ग्रन्थ' सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध था। इसी कारण बौद्ध त्रिपिटकों में महावीर को 'निगंठ नाटपुत्त लिखा मिलता है। अशोक के शिलालेखों में भी 'निगंठ' शब्द से उस का निर्देश किया गया है।

कुन्दकुन्दाचार्य मूलसंघ के आदि प्रवर्तक माने जाते हैं। कुन्दकुन्दान्वय का सम्बन्ध भी इन्हीं से कहा गया है। वस्तुतः कौण्डकुण्डपुर से निकले मुनिवंश को कुन्दकुन्दान्वय कहा गया है। कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख शक सं० ३८८ के मर्करा के ताम्रपत्र में पाया जाता है। मर्करा का ताम्र पत्र शिलालेख नं० ९४ से बिल्कुल मिलता है। शिलालेख नं० ९४ वें में कोंगणि वर्मा ने जिस मूलसंघ के प्रमुख चन्द्रनन्दि आचार्य को भूमिदान दिया है उसी को दान देने का उल्लेख मर्करा के दान पत्र में भी है। किन्तु इसमें चन्द्रनन्दि की गुरु परम्परा भी दी है और उन्हें देशीगण कुन्दकुन्दान्वय का बतलाया है। लेख नं० ९४ का अनुमानित समय ईसा की ५ वीं शताब्दी का प्रथम चरण है और मर्करा के ताम्रपत्र में अंकित समय के अनुसार उसका समय ई० सन् ४६६ होता है। कोंगणि वर्मा के पुत्र दुर्विनीत का समय ४८० ई० से ५२० ई० के मध्य बैठता है। अतः ताम्रपत्र के अंकित समय में कोंगणि वर्मा वर्तमान था, जिसने चन्द्रनन्दि को दान दिया। चन्द्रनन्दि की गुरु परम्परा में गुणचन्द्र, अभयनन्दि, शीलभद्र, जयनन्दि गुणनन्दि, चन्द्रनन्दि आदि का नामोल्लेख है। इसमें नन्द्यन्त नाम अधिक पाये जाते हैं।

मूलसंघ की परम्परा भी प्राचीन है। मूलाचार का नाम निर्देश आचार्य यतिवृषभ की तिलोयपण्णत्ति में है। तिलोयपण्णत्ति ईसा की ५ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में निष्पन्न हो चुकी थी। अतः मूलाचार चतुर्थ शताब्दी से पूर्व रचा गया होगा। मूलाचार मूलसंघ से सम्बद्ध है। आचार्य कुन्दकुन्द का कर्नाटक प्रान्त के साधुओं पर बहुत बड़ा प्रभाव था।

कुन्दकुन्द का समय

नन्दिसंघ की पट्टावली में लिखा है कि कुन्दकुन्द वि० सं० ४९ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। ४४ वर्ष की अवस्था में उन्हें आचार्य पद मिला। ५१ वर्ष १० महीने तक वे उस पद पर प्रतिष्ठित रहे। उनकी कुल आयु ९५ वर्ष १० महीने और १५ दिन की थी।

---

१. वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवयं गइं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुड मिणमो सुयकेवली भणियं ॥१

२. शिलालेख सं० भा० १ लेख नं० १, १७, १८, ४०, ५४, १०८

प्रो० हार्नले द्वारा सम्पादित नन्दिसंघ की पट्टावलियों के आधार से प्रो० चक्रवर्ती ने पंचास्तिकाय की प्रस्तावना में कुन्दकुन्द को पहली शताब्दी का विद्वान माना है।

कुन्दकुन्दाचार्य के समय के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने विचार किया है। उन सबके विचारों पर प्रवचन-सार की विस्तृत प्रस्तावना में विचार किया गया है। अन्त में डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय ने जो निष्कर्ष निकाला है, उसे नीचे दिया जाता है :—

वे लिखते हैं—'कुन्दकुन्द के समय के सम्बन्ध में की गई इस लम्बी चर्चा के प्रकाश में जिसमें हमने उपलब्ध परम्पराओं की पूरी तरह से छानबीन करने तथा बिभिन्न दृष्टिकोणों मे समस्या का मूल्य आंकने के पश्चात् केवल संभावनाओं को समझने का प्रयत्न किया है–हमने देखा कि परम्परा उनका समय ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी का उत्तरार्ध और ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी का पूर्वार्ध बतलाती है। कुन्दकुन्द से पूर्व षट् खण्डागम की समाप्ति की सम्भावना उन्हें ईसा की दूसरी शताब्दी के मध्य के पश्चात् रखती है। मर्करा के ताम्रपत्र में उनकी अन्तिम कालावधि तीसरी शताब्दी का मध्य होना चाहिए। चर्चित मर्यादाओं के प्रकाश में ये सम्भावनाएं–कि कुन्दकुन्द पल्लव वंशी राजा शिवस्कन्द के समकालीन थे और यदि कुछ और निश्चित आधारों पर यह प्रमाणित हो जाय कि वही एलाचार्य थे तो उन्होंने कुरल को रचा था, सूचित करती है कि ऊपर बतलाये गए विस्तृत प्रमाणों के प्रकाश में कुन्द-कुन्द के समय की मर्यादा ईसा की प्रथम दो शताब्दियाँ होनी चाहिए। उपलब्ध सामग्री के इस विस्तृत पर्यवेक्षण के पश्चात् मैं विश्वास करता हूँ कि कुन्दकुन्द का समय ईस्वी सन् का प्रारम्भ है॥ (प्रवचन० प्र० पृ० २२)

इससे स्पष्ट है कि आचार्य कुन्दकुन्द ईसा की प्रथम शताब्दी के आरम्भ के विद्वान हैं।

गुणवीर पंडित—

यह कलन्दैके वाचानन्द मुनि के शिष्य थे। इन्होंने मलयपुर के नेमिनाथ मन्दिर में बैठकर 'नेमिनाथम्' नामक विशाल तमिल व्याकरण ग्रन्थ की रचना की थी। ग्रन्थ के प्रारम्भ के पद्यों में बतलाया है कि जल-प्रवाह के द्वारा मलयपुर जैन मन्दिर के विनाश होने के पूर्व यह ग्रन्थ रचा गया था। यह ग्रन्थ प्रसिद्ध वेणवा छंद में है। मदुरा के तमिल संगम के अधिकारियों ने इसे शेन तमिल नाम के पत्र में पुरातन टीका के साथ छपाया था। गुणवीर पण्डित का समय ईसा की प्रथम शताब्दी है। इसी से इनकी यह रचना ईस्वी सन् के प्रारम्भ काल की कही जाती है।

तोलकप्पिय

यह तमिल भाषा के व्याकरण का वेत्ता और रचयिता था। यह प्रसिद्ध वैयाकरण था। इसके रचे हुए व्याकरण का नाम तोल कप्पिय है। यह जैनधर्म का अनुयायी था।

इन्द के संस्कृत व्याकरण में[1] तोलकप्पिय का निर्देश है। इन्द्र का समय ३५० ई० पूर्व है। अतः प्राचीन व्याकरण तोलकप्पिय के समय की उत्तरावधि ३५० ई० पूर्व निश्चित होती है। मदुरा तमिल की पत्रिका की 'सेन-तमिल' (जि० १८, १९१९-२० पृ० ३३९) में श्री एस वैयापुरिपिल्ले का एक लेख प्रकाशित हुआ था, उसमें उन्होंने लिखा था कि—'तोलकप्पिय जैनधर्मानुयायी था और इस सम्बन्ध में उनकी मुख्य दलील (युक्ति) यह थी कि तोलकप्पिय के समकालीन पनयारनार ने तोलकप्पिय को महान् और प्रख्यात् 'पडिमइ' लिखा है। पडिमइ प्राकृत भाषा के 'पडिमा' शब्द से बनाया गया है। पडिमा (प्रतिमा) एक जैन शब्द है, जो जैनाचार के नियमों का सूचक है[2]। श्री पिल्ले ने तोल कप्पियम् के सूत्रों का उद्धरण देकर लिखा है कि मरवियल विभाग में घास और वृक्ष के

१. मेकडोनल—हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर पृ० ११

२. स्टेडीज सा० इ० जैनिज्म पृ० ३९

समान जीवों को एकेन्द्रिय, घोंघे के समान जीवों को दो इन्द्रिय, चींटी के समान जीवों को तीन इन्द्रिय, कंकड़े के समान जीवों को चौइन्द्रिय और बड़े प्राणियों के समान जीवों को पंचेन्द्रिय बताया है तथा मनुष्य के समान अन्य जीवों का यह विभाग अन्य दर्शनों में नहीं पाया जाता। अतः यह तमिल व्याकरण ग्रन्थ एक प्रामाणिक जैन विद्वान की कृति है।

उमास्वाति (गृद्धपिच्छाचार्य)

मूलसंघ की पट्टावली में कुन्दकुन्दाचार्य के बाद उमास्वामि (ति) चालीस वर्ष ८ दिन तक नन्दिसंघ के पट्ट पर रहे। श्रवणबेलगोल के ६५वें शिलालेख में लिखा है—

तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दि प्रथमाभिधानः।
श्री कुन्दकुन्दादिमुनीश्वराख्यः सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः ॥५
अभूदुमास्वाति मुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छः।
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी ॥६

अर्थात् जिनचन्द्रस्वामी के जगत् प्रसिद्ध अन्वय में 'पद्मनन्दी' प्रथम इस नाम को धारण करने वाले श्री कुन्दकुन्द नाम के मुनिराज हुए। जिन्हें सत्संयम के प्रभाव से चारणऋद्धि प्राप्त हुई थी। उन्हीं कुन्दकुन्द के अन्वय में उमास्वाति मुनिराज हुए, जो गृद्धपिच्छाचार्य नाम से प्रसिद्ध थे उस समय गृद्धपिच्छाचार्य के समान समस्त पदार्थों को जानने वाला कोई दूसरा विद्वान नही था।

श्रवणबेलगोल के २५८ वें शिलालेख में भी यही बात कही गई है। उनके वंशरूपी प्रसिद्ध खान से अनेक मुनिरूपरत्नों की माला प्रकट हुई। उसी मुनिरत्नमाला के बीच में मणि के समान कुन्दकुन्द के नाम से प्रसिद्ध ओजस्वी आचार्य हुए। उन्हीं के पवित्र वंश में समस्त पदार्थों के ज्ञाता उमास्वामि मुनि हुए, जिन्होंने जिनागम को सूत्ररूप में ग्रथित किया। यह प्राणियों की रक्षा में अत्यन्त सावधान थे। अतएव उन्होंने मयूरपिच्छ के गिर जाने पर गृद्धपिच्छों को धारण किया था। उसी समय से विद्वान लोग उन्हें गृद्धपिच्छाचार्य कहने लगे। और गृद्धपिच्छाचार्य उनका उपनाम रूढ़ हो गया। वीरसेनाचार्य ने अपनी धवला टीका में तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता को गृद्धपिच्छाचार्य लिखा है[2]। आचार्य विद्यानन्द ने भी अपने श्लोक वार्तिक में उनका उल्लेख किया है[3]।

आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि के प्रारम्भ में जो वर्णन किया है वह अत्यन्त मार्मिक है :—

"मुनिपरिषण्मध्ये सन्निषण्णं मूर्तमिव मोक्षमार्गमवाग्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तं युक्त्यागम कुशलं परहित प्रतिपादनैककार्यमार्यनिषेव्यं निर्ग्रन्थाचार्यवर्यम्।"

---

१. तदीयवंशा करतः प्रसिद्धादभूददोषा यति रत्नमाला।
बभौ यदन्तर्मणिवन्मुनीन्द्रः स कुन्दकुन्दोदितचण्डदण्डः ॥१०
अभूदुमास्वाति मुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी।
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुङ्गवेन ॥११
स प्राणिसंरक्षणसावधानो बभार योगी किल गृद्धपिच्छान्।
तदा प्रभृत्येव बुधा यमाहुराचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छम् ॥१२

२. तह गृद्धपिच्छाइरियप्पयासिद तच्चत्थसुत्ते वि—"वर्तना परिणामक्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य।" (धवला० पु० ४ पृ० ३१६)

३. "एतेन गृद्धपिच्छाचार्य पर्यन्त मुनिसूत्रेण व्यभिचारिता निरस्ता प्रकृत सूत्रे"। तत्त्वार्थ श्लो० वा० पृ० ६

वे मुनिराज सभा के मध्य में विराजमान थे जो बिना वचन बोले अपने शरीर से ही मानो मूर्तिधारी मोक्ष मार्ग का निरूपण कर रहे थे। युक्ति और आगम में कुशल थे, परहित का निरूपण करना ही जिनका एक कार्य था, तथा उत्तमोत्तम आर्य पुरुष जिनकी सेवा करते थे, ऐसे दिगम्बराचार्य गृद्धपिच्छाचार्य थे।

मैसूर प्रान्त के नगरताल्लुक के ४६ वें शिलालेख में लिखा है—

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारमुमास्वाति मुनीश्वरम्।
श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुणमन्दिरम्।'

मैं तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता, गुणों के मन्दिर एवं श्रुतकेवली के तुल्य श्री उमास्वाति मुनिराज को नमस्कार करता हूँ।

तत्त्वार्थसूत्र की मूल प्रतियों के अन्त में प्राप्त होने वाले निम्न पद्य में तत्त्वार्थ सूत्र के कर्ता, गृद्धपिच्छोपलक्षित उमास्वामि या उमास्वाति मुनिराज की वन्दना की गई है।

'तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्र संजात मुमास्वामि (ति) मुनीश्वरम्॥

इस तरह उमास्वाति आचार्य, उमास्वामी और गृद्धपिच्छाचार्य नाम से भी लोक में प्रसिद्ध रहे हैं। महा कवि पम्प (९४१) ई० ने अपने आदि पुराण में उमास्वाति को 'आर्यनुत गृध्द्रपिच्छाचार्य' लिखा है। इसी तरह चामुण्डराय (वि० सं० १०३५) ने अपने त्रिषष्टिलक्षण पुराण में तत्त्वार्थसूत्रकर्ता को गृद्धपिच्छाचार्य लिखा है[1]। आचार्य वादिराज (शक सं० ९४७—वि० स० १०८२) ने अपने पार्श्वनाथचरित में आचार्य गृद्धपिच्छ का निम्न शब्दों में उल्लेख किया है :—

अतुच्छ गुणसंपातं गृद्धपिच्छं नतोऽस्मि तम्।
पक्षी कुर्वन्ति यं भव्या निर्वाणायोत्पतिष्णवः॥

मैं उन गृद्धपिच्छ को नमस्कार करता हूँ, जो महान् गुणों के आकर है, जो निर्वाण को उड़कर पहुँचने की इच्छा रखने वाले भव्यों के लिए पंखों का काम देते है। अन्य अनेक उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता का गृद्धपिच्छाचार्य रूप मे उल्लेख किया है[2]।

श्रवणबेल गोल के १०५ वे शिलालेख में लिखा है कि—आचार्य उमास्वाति ख्याति प्राप्त विद्वान थे। यतियों के अधिपति उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र को प्रकट किया है, जो मोक्षमार्ग में उद्यत हुए प्रजाजनों के लिए उत्कृष्ट पाथेय का काम देता है। जिनका दूसरा नाम गृद्धपिच्छ है। उनके एक शिष्य बलाकपिच्छ थे, जिनके सूक्ति-रत्न मुक्त्यंगना के मोहन करने के लिए आभूषणों का काम देते है[3]।

इन सब उल्लेखों से स्पष्ट है कि उनका गृद्धपिच्छार्य नाम बहुत प्रसिद्ध था। वे जिनागम के पारगामी विद्वान थे। इसी से तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकार समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलक और विद्यानन्द आदि मुनियों ने बड़े ही श्रद्धापूर्ण शब्दों में इनका उल्लेख किया है।

---

१. वमुमनिगे नेगले तत्त्वार्थसूत्रमवेटदगृद्धपिच्छाचार्या।
जमदि-दिगन्तम मुद्रिसि जिनशासनदमनिमेय प्रकटसिदर॥३

२. विक्रम की १३वी शताब्दी के विद्वान बालचन्द मुनि ने तत्त्वार्थसूत्र की कनड़ी टीका मे उमास्वाति नाम के साथ गृद्ध-पिच्छाचार्य का भी नाम दिया है।

३. श्रीमानुमास्वातिरयं यतीशस्तत्त्वार्थ सूत्रं प्रकटीचकार।
यन्मुक्तिमार्गाचरणोद्यतानां पाथेयमर्घ्यं भवति प्रजानाम्॥१५'
तस्यैव शिष्योऽजनि गृद्धपिच्छ द्वितीय संज्ञस्य बलाकपिच्छः।
यत्सूक्तिरत्नानि भवन्ति लोके मुक्त्यंगनामोहनमण्डनानि॥१६

रचना

गृद्धपिच्छाचार्य की इस रचना का नाम 'तत्त्वार्थसूत्र' है। प्रस्तुत ग्रन्थ दश अध्यायों में विभाजित है। इसमें जीवादि सप्ततत्त्वों का विवेचन किया गया है। जैन साहित्य में यह संस्कृतभाषा का एक मौलिक आद्य सूत्र ग्रन्थ है। इसके पहले संस्कृतभाषा में जैन साहित्य की रचना हुई है, इसका कोई आधार नहीं मिलता। यह एक लघुकाय सूत्र ग्रन्थ होते हुए भी उसमें प्रमेयों का बड़ी सुन्दरता से कथन किया गया है। रचना प्रौढ़ और गम्भीर है। इसमें जैनवाङ्मय का रहस्य अन्तर्निहित है। इस कारण यह ग्रन्थ जैन परम्परा में समानरूप से मान्य है। दार्शनिक जगत में तो यह प्रसिद्ध हुआ ही है; किन्तु आध्यात्मिक जगत में इसका समादर कम नहीं है। हिन्दुओं में जिस तरह गीता का, मुसलमानों में कुरान का, और ईसाइयों में बाइबिल का जो महत्त्व है वही महत्व जैन परम्परा में तत्त्वार्थ सूत्र को प्राप्त है।

ग्रन्थ के दश अध्यायों में से प्रथम के चार अध्यायों में जीव तत्त्व का, पांचवें अध्याय में अजीव तत्त्व का, छठवें और सातवें अध्याय में आस्रवतत्त्व का, आठवें अध्याय में बन्धतत्त्व का, नवमें अध्याय में संवर और निर्जरा का और दशवें अध्याय में मोक्षतत्त्व का वर्णन किया गया है।

तत्त्वार्थ सूत्र का निम्न मंगल पद्य सूत्रकार की कृति है। इसका निर्देश आचार्य विद्यानन्द ने किया है।

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुण लब्धये ॥

अन्य कुछ विद्वान इसे सूत्रकार की कृति नही मानते। उसमें यह हेतु देते हैं कि पूज्यपाद ने उसकी टीका नहीं की, अतएव वह पद्य सूत्रकार की कृति नहीं है, किन्तु यह कोई नियामक नही है कि टीकाकार मगल पद्य की भी टीका करे ही करे। टीकाकार की मर्जी है कि वह मंगल पद्य की टीका करे या न करे, इसके लिए टीकाकार की कोई जिम्मेदारी नहीं है। फिर इस मंगल पद्य में वही विषय वर्णित है जो तत्त्वार्थ सूत्र के दश अध्यायों में चर्चित है। मोक्षमार्ग का नेतृत्त्व, विश्वतत्त्व का ज्ञान, और कर्म के विनाश का उल्लेख है। इससे मंगल पद्य सूत्रकार की कृति जान पड़ता है।

आचार्य विद्यानन्द ने स्पष्ट रूप से 'स्वामिमीमांसितम्, वाक्य द्वारा समन्तभद्र की आप्तमीमांसा का उल्लेख किया है। अतएव विद्यानन्द की दृष्टि में उक्त पद्य सूत्रकार का ही है।

तत्त्वार्थ सूत्र की महिमा प्रसिद्ध है :—

दशाध्याये परिच्छन्ने तत्वार्थे पठते सति।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुंगवैः ॥

दशाध्याय प्रमाण तत्वार्थसूत्र का पाठ और अनुगम न करने पर मुनि पुगवों ने एक उपवास का फल बतलाया है। एक उपवास करने पर कर्म की जितनी निर्जरा होती है, उतनी निर्जरा अर्थ समझते हुए तत्वार्थ सूत्र के पाठ करने से होती है। इसी कारण मे दिगम्बर सम्प्रदाय में तो प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को स्त्रियाँ और पुरुष उसका पाठ करते और सुनते है। दश लक्षण पर्व के दिनों पें इसके एक एक अध्याय पर प्रतिदिन प्रवचन होते हैं और जनता इन्हें बड़ी श्रद्धा के साथ श्रवण करती है। इसकी महत्ता इससे भी ज्ञात होती है कि दोनों सम्प्रदायों में इस सूत्र ग्रन्थ पर महत्वपूर्ण टीका-टिप्पणी लिखे गए हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय में इस पर गन्धहस्ति महाभाष्य, तत्वार्थवृत्ति, सर्वार्थसिद्धि, तत्वार्थराजवार्तिक, तत्वार्थश्लोकवार्तिक तत्वार्थवृत्ति (श्रुतसागरी) और भास्करनन्दि की सुखबोधवृत्ति आदि अनेक टीका ग्रन्थ लिखे गए हैं। दशवीं शताब्दी के आचार्य अमृतचन्द्र ने उक्त तत्त्वार्थ सूत्र का संस्कृत पद्यानुवाद किया है। श्रवण बेलगोल के शिलालेख से ज्ञात होता है कि शिवकोटि ने भी तत्वार्थसूत्र की कोई टीका लिखी है, जैसा कि शिलालेख के निम्न पद्य से स्पष्ट है।

"शिष्यो तदीयो शिवकोटिसूरिस्तपोलतालम्बन देहयष्टिः।
'संसारवाराकरपोतमेतत्तत्त्वार्थसूत्रं तदलंचकार ॥"

यद्यपि यह टीका अनुपलब्ध है इस कारण इसके सम्बन्ध में कुछ लिखना सम्भव नहीं है, परन्तु यह पद्य उस टीका पर से लिया गया जान पड़ता है।

वर्तमान में तत्त्वार्थ सूत्र के दो पाठ प्रचलित हैं—एक सर्वार्थसिद्धिमान्य दिगम्बर सूत्रपाठ, और दूसरा भाष्य-मान्य श्वेताम्बर सूत्रपाठ। श्वेताम्बर सम्प्रदाय तत्त्वार्थाधिगम भाष्य को स्वोपज्ञ मानती है, पर उस पर विचार करने से उसकी स्वोपज्ञता नहीं बनती। क्योंकि मूलसूत्र और भाष्य एक कर्ता ही की कृति नहीं मालूम होते। तत्त्वार्थ सूत्र प्राचीन है और भाष्य अर्वाचीन है, भाष्य लिखते समय सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ था। इसके लिए प्रथम अध्याय के २०वें सूत्र की टीका दृष्टव्य है। कहा जाता है कि मूलसूत्र और उसका भाष्य ये दोनों बिल्कुल श्वेताम्बरीय श्रुत के अनुकूल हैं, अतएव सूत्रकार उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परा के विद्वान हैं। पर ऐसा नहीं है, भाष्यकार श्वेताम्बर विद्वान हैं, किन्तु सूत्रकार दिगम्बर विद्वान हैं। यह तत्त्वार्थ सूत्र के कतिपय मूलसूत्रों पर से स्पष्ट है, वे दिगम्बर परम्परा सम्मत है, श्वेताम्बर परम्परा सम्मत नहीं हैं। उदाहरण स्वरूप सोलहकारण भावनाओं वाला सूत्र, और २२ परीषहों का कथन करने वाले सूत्र में 'नाग्न्य' शब्द।

यदि भाष्यकार और सूत्रकार एक होते तो भाष्य का मूल सूत्रों के साथ विरोध, मतभेद, अर्थभेद, तथा अर्थ की असंगति न होती, और न भाष्य का आगम से विरोध ही होता किन्तु भाष्य में अर्थ की असंगति और आगम से विरोध देखा जाता है[1]। ऐसी स्थिति में वह मूल सूत्रकार की कृति कैसे हो सकता है? सूत्र और भाष्य का आगम से भी विरोध उपलब्ध होता है। श्वेताम्बरीय उत्तराध्ययन के २८वें अध्ययन में मोक्षमार्ग का वर्णन करते हुए उसके चार कारण बतलाये हैं, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप। जब कि तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय के पहले सूत्र में तीन कारण दर्शन, ज्ञान और चारित्र बतलाये हैं। श्वेताम्बरीय आगम में सत् आदि अनुयोग द्वारों की संख्या ९ मानी है[२]। जब कि भाष्य में आठ अनुयोग द्वारों का उल्लेख है[3]।

श्वेताम्बरीय सूत्र पाठ के दूसरे अध्याय में 'निर्वर्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्' नाम का जो १७वां सूत्र है, उसके भाष्य में उपकरण बाह्याभ्यान्तरं इस वाक्य के द्वारा उपकरण के बाह्य और अभ्यन्तर ऐसे दो भेद बाह्य किये गये हैं। परन्तु श्वे० आगम में उपकरण के ये दो भेदनहीं माने गये हैं। इसी से सिद्धसेन गणी अपनी टीका में लिखते हैं—**आगमे तु नास्ति कश्चिदन्तर्बहिर्भेद उपकरणस्येत्याचार्यस्यैव कुतोऽपि सम्प्रदाय इति।**" आगम में उपकरण का कोई अन्तर्बाह्य भेद नहीं है। आचार्य का ही कहीं से कोई सम्प्रदाय है। भाष्यकार ने किसी मान्यता पर से उसे अंगीकृत किया है। उपकरण के इन दोनों भेदों का उल्लेख पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि २-१७ की वृत्ति में किया है। इससे भाष्यकार ने उक्त दोनों भेद सर्वार्थसिद्धि से लिये हैं। इससे भी भाष्यकार पूज्यपाद के बाद के विद्वान हैं।

जब मूलसूत्रकार और भाष्यकार जुदे जुदे विद्वान हैं तब उनका समय एक कैसे हो सकता है? साथ ही सूत्रकार प्राचीन और भाष्यकार अर्वाचीन ठहरते हैं। अतः भाष्य की स्वोपज्ञता संभव नहीं है।

समय—

तत्त्वार्थ सूत्र के कर्ता उमास्वाति (गृद्धपिच्छाचार्य) चूंकि कुन्दकुन्दान्वय में हुए हैं, इनके तत्त्वार्थ-सूत्र के मंगल पद्य को लेकर विद्यानन्द के अनुसार स्वामी समन्तभद्र ने आप्त की मीमांसा की है। समन्तभद्राचार्य का समय विक्रम की द्वितीय शताब्दी माना जाय तो उमास्वाति उनसे पूर्व दूसरी शताब्दी के विद्वान होने चाहिये। शिलालेखानुसारं इनके शिष्य का नाम बलाकपिच्छ था।

श्वेताम्बरीय मान्य विद्वान पं० सुखलाल जी ने उमास्वाति का समय तत्त्वार्थसूत्र की प्रस्तावना में विक्रम की तीसरी-चौथी शताब्दी बतलाया है। यह समय भाष्य की स्वोपज्ञता को दृष्टि में रखकर बतलाया गया है।

---

१. से कि तं अणगमे? नव विहे पण्णत्तें। अनुयोग द्वार सूत्र ८०

२. सत् संख्या क्षेत्रं स्पर्शन कालः अन्तरभावः अल्पबहुत्व मित्येतैश्च सद्भूतपद प्ररूपणादिभिरष्टाभिरनुयोगद्वारैः सर्व-भावानां (तत्त्वानां) विकल्पशो विस्तराधिगमो भवति।"

३. श्वेताम्बर तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य की जांच नाम का लेख। अनेकान्त वर्ष ५ कि० ३-४ पृ. १०७, कि० ५ पृ. १७३

बलाकपिच्छ

बलाकपिच्छ कौण्ड कुन्दान्वयी गृद्धपिच्छाचार्य (उमास्वाति) के शिष्य थे[1]। ये बड़े विद्वान तपस्वी थे। उनकी कीर्ति भुवनत्रय में व्याप्त थी। उनके गुणनन्दी नाम के शिष्य थे, जो चारित्र चक्रेश्वर और तर्क व्याकरणादि शास्त्रों में निपुण थे। इनका समय संभवतः दूसरी-तीसरी शताब्दी है।

———

दूसरी सदी के आचार्य

ल्लंगोवाडिगल

यह चेर राजकुमार शेंगोट्टवन का भाई था और जैनधर्म का अनुयायी था पर इसका भाई शेंगोट्टवन शैवधर्म अनुयायी था। इसकी रचना तमिल भाषा का प्रसिद्ध ग्रन्थ शिलप्पदि कारम्' है। उस समय वहाँ धार्मिक सहन शीलता थी और राजघरानों तक में जैनधर्म का प्रवेश हो चुका था। इस ग्रन्थ का रचना काल ईसा की दूसरी शताब्दी है। इस ग्रन्थ में तथा मणिमेखले में तत्कालीन द्रविड़ संस्कृति का स्पष्ट चित्र देखा जा सकता है।

इस काव्य में जैन आचार विचारों के तथा जैन विद्या केन्द्रों के उल्लेख मे पाठकों के मन पर निस्सन्देह प्रभाव पड़े विना नहीं रहता, कि द्रविड़ों का बहुभाग उस समय जैन धर्म को अपनाये हुए था। शिलप्पादि कारभ् की कथा बड़ी रोचक मार्मिक और ऐतिहासिक है। शिलप्पदिकारम की प्रमुख पात्रा कौन्ती एक जैन साध्वी है, और जैन धर्म की संपालिका है, जिन देव और उनके सिद्धान्तों पर उसकी बड़ी आस्था है, वह एक स्थान पर कहती है :—

जिसने राग, द्वेप और मोह को जीत लिया है, मेरे कर्ण उसके अतिरिक्त अन्य किसी का भी उपदेश नहीं सुनना चाहते, मेरी जिह्वा काम जेता भगवान के १ हजार आठ १००८ नामों के सिवाय अन्य कुछ भी कहना नहीं चाहती। मेरी आंखें उस स्वयम्भू के चरण युगल के सिवा अन्य कुछ नहीं देखना चाहतीं। मेरे दोनों हाथ अर्हन्त के सिवा किसी अन्य के अभिवादन में कभी नहीं जुड़ सकते। मेरा मस्तक फूलों के ऊपर चलने वाले अर्हन्त के सिवाय अन्य कोई फूल धारण नहीं कर सकता। मेरा मन अर्हन्त भगवान के वचनों के सिवा अन्य किसी में भी नहीं रमता।

कर्ता ने अन्य धर्मों के सम्बन्ध में भी अच्छा कहा है। यद्यपि ग्रन्थ में विविध संस्कृतियों और धर्मों का चित्रण है, किन्तु उसका पक्षपात जैनधर्म की ओर है। ग्रन्थ में अहिंसादि सिद्धान्तों की अच्छी विवेचना की है। कर्ता का दृष्टिकोण उदार और शैली सुन्दर है। इस कारण यह ग्रन्थ सभी को रुचिकर है।

———

१. श्री गृद्धपिच्छमुनिपस्य बलाकपिच्छः शिष्योऽजनिष्ट भुवनत्रयवर्तिकीर्ति।
चारित्रचञ्चुरखिलावनिपाल मौलि-मालाशिलीमुखविराजितपादपद्मः॥

—जैनलेख सं० भाग १ पृ० ७२

आचार्य समन्तभद्र

जीवन-परिचय—

आचार्य समन्तभद्र विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी के प्रसिद्ध तार्किक विद्वान थे। वे असाधारण विद्या के धनी थे, और उनमें कवित्व एवं वाग्मित्वादि शक्तियाँ विकास की चरमावस्था को प्राप्त हो गई थीं। समन्तभद्र का जन्म दक्षिण भारत में हुआ था। वे एक क्षत्रिय राजपुत्र थे। उनके पिता फणिमण्डलान्तर्गत उरगपुर के राजा थे। उनका जन्म नाम शान्तिवर्मा था। उन्होंने कहां और किसके द्वारा शिक्षा पाई, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। उनकी कृतियों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनकी जैनधर्म में बड़ी श्रद्धा थी, और उनका उसके प्रति भारी अनुराग था। वे उसका प्रचार करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने राज्य वैभव के मोह का परित्याग कर गुरु से जैन दीक्षा ले ली, और तपश्चरण द्वारा आत्मशक्ति को बढ़ाया। समन्तभद्र का मुनि जीवन महान् तपस्वी का जीवन था। वे अहिंसादि पंच महाव्रतों का पालन करते थे और ईर्या-भाषा-एषणादि पांच समितियों द्वारा उन्हे पुष्ट करते थे। पंच-इन्द्रियों के निग्रह में सदा तत्पर, मन-वचन-कायरूप गुप्तित्रय के पालन में धीर, और सामायिकादि षडावश्यक क्रियाओं के अनुष्ठान में सदा सावधान रहते थे और इस बातका सदा ध्यान रखते थे कि मेरी दैनिकचर्या या कषायभाव के उदय से कभी किसी जीव को कष्ट न पहुँच जाय। अथवा प्रमादवश कोई बाधा न उत्पन्न हो जाय। इस कारण वे दिन में पदमर्दित मार्ग से चलते थे। चलते समय वे अपनी दृष्टि को इधर उधर नही घुमाते थे; किन्तु उनकी दृष्टि सदा मार्गशोधन में अग्रसर रहती थी। वे रात्रि में गमन नही करते थे और निद्रा-में भी वे इतनी सावधानी रखते थे कि जब कभी करवट बदलना ही आवश्यक होता तो पीछी से परिमार्जित करके ही बदलते थे। तथा पीछी, कमंडलु और पुस्तकादि वस्तुओं को देख-भालकर उठाते रखते थे, एव मल-मूत्रादि भी प्राशुक भूमि में ही क्षेपण करते थे। वे उपसर्ग परिषहों को साम्यभाव से सहते हुए भी कभी चित्त में दिलगीर या खेदित नहीं होते थे। उनका भाषण हित-मित और प्रिय होता था। वे भ्रामरी वृत्ति से ऊनोदर आहार लेते थे। पर उसे जीवन-यात्रा का मात्र अवलम्बन (सहारा) समझते थे और ज्ञान-ध्यान एव संयम की वृद्धि और शारीरिक स्थिति का सहायक मानते थे। स्वाद के लिए उन्होंने कभी आहार नहीं लिया। इस तरह वे मूलाचार (आचारांग) में प्रति-पादित चर्या के अनुसार व्रतों का अनुष्ठान करते थे। अट्ठाईस मूलगुणों और उत्तरगुणों का पालन करते हुए उन-की विराधना न हो, इसका सदा ध्यान रखते थे।

भस्मकव्याधि और उसका शमन—

मुनिचर्या का निर्दोष पालन करते हुए भी कर्मोदयवश उन्हें भस्मक व्याधि हो गई। उसके होने पर भी वे कभी अपनी चर्या से चलायमान नहीं हुए। जब जठराग्नि की तीव्रता भोजन का तिरस्कार करती हुई उसे क्षण-मात्र में भस्म करने लगी; क्योंकि वह भोजन सीमित और नीरस होता था, उससे जठराग्नि की तृप्ति होना सभव नही था। उसके लिये तो गुरु, स्निग्ध, शीतल और मधुर अन्नपान जबतक यथेष्ट परिमाण में न मिले, तो वह जठरा-ग्नि शरीर के रक्त-मांसादि धातुओं को भस्म कर देती है। शरीर में दौर्बल्य हो जाता है, तृषा, दाह और मूर्छादिक अन्य अनेक बाधाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। बढ़ती हुई क्षुधा के कारण उन्हें असह्य वेदना होने लगी, कहा भी है— 'क्षुधा समा नास्ति शरीर वेदना' भूख को बड़ी वेदना होती है। समन्तभद्र ने जब यह अनुभव किया कि रोग इस तरह शान्त नहीं होता, किन्तु दुर्बलता निरन्तर बढ़ती जा रही है, अतः मुनि पद को स्थिर रखते हुए इस रोग का प्रतीकार होना संभव नहीं है, दुर्बलता के कारण जब आवश्यक क्रियाओं में भी बाधा पड़ने लगी, तब उन्होंने गुरु जी से भस्मक व्याधि का उल्लेख करते हुए निवेदन किया कि--भगवन्! इस रोग के रहते हुए निर्दोष चर्या का पालन करना अब अशक्य हो गया है। अतः मुझे समाधिमरण की आज्ञा दीजिए। परन्तु गुरु बड़े विद्वान, तपस्वी, धीर-वीर

एवं साहसी थे। वे समन्तभद्र की जीवनचर्या से अच्छी तरह परिचित थे, निमित्त ज्ञानी थे, और यह भी जानते थे कि समन्तभद्र अल्पायु नहीं हैं ! और भविष्य में इनसे जैनधर्म का विशेष प्रचार एवं प्रभाव होने की संभावना है। ऐसा सोचकर उन्होंने समन्तभद्र को आदेश दिया कि समन्तभद्र ! तुम समाधिमरण के सर्वथा अयोग्य हो। इस वेष को छोड़कर पहले भस्मक व्याधि को शान्त करो। जब व्याधि शान्त हो जाय, तब प्रायश्चित्त लेकर मुनि पद ले लेना। समन्तभद्र ! तुम्हारे द्वारा जैनधर्म का अच्छा प्रचार होगा। गुरु आज्ञा से समन्तभद्र ने मुनि जीवन तो छोड़ दिया, किन्तु उसका परित्याग करने में उन्हें जो कष्ट और खेद हुआ वह वचन अगोचर है क्योंकि उन्हें मुनि जीवन से अनुराग हो गया था। वे उसे छोड़ना नही चाहते थे अतः उसे छोड़ने में दुःख होना स्वाभाविक है, पर गुरु की आज्ञा का उलंघन करना समुचित नही है ऐसा सोचकर मुनिवेष का परित्याग कर दिया।

मुनिपद छोड़ने के बाद वे शरीर का भस्म से आच्छादित कर, और संघ को अभिवादन कर एक वीर योद्धा की तरह 'मणुवकहल्ली' मे चले गये और काञ्ची (काजी वरम्) पहुंचे। उन्होंने वहां के राजा को आशीर्वाद दिया। राजा उनको इस भद्राकृति को देख कर विस्मित हुए, और उसने उन्हें शिव समझकर प्रणाम किया। राजकीय शिवमन्दिर में जो भोग लगता था, उससे उनकी भस्मक व्याधि शान्त हो गई। राजा ने समन्तभद्र से शिवपिण्डी को प्रणाम करने का आग्रह किया। तब समन्तभद्र ने स्वयंभूस्तोत्र की रचना की, और आठवें तीर्थंकर की स्तुति करते हुए चन्द्रप्रभ भगवान की वदना को। उसी समय पिण्डी फटकर उसमें से चन्द्रप्रभ भगवान की मूर्ति प्रकट हुई[1]।' और उससे राजा और प्रजा में जैनधर्म का प्रभाव अंकित हुआ।

भस्मक व्याधि के शान्त होने पर समन्तभद्र प्रायश्चित लेकर पुनः मुनि पद में स्थित हो गए। उन्होंने वीर शासन का उद्योत करने के लिए विविध देशों में विहार किया।

वाद-विजय

स्वामी समन्तभद्र के असाधारण गुणों का प्रभाव तथा लोकहित की भावना से धर्मप्रचार के लिए देशाटन का कितना ही इतिवृत्त ज्ञात होता है। उसमें यह भी जान पड़ता है कि वे जहाँ जाते थे, वहाँ के विद्वान उनको वाद घोषणाओं और उनके तात्विक भाषणों को चुपचाप सुन लेते थे। पर उनका विरोध नहीं करते थे। इससे उनके महान् व्यक्तित्व का कितना ही दिग्दर्शन हो जाता है। जिन स्थानों पर उन्होंने वाद किया, उनका उल्लेख श्रवण बेल्गोल के शिलालेख के निम्न पद्य में पाया जाता है :—

"पूर्वं पाटलिपुत्र मध्य नगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालव-सिन्धु-ठक्क-विषये काञ्चीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूल विक्रीडितम्॥"

आचार्य समन्तभद्र ने करहाटक पहुँचने से पहले जिन देशों तथा नगरों में वाद के लिए विहार किया था उनमें पाटलिपुत्र, मालवा, सिन्धु, ठक्क (पंजाब) देश, कांचीपुर (कांजीवरम्) और विदिशा (भिलसा) ये प्रधान देश तथा जनपद थे, जहाँ उन्होंने वाद-भेरी वजाई थी।

"कांच्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनु र्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः,
पुण्ड्रोड्रे शाक्यभिक्षुः दशपुर नगरे मिष्टभोजी परिव्राट्।
वाराणस्यामभूवं शशधरधवलः पाण्डुरागस्तपस्वी,
राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैन निर्ग्रन्थवादी॥"

---

१. गामें समंतभद्दु वि मुणिंदु, अइणिम्मलु णं पुण्णमहिचंदु।
जिउरजिउ रायारुद्द कोडि, जिणथुत्ति-मित्तिमिव पिंडिफोडि॥
—चंदप्पहचरिउ प्रशस्ति

समन्तभद्र जहाँ जिस भेष में पहुँचे उसका उल्लेख इस पद्य में किया गया है। साथ में यह भी व्यक्त कर दिया है कि मैं जैन निर्ग्रन्थ वादी हूँ। हे राजन् ! जिसकी शक्ति हो सामने आकर वाद करे।

आचार्य समन्तभद्र के वचनों की यह खास विशेषता थी कि उनके वचन स्याद्वाद न्याय की तुला में नपे-तुले होते थे। चूंकि समन्तभद्र स्वयं परीक्षा प्रधानी थे, आचार्य विद्यानन्द ने उन्हें 'परिवेक्षण' परीक्षा नेत्र से सबको देखने वाला लिखा है। वे दूसरों को भी परीक्षा प्रधानी बनने का उपदेश देते थे। उनकी वाणी का यह जबर्दस्त प्रभाव था कि कठोर भाषण करने वाले भी उनके समक्ष मृदुभाषी बन जाते थे।

महान व्यक्तित्व

आचार्य समन्तभद्र के असाधारण व्यक्तित्व के विषय में पंचायती मन्दिर दिल्ली के एक जीर्ण-शीर्ण गुच्छक में स्वयम्भू स्तोत्र के अन्त में पाये जाने वाले पद्य में दश विशेषणों का उल्लेख किया गया है :—

आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहं।
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मांत्रिकस्तांत्रिकोऽहं।
राजन्नस्यां जलधिवलया मेखलायामिलायाम्।
आज्ञासिद्धिः किमिति बहुना सिद्ध सारस्वतोऽहम्॥

इस पद्य के सभी विशेषण महत्वपूर्ण हैं। किन्तु इनमें आज्ञासिद्ध और सिद्ध सारस्वत ये दो विशेषण समन्तभद्र के असाधारण व्यक्तित्व के द्योतक हैं। वे स्वयं राजा को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि—हे राजन् ! मैं इस समुद्र वलया पृथ्वी पर आज्ञा सिद्ध हूँ—जो आदेश देता हूँ वही होना है। और अधिक क्या कहूं मैं सिद्ध सारस्वत हूँ—सरस्वती मुझे सिद्ध है। सरस्वती की सिद्धि में ही वादशक्ति का रहस्य सन्निहित है।

गुण-गौरव

स्वामी समन्तभद्र को आद्य स्तुतिकार होने का गौरव भी प्राप्त है। श्वेताम्बरीय आचार्य मलयगिरि ने 'आवश्यक सूत्र' की टीका में 'आद्यस्तुतिकारोऽप्याह—वाक्य के साथ स्वयंभूस्तोत्रका 'नयास्तव स्यात्पदसत्यलाञ्छन (ज्छिता) इमे' नाम का श्लोक उद्धृत किया है।

आचार्य समन्तभद्र के सम्बन्ध में उत्तरवर्ती आचार्यों, कवियों, विद्वानों ने और शिलालेखों में उनके यश का खुला गान किया गया है।

आचार्य जिनसेन ने उन्हें कवियों को उत्पन्न करने वाला विधाता (ब्रह्मा) बतलाया है, और लिखा है कि उनके वज्रपातरूपी वचन से कुमतिरूपी पर्वत खण्ड-खण्ड हो गये थे।[1]

कवि वादीभसिंह सूरि ने समन्तभद्र मुनीश्वर का जयघोष करते हुए उन्हें सरस्वती की स्वच्छन्द विहार भूमि बतलाया है। और लिखा है कि—उनके वचनरूपी वज्रनिपात से प्रतिपक्षी सिद्धान्तरूप पर्वतों की चोटियाँ खण्ड-खण्ड हो गई थी।[2] समन्तभद्र के आगे प्रतिपक्षी सिद्धान्तों का कोई गौरव नहीं रह गया था। आचार्य जिनसेन ने समन्तभद्र के वचनों को वीर भगवान के वचनों के समान बतलाया है।[3]

१. नमः समन्तभद्राय महते कवि वेधसे।
यद्वचो वज्रपातेन निर्भिन्ना कुमताद्रयः॥

२. सरस्वती-स्वैर-विहारभूमयः समन्तभद्र प्रमुखा मुनीश्वराः।
जयन्ति वाग्वज्र-निपात-पारित-प्रतीप राद्धान्त महीध्रकोटयः॥

—गद्यचिन्तामणि

३. वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृंभते॥

—हरिवंश पुराण

शक संवत् १०५६ के एक शिलालेख में तो यहाँ तक लिखा है कि स्वामी समन्तभद्र वर्द्धमान स्वामी के तीर्थ की सहस्रगुणी वृद्धि करते हुए उदय को प्राप्त हुए।[1]

वीरनन्दि आचार्य ने 'चन्द्रप्रभ चरित्र' में लिखा है कि—गुणों से—सूत के धागों से गूथी गई निर्मल गोल मोतियों से युक्त और उत्तम पुरुषों के कण्ठ का विभूषण बनी हुई हारयष्टि को—श्रेष्ठ मोतियों की माला को—प्राप्त कर लेना उतना कठिन नहीं है जितना कठिन समन्तभद्र की भारती (वाणी) को पा लेना कठिन है, क्योंकि वह वाणी निर्मलवृत्त (चारित्र) रूपी मुक्ताफलों से युक्त है और बड़े बड़े मुनि पुंगवों—आचार्यों ने अपने कण्ठ का आभूषण बनाया है, जैसा कि उसके निम्न पद्य से स्पष्ट है:—

गुणान्विता निर्मलवृत्त मौक्तिका नरोत्तमैः कण्ठ विभूषणी कृता।
न हारयष्टिः परमेव दुर्लभा समन्तभद्रादि भवा च भारती॥

इस तरह समन्तभद्र की वाणी को जिन्होंने हृदयंगम किया है वे उसकी गंभीरता और गुरुता से वाकिफ़ हैं।

आचार्य समन्तभद्र की भारती (वाणी) कितनी महत्वपूर्ण है इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं है। स्वामी समन्तभद्र ने अपनी लोकोपकारिणी वाणी से जैनमार्ग को सब ओर से कल्याणकारी बनाने का प्रयत्न किया है[2]। जिन्होंने उनकी भारती का अध्ययन और मनन किया है वे उसके महत्व से परिचित हैं। उनकी वाणी में उपेय और उपाय दोनों तत्त्वों का कथन अंकित है जो पूर्व पक्ष का निराकरण करने में समर्थ है, जिसमें सप्तभंगों और सप्तनयों द्वारा जीवादि तत्त्वों का परिज्ञान कराया गया है और जिसमें आगम द्वारा वस्तु धर्मों को सिद्ध किया गया है, जिसके प्रभाव से पात्रकेशरी जैसे ब्राह्मण विद्वान जैनधर्म की शरण में आकर प्रभावशाली आचार्य बने, जो अकलंक और विद्यानन्द जैसे मुनि पुंगवों के भाष्य और टीकाग्रन्थ से अलंकृत है वह समन्तभद्र वाणी सभी के द्वारा अभिनन्दन नीय, वन्दनीय और स्मरणीय है।

कृतियाँ—

इस समय आचार्य समन्तभद्र की ५ कृतियाँ उपलब्ध हैं। देवागम (आप्तमीमांसा) स्वयंभूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन, जिन शतक (स्तुतिविद्या) और रत्नकरण्डश्रावकाचार। इनके अतिरिक्त जीवसिद्धि नाम की कृति का उल्लेख तो मिलता है पर वह अभी तक कहीं से उपलब्ध नहीं हुई। यहाँ उपलब्ध कृतियों का परिचय दिया जाता है।

देवागम—जिस तरह आदिनाथ स्तोत्र और पार्श्वनाथ स्तोत्र 'भक्तमर और कल्याणमन्दिर' जैसे शब्दों से प्रारम्भ होने के 'कारण भक्तामर और कल्याण मन्दिर नाम से उल्लेखित 'भक्तामर' और कल्याण" मन्दिर' कहा जाता है। उसी तरह यह ग्रन्थ भी 'देवागम' शब्दों से प्रारम्भ होने के कारण देवागम कहा जाने लगा।[3] इसका दूसरा नाम आप्तमीमांसा है। ग्रन्थ में दश परिच्छेद और ११४ कारिकाएँ हैं। ग्रन्थकार ने वीर जिन की परीक्षा कर उन्हें सर्वज्ञ और आप्त बतलाया है, तथा युक्तिशास्त्र विरोधी वाक्हेतु के द्वारा आप्त की परीक्षा की गई है—अर्थात् जिनके वचन युक्ति और शास्त्र से अविरोध पाये गये उन्हें ही आप्त बतलाया है। और जिनके वचन युक्ति और शास्त्र के विरोधी पाये गये और जिनके वचन बाधित हैं, उन्हें आप्त नहीं बतलाया। साथ में यह भी बतलाया कि हे भगवन्! आपके शासनामृत से बाह्य जो सर्वथा एकान्तवादी हैं, वे आप्त नहीं हैं, किन्तु आप्त के अभिमान से

---

१. देखो बेलूरताल्लुके का शिलालेख नं० १७, जो सौम्यनाथ के मन्दिर की छत के एक पत्थर पर उत्कीर्ण है।
—स्वामी समन्तभद्र पृ० ४६

२. जैनवर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तात्मुहुः।
—मल्लिषेण प्रशस्ति

३. **जीवसिद्धि विधायीह कृतयुक्त्यनु शासनम्।**
वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते॥
—हरिवंश पुराण १-३०

दग्ध हैं। क्योंकि उनके द्वारा प्रतिपादित इष्ट तत्त्व प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है[1]। इस कारण भगवान आप ही निर्दोष हैं। पश्चात् उन एकान्तवादों की—भावैकान्त, अभावैकान्त, उभयैकान्त, अवाच्यतैकान्त, द्वैतैकान्त, अद्वैतैकान्त, पृथक्त्वैकान्त, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त, क्षणिकैकान्त, देवैकान्त, पौरुषैकान्त, आदि की—समीक्षा की गई है। और बतलाया है कि इन एकान्तों के कारण लोक परलोक, बन्ध, मोक्ष, पुण्य, पाप, धर्म अधर्म, दैव पुरुषार्थ आदि की व्यवस्था नही बन सकती। आचार्य महोदय ने एकान्त वादियों को—जो सर्वथा एक रूप मान्यता के आग्रह में अनुरक्त है[2]। उन्हे स्व-पर-बैरी बतलाया है। वे एकान्त पक्षपाती होने के कारण स्व-पर वैरी है। क्योकि उनके मत में शुभ अशुभ कर्मो, लोक परलोक आदि की व्यवस्था नही बन सकती। कारण वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। उसमें अनन्त धर्म गुण स्वभाव मौजूद है। वह उनमें से एक ही धर्म को मानता है। अतएव अनेकान्त दृष्टि ही सम्यग्दृष्टि है। और एकान्तदृष्टि मिथ्यादृष्टि है। इनकी सिद्धि स्याद्वाद से होती है। स्याद्वाद का कथन करते हुए बतलाया है कि स्याद्वाद के विना उपादेय तत्त्वों की व्यवस्था भी नही बनती। क्योंकि स्याद्वाद सप्तभंग और नयों की अपेक्षा लिये रहता है। सापेक्ष और निरपेक्ष नयों का सम्बन्ध बतलाते हुए कहा है कि निरपेक्ष नय मिथ्या और सापेक्ष नय सम्यक् हैं और वस्तुतत्व की सिद्धि मे सहायक होते है। इस सबके विवेचन से ग्रन्थ की महत्ता का सहज ही बोध हो जाता है। ग्रन्थकार ने लिखा है कि यह ग्रन्थ हिताभिलाषी भव्य जीवों के लिये सम्यक् और मिथ्या उपदेश के अर्थ विशेष की प्रतिपत्ति के लिये रचा गया है[3]।

इस ग्रन्थ पर भट्टाकलक देव ने 'अष्टशती' नाम का भाष्य लिखा है जो आठ सौ श्लोक प्रमाण है। और विद्यानदाचार्य ने 'अष्ट सहस्री' नाम की एक बड़ी टीका लिखी है, जो आज भी गूढ है जिसके रहस्य को थोड़े ही व्यक्ति जानते है, जिसे देवागमालकृति तथा आप्त मीमासालंकृति भी कहा जाता है। देवागमालकृति में आ० विद्यानन्द ने अष्टशती को पूरा आत्मसात् कर लिया है। अष्टसहस्री पर एक सस्कृत टीका यशोविजय नामक श्वेताम्बरीय विद्वान की है और एक सस्कृत टिप्पणी भी अभिनव समन्तभद्र कृत है चौथी टीका देवागमवृत्ति है, जिसके कर्ता आचार्य वसुनन्दि है। प० जयचन्द जी छावड़ा जयपुर ने भी इसकी हिन्दी टीका लिखी है, जो अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित हो चुकी है। प० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने भी देवागम की टीका लिखी है, जो वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट से प्रकाशित है।

स्वयंभूस्तोत्र—प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम 'स्वयभूस्तोत्र' या 'चतुर्विशति जिन स्तुति' है जिस तरह कल्याण मन्दिर एकीभाव, भक्तामर और सिद्धिप्रिय स्तोत्रों के समान प्रारभिक शब्द की दृष्टि से स्वयभूस्तोत्र भी सुघठित है। इसमें वृषभादि चतुर्विशति तीर्थकरो की स्तुति की गई है। दूसरों के उपदेश के बिना ही जिन्होंने स्वय मोक्षमार्ग को जानकर और उसका अनुष्ठान कर अनन्तचतुष्टय स्वरूप—अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्त वीर्यरूप आत्म विकास को प्राप्त किया है उन्हे स्वयभूः कहते है। वृषभादि वीर पर्यन्त चतुर्विशति तीर्थकर अनन्त चतुष्टयादि रूप आत्म-विकास को प्राप्त हुए है, अत स्वयभू पद के स्वामी है। अतएव यह स्वयंभू स्तोत्र सार्थक सज्ञा को प्राप्त है।

प्रस्तुत ग्रन्थ समन्तभद्र भारती का एक प्रमुख अग है। रचना अपूर्व और हृदयहारिणी है। यद्यपि यह ग्रन्थ स्तोत्र की पद्धति को लिये हुए है इस कारण वह भक्तियोग की प्रधानता से ओत-प्रोत है। गुणानुराग को

---

१. स त्वमेवाऽसि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्ट ते प्रसिद्धेन न बध्यते॥
त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्।
आप्ताभिमान दग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते॥ —आप्तमीमांसा ६-७

२. 'एकान्तग्रह रक्तेषु नाथ! स्व-पर-वैरिषु, देवागम का० ८

३. इतीयमाप्तमीमांसा विहिताहितमिच्छता।
सम्यग्मिथ्योपदेशार्थ-विशेष-प्रतिपत्तये॥ —देवागम का० ११४

भक्ति कहते हैं। जब तक मानव का अहंकार नहीं मरता तब तक उसकी विकास भूमि तैयार नहीं होती। पहले से यदि कुछ विकास होता भी है तो वह अहकार आते ही विनष्ट हो जाता है, कहा भी है—'किया कराया सब गया जब आया हुंकार'। इस लोकोक्ति के अनुसार वह दूषित हो जाता है। भक्तियोग मे जहां अहकार मरता है वहां विनय का विकास होता है। इसी कारण विकास मार्ग में सबमे प्रथम भक्तियोग को अपनाया गया है। आचार्य समन्तभद्र विकास को प्राप्त शुद्धात्माओं के प्रति कितने विनम्र और उनके गुणों में कितने अनुरक्त थे, यह उनके स्तुति ग्रन्थों से स्पष्ट है। उन्होंने स्वयं स्तुति विद्या में अपने विकास का प्रधान श्रेय भक्तियोग को दिया है। और भगवान जिनेन्द्र के स्तवन को भव-वन को भस्म करने वाली अग्नि बतलाया है। और उनके स्मरण को दुख समुद्र से पार करने वाली नौका लिखा है। उनके भजन को लोह से पारस मणि के स्पर्श समान कहा है। विद्यमान गुणों की अल्पता का उल्लंघन करके उन्हें बढ़ा चढ़ा कर कहना लोक में स्तुति कही जाती है। किन्तु समन्तभद्राचार्य की स्तुति लोक स्तुति जैसी नही है। उसका रूप 'जिनेद्र के अनन्त गुणों में से कुछ गुणों का अपनी शक्ति अनुसार आंशिक कीर्तन करना है'[२]। जिनेद्र के पुण्य गुणों का स्मरण एवं कीर्तन आत्मा की पाप-परिणति को छुड़ाकर उसे पवित्र करता है और आत्म विकास में सहायक होता है फिर भी यह कोरा स्तुति ग्रन्थ नही है। इसमें स्तुति के बहाने जैनागम का सार एव तत्वज्ञान कूट कूट कर भरा हुआ है। टीकाकार प्रभाचन्द्र ने—'निःशेष जिनोक्त धर्म विषयः और 'स्तवोयमसम.' विशेषणों द्वारा इस स्तवन को अद्वितीय बतलाया है। समन्तभद्र स्वामी का यह स्तोत्र ग्रन्थ अपूर्व है। उसमें निहित वस्तु तत्त्व स्व-पर के विवेक कराने में सक्षम हैं।

यद्यपि पूजा स्तुति से जिनदेव का कोई प्रयोजन नही है, क्योंकि वे वीतराग हैं—राग द्वेषादि से रहित हैं। अतः किसी की भक्ति पूजा से वे प्रसन्न नहीं होते, किन्तु सच्चिदानन्दमय होने से वे सदा प्रसन्न स्वरूप हैं। निन्दा से भी उन्हें कोई प्रयोजन नही है; क्योंकि वे वैर रहित हैं। तो भी उनके पुण्य गुणों के स्मरण से पाप दूर भाग जाते हैं और पूजक या स्तुति कर्ता की आत्मा में पवित्रता का संचार होता है[३]। आचार्य महोदय ने इसे और भी स्पष्ट किया है :—

स्तुति के समय उस स्थान पर स्तुत्य चाहे मौजूद हो या न हो फल की प्राप्ति भी चाहे सीधी होती हो या न हो परन्तु आत्म-साधन में तत्पर साधु स्तोता की विवेक के साथ भक्ति भाव पूर्वक की गई स्तुति कुशल परिणाम की—पुण्य प्रसाधक पवित्र शुभभावों की—कारण जरूर होती है और वह कुशल परिणाम श्रेय फल का दाता है। जब जगत में स्वाधीनता से श्रेयोमार्ग इतना सुलभ है, तब सर्वदा अभिपूज्य हे नमि-जिन! ऐसा कौन विद्वान अथवा विवेकी जन है, जो आपकी स्तुति न करें? अर्थात् अवश्य ही करेगा।

स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा,
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायस-पथे,
स्तुया न्न त्वा विद्वानसततमभिपूज्यं नमिजिनम् ॥११६

इन चतुर्विशति तीर्थकरो के स्तवनों में गुणकीर्तनादि के साथ कुछ ऐसी बातों का अथवा घटनाओं का भी उल्लेख मिलता है जो इतिहास तथा पुराण से सम्बन्ध रखती हैं। और स्वामी समन्तभद्र की लेखनी से प्रसूत होने के

---

१. "स्वयं परोपदेशमन्तरेण मोक्षमार्गमव बुध्य अनुष्ठाय वाऽनन्त चतुष्टयतया भवतीति स्वयभूः।" स्वयभूस्तोत्रटीका

२. याथात्म्यमुल्लंघ्यगुणोदयाऽऽख्या, लोके स्तुति र्भूरिगुणोदधेस्ते।
अणिष्ठमप्यशमशक्नुवन्तो वक्तु जिन! त्वां किमिव स्तुयाम ॥
—युक्त्यनुशासन २

३. न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ! विवान्त वैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्न पुनातु चित्त दुरिताञ्जनेभ्यः ॥
—स्वयंभू स्तोत्र ५७

कारण उनका अपना खास महत्त्व है। जब भगवान पार्श्वनाथ पर केवल ज्ञान होने मे पूर्व कमठ के जोव सम्बर नामक देव ने उपसर्ग किया था और धरणेन्द्र पद्मावती ने उन की संरक्षा का प्रयत्न किया था, तब उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। और वह संवर देव भी काल लब्धि पाकर शान्त हो गया और उसने सम्यकत्व की विशुद्धता प्राप्त कर ली। आचार्य महोदय ने भगवान पार्श्वनाथ के कैवल्य जीवन की उस महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख किया है—जब भगवान पार्श्वनाथ को विधूत कल्मष और शमोपदेश ईश्वर के रूप में देखकर वे वनवासी तपस्वी भी शरण में प्राप्त हुए थे, जो अपने श्रमको—पचाग्नि साधनादि रूप प्रयास को—विफल समझ गए थे, और भगवान जैसे विधूत कल्मष घातिकर्म चतुष्टयरूप पाप से रहित ईश्वर होने की इच्छा रखते थे, उन तपस्वियों की सख्या सात सौ बतलाई गई है१। यथा :—

यमीश्वर वीक्ष्यविधूत-कल्मषं तपाधनास्तेऽपि तथा बुभूषवः।
वनौकसः स्वश्रम-वन्ध्य-बुद्धयः शमोपदेश शरणं प्रपेदिरे ॥४

इस तरह यह स्तोत्र ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति है, इसमें स्तवन के साथ दार्शनिकता का पुट भी अंकित है।

स्तुतिविद्या—

इस ग्रन्थ का मूल नाम 'स्तुतिविद्या' है, जैसा कि प्रथम मगल पद्य में प्रयुक्त हुए 'स्तुति विद्यां प्रसाधये' प्रतिज्ञा वाक्य से ज्ञात होता है। यह शब्दालकार प्रधान काव्य ग्रन्थ है। इसमे चित्रालंकार के अनेक रूपों को दिया गया है, उन्हें देखकर आचार्य महोदय के अगाध काव्यकौशल का सहज ही भान हो जाता है। इस ग्रन्थ के कवि नाम गर्भचक्रवाले 'गत्वैक स्तुतमेव' ११६ वे पद्य के सातवे वलय मे 'शान्तिवर्मकृतं' और चौथे वलय में 'जिनस्तुतिशतं, निकलता है। ग्रन्थ में कई तरह के चक्रवृत्त दिये हैं। आचार्य ने अपने इस ग्रन्थ को 'समस्त गुणगणोपेता' और सर्वालंकार भूषिता' बतलाया है। यह ग्रन्थ इतना गूढ़ है कि बिना संस्कृत टीका के लगाना प्रायः अशक्य है। इसी से टीकाकार ने 'योगिनामपि दुष्करा' विशेषण दिया है और उसे योगियों के लिए भी दुष्कर बतलाया है। आचार्य महोदय ने ग्रन्थ रचना का उद्देश्य प्रथम पद्य में 'आगमां जये' वाक्य द्वारा पापों को जीतना बतलाया है। इससे इस ग्रन्थ की महत्ता का सहज ही पता चल जाता है।

वास्तव में पापों को कैसे जीता जाता है, यह बडा ही रहस्यपूर्ण विषय है। इस विषय में यहां इतना लिखना ही पर्याप्त होगा कि जिन तीर्थकरों की स्तुति की गई है—वे सब पापविजेता हुए है। उन्होंने काम-क्रोधादि पाप प्रकृतियों पर पूर्ण विजय प्राप्त की है. उनके चिन्तन, वन्दन और अराधन से अथवा पवित्रहृदय-मन्दिर में विराजमान होने से पाप खड़े नही रह सकते। पापों के बन्धन उसी प्रकार ढीले पड़ जाते है जिस प्रकार चन्दन के वृक्ष पर मोर के आने मे उसमे लिपटे हुए भुजगों (सर्पो) के बन्धन ढीले पड़ जाते है२। वे अपने विजेता से घबराकर अन्यत्र भाग जाने की बात सोचने लगते हैं। अथवा उन पुण्य पुरुषों के ध्यानादिक से आत्मा का वह निष्पाप वीतराग शुद्ध स्वरूप सामने आ जाता है। उस शुद्धस्वरूप के सामने आते ही आत्मा में अपनी उस भूली हुई निजनिधि का स्मरण हो जाता है और उसकी प्राप्ति के लिए अनुराग जाग्रत हो जाता है, तब पाप परिणति सहज ही छूट जाती है। अतः

---

१. प्रापत्सम्यक्त्व शुद्धि च दृष्ट्वा तद्वनवासिनः।
तापसास्त्यक्तमिथ्यात्वाः शताना सप्त सयमम् ॥
—उत्तर पुराण ७३—१४६

२. हृदवर्तिनि त्वयि विभो ! शिथलीभवन्ति,
जन्तोः क्षरोण निविडा अपि कर्मबन्धाः।
सद्यो भुजगममया इव मध्यभाग=
मभ्यागते वन शिखण्डिनि चन्दनस्य ॥
—कल्याण मन्दिर स्तोत्र

जिन पवित्रात्माओं में वह शुद्ध स्वरूप पूर्णतः विकसित हुआ है, उनकी उपासना करता हुआ भव्य जीव अपने में उस शुद्ध स्वरूप को विकसित करनेके लिए उसी तरह समर्थ होता है, जिस तरह तैलादिविभूषित वत्ती दीपक की उपासना करती हुई उसमें तन्मय हो जाती है— वह स्वय दीपक बनकर जगमगा उठती है। यह सब उस भक्तियोग का ही माहात्म्य है।

भक्त के दो रूप है सकामाभक्ति और निष्कामाभक्ति। सकामा भक्ति संसार के ऐहिक फलों की वाछा को लिए हुए होती है। वह ससार तक ही सीमित रखती है। यद्यपि वर्तमान में उसमें कितना ही विकार आगया है। लोग उस व्यक्ति के मौलिक रहस्य को भूलगए है, और जिनेन्द्र मुद्रा के समक्ष लौकिक एव सासारिक कार्यो की याचना करने लगे है। वहा अज्ञजन भक्ति के गुणानुराग से च्युत होकर ससार के लौकिक कार्यो की प्राप्ति के लिये भक्ति करते देखे जाते है। किन्तु निष्कामाभक्ति मे किसी प्रकार की चाह या अभिलाषा नही होती, वह अत्यन्त विशुद्ध परिणामों की जनक है। उससे कर्म निर्जरा होता है, और आत्मा उसमे अपनी स्वात्मस्थिति को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। अत निष्कामा भक्ति भव-समुद्र से पार उतारने में निमित्त होती है।

शुभाशुभ भावो की तरतमता और कषायादि परिणामो की तीव्रता मन्दतादि के कारण कर्म प्रकृतियों में बराबर संक्रमण होता रहता है। जिस समय कर्म प्रकृतियो के उदय की प्रबलता होती है उस समय प्रायः उनके अनुरूप ही कार्य सम्पन्न होता है। फिर भी वीतरागदेव की उपासना के समय उनके पुण्यगुणो का प्रेम पूर्वक स्मरण और चिन्तन उनमें अनुराग बढाने मे शुभपरिणामों की उत्पत्ति होती है जिससे पाप परिणति छूटती है और पुण्य परिणति उसका स्थान ले लेती है, इससे पाप प्रकृतियों का रस सूख जाता है और पुण्य प्रकृतियों का रस बढ़ जाता है। पुण्य प्रकृतियो के रस में अभिवृद्धि होने से अन्तरायकर्म जो मूल पाप प्रकृति है और हमारे दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न करती है-- उन्हे नही होने देती – वह भग्नरस होकर निर्बल हो जाती है, फिर वह हमारे इष्ट कार्यो में बाधा पहुचाने में समर्थ नही होती। तब हमारे लौकिक कार्य अनायास ही सिद्ध हो जाते है। जैसा कि तत्वार्थश्लोकवार्तिक मे उद्धृत निम्न पद्य से स्पष्ट है :—

"नेष्ट विहन्तुं शुभभाव-भग्न-रस प्रकर्षः प्रभुरन्तरायः।
तत्कामचारेण गुणानुरागन्नुत्यादिरिष्टार्थ कदाऽर्हदादेः॥"

अतएव वीतरागदेव की निर्दोष भक्ति अमित फल को देने वाली है इसमें कोई बाधा नही आती।

यह ग्रन्थ भी समन्तभद्र भारती का अंगरूप है। इसमें वृषभादि चतुर्विशति तीर्थकरो को—अलकृत भाषा में कलात्मक स्तुति की गई है। इसका शब्द विन्यास अलकार की विशेषता को लिये हुए है। कही श्लोक के एक चरण को उलटकर रख देने मे दूसरा चरण बन जाता है। और पूर्वार्ध को उलटकर रखदेने से उत्तरार्ध, और समूचे श्लोक को उलट कर रखने से दूसरा श्लोक बन जाता है। ऐसा होने पर भी उनका अर्थ भिन्न-भिन्न है, इस ग्रन्थ के अनेक पद्य ऐसे है, जो एक से अधिक अलकारो को लिये हुए है। और कुछ ऐसे भी पद्य हें, जो दो-दो अक्षरों से बने हैं—दो व्यजनाक्षरो मे ही जिनके शरीर की सृष्टि हुई है[१]। स्तुतिविद्या का १४वा पद्य ऐसा है जिसका प्रत्येक पाद निम्न प्रकार के एक एक अक्षर मे बना है।

येया यायाः यये याय नानानूना ननानन।
ममा ममा ममा मामिता तती तिततीतितः॥

यह ग्रन्थ कितना महत्वपूर्ण है यह टीकाकार के—'घन-कठिन-घाति कर्मेन्धन दहन समर्था', वाक्य से जाना जाता है जिसमें घने कठोर घातिया कर्मरूपी ईन्धन को भस्म करने वाली समर्थ अग्नि बतलाया है।

युक्त्यनुशासन—

प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम युक्त्यनुशासन है। यह ६४ पद्यों की एक महत्वपूर्ण दार्शनिक कृति है। यद्यपि आचार्य समन्तभद्र ने ग्रन्थ के आदि और अन्त के पद्यों में युक्त्यनुशासन का कोई नामोल्लेख नही किया, किन्तु

१. देखो, ५१, ५२ और ५५वाँ पद्य।

उनमें स्पष्ट रूप से वीर जिन स्तवन की प्रतिज्ञा और उसी की परिसमाप्ति का उल्लेख है[१]। इस कारण ग्रन्थ का प्रथम नाम 'वीर जिन स्तोत्र' है।

आचार्य समन्तभद्र ने स्वयं ४८वें पद्य में 'युक्त्यनुशासन' पद का प्रयोग कर उसकी सार्थकता प्रदर्शित कर दी है और बतलाया है कि युक्त्यनुशासन शास्त्र प्रत्यक्ष और आगम से अविरुद्ध अर्थ का प्रतिपादक है। "दृष्टाऽऽगमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते।" अथवा जो युक्ति प्रत्यक्ष और आगम के विरुद्ध नहीं है, उस वस्तु की व्यवस्था करने वाले शासन का नाम युक्त्यनुशासन है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतत्त्व का जो कथन प्रत्यक्ष और आगम से विरुद्ध है वह युक्त्यनुशासन नहीं हो सकता। साध्याविनाभावी साधन से होने वाले साध्यार्थ का कथन युक्त्यनुशासन है।[२]

इस परिभाषा को वे उदाहरण द्वारा पुष्ट करते हुए कहते हैं कि वास्तव में वस्तुस्वरूप स्थिति, उत्पत्ति और विनाश इन तीनों को प्रति समय लिए हुए ही व्यवस्थित होता है। इस उदाहरण में जिस तरह वस्तुतत्त्व उत्पादादि त्रयात्मक युक्ति द्वारा सिद्ध किया गया है, उसी तरह वीरशासन में सम्पूर्ण अर्थ समूह प्रत्यक्ष और आगम अविरोधी युक्तियों से प्रसिद्ध है।[3]

पुन्नाट संघी जिनसेन ने 'हरिवंश पुराण' में बतलाया है कि आचार्य समन्तभद्र ने 'जीवसिद्धि' नामक ग्रन्थ बनाकर युक्त्यनुशासन की रचना की है[४]। चुनाचे टीकाकार आचार्य विद्यानन्द ने भी ग्रन्थ का नाम युक्त्यनुशासन बतलाया है[५]।

ग्रन्थ में दार्शनिक दृष्टि से जो वस्तु तत्व चर्चित हुआ है वह बड़ा ही गम्भीर और तात्त्विक है। इसमें स्तवन प्रणाली से ६४ पद्यों द्वारा स्वमत-परमत के गुण दोषों का सूत्र रूप से बड़ा मार्मिक वर्णन दिया है। और प्रत्येक विषय का निरूपण प्रबल युक्तियों द्वारा किया गया है।

आचार्य समन्तभद्र ने 'युक्तिशास्त्राऽविरोधि वाक्त्व' हेतु से देवागम में आपकी परीक्षा की है, और जिनके वचन युक्ति और शास्त्र से अविरोध रूप है उन्हें ही आप्त बतलाया है और शेष का आप्त होना बाधित ठहराया है। और बतलाया है कि आपके शासनामृत से वाह्य जो सर्वथा एकान्तवादी हैं वे आप्त नहीं हैं किन्तु आप्तभिमान से दग्ध हैं; क्योंकि उनके द्वारा प्रतिपादित इष्टतत्त्व प्रत्यक्ष प्रमाण से वाधित है[६]।

ग्रन्थ में भगवान महावीर की महानता को प्रदर्शित करते हुए बतलाया है कि—'वे अतुलित शान्ति के साथ

१. 'स्तुति गोचरस्त्वं निनीषवः स्मो वयमद्यवीर ॥
'स्तुतिः शक्त्याश्रेयः पदमधिगतस्त्वं जिन ! मया, महावीरो वीरो दुरितपरसेनाऽभि विजये ॥६४॥

२. "अन्यथानुपपन्नत्वं नियमनिश्चयलक्षणात् साधनात्साध्यार्थ प्ररूपणं युक्त्यनुशासनमिति'
—युक्त्यनुशासन टीका पृ० १२२

३. युक्त्यनुशासन प्रस्तावना पृ० २

४. 'जीवसिद्धि विधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम्।
—हरिवंश पुराण

५. 'जीयात् समन्तभद्रस्य स्तोत्रं युक्तयनुशासनम्।' (१)
'स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपते वीरस्य निःशेषतः'। (२)
"श्रीमद्वीरजिनेश्वरामलगुणस्तोत्रं परीक्षेक्षणैः।
साक्षात्स्वामिसमन्तभद्रगुरुभिस्तत्त्वं समीक्ष्याऽखिलम्।
प्रोक्त युक्तयनु शासनं विजयभिःस्याद्वादमार्गानुगैः॥" (४)

६. त्वनमताऽमृतबाह्यानां सर्वथैकान्त-वादिनाम्।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते॥
—देवागम का० ७

शुद्धि और शक्ति की पराकाष्ठा को—चरमसीमा को प्राप्त हुए हैं। और शान्ति सुखस्वरूप हैं—आप में ज्ञानावरण दर्शनावरण रूप कर्ममल के क्षय से अनुपम ज्ञान दर्शन का तथा अन्तराय कर्म के अभाव से अनन्त वीर्य का आविर्भाव हुआ है। और मोहनीय कर्म के विनाश से अनुपम सुख को प्राप्त है। आप ब्रह्म पथ के—मोक्षमार्ग के—नेता हैं[1]। और महान् है। आप का मत-अनेकात्मक शासन—दमा-दम-त्याग और समाधि की निष्ठा को लिये हुए है—ओत-प्रोत है। नयों और प्रमाणो द्वारा सम्यक वस्तु तत्त्व को सुनिश्चत करने वाला है, और सभी एकान्त वादियों द्वारा अबाध्य है। इस कारण वह अद्वितीय है[2]। इतना ही नही किन्तु वीर के इस शासन को 'सर्वोदय तीर्थ बतलाया है—जो सबके उदय-उत्कर्ष एवं आत्मा के पूर्ण विकास में सहायक है, जिसे पाकर जीव संसार समुद्र से पार हो जाते है। वही सर्वोदय तीर्थ[3] है, जो सामान्य-विशेष, द्रव्य पर्याय विधि-निषेध और एकत्व अनेकत्वादि सम्पूर्ण धर्मों को अपनाए हुए है, मुख्य गोड़ की व्यवस्था से सुव्यवस्थित है, सब दुखों का अन्त करने वाला है, और अविनाशी है, वही सर्वोदय तीर्थ कहे जाने के योग्य है; क्योंकि उससे समस्त जीवों को भवसागर से तरने का समीचीन मार्ग मिलता है।

वीर के इस शासन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस शासन से यथेष्ट द्वेष रखने वाला मानव भी यदि समदृष्टि हुआ उपपत्ति चक्षु से—मात्सर्य के त्याग पूर्वक समाधान की दृष्टि से—वीरशासन का अवलोकन और परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मान शृंग खंडित हो जाता है—सर्वथा एकान्त रूप मिथ्या आग्रह छूट जाता है, वह अभद्र (मिथ्यादृष्टि) होता हुआ भी सब ओर से भद्ररूप एव सम्यग्दृष्टि बन जाता है। जैसा कि ग्रन्थ के निम्न पद्य से प्रकट है:—

काम द्विषन्नप्युपपत्ति चक्षुः समीक्ष्यतां ते समदृष्टि रिष्टम्।
त्वयि ध्रुव खण्डित-मान शृङ्गो भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ॥६२

ग्रन्थ सभी एकान्त वादियों के मत की युक्ति पूर्ण समीक्षा की गई है, किन्तु समीक्षा करते हुए भी उनके प्रति विद्वेष की रचमात्र भी भावना नही रही है। और न वीर भगवान के प्रति उनकी रागात्मिका प्रवृत्ति ही रही है।

ग्रन्थ में संवेदनाद्वैत, अद्वैतवाद, शून्यवाद आदि वादों और चार्वाक के एकान्त सिद्धान्त का खंडन करते हुए विधि, निषेध और अवक्तव्यता रूप सप्तभगों का विवेचन किया है, तथा मानस अहिंसा की परिपूर्णता के लिये विचारों का वस्तुस्थिति के आधार से यथार्थ सामजस्य करने वाले अनेकान्तदर्शन का मौलिक विचार किया गया है। साथ ही वीर शासन की महत्ता पर प्रकाश डाला है।

ग्रन्थ निर्माण के उद्देश्य को अभिव्यक्त करते हुए आचार्य कहते है कि हे भगवान्! यह स्तोत्र आपके प्रति रागभाव से नही रचा गया है। क्योंकि आप ने भव-पाश का छेदन कर दिया है। और दूसरों के प्रति द्वेष भाव से भी नही रचा गया है; क्योंकि हम तो दुर्गुणों की कथा के अभ्यास को खलता समझते है। उसप्रकार का अभ्यास न होने से वह खलता भी हम में नही है। तब फिर इस रचना का उद्देश्य क्या है? उद्देश्य यही है कि लोग न्याय-अन्याय को पहचानना चाहते है और प्रकृत पदार्थ के गुण दोषो के जानने की इच्छा है उनके लिये यह स्तोत्र हिता-

७ "त्वं शुद्धिशक्त्योरुदयस्य काष्ठा तुलाव्यतीता जिन शान्तिरूपाम्।
अवापिथ ब्रह्मपथस्य नेता, महानितीयत्प्रतिवक्तुमीशाः" ॥ ४

८ दया-दम-त्याग-समाधि-निष्ठं नय-प्रमाण प्रकृताऽञ्जसार्थम्।
अधृष्य मन्यैरखिलै-प्रवादै जिन! त्वदीय मत मद्वितीयम्। ६

—युक्त्यनुशासन

९. सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥ ६२

—युक्त्यनुशासन

न्वेषण के उपाय स्वरूप आपकी गुण कथा के साथ कहा गया है जैसा कि उसके निम्न पद्य से स्पष्ट है :—

न रागान्नः स्तोत्रं भवति भव-पाशच्छिदिमुनौ,
न चान्येषु द्वेषादपगुणकथाऽभ्यास-खलता ।
किमु न्यायाऽन्याय-प्रकृत-गुणदोषज्ञ-मनसां,
हिताऽन्वेषोपायस्तवगुण-कथा-संग-गदितः ॥६३

इस तरह इस ग्रन्थ की महत्ता और गंभीरता का कुछ आभास मिल जाता है। किन्तु ग्रन्थ का पूर्ण अध्ययन किये बिना उसका मर्म समझ में नहीं आ सकता।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार—इस ग्रन्थ में श्रावकों को लक्ष्य करके समीचीन धर्म का उपदेश दिया गया है। जो कर्मों का विनाशक और संसारी जीवों को संसार के दुःखों से निकाल कर उत्तम सुख में स्थापित करने वाला है, वह धर्म रत्नत्रय स्वरूप है—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप है। और दर्शनादिक को जो प्रतिकूल या विपरीत स्थिति है वह सम्यक् न होकर मिथ्या है अतएव वह अधर्म है, और संसार परिभ्रमण का कारण है।

आचार्य समन्तभद्र ने इस उपासकाध्ययन ग्रंथ में श्रावकों के द्वारा अनुष्ठान करने योग्य धर्म का व्यवस्थित एवं हृदयग्राही वर्णन किया है। जो आत्मा को समुन्नत तथा स्वाधीन बनाने में समर्थ है। ग्रन्थ की भाषा प्राञ्जल मधुर प्रौढ़ और अर्थ गौरव को लिये हुए है। यह ग्रन्थ धर्मरत्न का छोटा सा पिटारा ही है। इस कारण इसका रत्नकरण्ड नाम सार्थक है और समीचीन धर्म की देशना को लिये हुए होने के कारण समीचीन धर्मशास्त्र है। उसका प्रत्येक स्त्री पुरुष को अध्ययन या मनन करना आवश्यक है और तदनुकूल आचरण तो कल्याण का कर्ता है ही। समन्तभद्र से पहले श्रावक धर्म का इतना सुन्दर ओर व्यवस्थित वर्णन करने वाला दूसरा कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। और पश्चात्वर्ती ग्रन्थकारों में भी इस तरह का श्रावकाचार दृष्टि गोचर नहीं होता। वे प्रायः उनके अनुकरण रूप है। यद्यपि परवर्ती विद्वानों के द्वारा रचे हुए श्रावकाचार-विषयक ग्रन्थ अवश्य हैं, पर इसके समकक्ष का अन्य कोई ग्रन्थ देखने में नहीं आया। प्रस्तुत ग्रन्थ सात अध्यायों में विभक्त है, जिसकी श्लोक संख्या १५० डेढ़सौ है। प्रत्येक अध्याय में दिये हुए वर्णन का संक्षिप्तसार इस प्रकार है:—

प्रथम अध्याय में सच्चे आप्त आगम और तपोभृत का त्रिमूढता रहित, अष्ट मदहीन और आठ अंग सहित श्रद्धान को सम्यग्दर्शन बतलाया है। इन सबके स्वरूप का कथन करते हुए बतलाया है कि अगहीन सम्यग्दर्शन जन्म सन्तति का विनाश करने में समर्थ नहीं होता। शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव भय, आशा और लोभ से कुलिंगियों को प्रणाम और विनय भी नहीं करता। ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन मुख्यतया उपासनीय है। सम्यग्दर्शन मोक्ष-मार्ग में खेवटिया के समान है उसके, बिना ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलोदय उसी तरह नहीं हो पाते, जिस तरह बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति आदि नहीं होती। समन्तभद्राचार्य ने सम्यग्दर्शन की महत्ता का जो उल्लेख किया है, वह उसके गौरव का द्योतक है।

दूसरे अधिकार में सम्यग्ज्ञान का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए उसके विषयभूत चारों अनुयोगों का सामान्य कथन दिया है।

तीसरे अधिकार में सम्यक् चारित्र धारण करने की पात्रता का वर्णन करते हुए हिंसादि पाप प्रणालिकाओं से विरति को चारित्र बतलाया है। और वह चारित्र सकल और विकल के भेद से दो प्रकार का है, सकल चारित्र मुनियों के और विकल चारित्र गृहस्थों के होता है, जो अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत रूप है।

चतुर्थ अधिकार में दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाण व्रत इन तीन गुण व्रतों का, अनर्थदण्ड व्रत के पांच भेदों का और उनके पांच-पांच अतिचारों का वर्णन किया है।

पांचवें अधिकार में ४ शिक्षाव्रतों का और उनके अतिचारों का वर्णन किया गया है। सामायिक के समय गृहस्थ को चेलोपसृष्ट मुनि की उपमा दी है।

छठे अधिकार में सल्लेखना का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए उसके पांच अतिचारों का वर्णन दिया है।

सातवें अधिकार में श्रावक के उन ग्यारह पदों का—प्रतिमाओं का स्वरूप दिया है और बतलाया है कि उत्तरोत्तर प्रतिमाओं के गुणपूर्वकपूर्व की प्रतिमाओं के सम्पूर्ण गुणों लिये हुए हैं।

इस तरह इस ग्रन्थ में श्रावक के अनुष्ठान करने योग्य समीचीन धर्म का विधिवत कथन दिया हुआ है। यह ग्रन्थ भी समन्तभद्र भारती के अन्य ग्रन्थों के समान ही प्रामाणिक है और मनन करने के योग्य है। आचार्य समन्त भद्र की उपलब्ध सभी कृतियां महत्वपूर्ण और अपने अपने वैशिष्टय को लिये हुए हैं।

समय

आचार्य समन्तभद्र के समय के सम्बन्ध में स्व० पं० जुगलकिशोर मुख्तार ने अनेक प्रमाणों के साथ विचार किया है और उनका समय विक्रम की दूसरी शताब्दी का पूर्वार्ध बतलाया है[1]। वे तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता उमास्वाति (गृद्धपिच्छाचार्य) के बाद किसी समय हुए हैं। गृद्धपिच्छाचार्य विक्रम की दूसरी शताब्दी के आचार्य माने जाते हैं। समन्तभद्र उन्हीं के बाद और देवनन्दी (पूज्यवाद) से बहुत पूर्ववर्ती हैं। वे सम्भवतः विक्रम की दूसरी शताब्दी के विद्वान होने चाहिये। कोंगणि वंश के प्रथम राजा, जो गंग वश के संस्थापक सिंहनन्द्याचार्य से भी पूर्ववर्ती हैं। कोंगणिवर्मा का एक प्राचीन शिलालेख शक स० २५ का उपलब्ध है।[2] उससे ज्ञात होता है कि कोंगणि वर्मा वि० सं० १६० (ई० सन् १०३) में राज्याशासन पर आरूढ़ हुए थे। अतः प्रायः वही समय आचार्य सिंहनन्दी का है। समन्तभद्र उससे पहले हुए हैं। क्योंकि मल्लिषेण प्रशस्ति में सिंहनन्दि से पूर्व समन्तभद्र का स्मरण किया गया है। अतः उनका समय विक्रम की दूसरी शताब्दी का पूर्वार्ध ही है जो मुख्तार साहब ने निश्चित किया है। वह प्रायः ठीक है।

सिंहनन्दि

मूलसंघ कुन्दकुन्दाचार्य काणूरगण और मेष पाषाण गच्छ के विद्वान थे। वे दक्षिण देश के निवासी थे। सिद्धेश्वर मन्दिर के शिलालेख में उन्हें दक्षिण देशवासी और गंगमही मण्डल का समुद्धारक बतलाया है। जैसा कि उसके निम्न पद्य से प्रकट हैं—

दक्षिण-देश-निवासी गंगमही-मण्डलिक-कुल-समुद्धरणः।
श्रीमूलसंघनाथो नाम्नः श्रीसिंहनन्दिमुनिः॥

मुनि सिंहनन्दि गंगवंश के संस्थापक के रूप में स्मृत किये जाते हैं। सिंहनन्दि ने गंगराजा को जो सहायता दी उसके परिणामस्वरूप गंगराजाओं ने जैनधर्म को बराबर संरक्षण दिया। गंग राजवंश दक्षिण भारत का प्रमुख राज्य रहा है। चौथी शताब्दी से १२वीं शताब्दी तक के शिलालेखों से प्रमाणित है कि गंगवंश के शासकों ने जैन मन्दिरों का निर्माण कराया, जैन मूर्तियां प्रतिष्ठित कराई। जैन साधुओं के निवास के लिए गुफाएँ निर्माण करायीं और जैनाचार्यों को दान दिया।

कल्लूरगुड्ड के शिलालेख में बतलाया हैं कि पद्मनाभ राजा के ऊपर उज्जैन के राजा महीपाल ने आक्रमण किया। तब उसने दडिग और माधव नाम के दो पुत्रों को दक्षिण की ओर भेज दिया। वे यात्रा करते हुए 'पेरूर' नाम के सुन्दर स्थान में पहुँचे। उन्होने वहीं अपना पड़ाव डाल दिया और तालाब के निकट चैत्यालय को देखकर उसकी तीन प्रदक्षिणा दी। वहीं उन्होंने आचार्य सिंहनन्दि को देखा, और उनकी वन्दना कर अपने आने का कारण बतलाया। उसे सुनकर सिंहनन्दि ने उन्हें हस्तावलम्ब दिया। उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर देवी पद्मावती प्रकट हुई और उसने उन्हें तलवार और राज्य प्रदान किया।

जब उन्होंने सम्पूर्ण राज्य पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया तब आचार्य सिंहनन्दि ने उन्हें इस प्रकार शिक्षा दी—'यदि तुम अपने वचन को पूरा न करोगे, या जिन शासन को सहाय्य न दोगे, दूसरों की स्त्रियों का यदि अप-

१. देखो, जैनासाहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश पृ०६६७

२. शिलालेख का आद्य अंश इस प्रकार है :—

"स्वस्ति श्रीमत्कोंगणिवर्म धर्ममहाधिराज प्रथम गंगस्य दत्तं शक वर्ष गतेषु पंचविंशति २५नेय शुभ क्रितुसंवत्सरसु फाल्गुण शुद्ध पंचमी शनि रोहिणि......।"

—देखो, नजन गूढ़ ताल्लुके (मैसूर) के शिलालेख नं० ११०, सन् १८९४ (E. C. III)

हरण करोगे, मद्य-मांस मधु का सेवन करोगे या नीचों की संगति में रहोगे, आवश्यकता होने पर भी दूसरों को अपना धन नही दोगे, और यदि युद्ध के मैदान में पीठ दिखाओगे तो तुम्हारा वंश नष्ट हो जायगा।' उक्त शिलालेख में सिंहनन्दि के द्वारा दिये गए राज्य का विस्तार भी लिखा है। उच्च नन्दिगिरि उनका किला था, कुवलाल राजधानी थी, ६६ हजार देशो पर आधिपत्य था। निर्दोष जिनदेव उनके देवता थे। युद्ध में विजय ही उनका साथी था। जैन मत उनका धर्म था। और दडिग तथा माधव बडी शान के साथ पृथ्वी का शासन करते थे।

ईस्वी सन ११२६ के शिलालेख में लिखा है कि सिंहनन्दि मुनि ने अपने शिष्यो को अर्हन्त भगवान की ध्यानरूपी वह तीक्ष्ण तलवार भी कृपा करके प्रदान की थी, जो घाति कर्मरूपी शत्रुसैन्य की पर्वतमाला को काट डालती है। यदि ऐसा न होता तो देवी के प्रवेश मार्ग को रोकने वाले पत्थर के स्तम्भ को माधव अपनी तलवार के एक ही वार से कैसे काट डालता

११७६ ई० के एक शिलालेख में भी सिंहनन्दि के द्वारा गणराज्य की स्थापना का निर्देश है। सिंहनन्दि का समय ईसा की द्वितीय शताब्दी है।

————

आचार्य शिवकोटि (शिवार्य)

आचार्य शिवकोटि या शिवार्य अपने समय के विशिष्ट विद्वान थे। इन्होंने अपनी कृति आराधना की अन्तिम प्रशस्ति मे अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख किया है। वे दोनो गाथाएं इस प्रकार है—

अज्जजिणणंदि गणि सव्वगुत्तगणि अज्जमित्तणंदीणं।
अवगमियपादमूले सम्मं सुत्तं च अत्थं च।।२१६५।।
पुव्वायरियणिबद्धा उव जीवित्ता इमा स सत्तीए।
आराधणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रइदा।।२१६६।।

इन दोनों गाथाओं मे बतलाया है कि—'आर्य जिननन्दिगणी, आर्य मित्रनंदिगणी के चरणो के निकट भले प्रकार सूत्र और अर्थ को समझ करके तथा पूर्वाचार्यो द्वारा निबद्ध हुई आराधनाओं के कथन का उपयोग करके पाणितलभोजी—करतल पर लेकर भोजन करने वाले—शिवार्य ने यह आराधना ग्रन्थ अपनी शक्ति के अनुसार रचा है।

इस प्रशस्ति मे आर्य जिननन्दिगणी आदि जिन तीन गुरुओं का नामोल्लेख किया है वे कौन हैं और कब हुए है। उनकी गुरुपरम्परा और गण-गच्छादि क्या है? इत्यादि बातों के जानने का कोई साधन उपलब्ध नही है। हाँ, द्वितीय गाथा मे प्रयुक्त हुए ग्रन्थकार के 'पाणिदलभोइणा' इस विशेषण पद मे इतनी बात स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य शिवकोटि ने इस ग्रन्थ की रचना उस समय की जब जैनसंघ दिगम्बर श्वेताम्बर दो विभागों में विभक्त हो चुका था। उसी भेद को प्रदर्शित करने के लिए ग्रन्थकर्त्ता ने उक्त विशेषण पद का लगाना उचित समझा है। फलतः वे उक्त भेद से सम्भवतः सौ-डेढ़सौ वर्ष बाद हुए हों। क्योंकि आराधना ग्रन्थ में आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की कुछ गाथाएं ज्यों के त्यों रूप में पाई जाती है उसके एक दो उदाहरण नीचे दिये जाते है -

दंसणभट्टाभट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति।।

आराधना की नं० ७३८ पर पाई जाने वाली यह गाथा कुन्दकुन्द के दर्शनप्राभृत की तीसरी गाथा है। इसी तरह कुन्दकुन्द के नियमसार की दो गाथाएँ ६६, ७० आराधना में ११८७, ११८८ नम्बरों पर तथा चरित्र पाहुड की ३६वी गाथा आराधना में १२११ पर पाई जाती है। और वारस अणुवेक्खा की दूसरी गाथा आराधना में १७१५ पर ज्यों के त्यों रूप में उपलब्ध होती है। इनके अतिरिक्त कुछ गाथाएँ ऐसी भी हैं जो थोड़े से पाठभेद या परिवर्तनादि के साथ उपलब्ध होती हैं। ऐसी गाथाओं का एक नमूना इस प्रकार है—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्स कोडीहिं।
तं णाणी तिहिगुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥

— प्रवचनसार ३।३८

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडिहि।
तं णाणी तिहिगुत्तो खवेदि अन्तो मुहुत्तेण ॥

—आरा० १०८

इसी तरह चारित्र प्राभृत की गाथा नं० ३१, ३२, ३३, ३५, आराधना में कुछ परिवर्तन तथा पाठ भेद के साथ गाथा नं० ११८४, १२०६, १२०७, १२१०, १८२४ उक्त स्थिति में उपलब्ध होती हैं। इससे स्पष्ट है कि आराधना के कर्त्ता शिवार्य कुन्दकुन्दाचार्य के बहुत बाद हुए हैं।

इतना ही नही किन्तु शिवकोटि के सामने समन्तभद्र के ग्रन्थ भी रहे हैं। क्योंकि इस ग्रन्थ में बृहत् स्वयंभू स्तोत्र के कुछ पद्यों के भाव को अनुवादित किया गया है। संस्कृत टीकाकार ने भी उसके समर्थन में स्वयंभू स्तोत्र के वाक्यों को उद्धृत करके बतलाया है :—

जह जह भुंजइ भोगे तह तह भोगेसु वड्ढदे तण्हा।

भ० आ० गा० १२६२

'तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासामिष्टेन्द्रियार्थ विभवैः परिवृद्धिरेव ॥"

—बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, ८२

बाहिरकरणविसुद्धो अब्भंतर करणसोधणत्थाए।

भ० आ० गा० १३४८

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम् ।,

—बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, ८३

इससे भी स्पष्ट है कि शिवार्य समन्तभद्र के बाद किसी समय हुए हैं। और पूज्यपाद-देवनन्दी से पूर्ववर्ती हैं, क्योंकि पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में तत्त्वार्थसूत्र के ९वें अध्याय के २२वें सूत्र की टीका करते हुए आराधना की ५६२ नं० की निम्न गाथा उद्धृत की है :—

आकंपिय अणुमाणि य जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च।
छण्णं सद्दा उलयं बहुजणअब्वत्त तस्सेवी ॥

(**८१४-८१५**) **का ॥**

इसके अतिरिक्त निम्न दो गाथाओं का भाव भी अध्याय ६ सूत्र ९ की टीका में लिया है—

सहसाणाभोगियदुप्पमज्जिद अपच्चवेक्खणिक्खेवे।
देहो व दुप्पउत्तो तहोवकरणं च णिव्विति ॥
संजोयण मुंवकरणाणं च तहा पाणभोयणाणं च।
दुट्ठ णिसिट्ठा मणवचकाया भेदा णिसग्गस्स ॥

"निक्षेपश्चतुर्विधः अप्रत्यनिक्षेपाधिकरणं, दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरणं सहसानिक्षेपाधिकरणमनाभोगनिक्षेपाधिकरणं चेति । संयोगो द्विविधः—भक्तपानसंयोगाधिरणमुपकरणसंयोगाधिकरणं चेति । निसर्गस्त्रिविधः काय निसर्गाधिकरणं, वाङ्निसर्गाधिकरणं मनोनिसर्गाधिकरणं चेति।

सर्वा० सि० अ० ६ सूत्र ९की टीका

इस सब तुलना पर से शिवार्य या शिवकोटि के रचना काल पर अच्छा प्रकाश पड़ता है और वे समन्तभद्र और पूज्यपाद के मध्यवर्ती किसी समय हुए हैं। इनका समय देवनन्दी (पूज्यपाद) से पूर्ववर्ती है।

आराधना

प्रस्तुत ग्रन्थ में २१७० के लगभग गाथाएं हैं जिनमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक्

तप रूप चार आराधनाओं का कथन किया गया है। आराधना के कथन के साथ अनेक दृष्टान्तों द्वारा उस विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। मरण के भेद-प्रभेदों का अच्छा वर्णन किया है और समाधि मरण करनेवाले क्षपक की परिचर्या में लगनेवाले साधुओं की संख्या ४४ बतलाई गई है। १६२१ नम्बर की गाथा से १८६१ नं० की २७० गाथाओं द्वारा आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल इन चार ध्यानों का विस्तृत वर्णन किया गया है। ग्रन्थ में कुछ ऐसी प्राचीन गाथाएं मिलती हैं, जिनका उल्लेख श्वेताम्बरीय आवश्यक निर्युक्ति आदि ग्रन्थों में पाया जाता है। परन्तु यह अवश्य विचारणीय है कि आवश्यक निर्युक्ति आदि ग्रन्थ छठवीं शताब्दी में लिखे गए हैं। आवश्यक निर्युक्ति को मुनि-पुण्यविजयजी छठवी शताब्दी का मानते हैं। परन्तु भगवती आराधना उसके कई शताब्दी पूर्व की रचना है। यद्यपि इस ग्रन्थ में स्त्री मुक्ति और कवलाहार आदि की मान्यता का उल्लेख नहीं है, तो भी दशस्थिति कल्पवाली गाथा के कारण प्रेमीजी ने आराधना के कर्त्ता को यापनीय सम्प्रदाय का बतलाया है। लगता है, कल्पवाली गाथाएं दोनों सम्प्रदायों में पूर्व परम्परा से आई हैं। वे श्वेताम्बरीय ग्रन्थों से ली गई यह कल्पना समुचित नहीं है। यह ग्रन्थ बड़ा लोकप्रिय रहा है। इस पर अनेक टीका-टिप्पण लिखे गये हैं। इस ग्रन्थ पर विजयोदया और मूलाराधना टीका के अतिरिक्त एक प्राकृत टीका और छोटे-छोटे टिप्पण भी रहे हैं, जिनसे उसकी महत्ता का स्पष्ट भान होता है। अपराजित सूरि या श्रीविजय द्वारा रचित संस्कृत टीका प्रकाशित हो चुकी है। जिसमें गाथाओं के अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए अन्य अनेक उपयोगी वस्तुओं पर विचार किया गया है। आचार्य शिवकोटि ने इस ग्रंथ की रचना पूर्वाचार्यों के सूत्रानुसार की है। श्रीचन्द्र और जयनन्दी ने भी इस पर टिप्पण लिखे हैं। आराधना पञ्जिका और भावार्थ-दीपिका टीका, पं० शिवाजी लाल की भी उपलब्ध है, जो संवत १८१८ की जेठ सुदी १३ गुरुवार को समाप्त हुई है। संस्कृत आराधना आचार्य अमितगति द्वितीय ने लिखी है, जो संस्कृत के पद्यों में अनुवाद रूप में है।

ग्रन्थ के अन्त में बालपण्डित मरण का कथन करते हुए, देशव्रती श्रावक के व्रतों का भी कुछ विधान २०७९ से २०८३ तक की ५ गाथाओं में पाया जाता है।

समन्तभद्र का शिष्यत्व

श्रवण बेलगोल के शिलालेख नं० १०५ में जो शक सं० १०५० (वि० सं० ११८५) का लिखा हुआ है, शिवकोटि को समन्तभद्र का शिष्य और तत्त्वार्थ सूत्र की टीका का कर्ता घोषित किया है। यथा—

तस्यैव शिष्यः शिवकोटिसूरिस्तपोलतालम्बनदेहयष्टिः।
संसारवाराकरपोतमेतत्तत्वार्थसूत्रं तदलंचकार ॥

प्रभाचन्द्र के आराधना कथाकोश और देवचन्द्र कृत 'राजावलीकथे' में शिवकोटि को समन्तभद्र का शिष्य कहा गया है। विक्रान्त कौरव नाटक के कर्ता आचार्य हस्तिमल्ल ने भी, जो विक्रम की १४वीं शताब्दी में हुए हैं अपने निम्न श्लोक में समन्तभद्र के दो शिष्यों का उल्लेख किया है। एक शिवकोटि, दूसरे शिवायन :—

शिष्यौ तदीयौ शिवकोटिनामा शिवायनः शास्त्रविदां वरेण्यौ।
कृत्स्नश्रुतं श्रीगुरुपादमूले ह्यधीतवन्तौ भवतः कृतार्थौ ॥

उक्त आराधना ग्रंथ के कर्ता ने समन्तभद्र का कोई उल्लेख नहीं किया। चूंकि समन्तभद्र का दीक्षा नाम अज्ञात है, इस कारण इस सम्बन्ध में कुछ अधिक नहीं कहा जा सकता। समन्तभद्र शिवकोटि के गुरु हैं इस विषय का कोई स्पष्ट प्रमाण मिल जाय तो यह समस्या हल हो सकती है। ग्रंथकार द्वारा उल्लिखित गुरुओं के नामों में जिननन्दि का नाम आया है। यदि जिननन्दि समन्तभद्र का दीक्षा नाम हो तो उस हालत में शिवकोटि समन्तभद्र के शिष्य हो सकते हैं। पर इसमें सन्देह नहीं कि शिवकोटि समन्तभद्र के शिष्य जरूर थे और वे सम्भवतः काञ्ची के राजा थे—बनारस के नहीं। वे यही हैं या अन्य कोई, यह विचारणीय और अन्वेषणीय है।

सिद्धसेन

सिद्धसेन की गणना दर्शन प्रभावक आचार्यों में की जाती है। वे अपने समय के विशिष्ट विद्वान्, वादी और कवि थे और तर्क शास्त्र में अत्यन्त निपुण थे। दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में इनकी मान्यता है। उपलब्ध साहित्य में सिद्धसेन का सबसे प्रथम उल्लेख आचार्य अकलंक देव के तत्त्वार्थवार्तिक में पाया जाता है। अकलंक देव ने उसमें इति शब्द के अनेक अर्थों का प्रतिपादन करते हुए इति शब्द का एक अर्थ शब्द प्रादुर्भाव भी किया है। उसके उदाहरण में श्रीदत्त[1] और सिद्धसेन का नामोल्लेख किया है। क्वचिच्छब्द प्रादुर्भावे वर्तते इति श्रीदत्तमिति सिद्धसेनमिति।'[2] इनमें श्रीदत्त को आचार्य विद्यानन्द ने त्रेसठ वादियों का विजेता और जल्पनिर्णय' नामक ग्रन्थ का कर्त्ता बतलाया है। प्रस्तुत सिद्धसेन वही प्रसिद्ध सिद्धसेन जान पड़ते हैं, जिनका उल्लेख पूज्यपाद (देवनन्दी) ने जैनेन्द्र व्याकरण में किया है और जिनका प्रभाव अकलंक देव की कृतियों पर परिलक्षित होता है।

दिगम्बर परम्परा के धवला-जयधवला जैसे टीका ग्रन्थों में 'सन्मति सूत्र' के अनेक पद्य उद्धृत हैं। सिद्धसेन विलक्षण प्रतिभा के धनी थे। इसी से उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों द्वारा उनका स्मरण किया गया है। हरिवंशपुराण के कर्ता पुन्नाटसंघीय जिनसेन ने अपने पूर्ववर्ती विद्वानों का स्मरण करते हुए पहले समन्तभद्र का और उसके बाद सिद्धसेन का स्मरण किया है। जान पड़ता है कि उन्होंने ऐतिहासिक क्रमानुसार आचार्यों का स्मरण किया है। सिद्धसेन के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि

जगत्प्रसिद्धबोधस्य वृषभस्येव निस्तुषाः।
बोधयन्ति सतां बुद्धिं सिद्धसेनस्य सूक्तयः॥

—जिनका ज्ञान जगत में सर्वत्र प्रसिद्ध है उन सिद्धसेन की निर्मल सूक्तियाँ ऋषभदेव जिनेन्द्र की सूक्तियों के समान सज्जनों की बुद्धि को प्रबुद्ध करती हैं। इससे पहले जिनसेन ने समन्तभद्र के स्मरण में उनके वचनों को वीर भगवान के वचन तुल्य बतलाया है। पश्चात् सिद्धसेन की सूक्तियों को ऋषभदेव के तुल्य बतलाकर उनके प्रति समन्तभद्र से भी अधिक आदर प्रगट किया है। किन्तु उनकी किसी रचना विशेष का कोई उल्लेख नहीं किया। परन्तु भगवज्जिनसेन ने अपने महापुराण में उनके 'सन्मति सूत्र' का जरूर संकेत किया है। जैसा कि उनके निम्न पद्य से प्रगट है:—

प्रवादिकरियूथानां केसरी-नयकेसरः।
सिद्धसेनकविर्जीयाद्विकल्पनखरांकुरः॥

—वे सिद्धसेन कवि जयवन्त हों, जो प्रवादीरूपी हस्तियों के यूथ (झुण्ड) के लिए सिंह के समान हैं। नय जिसके केसर (गर्दन के बाल) हैं, और विकल्प पैने नाखून हैं।

सिद्धसेन का सन्मति सूत्र तर्क प्रधान ग्रन्थ है। इसमें तीन काण्ड या अध्याय हैं। उनमें से प्रथम काण्ड में अनेकान्तवाद की देन नय और सप्त भंगी का मुख्य कथन है। दूसरे काण्ड में दर्शन और ज्ञान की चर्चा है, इसी में केवलज्ञान और केवलदर्शन का अभेद स्थापित किया गया है और तीसरे काण्ड में पर्याय और गुण में अभेद की नई स्थापना की गई है। इस तरह यह ग्रन्थ एक महत्वपूर्ण दार्शनिक कृति है। आगम का अवलम्बन होते हुए भी तर्क को प्रश्रय दिया गया है। क्योंकि तर्कवाद में विकल्प जाल की ही प्रमुखता होती है, जिसमें प्रतिवादी को परास्त किया जाता है। सन्मति सूत्र का प्रथम काण्ड जहाँ सिद्धसेन रूपी सिंह के नयकेसरत्व का बोधक है, वहाँ दूसरा काण्ड उनका विकल्प रूपी पैने नखों का अवभासक है। केवली के दर्शन और ज्ञान में अभेद सिद्ध करने के लिए उन्होंने जो तर्क प्रस्तुत किए हैं, प्रतिपक्षी भी उनका लोहा माने बिना नहीं रह सकता। ऊपर के इस विवेचन से स्पष्ट है कि

---

१. द्विप्रकारं जगौ जल्पं तत्व प्रातिभगोचरम्।
त्रिषष्ठेर्वादिनां जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये॥ (तत्त्वा० श्लो० पृ० २८०)

२. देखो, तत्वार्थ वार्तिक १—१३ पृ० ५७।

भगवज्जिनसेन ने सन्मति सूत्र का अध्ययन करके ही सिद्धसेनरूपी सिंह के स्वरूप का साक्षात् परिचय प्राप्त किया था जिसका चित्रण उनके स्मरण पद्य में पाया जाता है।

वीरसेन जिनसेन ने धवला-जयधवला टीका में नयों का निरूपण करते हुए सन्मतिसूत्र की गाथाओं को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है और आगम प्रमाण के रूप में मान्य किया है। सन्मति सूत्र के दूसरे काण्ड में जीव के प्रधान लक्षण ज्ञान और दर्शन का विस्तृत विवेचन किया है, और ज्ञान दर्शन के यौगपद्य और क्रमशः दोनों पक्षों को अनुचित बतलाकर लिखा है कि केवल ज्ञानी के दर्शन और ज्ञान में कोई भेद नहीं है। अतः उनके एक साथ या क्रमशः होने का प्रश्न ही नहीं उठता। दिगम्बर परम्परा में केवल ज्ञानी के ज्ञान और दर्शन प्रतिक्षण युगपद् माने गये है। और श्वेताम्बर परम्परा में उनका उपयोग क्रमशः माना है। सिद्धसेन ने दोनों पक्षों को न मानकर अभेद-वाद को स्थापित किया है। केवल ज्ञान और केवल दर्शन के अभेदवाद की स्थापना की गई है, इसी से जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य में उसकी कड़ी आलोचना की है। उसी तरह अभेदवाद की मान्यता युगपदवादी दिगम्बर परम्परा के भी प्रतिकूल है। इसीलिए आचार्य वीरसेन ने भी उसे मान्य नहीं किया है।

अकलंकदेव के ग्रन्थों पर प्रभाव

सिद्धसेन ने सन्मति तर्क में गुण और पर्याय में अभेद की स्थापना की है। उन्होंने पर्याय से गुण को भिन्न नहीं माना है। अकलंकदेव ने तत्वार्थवार्तिक के पाँचवें अध्याय के 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' (५-३७ पृ. ५१) सूत्र के भाष्य में उक्त चर्चा का समाधान तीन प्रकार से किया है। पहले तो आगम प्रमाण को देकर गुण की सत्ता सिद्ध की है। फिर 'गुण एव पर्यायाः इति वा निर्देशः' समास करके गुण को पर्याय से अभिन्न बतलाया हैं। सिद्धसेनाचार्य की यही मान्यता है। इस पर यह शंका की गई कि यदि गुण ही पर्याय है तो केवल गुणवद् द्रव्यं या पर्यायवत् द्रव्यं कहना चाहिए था। गुण पर्ययवत् द्रव्य का लक्षण क्यों कहा ? इसके उत्तर में यह समाधान दिया है कि जैनेतर मत में गुणों को द्रव्य से भिन्न माना गया है। अतः उसकी निवृत्ति के लिए दोनों का ग्रहण करके द्रव्य के परिवर्तन को पर्याय कहा गया है, उसी के भेद गुण हैं। गुण भिन्न जातीय नहीं हैं। इस विवेचन में अकलंकदेव ने सिद्धसेन के मत को मान्य किया है। इससे सिद्धसेन का अकलंक पर प्रभाव स्पष्ट है। अकलंकदेव ने लघीयस्त्रय की ६७ वीं कारिका में सन्मति सूत्र की १-३ गाथा का संस्कृतीकरण किया है :—

तित्थयरवयण संगह विसेस पत्थार मूल वागरणी।
दव्वट्ठियो य पज्जवणओ य सेसा वियप्पासि ॥ १-३

ततः तीर्थंकर वचन संग्रह विशेष मूल व्याकरणौ द्रव्य पर्यायार्थिकौ निश्चेतव्यौ। (लघीयस्त्रय स्व. वृ. श्लोक ६७) तथा तत्त्वार्थ वार्तिक पृ.८७ में सन्मति की) 'पण्णवणिज्जाभावा' नाम की गाथा उद्धृत की है और इसी में सिद्धसेन के अनेक मन्तव्यों का भी उल्लेख किया गया है।

समय

प्रस्तुत सिद्धसेन सन्मतिसूत्र और कुछ द्वात्रिंशतिकाओं के कर्ता थे। वे पूज्यपाद (देवनन्दी) हरिभद्र ७५०-८०० ई० जिनदासगणी महत्तर और जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण से भी पूर्ववर्ती हैं। पूज्यपाद ने जैनेद्र व्याकरण में वेत्तेः सिद्धसेनस्य', वाक्य में सिद्धसेन के मत विशेष का उल्लेख किया है। उनके मतानुसार 'विद्' धातु के 'र' का आगम होता है भले ही वह सकर्मक हो। उनकी नौमी द्वात्रिंशतिका के २२वें पद्य के 'विद्रतेः' वाक्य में 'र' आगम वाला प्रयोग पाया जाता है। अन्य वैयाकरण 'सम' उपसर्गपूर्वक अकर्मक 'विद्' धातु के 'र' का आगम स्वीकार करते हैं। परन्तु सिद्धसेन ने सकर्मक 'विद्' धातु का प्रयोग बतलाया है। देवनन्दी ने 'तत्त्वार्थवृत्ति में सातवें अध्याय के १३वे सूत्र की टीका में—**वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते**' पद्यांश को जो तीसरी द्वात्रिंशतिका के १६वें पद्य

का प्रथम चरण है[1]। उद्धृत किया है इससे स्पष्ट है कि सिद्धसेन पूज्यपाद से भी पूर्ववर्ती हैं। पूज्यपाद का समय ईसा की ५वीं शताब्दी है। अतः सिद्धसेन ईसा की ५वी शताब्दी के पूर्वार्ध के विद्वान् जान पड़ते हैं।

डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय ने सिद्धसेन के न्यायावतार का सम्पादन किया है। उन्होंने उसके प्राक्कथन पृ. XXU में लिखा है कि—'यह बहुत संभव है कि यह सिद्धसेन गुप्त काल के विद्वान् हों। चन्द्रगुप्त द्वितीय जो विक्रमादित्य के नाम से प्रसिद्ध है, और जिसका समय ३७६ से ४१४ ई० है, यही समय सिद्धसेन दिवाकर का होना संभव है। डा० सा० ने इन्हें यापनीय सम्प्रदाय का विद्वान् बतलाया है। न्यायावतार के कर्ता सिद्धसेन इनसे भिन्न और बाद के विद्वान् हैं, और वे श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विद्वान् हैं। इनका समय सातवीं शताब्दी है।

१. वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते
शिव च न परोपमर्दपुरुष स्मृतेर्विद्यते।
वधाय नयमभ्युपैति च परान्न निघ्नन्नपि।
त्वयाय मति दुर्गम. प्रथम हेतुरुद्योतितः॥ १६

पाँचवीं शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक के आचार्य

गुहनन्दि

ये पंचस्तूपान्वय के प्रसिद्ध विद्वान थे। पंचस्तूपान्वय की स्थापना अर्हद्बली ने की थी जो पुण्ड्रवर्धन के निवासी थे। पुण्ड्रवर्धन जैन परम्परा का केन्द्र रहा है। अतः गुहनन्दि का समय गुप्तकालीन ताम्रशासन से पूर्ववर्ती है। उक्त ताम्रशासन के अनुसार गुप्त वर्ष १५६ (सन् ४७८-७९) में एक ब्राह्मण नाथशर्मा और उसकी भार्या राम्नी द्वारा बटगोहाली ग्राम में पंचस्तूपान्वय निकाय के निर्ग्रन्थ (श्रमण) आचार्य गुहनन्दी के शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा अधिष्ठित विहार में भगवान अर्हन्तों (जैन तीर्थंकरों) की पूजा सामग्री (गन्ध-धूप) आदि के निर्वाहार्थ तथा निर्ग्रन्थाचार्य गुहनन्दि के विहार में एक विश्राम स्थान निर्माण करने के लिए यह भूमि सदा के लिए इस विहार के अधिष्ठाता बनारस के पंचस्तूप निकाय संघ के आचार्य गुहनन्दि के शिष्य-प्रशिष्यों को प्रदान की गई थी। इससे गुहनन्दि का समय संभवतः ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी होना चाहिये।

तुम्बुलूराचार्य

यह तुम्बुलूर नामक सुन्दर ग्राम के निवासी थे। ये तुम्बुलूर ग्राम के वासी होने के कारण तुम्बुलूराचार्य कहलाये। जैसे कुन्दकुन्दपुर में रहने के कारण पद्मनन्दि आचार्य कुन्दकुन्द नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्होंने षट्खण्डागम के प्रथम पांच खण्डो पर 'चूड़ामणि' नाम की एक टीका लिखी थी, जिसका प्रमाण चौरासी हजार श्लोक प्रमाण बतलाया गया है। छठवें खण्ड को छोड़कर दोनों सिद्धान्त ग्रन्थों पर एक महती व्याख्या कनड़ी भाषा में बनाई थी। इनके अतिरिक्त छठवें खण्ड पर सात हजार प्रमाण 'पञ्जिका' लिखी। इन दोनों रचनाओं का प्रमाण ९१ हजार श्लोक प्रमाण हो जाता है। महाधवल का जो परिचय धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थों के 'प्रशस्ति संग्रह' में दिया गया है, उसमें पंजिका रूप विवरण का उल्लेख पाया जाता है यथा—

वोच्छामि संतकम्मे पंचियरूवेण विवरणं सुमहत्थं ॥......पुणो तेहिंतो सेसट्ठारसणियोगद्दाराणि संतकम्मे सव्वाणि परुविदाणि। तो वि तस्सइगंभीरत्तादो, अत्थ विसम पदाणमत्थे थोसद्धमेण पंचिय—रूवेण भणिस्सामो।

तुम्बुलूराचार्य के समय के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक इतिवृत्त नहीं मिलता, जिससे उनका निश्चित समय बताया जा सके। डा० हीरालाल जी ने धवला के प्रथम भाग की प्रस्तावना में इनका समय चौथी शताब्दी बतलाया है। जब तक उनके समय के सम्बन्ध में कोई प्राचीन प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, तब तक डा० हीरालाल जी द्वारा मान्य समय ही मानना उचित है।

वीरदेव

वीरदेव मूलसंघ के विद्वान आचार्य थे जो सिद्धान्त शास्त्र में प्रवीण थे। इनके उपदेश से गंग वंश के राजा माधव वर्मा ने अपने राज्य के १३वें वर्ष में फाल्गुण सुदि पंचमी को मूलसंघ द्वारा प्रतिष्ठापित जिनालय को 'कुमारपुर' नाम का एक गाँव दान में दिया था यह ताम्र लेख गुप्त काल से पूर्व संभवतः ई० सन् ३७० का है। प्रस्तुत वीरदेव के राजगृह की सोनभण्डार गुफा के लेख में उत्कीर्ण वैरदेव के साथ एकत्व की संभावना हो सकती है।[1]

चन्द्रनन्दि

ये मूलसंघ के विद्वान थे। इन्हें परमार्हत उपाध्याय विजयकीर्ति की सम्मति से चन्द्रनन्दि आदि द्वारा प्रतिष्ठापित उरनूर के जैन मन्दिर के लिये माधववर्म के पुत्र कोंगुणि वर्म धर्म महाराजाधिराज (अविनीत) ने, जो जैनधर्म का अनुयायी था और कलियुगी युधिष्ठिर कहलाता था। अपने कल्याण के लिये अपने बढ़ते हुए राज्य के प्रथम वर्ष की फाल्गुन सुदी पञ्चमी को—कोरिकुन्द देश में 'वेन्नेलकरनि' नाम का गांव प्रदान किया था। और पेरूर एवा नि्अडिगल—जिनालय को बाह्य चुंगी का चौथाई कार्पापण दिया था। यह लेख गुप्त काल से पूर्ववर्ती है—और नोणमगल (लक्कूर परगना) में ध्वस्त जैन वस्ति के ताम्र पत्रों पर अंकित है, जो जमीन में मिले हैं। लेख समय रहित है। राईस सा० इसे ४२५ ईस्वी का मानते है।[२]

श्रीदत्त

श्रीदत्त नाम के दो विद्वान आचार्यो का नामोल्लेख मिलता है। एक श्रीदत्त वे है जिनका नाम चार आरातीय आचार्यों में से एक है। वे बड़े भारी विद्वान् और तपस्वी थे। आचार्य देवनन्दि की तत्त्वार्थ वृत्ति के अनुसार भगवान महावीर के साक्षात्शिष्य गणधर और श्रुतकेवलियो के बाद अंग-पूर्वादि के पाठी जो आचार्य हुए हैं, और जिन्होंने दशवैकालिकादि सूत्र उपनिवद्ध किये वे आरातीय कहलाते हैं।[३] विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त ये चार आरातीय आचार्य हुए है। इन्हे इन्द्रनन्दि ने अग-पूर्वधारी बतलाया है।[४] इन चारों में से श्रीदत्त को छोड़ कर अन्य तीन का भी यही परिचय जानना चाहिये। वे सब अंग-पूर्वधारी थे।

दूसरे श्रीदत्त

दूसरे श्रीदत्त वे है जो दार्शनिक विद्वान के रूप में लोक प्रसिद्ध रहे है। वे दीप्तिमान तपस्वी और त्रेसठ वादियों के विजेता थे।

देवनन्दि ने जैनेन्द्र व्याकरण के 'श्रीदत्तस्य स्त्रियाम्' (१।४।३४) सूत्र में श्रीदत्त का स्मरण किया है। इस सूत्र में श्रीदत्त के मत का उल्लेख किया है, और बतलाया है कि श्रीदत्त आचार्य के मत से गुणहेतुक पञ्चमी विभक्ति होती है। परन्तु यह कार्य स्त्रीलिङ्ग में नहीं होता। अस्तु,

१. देखो, जैन लेखसंग्रह भा० २ लेख नं० ९० पृ० ५५

२. देखो मर्करा का ताम्र पत्र, जैन लेख संग्रह भाग २ पृ० ६०१

३. आरातीयैः पुनराचार्यैः कालदोषात्संक्षिप्तायुर्बलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्धं तत्प्रमाणमर्थतस्यदेवेदमिति क्षीरार्णव जल घट गृहीतमिव। (तत्त्वा० वृ० अ०१ सूत्र २०)

४. विनयधरः श्रीदत्तः शिवदत्तो ऽन्योऽर्हदत्त नामैते।
आरातीयाः यतयः ततोऽभवन्नङ्गपूर्वधराः ॥ २४ —इन्द्रनन्दि श्रुतावतार २४

आचार्य अकलंकदेव ने अपने तत्त्वार्थ वार्तिक पृ० ५७ में शब्द प्रादुर्भाव अर्थ में इति शब्द के प्रयोग की चर्चा के प्रसङ्ग में 'इति श्रीदत्तम्' का उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि ये कोई शब्द शास्त्र निष्णात आचार्य थे, और उनका समय पूज्यपाद (देवनन्दि) से पूर्ववर्ती है।

जिनसेनाचार्य ने आदि पुराण में उनका स्मरण करते हुए उन्हें तप: श्रीदीप्त मूर्ति और वादिरूपी गजों का प्रभेदक सिंह बतलाया है। इससे वे बड़े दार्शनिक और किसी दार्शनिक ग्रन्थ के कर्त्ता रहे हैं।[1]

आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक में उन्हें त्रेसठवादियों का विजेता कहा है और उनके 'जल्प निर्णय' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। जैसा कि उनके निम्न पद्य से प्रकट है।

द्विप्रकारं जगौ जल्पं तत्त्वप्रातिभगोचरम् ॥
त्रिषष्ठेर्वादिनां जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये ॥४५
—तत्त्वा० श्लो० वा० पृ० २८०

जल्प निर्णय ग्रन्थ जय-पराजय की व्यवस्था का निर्णायक जान पड़ता है। अकलंक देव के सिद्धि विनिश्चय के जल्पसिद्धि प्रकरण आदि में संभवत: उसका उपयोग किया गया हो।

अक्षपाद गौतम के 'न्याय सूत्र' में जिन सोलह पदार्थों के तत्वज्ञान से मोक्ष माना गया है, उनमें वाद, जल्प और वितण्डा भी है। वादी को प्रतिवादी के मध्य होने वाले शास्त्रार्थ को वाद कहते हैं। जल्प और वितंडा भी उसी के प्रकार हैं। आचार्य श्रीदत्त ने उसमें से जल्प का निर्णय करने के लिए जल्प निर्णय ग्रन्थ रचा होगा। चूंकि श्रीदत्त ने त्रेसठ वादियों को जीता था, इस कारण वे वाद शाखा के निष्णात पंडित थे। वे बड़े भारी तपस्वी और दर्शन शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान थे।

अभयनन्दि की महावृत्ति से सूचित होता है कि श्रीदत्त अत्यन्त प्रसिद्ध वैयाकरण थे जो लोक में प्रमाण माना जाता है। 'इति श्रीदत्तम्' यह प्रयोग 'इति पाणिनि' के सदृश लोकप्रसिद्ध था। इसी प्रकार-तच्छ्री दत्तम्' अहो श्रीदत्त' आदि प्रयोग भी श्रीदत्त की लोकप्रियता और प्रामाणिकता को अभिव्यक्त करते हैं सूत्र।३।३।७६ पर 'तेन योक्तम् के उदाहरण में अभयनन्दी ने श्रीदत्त विरचित सूत्र ग्रन्थ को श्रीदत्तीयम्' कहा है। इससे स्पष्ट है कि श्रीदत्त का बनाया कोई ग्रन्थ अवश्य था ?। बहुत संभव है कि आचार्य जिनसेन और देवनन्दी द्वारा उल्लिखित श्रीदत्त एक ही हो और यह भी हो सकता है कि भिन्न हों। आदि पुराणकार ने चूँकि श्रीदत्त को तप: श्रीदीप्त मूर्ति और वादिरूपगज गणों का प्रभेदक सिंह बतलाया है[२] इससे श्रीदत्त दार्शनिक विद्वान जान पड़ते हैं।

यशोभद्र

ये प्रखर तार्किक विद्वान् थे। उनके सभा में पहुंचते ही वादियों का गर्व खर्व हो जाता था। आचार्य देवनन्दी ने भी अपने जैनेन्द्र व्याकरण में 'क्ववृषिमृजां यशोभद्रस्य १।४। ३४' सूत्र में यशोभद्र का उल्लेख किया है। इनकी किसी भी कृति का उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया। देवनन्दी द्वारा जैनेन्द्र व्याकरण में उल्लेखित और जिनसेन द्वारा स्मृत यशोभद्र दोनों एक ही हैं, तो इनका समय ईसा की ५वी, तथा वि० की छठी शताब्दी या उससे कुछ पूर्ववर्ती जान पड़ता है।[२]

१. श्रीदत्ताय नमस्तस्मै तप: श्रीदीप्तमूर्तये।
कण्ठीरवायितं येन प्रवादीभप्रभेदने ॥ ४५

२. विदुष्विणीषु संसत्सु यस्य नामापि कीर्तितम्।
निखर्वयति तद्गर्वं यशोभद्र: स पातु न: ॥ आदि पु० १,४६

देवनंदि (पूज्यपाद)

भारतीय जैन परम्परा में जो लब्धप्रतिष्ठ ग्रन्थकार हुए हैं, उनमें आचार्य पूज्यपाद (देवनन्दि) का नाम खासतौर से उल्लेखनीय है। इन्हें विद्वत्ता और प्रतिभा का समान रूप से वरदान प्राप्त था। जैन परम्परा में स्वामी समन्तभद्र और सन्मति के कर्ता सिद्धसेन के बाद पूज्यपाद या देवनन्द को ही महत्ता प्राप्त है। आपकी अमर कृतियों का प्रभाव दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं में समान रूप से दिखाई देता है। इस कारण उत्तरवर्ती विद्वान इतिहासज्ञों और साहित्यकारों ने इनकी महत्ता और विद्वत्ता को स्वीकार किया है और उनके चरणों में श्रद्धा-सुमन समर्पित किये हैं।

आचार्य देवनन्दि अपने समय के प्रसिद्ध तपस्वी मुनिपुंगव थे। वे साहित्य जगत के प्रकाशमान सूर्य थे जिनके आलोक से समस्त वाङ्मय आलोकित रहेगा। इनका दीक्षा नाम देवनन्दि था। बुद्धि की प्रखरता के कारण वे जिनेन्द्र बुद्धि कहलाये, और देवों द्वारा उनके चरण युगल पूजे गए थे, इस कारण वे लोक में पूज्यपाद नाम से ख्यात थे। जैसा कि श्रवणबेलगोल के शिलालेख (नं० ४०) के निम्न पद्य से स्पष्ट है :—

यो देवनन्दि प्रथिमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्र बुद्धिः।
श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम् ॥

नन्दि संघ की पट्टावली में भी देवनन्दि का दूसरा नाम पूज्यपाद बतलाया है। ये व्याकरण, काव्य सिद्धान्त, वैद्यक, और छन्द आदि विविध विषयों के मर्मज्ञ विद्वान थे। जैनेन्द्र व्याकरण के कर्ता के नाम से ही इनकी प्रसिद्धि है। ये मूलसंघान्तर्गत नन्दिसंघ के प्रधान आचार्य थे। वादिराज ने भी उनका स्मरण किया है[1]।

आदि पुराण के कर्ता जिनसेन इनकी स्तुति करते हुए कहते हैं :—

"कवीनां तीर्थकृद्देवः किं तरां तत्र वर्ण्यते।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम् ॥"

—जो कवियों में तीर्थंकर के समान थे और जिनका वचन रूपी तीर्थ विद्वानों के वचन मल को धोने वाला है। उन देवनन्दि आचार्य की स्तुति करने में कौन समर्थ है ?

देवनन्दि ने जिस तरह अपनी कृतियों द्वारा मोक्षमार्ग का प्रकाश किया है, उसी प्रकार उन्होंने शब्द शास्त्र पर भी अपनी रचनाएं लोक में भेंट की हैं, और शरीर शास्त्र जैसे लौकिक विषय पर भी अपनी रचना प्रदान की हैं। इसी से आचार्य शुभचन्द्र भी ज्ञानार्णव में उनके गुणों का उद्भावन करते हुए कहते है :—

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसम्भवम्।
कलङ्कमङ्गिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते ॥१-१५।

—जिनकी शास्त्र पद्धति प्राणियों के शरीर, वचन और चित्त के सभी प्रकार के मैल को दूर करने में समर्थ है, उन देवनन्दी को मैं प्रणाम करता हूँ।

आचार्य गुणनन्दि ने जैनेन्द्र व्याकरण के सूत्रों का आश्रय लेकर जैनेन्द्र प्रक्रिया की रचना की है वे उनका गुणगान करते हुए कहते हैं—

१. अचिन्त्य महिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणा।
शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भितः ॥ पार्श्वनाथ चरित

नमः श्रीपूज्यपादाय लक्षणं यदुपक्रमम् ।
यदेवात्र तदन्यत्र यन्नात्रास्ति न तत्क्वचित् ।।

जिन्होंने लक्षण शास्त्र की रचना की, मैं उन पूज्यपाद आचार्य को प्रणाम करता हूँ। इसीसे उनके लक्षण शास्त्र की महत्ता स्पष्ट है कि जो इसमें है वही अन्यत्र है और जो इसमें नही है वह अन्यत्र भी नही है। इनके सिवाय उत्तरवर्ती धनंजय, वादिराज, और पद्मप्रभ आदि अनेक विद्वानों ने उनका स्तवन कर उनकी गुण परम्परा को जीवित रक्खा है। इससे पूज्यपाद की महत्ता का सहज ही भान हो जाता है।

इनके पूज्यपाद और जिनेन्द्र बुद्धि इन नामों की सार्थकता व्यक्त करने वाले शिला वाक्यों को देखिये—

श्रीपूज्यपादोद्धृत धर्मराज्यस्ततः सुराधीश्वर पूज्यपादः ।
यदीयवैदुष्य गुणानिदानीं वदन्ति शास्त्राणि तदुद्धृतानि ।।
धृत विश्व बुद्धिरयमत्रयोगिभिः कृतकृत्यभावमनुविभ्रदुच्चकैः ।
जिनवद् बभूव यदनङ्गचापहृत्स जिनेन्द्रबुद्धिरिति साधुर्वाणतः ।।

ये दोनों श्लोक शक सं० १३५५ नें उत्कीर्ण शिलालेख के है जिनमें बतलाया गया है कि आचार्य पूज्यपाद ने धर्मराज का उद्धार किया था। इससे आपके चरण इन्द्रो द्वारा पूजे गए थे। इसी कारण आप पूज्यपाद नाम से सम्बोधित किये जाने लगे। आपके विद्या विशिष्ट गुणों को आज भी आपके द्वारा उद्धार पाये हुए—रचे हुए—शास्त्र बतला रहे हैं। आप जिनेन्द्र के समान विश्व बुद्धि के धारक—समस्त शास्त्र-विषयों में पारगत थे, कृतकृत्य थे और कामदेव को जीतने वाले थे। इसीलिये योगी जन उन्हे 'जिनेन्द्र बुद्धि' नाम मे सम्बोधित करते थे।

आप नन्दि संघ के प्रधान आचार्य थे। महान दार्शनिक, अद्वितीय वैयाकरण अपूर्व वैद्य, धुरंधर कवि बहुत बड़े तपस्वी, सातिशय योगी और पूज्य महात्मा थे।

जीवन-परिचय—आप कर्नाटक देश के निवासी और ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। पूज्यपाद चरित और राजावली कथे नामक ग्रंथ में आपके पिता का नाम माधव भट्ट और माता का नाम श्रीदेवी दिया है। आपका जन्म कोले नाम के ग्राम में हुआ था।

जीवन-घटना—आपके जीवन की अनेक घटनाएँ है—(१) विदेहगमन (२) घोर तपश्चरणादि के कारण आंखों की ज्योति का नष्ट हो जाना तथा शान्त्यष्टक के निर्माण और एकाग्रता पूर्वक उसका पाठ करने से उसकी पुनः सम्प्राप्ति। (३) देवताओं द्वारा चरणों का पूजा जाना, (४) औषधि ऋद्धि की उपलब्धि (५) पाद स्पृष्ट जल के प्रभाव से लोहे का सुवर्ण में परिणत हो जाना[1]। इस सबके विचार का यहाँ अवसर नही है। यह विशेष अनुसन्धान के साथ योग की शक्ति की विशेषता और महत्ता से सम्बन्धित है। साथ में अडोल श्रद्धा भी उसमे कारण है।

आपकी निम्न रचनाएँ हैं—तत्त्वार्थ वृत्ति (सर्वार्थ सिद्धि) समाधितत्र, इष्टोपदेश, दश भक्ति, जैनेन्द्र व्याकरण, वैद्यक शास्त्र, छन्द ग्रंथ, शान्त्यष्टक, सारसग्रह और जैनाभिषेक।

तत्त्वार्थ वृत्ति—उपलब्ध जैन साहित्य में गृद्धपिच्छाचार्य के तत्त्वार्थ सूत्र पर लिखी गई यह प्रथम टीका है। पूज्यपाद ने प्रत्येक अध्याय के अन्त में समाप्ति सूचक जो पुष्पिका दी है[2] उसमें इसका नाम सर्वार्थ सिद्धि बतलाते हुए इसे वृत्ति ग्रन्थ रूप से स्वीकार किया है। जैसा कि टीका प्रशस्ति के निम्न पद्य से प्रकट है :—

---

१. शक संवत् १३५५ के निम्न शिला वाक्य में औषधऋद्धि, और विदेह के जिन दर्शन से शरीर की पवित्रता तथा उनके पादधौत जल के स्पर्श के प्रभाव से लोहे के सुवर्ण होने का उल्लेख किया गया है :—

श्री पूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धिः जीयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्र. ।
यत्पादधौतजलसंस्पर्श प्रभावात्कालायसं किल तदा कनकीचकार ।। १७

२. इति सर्वार्थ सिद्धि सज्ञकायां तत्त्वार्थवृत्तौ प्रथमोऽध्यायः समाप्त. ।

स्वर्गापवर्गसुखमाप्तु मनोभिरार्यैः जैनेन्द्र शासनवरामृतसारभूता।
सर्वार्थसिद्धिरिति सद्भिरुपात्त नामा तत्त्वार्थ वृत्तिरनिशं मनसा प्रधार्या॥

जो स्वर्ग और मोक्ष-सुख के इच्छुक है, वे जिनेन्द्र शासन रूपी उत्कृष्ट अमृत में सारभूत ओर सज्जन पुरुषों द्वारा रखे गये सर्वार्थसिद्धि इस नाम से प्रख्यात इस तत्त्वार्थ वृत्ति को निरन्तर मन पूर्वक धारण करं।

वे उसकी महत्ता बतलाते हुए कहते हैं :—

तत्त्वार्थवृत्तिमुदितां विदितार्थतत्त्वा : श्रृण्वन्ति ये परिपठन्ति च धर्मभक्त्या।
हस्ते कृतं परमसिद्धिसुखामृतं तैर्मर्त्यामरेश्वरसुखेषु किमस्ति वाच्यम्॥

सब पदार्थो के जानकार जो इस तत्त्वार्थ वृत्ति को धर्म भक्ति से सुनते हैं, और पढ़ने हैं मानो उन्होंने परम सिद्ध सुख रूपी अमृत को अपने हाथ में ही कर लिया है। फिर उन्हें चक्रवर्ती और इन्द्र के सुख के विपय में तो कहना ही क्या है ? इस कारण इस वृत्ति का नाम 'सर्वार्थसिद्धि' मार्थक है।

रचना शैली—

चूंकि सूत्र का विषय तत्त्वार्थ है, अत: वृत्तिकार ने जीव, अजीव, आस्रव, बंध संवर निर्जरा ओर मोक्ष रूप सात तत्त्वों का महत्त्वपूर्ण विवेचन किया है। टीकाकार ने इसे वृत्ति कहा है। जिसमें सूत्रों के पदों का आश्रय लेकर प्रत्येक पद की विवेचना की जाती है उसे वृत्ति कहते हैं। वृत्ति का यह लक्षण सर्वार्थसिद्धि में संघटित है। इसमें सूत्र के प्रायः सभी पदों का व्याख्यान किया गया है। उदाहरण के लिये प्रथम अध्याय के दूसरे सूत्र में 'तत्त्वार्थ' पद रखा है। इसका विशद विवेचन दर्शनान्तरों का निर्देश करते हुए किया है। इससे पूज्यपाद की रचना शैली का सहज ही आभास हो जाता है। उन्होंने सूत्रगत प्रत्येक पद का विचार किया है और सूत्रपाठ में जहां आगम से विरोध दिखाई देता है, वहां सूत्र पाठ की रक्षा करते हुए उन्होंने उसकी सङ्गति विठलाने का प्रयत्न किया है। टीका में उनकी कुशलता का सर्वत्र दर्शन होता है। पूज्यपाद एक प्रामाणिक टीकाकार हैं। उनकी शैली गतिशील एवं प्रवाहयुक्त है। वृत्तिकार ने वृत्ति लिखते समय भाषा सौष्ठव का बराबर ध्यान रखा है, और आगम परम्परा का भी पूरा निर्वाह किया है। प्रथम अध्याय के सातवें आठवें सूत्र की वृत्ति लिखते हुए उन्होंने षट्खण्डागम के सूत्रों का संस्कृत अनुवाद दे दिया है। इससे स्पष्ट है कि आचार्य देवनंदि पट्खण्डागम के अभ्यासी थे, उसके रहस्य से परिचित थे। इस कारण उसमें विशिष्ट कथन किया गया है। वे बहुश्रुत विद्वान् थे। उन्होंने वस्तुतत्त्व का दृढ़ता से प्रतिपादन करने का साहस किया है। उनकी शैली विशद् और विषय स्पर्शी है। वृत्ति लिखते समय जो छोटे-बड़े पाठ भेद मिले। उनकी उन्होंने यथास्थान चर्चा की है, और उनका उल्लेख किया है। उससे स्पष्ट है कि पूज्यपाद के सामने कुछ टीका ग्रन्थ अवश्य थे। इसी से उन्होंने अपरेषां क्षिप्रनिःसृत इति पाठः" का उल्लेख करते हुए बतलाया है कि अन्य आचार्यों के मत से क्षिप्र के बाद अनिःसृतं के स्थान पर निःसृत पाठ है।

देवनन्दि ने तत्त्वार्थसूत्र की बहुमूल्य टीका बनाकर पाठकों को ज्ञान की विपुल सामग्री प्रस्तुत की है।

समाधितन्त्र—दूसरी कृति समाधि तंत्र है। इसकी श्लोक संख्या १०५ है, श्रवण वेलगोल के ४०वें शिलालेख में इसका नाम समाधि शतक दिया है। यह एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है। इसमें अध्यात्म विषय का बड़ी ही सुन्दरता से प्रतिपादन किया गया है। अध्यात्म जैसे गूढ़ विषय का इतना सरल और सरस कथन सूत्ररूप में करना अपनी खास विशेषता रखता हे। विषय के प्रतिपादन की शैली सुन्दर और हृदयग्राहिणी है। भाषा सौष्ठव देखते ही बनता है। पद्य रचना प्रसादादि गुणों से विशिष्ट है। जान पड़ता है, देवनन्दी ने अध्यात्म शास्त्र समुद्र का दोहन करके जो अमृत निकाला, वह इसमें भरा हुआ है। इसके अध्ययन से चित्त प्रसन्न हो जाता है और उससे अपनी भूल का बोध होता चला जाता है। ग्रन्थकार ने स्वयं लिखा है कि मैंने इसका निर्माण आगम, युक्ति और अन्त:करण की एकाग्रता द्वारा सम्पन्न स्वानुभव के द्वारा किया है जैसा कि उसके निम्न पद्य से प्रकट है :—

श्रुतेन लिंगेन यथात्मशक्ति समाहितान्तःकरणेन सम्यक् ।
समीक्ष्य कैवल्य सुखस्पृहाणां विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये ।।

ग्रन्थ का तुलनात्मक अध्ययन करने से स्पष्ट जान पड़ता है कि कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों को आत्मसात् करके इसकी रचना की है।

यहां नमूने के तौर पर दो पद्यों की तुलना नीचे दी जा रही है :—

तिपयारो सो अप्पा परमंतर बाहिरो हु देहीणं ।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चयदि बहिरप्पा ।। मोक्ष प्रा०
बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु ।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद् बहिस्त्यजेत् ।। समाधितत्र
णियभावं ण वि मुंचइ परभावं णेव गिण्हये केइं ।
जाणदि पस्सदि सव्वं सोहं इदि चिंतएणार्णी ।। ८७ नियमसार
यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति ।
जानाति सर्वथा सर्व तत्स्व संवेद्यमस्म्यहम् ।। १३० समाधितंत्र

ग्रन्थ के पढ़ने से ऐसा लगता है कि उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना उस समय की, जब उनकी दृष्टि बाह्य से हटकर अन्तर्मुखी हो गई थी।

तीसरी रचना **इष्टोपदेश** है। यह ५१ पद्यों का छोटा सा लघु काय ग्रन्थ है, जो आध्यात्मिक रस से सरावोर है। इस ग्रन्थ पर पं० प्रवर आशाधर जी की एक संस्कृत टीका है, जो प्रकाशित हो चुकी है। यह भी अध्यात्म की अनुपम कृति है, और कठ करने के योग्य है। इन ग्रन्थों के निर्माण करते समय ग्रन्थकर्त्ता की एक मात्र यही दृष्टि रही है कि संसारी आत्मा अपने स्वरूप को कैसे पहचाने, तथा देहादि पर पदार्थो से अपनत्व का परित्याग कर आत्म-कार्यों में सावधान रहे।

दशभक्ति—प्रभाचन्द्र ने क्रियाकलाप की टीका में—'संस्कृताः सर्वाभक्तयः पूज्यपाद स्वामी कृताः प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्य कृताः' संस्कृत की सभी भक्तियों को पूज्यपाद की बतलाया है। इनमें सिद्ध भक्ति ९ पद्यों की बड़ी ही महत्त्वपूर्ण कृति है। उसमें सिद्धि, सिद्धि का मार्ग और सिद्धि को प्राप्त होने वाले आत्मा का रोचक कथन दिया हुआ है। इसी तरह श्रुत भक्ति, चारित्र भक्ति, योगि भक्ति, आचार्य भक्ति और निर्वाण भक्ति तथा नन्दीश्वर भक्ति का संस्कृत पद्यो में स्वरूप दिया हुआ है। इन सभी भक्तियों की रचना प्रौढ़ है।

जैनेन्द्र व्याकरण—आचार्य पूज्यपाद की यह मौलिक कृति है। यह पांच अध्यायों में विभक्त है। इसकी सूत्र संख्या तीन हजार के लगभग है। इसका सबसे पहला सूत्र 'सिद्धिरने कान्तात्' है। इसमें बतलाया है कि शब्दों की सिद्धि और ज्ञप्ति अनेकान्त के आश्रय से होती है। क्योंकि शब्द अस्तित्व-नास्तित्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, और विशेषण-विशेष धर्म को लिये हुए होते हैं।

इसमें भूतबलि श्रीदत्त, यशोभद्र, प्रभाचन्द्र, समन्तभद्र और सिद्धसेन नाम के छह आचार्यों के मतों का उल्लेख किया गया है।

"राद्भूतबलेः ३, ४, ८३। आचार्य श्रीदत्त मत का प्रतिपादन करने वाला सूत्र—"गुणे श्रीदत्तस्यास्त्रियाम्, १, ४, ३४। आचार्य यशोभद्र के प्रतिपादक सूत्र है—'क्वृषिमृ ं यशोभद्रस्य।' है, २, १, ९२। और प्रभाचन्द्र के प्रतिपादक सूत्र है—'रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य, ४, ३, १८०। आचार्य समन्तभद्र के मत को अभिव्यक्ति करने वाला सूत्र—'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य, ५, ४, १४०। सिद्धसेन के मत का प्रतिपादक सूत्र—'वेत्रेः सिद्धसेनस्य। ५, १, ७, इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि ये सब ग्रन्थ और ग्रन्थकार आचार्य पूज्यपाद से पूर्ववर्ती हैं।[1] जैनेन्द्र व्याकरण की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं जिनके कारण उसका स्वतन्त्र स्थान है। जैनेन्द्र व्याकरण का असली सूत्र पाठ आचार्य अभयनन्दि कृत महावृत्ति में उपलब्ध होता है। जैन साहित्य और इतिहास में इसकी विशेषताओं का उल्लेख किया गया है।

जैनेन्द्र और शब्दावतार न्यास—शिमोगा जिले के नगर तहसील के ४६ में शिलालेख में इस बात का उल्लेख है कि आचार्य पूज्यपाद ने अपने उक्त व्याकरण पर 'जैनेन्द्र' नामक न्यास लिखा था और दूसरा पाणिनि व्याकरण पर 'शब्दावतार' नाम का न्यास लिखा था। यथा—

न्यासं जैनेन्द्र संज्ञं सकल बुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो।
न्यासं शब्दावतारं मनुजतिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा ॥
यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचदिहतां भात्यसौ पूज्यपाद—
स्वामी भूपाल वन्द्यः स्वपरहितवचः पूर्णदृग्बोध वृत्तः ॥

ये दोनों ग्रंथ अभी उपलब्ध नहीं हुए हैं। ग्रन्थ भंडारों में इनके अन्वेषण करने की जरूरत है।

शान्त्यष्टक—क्रिया कलाप ग्रन्थ में संग्रहीत है। इस पर पं० प्रभाचन्द्र की संस्कृत टीका भी है। कहा जाता है कि पूज्यपाद की दृष्टि तिमिराच्छन्न हो गई थी, उसे दूर करने के लिये उन्होंने 'शान्त्यष्टक' की रचना की हो। क्योंकि उसके एक पद्य में ,दृष्टि प्रसन्नां कुरु' वाक्य आता है।

सार संग्रह—आचार्य पूज्यपाद ने 'सार संग्रह' नाम के ग्रन्थ की रचना की है। जैसा कि धवला टीका के निम्न वाक्य से स्पष्ट है :—

"सार संग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादैः अनन्त पर्यात्मकस्यवस्तुनोऽन्यतम पर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षो निरवद्य प्रयोगो नय इति।"

सर्वार्थ सिद्धि में पूज्यपाद ने जो नय का लक्षण दिया है उससे इसमें बहुत कुछ समानता है।

चिकित्सा शास्त्र—की रचना पूज्यपाद ने की हो, इसके उल्लेख तो मिलते है; पर वह मूल ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नही हुआ। उग्रदित्याचार्य ने अपने कल्याण कारक वैद्यक ग्रन्थ में उसका उल्लेख निम्न शब्दों में किया है 'पूज्यपादेन भाषितः, शालाक्यं पूज्यपाद प्रकटितमधिकम्।'

आचार्य शुभचन्द्र ने अपने 'ज्ञानार्णव' में उसका उल्लेख किया है और बतलाया है कि—जिनके वचन प्राणियों के काय, वाक्य और मन सम्बन्धी दोषों को दूर कर देते हैं उन देवनन्दी को नमस्कार है। इसमें पूज्यपाद के तीन ग्रन्थों का उल्लेख संनिहित है :—वाग्दोषां को दूर करने वाला जैनेन्द्र व्याकरण, और चित्त दोषों को दूर करने वाला आपका मुख्य ग्रन्थ 'समाधितंत्र' है। तथा काय दोषों को दूर करने वाला किसी वैद्यक ग्रन्थ का उल्लेख किया है, जो इस समय अनुपलब्ध है। 'अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक् चित्त संभवम्। कलंक मंगिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते ॥' यह वैद्यक ग्रन्थ अभी अनुपलब्ध है। शिमोगा नगर ताल्लुका के ४६वें शिलालेख में भी उन्हें मनुष्य समाज का हितैषी और वैद्यक शास्त्र का रचयिता बतलाया है।

जैनाभिषेक— श्रवण वेलगोल के शक सं० १०८५ के ४० नवम्बर के एक पद्य में अन्य ग्रन्थों के उल्लेख के साथ अभिषेक पाठ का उल्लेख किया है।

छन्द ग्रंथ—आचार्य पूज्यपाद ने छन्द ग्रन्थ की रचना भी की थी। छन्दोऽनुशासन के कर्त्ता जयकीर्ति ने पूज्यपाद के छन्द ग्रन्थ का उल्लेख किया।[1]

समय

आचार्य पूज्यपाद के समय के सम्बन्ध में कोई विवाद नही है; क्योंकि पूज्यपाद के उत्तरवर्ती आचार्य जिन भद्रगणि क्षमाश्रमण (वि० सं० ६६६) ने विशेषावश्यक में सर्वार्थसिद्धि के वाक्यों को अपनाया है, जैसा कि उसकी तुलना पर से स्पष्ट है।[2] इससे स्पष्ट है कि पूज्यपाद सं० ६६६ से पूर्व हैं। अकलंकदेव ने भी सर्वार्थसिद्धि को वार्तिकादि के रूप में 'तत्त्वार्थ वार्तिक' में अपनाया है।

तुलना

१. देखो छन्दोनुशासन, जयकीर्ति

२. सर्वार्थ सिद्धि अ० १ पृ० १५ में धारणा मति ज्ञान का लक्षण निम्न रूप में दिया है :—

पूज्यपाद के ग्रन्थों पर समन्तभद्र का प्रभाव स्पष्ट है।[1] और जैनेन्द्र व्याकरण में पूज्यपाद ने 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' सूत्र द्वारा उनका उल्लेख भी किया है। पूज्यपाद ने तत्त्वार्थवृत्ति में सिद्धसेन की द्वात्रिंशिका के निम्न पद्यांश को उद्धृत किया है—"वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते"

सन्मति में सूत्र और कुछ द्वात्रिंशतिकाओं के कर्ता सिद्धसेन का समय चौथी-पांचवीं शताब्दी है अतएव पूज्यपाद भी इसी समय के विद्वान् हैं।

पूज्यपाद गंगवंशीय राजा अविनीति (वि० सं० ५२३) के पुत्र दुर्विनीति (वि० सं० ५३८) के शिक्षा गुरु थे। अवनीत के पुत्र दुर्विनीत ने शब्दावतार नामक ग्रन्थ की रचना की थी। प्रेमीजी ने लिखा है—शिमोगा जिले की नगर तहसील के शिलालेख में देवनन्दी को पाणिनीय व्याकरण पर शब्दावतार न्यास का कर्ता लिखा है। इससे अनुमान होता है कि दुर्विनीत के गुरु पूज्यपाद ने वह ग्रंथ रचकर अपने शिष्य के नाम से प्रचारित किया था।[2] दुर्विनीत का राज्य काल सन् ४८० ई० से ५२० ई० के मध्य का माना जाता है। इससे पूज्यपाद ५वीं के उत्तरार्द्ध और छठी के पूर्वार्द्ध के विद्वान् ठहरते हैं।

पूज्यपाद के एक विद्वान् शिष्य वज्रनन्दि ने वि० सं० ५२६ (४६९ ई०) में द्रविड़ संघ की स्थापना की थी।[3] इससे भी पूज्यपाद का उक्त समय निश्चित होता है।

व्याकरण में ग्रन्थकार प्राचीन उदाहरणों के साथ स्व-समयकालिक घटनाओं का भी निर्देश करते हैं। जैसे 'अदहदमोघवर्षोऽरातीन् शाकटायन (४/३/२०८) 'अरुणत् सिद्धराजोऽवन्तीम् हैम (५/२/८) इसी तरह जैनेन्द्र व्याकरण का 'अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्' (२/२/९२) इसका अर्थ है महेन्द्र द्वारा मथुरा का विजय। यह महेन्द्र गुप्तवंशी कुमार गुप्त है। इनका पूरा नाम महेन्द्र कुमार है। जैनेन्द्र के 'विनापि निमित्तं पूर्वोत्तर पदयो र्वा त्वं वक्तव्यम्' (४/१/१३९) अथवा पदेषु पदैक देशान' नियम के अनुसार उसी को महेन्द्र अथवा कुमार कहते हैं। उसके

'अवेस्तस्य कालान्तरेऽविस्मरणकारणम्।'

विशेषावश्यक भाष्य में इन्हीं शब्दों को दुहराते हुए कहा है—

कालंतरं च जं पुणरणुसरणं धारणासाउ ॥ गा० २९१

चाक्षु इन्द्रिय को अप्राप्यकारी बतलाते हुए सर्वार्थसिद्धि अ० १ सूत्र १९ में कहा है—'मनोवद् प्राप्यकारीति'

विशेषावश्यक भाष्य में उसे निम्न शब्दो में व्यक्त किया है।

'लोयणमपत्तविषयं मणोव्व ॥" गाथा २०९

सर्वार्थ सिद्धि अ० १ सूत्र २० में यह शंका की गई है कि प्रथम सम्यकत्व की उत्पत्ति के समय दोनों ज्ञानों की उत्पत्ति एक साथ होनी है अतएव श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। यह नही कहा जा सकता।

आह–प्रथम सम्यक्त्वोत्पत्तौ युगपज्ज्ञान परिणामान्मति पूर्वकत्व श्रुतस्यनोत्पद्यत इति।' इसके प्रकाश में विशेषावश्यक की निम्न गाथा को देखिये—

णाणाण्णाणिय सम कालाइं जओ मइसुआइं।

तो न सुयं मइ पुव्वं मइणाणे वा सुयन्नाणं ॥ गा० १०७

१. देखो, सर्वार्थसिद्धि समन्तभद्र पर प्रभाव शीर्षक लेख अनेकान्त वर्ष—५ पृ० ३४५

२. श्रीमत्कोंकण महाराजाधिराजस्याविनीत नाम्नः पुत्रेण शब्दावतारकारेण देवभारती
निवद्ध बृहत्कथेन किरातार्जुनीय पंचदश सर्ग टीकाकारेण दुर्विनीतिनामधेयेन—

३. सिरि पूज्यपाद सीसो दाविड संघस्स कारगो दुट्ठो।
णामेण वज्जणदी पाहुडवेदी महासत्तो ॥
पंचसये छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिण महुराजादो दाविडसंघा महामोहो ॥　　　—दर्शनसार

सिक्कों पर महेन्द्र, महेन्द्रसिह, महेन्द्र वर्मा, महेन्द्र कुमार आदि नाम उपलब्ध होते हे ।[1]

तिब्बतीय ग्रन्थ चन्द्र गर्भ सूत्र मे लिखा है—"भवनो पल्हिका शकुनो (कुशना) ने मिलकर तीन लाख सेना से महेन्द्र के राज्य पर आक्रमण किया। गगा क उत्तर क प्रदेश जीत लिये। महेन्द्रसेन के युवा कुमार ने दो लाख सेना लेकर उस पर आक्रमण किया और विजय प्राप्त का। लोटने पर पिता ने उसका अभिषेक कर दिया।[2] इससे मालूम होता है कि पूज्यपाद ने इसी घटना का उल्लेख किया है। उसने गगा के आस-पास का प्रदेश जीतकर मथुरा को अपना केन्द्र बनाया था। कुमार गुप्त का राज्य काल वि० स० ४७० मे ५१२ (सन् ४१३ से ४४५ ई० है। अत यही समय पूज्यपाद का होना चाहिए।

प० युधिष्ठिर जी का यह मत ठाक नहीं हे, क्योकि 'अरुणत् महेन्द्रो मथुराम्' यह वाक्य पूज्यपाद का नहीं हे किन्तु महावृत्तिकार अभयनन्दि का हे। इसलिये यह तर्क प्रमाणित नहीं हो सकता।

आर्यमंक्षु और नागहस्ति

आर्यमक्षु और नागहस्ति—इन दोनो आचार्यो की गुरु परम्परा और गण-गच्छादि का कोई उल्लेख नहीं मिलता। ये दोनो आचार्य यति वृषभ के गुरु थे। आचार्य वीरसेन जिनसेन ने धवला जयधवला टीका में दोनो गुरुओं का एक साथ उल्लेख किया हे। इस कारण दोनो का अस्तित्व काल एक समय होना चाहिये, भले ही उनमें ज्येष्ठत्व कनिष्ठत्व हो। इन दोनों आचार्यो के सिद्धान्त-विषयक उपदेशों में कुछ सूक्ष्म मत भेद भी रहा है। जो वीरसेनाचार्य को उनके ग्रथों अथवा गुरु परम्परा से ज्ञात था जिनका उल्लेख धवला जयधवला टीका में पाया जाता है और जिसे पवाइज्जमाण अपवाइज्जमाण या दक्षिण प्रतिपत्ति और उत्तर प्रतिपत्ति के नाम से उल्लेखित किया है।[4] धवला जयधवला में उन्हें 'क्षमाश्रमण' और 'महावाचक' भी लिखा है,[5] जो उनकी महत्ता के द्योतक है।

श्वेताम्बरीय पट्टावलियो मे अज्जमगु और अज्ज नाग हत्थी का उल्लेख मिलता है। नन्दि सूत्र की पट्टावली में अज्जमगु को नमस्कार करते हुए लिखा है:—

भणगं करगं झरगं पभावगं णाणदंसणगुणाणं।
वंदामि अज्जमंगु सुयसायरपारगं धीरं ॥२८

सूत्रों का कथन करने वाले, उनमें कहे गए आचार के सपालक, ज्ञान और दर्शन गुणों के प्रभावक, तथाश्रुत-समुद्र के पारगामी धीर आचार्य मगु को नमस्कार करता हूँ।

इसी प्रकार नागहस्ति का स्मरण करते हुए लिखा है:—

१. भूमि का जैनेन्द्र महावृत्ति पृ० ८

२. प० भगवद्दत्त का भारतवर्ष का इतिहास स० २००३ पृ० ३५४

३. जो अज्जमखु सीसो अतेवासी वि णागहत्थिस्स। —जयधवला भा० १ पृ० ४

४: सव्वाइरिय-सम्मदो चिरकालभवोच्छिण्णसंपदायकमेणागच्छमाणो जो शिष्यपरम्पराए पवाइज्जदेसो पवाइज्जतो वएसोत्ति भण्णदे। अथवा अज्जमखुभयवताणमुवएसो एत्थाऽपवाइज्जमाणो णाम। णागहत्थि खवणाणमुवएसो पवाइज्जतवोत्ति घेतव्वो। —(जयधवला प्रस्तावना टि० पृ० ४३

५. "कम्मट्ठिदित्ति अणिओगद्दारेहि भण्णमाणे वे उवएसा होनि जहण्णमुक्कस्स ट्ठिदीण पमाण परूवणा कम्मट्ठिदि परूवणत्ति णागहत्थि खमासमणा भणति। अज्ज मखु खमासमणा पुण कम्मट्ठिदि परूवेणेन्ति भणति। एव दोहि उवएसे हि कम्मट्ठिदि परूपणा कायव्वा।"—"एत्थ दुवे उवएसा ·····महावाचयाणमज्जमखु खवणाणमुवएसेण लोगपूरिदे आउग समाण णामा गोद-वेदणीयाण ट्ठिदि संतकम्म ठवेदि। महावाचयाण णागहत्थि खवणाण मुवएसेण लोगे पूरिदे णामा-गोद वेदणीयाण ट्ठिदि सत कम्म अंतो मुहुत्त पमाणं होदि। —धवला टीका

वड्ढउ वायगवंसो जस वंसो अज्जणागहत्थीणं।
वागरण करण भंगिय कम्म पयडी पहाणाणं ॥३०

इसमें बताया है कि व्याकरण, करण चतुर्भंगी आदि के निरूपक शास्त्र तथा कर्म प्रकृति में प्रधान आर्य नागहस्ती का यशस्वी वाचक वंश वृद्धि को प्राप्त हो।

नन्दि सूत्र में आर्य मंगु के पश्चात् आर्य नन्दिल का स्मरण किया है और उसके पश्चात् नागहस्ति का। नन्दिसूत्र चूर्णी और हारिभद्रीय वृत्ति में भी यही क्रम पाया जाता है। दोनों में आर्य मंगु का शिष्य आर्य नन्दिल और आर्य नन्दिल का शिष्य नागहस्ती बतलाया है।

"आर्य मंगु शिष्य आर्य नन्दिल क्षपणं शिरसा वंदे।
"···आर्य नन्दिल क्षपण शिष्याणां आर्य नागहस्तीणं॥

इससे आर्य मंगु के प्रशिष्य आर्य नागहस्ति थे, ऐसा प्रमाणित होता है। नागहस्ति को कर्म प्रकृति में प्रधान बताया है और वाचकवंश की वृद्धि की कामना की गई है।

श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में आर्य मंगु की एक कथा मिलती है। उसमें लिखा है कि वे मथुरा में जाकर भ्रष्ट हो गये थे। नागहस्ती को वाचक वंश का प्रस्थापक भी बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि वे वाचक थे, इस कारण उनके शिष्य वाचक कहलाये। इन सब बातों पर विचार करने से यह सभाव्य लगता है कि श्वेताम्बर परम्परा के आर्य मंगु और महावाचक नागहस्ती और धवला जय धवला के महावाचक आर्य मक्षु और महावाचक नागहस्ति एक हों। आर्य मंगु का समय तपागच्छपट्टावली पृ० ४७ में वीरनिर्वाण से ४६७ वर्ष और सिरि दुसमाकलसमणसंघथयं की अवचूरि पृ० १६ में वीर नि० ६२०—६८६ बतलाया है। किन्तु दोनों का एक समय किसी भी श्वेताम्बर पट्टावली में उपलब्ध नहीं होता। किन्तु दिगम्बर परम्परा में दोनों को यतिवृषभ का गुरु बतलाया है।

मथुरा के लेख नं० ५४ और ५५ के आर्य घस्तु हस्त तथा हस्ति हस्ति तो काल की दृष्टि से पट्टावली के १६ वें पट्टधर नागहस्ती जान पड़ते हैं। लेखों के ज्ञान समय से पट्टावली में दिये गये समय के साथ कोई विरोध नहीं आता। लेखों के कुषाण संवत् ५४ और ५५ (वीर नि० सं० ६५७ और ६५६) पट्टावली में दिये गए नागहस्ती के समय वीर नि० सं० ६२०—६८० के अन्तर्गत आ जाते हैं। अर्थात् नाग हस्ती ६५६, ४७०=१८६ वि०सं० में विद्यमान थे। उसी समय के लगभग षट्खण्डागम की रचना हुई है। उस समय कर्म प्रकृति प्राभृत मौजूद था। उसी के लोप के भय से धरसेनाचार्य ने पुष्पदन्त भूतबलि को पढ़ाया था। अतः लेखगत यह समकालीनता आश्चर्यजनक है।

यह बात खास तौर से उल्लेखनीय है कि लेख नं० ५४ में आर्य नागहस्ति घस्तु हस्ति और मंगुहस्ति का तथा लेख नं० ५५ में नागहस्ति (हस्त हस्ति) और माघ हस्ति का एक साथ उल्लेख है। माघहस्ति सभवतः मंगु मंखु या मंक्षु का नामान्तर हो, और शिल्पी की असावधानी से ऐसा उत्कीर्ण हो गया हो। दोनों लेखों में दोनों का एक साथ उल्लेख होना अपना खास महत्व रखता है।

पर इससे यतिवृषभ को और पहले का विद्वान मानना होगा। तब इस समय के साथ उनकी संगति ठीक बैठ सकेगी। यतिवृषभ का वर्तमान समय ५वीं शताब्दी तो तिलोयपण्णत्ती के कारण है। प्राचीन तिलोयपण्णत्ती के मिल जाने पर उस पर विचार किया जा सकता है।

मुनि सर्वनन्दी (प्राकृतलोक विभाग के कर्त्ता)

मुनि सर्वनन्दी विक्रम की छठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के विद्वान् थे। और प्राकृत भाषा के अच्छे विद्वान थे। उनकी एक मात्र कृति 'लोकविभाग का उल्लेख तिलोयपण्णत्ती में पाया जाता है। परन्तु निश्चय पूर्वक यह कहना कठिन है कि जिस लोक विभाग का उल्लेख तिलोयपण्णत्ती कार' ने किया है वह इन्ही सवनन्दी की रचना है। सिंह-सूरि ने इसका संस्कृत में अनुवाद किया है। उसकी प्रशस्ति के निम्न पद्य से ज्ञात होता है कि सर्वनन्दी ने उसे शक

सं० ३८० (वि० सं० ५१५) में कांची नरेश सिंहवर्मा के २२वें संवत्सर में, जब उत्तराषाढ़ नक्षत्र में शनैश्चर, वृषभ में वृहस्पति, और उत्तरा फाल्गुनि में चन्द्रमा अवस्थित था, तथा शुक्ल पक्ष था। पाणराष्ट्र के पाटलिक ग्राम में पुराकाल में सर्वनन्दि ने लोक विभाग की रचना की थी। सिंह वर्मा पल्लव वंश के राजा थे। और कॉंची उनकी राजधानी थी। संस्कृत लोक विभाग के वे प्रशस्ति पद्य इस प्रकार है :—

वैश्वे स्थिते रविसुते वृषभे च जीवे।
राजोत्तरेषु सितपक्ष मुपेत्य चन्द्रे।
ग्रामे च पाटलिक नामनि पाणराष्ट्रे,
शास्त्रं पुरालिखितवान्मुनि सर्वनन्दी॥
संवत्सरे तु द्वाविंशे काञ्चीश-सिंह वर्मणः
अशीत्यग्रे शकाब्दानां सिद्धमेतच्छत त्रये॥४॥

तिलोयपण्णत्ती में 'लोक विभागाइरिया' वाक्य के साथ सर्वनन्दी के अभिमत का उल्लेख किया गया है।

आचार्य यतिवृषभ

यह आर्य मंक्षु के शिष्य और नागहस्ति क्षमाश्रमण के अन्तेवासी थे।[१] उक्त दोनों आचार्यों को कसाय पाहुड की गाथा आचार्य परम्परा से आती हुई प्राप्त हुई थीं।[२] और जिनका उन्हें अच्छा परिज्ञान था। यतिवृषभ ने उक्त दोनों गुरुओं के समीप गुणधराचार्य के कसाय पाहुड सुत्त को उन गाथाओं का अध्ययन किया, और वह उनके रहस्य से परिचित हो गया था। अतएव उसने उन सूत्र गाथाओं का सम्यक् अर्थ अवधारण करके उन पर सर्वप्रथम छह हजार चूर्णि-सूत्रों की रचना की।[३] आचार्य वीरसेन ने उन्हें 'वृत्ति सूत्र' का कर्ता बतलाया है।[४] और उन से वर भी चाहा है। जिनकी रचना संक्षिप्त हो और जिनमें सूत्र के समस्त अर्थों का संग्रह किया गया हो, सूत्रों के ऐसे विवरण को वृत्ति सूत्र कहते हैं।[५]

चूर्णि-सूत्रों के अध्ययन करने से जहां आचार्य यति वृषभ के अगाध पाण्डित्य और विशाल आगम ज्ञान का का पता चलता है। वहां उनकी स्पष्टवादिता का भी बोध होता है। चारित्र मोह क्षपणा अधिकार में क्षपक की प्ररूपणा करते हुए यव मध्य की प्ररूपणा करना आवश्यक था। पर वहां यव मध्य प्ररूपणा करने का उन्हें ध्यान नहीं रहा, किन्तु प्रकरण की समाप्ति पर चूर्णिकार लिखते हैं—"जब मज्झं कायव्वं, विस्तरिदं लिहिदुं (सू० ६७६, पृ० ८४०)। यहां पर यव मध्य की प्ररूपणा करना चाहिए थी। किन्तु पहले क्षपण-प्रायोग्य प्ररूपणा के अवसर में हम लिखना भूल गए। यह आचार्य यति वृषभ की स्पष्टवादिता और वीतराग वृत्ति का निर्देशन है।

---

१. जो अज्ज मंखू सीसो अंतेवासी वि णागहत्थिस्स। जय ध० पु० १ पृ० ४

२. पुणो ताओ चेव सुत्त गाहाओ आइरिय परंपराए आगच्छमाणीओ अज्जमंखू णागहत्थीणं पत्ताओ। पुणो तेसिं दोण्हं पि पाद मूले असीदिसद गाहाणं गुणहरमुहकमलविणिग्गयाणमत्थं सम्मं सोऊण जयिवसहभडारएण पवयणवच्छलेण चुण्णि सुत्तं कयं।'—(जय० पु० १ पृ० ८८)

३. "पार्श्वे तयोर्द्वयोरप्यधीत्यसूत्राणि तानि यतिवृषभः।
यतिवृषभनामधेयो बभूवशास्त्रार्थनिपुणमतिः॥
तेन ततो यतिपतिना तद गाथा वृत्ति सूत्ररूपेण।
रचितानि षट् सहस्रग्रन्थान्यथचूर्णिसूत्राणि।" —इन्द्रनन्दि श्रुतावतार—१५५, १५६

४. 'सो वित्ति सुत्त कत्ता जइवसहो मे वरं देऊ॥' —(जय० ध० पु० १ पृ० ४)

५. सुत्तस्सेव विवरणाए सखित्त सद्दरयणाए संगहिय सुत्तासे सत्थाए वित्ति सुत्तववएसादो॥ जयधवला अ० प० ५२

जय धवलाकार आचार्य यतिवृषभ के वचनों को राग-द्वेष-मोह का अभाव होने से प्रमाण मानते हैं। यति वृषभ की वीतरागता और उनके वचनों क भगवान महावीर की दिव्यध्वनि के साथ एकरसता[1] बतलाने से यह स्पष्ट है कि आचार्य परम्परा में यतिवृषभ के व्यक्तित्व के प्रति कितना समादर और महान प्रतिष्ठा का बोध होता है।

आचार्य यति वृषभ विशेषावश्यक के कर्ता जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण और पूज्यपाद से पूर्ववर्ती हैं। क्यों कि उन्होंने यतिवृषभ के आदेसकसाय विषयक मत का उल्लेख किया है। चूर्णि सूत्रकार ने लिखा है कि—'आदेस कसाएण जहा चित्त कम्मे लिहिदो कोहो रूसिदो तिवलिद णिडालो भिउडिं काऊण।' यह कसाय पाहुड के पेज्जदोस विहत्ती नामक प्रथम अधिकार का ५९वाँ सूत्र है। इसमें बताया है कि क्रोध के कारण जिसकी भृकुटि चढ़ी हुई है और ललाट पर तीन वली पड़ी हुई हैं, ऐसे क्रोधी मनुष्य का चित्र में लिखित आकार आदेशकषाय है। किन्तु विशेषावश्यक भाष्यकार कहते हैं कि अन्तरंग में कषाय का उदय न होने पर भी नाटक आदि में केवल अभिनय के लिये जो कृत्रिम क्रोध प्रकट करते हुए क्रोधी पुरुष का स्वांग धारण किया जाता है, वह आदेश कषाय है। इस तरह से आदेश कषाय का स्वरूप बतलाते हुए भाष्यकार कसाय पाहुडचूर्णि में निर्दिष्ट स्वरूप का 'केई' शब्द द्वारा उल्लेख करते हैं :—

आएसओ कसाओ कइयव कय भिउडि भंगुराकारो।
केई चित्ता गइओ ठवणा णत्थंतरो सोऽयं ॥२९८१

इसमें बताया है कि—कितने ही आचार्य क्रोधी के चित्रादि गत आकार को आदेशकषाय कहते हैं, परन्तु यह स्थापना कषाय से भिन्न नहीं है, इसलिये नाटकादि नकली क्रोधी के स्वांग को ही आदेशकषाय मानना चाहिये।

आचार्य यतिवृषभ का पूज्यपाद (देवनन्दी) से पूर्ववर्तित्व होने का कारण यह है कि पूज्यपाद ने सर्वार्थ-सिद्धि में एक मत विशेष का उल्लेख किया है :—

'अथवा एषां मते सासादन एकेन्द्रियेषु नोत्पद्यते तन्मतापेक्षया द्वादशभागा न दत्ता।'

(सर्वा० सि० १ पृ० ३७, **पाद टिप्पण)**

जिन आचार्यों के मत से सासादन गुण स्थानवर्ती जीव एकेन्द्रियों में उत्पन्न नहीं होता है, उनके मत की अपेक्षा वारह वेद चौदह भाग स्पर्शन क्षेत्र नहीं कहा गया है।

सासादन गुण स्थानवर्ती जीव यदि मरण करता है तो वह एकेन्द्रियों में उत्पन्न नहीं होता, किन्तु नियम से देव होता है जैसा कि यतिवृषभ के निम्न चूर्णिसूत्र से स्पष्ट है :—

आसाणं पुण गदो जदि मरदि, ण सक्को णिरयगदिं तिरिक्खगदिं मणुसगदिं वा गंतुं। णियमा देव गदिं गच्छदि। (कसा० अधि० १४ सूत्र १४४ पृ० ७२७)

आचार्य यतिवृषभ के इस मत का उल्लेख नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने अपने लब्धिसार-क्षपणासार की निम्न गाथा में किया है :—

जदि मरदि सासणो सो णिरय-तिरिक्खं णरं ण गच्छेदि।
णियमा देवं गच्छदि जइवसह मुणिंदवयणेणं ॥

इस कथन से स्पष्ट है कि यतिवृषभ पूज्यपाद के पूर्ववर्ती हैं। पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दिने वि० सं० ५२६ में द्रविड संघ की स्थापना की थी। अतः यतिवृषभ का समय ५२६ से पूर्ववर्ती है। अर्थात् वे ५वीं शताब्दी के विद्वान हैं।

---

१. एदम्हादो विउलगिरिमत्थयत्थं वड्ढमाणदिवायरादो विणिग्गमिय गोदमलोहज्जजम्बुसामियादिआइरियपरंपराए आगंतूण गुणहराइरियं पाविय गाहासरूवेण परिणमिय अज्जमंखु णागहत्थीहिंतो जइवसह मुह णिमिय चुण्णिसुत्तायारेण परिणद-दिव्वज्झुणिकिरणादो णव्वदे। —जय धव० भा० १ प्रस्ता० टि० पृ० ४६

यतिवृषभ की दूसरी रचना 'तिलोयपण्णत्ती' है। इसके अन्त में दो गाथाएं निम्न प्रकार पाई जाती हैं। जिनवर-वृषभ को, गुणों में श्रेष्ठ गणधर-वृषभ को, तथा परिषहों को सहन करने वाले और धर्मसूत्रों के पाठकों में श्रेष्ठ ऐसे यतिवृषभ को नमस्कार करो। चूर्णिस्वरूप और षट्करणस्वरूप का जितना प्रमाण है त्रिलोकप्रज्ञप्ति का उतना ही, आठ हजार श्लोक प्रमाण है।

पणमह जिणवर वसहं गणहर वसहं तहेव गुणहर वसहं।
दट्ठण परिसवसहं जदिवसहं धम्मसुत्त पाढर वसह।।
चुण्णि सरूवत्थ करण सरूव पमाण होइ किं जत्त।
अट्ठसहस्स पमाणं तिलोयपण्णत्तिणामाए।।८१

इससे स्पष्ट है कि तिलोयपण्णत्ति के कर्ता और चूर्णि सूत्रों के कर्ता प्रस्तुत यतिवृषभ ही हैं। जिनका उल्लेख इन्द्रनन्दि ने किया है।

तिलोयपण्णत्ति एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, उसमें महावीर के बाद के इतिहास की बहुत सी सामग्री दी हुई है जो काल गणना (श्रुत परम्परा-राजवंश गणना) दी है वह प्रामाणिक है। उसे यहां संक्षेप में दिया जाता है, पश्चाद्वर्ती ग्रन्थकारों ने उसका अनुसरण किया है।

जिस दिन भगवान महावीर का निर्वाण (मोक्ष) हुआ, उसी दिन गौतम गणधर को केवलज्ञान हुआ, और उनके सिद्ध होने पर सुधर्मस्वामी केवली हुए। उनके मुक्त होने पर जम्बूस्वामी केवली हुए। जंबूस्वामी के मोक्ष जाने के बाद कोई अनुबद्ध केवली नहीं हुआ। इनका धर्मप्रवर्तन काल ६२ वर्ष है।

केवलज्ञानियों में अंतिम श्रीधर हुए, जो कुण्डलगिरि से मुक्त हुए। और चारण ऋषियों में अन्तिम सुपार्श्वचन्द्र हुए। प्रज्ञाश्रमणों में अन्तिम वइरजस या वज्रयश, और अवधिज्ञानियों में अन्तिम श्री नामक ऋषि और मुकुटधर राजाओं में अन्तिम चन्द्रगुप्त ने जिन दीक्षा ली। इसके बाद कोई मुकुटधर राजा ने दीक्षा ग्रहण नहीं की।

नन्दि (विष्णु नन्दि) नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये पांच चौदह पूर्वी और बारह अंगों के धारण करने वाले हुए। इनका समय सौ वर्ष है। इनके बाद और कोई श्रुत केवली नहीं हुआ।

विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय, बुद्धिल्ल, गंगदेव और सुधर्म (धर्मसेन) ये ग्यारह अंग और दश पूर्व के धारी हुए। परम्परा से प्राप्त इन सबका काल १८३ वर्ष है।

नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन, और कंस ये पांच आचार्य ग्यारह अंग के धारी हुए, इनका काल २२० वर्ष होता है। इनके बाद भरत क्षेत्र में कोई अंगों का धारक नहीं हुआ।

सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य ये आचारांग के धारक हुए। इनके अतिरिक्त शेष ग्यारह अंग चौदह पूर्व के एक देश धारक थे। इनके पश्चात् भरत क्षेत्र में कोई आचारांगधारी नहीं हुआ।

राज्यकाल गणना का भी उल्लेख किया है। यद्यपि वर्तमान तिलोयपण्णत्ती में कुछ अंश प्रक्षिप्त है। जिसके लिये उसकी प्राचीन प्रतियों का अन्वेषण आवश्यक है। फिर भी उपलब्ध संस्करण की दृष्टि से उसका रचना काल ५वीं शताब्दी का मानने में कोई हानि नहीं है। विषय वर्णन की दृष्टि से ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है। यति-वृषभ के सामने कितना ही प्राचीन साहित्य रहा है, जो अब अनुपलब्ध है।

सिद्धनन्दी

यह मूलसंघ कनकोपल संभूत वृक्ष मूलगुणान्वय के विद्वान् थे। जैसा कि शिलालेख के निम्न पद्य से प्रकट है:—

कनकोपलसम्भूत वृक्षमूलगुणान्वये।
भूतस्स समग्र राद्धान्तः सिद्धिनन्दि मुनीश्वरः।।

इनके प्रथम शिष्य का नाम चिकार्य था। जिनके नागदेव और जिननन्दि आदि पांच सौ ५०० शिष्य थे। पुलकेशी (प्रथम) चालुक्य के सामन्त सामियार थे, जो कुहण्डी जिले का शासक था, उसने अलक्तक नगर में, जो उस जिले के ७०० सात सौ गांवों के समूहों में एक प्रधान नगर था, एक जिन मन्दिर बनवाया, और राजा को आज्ञा लेकर विभव संवत्सर में जबकि शक वर्ष ४११ (वि० सं० ५४६) व्यतीत हो चुका था वैशाख महीने की पूर्णिमा के दिन चन्द्र ग्रहण के अवसर पर कुछ जमीन और गांव प्रदान किये।

सिद्धिनन्दि का उल्लेख शाकटायन व्याकरण के सूत्र पाठ में मिलता है। इससे यह यापनीय सम्प्रदाय के विद्वान जान पड़ते है।

पुलकेशी प्रथम के शक सं० ४११ के दानपात्र में सिद्धिनन्दि का उल्लेख है।[1] अतएव इनका समय शक सं० ४११ सन् ४८८ तथा विक्रम सं० ५४६ है।

चितकाचार्य

यह मूल संघ कनकोपलाम्नाय के विद्वान आचार्य सिद्धनन्दि मुनीश्वर के प्रथम शिष्य थे। यह उक्त आम्नाय में बहुत प्रसिद्ध थे। और नागदेव चितकाचार्य द्वारा दीक्षित थे। अर्थात् चितकाचार्य उनके दीक्षा गुरु थे। नागदेव के गुरु जिननन्दि थे। जैसा कि अल्तेम शिलालेख के निम्न पद्यों से जाना जाता है :—

तस्यासीत् प्रथम शिष्यो देवताविनुतक्रमः।
शिष्यैः पञ्चशतै युक्तश्चितकाचार्यदीक्षितः॥
नागदेव गुरोश्शिष्यः प्रभूतगुणवारिधिः।
समस्तशास्त्र सम्बोधी जिननन्दि प्रकीर्तितः॥

(जैन लेख सं० भा० २ पृ० ७७)

सिद्धिनन्दि मुनिराज का समय ईसा की ५वीं सदी ४८८ ई० है। अतः चितकाचार्य का समय भी ईसा की पांचवीं और विक्रम की छठी शताब्दी का पूर्वार्ध होना चाहिए।

वज्रनन्दि

वज्रनन्दि - देवनन्दि (पूज्यपाद) के शिष्य थे। बड़े विद्वान थे। इन्होंने दर्शनसार के अनुसार सं० ५२६ में द्रविड़ संघ की स्थापना की थी। देवसेन ने दर्शनसार में उन्हें जैनाभास बतलाया है और लिखा है कि—"उसने कछार, खेत, वसति (जैन मन्दिर) और वाणिज्य से जीविका निर्वाह करते हुए और शीतल जल से स्नान करते हुए प्रचुर पाप का संग्रह किया।"[2]

मल्लिषेण प्रशस्ति में वज्रनन्दि के 'नवस्तोत्र' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया गया है, जिसमें सारे अर्हत्प्रवचन को अन्तर्भुक्त किया गया है और जिसकी रचना शैली बहुत सुन्दर है :—

१. देखो, इं० ए० जि० ७ पृष्ठ० २०५-१७ तथा जैन लेख संग्रह भाग २ अल्तेम का लेख नं० १०६ पृ० ८५

२. सिरिपुज्जपाद सीसो दाविडसंघस्स कारगो दुट्ठो।
णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्तो॥
पंचसये छव्वीसे विक्कमरायस्स मरण पत्तस्स।
दक्खिण महुरा-जादो दाविड संघो महामोहो॥ दर्शनसार
अर्थात् विक्रम राजा के ५२६ वर्ष बीतने पर द्राविड संघ की स्थापना की।

नवस्तोत्रं तत्र प्रसरति कवीन्द्राः कथमपि
प्रमाणं वज्रादौ रचयत परन्निदिनि मुनौ
नवस्तोत्रं येन व्यरचि सकलार्हतप्रवचन
प्रपंचान्तर्भाव प्रवणवर सन्दर्भ सुभगम् ॥११॥

पुन्नाट संघी जिनसेन ने हरिवंश पुराण में वज्रसूरि की स्तुति करते हुए लिखा है—

वज्रसूरे विचारण्यः सहेत्वोर्बन्धमोक्षयोः ।
प्रमाणं धर्मशास्त्राणं प्रवक्तृणामिवोक्तयः ॥३२॥

अर्थात् वज्रसूरि की सहेतुक बन्ध-मोक्ष की विचारणा में धर्मशास्त्रों के प्रवक्ताओं की—गणधरदेवों की उक्तियों के समान प्रमाणभूत है। इससे स्पष्ट है कि उनके किसी ऐसे ग्रन्थ की ओर संकेत है जिसमें बन्ध, मोक्ष, उनके कारण राग-द्वेष तथा सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रादि की चर्चा है। महाकवि धवल ने भी अपने हरिवंश पुराण में लिखा है कि—

वज्जसूरि सुपसिद्धउ मुणिवरु, जेण पमाणगंथु किउ चंगउ ।

वज्रसूरि नाम के सुप्रसिद्ध मुनिवर हुए जिन्होंने सुन्दर प्रमाण ग्रन्थ बनाया। वज्रनन्दी और वज्रसूरि दोनों विद्वान यदि एक हैं तो नवस्तोत्र के अतिरिक्त उनका कोई प्रमाण ग्रन्थ भी होगा। जिनसेन तो उन्हें गण-धर देवों के समान प्रामाणिक मानते हैं। और देवसेन ने उन्हें जैनाभास बतलाया है।[1]

नागसेन गुरु

नागसेन गुरु—ऋषभसेन के शिष्य थे। जिन्होंने सन्यास विधि से श्रवण बेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर देह त्याग किया था। जिसका श्रवण बेलगोल के शिलालेख नं० २४ (३४) में उल्लेख है। और उसमें महत्व के सात विशेषणों के साथ उनकी स्तुति को लिये हुए निम्न श्लोक दिया हुआ है :—

नागसेनमनघं गुणाधिकं नाग नामकजितारि मंडलं ।
राज्यपूज्यममलश्रियास्पदं कामदं हतमदं नमयाम्यहं ।

इस शिलालेख का समय शक सं० ६२२ (वि० सं० ७५७) सन् ७०० के लगभग अनुमान किया गया है, परन्तु उसका कोई आधार नहीं दिया।

स्वामी कुमार

स्वामी कुमार—ने अपना कोई परिचय प्रस्तुत नहीं किया। किन्तु कार्तिकेयानुप्रेक्षा की अन्तिम ४८९ नं० की गाथा में वसु पूज्यसुत-वासु पूज्य, मल्लि और अन्त के तीन नेमि, पार्श्व और वर्द्धमान ऐसे पाँच कुमार श्रमण तीर्थंकरों की वन्दना की गई है। जिन्होंने कुमारावस्था में ही जिन दीक्षा लेकर तपश्चरण किया है और जो तीन लोक के प्रधान स्वामी है। इससे यह बात निश्चित होती है कि प्रस्तुत ग्रन्थाकार कुमार श्रमण थे, बाल ब्रह्मचारी थे। और उन्होंने बाल्यावस्था में ही जिन दीक्षा लेकर तपश्चरण किया है। इसी से उन्होंने अपने को विशेष रूप में इष्ट पांच कुमार तीर्थंकरों की स्तुति की है।

स्वामि—शब्द का व्यवहार दक्षिण देश में अधिक प्रचलित है और वह व्यक्ति विशेषों के साथ उनकी प्रतिष्ठा का द्योतक होता है। कुमारसेन कुमार नन्दी और कुमार स्वामी जैसे नामधारी आचार्य दक्षिण देश में हुए

१. देखो, दर्शनसार गाथा २७

हैं। दक्षिण देश में प्राचीन समय से क्षेत्रपाल की पूजा का प्रचार रहा है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा नं० २५ में 'क्षेत्रपाल' का स्पष्ट नामोल्लेख है और उसके विषय में फैली हुई रक्षा सम्बन्धी मिथ्या धारणा का प्रतिषेध किया है। इससे लगता है कि ग्रन्थकार कुमार स्वामी दक्षिण देश के विद्वान थे। डा० ए० एन० उपाध्ये का यह अनुमान सही प्रतीत होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में ४८९ गाथाओं में द्वादश भावनाओं का सुन्दर विवेचन किया गया है। भावनाओं का क्रम गृद्धपिच्छाचार्य के तत्त्वार्थ सूत्रानुसार ही है। जैसा कि दोनों के उद्धरण से स्पष्ट है :—

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्ण-संसार-लोगमसुचित्तं ।
आसव-सवर-णिज्जर-धम्मं बोहिं च चिंतेज्जो ॥

—वारस अणुवेक्खा

अनित्याऽशरण - ससारैकत्वाऽन्यत्वाऽशुच्याऽऽस्रव-संवर-निर्जरा-लोक-बोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तन मनुप्रेक्षाः। —तत्त्वार्थ सूत्र ९-७

अद्धुव असरण भणिया संसारामेगण्ण मसुइत्तं ।
आसव— संवरणामा णिज्जर लोयाणु पेहाओ ॥

भावनाओं का यह क्रम—मूलाचार, भगवती आराधना और वारस अणुवेक्खा में एक ही क्रम पाया जाता है। जब कि तत्त्वार्थ सूत्र और कार्तिकेयानु प्रेक्षा का क्रम उनसे भिन्न एक रूप है। दूसरे भावनाओं के वर्णन के साथ श्रावकाचार का भी सुन्दर वर्णन किया है। इससे स्वामी कुमार उमास्वाति (गृद्धपिच्छचार्य) के बाद के विद्वान होने चाहिये।

इय जाणिऊण भावह दुल्लह-धम्माणु भावणा ।
णिच्चं मण-वयण-काय-सुद्धी एदा दस दोय भणिया हु ॥

जोइन्दु

जोइन्दु (योगीन्द्र देव)—यह अध्यात्मवादी कवि थे। उनकी कृतियों में आत्मानुभूति का रस है। यह **अपभ्रंश** भाषा के विद्वान थे। जोइन्दु का संस्कृत रूपान्तर गलत रूप में योगीन्द्र प्रचलित हैं। किन्तु योगसार में 'जोगिचन्द्र' नाम का उल्लेख है :—

संसारह भय—भीयएण, जोगिचन्द मुणिएण ।
अप्पा संबोहणकया दोहा इक्क— मणेण ॥१०८॥

डा० ए० एन० उपाध्ये के अनुसार 'योगेन्दु' पाठ है, जो योगिचन्द्र का समानार्थक है। यह अध्यात्म रस के रसज्ञ थे। प्राकृत-संस्कृत के विद्वान न होते हुए भी उनकी रचना सरल अपभ्रंश में है। जोइन्दु की निम्न रचनायें उपलब्ध है। परमात्मप्रकाश, योगसार, निजात्माष्टक और अमृताशीति। ये सभी रचनायें अध्यात्मवाद के गूढ़ रहस्य से युक्त हैं।

परमात्म प्रकाश—इस ग्रन्थ में टीकाकार ब्रह्मदेव के अनुसार ३४५ पद्य हैं। दो अधिकार हैं, उनमें पांच प्राकृत गाथाएं, एक स्रग्धरा, एक मालिनी, और एक चतुष्पदिका है। यद्यपि परमात्मप्रकाश में दोहे का कोई उल्लेख नही है। किन्तु योगसार में दोहा शब्द का उल्लेख मिलता है। दोहे में दोनों पक्तियाँ समान होती हैं और प्रत्येक पंक्ति में दो चरण होते हैं।[1] प्रथम चरण में १३ और दूसरे में ११ मात्रायें होनी हैं। विरहांक और हेमचन्द्र के अनुसार दोहे में १४ और १२ मात्राएं होती हैं; किन्तु परमात्म प्रकाश के दोहों म दीर्घ उच्चारण करने पर भी प्रथम चरण में १३ मात्राएं पाई जाती हैं और दूसरे में ग्यारह।

ग्रन्थ के प्रथम अधिकार में पंच परमेष्ठियों को नमस्कार करने के बाद आत्मा के तीन भेदों का—बहि-

---

१. दो पाया भण्णइ दुनिहइ, विरहांक

रात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का—स्वरूप बतलाया गया है। आत्मा के त्रैविद्य की यह चर्चा आचार्य कुन्द-कुन्द के ग्रन्थों, और पूज्यपाद देवनन्दी के ग्रन्थों से ली गई है। और उनका विस्तृत स्वरूप भी दिया है। बहिरात्मा अवस्था को छोड़ कर अन्तरात्मा होकर परमात्मा होने की प्रेरणा की है। परमात्मा के सकल-विकल भेदों का स्वरूप ३४ दोहों में दिया गया है। जीव के स्वशरीर प्रमाण होने की चर्चा, द्रव्य-गुण, पर्याय, कर्म, निश्चय नय सम्यक्त्व और मिथ्यात्वादि का वर्णन किया गया है।

दूसरे अधिकार में मोक्ष का स्वरूप मोक्ष का फल, मोक्ष मार्ग, अभेद रत्नत्रय, समभाव पुण्य-पाप की समानता और परम समाधि का कथन दिया हुआ है। परमात्म प्रकाश के दोहा अत्यन्त सुन्दर, रम-णीय और शुद्ध स्वरूप के निरूपक हैं, उनके पढ़ने में मन रम जाता है, क्योंकि वे सरस और भावपूर्ण हैं।

रहस्यवाद—मुनि जोगचन्द ने आध्यात्मिक गूढ़वाद और नैतिक उपदेशों को सहज ढंग मे व्यक्त किया है। उन्होंने अपने पद्यों में योगियों को अनेक बार सम्बोधित किया है, और गृह निवास को पाप निवास भी बतलाया है। परमात्म प्रकाश के दोहों में गूढ़ वादियों के सदृश कहीं अस्पष्टता का आभास नहीं होता। उन्होंने पंचेन्द्रियों को जीतने और विषयों से पराङ्ग मुख रहने, अथवा उनका त्याग कर आत्म-साधना करने का स्पष्ट संकेत किया है। मानव देह पाकर जिन्होंने जीवन को विषय-कषायों में लगाया, और काम-क्रोधादि विभाव भावों का परित्याग न कर, वीतराग परम आनन्द रूप अमृत पाकर भी अनशनादि तप का अनुष्ठान नहीं किया, वे आत्मघाती हैं, क्योंकि ध्यान की गति महा विषम है। चित्तरूपी बन्दर के चंचल होने से शुद्धात्मा में स्थिरता प्राप्त नहीं हो सकती, और ध्यान की स्थिरता के अभाव में तो कर्म कलंक का विनाश नहीं होता। तब शुद्धात्मा की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

योगीन्द्र देव जैन गूढ़वादी हैं, उनकी विशाल दृष्टि ने ग्रन्थ में विशालता ला दी है, अतएव उनका कथन साम्प्रदायिक व्यामोह से अलिप्त है। उनमें बौद्धिक सहन-शीलता कम नहीं है। वेदान्त में आत्मा को सर्वगत माना है, और मीमांसक मुक्तावस्था में ज्ञान नहीं मानते। बौद्धों का कहना है कि वहां शून्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। योगीन्द्र देव इन मतभेदों से आकुलित नहीं होते। क्योंकि उन्होंने अध्यात्म के प्रकाश में नयों की सहायता से शांकिक जाल का भेदन किया है और परमात्मस्वरूप की निश्चित रूप-रेखा स्वीकृत की है, वह मौलिक है। वे परमात्मा को जिन, ब्रह्म, शान्त, शिव और बुद्ध आदि संज्ञायें देते हैं। उन्होंने परमात्मस्वरूप के प्रकाशित करने का यथेष्ट उद्यम किया है। और अन्त में मोक्ष और मोक्ष का फल बतलाया है। वस्तु के स्वरूप वर्णन में उनकी दृष्टि विमल रही है।

उनके दो चार दोहों का भी आस्वाद कीजिये, वे सुन्दर भावपूर्ण और सरस हैं।

जो समभाव-परिट्ठियहं जो इहं कोई पुरेइ।
परमाणंदु जणंतु फुड सो परमप्पु हवेई ॥१—३५

जो योगी समभाव में—जीवन-मरण-लाभ-अलाभ सुख-दुख, शत्रु और मित्रादि में समरूप परिणत है, और परम आनन्द को प्रकट करता है वही परमात्मा है।

भवतणु-भोय-विरत्त-मणु जो अप्पा झाएह।
तासु गुरुक्की वेल्लड़ी संसारिणी तुट्टइ ॥१—३२

जो जीव संसार, शरीर, भोगों से विरक्त मन हुआ शुद्धात्मा का चिन्तवन करता है उसको संसार रूपी मोटी बेल नाश को प्राप्त हो जाती है।

कम्म-णिबद्धु वि जोइया देह वसंतु वि जोजि।
होइ ण सयलु कया वि फुडु मुणि परमप्पउ सो जि ॥१—३६॥

हे योगी ! यद्यपि आत्मा कर्मों से सम्बद्ध है, और देह में रहता भी है परन्तु फिर भी वह कभी देह रूप नहीं होता, उसी को तू परमात्मा जान।

देह—विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ ।
परम समाधि—परिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ ।।१—१४।।

जो पुरुष परमात्मा को देह से भिन्न ज्ञानमय जानता है, वही समाधि में स्थित हुआ पंडित है—अन्तरात्मा विवेकी है !

जित्थु ण इंदिय-सुह-दुहइँ जित्थु ण मण-वावारु ।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुँ अण्णु परि अवहारु ।।१—२८।।

जिस शुद्ध आत्म-स्वभाव में इन्द्रिय जनित सुख-दुख नहीं हैं, और जिसमें संकल्प-विकल्प रूप मन का व्यापार नहीं है, ह जीव ! उसे तू आत्मा मान, और अन्य विभावों का परित्याग कर ।

इस तरह परमात्म प्रकाश के सभी दोहा आत्म स्वरूप के सम्वोधक तथा परमात्मा स्वरूप के निर्देशक हैं। इनके मनन और चिन्तन से आत्मा आनन्द को प्राप्त होता है ।

योगसार—में १०८ दोहा हैं जिनमें अध्यात्म दृष्टि से आत्मस्वरूप का सुन्दर विवेचन किया गया है। दोहा सरस और सरल हैं । और वस्तु स्वरूप के निर्देशक हैं । यथा—

आउ गलइ णवि मणु गलइ णवि आसाहु गलेइ ।
मोहु फुरइ णवि अप्पहिउ इम संसार भमेइ ।।४६

आयु गल जाती है, पर मन नहीं गलता और न आशा ही गलती, मोह स्फुरित होता है, पर आत्महित का स्फुरण नहीं होता—इस तरह जीव संसार में भ्रमण किया करता है ।

धंधइ पडियउ समलु जगि णवि अप्पा हु मुणंति ।
तहि कारणि ए जीव फुडु णहु णिव्वाण लहंति ।।५

संसार के सभी जीव धंधे में फंसे हुए हैं, इस कारण वे अपनी आत्मा को नहीं पहिचानते। अतएव वे निर्वाण को नहीं पा सकते । इस तरह योगसार ग्रन्थ भी आत्म सम्बोधक है । इसका अध्ययन करने से आत्मा अपने स्वरूप की ओर सन्मुख हो जाता है ।

अमृताशीति—यह एक उपदेश प्रद रचना है । इसमें विभिन्न छन्दों के ८२ पद्य हैं । उनमें जैन धर्म के अनेक विषयों की चर्चा की गई है । यथापि पद्मप्रभमलधारि देव ने नियमसार की टीका में योगीन्द्रदेव के नाम से जो पद्य उद्धृत किया है, वह अमृताशीति में नहीं मिलता । अतएव पं० नाथूराम जी प्रेमी का अनुमान है कि वह पद्य उनके अध्यात्मसन्दोह ग्रन्थ का होगा ।

निजात्माष्टक—यह आठ पद्यात्मक एक स्तोत्र है । इसकी भाषा प्राकृत है जिनमें सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप वतलाया गया है । पर किसी भी पद्य में रचयिता का नाम नहीं है । ऐसी स्थिति में इसे योगीन्द्र देव की रचना कैसे माना जा सकता है । इस सम्बन्ध में अन्य प्रमाणों की आवश्यकता है । इसका कहीं अन्यत्र उल्लेख भी मेरे अवलोकन में नहीं आया । सम्भव है वह इन्हीं की रचना हो, अथवा अन्य किसी की ।

योगेन्दु का समय

योगेन्दु के परमात्म प्रकाश पर ब्रह्मदेव और बालचन्द की टीकायें उपलब्ध हैं । बालचन्द्र की टीका पर ब्रह्म-देव का प्रभाव है, इस कारण बालचन्द्र ब्रह्मदेव के बाद के विद्वान हैं । ब्रह्मदेव का समय विक्रम की ११वीं शताब्दी का उपान्त्य है । जयसेन भी उनसे बाद के विद्वान हैं, क्योंकि जयसेन ने उनकी वह द्रव्य संग्रह की टीका का उल्लेख किया है । पं० कैलाशचन्द जी सिद्धान्तशास्त्री राजा भोज के समय द्रव्यसंग्रह की टीका का वर्तमान होना मानते हैं, जो १२ शताब्दी का प्रारम्भ है ।

योगेन्दु ने परमात्म प्रकाश में आचार्य कुन्द-कुन्द और पूज्यपाद (ईसा की ५वीं सदी) के विचारों को निबद्ध किया है । अतएव उनका समय ईसा की छठी शताब्दी हो सकता है । डा० ए० एन० उपाध्ये ने अपनी परमात्म प्रकाश की प्रस्तावना में जोइन्दु का समय ईसा की छठी शताब्दी माना है; क्योंकि गुणे ने चण्ड के

व्याकरण के व्यवस्थित रूप का समय ईसा की छठी शताब्दी के बाद, ईसा की सातवी शताब्दी के लगभग रखा जा सकता है ऐसा लिखा है। चण्ड के प्राकृत लक्षण में योगेन्दु का एक दोहा उद्धृत है—

काल लहेविणु जोइया जिम जिम मोहु गलेइ।
तिम तिम दसणु लहइ जो णिय में अप्पु मुणेइ ॥

इस कारण योगेन्दु का समय छठी शताब्दी मानना उपयुक्त है। सम्भव है वे छठी के उपान्त्य समय और सातवी के प्रारम्भ समय के विद्वान हों।

पात्रकेसरी

पात्रकेसरी—एक ब्राह्मण विद्वान थे, जो अहिच्छत्र[1] के निवासी थे। यह वेद वेदाग आदि में अत्यन्त निपुण थे। उनके पाच सो विद्वान शिष्य थे, जो अवनिपाल राजा के राज्य कार्य में सहायता करते थे। उन्हें अपने कुल का (ब्राह्मणत्व का) बड़ा अभिमान था। पात्र केसरी प्रातः और सायकाल सन्ध्या वन्दनादि नित्य कर्म करते थे और राज्य कार्य को जाते समय कौतूहल वश वहाँ के पार्श्वनाथ दि० मन्दिर में उनकी प्रशान्त मुद्रा का दर्शन करके जाया करते थे।[2]

१. अहिच्छत्र किसी समय एक प्राचीन ऐतिहासिक नगर था। उस पर अनेक वंशो के राजाओं ने शासन किया है। इसके प्राचीन इतिवृत्त पर दृष्टि डालने से उसकी महत्ता का सहज ही भान हो जाता है। यह उत्तर पांचाल की राजधानी रहा है। उसका प्राचीन नाम 'संख्यावती' था, और वह कुरु जागल देश की राजधानी के रूप मे प्रसिद्ध था। जब भगवान पार्श्वनाथ यहाँ आये और किसी उच्च शिला पर ध्यानस्थ थे। उस समय कमठ का जीव संवर देवविमान से कही जा रहा था। उसका विमान इकाइक रुक गया, उसने नीचे उतर कर देखा तो पार्श्वनाथ दिखाई पड़े। उन्हे देखते ही उसका पूर्व भव का वैर स्मृत हो उठा। पूर्व वैर स्मृत होते ही उसने क्षमाशील पार्श्वनाथ पर घोर उपसर्ग किया, इतनी अधिक वर्षा की कि पानी पार्श्वनाथ की ग्रीवा तक पहुच गया, किन्तु फिर भी पार्श्वनाथ अपने ध्यान से विचलित नही हुए। तभी धरणेन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ और उसने अवधिज्ञान से पार्श्वनाथ पर भयानक उपसर्ग होता जानकर तत्काल धरणेन्द्र पद्मावती सहित आकर और उन्हे ऊपर उठाकर उनके सिर पर फण का छत्र तान दिया। उपसर्ग दूर होते ही उन्हे केवलज्ञान प्राप्त हो गया। पश्चात् उस सम्बरदेव ने भी उनकी शरण मे सम्यक्त्व प्राप्त किया। और अन्य सात सौ तपस्वियों ने भी जिनदीक्षा लेकर आत्म कल्याण किया। उसी समय से यह स्थान अहिच्छत्र नाम से ख्यात हुआ है। वहा राजा वसुपाल ने सहस्र कूट चैत्यालय का निर्माण कराया था। और पार्श्वनाथ को एक सुन्दर सातिशय प्रतिमा भी निर्माण कराया था। यह दिगम्बर जैनियो का तीर्थ स्थान है। यहा की खुदाई मे पुरातत्व की सामग्री भी उपलब्ध हुयी है।

—देखो, उत्तर पाचाल की राजधानी अहिच्छत्र अनेकान्त वर्ष २४ किरण ६

२ (क) विप्रवशाग्रणी सूरि पवित्रः पात्रकेसरी।
स जीयाज्जिन-पादाब्ज-सेवनैकमधुव्रतः ॥

—सुदर्शन चरित्र

भूभृत्पदानुवर्ती सन् राजसेवा पराङ्मुखः।
सयतोऽपि च मोक्षार्थी भात्यसौ पात्रकेसरी ॥

—नगरतालुका का शिलालेख

(ख) निवासे सारसम्पत्ते देशे श्री मगधाभिधे।
अहिच्छत्रे जगच्चित्रे नागरे नगरे वरे ॥१८
पुण्यादवनिपालाख्यो राजा राज कलान्वितः।
प्रान्तं राज्यं करोत्युच्चैः विप्रैः पञ्चशतैर्वृतः ॥१९
विप्रास्ते वेद वेदाङ्ग पारगाः कुलगर्विताः।
कृत्वा सन्ध्या वन्दनां द्वये सन्ध्या च निरन्तरम् ॥२० (आराधना कथाकोष)

एक दिन उस मन्दिर में चारित्र भूषण नाम के मुनि भगवान पार्श्वनाथ के सन्मुख 'देवागम स्तोत्र' का पाठ कर रहे थे। पात्र केसरी सन्ध्या वन्दनादि कार्य सम्पन्न कर जब वे पार्श्वनाथ मन्दिर में आए, तब उन्होंने मुनि से पूछा कि आप अभी जिस स्तवन का पाठ कर रहे थे, क्या आप उसका अर्थ भी जानते हैं? तब मुनि ने कहा मैं इसका अर्थ नहीं जानता। तब पात्र केसरी ने कहा, आप इस स्तोत्र का एक बार पाठ करें। मुनिवर ने पाठ पुनः धीरे-धीरे पढ़ कर सुनाया। पात्र केसरी की धारणा शक्ति बड़ी विलक्षण थी। उन्हें एक बार सुन कर ही स्तोत्रादि कंठस्थ हो जाया करते थे। अतः उन्हें देवागम स्तोत्र कंठस्थ हो गया। वे उसका अर्थ विचारने लगे। उससे प्रतीत हुआ कि भगवान ने जीवादिक पदार्थों का जो स्वरूप कहा है, वह सत्य है। पर अनुमान के सम्बन्ध में उन्हें कुछ सन्देह हुआ। वे घर पर सोच ही रहे थे कि पद्मावती देवी का आसन कम्पायमान हुआ। वह वहां आई और उसने पात्र केसरी से कहा कि आपको जैन धर्म के सम्बन्ध में कुछ सन्देह है। आप इसकी चिन्ता न करें। कल आपको सब ज्ञात हो जावेगा। वहाँ से पद्मावती देवी पार्श्वनाथ के मन्दिर में गई, और पार्श्वनाथ की मूर्ति के फण पर निम्न श्लोक अंकित किया।

"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।

प्रातः काल जब पात्र केसरी ने पार्श्वनाथ मन्दिर में प्रवेश किया तब वहाँ उन्हें फण पर अंकित वह श्लोक दिखाई दिया। उन्होंने उसे पढ़कर उस पर गहरा विचार किया, उसी समय उनकी शंका निवृत्त हो गई। और संसार के पदार्थों से उनकी उदासीनता बढ़ गई। उन्होंने विचार किया कि आत्महित का साधन वीतराग मुद्रा से ही हो सकता है। और वही आत्मा का सच्चा स्वरूप है। जैनधर्म में पात्र केसरी की आस्था अत्यधिक हो गई। और उन्होंने दिगम्बर मुद्रा धारण कर ली। आत्म-साधना करते हुए उन्होंने विभिन्न देशों में विहार किया और जैनधर्म की प्रभावना की।

पात्रकेसरी दर्शन शास्त्र के प्रौढ़ विद्वान थे। इनकी दो कृतियों का उल्लेख मिलता है। उनमें पहला ग्रन्थ 'त्रिलक्षण कदर्थन' है। जिसे उन्होंने बौद्धाचार्य दिङ्नाग द्वारा प्रस्थापित अनुमान—विषयक हेतु के त्रैरूप्यात्मक लक्षण का खण्डन करने के लिए बनाया था, इससे हेतु के त्रैरूप्य का निरसन हो जाता है। हेतु पक्ष में हो या सपक्ष में हो और विपक्ष में न हो, ये तीन लक्षण बौद्धों ने माने थे। इनके स्थान में 'अन्यथानुपपन्नत्व'—की दूसरे किसी प्रकार से उपपत्ति न होना—यह एक ही लक्षण आचार्य ने स्थिर किया। इसकी मुख्यकारिका उन्हें पद्मावती देवी से प्राप्त हुई थी ऐसी आख्यायिका है। बौद्धाचार्य शान्तरक्षित ने तत्त्व संग्रह (१३६४-७९) में इस कारिका के साथ कुछ अन्यकारिकायें भी पात्रस्वामी के नाम से उद्धृत की हैं। किन्तु मूलग्रंथ 'त्रिलक्षणकदर्थन इस समय अनुपलब्ध है। पर यह ग्रन्थ बौद्ध विद्वान शान्तिरक्षित और कमलशील के समय उपलब्ध था। और अकलंक देवादि के समय भी रहा था। तत्त्व संग्रहकार शान्तिरक्षित ने पृष्ठ ४०४ में खण्डन करने का प्रयत्न किया है। पात्रकेसरी ने उक्त 'त्रिलक्षणकदर्थन' में हेतु के त्रैरूप्य का युक्ति पुरस्सर खण्डन किया था इस कारण यह ग्रंथ एक महत्त्वपूर्ण कृति था।

आपकी दूसरी कृति ५० श्लोकों को लिए हुए एक बहुत छोटी-सी रचना है, जिसका नाम 'जिनेन्द्र गुण संस्तुति' है, और जिसका अपर नाम पात्रकेसरी स्तोत्र प्रसिद्ध है। जो स्तुति ग्रन्थ होते हुए भी एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें वेद का पुरुष कृत होना, जीव का पुनर्जन्म, सर्वज्ञ का अस्तित्व, जीव का कर्तृत्व, क्षणिकवाद निरसन, ईश्वर का निरसन, मुक्ति का स्वरूप, तथा मुनि का सम्पूर्ण अपरिग्रह व्रत इन दश प्रमुख विषयों का विवेचन दार्शनिक दृष्टि से किया गया है। और अर्हन्त के गुणों को अनेक युक्तियों से पुष्ट किया गया है। इस पर एक अज्ञात कर्तृक संस्कृत टीका भी है।

इससे स्पष्ट है कि आचार्य पात्रकेसरी अपने समय के बहुत बड़े विद्वान थे। शिलालेखों में सुमति या सन्मति देव से पहले पात्रस्वामी का नाम आता है। उनका सबसे पुरातन उल्लेख बौद्धाचार्य शान्तिरक्षित का समय (ई० ७०५—७६३) है। और कर्णगोमी का समय ७वीं शताब्दी का उत्तरार्ध और ८वीं का पूर्वार्ध है। अतः पात्रस्वामी का समय बौद्धाचार्य दिग्नाग (ई० ४२५) के बाद और शान्ति रक्षित के मध्य होना चाहिए। अर्थात्

पात्रस्वामी ईसा की छठी शताब्दी के उत्तरार्ध और ७वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के विद्वान होना चाहिए।

अनन्तवीर्य

अनन्तवीर्य (अतिवृद्ध)—इनका उल्लेख अकलंक देव ने तत्त्वार्थवार्तिक पृष्ठ १५४ में वैक्रियिक और आहारक शरीर में भेद बतलाते हुए किया है,—और बतलाया है कि—'वैक्रियिक शरीर का क्वचित प्रतिघात भी देखा जाता है। इसके समर्थन में उन्होंने अनन्तवीर्य यति के द्वारा इन्द्र की शक्ति का प्रतिघात करने की घटना का उल्लेख किया है—

(अनन्त वीर्य यतिना चेन्द्र—वीर्यस्य प्रतिघात श्रुतेः स प्रतिघात सामर्थ्य वैक्रियिकम्।

(तत्त्वा० वा० पृ० १५४)

सम्भवतः इनका समय छठवी-सातवी शताब्दी हो; क्योंकि प्रस्तुत अनन्तवीर्य अकलक देव से तो पूर्ववर्ती हैं ही। अकलंक देव का समय पं० महेन्द्र कुमार जी न्यायाचार्य ने सिद्धि-विनिश्चय की प्रस्तावना में ई० ७२० से ७८० वि० सं० ८३७ सिद्ध किया है। (देखो, उक्त प्रस्तावना)

मानतुंगाचार्य

मानतुंगाचार्य—अपने समय के सुयोग्य विद्वान थे। प्रभावक चरित में इनके सम्बन्ध में लिखा है कि—यह काशी देश के निवासी और धनदेव के पुत्र थे। पहले इन्होंने दिगम्बर मुनि से दीक्षा ली थी, और इनका नाम चारुकीर्ति महाकीर्ति रखा गया। अनन्तर एक श्वेताम्बर सम्प्रदाय की अनुयायिनी श्राविका ने उनके कमण्डलु के जल में त्रस जीव बतलाये, जिससे उन्हें दिगम्बर चर्या से विरक्ति हो गया और जितसिंह नामक श्वेताम्बराचार्य के निकट दीक्षित होकर श्वेताम्बर साधु हो गए। और उसी अवस्था में भक्तामर की रचना की।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने क्रियाकलाप की टीका के अन्तर्गत भक्तामर स्तोत्र टीकाकी उत्थानिका में लिखा है—

मानतुंग नाभा सिताम्बरो महाकविः निर्गन्थाचार्यवर्यैरपनीतमहाव्याधि प्रतिपन्न निर्ग्रन्थ मार्गो भगवन् किं क्रियतामितिब्रुवाणो भगवता परमात्मनो गुणगण स्तोत्रं विधीयतामित्यादिष्टः भक्तामरेत्यादि।"[२]

इसमें कहा गया है कि—मानतुंग श्वेताम्बर महाकवि थे। एक दिगम्बराचार्य ने उनको व्याधि से मुक्त कर दिया, इससे उन्होंने दिगम्बर मार्ग ग्रहण कर लिया और पूछा—भगवन्! अब क्या करूं? आचार्य ने आज्ञा दी कि परमात्मा के गुणों का स्तोत्र बनाओ, फलतः आदेशानुसार भक्तामर स्तोत्र का प्रणयन किया गया।

इस तरह परस्पर में विरोधी आख्यान उपलब्ध होते हैं। यह विरोध सम्प्रदाय व्यामोह का ही परिणाम है, वस्तुतः मानतुग दोनों ही सम्प्रदायों द्वारा मान्य हैं। इनके समय-सम्बन्ध में भी दो विचार धाराएँ प्रचलित हैं—भोजकालीन और हर्षकालीन। किन्तु ऐतिहासिक विद्वान मानतुँग को स्थिति हर्षवर्धन के समय की मानते हैं। डा० ए० बी० कीथ ने मानतुंग को बाण कवि के समकालीन अनुमान किया है।[३] प्रसिद्ध इतिहासज्ञ विद्वान प० नाथूराम प्रेमी ने भी मानतुँग को हर्षकालीन माना है।[४] इस सब कथन पर से भक्तामर' स्तोत्र ७वीं शताब्दी की रचना है।[५]

१. प्रभावक चरित, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद तथा कलकत्ता सन् १९४० मानतुंगसूरि चरितम् पृ० ११२-११७।

२. क्रिया कलाप सं० पन्नालाल सोनी दि० जैन सरस्वती भवन झालरापाटन, वि० स० १९९३ भक्तामर-स्तोत्र की उत्थानिका।

३. ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, लन्दन १९४१ पृ० २१४-१५।

४. भक्तामर स्तोत्र, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, सन् १९१६ पृ० १२।

५. देखो, स्मारिका, भारतीय जैन साहित्य संसद १९६५ ई०, मानतुंग शीर्षक डा० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य का निबन्ध।

मानतुंग सूरि की दो रचनाएं उपलब्ध हैं। भक्तामरस्तोत्र और भयहर स्तोत्र। इनमें से प्रथम रचना संस्कृत के वसन्त तिलका छन्द में रची गई है। इस स्तोत्र में उसका आदि पद 'भक्तामर' होने से इसका यह नाम रूढ़ हो गया है। इसी तरह कल्याण मन्दिर और विषापहार स्तोत्र भी अपने उक्त आदि पद के कारण कल्याण मन्दिर और विषापहार नामों से ख्यात हैं। भक्तामर स्तोत्र में ४८ पद्य हैं। प्रत्येक पद्य में काव्यत्व रहने के कारण ये ४८ पद्य काव्य कहलाते हैं। किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ४४ पद्य ही माने जाते हैं। इसका कारण यह है कि अशोक वृक्ष, सिंहासन, छत्रत्रय और चमर इन चार प्रातिहार्यों के बोधक पद्यों को तो ग्रहण कर लिया है। किन्तु पुष्पवृष्टि, भामण्डल, दुन्दुभि और दिव्यध्वनि इन चार प्रतिहार्यों के ज्ञापक पद्यों को निकाल दिया है। किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय की कुछ पाण्डुलिपियों में श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा निष्कासित और प्रतिहार्य सम्बोधक चार नये पद्य और जोड़ दिये हैं। इस कारण पद्यों की कुल संख्या ५२ हो गई है। जो ठीक नहीं है। वास्तव में इस स्तोत्र में ४८ ही पद्य हैं, जो मुद्रित और हस्तलिखित पाण्डुलिपियों में मिलते हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय में भक्तामर स्तोत्र के पठन-पाठन का खूब प्रचार है। इस स्तवन में आदि ब्रह्मा आदिनाथ की स्तुति की गई है। इसीलिए इसका नाम आदिनाथ स्तोत्र प्रचलित है।

कवि अपनी नम्रता दिखाते हुये कहता है कि—'हे प्रभो! अल्पज्ञ और बहुश्रुतज्ञ विद्वानों द्वारा हंसी का पात्र होने पर ही तुम्हारी भक्ति ही मुझे मुखर बनाती है। वसन्त में कोकिल स्वयं नहीं बोलना चाहती, प्रत्युत आम्रमंजरी ही उसे बलात् कूजने का निमन्त्रण देती है यथा—

अल्प श्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम, त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति तच्चारुचूतकलिकानिकरैक हेतुः।। ६

आगे मानतुंगाचार्य कहते हैं—कि हे जगत के भूषण! हे जीवों के नाथ! आपके यथार्थ गुणों से आपका स्तवन करते हुये भक्त यदि आपके समान हो जाय तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है ऐसा होना ही चाहिये। क्योंकि स्वामी का यह कर्तव्य है कि वह अपने सेवक को समान बना ले। नहीं तो उस स्वामी से क्या लाभ है जो अपने आश्रितों को अपने वैभव में अपने समान नहीं बना लेता।[1]

कवि अपने आराध्य देव की जितेन्द्रियता का चित्रण करते हुए कहता है कि—प्रलयकाल की वायु से बड़े-बड़े पर्वत चलाय मान हो जाते हैं पर सुमेरु पर्वत जरा भी चलायमान नहीं होता। इसी प्रकार देवाँगनाओं के सुन्दर रूप लावण्यको देखकर ऋषि-मुनि देव-दानव आदि के चित्त चलायमान हो जाते हैं, पर आपका चित्त रंचमात्र भी विकार युक्त नहीं होता। अतः आप इन्द्रियविजयी होने से महान् वीर हैं।

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशांगनाभिर्नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम्।
कल्पान्तकालमरुता चलिता चलेन किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित्।। १५

कवि आराध्य देव का महत्त्व ख्यापित करते हुए कहता है कि—जो आपके इस स्तोत्र का पाठ करता है उसके मत्त हाथी, सिंह, वनाग्नि, साँप, युद्ध, समुद्र, जलोदर और बंधन आदि से उत्पन्न हुआ भय नष्ट हो जाता है—आपके भक्त को वध बन्धन जन्य कष्ट नहीं सहन करना पड़ता। बड़ी से बड़ी बेड़ियां और विपत्तियां भी नष्ट हो जाती हैं।

मत्तद्विपेन्द्रमृगराज दवानलाहि संग्राम वारिधि महोदर बन्धनोत्थम्।
तस्याशुनाशमुपयाति भयंभियेव यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते।। ४७

इस स्तोत्र की रचना इतनी लोकप्रिय रही है कि उसके प्रत्येक पद्य के आद्य या अन्तिम चरण को लेकर समस्या पूर्त्यात्मक स्त्रोत रचे जाते रहे हैं। इस स्तोत्र की महत्ता के सम्बन्ध में अनेक कथाएं प्रचलित हैं। और अनेक

१. नात्यद्भुतं भुवन भूषण! भूतनाथ! भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः।
तुल्या भवन्ति भवतोननु तेन किं वा, भूत्याश्रितं यइह नात्मसमं करोति।। ६

पद्यानुवाद हिन्दी में रचे गये हैं। संस्कृत में भी पद्यानुवाद तथा अनेक टीकाएं रची गई हैं। यह प्राचीन महत्त्वपूर्ण स्तोत्र है।

कल्याण मन्दिर स्तोत्र और भक्तामर स्तोत्र इन दोनों स्तोत्रों का तुलनात्मक अध्ययन करने से कल्याण मन्दिर की अपेक्षा भक्तमर स्तोत्र में कल्पनाओं का नवीनीकरण और चमत्कारात्मक शैली पाई जाती है। भक्तामर स्तोत्र में बतलाया है कि—सूर्य तो दूर रहा, जब उसकी प्रभा ही तालाबों में कमलों को विकसित कर देती है उसी प्रकार हे प्रभो ! आपका यह स्तवन तो दूर ही रहे, पर आपके नाम का कथन ही समस्त पापों को दूर कर देता है। जैसा कि उसके निम्न पद्य से स्पष्ट है :—

आस्तां तवस्तवनमस्तसमस्तदोष, त्वत्संकथापि जगतां दुरतानि हन्ति
दूरे सहस्रकिरणः कुरुते, प्रभैव पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि ॥

कल्याण मन्दिर स्तोत्र में बीजरूप उक्त कल्पना का विस्तार पाया जाता है। कवि कहता है कि—जब निदाघ (ग्रीष्मकाल) में कमल से युक्त तालाब की सरसवायु ही तीव्र आतप से संतप्त पथिकों की गर्मी से रक्षा करती है, तब जलाशय की बात ही क्या ? इसी तरह जब आपका नाम ही संसार के ताप को दूर कर सकता है तब आपके स्तवन की सामर्थ्य का क्या कहना ?

आस्तामचिन्त्यमहिमा जिनसंस्तवस्ते नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति ।
तीव्रातपोपहतपान्थजनान्निदाधे प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि ॥ ७

संभव है कवि ने इसे सामने रखकर कल्याण मन्दिर की रचना की हो। यदि यह कल्पना ठीक है तो कल्याण मन्दिर इसके बाद की रचना होगी।

मानतुंग की दूसरी रचना 'भयहर' स्तोत्र है। जो प्राकृत भाषा के २१ पद्यों में रचा गया है और जिसमें भगवान पार्श्वनाथ का स्तवन किया गया है। डा० विण्टरनित्स ने इसका समय ईसा की तीसरी शताब्दी माना है।[१] परन्तु मुनि चतुर विजय ने इनका समय विक्रम की सातवी सदी बतलाया है।[२]

ब्रह्मचारी रायमल्ल कृत 'भक्तामरवृत्ति' में लिखा है—कि मानतुंग ने ४८ सांकलों को तो तोड़कर जैन धर्म की प्रभावना की। तथा राजा भोज को जैन धर्म का श्रद्धालु बनाया।[३] दूसरी कथा भट्टारक विश्वभूषण के भक्तामर चरित में है। इसमें भोज, भर्तृहरि, शुभ्रचन्द्र, कालिदास, धनजय, वररुचि और मानतुंग को समकालीन लिखा है। जो ऐतिहासिक दृष्टि से चिन्तनीय है।[४]

मानतुंग को श्वेताम्बर आख्यानों में पहले दिगम्बर और बाद में श्वेताम्बर बतलाया है। इसी परम्परा के आधार पर दिगम्बर लेखकों ने पहले उन्हें श्वेताम्बर और बाद में दिगम्बर लिखा है। चरित भी १४वीं शताब्दी से पूर्व का मेरे देखने में नहीं आया। ऐसी स्थिति में इस विषय पर विशेष अनुसन्धान की आवश्यकता है। जिससे उसका सही निर्णय किया जा सके। क्योंकि स्तोत्र पुराना और गम्भीर अर्थ का द्योतक है, पर सातवीं शताब्दी का समय 'भयहर स्तोत्र' के कारण बतलाया गया जान पड़ता है।

१ History of Indian Literature Vol II Po. 549

२. जैन स्तोत्र सन्दोह, द्वितीय भाग की प्रस्तावना पृ० १३

३. इसका अनुवाद पं. उदयलाल काशलीवाल द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

४. यह कथा पं. नाथूराम जी प्रेमी द्वारा बम्बई से १९१६ में प्रकाशित भक्तामर स्तोत्र की भूमिका में लिखी है

जटासिंह नन्दी

सिंह नन्दी नाम के अनेक विद्वान हो गये हैं। उनमें वे सिंहनन्दो सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। जिनका उल्लेख बाद के शिलालेखों में मिलता है और जिनका कर्नाटक की इतिहास परम्परा के साथ घनिष्ट सम्बन्ध पाया जाता है। जिन्होंने ईसा की दूसरी शताब्दी में गंगवश की नींव डालने में दो अनाथ राजकुमारों की सहायता की थी।

एक सिंहनन्दि की समाधि का उल्लेख श्रवण वेलगोल के शिलालेख में उत्कीर्ण है, जो शक सं० ६२२ ई० सन् ७०० के लगभग हुए हैं। पर इन दो सिंहनन्दियों और अन्य पश्चाद्वर्ती सिंह नन्दियों से प्रस्तुत सिंहनन्दी भिन्न विद्वान ही जान पड़ते हैं। क्योंकि उनके साथ 'जटा' विशेषण लगा होने के कारण वे इनसे बिल्कुल जुदे हैं। यह कर्नाटक के आदिवासी थे। पर वे कर्नाटक में किस प्रान्त के अधिवासी थे। यह कुछ ज्ञात नहीं हुआ। आचार्य जिनसेन ने उनका स्मरण करते हुए लिखा है कि—जिनकी जटारूप प्रबल युक्तिपूर्ण वृत्तियां-टीकायें काव्यों के अनुचिन्तन में ऐसी शोभायमान होती थीं, मानों हमें उन काव्यों का अर्थ ही बतला रही हों। ऐसे वे जटासिंह नन्दी आचार्य हम लोगों की रक्षा करें।[1] आदिपुराणकार ने उनका केवल स्मरण ही नहीं किया किन्तु उनके वरांगचरित से भी कुछ सामग्री ली है।

जिस प्रकार उत्तम स्त्री अपने हस्त-मुख पाद आदि अंगों के द्वारा अपने आपके विषय में अनुसरण उत्पन्न करती रहती है उसी प्रकार वरांगचरित की अर्थपूर्ण वाणी भी अपने समस्त छन्द, अलंकार रीति आदि अंगों से अपने आपके विषय में किस मनुष्य के गाढ़ अनुराग को उत्पन्न नहीं करती।[2]

कवि की एकमात्र कृति वरांगचरित उपलब्ध है,, कर्ता ने उसे चतुर्वर्ग समन्वित सरल शब्द और अर्थ गुम्फित धर्म कथा कहा है।[3]

यह एक सुन्दर काव्य-ग्रन्थ है, ग्रन्थ में ३१ सर्ग हैं और श्लोकों की संख्या १८०५ है। (रचना प्रसाद गुण से युक्त है इस काव्य में तीर्थंकर नेमिनाथ तथा कृष्ण के समकालिक 'वरांग' नामक पुण्य पुरुष की कथा का अंकन किया गया है। काव्य में नगर, ऋतु, उत्सव, क्रीड़ा, रति, विप्रलम्भ, विवाह, जन्म, राज्याभिषेक युद्ध, विजय आदि का वर्णन महाकाव्य के समान किया है। कथा का नायक धीरोदत्त है। तत्त्व निरूपण और जैन सिद्धान्त के विभिन्न विषयों का प्रतिपादन इतना अधिक किया गया है कि उससे पाठक का मन ऊब जाता है। कवि ने काव्य को सर्वांग सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया है। रस और अलंकारों की पुट ने उसे अत्यन्त सरस बना दिया है। कवि ने तेरहवें सर्ग में बीभत्स रस का और चोदहवें सर्ग में वीर रस का सुन्दर एव सांगोपांग वर्णन किया है। २३वें सर्ग में जिन मन्दिर और जिन बिम्ब निर्माण, पूजा और प्रतिमा स्थापना, पूजा का फल और दानादि का वर्णन किया है। २५वें, २६वे सर्ग का मुख्य कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। कवि पर अश्वघोष की रचनाओं का प्रभाव-सा दृष्टिगोचर होता है। वरांगचरित में दक्षिण भारत की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति का अच्छा चित्रण किया गया है। और जैनेतर देवी-देवताओं, वेदों के याज्ञिक धर्म की और पुरोहितों के विधि विधान की खूब खबर ली है। राजाओं पर उनका क्रोध कुछ प्रभाव अंकित नहीं करता। जैन मंदिरों, मूर्तियों और जैन महोत्सवों का भी अच्छा चित्रण किया है।

इस काव्य में वसन्ततिलका, पुष्पिताग्रा, प्रहर्षिणी, मालिनी, भुजंगप्रयात, वंशस्थ, अनुष्टुप, माल-

१. काव्यानुचिन्तने यस्य जटाः प्रबलवृत्तयः।
अर्थात् स्मानुवदन्तीय जटाचार्यः स नोऽवदात्॥ (आदि पु० १-५०)

२. वरांगेणेव सर्वाङ्गैर्वरांग चरितार्थवाक्।
कस्यनोत्पादयेद गाढमनुराग स्वगोचरम्॥

हरिवंशपुराण १-३५

३. काव्यके प्रत्येक सर्ग की पुष्पिका—इति धर्म कथोद्देशे चतुर्वर्ग समन्विते, स्फुट शब्दार्थ संदर्भ वरांग चरिताश्रिते।

भारिणी, और द्रुतविलम्बित आदि छन्दों का प्रयोग किया है। कवि को उपजाति छन्द अधिक प्रिय रहा है। इस काव्य के प्रारम्भिक तीन सर्ग बहुत ही सरस हैं।

रचना स्थल और रचना काल

निजाम स्टेट का कोप्पल ग्राम जिसे कोपण भी कहा जाता है, जैन संस्कृति का केन्द्र था। मध्यकालीन भारत के जैनों में इसकी अच्छी ख्याति थी। और आज भी यह स्थान पुरातत्त्वविदों का स्नेहभाजन बना हुआ है। इसके निकट पल्लन को गुण्डु नाम की पहाड़ी पर अशोक के शिलालेख के समीप में दो पद चिन्ह अंकित हैं। उनके नीचे पुरानी कनडी भाषा में दो लाइन का एक शिलालेख है। जिसमें लिखा है कि 'चावय्य ने जटासिंह नन्द्याचार्य के पदचिन्हों को तैयार कराया था।'[1] किसी महान व्यक्ति की स्मृति में उस स्थान पर जहां किसी साधु वगैरह ने समाधिमरण किया हो। पद चिन्ह स्थापित करने का रिवाज जैनियों में प्रचलित है।

कुवलय माला के कर्ता उद्योतन सूरि (७७८ ई०) ने और पुन्नाट संघी जिनसेन (शक सं० ७०५) ने वि० सं० ८४० के जटिल कवि का और उनके ग्रन्थ का उल्लेख किया है। ९७८ ई० में चामुण्डराय ने भी उल्लेख किया है। और ईसा की ११वीं शताब्दी के कवि धविल ने जटिल मुनि और वरांगचरित का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त पम्प (९४१ ई०) ने, नयसेन (१११२ ई०) पार्श्व पंडित (१२०५ ई०) जनाचार्य (१२०९ ई०), गुणवर्म (१२३० ई०) पुष्पदन्त पुराण के कर्ता कमलभव (१२३५ ई०) और महाबल (१२४५) ई० आदि ग्रन्थकारों ने अपने अपने ग्रन्थों में जटिल कवि और वरांगचरित का उल्लेख किया है इससे कवि की महत्ता का सहज ही पता चल जाता है। साथ ही इन सब उल्लेखों से उनके समय पर भी प्रकाश पड़ता है।

डा० ए० एन० उपाध्याय ने वरांगचरित की प्रस्तावना में जटासिंह नन्दि का समय ईसा की सातवीं शताब्दी का अन्त निर्धारित किया है, क्योंकि शकसं० ७०५ में हरिवंश पुराणकार ने उसका उल्लेख किया है।

शुभनन्दी-रविनन्दी

शुभनन्दी-रविनन्दी नामक दोनों मुनि अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि मुनि और सिद्धांत शास्त्र के परिज्ञानी थे। बप्पदेव गुरु ने समस्त सिद्धान्त का विशेष रूप से अध्ययन किया था। यह व्याख्यान भीमरथि और कृष्ण मेख नदियों के बीच प्रदेश उत्कलिका ग्राम के समीप मगणवल्ली ग्राम में हुआ था। भीमरथि कृष्णानदी की शाखा है और इनके बीच का प्रदेश अब बेलगांव व धारवाड कहलाता है। वहीं बप्पदेव गुरु का सिद्धान्त अध्ययन हुआ होगा। इस अध्ययन के पश्चात् उन्होंने महाबंध को छोड़ कर शेष पांच खण्डों पर व्याख्याप्रज्ञप्ति नाम की टीका लिखी। पश्चात् उन्होंने छठे खण्ड की संक्षिप्त व्याख्या भी लिखी।[2] वीरसेनाचार्य ने बप्पदेव की व्याख्या प्रज्ञप्ति को देखकर

१. जटासिंह नन्दि आचार्य रदव
चावय्यं माडिसिदो।
हैदराबाद आरक्योलाजिकल सीरीज सं० १२ (सन् १९३५) में सी. आर कृष्णन् चारलू लिखित कोपवल्ल के कन्नड़ शिलालेख।

२. एवं व्याख्यान क्रममवाप्तवान् परमगुरु परम्परया।
आगच्छन् सिद्धान्तो द्विविधोऽप्यति निशितबुद्धिभ्याम्। १७१
शुभ-रवि-नन्दि मुनिभ्यां भीमरथि-कृष्णमेखयोः सरितोः।
मध्यमविषयेरमणीयो त्कलिकाग्राम सामीप्य ॥१७२

ही धवलाटीका का लिखना प्रारम्भ किया था। जयधवला कार ने एक स्थान पर बप्पदेव का नाम लेकर अपने और उनके मध्य के मतभेद को बतलाया है :—

चुण्णि सुत्तम्मि बप्पदेवा इरिय लिहिदुच्चारणाए अंतोमुहुत्त मिदि भणिदो।
अम्हेहि लिहिदुच्चारणाए पुण जहण्ण एगसमयो, उ० संखेज्जा समयात्ति परूविदो (जयध० १८५)

धवला में व्याख्या प्रज्ञप्ति के दो उल्लेख निम्न प्रकार से उपलब्ध होते हैं। "लोगोवाद पदिट्ठिदोत्ति वियाह पण्णत्ति वयणादो" टीकाकार ने इस अवतरण से अपने अभिमत को पुष्ट किया है। धवला १४३

एक स्थान पर धवलाकार ने उससे अपने मत का विरोध दिखलाया है—

एदेण वियाह पण्णत्ति सुत्तेण सह कधं ण विरोहो? ण एदम्हादो तस्स पुधसुदस्स आयरियभेएण भेदमावण्णस्स एयत्ताभावादो॥"

(धवला ८०८)

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि बप्पदेव और उनकी टीका व्याख्या प्रज्ञप्ति का अस्तित्व स्पष्ट है। ठीका की भाषा प्राकृत थी। बप्पदेव ने अपने समय का कोई उल्लेख नहीं किया। खेद है कि ग्रन्थ अनुपलब्ध है। फिर भी अनुमान से डा० हीरालाल जी ने बप्पदेव का समय विक्रम की छठवीं शताब्दी बतलाया है[२]। धवलाटीका से तो वह पूर्ववर्ती है ही। संभव है, वह सातवीं शताब्दी की रचना हो।

महाकवि धनंजय

महाकवि धनंजय—वासुदेव और श्रीदेवी के पुत्र थे। उनके गुरु का नाम दशरथ था।[3] ये दशरूपक के लेखक से भिन्न हैं। ये गृहस्थ कवि थे। इनकी कविता में वैशिष्ट्य है। द्विसन्धान काव्य बनाने के कारण ये द्विसन्धान कवि कहलाते हैं। इस द्विसन्धान काव्य को राघव पाण्डवीय काव्य भी कहा जाता है क्योंकि इसमें रामायण और महाभारत की दो कथाओं का कथन निहित है।

भोज (११वीं शती ईसवी के मध्य) के अनुसार द्विसन्धान उभयालंकार के कारण होता है। यह तीन प्रकार का है—वाक्य प्रकरण तथा प्रबन्ध। प्रथम वाक्यगत श्लेष है, द्वितीय अनेकार्थ स्थिति है, तीसरा राघव पाण्डवीय की तरह पूरा काव्य दो कथाओं का कहने वाला है।

विख्यात मगणवल्ली ग्रामेऽथ विशेष रूपेण।
श्रुत्वा तयोश्च पार्श्वे तमशेषं बप्पदेवगुरुः। १७३
अपनीय महाबन्धं षट्खण्डाच्छेष पंच खंडे तु।
व्याख्या प्रज्ञप्ति च षष्ठं खंडं च ततः संक्षिप्य॥ १७४
षण्णां खंडानामिति निष्पन्नानां तथा कषायाख्य—
प्राभृतकस्य च षष्टि सहस्रग्रन्थप्रमाणयुताम्॥१७५
व्यालिख त्प्राकृतभाषारूपां सम्यक्त्वपुरातन व्याख्याम्।
अष्टसहस्र ग्रंथां व्याख्यां पञ्चाधिकां महाबन्धे॥१७६

२. देखो, षट्खंडागम धवला० पु० १ प्रस्तावना पृ० ५३

३. नीत्वा यो गुरुणादिशो दशरथे नोपात्तवान्नन्दनः।
श्रीदेव्या वसुदेवतः प्रतिजगन्न्यायस्य मार्गे स्थितः।
तस्य स्थायि धनंजयस्य कृतितः प्रादुष्य दुच्चैर्यशो,
गाम्भीर्यादि गुणापनोदविधिनेवाम्भो निधीँल्लङ्घते॥१४६॥

धनंजय कविका द्विसन्धान काव्य संस्कृत साहित्य में उपलब्ध द्विसन्धान काव्यों में प्राचीन और महत्वपूर्ण काव्य है। इसके प्रत्येक पद्य दो अर्थों को प्रस्तुत करते हैं। पहला अर्थ रामायण से सम्बद्ध है और दूसरा अर्थ महाभारत से। इसी कारण इसे राघव पाण्डवीय भी कहा जाता है। ग्रन्थ में १८ सर्ग और आठ सौ श्लोक हैं। यह इन्द्रवज्रा, उपजाति, द्रुतविलम्बित, पुष्पिताग्रा, मालिनी, मन्दाक्रान्ता, रथोद्धता, वसन्ततिलका और शिखरिणी आदि विविध छन्दों में रचा गया है। ग्रन्थगत कथानक संक्षिप्त और सुरुचिपूर्ण है। इस ग्रन्थ पर दो टीकाएँ उपलब्ध हैं जिनमें एक का नाम 'पदकौमुदी' है जिसके कर्ता नेमिचन्द्र हैं, जो पद्मनन्दि के प्रशिष्य और विनयचन्द्र के शिष्य थे। दूसरी टीका राघव पाण्डवीय प्रकाशिका है, जिसके कर्ता परवादि घरट् रामभट्ट के पुत्र कवि देवर हैं। दोनों टीकाएं आरा जैन सिद्धान्त भवन में मौजूद हैं।

काव्य मीमांसा के कर्ता राजशेखर ने धनंजय कवि की बड़ी प्रशंसा की हैं।[2] राजशेखर प्रतिहार राजा महेन्द्रपाल के उपाध्याय थे।

वादिराज ने १०२५ ई० में लिखे गये अपने पार्श्वनाथ चरित्र में धनंजय तथा एक से अधिक सन्धान में उनकी प्रवीणता का उल्लेख किया है :—

अनेक भेदसंधाना खनन्तो हृदये मुहुः।
बाणा धनंजयोन्मुक्ताः कर्णस्येव प्रियाः कथम् ॥

कवि की दूसरी कृति 'धनंजय' नाममाला नाम का छोटा-सा दो सौ पद्यों का एक बहुत ही महत्वपूर्ण शब्द कोष है[1] इसके साथ में ४६ पद्यों की एक अनेकार्थ नाममाला भी जुड़ी हुई है। कोष में १७०० शब्दों के अर्थ दिये गये हैं। इस छोटे से कोष में संस्कृत भाषा की आवश्यक पदावली का चयन किया गया है। कोष की सबसे बड़ी विशेषता शब्द से शब्दान्तर बनाने की प्रक्रिया है जो अन्यत्र देखने में नहीं आई। जैसे पृथ्वी के आगे 'धर' शब्द जोड़ देने से पर्वत के नाम हो जाते हैं। और राजा के नामों के आगे 'रुह' शब्द जोड़ने मे वृक्ष के नाम हो जाते हैं। इस पर अमरकीर्ति त्रैविद्य का नाम माला भाष्य है, जो भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हो चुका है।

इनकी तीसरी कृति 'विषापहार स्तोत्र' है जो ३९ इन्द्रवजा वृत्तों का स्तुति ग्रन्थ है। इसमें आदि ब्रह्मा ऋषभदेव का स्तवन किया गया है। यह स्तवन अपनी प्रौढता, गम्भीरता और अनूठी उक्तियों के लिये प्रसिद्ध है। इस पर अनेक संस्कृत टीकाएं मिलती हैं, जिनमें सोलहवों शताब्दी के विद्वान पार्श्वनाथ के पुत्र नागचन्द्र की है, दूसरी टीका चन्द्रकीर्ति की है।

अगाधताब्धेः स यतः पयोधिर्मेरोश्च तुङ्गाः प्रकृतिः स यत्र।
द्यावा पृथिव्योः पृथुता तथैव, व्यापत्वदीया भुवनान्तराणि ॥

इस पद्य में कवि ने ऋषभ देव की गम्भीरता समुद्र के समान, उन्नत प्रकृति मेरु के समान और विशालता आकाश-पृथ्वी के समान बतलाकर उनकी लोकोत्तर महिमा का चित्रण किया है।

१९वें पद्य में कवि ने भगवान की तुङ्ग प्रकृति का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। और आराध्य देव के औदार्य गुण का विश्लेषण करते हुए कवि कहता है कि हे प्रभो ! आप भक्तों को सभी पदार्थ प्रदान करते हैं। उदार चित्तवाले दरिद्र मनुष्य से भी जो फल प्राप्त होता है, वह सम्पत्ति शाली कृपण धनाढ्यों से नहीं। क्योंकि पानी से शून्य

१. द्विसन्धाने निपुणतां सतां चक्रे धनंजयः।
यया जातं फलं तस्य सतां चक्रे धनंजयः ॥
—राजशेखर

२. कवेर्धनं जयस्येयं सत्कवीनां शिरोमणेः।
प्रमाण नाममालेति श्लोकानामिह शतद्वयम् ॥२०२॥

रहने पर भी पर्वत से नदियाँ प्रवाहित होती हैं। परन्तु जल से लबालब भरे हुए समुद्र से एक भी नदी नहीं निकलती

तुंगात् फलं यत्तदकिंचनाच्च, प्राप्यं समृद्धान्न धनेश्वरादेः।
निरम्भसोऽप्युच्चतमादिवाद्रे नैकाऽपि निर्याति धुनी पयोधेः ॥१९॥

इस तरह स्तुति कर कवि दीनता से वर की याचना नहीं करता। क्योंकि भगवान उपेक्षक हैं, राग द्वेष से रहित हैं। वृक्ष का आश्रय करने वालों को स्वयं छाया प्राप्त होती है। छाया की याचना करने से क्या लाभ। यदि देने की आप की इच्छा ही हो तो मैं आपसे यही चाहता हूँ कि आप में मेरी भक्ति बनी रहे। मुझे विश्वास है कि आप इतनी कृपा अवश्य करेंगे; क्योंकि विद्वान पुरुष अपने आश्रितों की इच्छाओं को पूर्ण करते ही हैं।

इति स्तुतिं देव विधाय दैन्याद्वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि।
छायातरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्कश्छायया याचितयात्मलाभः ॥३८॥
अथास्ति दित्सा यदि वोपरोधस्त्वय्येव सक्तां दिश भक्तिबुद्धिम्।
करिष्यते देव तथा कृपां मे को वात्मपोष्ये सुमुखो न सूरिः ॥३९॥

समय—

नाममाला के अन्त में एक पद्य मिलता है जिसमें अकलंक देव का प्रमाण शास्त्र, पूज्यपाद या देवनन्दि का लक्षण शास्त्र (व्याकरण) और धनंजय कवि का काव्य द्विसन्धान, ये तीन अपश्चिम रत्न हैं। यह श्लोक धनंजय द्वारा रचा नहीं जान पड़ता।

उससे इसकी महत्ता का भान होता है। चूँकि राजशेखर प्रतीहार राजा महेन्द्रपाल देव के उपाध्याय थे। महेन्द्रपाल का समय वि० सं० ९६० के लगभग है। अतः धनंजय ९६० से पूर्ववर्ती हैं। वीरसेनाचार्य ने अपनी धवला टीका शक सं० ७३८ में समाप्त की है। उसकी जिल्द, ६ पृ० १४ में इति शब्द की व्याख्या में धनंजय की अनेकार्थ नाममाला का ३९वां पद्य उद्धृत किया है :—

हेता वेवम्प्रकारादौ व्यवच्छेदे विपर्यये।
प्रादुर्भावे समाप्ते च इति शब्दं विदुर्बुधाः ॥

इससे धनंजय कवि का समय ८०० ईसवी निर्धारित किया जा सकता है।

सुमति (सन्मति)

सुमतिदेव (सन्मति) अपने समय के प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य थे। आठवीं शताब्दी के बौद्ध विद्वान शान्तरक्षित ने 'तत्त्वसंग्रह' में 'स्याद्वादपरीक्षा (कारिका १२६२ आदि) और बहिरर्थ परीक्षा (कारिका १९४० आदि) में सुमति नामक दिगम्बराचार्य के मत की समालोचना की है १। इनके दो ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। वादिराज सूरि ने पार्श्वनाथ चरित के प्रारम्भ में कवियों का स्मरण करते हुए लिखा है कि—

नमः सन्मतये तस्मै भवकूपनिपातिनाम्।
सन्मति विवृता येन सुखधाम प्रवेशिनी ॥२२॥

उन सन्मति (आचार्य और भगवान महावीर) को नमस्कार हो जिन्होंने भवकूप में पड़े हुए लोगों के लिये सुखधाम में पहुंचाने वाली सन्मति को विवृत किया—सन्मति की वृत्ति या टीका लिखी।

दूसरा उल्लेख श्रवण बेलगोल की मल्लिषेण प्रशस्ति में 'सुमति देव' नामक विद्वान का उल्लेख है जिन्होंने 'सुमति सप्तक' नाम का ग्रन्थ बनाया था—

"सुमति देव ममुं स्तुतयेन वस्सुमतिसप्तकमाप्तनयाकृतं।
परिहृता पथतत्त्वपथार्थिनां सुमति कोटिविवर्तिभवार्तिहृत् ॥"

ये सुमति और सन्मति एक ही हे। वादिराज ने 'सन्मति' की टीका के कर्ता का नाम 'सुमति' के स्थान में सन्मति इस कारण दिया होगा क्योंकि यह नाम उन्हे आकर्षक लगा होगा, ।

तत्त्व सग्रह के टीकाकार कमलशील ने पृ० ३८२ मे निम्न पंक्तिया दी हे :—

"तत्र सुमतिः कुमारिलाद्यभिमतालोचनामात्र प्रत्यक्ष विचारणार्थमाह"—सुमति देव ने कुमारिल के आलोचना मात्र प्रत्यक्ष का निराकरण किया हे। इससे सुमति देव का समय कुमारिल क बाद होना चाहिये। डा० भट्टाचार्य ने सुमति का समय सन् ७२० के आस-पास का निर्धारित किया हे ।

कर्कराज सुवर्ण के दान पत्र (तामपत्र) मे मल्लवादी के शिष्य सुमति और सुमति के शिष्य अपराजित का उल्लेख है, जो मूलसघ के सेनान्वय के थे। शक स० ७४३ (वि० स० ८७८) मे अपराजित को नवसारी की एक जैन सस्था के लिये यह दान दिया गया था। सभव है यही सुमति सन्मति-टीका के कर्ता हो ऐसा प्रेमी जी ने जैन साहित्य और इतिहास के पृष्ठ ४१९ मे लिखा हे। पर मेरी राय मे अपराजित के गुरु सुमति देव से शान्तरक्षित द्वारा आलोचित सुमति देव भिन्न ही है। क्योकि शान्त रक्षित का समय सन् ७०५ से ७६२ तक माना जाता हे। इन्होने सन् ७४३ मे तिब्बत की यात्रा की थी। इसके पूर्व ही वे अपना तत्त्व सग्रह बना चुके होगे। यदि यह विचार सही है तो दोनो सुमति देव एक नही हो सकते। तत्त्व सग्रह में उल्लिखित सुमति पूर्ववर्ती है और अपराजित के गुरु सुमति देव का समय सन् ८५३ के लगभग होता है ।

सुमति देव

सुमति देव—यह मूल सघ सेनान्वय के विद्वान मल्लवादि के शिष्य थे। सुमति देव के शिष्य अपराजित थे। जिन्हे शक स० ७४३ (वि० स० ८८७) मे नवसारी जि० सूरत के जैन मन्दिर के लिये एक जमीन दान की गई थी। अतएव सुमति देव का समय अपराजित के समय मे २५ वर्ष कम, वि० स० ८५३ होना चाहिये। अर्थात् प्रस्तुत सुमति देव ९वी शताब्दी के विद्वान जान पड़ते है।

कुमारसेन

इनका स्मरण पुन्नाटसंघीय जिनसेन ने (शक स० ७०५ ई० ७८३) हरिवंशपुराण में निम्न शब्दो में किया है ।

आकूपारं यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वलम् ।
गुरोः कुमारसेनस्य विचरत्यजितात्मकम् ।।

चन्द्रोदय के रचयिता प्रभाचन्द्र के आप गुरू थे। आपका निर्मल सुयश समुद्रान्त विचरण करता था। चामुण्डराय पुराण के १५वे पद्य मे भी इनका स्मरण किया गया है। डा० ए० एन उपाध्याय ने लिखा है कि ये मूल गुण्ड नामक स्थान पर आत्म त्याग को स्वीकार करके कोपणाद्रि पर ध्यानस्थ हो गये तथा समाधि पूर्वक मरण किया।

आचार्य विद्यानन्द ने अपनी अष्ट सहस्त्री की अन्तिम प्रशस्ति के दूसरे पद्य में अष्टसहस्त्री को कष्ट सहस्त्री बतलाते हुए कुमार सेन की उक्तियो से अष्ट सहस्त्री को प्रवर्धमान बतलाया है[1]। इससे स्पष्ट है कि कुमार

---

१. कष्ट सहस्त्री सिद्धा साष्ट सहस्रीयमत्र मे पुष्यात् ।
शश्वदभीष्ट सहस्त्री कुमारसेनोक्ति वर्धमानार्था ।।२।।

सेन विद्यानन्द से भी पूर्ववर्ती हैं। संभवतः उनका कोई दार्शनिक ग्रंथ रहा है जिसकी उक्तियों से उन्होंने उक्त ग्रंथ को वर्धमान बतलाया है।

मल्लिषेण प्रशस्ति में अकलंक से पहले और सुमति देव के बाद कुमार सेन का उल्लेख किया गया है—

उदेत्य सम्यग्दिशि दक्षिणस्यां कुमारसेनो मुनिरस्तमापत्।
तत्रैव चित्रं जगदेकभानोस्तिष्ठत्यसौ तस्य तथा प्रकाशः।।१४।।

डा० महेन्द्र कुमार जी ने कुमार सेन का समय ई० ७२०—से ८०० तक बतलाया है। चूंकि कुमारसेन का स्मरण पुन्नाट संघीय जिनसेन ने किया है जिनका समय शक सं० ७०५ ई० सन् ७८३ है। इससे कुमारसेन सन् ७८३ से पूर्ववर्ती हैं।

कवि परमेश्वर (कवि परमेष्ठी)

आचार्य जिन सेन ने इन्हें (कवि परमेश्वर को) कवियों द्वारा पूज्य तथा कवि परमेश्वर प्रकट करते हुए उन्हें शब्द और अर्थ के संग्रह रूप (वागर्थसंग्रह) पुराण का कर्ता बतलाया है[1]। और जिनसेन के शिष्य गुणभद्र ने उक्त वागर्थसंग्रह पुराण को गद्यकथामात्र, सभी छन्द और अलंकार का लक्ष्य, सूक्ष्म अर्थ और गूढ़ पद रचना वाला बतलाया है[2]। चामुण्डराय ने अपने पुराण में कवि परमेश्वर के अनेक पद्य उद्धृत किये हैं जिससे डा० ए० एन० उपाध्ये एम० ए० डीलिट् कोल्हापुर ने उसे गद्य-पद्यमय चम्पू होने का अनुमान किया है[3]। यह अनुमान प्रायः ठीक जान पड़ता है। जिनसेन और गुणभद्र ने उसका आश्रय जरूर लिया होगा। कवि परमेश्वर का आदि पंप, अभिनव पंप, नयसेन, अग्गल देव और कमलभव आदि अनेक विद्वानों ने आदर के साथ स्मरण किया है, जिससे वे बड़े विद्वान जान पड़ते हैं। परन्तु उनकी गुरु परम्परा और गण-गच्छादि का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं हुआ। इस कारण उनका निश्चित समय बतलाना शक्य नहीं है, किन्तु इतना अवश्य है कि वे आदि पुराणकार जिनसेन से पूर्ववर्ती हैं। संभवतः उनका समय वि० की ८वीं शताब्दी जान पड़ता है।

काणभिक्षु

काणभिक्षु—कथालंकारात्मक ग्रन्थ के रचयिता थे। आचार्य जिनसेन ने इनके ग्रन्थ का उल्लेख करते हुए लिखा है कि—धर्मरूप सूत्र में पिरोये हुए जिनके मनोहर वचन रूप निर्मल मणि कथा शास्त्र के अलकार बन गये। उन काणभिक्षु की जय हो।

"धर्मसूत्रानुगा हृद्या यस्य वाङ्मणयोऽमलाः।
कथालंकारतां भेजुः काणभिक्षुर्जयत्यसौ।।" (आदि पुराण १-५-५१)

१. स पूज्यः कविभिर्लोके कवीनां परमेश्वरः।
वागर्थसंग्रह कृत्स्नं पुराणं यः समग्रहीत्।।आदि पु० १,६०

२. कविपरमेश्वर निगदित गद्यकथामातृकं पुरोश्चरितम्।
सकलच्छन्दोलंकृति लक्ष्यं सूक्ष्मार्थगूढ पद रचनम्।।
—उत्तर पुराण प्रश० १७

३. देखो, जैनसिद्धान्त भास्कर भा. १३ किरण २

इससे स्पष्ट जाना जाता है कि काणभिक्षु ने किसी कथा ग्रन्थ अथवा पुराण की रचना की थी। खेद है कि वह अपूर्व ग्रन्थ इस समय अनुपलब्ध है।

इनकी गुरु परम्परा भी अज्ञात है। इनका समय जिनसेनाचार्य से पूर्ववर्ती है, क्योंकि उन्होंने इनका स्मरण किया है। गंगराज के महामात्य चामुंडराय ने भी अपने पुराण में इनका स्मरण किया है। काणभिक्षु कथा ग्रन्थ के कर्ता हैं। इनका समय वि० की ८वीं शताब्दी होना चाहिये।

चउमुह (चतुर्मुख)

ये अपभ्रंश भाषा के प्रसिद्ध कवि थे। इनकी तीन कृतियां थी, पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ और पंचमी चरिउ। परन्तु खेद हैं कि उनमें से एक भी कृति उपलब्ध नहीं है। अपभ्रंश भाषा के कवि धवल ने अपने हरिवंश पुराण में, जो अभी अप्रकाशित है, चउमुह की 'हरि पाण्डवानां कथा' का उल्लेख किया है :—

हरिपंडुवांण कहा चउमुह-वासेहि भासियं जम्हा।
तहविरयमि लोयपिया जेण ण णासेइ दंसणं पउरं॥

इस पद्य में 'चउमुह वासेहि' (चतुर्मुखव्या) पद श्लिस्ट है। पउमचरिउ के प्रारम्भ के चौथे पद्य में कहा है कि स्वयंभू की जलक्रीड़ा वर्णन में, और चतुर्मुख देव को गोग्रह कथा वर्णन में आज भी कोई कवि नहीं पा सकता। हरिवंश में गो ग्रह कथा का वर्णन है।[1] स्वयंभू छन्द में चउमुह के पद्य उदाहरण स्वरूप उद्धृत हैं। उनमें से ४, २, ६, ८३, १९२ पद्यों से ज्ञात होता है; कि उनका पउमचरिउ भी उनके सामने रहा होगा। क्योंकि उसमें रामकथा के वर्णन का प्रसंग है। इसके अतिरिक्त हरिवंश और पंचमीचरिउ वे दोनों कृतियां भी चउमुह की थीं। किन्तु वे अब उपलब्ध नहीं हैं। कवि का समय विक्रम की आठवीं शताब्दी है। यह स्वयभूदेव से पहले हुए हैं। क्योंकि स्वयंभू और त्रिभुवन स्वयंभू ने उनकी रचना का उल्लेख किया है। हरिषेण (वि० सं० १०४४) ने अपनी धर्म परीक्षा में, और वीर कवि ने (१०७६) जम्बूस्वामी चरित में चउमुह का स्मरण किया है। अतः वे स्वयंभू, त्रिभुवन स्वयंभू आदि से पूर्ववर्ती हैं। उनका समय वही आठवीं शताब्दी है, जिसका ऊपर निर्देश किया गया है।

अकलङ्कदेव

इत्थं समस्त मतवादि करीन्द्रदर्पमुन्मूल यन्नमलमानदृढ़प्रहारैः।
स्याद्वादकेसरसटाशततीव्रमूर्तिः पञ्चाननो जयत्यकलङ्कदेवः॥

—न्या० कु० पृ० ६०४

मेनाशेषकुतर्क विभ्रमतमो निर्मूलमुन्मीलितम्,
स्फारागाध कुनीति सार्थ सरितो निःशेषतः शोषिताः।
स्याद्वादा प्रतिमप्रभूतकिरणैः व्याप्तं जगत् सर्वतः,
स श्रीमानकलङ्कभानुरसमो जीयाज्जिनेन्द्रः प्रभुः॥

—न्या० कु० पृ० ४७२

तर्कभूवल्लभो देवः स जयत्यकलङ्क धीः।
जगद् द्रव्यमुषो येन दण्डिताः शाक्यदस्यवः॥

—वादिराज पा० च०

---

१. चउमुह एव च गोग्गह कहाए। पउमचरिउ, स्वयम्भूदेव।

अकलंकदेव प्रतिभा सम्पन्न महान् वादी, ग्रन्थकार और युगप्रवर्तक विद्वान् आचार्य थे। शिलालेखों में उनका गुणगान उनके निर्मल व्यक्तित्व का संद्योतक है। शिलावाक्यों में उन्हें तर्कभूवल्लभ, महर्धिक, समस्तवादि-करीन्द्र दर्पोन्मूलक, अकलङ्कधी, बौद्ध बुद्धि वैधव्यदीक्षागुरु, स्याद्वादकेसरसटा शततीव्रमूर्तिपञ्चानन, अशेष कुतर्क विभ्रमतयो निर्मूलोन्मूलक, अकलङ्कभानु, अचिन्त्य महिमा, और सकल तार्किकचक्र चूड़ामणि मरीचि मेचकित नख-किरण आदि महान् विशेषणों से विभूषित किया है। यह जैन न्याय या दर्शन के उन प्रतिष्ठापक विद्वानों में से हैं। जिन्होंने दार्शनिक क्रान्ति के समय समन्तभद्र और सिद्धसेन के वांङ्मय से प्राप्त भूमिका या आगम की परिभाषाओं को दार्शनिक रूप देकर अकलंक न्याय का प्रतिष्ठापन किया है। ये जैन दर्शन के तलदृष्टा और भारतीय दर्शनों के प्रकाण्ड पंडित थे। बौद्ध साहित्य में धर्मकीर्ति का जो महत्त्व है, दार्शनिक क्षेत्र में अकलंकदेव का उससे कम महत्व नहीं है। दार्शनिक युग में विभिन्न धर्म संस्थापकों ने अपने अपने धर्म का समुद्योत किया है। बौद्ध विद्वान धर्मकीर्ति, भट्ट कुमारिल्ल, प्रभाकर मिश्र, उद्योतकर और व्योमशिव आदि दार्शनिक विद्वानों का लोक में जो विशिष्ट स्थान था, वही स्थान जैन सम्प्रदाय में अकलंक देव का था। उनका व्यक्तित्व असाधारण था। इसी से अनेक कवियों ने अपने ग्रन्थों में उनका जयघोष किया है। अकलंकदेव का कोई पुरातन एवं प्रामाणिक जीवन-परिचय उपलब्ध नहीं है और न उनके समकालीन तथा अति-निकट उत्तरवर्ती लेखकों के ग्रन्थों में अंकित मिलता है।

जीवन परिचय

मान्यखेट नगर के राजा शुभतुंग के पुरुषोत्तम नाम का मंत्री था। उसके दो पुत्र थे—एक अकलंक और दूसरा निकलंक। एक बार अष्टान्हिका पर्व में माता-पिता के साथ वे दोनों भाई जैन गुरु रविगुप्त के पास गए। माता-पिता ने उक्त पर्व में ब्रह्मचर्य व्रत लिया और अपने बालकों को भी दिलाया। जब वे युवा हुए तब अपने पुराने ब्रह्मचर्य व्रत को यावज्जीवन व्रत मानकर उन्होंने विवाह नहीं करवाया। पिता ने समझाया कि वह प्रतिज्ञा तो पर्व के लिए थी। पर वे कुमार अपनी बात पर दृढ़ रहे और उन्होंने आजन्म ब्रह्मचारी रह कर अपना समय शास्त्राभ्यास में लगाया। अकलंक एक सन्धि और निकलंक द्वि सन्धि थे उनकी बुद्धि इतनी प्रखर थी कि अकलंक को एक बार सुनने मात्र से स्मरण हो जाता था और उसी पाठ को दो बार सुनने से निकलंक को स्मरण हो जाता था। उस समय जैन धर्म पर होने वाले बौद्धों के आक्षेपों से उनका चित्त विचलित हो रहा था और वे इसके प्रतीकारार्थ बौद्ध शास्त्रों का अध्ययन करने के लिये बाहर निकल पड़े। वे अपना धर्म छिपा कर एक बौद्धमठ में विद्याध्ययन करने लगे। एक दिन गुरु जी को दिंग्नाग के अनेकान्त खण्डन के पूर्वपक्ष का कुछ पाठ अशुद्ध होने के कारण नहीं लग रहा था। उस दिन पाठ बन्द कर दिया गया। रात्रि को अकलंक ने वह पाठ शुद्ध कर दिया। दूसरे दिन जब गुरु ने शुद्ध पाठ देखा तो उन्हें सन्देह हो गया कि कोई जैन यहां छिप कर पढ़ रहा है। इसी की खोज के सिलसिले में एक दिन गुरु ने जैनमूर्ति को लाँघने की सब शिष्यों को आज्ञा दी। अकलंक देव मूर्ति पर एक धागा डाल कर उसे लांघ गये और इस संकट से बच गये। एक रात्रि में गुरु ने अचा-नक कांसे के बर्तनों से भरे बोरे को छत से गिराया। सभी शिष्य उस भीषण आवाज से जाग गये और अपने इष्ट-देव का स्मरण करने लगे। इस समय अकलंक के मुख से 'णमो अरहंताणं' आदि पंच नमस्कार मंत्र निकल पड़ा। बस फिर क्या था, दोनों भाई पकड़ लिये गये। दोनों भाई मठ की ऊपरी मंजिल में कैद कर दिये गये। तब दोनों भाई एक छाते की सहायता से कूद कर भाग निकले ज्ञात होने पर राजाज्ञा से उन्हें पकड़ने दो अश्वरोही सैनिक भेजे गये। सैनिकों को आते देखकर छोटे भाई निकलंक ने बड़े भाई से प्रार्थना की कि आप एक सन्धि और महान विद्वान हैं। आपसे जिन शासन की महती प्रभावना होगी। अतः आप निकटवर्ती तालाब में छिप कर अपने प्राण बचाइये, शीघ्रता कीजिए, समय नहीं है। वे हत्यारे हमें पकड़ने के लिए शीघ्र ही पीछे आ रहे हैं। आखिर दुःखी चित्त से

१. यह परिचय ब्र० नेमिदत्त के कथाकोश से लिया गया है।

अकलंक ने तालाब में छिपकर अपने प्राणों की रक्षा की। निकलंक आगे भागे। वहीं एक धोबी ने निकलंक को भागते देखा। वह भी पीछे आते हुए घुड़सवारों को देख किसी अज्ञात भय की आशंका से निकलक के साथ ही भागने लगा। घुड़सवारों ने आकर दोनों को तलवार के घाट उतार कर अपनी रक्त पिपासा शान्त की।

"अकलंक वहां से चल कर कलिंग देश के रत्न संचयपुर में पहुंचे। वहाँ के राजा हिमशीतल की रानी मदन सुन्दरी ने अष्टान्हिका पर्व के दिनों में जैन रथ यात्रा निकलवाने का विचार किया। किन्तु बौद्धगुरु संघ श्री के बहकाने में आकर राजा ने रथ यात्रा निकालने की यह शर्त रखी कि यदि कोई जैनगुरु बौद्ध गुरु को शास्त्रार्थ में हरादे तब ही जैन रथ यात्रा निकल सकती है। इससे रानी बड़ी चिन्तित हुई और धर्म में विशेष रूप से संलग्न हुई। अकलंक देव वहां आये और राजा हिमशीतल की सभा में बौद्ध विद्वान से शास्त्रार्थ हुआ। संघश्री बीच में परदा डालकर उसके पीछे बैठकर शास्त्रार्थ करता था। शास्त्रार्थ करते हुए छह महीने बीत गये, पर किसी की हारजीत नहीं हो पाई। एक दिन रात्रि के समय चक्रेश्वरी देवी ने अकलंक को इसका रहस्य बताया कि परदे के पीछे घट में स्थापित तारादेवी शास्त्रार्थ करती है। तुम उससे प्रातःकाल कहे गये वाक्यों को दुबारा पूछना, इतने से ही उसकी पराजय हो जायेगी। अगले दिन अकलंक ने चक्रेश्वरी देवी की सम्मति के अनुसार प्रातः कहे गये वाक्यों को फिर दुहराने को कहा तो उत्तर नहीं मिला। उन्होंने तुरन्त परदा खींच कर घड़े को पैर की ठोकर से फोड़ डाला।[1] इससे जैनधर्म की विजय हुई और रानी के द्वारा संकल्पित रथयात्रा धूमधाम से निकाली गयी।"

उस समय जैन धर्म की महती प्रभावना हुई। जनता के हृदय में जैनधर्म के प्रति आस्था बढ़ी। और रानी का दृढ़ संकल्प पूरा हुआ।

कथा कोश में राजा शुभतुंग की राजधानी मान्यखेट और अकलंक देव को उसके मन्त्री पुरुषोत्तम का पुत्र बतलाया है तथा राजा हिमशीतल की सभा में बौद्धों को शास्त्रार्थ में पराजित करने का भी उल्लेख किया है। राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज प्रथम की उपाधि शुभतुंग' थी। उसका समर्थन शिलालेखों में उत्कीर्ण प्रशस्तियों से भी होता है।[2] शुभतुंग दन्तिदुर्ग के चाचा थे। युवावस्था में दन्तिदुर्ग की मृत्यु हो जाने के बाद वे राज्याधिरूढ़ हुए थे। दन्तिदुर्ग का ही नाम साहसतुंग था। इसने कांची, केरल, चोल और पाण्ड्य देश के राजाओं को तथा राजा हर्ष और वज्रट को जीतने वाली कर्णाटक की सेना को हराया था।[3] कर्णाटक की सेना का अर्थ चालुक्यों की सेना से है। क्योंकि चालुक्य राज पुलकेशी द्वितीय ने देष वंशी राजा हर्ष को जीता था।[4]

'भारत के प्राचीन राजवंश[5] ग्रन्थ में दन्तिदुर्ग की उपाधियों में 'साहसतुंग' उपाधि का भी उल्लेख किया है।

डा० ए० बी० सालेतोर ने रामेश्वर मन्दिर के स्तम्भ लेख से सिद्ध किया है कि साहसतुंग दन्तिदुर्ग का

---

१. मल्लिषेण प्रशस्ति के निम्न पद्य से भी राजा हिमशीतल की सभा में शास्त्रार्थ के समय घड़े फोड़ने की बात का समर्थन होता है :—मल्लिषेण प्रशस्तिका का समय शक स० १०५० (सन् ११२८) है।

"नाहङ्कारवशीकृतेन मनसा न द्वेपिणा केवलं,
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्य बुद्धया मया।
राज्ञः श्री हिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो,
बौद्धौघान् सकलान्विजित्य सुगतः (सघटः) पादेन विस्फोटितः ॥२३॥

२........."श्रीकृष्ण राजस्य शुभतुङ्ग तुंगतुरग प्रवृद्ध रेण्वर्धरुद्धरविकिरणम्"—ए० इं० ३ पृ० १०६

३. कांचीश केरलनराधिपचोलपाण्डेय- श्री हर्षवज्रट विभेद विधानदक्षम्।
कर्णाटकं बलमनन्तमजेयरथ्यं-भृत्यैः कियद्भिरपि यः सहसा जिगाय ॥
—शामनगढ (कोल्हापुर) का शक सं० ६७५ का दानपत्र, इं० ए० भा० ११ पृष्ठ १११

४. देखो एहोल का शिलालेख।

५. भाग 3 पृ० 26।

नाम था।[1] उसने चालुक्य रूपी समुद्र का मथन कर उसकी लक्ष्मी को चिरकाल तक अपने कुल की कान्ता बनाया था, जैसा कि लेख के निम्न वाक्यों से प्रकट हैं :—

तत्रान्वयेऽप्यभवदेकपतिः [पृ] थिव्याम्।
श्री दन्ति दुर्ग इतिदुर्धर बाहुवीर्यो।
चालुक्य सिन्धुमथनोद्भव राजलक्ष्मीम्,
यः संबभार चिरमात्मकुलैककान्ताम् ।।५।।
तस्मिन् साहसतुंग नाम्नि नृपतौ स्वः सुन्दरी प्रार्थिते।।

मल्लिषेण प्रशस्ति से भी साहसतुंग और हिमशीतल की सभा में हुए शास्त्रार्थ का समर्थन होता है। इस कथन से कथाकोश और मल्लिषेणप्रशस्ति की भी प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

अकलङ्क देव का व्यक्तित्व

इसमें सन्देह नहीं कि अकलंकदेव का व्यक्तित्व महान था। शिला वाक्यों और ग्रन्थोल्लेखों के अनुसार समकालीन और परवर्ती आचार्यों पर उनका प्रभाव अंकित है। वे अपने समय के युगनिर्माता महापुरुष थे। वे अनेक शास्त्रार्थों के विजेता कवि और वाग्मी थे। और थे घटवाद के विस्फोटक सभा चतुर पंडित। बौद्धों के साथ होने वाले प्रसिद्ध शास्त्रार्थ में, जो घटावतीर्ण तारादेवी के साथ छह महीने तक किया गया था। उसकी विजय इतनी महान थी कि अकलंक जैसे वाचंयमी के मुख से निरवद्य विद्या के विभव को उद्घोषित करा सकी। प्रशस्ति के वे पद्य इस प्रकार है :—

चूर्ण—यस्येदमात्मनोऽनन्यसामान्य निरवद्यविद्या विभवोपवर्णनमाकर्ण्यते।
राजन् साहसतुंग सन्ति बहवः श्वेतातपत्रा नृपाः,
किन्तु त्वत्सदृशारणे विजयिनः त्यागोन्नता दुर्लभाः।
तद्वत्सन्ति बुधा न सन्ति कवयो वादीश्वरा वाग्मिनो।
नाना शास्त्रविचार चातुरधियः काले कलौ मद्विधाः ।।२१।।

(पूर्वमुख)—
राजन् सर्वारिदर्प प्रविदलन पटुस्त्वं यथात्र प्रसिद्ध—
स्तद्वत्ख्यातोऽहमस्यां भुवि निखिल-मदोत्पाटनः पण्डितानाम्।
नोचेदेषोऽहमेते तव सदसि सदासन्ति सन्तो महानतो।
वक्तुं यस्यास्ति शक्तिः स वदतु विदिताशेष-शास्त्रो यदि स्यात् ।।२२।।
नाहंकार-वशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं,
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यतिजने कारुण्यबुद्धया मया।
राज्ञः श्री हिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो,
बौद्धौघान्सकलान्विजित्य सुगतः (स घटः) पादेन विस्फोटितः ।।२३।।

इन पद्यों में अकलंक देव की निरवद्य विद्या का विभव प्रकट करते हुए बतलाया है कि—हे साहसतुंग राजन्! श्वेत आतपत्र (छत्र) वाले राजा बहुत हैं, परन्तु तुम्हारे सदृश रण विजयी और त्यागोन्नत राजा दुर्लभ हैं। उसी तरह अनेक विद्वान हैं; पर कलिकाल में मेरे समान नाना शास्त्रों के विचारों में चतुर बुद्धि वाले कवि वादीश्वर और वाग्मी विद्वान् नहीं हैं।

---

१. देखो; जर्नल आफ वम्बई हि० सो० भाग ६ पृ० 29—'दी एज आफ गुरु अकलङ्क' तथा सिद्धि विनिश्चय की प्रस्तावना पृ० ४९।

जिस तरह सर्व शत्रुओं के मान मर्दन में आप प्रसिद्ध हैं, उसी तरह इस पृथ्वी मंडल में, मैं पंडितों के समस्त मद को नष्ट करने में प्रसिद्ध हूं। यदि ऐसा न हो तो, यह मैं हूं और आपकी सभा में सदा रहने वाले पंडित हैं। इनमें जिसकी शक्ति हो वह निखिल शास्त्रवेत्ता मेरे सामने बोले।

मैंने अहंकार के वश अथवा मन के द्वेष से ऐसा नही कहा। किन्तु नैरात्म्यवाद के कारण मनुष्यों के विनाश को जानकर लोगों पर करुणा बुद्धि से मैंने कहा है।

राजा हिमशीतल की सभा में मैंने विदग्धात्मा बौद्धों को जीत कर पादसे घड़े का विस्फोटन किया है।

यह वह समय था, जब बौद्धविद्वान धर्मकीर्ति के शिष्यों का समुदाय भारतीय दर्शन के रंग मंच पर छाया हुआ था। उसके नैरात्म्य वाद के नारों से आत्मदर्शन हिल उठा था। उस समय से अकलंकदेव ने भारतीय दर्शन की हिलती हुई दीवालों को थामा और इसी प्रयत्न में अकलङ्क न्याय का जन्म हुआ।

अकलङ्क देव के टीका ग्रन्थ और उनकी मौलिक कृतियां उनके गहनतत्त्व विचार, उनकी सूक्ष्म तर्क प्रवणता और स्वतत्त्व निष्ठा का पग पग पर दर्शन कराती है। कृतियाँ गूढ़ और गंभीर अर्थ की द्योतक हैं। अकलंकने धर्म कीर्ति की परिहास और अश्लील कटूक्तियों का उत्तर भी बड़े मजे से दिया है।

अकलक देव बाल ब्रह्मचारी और निर्ग्रन्थ तपस्वी थे। उनके मन में अपने प्यारे भाई के बलिदान की आग बराबर जल रही थी। इससे भी अधिक उनके मानस में बौद्धों के क्रान्तिकारी सिद्धान्तों के प्रचार से और आत्मवाद के लुप्त हो जाने से उथल-पुथल मची हुई थी। शिलालेख में उन्हें महर्धिक लिखा है।[1] इस तरह उनका व्यक्तित्व महान और चरित्र सम्पन्न था। उनकी अकलंक प्रभा से जैन शासन आलोकित हुआ है, और होता रहेगा। तत्त्वार्थ राज वार्तिक के 'लघुहव्यनृपतिवरतनयः' पद्य के 'वरतनयः' से अकलंक के लघु भ्राता होने की सूचना मिलती है।

अकलंक देव का समय

अकलंक देव यतिवृषभ, श्रीदत्त, सिद्धसेन, देवनन्दी, पात्र केसरी और सुमति देव के बाद हुए हैं। उन्होंने यतिवृषभ की तिलोयपण्णत्ति' के प्रथम अधिकार की दो गाथाओं का सस्कृतिकरण कर उन्हें लघीयस्त्रय में शामिल कर लिया है। यतिवृषभ का समय ईसा की ५वी सदी है। श्रीदत्त का उल्लेख देवनन्दी ने किया है। अकलंक देव ने प्रवचन प्रवेश के पृष्ठ २३ में सिद्धसेन के 'सन्मतिसूत्र की निम्नगाथा का संस्कृत रूपान्तर किया है :—

तित्थयर वयणसंगहविसेसपत्थारमूलवागरणी।
दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पासि ॥१-३

"ततः तीर्थंकर वचन संग्रह विशेष प्रस्तार मूलव्याकारिणौद्रव्यपर्यायार्थिकौ निश्चेतव्यौ ॥"

लघीयस्त्रयस्वो० वृ० श्लोक ६७

आपने देवनन्दी की तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि) की पंक्तियों को वार्तिक बनाकर तत्त्वार्थवार्तिक की रचना की है। देवनन्दी का समय ईसा की ५वीं शताब्दी है। अकलंक ने पात्र केसरी के 'त्रिलक्षणकदर्थन' की 'अन्य थानुपपन्नत्वं" कारिका को न्यायविनिश्चय के मूल में शामिल कर लिया है। इनका समय ईसा की सातवीं शताब्दी है।

सुमति देव का उल्लेख शान्ति रक्षित के तत्त्वसंग्रह की पंजिका में पाया जाता है। पंजिका के कर्ता कमलशील हैं, जो नालन्दा विश्वविद्यालय के प्रोफेसर थे। शान्तिरक्षित का समय सन् ७०५ से ७६२ माना जाता है। सन् ७४३ में शान्तिरक्षित ने तिब्बत की यात्रा की थी। उससे पहले ही उन्होंने तत्त्व संग्रह की रचना की है। कमलशील शान्तिरक्षित के समकालीन जान पड़ते हैं। इन उल्लेखों से 'अकलंक का समय ईसा की ७वीं शताब्दी से बाद का जान पड़ता है।

---

१ जीयात् समन्तभद्रस्य देवागमनः संज्ञिनः।
स्तोत्रस्य भाष्यं कृतवानकलङ्को महर्धिकः
जैन लेख संग्रह भा० ३ ले नं० ६६७ पृ० ५१८

डा० महेन्द्र कुमार जी ने अकलंक का समय ईसाकी ८वीं शताब्दी का उत्तरार्ध सिद्ध करते हुए जो साधक प्रमाण दिये हैं। उन्हें यहां दिया जाता है:—

१—दन्तिदुर्ग द्वितीय, उपनाम साहस तुंगकी सभा में अकलंक का अपने मुख से हिमशीतल की सभा में हुए शास्त्रार्थ की बात कहना।[1] दन्तिदुर्गका राज्य काल ई० ७४५ से ७५५ है, और उसी का नाम साहस तुँग था। यह रामेश्वर मन्दिर के स्तम्भलेख से सिद्ध हो गया है[2]।

२—प्रभाचन्द के कथाकोश में अकलंक को कृष्णज के मंत्री पुरुषोत्तम का पुत्र बताना।[3] कृष्ण का राज्य काल ई० ७५६ से ७७५ तक है।

३—अकलंक चरित में अकलंक के शक सं० ७०० (ई० ७७८) में बौद्धों के साथ हुए महान वाद का उल्लेख होना।[4]

४—अकलंक के ग्रन्थों में निम्नलिखित आचार्यों के ग्रन्थों का उल्लेख या प्रभाव होना।[5] भर्तृहरि (ई०४ थी ५वीं सदी) कुमारिल (ई० ७ वीं का पूर्वार्ध), धर्मकीर्ति (ई० ६२० से ६९०), जयराशि भट्ट (ई०७वीं सदी), प्रज्ञाकर गुप्त (ई० ६६० से ७२०), धर्माकरदत्त (अर्चट) (ई० ६८० से ७२०), शान्तभद्र (ई० ७००) धर्मोत्तर (ई० ७००)' कर्णगोमि (ई० ८वीं सदी), शांत रक्षित (ई० ७०५ से ७६२)।

५—कविवर धनंजय के द्वारा नाममाला में 'प्रमाणमकलंकस्य' लिखकर अकलंक का स्मरण किया जाना। धनंजय की नाम माला का अवतरण धवला टीका में है। अत: धनंजय का समय ई० ८१० है[6]।

६—जिनसेन के गुरु वीरसेन की धवलाटीका (ई० ८१६) में तत्त्वार्थ वार्तिक के उद्धारण होना[7]।

७—आदि पुराण में जिनसेन द्वारा उनका स्मरण किया जाना[8]। जिनसेन का समय ई० ७६० से ८१३ है।

८—हरिवंश पुराण के कर्ता पुन्नाट संघीय जिनसेन के द्वारा वीरसेन की कीर्ति को 'अकलंक' कहा जाना[9]।

९—विद्यानन्द आचार्य द्वारा अकलंक की अष्टशती पर अष्ट सहस्री टीका का लिखा जाना[10]। विद्यानन्द का समय ई० ७७५—८४० है।

१०—शिलालेखों में अकलंक का स्मरण सुमति के बाद आना[11] गुजरात के कर्क सुवर्णका मल्लवादि के प्रशिष्य और सुमति के शिष्य अपराजित को दिये गए दान का एक ताम्रपत्र शक, सं० ७४३ ई० ८२१ का मिला है[12]।

तत्त्वसंग्रह[13] में सुमतिदेव दिगम्बर के मत का उल्लेख आता है। तत्त्वसंग्रह पंजिका[14] में बताया है कि सुमति कुमारिल के आलोचना मात्र प्रत्यक्ष का निराकरण करते हैं। अत: सुमति का समय कुमारिल के बाद होना चाहिये। डा० भट्टाचार्य ने सुमति का समय ई० ७२० के आस पास निर्धारित किया है[15]। यदि ताम्रपत्र में उल्लिखित सुमति ही तत्त्वसग्रहकार द्वारा उल्लिखित सुमति है तो इनके समय की संगति बैठानी होगी; क्योंकि ताम्रपत्र के अनुसार सुमति के शिष्य अपराजित ई० ८२१ में हुए हैं और इस तरह गुरु शिष्य के समय में १०० वर्ष का अन्तर होता है। प्रो० दलसुख मालवणिया ने इसका समाधान इस प्रकार किया है[16] कि—सुमति की ग्रन्थ रचना का समय ई०

---

१. सिद्धि विनिश्चय प्र० पृष्ठ ४६। २. वही पृ. ४९। ३. वही पृ. ११।
४. वही पृष्ठ ४१—३६। ५. वही पृ० ४६। ६. जैन सा. इ० पृष्ठ १११।
७. वही पृ० ३७। ८. प्रस्तावना पृ० ३८। ९. हरिवंश पुराण १-३९।
१०. वही पृ. ३९। ११. वही प्र० पृ० ३८। १२. धर्मोत्तर प्रस्तावना पृ० ५५।
१३. तत्त्व सं० पृ० ३७९, ३८२, ३८३, ३८९, ४९६।
१४. "तत्र सुमतिः कुमारिलाद्याघभिमता लोचनामात्रप्रत्यक्ष विचारणार्थमाह" तत्त्व सं० पं० पृष्ठ ३७९।
१५. तत्त्व सं० प्रस्ता पृ० ९२।
१६. धर्मोत्तर प्रस्ताव पृ० ५५।

'६५० के आस-पास माना जाय तो पूर्वोक्त असंगति नही होगी। शान्ति रक्षित ने तिब्बत जाने से पूर्व ही तत्त्व संग्रह की रचना की है। अतएव वह ई० ७४५ के पूर्व रचा गया होगा, क्योंकि शान्त रक्षित ने तिब्बत जाकर ई० ७४६ में विहार की स्थापना की थी। सुमति को यदि शान्ति रक्षित का समवयस्क मान लिया जाय तो उनकी भी उतरावधि ई० ७६२ के आस-पास होगी। ऐसी स्थिति में सुमति के शिष्य अपराजित की सत्ता ई० ८२१ में होना असम्भव नहीं है।" यह समाधान सयुक्तिक है। ऐसी दशा में सुमति से २३ आचार्यो के बाद होने वाले अकलंक का समय ई० ८ वीं का उत्तरार्ध ही सिद्ध होता है।

इस तरह विप्रतिपत्तियों के निराकरण तथा सुनिश्चित साधक प्रमाणों के आधार से अकलंक देव का समय ई० ७२० से ७८० सिद्ध होता है।

अकलङ्क के ग्रन्थ

अकलंक देव की उपाधि 'भट्ट' थी। इसी से वे भट्ट कहलाते थे। उनकी निम्न कृतिया उपलब्ध हैं—१ तत्त्वार्थवार्तिक सभाप्य, २ अप्टशती, ३ लघीयस्त्रय सविवृत्ति, ४ न्यायविश्चिय सवृत्ति, ५ सिद्धिविनिश्चय, ६ प्रमाण संग्रह स्वोपज्ञ।

१—तत्त्वार्थवार्तिक सभाष्य— प्रस्तुत ग्रन्थ गृध्रपिच्छाचार्य के तत्त्वार्थ सूत्र के ३५५ सूत्रों में सरलतम २७ सूत्रों को छोड़ कर शेष ३२८ सूत्रों पर गद्यवार्तिकों को रचना को गई है, जिनका संख्या दो हजार छह सो सत्तर है। इन वार्तिकों द्वारा सूत्रकार के सूत्रों पर संभावित विप्रतिपत्तियों का निराकरण कर ग्रन्थकार के सूत्रों के मर्म का उद्घाटन किया है। यह वार्तिक शैली पर लिखा गया प्रथम भाष्य ग्रन्थ है। इसमें जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों का सांगोपांग विवेचन ऊहापोह पूर्वक किया गया है। इसमें वार्तिक जुदे हैं और उनकी व्याख्या भी जुदी है। इस व्याख्या का भाष्य रूप से उल्लेख किया गया है[1]। ग्रन्थ की पुष्पिकाओं में इसका नाम तत्त्वार्थवार्तिक व्याख्यानालकार दिया गया है। देवन्दी (पूज्यपाद) की तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थ सिद्धि) का बहुभाग इसमें मूलवार्तिक रूप में समाविष्ट हो गया है।

अकलंक देव के इस भाप्य ग्रन्थ की भाषा अत्यन्त सरल है। जब कि अन्य अष्ट शती, न्यायविनिश्चय, प्रमाण संग्रहादि ग्रन्थों की सस्कृत भाषा अत्यन्त क्लिप्ट है। यदि अष्टशती पर अष्ट सहस्री टीका न होती तो उसका अर्थ समझना अत्यन्त कठिन होता। प्रस्तुत भाप्य में द्वादशांग के निरूपण में क्रियावादी अक्रियावादी और आज्ञानिक आदि में जिन साकल्य, वाप्कल, कुथुमि, कठ माध्यन्दिन, मोद, पैप्पलाद, गार्ग्य मोद्गल्यायन, आश्वलायन, आदि ऋषियों के नाम दिये है। वे सब ऋग्वेदादि के शाखाऋषि है। इस वार्तिक भाष्य के अनेक स्थलों में षट्खण्डागम के सूत्र और महाबन्ध के वाक्य उद्धृत किये गये है और उनमें सगति बैठाई गई है। यह एक ऐसा आकरग्रन्थ है जिसमें सैद्धान्तिक, भौगोलिक और दार्शनिक सभी चर्चाएं यथास्थान मिलती हैं। ग्रन्थ में सर्वत्र अनेकान्त दृष्टि का प्रयोग होने से ऐसा जान पड़ता है, जैसे सैद्धान्तिक तत्त्व प्ररोहों की रक्षा के लिये अनेकान्त की वाड ही लगाई गई हो, सर्वत्र भेदाभेद, नित्यानित्यत्व और एकानेकत्व के समर्थन का क्रम अनेकान्त प्रक्रिया से युक्त दृष्टिगोचर होता है। स्वरूप चतुष्टय के ग्यारह बारह प्रकार, सकलादेश विकलादेश का विस्तृत प्रयोग तथा सप्त भंगीका विशद और विविध विवेचन इसी ग्रन्थ में अपनी विशिष्ट शैली से मिलता है।

योनिप्राभृत, व्याख्याप्रज्ञप्ति, व्याख्याप्रज्ञप्ति दण्डक आदि का उसमें उल्लेख किया गया है। जिससे स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि अकलंक देव विद्याके क्षेत्र में अधिक से अधिक सग्राहक भी थे। तत्त्वार्थाधि गम नामक भाष्य भी अकलंक देव के सामने रहा है। और भी कई टीका ग्रन्थ सामने रहे हैं।

ग्रन्थ में दिग्नाग के प्रत्यक्ष लक्षण—कल्पनापोढ़ का खण्डन है पर धर्मकीर्तिकृत 'अभ्रान्त" पद विशिष्ट प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं। यद्यपि धर्मकीर्ति की 'सन्तानान्तर सिद्धि' का आद्यश्लोक बुद्धिपूर्वा क्रिया' उद्धृत

१. धवलाटीका, न्याय कुमुद पृ० ६४६

है फिर भी ऐसा जान पड़ता है जैसे तत्वार्थ वार्तिक की रचना के समय धर्मकीर्ति के ग्रन्थ प्रकरण अकलंक देव के अध्ययन में उस समय तक न आये हों। इसी कारण यह ग्रन्थ उनका प्रथम ग्रन्थ जान पड़ता है। यह अच्छे वैय्याकरण भी थे। सूत्रों में शब्दों की सार्थकता तथा व्युत्पत्ति करने में उनके इस रूप के खूब दर्शन होते हैं। यद्यपि वे सर्वत्र पूज्यपाद के जैनेन्द्र व्याकरण का उद्धरण देते हैं। परन्तु पाणिनि और पतंजलि के भाष्य को भी भूले नहीं हैं। भूगोल और खगोल के विवेचन में तिलोय पण्णत्ती उनके सामने रही है। दोनों में कितना ही कथन समान मिलता है। वास्तव में यह भाष्य तत्त्वार्थसूत्र की उपलब्ध टीकाओं में मूर्धन्य और आकर ग्रन्थ है। अकलंक देव की प्रज्ञा के इसमें विशिष्ट दर्शन होते हैं। इस भाष्य में जैनेतर ग्रन्थों के अनेक उद्धरण मिलते हैं। इससे उसकी महत्ता का सहज ही अनुभव हो जाता है। तत्त्वार्थसूत्र पर ऐसा अन्य कोई दूसरा भाष्य उपलब्ध नहीं है

अष्टशती

यह आचार्य समन्तभद्र कृत 'आप्त मीमांसा' अपरनाम' 'देवागम स्तोत्र' की संक्षिप्त वृत्ति है। जैन दर्शन में आप्तमीमांसा का विशिष्ट गौरवपूर्ण स्थान हैं। इसमें अनेकान्त और सप्तभंगी का अच्छा विवेचन है। इसका प्रमाण ८०० श्लोक जितना है इसी से इसे अष्टशती कहा जाता है। इस अष्टशती पर आचार्य विद्यानन्द की 'अष्ट सहस्री' नाम की टीका है। जो सुवर्ण में मणिवत् आगे-पीछे के व्याख्या वाक्यों में अष्टशती को जड़ती चली जाती है। विद्यानन्द ने स्वयं अपनी उस अष्टशती गर्भित अष्ट सहस्री में लिखा है कि यह अष्ट-सहस्री कष्ट सहस्री से बनपाई है। जैसा कि उनके वाक्य से स्पष्ट है :—

'श्रोतव्या अष्ट सहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।

इसमें मूल आप्तमीमांसा में आये हुए सदेकान्त असदेकान्त, भेदैकान्त, अभेदैकान्त, नित्यैकान्त, क्षणिकैकान्त आदि एकान्तों की आलोचना करते हुए पुण्य-पाप बन्ध की चर्चा की है। इन सब एकान्तों की आलोचना में अष्टशती में उन-उन एकान्तवादियों के मन्तव्य पूर्वपक्ष में साधार दिये है। और आज्ञा प्रधानियों के देवागम और आकाशगमन आदि के द्वारा आप्त के महत्व ख्यापन की प्रणाली की आलोचना कर आप्तमीमांसा के आधार से वीतराग सर्वज्ञ को आप्त सिद्ध किया है, और युक्ति से आगम अविरोधी वचन वाला बतलाया है। इसी कथन में अन्य आप्तों के एकान्तवाद की चर्चा भी निहित है। और अन्त में प्रमाण और नय की चर्चा की है।

लघीयस्त्रय सविवृत्ति

यह छोटे-छोटे तीन प्रकरणों का संग्रह है। इस ग्रन्थ में तीन प्रवेश हैं। प्रमाण प्रवेश, नय प्रवेश और प्रवचन प्रवेश। इसमें कुल ७८ मूल कारिकाएं हैं। अकलंक देव ने लघीस्त्रय पर एक विवृत्ति लिखी है। यह विवृत्ति कारिकाओं की व्याख्या रूप न होकर उसमें सूचित विषयों की पूरक है। उन्होंने यह विवृत्ति कारिकाओं के साथ ही लिखी है क्योंकि वे जो पदार्थ कहना चाहते हैं उसके अमुक अंश को श्लोक में कहकर शेष को विवृत्ति में कहते हैं। अतः उसका नाम वृत्ति न होकर विवत्ति - विशेष विवरण ही उपयुक्त है। विषय की दृष्टि से पद्य और गद्य मिल कर ही ग्रन्थ की अखण्डता बनाते हैं।

लघीस्त्रय में छह परिच्छेद हैं, जिनमें चर्चित मुख्य विषय निम्न प्रकार हैं।

प्रथम परिच्छेद में सम्यग्ज्ञान की प्रमाणता, प्रत्यक्ष परोक्ष के लक्षण, प्रत्यक्ष के सांव्यवहारिक और मुख्य दो भेद, सांव्यवहारिक के इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष भेद, और मुख्य के अवग्रहादि भेद, पूर्व पूर्वज्ञानी की प्रमाणता आदि का विवेचन है।

द्वितीय परिच्छेद में द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु की प्रमेयरूपता, नित्यैकान्त और क्षणिकैकान्त में अर्थक्रिया का अभाव आदि प्रमेय सम्बन्धी चर्चा है।

ततीय परिच्छेद में मति स्मृति संज्ञा चिन्ता और अभिनिबोध आदि का शब्द योजना से पूर्व अवस्था में, तथा शब्द योजना के बाद श्रुतव्यपदेश, स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमान का परोक्षत्व, प्रत्यभिज्ञान में उपमान

का अन्तर्भाव, कारण पूर्वचर और उत्तरचर हेतुओं का समर्थन, अदृश्यानुपलब्धि से भी अभाव की सिद्धि और विकल्प बुद्धि की वास्तविकता आदि परोक्ष प्रमाण सम्बन्धी विषयों की चर्चा है।

चौथे परिच्छेद में ज्ञान की ऐकान्तिक प्रमाणता या अप्रमाणता का निषेध करके प्रमाणाभास का स्वरूप, श्रुत की प्रमाणता, और आगम प्रमाण आदि विषयों का विचार किया गया है।

पांचवें परिच्छेद में नय दुर्नय के लक्षण, नयों के द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक आदि भेद, और नैगमादि नयों में अर्थनय शब्दनय आदि के विभाग का विवेचन है।

छठे परिच्छेद में प्रमाण और नय का विचार करते हुए अर्थ और आलोक की ज्ञान कारणता का खंडन तथा सकलादेश विकलादेश का विचार और प्रमाण नयादि का निरूपण किया गया है।

इस तरह यह ग्रन्थ अकलंक देव की पहली मौलिक दार्शनिक कृति है।

न्यायविनिश्चय सवृत्ति—

प्रस्तुत ग्रन्थ में ४८० श्लोक हैं। और तीन परिच्छेद है—प्रत्यक्ष, अनुमान, और प्रवचन। सम्भव है, अकलंक देव ने इस पर भी कोई चूर्णि या वृति लिखी होगी। डा० महेन्द्र कुमार जी ने उसके प्राप्त करने का प्रयत्न किया था, किन्तु खेद है कि वह उपलब्ध नहीं हुई।

प्रथम परिच्छेद में प्रत्यक्ष का लक्षण लिख कर प्रत्यक्ष के दो भेद इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के लक्षणादि का विवेचन किया गया है। धर्मकीर्ति सम्मत प्रत्यक्ष लक्षण की समालोचना, तथा बौद्धकल्पित स्वसंवेदन-योगि मानस प्रत्यक्ष का निराकरण करते हुए सांख्य और नैयायिक सम्मत प्रत्यक्ष लक्षण का निराकरण किया गया है।

दूसरे परिच्छेद में अनुमान का लक्षण, साध्य-साध्याभास और साधन साधनाभास के लक्षण, हेतु के त्रैरूप्य का खंडन करते हुए अन्यथानुपपत्ति का समर्थन, असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चितकर हेत्वाभासों आदि का विवेचन किया गया है। और अनुमान से सम्बन्धित विषयों का कथन किया गया है।

तीसरे प्रवचन प्रस्ताव में प्रवचन का स्वरूप, सुगत के आप्तत्व का निराकरण, सुगत के करुणावत्व तथा चतुरार्थ प्रतिपादकत्व का परिहास, आगम के अपौरुषेयत्व का खण्डन, सर्वज्ञत्व समर्थन, मोक्ष और सतभंगी का निरूपण, स्याद्वाद में दिये जाने वाले संशयादि दोषों का परिहार, स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदि का प्रामाण्य और प्रमाण के फलादि विषयों का कथन किया गया है।

इस ग्रन्थ पर आचार्य वादिराज का विस्तृत विवरण उपलब्ध है, जो न्याय विनिश्चय विवरण के नाम से प्रसिद्ध है, और जो भारतीय ज्ञानपीठ काशी से दो भागों में प्रकाशित हो चुका है। वादिराज ने उसके रचना काल का उल्लेख नहीं किया। वादिराज का परिचय अन्यत्र दिया है। उनका समय शक सं० ९४७ (सन् १०२५) है।

सिद्धिविनिश्चय—अकलंकदेव की यह महत्वपूर्ण कृति है। इसमें १२ प्रस्ताव हैं जिनमें प्रमाणनय और निक्षेप का विवेचन किया गया है। उनके नाम इस प्रकार हैं—१. प्रत्यक्षसिद्धि (२) सविकल्पसिद्धि (३) प्रमाणान्तर सिद्धि (४) जीवसिद्धि (५) जल्पसिद्धि (६) हेतुलक्षण सिद्धि (७) शास्त्रसिद्धि (८) सर्वज्ञसिद्धि (९) शब्दसिद्धि (१०) अर्थनयसिद्धि (११) शब्दनयसिद्धि (१२) और निक्षेपसिद्धि। इन प्रस्तावों के नामों से उनके विषयों का परिज्ञान हो जाता है। डा० महेन्द्र कुमार जी ने क्रमिक विकास की दृष्टि से इन्हें चार विभागों में बांटा है—(१) प्रमाण मीमांसा, (२) प्रमेय मीमांसा, (३) नय मीमांसा और (४) निक्षेप मीमांसा।

प्रमाण मीमांसा—इसमें प्रमाण और उसके भेद-प्रभेदों का तथा प्रत्यक्ष सिद्धि, सविकल्प सिद्धि, सर्वज्ञसिद्धि प्रमाणान्तर सिद्धि, और हेतु लक्षण सिद्धि, इनमें प्रतिपादित प्रमाण सम्बन्धी विषयों का सार दिया गया है। और दर्शनान्तरीय ग्रन्थों में माने जाने वाले प्रमाण की मीमांसा की गई है।

प्रमेय मीमांसा—इसमें जीवसिद्धि और शब्द सिद्धि में प्रतिपादित प्रमेय सम्बन्धी सामान्य स्वरूप का कथन किया गया है। जैन परम्परा में प्रमेय-द्रव्यों के दो भेद हैं—चेतनद्रव्य और अचेतन द्रव्य। चेतनद्रव्य आत्मा या जीव है उसका लक्षण ज्ञाता दृष्टा है। और अचेतन द्रव्य पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के भेद से पांचप्रकार के हैं।

पुद्गल द्रव्य—रूप-रस, गन्ध और स्पर्श वाले परमाणु पुद्गल द्रव्य है। वे अनन्त हैं। पुद्गल परमाणु जब स्कन्ध बनते है तब उनका रासायनिक बन्ध हो जाता है। उस स्कन्ध में जितने पुद्गल परमाणु सम्बद्ध हैं उन सबका एक जैसा परिणमन हो जाता है। और उसी परिणमन के अनुसार स्कन्ध में रूप विशेष और रस विशेष का व्यवहार होता है। समस्त जगत इन्ही पुद्गल परमाणुओं से निर्मित हुआ। प्रति समय कोई न कोई परिणमन करने का उनका स्वभाव है। पुद्गल शब्द का अर्थ ही पूरण और गलन है।

धर्म द्रव्य—यह एक लोकव्यापी अमूर्त द्रव्य है जो गमनशील जीव और पुद्गलों की गति में सहायक होता है। यह प्रेरक निमित्त नही किन्तु उदासीन निमित्त है।

अधर्म द्रव्य—यह एक लोक व्यापी अमूर्त द्रव्य है जो स्थितिशील जीव और पुद्गलों की स्थिति में सहायक होता है। यह भी उदासीन निमित्त है।

आकाश द्रव्य—यह एक अनन्त अमूर्त द्रव्य है, जिसमें समस्त द्रव्यों का अवगाह होता है। द्रव्यों के अवस्थान की अपेक्षा इसके दो भेद है। जहाँ तक जीवादिक पाये जाये वह लोकाकाश है और जहां केवल आकाश ही आकाश है वह आलोकाकाश है।

काल द्रव्य—लोकाकाश व्यापी असंख्य कालाणु द्रव्य है, जो स्वयं तो परिणमन करते ही हैं किन्तु अन्य द्रव्यों के परिणमन में भी निमित्त होते हैं। घड़ी, घण्टा दिन आदि काल व्यवहार इन्हीं के निमित्त से होता है।

जीव द्रव्य—उपयोग रूप है, अमूर्त है, कर्ता है, और भोक्ता है, स्वदेह परिमाण है समारी और सिद्धि हो जाता है। स्वभाव से ऊर्ध्वगमनशील है। जीव का स्वभाव चैतन्य है, वही चैतन्य ज्ञान और दर्शन अवस्थाओं में परिणत होता है। जीव को सभी जीववादी अमूर्त मानते है। जीव के दो भेद है ससारी और मुक्त। किन्तु जैन परम्परा में संसारी अवस्था में सदा कर्म पुद्गलों से बधे रहने के कारण उसे व्यवहार दृष्टि से मूर्त माना जाता है। संसारी अवस्था में जब उसकी वैभाविक शक्ति का विकार परिणमन होता है तब आत्मा को कथंचित् मूर्त भी माना गया है। उसे स्वयं कर्त्ता और भोक्ता भी माना है। जीव अनादि काल से कर्म पुद्गलों से बद्ध चला आ रहा है। इसी कारण वह कथचित् मूर्त है। और कर्मानुसार प्राप्त छोटे-बड़े शरीर के अनुसार संकोच और विकास करके उस शरीर के प्रमाण आकार वाला होता है। वह स्वभावतः अमूर्त द्रव्य है और पुद्गल से भिन्न है। और वासनाओं के कारण संसार अवस्था में विकृत हो रहा है। अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि प्रयत्नों से धीरे-धीरे शुद्ध होकर कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है। उस समय उसका आकार अन्तिम शरीर जैसा ही रह जाता है; क्योंकि जीव के प्रदेशों में सकोच और विकास दोनों ही कर्म के सम्बन्ध से होते थे। जब कर्मबन्धन छूट गया तब जीव के प्रदेशों के फैलने का कोई कारण नही रहता। अतः वह अन्तिम शरीर से कुछ न्यून आकारवाला रह जाता है।

नय मीमांसा—में नय के स्वरूप का कथन करते हुए, उसके भेद-प्रभेदों की चर्चा की गई है। अनेकान्तात्मक वस्तु के एक-एक अंश को विषम करने वाले अभिप्राय विशेष प्रमाण की सन्तान हैं, उनमें यदि परस्पर प्रीति और अपेक्षा है तो वे सुनय है। अन्यथा दुर्नय। अनेकातमक वस्तु के अमुक अश को मुख्य भाव से ग्रहण करके भो अन्य अंशों का निराकरण नही करता किन्तु उसके प्रति तटस्थभाव रखता है। जैसे पिता की सम्पत्ति में उसके सभी पुत्रों का समान हक होता है। सपूत वही कहा जाता है, जो अपने भाइयों के हक को ईमानदारी से स्वीकार करता है। उनके हड़पने की चेष्टा नही करता। किन्तु उनके साथ सद्भाव रखता है। उसी तरह अनन्त धर्मात्मक वस्तु में सभी नयों का समान अधिकार है, उनमें सुनय वही कहा जायेगा, जो अपने अंश को मुख्य रूप से ग्रहण करके भी अन्य के अंशों का गौण करे, पर उनका निराकरण न करे, उनकी अपेक्षा को और उनके अस्तित्व को स्वीकार करता है। किन्तु जो दूसरे का निराकरण करता है, और अपना ही अधिकार जमाता है वह कुपूत की तरह दुर्नय कहलाता है। इसी से आचार्य समन्तभद्र ने निरपेक्ष नय को मिथ्या और सापेक्ष नय को सम्यक् बतलायाया है।[1]

१. निरपेक्षा, नयामिथ्या सापेक्षा वस्तुतेऽर्थकृत्।
आप्तमीमांसा श्लोक १८

जिस तरह पट के ताना और बाना दोनों ही अलग-अलग निरपेक्ष रह कर शीत निवारण नहीं कर सकते। किन्तु जब ताना बाना सापेक्ष होकर पट का रूप धारण कर लेते हैं, तब वे शीत के निवारण में समर्थ हो जाते है उसी तरह नियतवादों का आग्रह रखने वाले परस्पर निरपेक्ष नय सम्यक्त्व को नहीं पा सकते। किन्तु बहुमूल्य मणियां यदि एक सूत्र में न पिरोई गई हों, और न परस्पर घटक हों, तो वे रत्नावली नहीं कहला सकतीं। जिस तरह एक सूत्र में पिरोई गई मणियां रत्नावली हार बन जाती हैं। उसी तरह सभी नय सापेक्ष होकर सम्यकपने को प्राप्त हो जाते हैं।

निक्षेप मीमांसा—में निक्षेप का स्वरूप और उसके भेदों का विचार किया गया है। निक्षेप के चार भेद हैं, नाम स्थापना, द्रव्य और भाव। उनका प्रयोजन अप्रकृत का निराकरण, प्रकृत का निरूपण, सशय का विनाश और तत्त्वार्थ के निश्चय करने में निक्षेप की सार्थकता है।[1] अनन्त धर्मात्मक वस्तु को व्यवहार में लाने के लिये निक्षेप का प्रयोजन आवश्यक है। गुण रहित वस्तु में व्यवहार के लिए अपनी इच्छा से की गई संज्ञा नाम है। काष्ट कर्म, पुस्तकर्म, चित्र कर्म और अक्षनिक्षेप में यह वही है इस प्रकार स्थापित करने को स्थापना कहते हैं। जो गुणों द्वारा प्राप्त किया जायेगा या प्राप्त होगा वह द्रव्य है जैसे राजपुत्र को राजा कहना। भविष्यत् पर्याय की योग्यता या अतीत-पर्याय के निमित्त से होने वाले व्यवहार का आधार द्रव्य निक्षेप है। जैसे जिसका राज्य चला गया, उसे वर्तमान में राजा कहना अथवा युवराज को अभी राजा कहना। वर्तमान पर्याय विशिष्ट द्रव्य में तत्पर्याय मूलक का व्यवहार का आधार भाव निक्षेप है।

इस सब संक्षिप्त कथन से ग्रन्थ की महत्ता का आभास मिल जाता है। इस तरह अकलंक देव की कृतियां जैन शासन की महत्वपूर्ण और मूल्यवान कृतियां हैं।

प्रमाण संग्रह—इस ग्रन्थ का जैसा नाम है तदनुसार उसमें प्रमाणों, युक्तियों का संग्रह है। इस ग्रन्थ की भाषा और विषय दोनों ही जटिल और दुरूह हैं। यह लघीस्त्रय और न्यायविनिश्चय से कठिन है। ग्रन्थ प्रमेय बहुल है। लगता है इसकी रचना न्याय विनिश्चय के बाद की गई है, क्योंकि इसके कई प्रस्तावों के अन्त में न्याय विनिश्चय की अनेक कारिकाएँ विना किसी उपक्रम वाक्य के पाई जाती हैं। इस ग्रन्थ की नोमि कारिका में प्रयुक्त—'अकलंक महीयसाम्' वाक्य तो अकलंक देव का सूचक है ही, किन्तु इसकी प्रौढ़ शैली भी इसे अकलंक देव की अन्तिम कृति वतलाती है, कारण कि इसकी विचारधारा गहन हो गई है। जान पड़ता है इसमें उन्होंने अपने अवशिष्ट विचारों को रखने का प्रयास किया है। इसमें हेतुओं को उपलब्धि अनुपलब्धि आदि अनेक भेदों का विस्तृत विवेचन किया गया है। जान पड़ता है इस पर आचार्य अनन्तवीर्य कृत प्रमाण संग्रहालंकार नाम को कोई टीका रही है जिसका उल्लेख अनन्तवीर्य ने स्वयं किया है।[2]

प्रमाण संग्रह में ९ प्रस्ताव और साढ़े सतासी ८७½ कारिकाएं हैं। इस पर अकलंक देव ने कारिकाओं के अतिरिक्त पूरक वृत्ति भी लिखी है। इस तरह गद्य-पद्यमय इस ग्रंथ का प्रमाण लगभग अष्टशती के बराबर हो हो जाता है। प्रथम प्रस्ताव में ९ कारिकायें हैं। जिनमें प्रत्यक्ष का लक्षण श्रुत का प्रत्यक्ष अनुमान और आगम-पूर्वक, और प्रमाण का फल आदि का निरूपण है। दूसरे प्रस्ताव में भी ९ कारिकायें हैं, जिनमें परोक्ष के भेद—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क आदि का निरूपण है।

तीसरे प्रस्ताव में १० कारिकाओं द्वारा अनुमान के अवयव, साध्य साधन साध्याभास का लक्षण, सदसदेकान्त में साध्य प्रयोग की असम्भवता, सामान्य विशेषात्मक वस्तु को साध्यता और उसमें दिये जाने वाले संशयादि आठ दोषों के निराकरण आदि का कथन है।

१. अवगयणिवारणट्ठं पयदस्य परूवणा णिमित्तं च।
संशयविणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च॥
—धवला० पु० १ पृ० ३१।

२. सिद्धि विनिश्चय टीका पृ० ८, १०, १३० आदि

चौथे प्रस्ताव में साढ़े ग्यारहकाओं द्वारा त्रिरूप का निराकरण, अन्यथा नुपपत्तिरूप हेतु का समर्थन, और हेतु के उपलब्धि अनुपलब्धि आदि भेदों का विवेचन तथा कारण, पूर्वचर, उत्तरचर, और सहचर हेतुओं समर्थन है।

पांचवें प्रस्ताव में साढ़े दशकारिकाओं में विरुद्धादि हेत्वाभासों का निरूपण किया गया है।

छठे प्रस्ताव में १२½ कारिकाओं द्वारा वाद का लक्षण, जय-पराजय व्यवस्था का स्वरूप, जाति का लक्षण आदि वाद सम्बन्धि कथन दिया है। और अन्त में धर्मकीर्ति आदि द्वारा प्रतिवादियों के प्रति जाड्यादि अप-शब्दों के प्रयोग का सबल उत्तर दिया है।

सातवें प्रस्ताव में १० कारिकाओं में प्रवचन का लक्षण, सर्वज्ञता का समर्थन, अपौरुषेयत्व का खंडन, तत्वज्ञान चारित्र की मोक्ष हेतुता आदि प्रवचन सम्बन्धी विषयों का विवेचन किया है।

आठवें प्रस्ताव में १३ कारिकाओं में सप्तभंगी का निरूपण और नैगमादिनयों का कथन है।

नौवें प्रस्ताव में २ कारिकाओं द्वारा प्रमाण नय और निक्षेप का उपसंहार किया गया है। इस तरह यह ग्रंथ अपनी खास विशेषता रखता है। स्व० न्यायाचार्य पं० महेन्द्र कुमार जी ने अकलंक देव की इस महत्त्वपूर्ण कृतिका सम्पादन कर जैन संस्कृति का बड़ा उपकार किया है। यह ग्रंथ अकलंक ग्रन्थत्रय में प्रकाशित है। इस तरह अकलक देव की सभी कृतियाँ महत्वपूर्ण हैं। और अकलंक की यह जैन न्याय को अपूर्व देन है।

अकलङ्क नाम के अन्य विद्वान

अकलंक नाम के अनेक विद्वान हो गए हैं। जैन साहित्य में अकलंक नाम के अनेक विद्वानों का उल्लेख मिलता है। उनका यहां संक्षिप्त परिचय दिया जाता है :—

अकलंकचन्द्र—नन्दि संघ—सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगण, और कुन्दकुन्दान्वय की पट्टावली के ७३वें गुरु, वर्द्धमान की कीर्ति के पश्चात् और ललित कीर्तिके पूर्व उल्लिखित उक्त पट्टावली के अनुसार इनका समय ११९९—१२०० ईस्वी है। —(ग्वालियर पट्टान्तर्गत)

अकलङ्क त्रैविद्य—मूलसंघ देशीयगण पुस्तक गच्छ कोण्ड कुन्दान्वय के कोल्हापुरीय माघनन्दि के प्रशिष्य, देवकीर्ति, (जिनका स्वर्गवास ११६३ ई० में हुआ) के शिष्य, शुभचन्द्र त्रैविद्यदेव और गण्डविमुक्तवादि चतुर्मुख रामचन्द्र त्रैविद्य के सधर्मा, माणिक्य भंडारि मरियाने, महाप्रधान दण्डनायक भरत और श्रीकरण हेग्गडे बूचिमय्य के गुरुवादि वज्रांकुश अकलंक त्रैविद्य थे।[1] इनका समय विक्रम की १२वीं शताब्दी है।

अककलं पण्डित—इनका उल्लेख श्रवण बेलगोलस्थ चन्द्रगिरि शिलालेख नं० १६९ में, जो ईस्वी सन् १०९८ में उत्कीर्ण हुआ है पाया जाता है।[2]

अकलंकदेव—इन्होंने द्रविड़ संघ नन्द्यान्वय के वादिराज मुनि के शिष्य महामण्डलाचार्य राजगुरु पुष्पसेन मुनि के साथ शक सं० ११७८ (सन् १२५६) में हुम्मच में समाधि मरण किया था।[3] यह सम्भवतः मुनि पुष्पसेन के सधर्मा थे। और इनके शिष्य गुणसेन सैद्धान्तिक थे।

अकलंकमुनिप—नन्दिसंघ-बलात्कारगण के जयकीर्ति के शिष्य, चन्द्रप्रभ के सधर्मा, विजयकीर्ति, पाल्य-कीर्ति, बिमलकीर्ति, श्रीपालकीर्ति और आर्यिका चन्द्रमती के गुरु थे। संगीतपुर नरेश सालुवदेवराय इनका भक्त था। बंकापुर में इन्होंने नृप मादन एल्लप के मदोन्मत्त प्रधान गजेन्द्र को अपने तपोबल से शान्त किया था। इनका स्वर्गवास शक सं० १४१७ (सन् १५३५ ई०) में हुआ था।[4]

---

१. श्रवण बेलगोल शि० न० (६४) पृ० २८, न्याय कुमुदचन्द भा० १ प्रस्ता० पृ० २५।

२. श्रवण बेलगोल शि० न० १६९ पृ० ३०९।

३. एपीग्राफिया, कर्णाटिका, ८, नागर (४४)

४. प्रशस्ति संग्रह आरा पृ० १२९, १३०।

अकलंक देव—मूलसंघ देशीयगण पुस्तकगच्छ कुन्द-कुन्दान्वय में श्रवण बेलगोल मठ के चारुकीर्ति पंडित की शिष्य परम्परा में उत्पन्न तथा संगीतपुर (हाडुहल्लि दक्षिणी कनाराजिला) के मठाधीश भट्टारक थे। यह कर्णाटक शब्दानुशासन के कर्त्ता भट्टाकलंक देव के गुरु, और सम्भवतया अकलंक मुनिप के प्रशिष्य थे। इनका समय सन् १५५०—७५ ई० के लगभग है। (देखो अंग्रेजी जैन गजट १९२३ ई० पृ० २१७)

अकलंकदेव (भट्टाकलंक देव)—यह मूलसंघ देशीगण के विद्वान सुधापुर के भट्टारक, विजय नरेश वेंकटपतिराय (१५८६—१६१५ ई०) से समादृत तथा कर्णाटक शब्दानुशासन नामक प्रसिद्ध कनड़ी व्यकरण और मंजरी मकरन्द शोभकृत संवत्सर शक सं० १५२६ सन् १६०४ ई० में समाप्त किया) के रचयिता थे।

राय बहादुर आर नरसिंहाचार्य के कथनानुसार यह विभिन्न सम्प्रदायों के न्यायशास्त्र में निष्णात थे। एक निपुण टीकाकार तथा संस्कृत और कन्नड़ उभय भाषाओं के व्याकरण के महा पण्डित थे। तत्कालीन अनेक राजाओं की सभाओं में बाद में विजय प्राप्त कर जैनधर्म को महती प्रभावना की थी। राजाबली कथे के कर्ता देवचन्द्र के अनुसार इन्होंने सुधापुर में ही विविधज्ञान-विज्ञान की शिक्षा प्राप्त की थी। यह छह भाषाओं में कविता कर सकते थे। यह कर्णाटक शब्दानुशासन की रचना द्वारा लोकप्रिय थे। इनका समय विक्रम की १७वी शताब्दी का अन्तिम चरण (१६७२) है। (देखो, आर० नरसिहाचार्य कर्णाटक शब्दानुशासन की भूमिका, कर्णाटक बिचरिते, और राजावलि कथे।)

अकलंक मुनिप—देशीगण पुस्तकगच्छ के कनकगिरि (कार्कल) के भट्टारक थे। शक सं० १७३५ (वि० सं० १८७०) सन् १८१३ ई० में इन्होंने समाधिमरण किया था।

(एपि० कर्णाटिका ४ चामराजनगर १४६ और १५०)

अकलंक देव—इन्हें अकलंक प्रतिष्ठा पाठ या प्रतिष्ठाकल्प के रचयिता कहा जाता है। इस ग्रन्थ में ९वीं शताब्दी से लेकर सोमसेन के त्रिवर्णाचार (उपलब्ध प्राचीनतम प्रति) १७०२ ई० के उल्लेख या उद्धरण आदि पाये जाते हैं। अतः इनका समय १८वीं शताब्दी का पूर्वार्ध हो सकता है।

(प्रशस्लि स० आरा पृ० १६५,१६८, १८०।)

अकलंक—'परमागमसार' नामक कन्नड़ ग्रन्थ के रचयिता।

(देखो, जैन सि० भ० आरा की ग्रन्थ सूची पृ० १८)

अकलंक—चैत्यवन्दनादि प्रतिक्रमण सूत्र, साधु श्राद्ध प्रतिक्रमण और पदपर्याय मंजरी आदि के कर्ता।

न्याय कुमुदचन्द प्रस्तावना पृ० ५०

परवादिमल्ल

यह अपने समय के बहुत बड़े विद्वान थे। इनकी गुरु परम्परा ज्ञात नहीं हुई। पर यह परवादिमल्ल के रूप में प्रसिद्ध थे। मल्लिषेण प्रशस्ति में पत्रवादी विमलचन्द्र और इन्द्रनन्दि के वर्णन के पश्चात् घटवाद घटा कोटि-कोविद परवादि मल्लदेव का स्तवन किया गया है। और राजा शुभतुंग की सभा में उन्ही के मुख से अपने नाम की सार्थकता इस प्रकार बतलाई गई है ;—

घट-वाद-घटा-कोटि-कोविदः कोविदां प्रवाक् :
परवादिमल्ल-देवो देव एव न संशयः ॥२८
चूर्णि— येनेयमात्मनामधेयनिरुक्तिरुक्तानाम पृष्ठवन्तं कृष्णराजं प्रति।
गृहीत पक्षः दितरः परः स्यात् तद्वादिनस्ते पर वादिनः स्युः।
तेषां ही मल्लः परवादिमल्लः तन्नाम मन्नाम वदन्ति सन्तः ॥२९

इस उल्लेख पर से स्पष्ट है कि ईसा की १२वीं शताब्दी के प्रारम्भ में परवादिमल्ल की गणना महान-वादी और प्राचीन आचार्यों में की जाती थी। परन्तु उस समय लोग उनके मूल नाम को भूल चुके थे। परवादी-मल्ल अकलंक देव की परम्मपरा के विद्वान जान पड़ते हैं।

परवादिमल्ल के समकालीन राजा, जिसकी सभा में उन्होंने अपने नाम की सार्थकता प्रकट की थी, राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज प्रथम शुभतुंग (७५७—७७३) था। संभव है इन्हीं परवादिमल्ल ने धर्मोत्तर कृत न्यायबिन्दु टिप्पण पर टीका लिखी हो। अतएव इन परवादि मल्ल प्रथम का समय ७७० से ८०० के लगभग हो सकता है।

यह प्रशस्ति मल्लिषेण मुनि के शक सं० १०५० (सन् ११२८) में उनके शरीर त्याग करने की स्मृति में उत्कीर्ण की गई थी। उक्त प्रशस्ति में अकलंक का साहसतुंग की सभा में वादियों को अपने नाम के अर्थ का करना इस बात का साक्षी है कि प्रशस्तिकार इन दो राजाओं को पृथक् समझते थे। इस प्रशस्ति में अनेक प्राचीन आचार्यों के नामों का उल्लेख किया गया है। महावादी समन्तभद्र, महाध्यानी सिंहनन्दि, षण्मासवादी वक्रग्रीव, नवस्त्रोतकारी वज्रनन्दि, त्रिलक्षणकदर्थन के कर्ता पात्रकेसरी गुरु, सुमति सप्तक के रचयिता सुमतिदेव, महाप्रभावशाली कुमारसेन, मुनि श्रेष्ठ चिन्तामणि, दण्डि कवि द्वारा स्मृत कवि चूड़ामणि श्री वर्धदेव, और सप्ततिवाद विजेता महेश्वर मुनि के बाद घटावतीर्ण तारादेवी के विजेता अकलंक देव का स्तवन किया गया है। इससे इसप्रशस्ति की महत्ता स्पष्ट है।

रविषेणाचार्य

रविषेणाचार्य—ने अपने संघ और गण-गच्छादि का कोई उल्लेख नहीं किया। परन्तु सेनान्त नाम होने से वे सेनसंघ के विद्वान जान पड़ते हैं। इन्होंने अपना गुरु परम्परा का उल्लेख निम्न प्रकार प्रकट किया है :—

आसीदिन्द्रगुरो दिवाकर यतिः शिष्योऽस्य चार्हन्मुनि—
स्तस्माल्लक्ष्मणसेन सन्मुनिरदः शिष्यो रविस्तु स्मृतम् ।।

इन्द्र गुरु के दिवाकर यति, दिवाकर यति के अर्हन्मुनि, अर्हन्मुनि के लक्ष्मणसेन, ओर लक्ष्मणसेन के शिष्य रविषेण थे। इसके सिवाय इन्होंने अपना कोई परिचय नहीं दिया। और न यही सूचित किया कि वे किस प्रान्त के निवासी थे। इनके मातापिता कौन थे, उनका गृहस्थ जीवन कैसा रहा? और मुनिजीवन कब धारण किया और उसमें क्या कुछ कार्य किया। इसका कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। आपकी एक मात्र कृति पद्म चरित या बलभद्र चरित्र है। जो संस्कृत भाषा का एक सुन्दर चरित्र ग्रन्थ है। इसमें १२३ पर्व हैं जिनकी श्लोक संख्या बीस हजार के लगभग है।

ग्रन्थ में बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के तीर्थ में होने वाले बलभद्र या राम का चरित वर्णित है। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र इतने अधिक लोक प्रिय हुए हैं कि उनका वर्णन भारतीय साहित्य में ही नहीं किन्तु भारत से बाहर के साहित्य में भी पाया जाता है। और संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओं में और प्रान्तीय-भाषाओं में भी उनका जीवन-परिचय निबद्ध मिलता है।

आचार्य रविषेण ने लिखा है कि तीर्थंकर वर्द्धमानने पद्म मुनि का जो चरित कहा था वही इन्द्रभूतिगणधर ने धारिणी पुत्र सुधर्मको कहा, और सुधर्म ने जंबू स्वामी से कहा। और वही आचार्य परम्परा से आता हुआ उत्तर वाग्मी और श्रेष्ठ वक्ता कीर्तिधर आचार्य को प्राप्त हुआ। उनके लिखे हुए चरित्र को पाकर रविषेण ने यह प्रयत्न किया है।[1] इतना ही नहीं किन्तु अन्तिम १२३वें पर्व के १६६वें श्लोक में उन्होंने इसी प्रकार उल्लेख किया है :—

---

१. वर्द्धमान जिनेन्द्रोक्तः सोऽयमर्थो गणेश्वरम् ।
इन्द्रभूति परिप्राप्त सुधर्मं धारिणी भवम् ।।४१
प्रभव क्रमतः कीर्ति ततोऽनुत्तर वाग्मिनम् ।
लिखित तस्य सम्प्राप्य रवेर्यत्नोऽयमुद्गतः ।।४२।।

निर्दिष्टं सकलैर्नतेन भुवनः श्रीवर्द्धमानेन यत् ।
तत्त्वं वासव भूतिना निगदितं जम्बोः प्रशिष्यस्य च ।
शिष्येणोत्तर वाग्मिना प्रकटितं पद्मस्य वृत्तं मुनेः ।
श्रेयः साधु समाधि वृद्धि करणं सर्वोत्तमं मङ्गलम् ।।१६६

अपभ्रंश भाषा के कवि स्वयंभूने पद्म चरित के आधार से "कित्तिहरेण अनुत्तरवाएं" वाक्य के साथ अनुत्तर वाग्मी श्रेष्ठ वक्ता कीर्तिधर का उल्लेख किया है। परन्तु प्रेमी जी ने इसका कोई उल्लेख नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि रविषेण ने पद्ममुनि का चरित कीर्तिधर नाम के आचार्य के द्वारा लिखित किसी ग्रन्थ पर से ले लिया है और उसी के अनुसार इसकी रचना की गई है। पर कीर्तिधर आचार्य का अन्य कोई उल्लेख इस समय उपलब्ध नहीं है। और न अन्यत्र से उसका समर्थन होता है। जान पड़ता है उनका यह ग्रन्थ विनष्ट हो गया है। इस तरह बहुत सा प्राचीन साहित्य सदा के लिये लुप्त हो गया है।

यहां यह अवश्य विचारणीय है कि विमल सूरि के 'पउमचरिउ' के साथ रविषेण की इस रचना का बहुत कुछ साम्य अनेक स्थलों पर दिखाई देता है। इधर पउमचरिय का वह रचना काल भी संदिग्ध है[1]। वह उस काल की रचना नहीं है। प्रशस्ति में जो परम्परा दी गई है उसका भी समर्थन अन्यत्र से नहीं हो रहा है। ग्रन्थ की भाषा और रचना शैली को देखते हुए वह उस काल की रचना नहीं जान पड़ती। उस समय महाराष्ट्रीय प्राकृत का इतना प्रांजल रूप साहित्यिक रचना में उपलब्ध नहीं होता। और ग्रन्थ के प्रत्येक उद्देश्य के अन्त में गाहिणी, शरभ आदि छन्दों का, गीति में यमक और प्रत्येक सर्गान्त में विमल शब्द का प्रयोग भी इसकी अर्वाचीनता का ही द्योतक है[2]। इस सम्बन्ध में अभी और गहरा विचार करने तथा अन्य प्रमाणों के अन्वेषण करने की आवश्यकता है। पर कुवलय माला[3] (वि० सं० ८३५ के लगभग) में दोनों का उल्लेख होने से यह निश्चित है कि पउमचरित और पद्मचरित दोनों ही उससे पूर्व की रचना हैं इससे पूर्व का अन्य कोई उल्लेख मेरे देखने में ही नहीं आया। अतः वह महावीर निर्वाण से ५३० (वि० सं० ६०) की रचना नहीं हो सकती।

पुन्नाट संघी जिनसेन (शक सं० ७०५) ने रविषेण[4] और उनके पद्मचरित का उल्लेख किया है।

पद्मचरित एक संस्कृत पद्यबद्ध चरित काव्य है। इसमें महाकाव्य के सभी लक्षण मौजुद हैं। ग्रन्थ की पर्व संख्या १२३ है। इसमें आठवें बलभद्र राम, और आठवें नारायण लक्ष्मण, भरत सीता, जनक, अंजना पवनंजय, भामंडल, हनुमान, और राक्षसवंशी रावण, विभीषण और सुग्रीवादिक का परिचय अंकित किया गया है और प्रसंगवश अनेक कथानक संकलित हैं। राम कथा के अनेक रूप हैं। जैन ग्रन्थों में इसके दो रूप मिलते हैं। ग्रन्थ में सीता के आदर्श की सुन्दर झांकी प्रस्तुत की गई है। और राम के जीवन की महत्ता का दिग्दर्शन कराया गया

१. पंचेवयवाससया दुसमाए तीसवरिस संजुत्ता।
वीरे सिद्धमुवगए तओ निबद्धं इमं चरियं ।।१०३
—पउम चरिय प्रशस्ति

२. देखो, पउमचरिउ का अन्तः परीक्षण, अनेकान्त वर्ष ५ किरण १०-११ पृ० ३३७

३. जारिसियं विमलंको विमलंको तारिसं लहइ अत्थं।
अमयमइयं च सरसं सरसं चिय पाइअं जस्स।।
जेहि कए रमणिज्जे वरंगपउमाणचरियवित्थारे।
कहव ण सलाह णिज्जे ते कइणो जडिय-रविसेणो।।
—कुवलयमाला

४. कृतपद्मोदयो द्योता प्रत्यहं परिवर्तिता।
मूर्तिः काव्यमयी लोकेरवे रिव रवेः प्रिया ।।३४
—हरिवंश पुराण १—३४

है। रूप सौन्दर्य के चित्रण में कवि ने कमाल कर दिखाया है। ग्रन्थ में चरित्र के साथ वन, पर्वत, नदियों और ऋतु आदि के प्राकृतिक दृश्यों, जन्म विवाहादि सामाजिक उत्सवों, शृंगारादि रसों, हाव-भाव विलासों तथा सम्पत्ति विपत्ति में सुख-दुखों के उतार चढ़ाव का हृदयग्राही चित्रण किया गया है। धार्मिक उपदेशों का यथास्थान वर्णन दिया हुआ है। प्रसंगानुसार अनेक रोचक कथाओं को जोड़कर ग्रन्थ को आकर्षक और रुचि पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया है। ग्रन्थकर्ता ने प्राणियों के कर्मफलों को दिखलाने में अधिक रस लिया है। क्योंकि उनके सामने नैतिकता का शुष्क आदर्श नहीं था।

छन्दों कि दृष्टि से ग्रन्थ में आर्या, वसन्ततिलका, मन्दाक्रान्ता, द्रुतविलम्बित, रथोद्धता, शिखरिणी, दोधक वंशस्थ, उपजाति, पृथ्वी, उपेन्द्रवज्रा स्रग्धरा, इन्द्रवज्रा, भुजंगप्रयात, वियोगिनी, पुष्पिताग्रा, तोटक, विद्युन्माला हरिणी, चतुष्पदिका और आर्यगीति आदि छन्दों का उपयोग किया गया है। इस सब विवेचन से पद्मचरित की महत्ता का सहज अनुभव हो जाता है।

रविषेणाचार्य ने पद्मचरित का निर्माण भगवान महावीर के निर्वाण से १२०३ वर्ष छह महीने व्यतीत होने पर वि० सं० ७३४ (सन् ६७७ ई०) के लगभग किया है। जैसा कि उसकी प्रशस्ति के निम्न पद्य से स्पष्ट है :—

द्विशताभ्यधिके समासहस्रे समतीतेऽर्धचतुर्थ वर्षयुक्ते।
जिन भास्कर वर्द्धमान सिद्धे चरितं पद्ममुनेरिदं निबद्धम्॥१८१

शामकुण्डाचार्य

शामकुंडाचार्य—अपने समय के बड़े विद्वान थे। इन्होंने पद्धति रूप टीका का निर्माण किया था। यह टीका षट्खंडागम के छठवें खण्ड को छोड़कर आदि के पांच खंडों पर तथा दूसरे सिद्धान्तग्रन्थ कषाय-प्राभृत पर थी। यह टीका पद्धति रूप थी। वृत्ति सूत्र के विषम पदों के भंजन को—विश्लेषणात्मक विवरण को—पद्धति कहते हैं—"वित्ति सुत्तविसम—पदभंजियाए विवरणाए पंजियाववएसादो सुत्त वित्ति विवरणाए पद्धई ववएसादो—" (जय ध० प्रस्ता० पृ० १२ टि०) इससे जान पड़ता है कि शामकुण्डाचार्य के सम्मुख कोई वृत्ति सूत्र रहे हैं। जिनकी उन्होंने पद्धति लिखी थी। संभव है कि शामकुण्डाचार्य के समक्ष यतिवृषभाचार्य कृत वृत्ति सूत्र ही रहे हों, जिन पर बारह हजार श्लोक प्रमाण पद्धति रची हो। इन्द्र नन्दि ने श्रुतावतार में उसका उल्लेख किया है :—

काले ततः कियत्यपि गते पुनः शामकुण्डसंज्ञेन।
आचार्येण ज्ञात्वा द्विभेद मप्यागमः कात्स्न्यात् ॥१६२
द्वादश गुणित सहस्रं ग्रन्थं सिद्धान्तयोरुभयो।
षष्ठेन विना खण्डेन पृथु महाबन्ध संज्ञेन ॥१६३

शामकुण्डाचार्य का समय संभवतः सातवीं शताब्दी हो, इस विषय में निश्चयतः कुछ नहीं कहा जा सकता।

बापनन्दि मुनि

यह तमिल व्याकरणों—तोलकापियम, अगत्तियम् तथा अविनयम् नामक व्याकरण ग्रन्थों—के ज्ञाता ही नहीं थे किन्तु संस्कृत व्याकरण जैनेन्द्र में भी प्रवीण थे। इन्होंने शिव गंग नाम के सामन्त के अनुरोध पर 'नन्नू लू' नाम के व्याकरण की रचना की थी। यह ग्रन्थ सबसे अधिक प्रचलित है, इस ग्रंथ पर अनेक टीकाएं हैं। उनमे मुख्य टीका मल्लिनाथ की है। यह ग्रंथ स्कूल और कालेजों में पाठ्य क्रम के रूप में निर्धारित है। जैनेन्द्र व्याकरण के ज्ञाता होने के कारण इनका समय पूज्यपाद के बाद होना चाहिये। अर्थात् यह ईसा की सातवीं शताब्दी के विद्वान हैं।

इन्द्र गुरु

यह दिवाकर यति के शिष्य थे। पद्मचरित के कर्ता रविषेण भी इन्हीं की परम्परा में हुए हैं। रविषेण ने पद्मचरित की रचना वीर नि० संवत १२०३ सन् ६४७ में की है अतः इन्द्र गुरु का समय ईसा की ७वीं सदी का पूर्वार्ध होना चाहिये।

देवसेन

इस नाम के अनेक विद्वान हो गए हैं। उनमें प्रथम देवसेन वे हैं, जिनका उल्लेख शक सं० ६२२ सन् ७०० ई० (वि० सं० ७५७) के चन्द्रगिरि पर्वत के एक शिलालेख में पाया जाता है। महामुनि देवसेन व्रतपाल कर स्वर्गवासी हुए।

(जैन लेख सं० भा० १लेख नं० ३२ (११३)

बलदेव गुरु

यह कित्तूर में वेल्लाद के धर्ममेन गुरु के शिष्य थे। इन्होंने सन्यासव्रत का पालन कर शरीर का परित्याग किया था, यह लेख लगभग शक सं० ६२२ सन् ७०० का है। अतः इनका समय सातवीं शताब्दी का अन्तिम चरण है।

(जैन लेख सं० भा० १ लेख नं० ७ (२४) पृ० ४)

उग्रसेन गुरु

यह मलनूर के निगुरु के शिष्य थे। इन्होंने एक महीने का सन्यास व्रत लेकर समताभाव से शरीर का परित्याग किया था। लेख का समय शक सं० ६२२ सन् ७०० है। अतः इनका समय ईसा की सातवीं शताब्दी का अन्तिम चरण है।

(जैन लेख संग्रह भा० १ पृ० ४)

गुणसेन मुनि

ये अगलि के भांति गुरु के शिष्य गुणसेन ने वृताचरण कर स्वर्गवासी हुए। यह लेख शक सं० ६२२ सन् ७०० ईस्वी का है।

(जैन लेख संग्र० भा० १ पृ० ४)

नागसेनगुरु

यह ऋषभसेन गुरु के शिष्य थे। इन्होंने संन्यास—विधि से शरीर का परित्याग कर देवलोक प्राप्त किया। लेख का समय लगभग शक सं० ६२२ सन् ७०० है।

(जैन लेख सं० भा. १ पृ० ६)

सिंहनन्दिगुरु

यह वेट्टेडे गुरु के शिष्य थे। इन्होंने भी सन्यास विधि से शरीर का परित्याग किया था। यह लेख भी शक सं० ६२२ सन ७०० का उत्कीर्ण किया हुआ है। अतः सिंहनन्दि गुरु ईसा की सातवीं शताब्दी के विद्वान है।

(जैन लेख सं० भा. १ पृ० ७)

गुणदेव सूरि

ये शास्त्र वेदी थे। बड़े तपस्वी और कष्ट सहिष्णु थे। इन्होंने कलवप्प पर्वत के शिखर पर समाधिमरण पूर्वक आराधनाओं का आराधन कर देह त्याग किया था। इनका समय अनुमानतः लगभग शक स० ६२२ सन् ७०० है।

(—जैन लेख सं० भा० १ ले. १६० पृ० ३०८)

गुण कीर्ति—

इन्होंने चन्द्रगिरि पर देहोत्सर्ग किया था। यह शिलालेख शक सं० ६२२ सन् ७०० ई० का है।

जैन लेख सं भा० १ ले० ३० (१०५) पृ. १३

तेल मोलि देवर (तोलांमोलित्तेरव)

तेल मोलि देवर (तोला मोलि त्तेरव)— ये तमिल भाषा के कवि थे। इन्होंने 'चूड़ामणि' नाम का एक तमिल जैन ग्रन्थ राजा सेकत (६५०ई०) के राज्य काल में उनके पिता राजा मार वर्म्मन अवेतीचूलमनि की स्मृति में बनाया था।

यह एक लघु काव्य ग्रन्थ है, इसकी रचना शैली 'जीवक चिन्तामणि' के ढंग की है। तमिलनाड में पुरातन समय से भावी बातों की सूचना देने वाले ज्योतिषयों की एक जाति रही है, जिसे 'नादन' कहते हैं। इसमें भविष्यवक्ता का प्रभाव, वधू द्वारा वर का चुनाव। युद्ध में वीरों के आचरण, बहुविवाह की प्रथा आदि का वर्णन है। इसकी कथा भू-लोक और स्वर्ग लोक दोनों से सम्बन्ध रखती है। प्रजापति राजा की दो पत्नियाँ थीं, दोनों से उसके दो पुत्र हुए। एक का नाम विजयंत, जो गौर वर्ण था। दूसरे का नाम तिविट्टन था, जो कृष्ण वर्ण था। दोनों बालक अत्यन्त सुन्दर थे। एक दिन भविष्यवक्ता ने आकर कहा कि तिवट्टन का विवाह स्वर्ग लोक की एक अप्सरा से होगा। उसी समय अप्सराओं की रानी को भी अपनी कन्या के विवाह के सम्बन्ध में ऐसा ही स्वप्न हुआ। अन्त में दोनों का विवाह सम्पन्न हो गया। इसमें तिविट्टन की कथा और अप्सरा की कन्या के साथ विवाह आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। और कथा के अन्त में राजा का राज्य परित्याग कर सन्यासी होने का उल्लेख है। साथ में जैन धर्म के सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। कवि का समय भी ६५० ईस्वी है।

चन्द्रनन्दि

चन्द्रनन्दिः—शिष्य कुमारनन्दि का उल्लेख श्री पुरुष के दान-पत्र में पाया जाता है, जो शक सं०६७८ सन् ७७६ (वि० सं० ८३३) का उत्कीर्ण किया हुआ है। और जो श्रीपुर के जिनालय को दिया गया था। इससे चन्द्रनन्दि का समय ईसा की ८वीं शताब्दी का मध्यकाल सुनिश्चित है।

जयदेव पंडित

जयदेव पंडित—मूलसंघान्वय देवगण शाखा के रामदेवाचार्य के शिष्य थे। इनके शिष्य विजयदेव पंडिताचार्य को शंख वस्ति के धवल जिनालय के लिए शक सं० ६५६ (वि० सं० ७६१) में विजय संवत्सर द्वितीय में माघ पूर्णिमा को कुछ भूमि पश्चिमी चालुक्य विक्रमादित्य द्वितीय ने दी थी।

जैन लेख सं० भा०२ लेख नं० ११५

विजयकीर्ति—मुनि

यापनीय नन्दिसंघ पुंनागवृक्ष मूलगण के विद्वानों की परम्परा में कूविलाचार्य के शिष्य थे। इनके शिष्य

अर्ककीर्ति को शक सं० ७३५ (सन् ८१३) में जेठ महीने के शुक्ल पक्ष की दशमी चन्द्रवार के दिन शिलाग्राम के जिनेन्द्र भवन को जाल मंगल नाम का गांव उक्त अर्ककीर्ति को दान में दिया गया था। अतः विजयकीर्ति का समय ईसा की ८वीं शताब्दी है।

(जैन लेख सं० भा०२ पृ० १३७)

विमलचंद्राचार्य

मूलसंघ के नन्दिसंघान्वय में एरेगित्तू नामक गण में और पुलिकल गच्छ में चन्द्रनन्दि गुरु हुए। इनके शिष्य मुनि कुमारनन्दि थे, जो विद्वानों में अग्रणी थे। इन कुमारनन्दि के शिष्य जिनवाणी द्वारा अपनी कीर्ति को अर्जन करने वाले कीर्तिनन्द्याचार्य हुए। कीर्तिनन्द्याचार्य के प्रिय शिष्य विमल चन्द्राचार्य हुए। जो शिष्यजनों के मिथ्याज्ञानान्धकार के विनाश करने के लिए सूर्य के समान थे। महर्षि विमलचन्द्र के धर्मोपदेश से निर्गुन्द्र युवराज जिनका पहला लाम 'दुण्डु' था और जो बाणकुलके नाशक थे। इनके पुत्र पृथिवी निर्गुन्द्रराज हुए। इनका पहला नाम परभगूल था इनकी पत्नी का नाम कुन्दाच्चि था। जो सगर कुलतिलक मरुवर्मा की पुत्री थी, और इनकी माता पल्लवाधिराज की प्रिय पुत्री थी जो मरुवर्मा की पत्नी थी। कुन्दाच्चि ने श्रीपुर की उत्तर दिशा में लोक-तिलक नाम का जिनमन्दिर बनवाया था। उसकी मरमत नई वृद्धि, देवपूजा और दान धर्म आदि की प्रवृत्ति के लिये पृथिवी निर्गुन्द्रराज के कहने से महाराजाधिराज परमेश्वर श्री जसहितदेव ने निर्गुन्द्र देश में आने वाले पोन्नल्लि ग्राम का दान सब करों और बाधाओं से मुक्त करके दिया। लेख में इस गांव की सीमा दी हुई है। चूंकि यह लेख शक सं०६६८ सन् ७७६ ई० में उत्कीर्ण किया गया था। अतः विमल चन्द्राचार्य का समय ७७६ ईस्वी है।

(जैन लेख संग्रह भा० २ पृ० १०६)

इस लेख में विमल चन्द्राचार्य की गुरु परम्परा का उल्लेख दिया हुआ है। जिनके नाम ऊपर दिये हुए हैं।

कीर्तिनन्दि—यह विमल चन्द्राचार्य के गुरु थे। इनका समय उक्त लेखानुसार सन् ७५६ होना चाहिए।

विशेषवादि

यह अपने समय के विशिष्ट विद्वान थे। इसी से जिनसेन और वादिराज ने उनका स्मरण किया है। पुन्नाटसंघी जिनसेन ने हरिवंशपुराण में उनका स्मरण निम्न रूप में किया है:—

योऽशेषोक्ति विशेषेषु विशेषः पद्यगद्ययोः।
विशेषवादिता तस्य विशेषत्रयवादिनः।।३७

जो गद्य पद्य सम्बन्धी समस्त विशिष्ट उक्तियों के विषय में विशेष—तिलकरूप हैं, तथा जो विशेषत्रय (ग्रंथ विशेष) का निरूपण करने वाले हैं। ऐसे विशेषवादी कवि का विशेष वादीपना सर्वत्र प्रसिद्ध है।

शाकटायन ने अपने एक सूत्र में कहा है कि—'उप विशेषवादिनं कवयः'। (१३१०४) सारे कवि विशेष वादि से नीचे हैं। आचार्यवादिराज ने भी पार्श्वनाथचरित में उनके 'विशेषाभ्युदय' काव्य की प्रशंसा की है १ जो गद्य पद्य मय महाकाव्य के रूप में प्रसिद्ध होगा। शाकटायन यापनीय संघ के विद्वान थे प्रेमीजी ने विशेषवादी को यापनीय लिखा है। इनका समय शक सं० ७०५ (वी० सं० ८४०) सन् ७८३से पूर्ववर्ती है। संभवतः विशेषवादी आठवीं शताब्दी के विद्वान हों।

१. विशेष वादिगीर्गुम्फश्रवणासक्तबुद्धयः।
अक्लेशादधि गच्छन्ति विशेषाभ्युदयं बुधाः।।
—वादिराज पार्श्वनाथ चरित

चंद्रसेन

यह पंच स्तूपान्वय के विद्वान मुनि थे। यह वीरसेन के दादा गुरु और आर्यनन्दि के गुरु थे। इनका समय ईसा की ८वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है।

आर्यनंदि

यह पंच स्तूपान्वय के विद्वान थे और वीरसेन के दीक्षा गुरु थे। और चन्द्रसेन के शिष्य थे।१ इनका समय भी ईसा की ८वीं शताब्दी होना चाहिए।

एलाचार्य

एलाचार्य किस अन्वय या गण-गच्छ के विद्वान आचार्य थे, यह कुछ ज्ञात नहीं होता। सिद्धान्त शास्त्रों के विशेष ज्ञाता विद्वान थे, और महान तपस्वी थे। और चित्रकूटपुर (चित्तौड़) के निवासी थे। इन्हीं से वीरसेन ने सकल सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन किया था। इसी कारण एलाचार्य वीरसेन के विद्या गुरु थे। वीरसेन ने इनसे षट् खण्डागम और कसायपाहुड का परिज्ञान कर धवला और जय धवला टीकाओं का निर्माण किया। वीरसेनाचार्य ने धवला टीका प्रशस्ति में एलाचार्य का निम्न शब्दों में उल्लेख किया है :—

जस्स पसाएण मए सिद्धंत मिदं हि अहिलहुदं।
महुसो एलाइरियो पसियउ वर वीरसेणस्स ॥१॥

वीरसेनाचार्य ने अपनी धवलाटीका शक सं० ७३८ सन् ८११ में बनाकर समाप्त की। अतः इन एलाचार्य का समय सन् ७७५ से ८०० के मध्य होना चाहिए।

कुमारनन्दी

ये अपने समय के विशिष्ट विद्वान थे। आचार्य विद्यानन्द ने प्रमाण परीक्षा में इनका उल्लेख किया है। तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक पृ० २८० में कुमारनन्दि के वादन्याय का उल्लेख किया है :—

कुमारनन्दिनश्चाहुर्वादिन्याय विचक्षणाः।

पत्र परीक्षा के पृष्ठ ३ में—'कुमारनन्दिभट्टारके रपिस्ववादन्याये निगदितत्त्वात्" लिखकर निम्न कारिकाएँ उद्धृत की हैं—

"प्रतिपाद्यानुरोधेन प्रयोगेषु पुनर्यथा।
प्रतिज्ञा प्रोच्यते तज्ज्ञैः तथोदाहरणादिकम् ॥१
न चैवं साधनस्यैक लक्षणत्वं विरुध्यते।
हेतुलक्षणतापायादन्यांशस्य तथोदितम् ॥२

१. अज्जज्जणंदि सिस्सेणुज्जुव-कम्मस्स चंदसेणस्स।
तह णत्तुवेण पंचत्थुहण्यं भाणुणा मुणिणा॥
—धवला प्रशस्ति

२. काले गते कियत्यपि ततः पुनश्चित्रकूटपुरवासी।
श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धान्ततत्त्वज्ञः ॥ १७७
तस्य समीपे सकलं सिद्धान्तमधीत्य वीरसेनगुरुः।
उपरितम निबन्धनाद्यधिकारानष्ट च लिलेख ॥१७८
—इन्द्रनन्दि श्रुतावतार

अन्यथानुपपत्येक लक्षणं लिङ्ग मङ्यते।
प्रयोग परिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः[1] ॥३

ये कारिकाएं कुमारनन्दि के वादन्याय की हैं। खेद है कि यह ग्रन्थ अप्राप्य है। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि कुमारनन्दि का वादन्याय नाम का कोई महत्वपूर्ण तर्क ग्रन्थ प्रसिद्ध रहा है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कुमारनन्दि भट्टारक विद्यानन्द से पूर्ववर्ती है। और पात्रकेसरी से बाद के जान पड़ते हैं क्योंकि वादन्याय के उक्त पद्य में हेतु के अन्यथानुपपत्येक लक्षण का उल्लेख है।

गंगवंश के पृथ्वीकोंगणि महाराज के एक दानपत्र में जो शकसं० ६६८ ई० सन् ७७६ में उत्कीर्ण हुआ है, उसमें मूलसंघ के नन्दिसंघस्थित चन्द्र-नन्दि को दिये गए दान का उल्लेख है। उसमें कुमारनन्दि की गुरु परम्परा दी है।[2] यह अकलङ्क देव के आस-पास के विद्वान हैं, क्योंकि इनके वादन्याय पर सिद्धि विनिश्चय के जल्पसिद्धि प्रकरण का प्रभाव है।

उदयदेव

यह मूल संघान्वयी देवगणशाखा के विद्वान थे। इन्हें 'निरवद्य पंडित' भी कहते थे। यह आचार्य पूज्यपादके शिष्य थे। इन्हें शक सं० ६५१ सन् ७५६ (वि० सं० ७८६) के फाल्गुन महीने की पूर्णिमा के दिन नेरूरगांव से प्राप्त ताम्रपत्र के अनुसार महाराजाधिराज विजयादित्य ने अपने राज्य के ३४ वे वर्ष में जब कि उसका विजय स्कान्धावार रक्तपुर नगर में था पुलिकर नगर की दक्षिण सीमा पर बसे हुए कर्दम गांव का दान[3] अपने पिता के पुरोहित उदयदेव पंडित को, जो पूज्यपादके शिष्य थे, पुलिकर नगर में स्थित शङ्ख जिनेन्द्र मन्दिर के हितार्थ दिया था।

सिद्धान्तकीर्ति

यह कुन्द कुन्दान्वय नन्दि संघ के विद्वान थे। जो सिद्धान्तवादी थे और वादिजनों से वन्द्यनीय थे। तथा हुम्मच के राजा जिनदत्तराय के गुरु थे।[4] जिनका समय सन् ७३० बतलाया गया है। (जैन लेख सं० भा०३ पृ० ५१८)

एलवाचार्य

कौण्ड कुन्दान्वय के भट्टारक कुमारनन्दि के शिष्य थे। इनके शिष्य वर्धमान गुरु थे जिन्हें सन् ८०७ में 'वदणे गुप्पे' ग्राम श्री विजय जिनालय के लिए दिया गया था। अतएव इनका समय भी वही अर्थात् सन् ८००से ८२० तक हो सकता है।

१. विद्यनन्द ने इस पद्य को "तथा चाभ्याधायि कुमारनन्दि भट्टारकैः" वाक्य के साथ उद्धृत किया है।

२. देखो, जैन लेख संग्रह भा० २ लेख न० १२१ पृ० १०६

३. "एक पञ्चाशदुत्तर षट्छतेषु शकवर्षेस्वातीतेषु प्रवर्तमान विजय—राज्य मंवत्सरे चतुस्त्रिशे वर्तमाने श्री —रक्तपुरमधिवसति-विजय—स्कन्धावोर फाल्गुनमासे पौर्णामास्याम्" दिया हुआ है।

(—इ. ए. ७ प्र० ११ नं. ३६ द्वितीयभाग)

४. श्री कुन्द-कुन्दान्वय-नन्दि-संघे योगीश-राज्येन मताँ......।
जाता महान्तो जित-वादि-पक्षाः चारित्र वेपागुणरत्न भूषाः।)
सिद्धान्तकीर्ति जिनदत्तराय प्रणूत पादो जयतीद्ध योगः।
सिद्धान्तवादी जिन वादी वन्द्यः॥

जैनलेख सं० भा. ३ पृ. ५१८

अध्याय ३

९वीं और १०वीं शताब्दी के आचार्य

विजय देव पंडिताचार्य
महासेन (सुलोचनाकथा के कर्ता)
सर्वनन्दि
कूविलाचार्य
वादीभसिंह
अर्ककीर्ति
वीरसेन (धवलाटीका के कर्ता)
जयसेन
अमितसेन
कीर्तिषेण
श्रीपालदेव
जिनसेनाचार्य (पुन्नाट संघी)
जिनसेनाचार्य
दशरथगुरु
गुणभद्राचार्य
लोकसेन
शाकटायन (पाल्य कीर्ति)
उग्रादित्याचार्य
महावीराचार्य
अपराजितगुरु
श्रीदेव
स्वयंभूकवि
अभयनन्दि
अनन्तवीर्य
देवेन्द्रसैद्धान्तिक
कलधौत नन्दि
सिद्धभूषण
सर्वनन्दि
गुरुकीर्तिमुनीश्वर
इन्द्रकीर्ति
अपराजितसूरि (श्री विजय)
अमितगति प्रथम
विनयसेन
अमृतचन्द्र ठक्कुर
रामसेन
इन्द्रनन्दि (ज्वालामालिनी ग्रन्थ के कर्ता)
गुरुदास
बाहुबलि देव
कनकसेन
सर्वनन्दि भट्टारक
नागवर्म प्रथम
नागवर्म द्वितीय
आचार्य महासेन
आदिपंप
कवि पौन्न
महाकवि रन्न
गुणनन्दि
यशोदेव
नेमिदेवाचार्य
महेन्द्र देव
सोमदेव
त्रैकाल योगीश
कवि असग
विमलचन्द्र मुनीन्द्र
महामुनि वक्रग्रीव
हेलाचार्य

विजयदेव पंडिताचार्य

विजयदेव पण्डिताचार्य मूलसंघान्वय देवगण के विद्वान रामदेवाचार्य के प्रशिष्य और जयदेव पंडित के शिष्य थे। इन्हें पश्चिमी चालुक्य विक्रमादित्य द्वितीय ने शक सं० ६५६ (वि० सं०७६१) में द्वितीय विजयराज्य संवत्सर में माघ पूर्णिमा के दिन पुलिकनगर के शंखतीर्थवस्ति के तथा धवल जिनालय का जीर्णोद्धार करने और जिनपूजा वृद्धि के लिये दान दिया। देखो, जैन लेख सं० भा० २ पृ० १०४

महासेन—(सुलोचना कथा के कर्ता)

सुलोचना कथा के कर्ता महासेन का कोई परिचय उपलब्ध नहीं है। और न उनकी पावन कृति सुलोचना नाम की कथा ही उपलब्ध है। हरिवंश पुराणकार (शक सं० ७०५) ने ग्रन्थ की उत्थानिका में महासेन की सुलोचना कथा का उल्लेख किया है, और बतलाया है कि 'शीलरूप अलंकार धारण करने वाली, सुनेत्रा और मधुरा वनिता के समान महासेन की सुलोचना-कथा की प्रशंसा किसने नहीं की।

महासेनस्य मधुरा शीलालंकारधारिणी।
कथा न वर्णिता केन वनितेव सुलोचना॥

कुवलय माला के कर्ता उद्योतन सूरि (शक सं० ७००) ने भी सुलोचना कथा का निम्न शब्दों में उल्लेख किया है :—

सण्णिहिय जिणवरिंदा धम्मकहा बंधदिक्खय णरिंदा।
कहिया जेण सु कहिया सुलोयणा समवसरणं व ॥३६

जिसने समवसरण जैसी सुकथिता सुलोचना कथा कही। जिस तरह समवसरण में जिनेन्द्र स्थित रहते हैं और धर्म कथा सुनकर राजा लोग दीक्षित होते हैं, उसी तरह सुलोचना कथा में भी जिनेन्द्र सन्निहित हैं और उसमें राजा ने दीक्षा ले ली है।

हरिवंश पुराण के कर्ता धवल कवि ने भी सुलोचना कथा का 'मुणि महसेणु-सुलोयणु जेण' वाक्यों के साथ उल्लेख किया है। इन सब उल्लेखों से सुलोचना कथा की महत्ता स्पष्ट है। यह किस भाषा में रची गई, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। यह कथा शक सं० ७०५ (वि० सं० ८३५) से पूर्व रची गई है। उस समय उसका अस्तित्व था, पर बाद में कब विलुप्त हुई, इसका कोई स्पष्ट निर्देश प्राप्त नहीं है। संभव है, यह किसी ग्रन्थ भण्डार में हो।

सर्वनन्दि

सर्वनन्दि भट्टारक शिवनन्दि सैद्धान्तिक के शिष्य थे। प्रस्तुत सर्वनन्दि देवको शक सं० ८०६ (८७१ A.D) में पश्चिमी गंगवंशीय सत्य वाक्य कोंगुनी वर्मन की ओर से एक दान दिया गया।

Ep. c. Coorg Inscriptions (Edi 1914) No. 2

विलियूर का यह शिलालेख (Biliur Stone Inscription) का समय शक सं० ८०६ (सन् ८८७) ईस्वी का है। सत्य वाक्य कोंगुनी वर्मन (पश्चिमी गंग राचमल प्रथम) ने विलियूर के १२ छोटे गांव hamlets शिवनन्दि

भट्टारक के शिष्य सर्वनन्दि को पेन्ने कडंग (Pannekadonga) के सिद्धान्त सत्यवाक्य जिन मन्दिर के लिये दिये थे।

जैन लेख सं० भा. २ पृ. १५४

कूविलाचार्य

मह यापनीय नन्दि संघ पुन्नाग वृक्ष मूलगणशाखा के विद्वान थे। जो व्रत, समिति, गुप्ति में दृढ़ थे और मुनि-वृन्दों के द्वारा वंदित थे। इनके शिष्य विजयकीर्ति थे, और विजयकीर्ति के शिष्य अर्ककीर्ति थे। शक सं० ७२५ सन् ८०३ (वि० सं० ८७०) के राजप्रभूत वर्ण ने (गोविन्द तृतीय ने) जब वे मयूर खण्डी के अपने विजयी विश्राम स्थल में ठहरे हुए थे। चाकिराज की प्रार्थना से 'जालमंगल' नाम का गांव मुनि अर्ककीर्ति को शिलाग्राम में स्थित जिनेन्द्र भवन के लिये दिया था।

देखो, जैन लेख सं० भा. २ नं० १ पृ० २३१

वादीभसिंह

वादीभसिंह कवि का मूल नाम नहीं है किन्तु एक उपाधि है, जो वादियों के विजेता होने के कारण उन्हें प्राप्त हुई थी। उपाधि के कारण ही उन्हें वादीभसिंह कहा जाने लगा। मूल नाम कुछ और ही होना चाहिये। वादीभसिंह का स्मरण जिनसेनाचार्य (ई. ८३८) ने अपने आदिपुराण में किया है और उन्हें उत्कृष्ट कोटि का कवि, वाग्मी और गमक बतलाया है यथा—

कवित्वस्य परासीमा वाग्मितस्य परं पदम्।
गमकत्वस्य पर्यन्तो वादिसिंहोऽर्च्यते न कैः॥

पार्श्वनाथ चरित के कर्ता वादिराजसूरि (ई० १०२५) ने भी वादिसिंह का उल्लेख किया है और उन्हें स्याद्वाद की गर्जना करने वाला तथा दिग्नाग और धर्मकीर्ति के अभिमान को चूर-चूर करने वाला बतलाया है।

स्याद्वाद गिरिमाश्रित्य वादिसिंहोस्य गर्जिते।
दिङ्नागस्य मदध्वंसे कीर्तिभंगो न दुर्घटः॥

इन उल्लेखों से वादीभसिंह एक प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान ज्ञात होते हैं। उनकी स्याद्वादसिद्धि उनके दार्शनिक होने को पुष्ट करती है। पर आदिपुराणकार ने उन्हें कवि और वाग्मी भी बतलाया है। इससे उनकी कोई काव्य कृति भी होनी चाहिये।

गद्य चिन्तामणि के प्रशस्ति पद्य में उन्होंने अपने गुरु का नाम पुष्पसेन बतलाया है, और लिखा है कि उनकी शक्ति से ही मेरे जैसा स्वभाव से मूढ़ बुद्धि मनुष्य वादीभसिंह, श्रेष्ठ मुनिपने को प्राप्त हो सका।

श्री पुष्पसेन मुनि नाथ इति प्रतीतो,
दिव्यो मनुर्हृ दि सदा मम संविध्यात।
यच्छक्तितः प्रकृति मूढमतिर्जनोऽपि
वादीभसिंह मुनि पुङ्गवतामुपैति॥

मल्लिषेण प्रशस्ति में मुनि पुष्पसेन को अकलंक का सधर्मा गुरुभाई लिखा है,[१] और उसी में वादीभिंह उपाधि से युक्त एक आचार्य अजितसेन का भी उल्लेख किया है[२]।

---

१. श्री पुष्पषेण मुनिरेव पद महिम्नो देवः स यस्य समभूत स महान सधर्मा।
श्री विभ्रमस्य भवनं ननु पद्ममेव, पुष्पेषु मित्रमिह यस्य सहस्रधामा॥ —मल्लिषेण प्रशस्ति

२. सकलभुवनपालानम्रमूर्धावबद्धस्फुरितमुकुटचूडालीढपादारविन्दः।
यदवदखिलवादीभेन्द्रकुम्भप्रभेदीगणभृदजितसेनो भाति वादीभसिंह,॥ —शिलालेख ५४, पद्य ५७

गद्य चिन्तामणि के अन्तिम दो पद्यों से स्पष्ट है कि उनका नाम ओडयदेव था और वे वादी रूपी हाथियों को जीतने के लिये सिंह के समान थे। उनके द्वारा रचा गया गद्य चिन्तामणि ग्रन्थ सभा का भूषण स्वरूप था। ओडय देव वादीभसिंह पद के धारक थे। यद्यपि वादीभसिंह के जन्म स्थान का कोई उल्लेख नहीं मिलता तो भी ओडय देव नाम से पं० के० भुजबली शास्त्री ने अनुमान लगाया है कि वे उन्हें तमिल प्रदेश के निवासी थे और बी. शेषगिरिराव एम. ए. ने कलिंग के गंजाम जिले के आस-पासका निवासी होना सूचित किया है। गंजाम जिला मद्रास के एकदम उत्तर में है और जिसे अब उड़ीसा में जोड़ दिया गया है। वहां राज्य के सरदारों की ओडेय और गोडेय नाम की दो जातियां हैं, जिनमें पारम्परिक सम्बन्ध भी है। अतएव उनकी राय में वादीभसिंह जन्मतः ओडेय या उड़िया सरदार होंगे[1]।

समय

चूंकि मल्लिषेण प्रशस्ति में मुनि पुष्पसेन को अकलंक का सधर्मा लिखा है, और वादीभसिंह ने उन्हें अपना गुरु बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि वादीभसिंह अकलंक के उत्तरवर्तीविद्वान है। अकलंक के न्याय विनिश्चयादि ग्रन्थों का भी स्याद्वादसिद्धि पर प्रभाव है। अतएव उन्हें अकलंक देव के उत्तरवर्ती मानने में कोई हानि नहीं है।

गद्य चिन्तामणि की प्रस्तावना में पं० पन्नालाल जी ने लिखा है कि गद्य चिन्तामणि के कुछ स्थल बाणभट्ट के हर्ष चरित के वर्णन के अनुरूप है। वादीभसिंह की गद्य चिन्तामणि में जीवंधर के विद्यागुरु द्वारा जो उपदेश दिया गया, वह बाण की कादम्बरी के शुकनासोपदेश से प्रभावित है—इससे वादीभसिंह बाणभट्ट के उत्तर वर्ती हैं।

स्याद्वाद सिद्धि के छठे प्रकरण की १६ वीं कारिका में भट्ट और प्रभाकर का उल्लेख है और उनके अभिमत भावना नियोग रूप वेद वाक्यार्थ का निर्देश किया गया है। वादीभसिंह ने कुमारिल्ल के श्लोक वार्तिक से कई कारिकाएं उद्धृत कर उनकी आलोचना की है[2]। उनका समय ईसा की सातवीं शताब्दी माना जाता है। इससे वादीभसिंह का समय ईसा की ८ वी शताब्दी का अन्त और ६ वी का पूर्वार्ध जान पड़ता है। इस समय के मानने में कोई बाधा नहीं आती। विशेष के लिये स्याद्वादसिद्धि की प्रस्तावना देखनी चाहिये।

रचनाएं

वादीभसिंह अपने समय के प्रतिभा सम्पन्न विद्वान आचार्य थे। उनके कवित्व और गमकत्वादिको प्रशंसा भागवज्जिन सेन ने की है। वादीभसिंह उनकी उपाधि थी, वे तार्किक विद्वान थे। उनकी तीन रचनाएं प्रसिद्ध हैं—स्याद्वादसिद्धि, क्षत्रचूड़ामणि और गद्य चिन्तामणि।

स्याद्वाद सिद्धि—यद्यपि यह ग्रन्थ अपूर्ण है फिर भी ग्रन्थ में १४ अधिकारों द्वारा अनुष्टुप छन्दों में प्रतिपाद्य विषय का अच्छा निरूपण किया गया है।—जीवसिद्धि, फलभोक्तृत्वाभावसिद्धि, युगपदनेकान्त सिद्धि क्रमानेकान्त सिद्धि, भोक्तृत्वाभावसिद्धि, सर्वज्ञाभावसिद्धि, जगत्कर्तृत्वाभावसिद्धि, अर्हत्सर्वज्ञ सिद्धि, अर्थापत्ति प्रामाण्यसिद्धि, वेद पौरुषेयत्वसिद्धि, परतः प्रामाण्यसिद्धि, अभाव प्रमाणदूषणसिद्धि, तर्क प्रामाण्य सिद्धि, और गुण-गुणी अभेदसिद्धि। इनके बाद अन्तिम प्रकरण की साढ़े छह कारिकाएं पाई जाती हैं। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि ग्रन्थ अपूर्ण है। इस प्रकरण की अपूर्णता के कारण कोई पुष्पिका वाक्य भी उपलब्ध नहीं होता। जैसा कि अन्य प्रकरणों में पुष्पिका वाक्य उपलब्ध हैं यथा—"इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरि विरचितायां स्याद्वाद सिद्धौ चार्वाकं प्रति जीव सिद्धिः।"

क्षत्रचूडामणि—यह उच्च कोटि का नीति काव्य ग्रन्थ है। भारतीय काव्य साहित्य में इस प्रकार का महत्व

१. जैन साहित्य और इतिहास दूसरासं० पृ० ३२४।

२. देखो, स्याद्वाद सिद्धिकी प्रस्तावना पृ० १६-२०

पूर्ण नीति काव्य ग्रन्थ अन्यत्र देखने में नहीं आया। इसकी सरस सूक्तियां और उपदेश हृदय-स्पर्शी हैं। यह पद्यात्मक सुन्दर रचना है। इसमें महाकवि वादीभसिंह ने क्षत्रियों के चूड़ामणि महाराज जीवंधर के पावन चरित्र का अत्यन्त रोचक ढंग से वर्णन किया है। कुमार जीवधर भगवान महावीर के समकालोन थे। उन्होंने शत्रु से अपने पिता का राज्य वापिस ले लिया और उसका उचित रीति से पालन कर अन्त में ससार, के देह, भोगों से विरक्त हो भगवान महावीर के सम्मुख दीक्षा लेकर तपश्चरण द्वारा आत्म-शुद्धि कर अविनाशी पद प्राप्त किया। ग्रंथ का कथानक आकर्षक और भाषा सरल संस्कृत है। ग्रन्थ प्रकाशित है।

गद्य चिन्तामणि—क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणि का कथानक एक और कथा नायक पात्र भी वही है। सर्ग या लम्ब भी दोनों के ग्यारह-ग्यारह हैं। घटना सादृश्य भी दोनों का मिलता-जुलता है। गद्यचिन्तामणि गद्य काव्य है। भाषा प्रौढ़ और कठिन है। इसके काव्य पथ में पदों की सुन्दरता, श्रवणीय शब्दों की रचना, सरल कथासार, चित्ताकर्षक विस्मयकारी कल्पनाएं, हृदय में प्रसन्नोत्पादिक धर्मोपदेश, धर्मसे अविरुद्ध नीतियाँ, एवं रस और अलंकारों की पुटने उसमें चार चांद लगा दिये हैं। प्रकृति वर्णन सरस और सुन्दर है। कथानक में सादृश्य होते हुए भी पाठक को वह नवीन सा लगता है और कवि की अद्भुत कल्पनाएं पाठक के चित्त में विस्मय उत्पन्न कर देती है। गद्य काव्यों की शृंखला में गद्यचिन्तामणि का महत्व पूर्ण स्थान है।

अर्ककीर्ति

यह यापनीय नन्दिसंघ पुनांग वृक्ष मूलगण के विद्वान थे। इनके गुरु का नाम विजय कीर्ति और प्रगुरु का नाम कूबिलाचार्य था जो व्रत समिति गुप्ति गुप्त मुनि वृन्दों से वदित थे, और श्री कीर्त्याचार्य के अन्वय में हुए थे। अमोघ वर्ष (प्रथम) के पिता प्रभूत वर्ष या गोविन्द तृतीय का जो दान पत्र कडंब (मैसूर) में मिला है, वह शक सं० ७३५ सन् ८१२ का है। जिसमें शक संवत ७३५ व्यतीत हो जाने पर ज्येष्ठ शुक्ला दशमी पुष्य नक्षत्र चन्द्रवार के दिन अर्ककीर्ति मुनि के लिये जालमंगल नाम का एक ग्राम मान्यपुर ग्राम के शिलाग्राम नाम के जिनेन्द्र भवन के लिये दान में दिया था। क्योंकि मुनि अर्ककीर्ति ने जिले के शासक विमलादित्य को शनैश्चर की पीड़ा से उन्मुक्त किया था। (जैन लेख सं० भाग २ पृ० १३७)

वीरसेन

वीरसेन—मूल संघ के 'पंचस्तूपान्वय' के विद्वान थे। यह पंचस्तूपान्वय बाद में सेनान्वय या सेन-संघ के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। वीरसेन ने अपने वश को 'पचस्तूपान्वय' ही लिखा है[१]। आचार्य वीरसेन चन्द्रसेन के प्रशिष्य और आर्यनन्दी के शिष्य थे[२]। उनके विद्या गुरु एलाचार्य और दीक्षा गुरु आर्यनन्दी थे। आचार्यवीरसेन

१ अज्जज्जणंदि सिस्सेणुज्जुव-कम्मस्स चंदसेणस्य।
तह णत्तुवेण पंचत्थूहण्णयं भाणुणा मुणिणा ॥ ४ —धवला प्रशस्ति
यस्तपोदीप्त किरणैर्भव्याम्भोजानि बोधयन्।
व्यद्योतिष्ठ मुनीनेनः पञ्चस्तूपान्वयाम्बरे ॥ २०
प्रशिष्यश्चन्द्रसेनस्य यः शिष्योऽप्यार्यनन्दिनाम्।
कुलं गणं च सन्तानं स्वगुणैरुदजिज्वलत् ॥ २१ —जय धवला प्रशस्ति

२ पचस्तूपान्वय की दिगम्बर परम्परा बहुत प्राचीन है। आचार्य हरिषेण कथाकोश मे वैर मुनि के कथा के निम्न पद्य में मथुरा में पंचस्तूपो के बनाने जाने का उल्लेख किया है—

महाराजन निर्माणान् रवचितान् मणिनाम् कैः।
पंचस्तूपान्विधायाग्रे समुच्चजिनवेश्मनाम् ॥

आचार्य वीरसेन ने धवला टीका में और उनके प्रधान शिष्य जिनसेन ने जयधवला टीका प्रशस्ति में पंचस्तूपान्वय के

ने अपने को गणित, ज्योतिष, न्याय, व्याकरण और प्रमाण शास्त्रों में निपुण, तथा सिद्धान्त एवं छन्द शास्त्र का ज्ञाता बतलाया है [1]।

आचार्य जिनसेन ने उन्हें वादि मुख्य, लोकवित, वाग्मी, और कवि[2] के अतिरिक्त श्रुतकेवली के तुल्य बतलाया है और लिखा है कि —'उनकी सर्वार्थगामिनी प्रज्ञा को देख कर बुद्धिमानों को सर्वज्ञ की सत्ता में कोई शंका न ही रही थी।[3]

सिद्धान्त का उन्हें तलस्पर्शी पाण्डित्य प्राप्त था। सिद्धान्त-समुद्र के जल में धोई हुई अपनी शुद्ध बुद्धि से वे प्रत्येक बुद्धों के साथ स्पर्धा करते थे।[4] पुन्नाट संघीय जिनसेन ने उन्हें कवियों का चक्रवर्ती और निर्दोष कीर्ति वाला बतलाया है [5]। जिनसेन के शिष्य गुणभद्रने तमाम वादियों को त्रस्त करने वाला और उनके शरीर को ज्ञान और चारित्र की सामग्री से बना हुआ कहा है।[6] इससे स्पष्ट है कि वीरसेन अपने समय के महान विद्वान थे। उन्होंने चित्रकूट में जाकर एलाचार्य से सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन किया था। पश्चात् वे गुरु की अनुज्ञा प्राप्त कर वाट ग्राम आये, और वहां आनतेन्द्र द्वारा बनवाये हुए जिनालय में ठहरे [7]। वहां उन्हें बप्पदेव की व्याख्या प्रज्ञप्ति नाम की टीका प्राप्त हुई। इस टीका के अध्ययन से वीरसेन ने यह अनुभव किया कि इसमें सिद्धान्त के अनेक विषयों का विवेचन स्खलित है—छूट गया है और अनेक स्थलों पर सैद्धान्तिक विषयों का स्फोटन अपेक्षित है। छठे खण्ड पर कोई टीका नहीं लिखी गई। अतएव एक वृहत्टीका के निर्माण की आवश्यकता है। ऐसा विचार कर उन्होंने धवला और जय धवला टीका लिखी।

धवला टीका—यह षट् खण्डागम के आद्य पांच खण्डों की सबसे महत्वपूर्ण टीका है। टीका प्रमेय बहुल है। टीका होने पर भी यह एक स्वतत्र सिद्धान्त ग्रंथ है इसमें टीका की शैलीगत विशेषताएं है ही, पर विषय विवेचन

चन्द्रसेन और आर्यनन्दी नाम के दो आचार्यों का नामोल्लेख किया है, जो आचार्य वीरसेन के गुरु-प्रगुरु थे। इन दोनों उल्लेखों से स्पष्ट है कि पंचस्तूपान्वय की परम्परा उस समय चल रही थी, और वह बहुत प्राचीन काल से प्रसार में आ रही थी। पंचस्तूपान्वय के संस्थापक अर्हद्बली थे, जिन्होंने युग प्रतिक्रमणों के समय वेणा नदी के किनारे विविधि संघों की स्थापना की थी। पंचस्तूप निकाय के आचार्य गुहनन्दी का उल्लेख पहाड़पुर के ताम्रपत्र में पाया जाता है। जिसमें गुप्त संवत् १५९ सन् ४७८ में नाथ शर्मा ब्राह्मण के द्वारा गुहनन्दी के विहार में अर्हन्तों की पूजा के लिए ग्रामों और अशर्फियों के देने का उल्लेख है। (एपिग्राफिया इंडिका भा २० पेज ५९)

१. सिद्धान्त-छंद-जोइसु -वायरण-प्रमाण सत्थणिउणण।
—धवला प्रशस्ति

२. लोकवित्त्वं कवित्वं च स्थितं भट्टारके द्वयं। वाग्मिता वाग्मिनो यस्य वाचा वाचम्पतेरपि॥ ५६
—आदि पुराण

३. यस्य नैसर्गिककीं प्रज्ञां दृष्टवा सर्वार्थगामिनी।
जाताः सर्वज्ञसम्दावे निरारेका मनीषिणः॥
—जय धवला प्र० २१

४. प्रसिद्धसिद्धसिद्धान्तवार्धिवार्धौतशुद्धधीः।
सार्द्धं प्रत्येक बुद्धैर्यः स्पर्धते धीद्धबुद्धिभिः॥ जयध० प्र० २३

५. जितात्मपरलोकस्य कवीनां चक्रवर्तिनः।
वीरसेन गुरुः कीर्तिरकलंका बभासते॥ ३९ हरिवंश पु०

६. तत्रवित्रासिता शेष प्रवादि मदवारणः।
वीरसेनाग्रणी वीरसेन भट्टारको बभौ॥ ३
ज्ञानचारित्र सामग्री मग्रहीदिवविग्रहम्॥ ४॥ उत्तर पुराण प्र०

७. आगत्य चित्रकूटात्ततः सभगवान्गुरोरनुज्ञानात्।
वाटग्रामे चात्राऽऽनतेन्द्र कृत जिनगृहे स्थित्वा॥ १७९ (इन्द्रनन्दि श्रुता०)

की दृष्टि से यह टीका अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इसमें वस्तुतत्त्व का मर्म प्रश्नोत्तरों के साथ उद्‌घाटित किया गया है और अनेक प्रचीन उद्धरणों द्वारा उसे पुष्ट किया गया है। जिससे पाठक षट् खण्डागम के रहस्य से सहज ही परिचित हो जाते हैं। आचार्य वीरसेन ने इस टीका में अनेक सांस्कृतिक उपकरणों का समावेश किया है। निमित्त, ज्योतिष और न्याय शास्त्र की अगणित सूक्ष्म बातों का यथा स्थान कथन किया है। टीका में दक्षिण प्रतिपत्ति और उत्तर प्रतिपत्ति रूप दो मान्यताओं का भी उल्लेख किया है। टीका की प्राकृत भाषा प्रौढ़, मुहावरेदार और विषय के अनुसार संस्कृत की तर्क शैली से प्रभावित है। प्राकृत गद्य का निखरा हुआ स्वच्छ रूप वर्तमान है। सन्धि और समास का यथा स्थान प्रयोग हुआ है और दार्शनिक शैली में गम्भीर विषयों को प्रस्तुत किया गया है। टीका में केवल षट्खण्डागम के सूत्रों का ही मर्म उद्‌घाटित नही किया, किन्तु कर्म सिद्धान्त का भी विस्तृत विवेचन किया गया है। और प्रसगवश दर्शन शास्त्र की मौलिक मान्यताओं का भी समावेश निहित है।

लोक के स्वरूप विवेचन में नये दृष्टिकोण को स्थापित किया है। अपने समय तक प्रचलित वर्तुलाकार लोक की प्रमाण प्ररूपणा करके उस मान्यता का खण्डन किया है; क्योंकि इस प्रक्रिया से सात राजू घन प्रमाण-क्षेत्र प्राप्त नही होता। अतएव उसे आयतचतुरस्त्राकार होने की स्थापना की है और स्वयंभूरमण समुद्र की बाह्यवेदिका से परे भी असंख्यात योजन विस्तृत पृथ्वी का अस्तित्व सिद्ध किया है।

सम्यक्त्व के स्वरूप का विशेष विवेचन किया गया है। सम्यक्त्वोन्मुख जीव के परिणामों की बढ़ती हुई विशुद्धि और उसके द्वारा शुभ प्रकृतियों का बन्धविच्छेद, सत्वविच्छेद और उदय विच्छेद का कथन किया है। और जीव के सम्यक्त्वोन्मुख होने पर बधयोग्य कर्म प्रकृतियों का निरूपण किया है।

आचार्य वीरसेन गणित शास्त्र के विशिष्ट विद्वान थे। इसलिए उन्होंने वृत्त, व्यास, परिधि, सूचीव्यास, घन, अर्द्धच्छेद घातांक, वलय व्यास और चाप आदि गणित की अनेक प्रक्रियाओं का महत्वपूर्व विवेचन किया है। गणित शास्त्र की दृष्टि से यह टीका बड़ी महत्वपूर्ण है।

उन्होंने ज्योतिष और निमित्त-सम्बन्धी प्राचीन मान्यताओं का स्पष्ट विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त नक्षत्रों के नाम, गुण, स्वभाव, ऋतु, अयन और पक्ष आदि का विवेचन भी अंकित है। नय, निपेक्ष, और प्रमाण आदि की परिभाषाएँ तथा दर्शन के सिद्धान्तों का विभिन्न दृष्टियों से कथन किया है।

टीका में अनेक ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का भी उल्लेख किया गया है। और अनेक प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरणों से टीका को पुष्ट किया गया है। इससे आचार्य वीरसेन के बहुश्रुत विद्वान होने के प्रमाण मिलते है।

सिद्धभूपद्धति-टीका—आचार्य गुणभद्र ने उत्तर पुराण की प्रशस्ति में इस टीका का उल्लेख किया है और बतलाया है कि सिद्धभूपद्धति ग्रन्थ पद-पद पर विषम था, वह वीरसेन की टीका से भिक्षुओं के लिये अत्यन्त सुगम हो गया।[1] यह ग्रन्थ अप्राप्य है।

वीरसेन के जिनसेन के अतिरिक्त दशरथ और विनयसेन दो शिष्य और थे। और भी शिष्य होंगे, पर उनका परिचय या उल्लेख उपलब्ध नही होता।

वीरसेन ने जयधवला टीका कषाय प्राभृत के प्रथम स्कन्ध की चार विभक्तियों पर बीस हजार श्लोक प्रमाण बनाई थी। उसी समय उनका स्वर्गवास हो गया। और उसका अवशिष्ट भाग उनके शिष्य जिनसेन ने पूरा किया।

रचना काल

आचार्य वीरसेन ने अपनी यह धवला टीका विक्रमांक शक ७३८ कार्तिक शुक्ला १३ सन् ८१६ बुधवार के दिन प्रातः काल में समाप्त की थी। उस समय जगतुगदेव राज्य से रिक्त हो गये थे, और अमोघवर्ष प्रथम राज्य

---

१. सिद्धभूपद्धतिर्यस्य टीकां संवीक्ष्य भिक्षुभिः।
टीक्यते हेलयान्येषा विषमापि पदे-पदे ॥

—उत्तरपुराण प्रश०

सिंहासन पर आरूढ हो राज्य संचालन कर रहे थे। जैसा कि उसकी प्रशस्ति के निम्न पद्यों से प्रकट है—

अठतीसम्हि सतसए विक्कम रायंकिए सु-सगणामे।
वासे सुतेरसीए भाणु विलग्गे धवल पक्खे॥ ६॥
जगतुंदेव-रज्जे रियाम्हि कुंभम्हि राहुणा कोण।
सूरे तुलाए सते गुरुम्हि कुल विल्लए हाते॥ ७॥
चावम्हि तरणिवुत्ते सिध सुक्कम्मि मीणे चदम्मि।
कत्तिय मासे एसा टीका हु समाणि या धवला॥ ८॥

जयसेन

जयसेन—बड़े तपस्वी, प्रशान्तमूर्ति, शास्त्रज्ञ और पंडित जनों में अग्रणी थे। हरिवंश पुराण के कर्ता पुन्नाट संघी जिनसेन ने शत वर्ष जीवी अमितसेन के गुरु जयसेन का उल्लेख किया है और उन्हें सद्गुरु, इन्द्रिय व्यापार विजयी, कर्मप्रकृतिरूप आगम के धारक प्रसिद्ध वैयाकरण, प्रभावशाली और सम्पूर्ण शास्त्र समुद्र के पारगामी बतलाया है २ जिससे वे महान योगी, तपस्वी और प्रभावशाली आचार्य जान पड़ते हैं। साथ ही कर्मप्रकृतिरूप आगमके धारक होने के कारण सम्भवतः वे किसी कर्मग्रन्थ के प्रणेता भी रहे हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। परन्तु उनके द्वारा किसी ग्रन्थ के रचे जाने का कोई प्रामाणिक उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया। उन उभय जिन सेनों द्वारा स्मृत प्रस्तुत जयसेन एक ही व्यक्ति जान पड़ते हैं। हरिवंश पुराण के कर्ता ने जो अपनी गुरु परम्परा दी है उससे स्पष्ट है कि उनके शतवर्ष जीवी अमितसेन ३ और शिष्य कीर्तिषेण का समय यदि २५—२५ वर्ष का मान लिया जाय जो बहुत ही कम है और हरिवंश के रचनाकाल शक सं० ७०५ (वि सं८४०) से कम किया जाय तो शक स. ६५५ वि. सं० ७९० के लगभग जयसेन का समय हो सकता है। अर्थात् जयसेन विक्रमी की आठवी शताब्दीके विद्वान आचार्य थे।

अमितसेन

अमितसेन—पुन्नाट संघ के अग्रणी आचार्य थे। यह कर्मप्रकृति श्रुत के धारक इन्द्रिय जयी जयसेनाचार्य के शिष्य थे। प्रसिद्ध वैयाकरण और प्रभाव शाली विद्वान थे। समस्त सिद्धान्तरूपी सागर के पारगामी थे। जैन शासन से वात्सल्य रखने वाले, परम तपस्वी थे। उन्होंने शास्त्र दान द्वारा पृथ्वी में वदान्यता—दानशीलता —प्रकट की थी। वे शतवर्ष जीवी थे। इन्होंने जैन शासन की बड़ी सेवा की थी। इस परिचय पर से उनकी महत्ता का सहजही बोध हो जाता है। जैसा कि हरिवंश पुराण के निम्न पद्यों से प्रकट है—

"प्रसिद्धवैयाकरणप्रभाववानशेषराद्धान्तसमुद्रपारगः॥३०
तदीय शिष्यो ऽमितसेन सद्गुरुः पवित्र पुन्नाट गणाग्रणी गणी।
जिनेन्द्र सच्छासनवत्सलात्मना तपोभृता वर्षशताधि जीविना॥ ३१
सुशास्त्र दानेन वदान्यतामुना वदान्य मुख्येन भुविप्रकाशिता।"

ऐसा जान पड़ता है कि संभवतः पुन्नाट देश के कारण इनका संघ भी पुन्नाट नाम से प्रसिद्ध हुआ है। यह उस संघ के विशिष्ट विद्वान थे। और वे अपने संघ के साथ आये हों। संभवतः जिनसेन उनसे परिचित हों, इसी

---

१. जन्मभूमि स्तपो लक्ष्म्या श्रुतप्रशमयोनिधिः।
जयसेन गुरु पातु बुधवन्दाग्रणी. स नः॥ आदिपुराण १,५९

२ दधार कर्म प्रकृति च श्रुति च यो जिताक्षवृत्तिर्जयसेन सद्गुरु।
प्रसिद्धवैयाकरणप्रभाववानशेषराद्धान्तसमुद्रपारगः॥ ३०

३ तदीय शिष्यो ऽमितसेन सद्गुरुः पवित्र पुन्नाट गणाग्रणी गणी।
जिनेन्द्रसच्छासनवत्सलात्मना तपोभृता वर्ष शताधिजीविना॥ ३१—हरिवंशपुराण

से वे उनका उक्त परिचय दे सके हैं। वे जिनसेन से संभवत: ३०-४० वर्ष ज्येष्ठ रहे हों। इनका समय विक्रम की ८वीं शताब्दी का उपान्त्यभाग, तथा ९वी का पूर्वार्ध होना चाहिए। क्योंकि कीर्तिषेण के शिष्य जिनसेन ने अपना हरिवंश पुराण शक स०७०५ (वि. सं.८४० में समाप्त किया था। चूंकि अमितसेन और कीर्तिषेण दोनों ही जयसेनाचार्य के शिष्य थे।

कीर्तिषेण

कीर्तिषेण—यह पुन्नाट संघ के आचार्य जयसेन के शिष्य थे। और शतवर्ष जीवी अमितसेन गुरु के ज्येष्ठ गुरुभाई थे। और महान तपस्वी और विद्वान थे। शान्त परिणामी थे। उग्र तपश्चरण से सब दिशाओं में इनकी कीर्ति विश्रुत हो गई थी।[1] इन्हीं के शिष्य हरिवश पुराण के कर्ता जिनसेन थे। जिनसेनाचार्य ने अपना हरिवंश पुराण शक सं० ७०५ (वि. सं. ८४०) में समाप्त किया था। इनके समय की अवधि २०वर्ष की मान लें, तो इनका समय विक्रम की ९वीं शताब्दी का पूर्वार्ध होगा

श्रीपाल देव

यह पंचस्तूपान्वयी वीरसेन के शिष्य थे। बड़े भारी सैद्धान्तिक विद्वान थे। जिनसेनाचार्य ने आदि पुराण में श्रीपाल का स्मरण किया है साथ में भट्टाकलंक और पात्रकेसरी का। जिनसेन ने अपनी जयधवला टीका इन्हीं श्रीपाल द्वारा संपादित अथवा पोषक बतलाया है।[2] इनका समय विक्रम की ९ वीं शताब्दी है। पद्मसेन और देवसेन भी इन्हीं के समय कालीन थे।

जिनसेनाचार्य (पुन्नासंघी)

जिनसेना—प्रस्तुत पुन्नाट संघ के विद्वान आचार्य थे। इनके दादागुरु का नाम, जयसेन था, जो अखण्ड मर्यादा के धारक, षट् खण्डागमरूप सिद्धान्त के ज्ञाता, कर्म प्रकृति रूप श्रुति के धारक, इन्द्रियों की वृत्ति को जीतने वाले जयसेन गुरु थे। इनके शिष्य अमितसेन गुरु थे। जो प्रसिद्ध वैयाकरण, प्रभावशाली समस्त सिद्धान्त रूपी सागर के पारगामी, पुन्नाटगण के अग्रणी आचार्य थे। और जिनशासन के स्नेही, परमतपस्वी, तथा शतवर्ष जीवी थे। और शास्त्र दान द्वारा जिन्होंने पृथ्वी में वदान्यता—दानशीलता—प्रकट की थी। इनके अग्रज धर्म बन्धु कीर्तिषेण मुनि थे। जो बहुत ही शान्त और बुद्धिमान थे। और जो अपनी तपोमयी कीर्ति को समस्त दिशाओं में प्रसारित कर रहे थे। इन्हीं कीर्तिषेण के शिष्य प्रस्तुत जिनसेन थे। जैसा कि प्रशस्ति के निम्न पद्यों से प्रकट है :—

> **"अखण्ड षट्खण्डमखण्डतस्थितिः समस्तसिद्धान्तमधत्तयोऽर्थतः ।।२९**
> **दधार कर्म प्रकृतिं च श्रुतिं च यो जिताक्षवृत्तिजयसेनसद्गुरुः ।**
> **प्रसिद्ध वैयाकरणप्रभाववानशेषराद्धान्तसमुद्रपारगः ।।३०**
> **तदीय शिष्यो ऽमितसेन सद्गुरुः पवित्र पुन्नाटगणाग्रणी गणी ।**
> **जिनेन्द्र सच्छासन वत्सलात्मना तपोभृता वर्षशताधि जीविना ।।३१**
> **सुशास्त्र दानेन वदान्यतामुना वदान्यमुख्येन भुवि प्रकाशिता ।**
> **यदग्रजो धर्मसहोदरः शमी समग्रधीर्धर्म इवात्तविग्रहः ।। ३२**
> **तपोमयीं कीर्तिमशेषदिक्षु यः क्षिपन् बभौ कीर्तित कीर्तिषेणकः ।**
> **तदग्रशिष्येण शिवाग्रसौख्यभागरिष्टनेमीश्वरभक्तिभाविना ।।**
> **स्वशक्ति भाजा जिनसेनसूरिणा धियाल्पयोक्ता हरिवंशपद्धतिः ।।३३।।**

पुन्नाट कर्नाटक का प्राचीन नाम है। हरिषेण कथा कोश में लिखा है कि—भद्रबाहु स्वामी के निर्देशानुसार

१. तपोमयीं कीर्तिमशेषदिक्षु यः क्षिपन्वभौ कीर्तित कीर्तिषेणकः । —हरिवंश० प्र०

२. टीका श्री जय चिन्हितो ऽरुधवला सूत्रार्थ संद्योतिनी ।
स्थेया दारविचन्द्र मुज्ज्वलतपः श्रीपालसंपालिता ।। —जयधवल । पृ० ४३

उनका समस्त संघ चन्द्रगुप्त या विशाखाचार्य के नेतृत्व में दक्षिणापथ के पुन्नाट देश में गया।[1] अतएव दक्षिणापथ का यह पुन्नाट कर्णाटक ही है। कन्नड साहित्य में भी पुन्नाट राज्य के उल्लेख मिलते हैं। भूगोलवेत्ता टालेमी ने 'पौन्नट' नाम से इसका उल्लेख किया है। इस देश के मुनि संघ का नाम 'पुन्नाट' संघ था। संघों के नाम प्रायः देशों और अन्य स्थानों के नामों से पड़े हैं।

श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं० १६४ में, जो शक संवत ६२२ के लगभग का है एक 'कित्तूर' नाम के संघका उल्लेख है। कित्तूर पुन्नाट की राजधानी थी, जो इस समय मैसूर के 'हैगडे वन्कोटे' ताल्लुके में हैं।

जिनसेनाचार्य की एक मात्रकृति 'हरिवंश पुराण' है। इसमें हरिवंश की एक शाखा यादव कुल और उसमें उत्पन्न हुए दो शलाका पुरुषों का चरित्र विशेष रूप से वर्णित है। बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ और दूसरे नव में नारायण श्रीकृष्ण का। ये दोनों परस्पर में चचेरे भाई थे। जिनमें से एक ने अपने विवाह के अवसर पर पशुओं की रक्षा का निमित्त पाकर सन्यास ले लिया था। और दूसरे ने कौरव-पाण्डव-युद्ध में अपना बल-कौशल दिखलाया। एक ने आध्यात्मिक उत्कर्ष का आदर्श उपस्थित किया तो दूसरे ने भौतिक लीला का दृश्य। एक ने निवृत्ति परायण मार्ग को प्रशस्त किया तो दूसरे ने प्रवृत्ति को प्रश्रय दिया। इस तरह हरिवंशपुराण में महा भारत का कथानक सम्मिलित पाया जाता है।

ग्रन्थ का कथाभाग अत्यन्त रोचक है। भगवान नेमिनाथ के वैराग्य का वर्णन पढ़कर प्रत्येक मानवका हृदय सांसारिक मोह-ममता से विमुख हो जाता है। और राजुल या राजीमती के परित्याग पर पाठकों के नेत्रों से जहां सहानुभूति की अश्रुधारा प्रवाहित होती है वहां उसके आदर्श सतीत्व पर जन मानस में उसके प्रति अगाध श्रद्धा उत्पन्न होती है।

आचार्य जिनसेन ने ग्रन्थ के छयासठ सर्गो मे नेमिनाथ और कृष्ण के चरित के साथ प्रसंगवश धार्मिक सिद्धान्तों का सुन्दर वर्णन किया है। लोक का वर्णन और शलाका पुरुषों का चरित आचार्य यतिवृषभ की तिलोय पण्णत्ती से अनुप्राणित है। प्रसंगवश कवि ने महाकाव्यों के विषय वर्णनानुसार ग्राम, नगर, देश, पत्तन, खेट, मटब पर्वत, नदी अरण्य आदि के कथन के साथ श्रृंगारादि रसों और उपमादि अलंकारों, ऋतु व्यावर्णनों, और सुन्दर सुभाषितों से भूषित किया है। रचना प्रौढ़, भाषा प्रांजल और प्रसादादि गुणों से अलंकृत है।

ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के आदि में अपने से पूर्ववर्ती अनेक विद्वानों का स्मरण किया है। कुछ विद्वानों की रचनाओं का भी उल्लेख किया है। जिन विद्वानो का स्मरण किया है उनके नाम इस प्रकार हैः—

(१) समन्तभद्र (२) सिद्धसेन (३) देवनन्दी, (४) वज्रसूरि (५) महासेन (६) रविषेण (७) जटासिंह नन्दि, (८) शान्तिषेण, (९) विशेषवादि (१०) कुमारसेन (११) वीरसेन, और १२ जिनसेन इन सब विद्वानों क परिचय यथास्थान दिया गया है, पाठक वहां देखे। इसी कारण उसे यहाँ नही लिखा।

ग्रन्थकर्ता की अविच्छिन्न गुरुपरम्परा

हरिवंश पुराण के अन्तिम छयासठवं सर्ग में भगवान महावीर से लेकर लोहाचार्य तक की वही आचार्य परम्परा दी है जो तिलोय पण्णत्ती धवला जयधवला और श्रुतावतार आदि ग्रन्थों में मिलती है। ६२ वर्ष में तीन केवली गौतम गणधर, सुधर्म स्वामी और जम्बू, १०० वर्ष में पांच श्रुत केवली— विष्णु (नन्दि), नन्दि मित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु, १८३ वर्ष में ग्यारह अंग दश पूर्व के पाठी—विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयसेन, सिद्धार्थ सेन, धृतिसेन, विजयसेन, बुद्धिल्ल गंगदेव, धर्मसेन,—२२० वर्ष में पांच ग्यारह अंगधारी—नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस, और फिर ११८ वर्ष में—सुभद्र जयभद्र, यशोबाहु और लोहाचार्य ये चार आचारांगधारी हुए। वीर निर्वाण से ६८३ वर्ष बाद तक की श्रुताचार्य परम्परा के बाद निम्न परम्परा चली—

विनयधर, श्रुतिगुप्त, ऋषिगुप्त, शिवगुप्त, (जिन्होंने अपने गुणों से अर्हद्बलि पद प्राप्त किया), मन्दरार्य

---

१. अनेन सह संघो ऽपि समस्तो गुरु वाक्यतः।
दक्षिणापथ देशस्थ पुन्नाट विषयं ययौ ॥—हरिषेण कथा कोश

मित्रवीर्य, बलदेव, बलमित्र, सिंहबल, वीरवित, पद्मसेन, व्याघ्रहस्ति, नागहस्ति, जितदण्ड, नन्दिषेण, दीपसेन, धरसेन, धर्मसेन, सिंहसेन, नन्दिषेण, ईश्वरसेन, नन्दिषेण, अभयसेन, सिद्धसेन, अभयसेन, भीमसेन, जिनसेन शान्तिषेण, जयसेन, अमितसेन, (पुन्नाट गण के अगुवा और शतवर्ष जीवी) इनके बड़े गुरुभाई कीर्तिषेण, और उनके शिष्य जिनसेन थे।

ग्रन्थ का रचना स्थल

हरिवंश पुराण की रचना का प्रारम्भ वर्द्धमानपुर में हुआ और समाप्ति दोस्तटिका के शान्तिनाथ जिनालय में हुई। यह वर्द्धमानपुर सौराष्ट्र का 'वढवाण' जान पड़ता है। क्योंकि उक्त पुराण ग्रन्थ की प्रशस्ति में बतलाई गई भौगोलिक स्थिति से उक्त कल्पना को बल मिलता है।

हरिवंश पुराण की प्रशस्ति के ५२ और ५३ वे श्लोक में बताया है[1] कि शकसंवत् ७०५ में, जब कि उत्तर दिशा की इन्द्रायुध, दक्षिण दिशा की कृष्ण का पुत्र श्रीवल्लभ पूर्व का अवन्तिराज वत्सराज और पश्चिम की सोरों के अधिमंडल सौराष्ट्र की वीर जयवराह रक्षा करता था। उस समय अनेक कल्याणों से अथवा सुवर्ण से बढने वाली विपुल लक्ष्मी से सम्पन्न वर्धमानपुर के पार्श्व जिनालय में जो नन्नराजवसति के नाम से प्रसिद्ध था, कर्कराज के इन्द्र, ध्रुव, कृष्ण और नन्नराज चार पुत्र थे। हरिवंश का नन्नराज वसति उन्हीं नन्नराज के नामसे होगी। यह ग्रन्थ पहले प्रारम्भ किया गया, पश्चात् दोस्तटिका की प्रजा के द्वारा उत्पादित प्रकृष्ट पूजा से युक्त वहा के शान्ति जिनेन्द्र शान्ति गृह में रचा गया।

वढवाण से गिरि नगर को जाते हुए मार्ग में 'दोत्तडि' नाम का स्थान मिलता है। प्राचीन गुर्जर-काव्य सग्रह (गायकवाड सीरीज) में अमलुकृत चर्चरिका प्रकाशित हुई है। उसमें एक यात्री को गिरनार यात्रा का वर्णन है। वह यात्री सर्वप्रथम वढवाण पहुचता है, फिर क्रमसे रंग इलाई, सहाजगपुर, गगिलपुर पहुचता है और लखमीधर को छोड़कर फिर विषम दोत्तडि पहुचकर बहुतसी नदिया और पहाड़ो को पार करता हुआ करि वदियाल पहुचता है। करिवदियाल और अनन्तपुर से जाकर डेरा डालता है, बाद में भालण में विश्राम करता है, वहा से ऊंचा गिरनार पर्वत दिखने लगता है। यह विषम दोत्तडि ही दोस्तटि का है।

वर्धमानपुर (बढवाण) को जिस प्रकार जिनसेनाचार्य ने अनेक कल्याणको के कारण विपुलश्री से सम्पन्न लिखा है उसी प्रकार हरिषेण ने भी 'कथा कोश' में उसे 'कार्तस्वरापूर्णजिनाधिवास' लिखा है। कार्त्तस्वर और कल्याण दोनों ही स्वर्ण के वाचक है इससे सिद्ध होता है कि वह नगर अत्यधिक श्री सम्पन्न था, और उसकी समृद्धि जिनसेन से लेकर हरिषेण तक १४८ वर्ष के लम्बे अन्तराल में भी अक्षुण्ण बनी रही। हरिषेण ने अपने कथाकोश की रचना भी इसी वर्द्धमानपुर (बढवाण) में शक स०८५३ (वि०स० ९८८) मे पूर्ण की थी।

जिनसेन यद्यपि पुन्नाट (कर्नाटक) संघ के थे। तो भी विहार प्रिय होने से उनका सोराष्ट्र की ओर आगमन होना युक्ति सिद्ध है। सिद्धक्षेत्र गिरनार पर्वत की वन्दना के अभिप्राय से पुन्नाट संघ के मुनियों ने इस ओर विहार किया हो, यह कोई आश्चर्य की बात नही। जिनसेन ने अपनी गुरु परम्परा में अमित सेन को पुन्नाटगण के अग्रणी और शतवर्ष जीवी लिखा है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह संघ अमितसेन के नेतृत्व में कर्नाटक से

१. शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूत्तरां,
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्।
पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्सादिराजेऽपरां,
सौराणामधिमण्डलं जययुते वीरे वराहेऽवति ॥५२
कल्याणैः परिवर्धमानविपुलश्रीवर्धमाने पुरे,
श्री पार्श्वालय नन्नराजवसतौ पर्याप्तशेषः पुरा।
पश्चाद्दोस्तटिका प्रजाप्रजनित प्राज्यार्चनावर्जने,
शान्तेः शान्तगृहे जिनस्य रचितो वंशो हरीणामयम् ॥५३

उत्तर भारत की ओर आया होगा। और गिरिनार क्षेत्र के नेमिजिन की वन्दना के निमित्त सोराष्ट्र (काठियावाड़) में गया होगा। जिनसेन ने गिरनार की सिंहवाहिनी या अम्बा देवी का उल्लेख किया है और उसे विघ्नों को नाश करने वाली बतलाया है[1]।

प्रशस्तिगत वर्द्धमानपुर के चारों दिशाओं के राजाओं का वर्णन निम्न प्रकार :—

इंद्रायुध

स्व० हीराचन्द्र जी ओझा ने लिखा है कि इन्द्रायुध और चन्द्रायुध किस वंश के थे, यह ज्ञात नहीं हुआ। परन्तु संभव है वे राठोड़ हों। स्व० चिन्तामणि विनायक वैद्य के अनुसार इन्द्रायुध भण्डिकुल का था और उक्तवंश को वर्म वंश भी कहते थे[2]। इसके पुत्र चक्रायुध को परास्त कर प्रतिहार वंशी राजा वत्सराज के पुत्र नागभट द्वितीय ने जिसका कि राज्य काल विन्सेन्ट स्मिथ के अनुसार वि० सं० ८५७–८८२ है[3]। कन्नौज का साम्राज्य उससे छीना था। वढवाण के उत्तर में मारवाड़ का प्रदेश पड़ता है—इससे स्पष्ट है कि कन्नौज से लेकर मारवाड़ तक इन्द्रायुध का राज्य फैला हुआ था।

श्रीवल्लभ

दक्षिण के राष्ट्रकूट वंश के राजा कृष्ण (प्रथम) का पुत्र था। इसका प्रसिद्ध नाम गोविन्द (द्वितीय) था। कावी में मिले हुए[4] ताम्रपट में इसे गोविन्द न लिखकर वल्लभ ही लिखा है, अतएव इस विषय में सन्देह नहीं रहा कि यह गोविन्द (द्वितीय) ही था और वर्धमानपुर की दक्षिण दिशा में उसी का राज्य था। कावी भी वढवाण के प्रायः दक्षिण में है। शक स० ६७२ (वि० स० ८२७) का उसका एक ताम्रपत्र[5] मिला है।

अवन्तिभूभृत् वत्सराज

यह प्रतिहार वंश का राजा था और उस नागावलोक या नागभट (द्वितीय) का पिता था। जिसने चक्रायुध को परास्त किया था। वत्सराज ने गोड़ और बंगाल के राजाओं को जीता था और उनसे दो श्वेतछत्र छीन लिए थे। आगे इन्हीं छत्रों को राष्ट्रकूट गोविन्द (द्वितीय) या श्रीवल्लभ के भाई ध्रुवराज ने चढ़ाई करके उससे छीन लिया था। और उसे मारवाड़ की अगम्य रेतीली भूमि की ओर भागने को विवश किया था।

ओझा जी ने लिखा है कि उक्त वत्सराज ने मालवा के राजा पर चढ़ाई की और मालव राज को बचाने के लिए ध्रुवराज उस पर चढ़ दौड़ा। शक स०७०५ में तो मालवा वत्सराज के ही अधिकार में था क्यों कि ध्रुवराज का राज्यारोहण काल शक स० ७०७ के लगभग अनुमान किया गया है। उसके पहले ७०५ में तो गोविन्द (द्वितीय) श्री वल्लभ ही राजा था और इसलिये उसके बाद ही ध्रुवराज की उक्त चढ़ाई हुई होगी।

उद्योतन सूरि ने अपनी कुवलय माला जावालिपुर (जालोर मारवाड़) में तब समाप्त की थी जब शक सं० ७०० के समाप्त होने में एक दिन बाकी था। उस समय वहां वत्सराज का राज्य था[6] अर्थात् हरिवंश की रचना

१. गृहीत चक्रा प्रतिचक्र देवता तथोर्जयन्तालय सिंह वाहिनी।
शिवाय यस्मिन्निह सन्निधीमते क्वातन्त्र विघ्नाः प्रभवन्ति शासने ।। ४४
२. देखो, सी. पी. वैद्य का 'हिन्दूभारत का उत्कर्ष' पृ० १७५
३. म०म० ओझा जी के अनुसार नागभट का समय वि० सं० ८७२ से ८९० तक है।
४. इण्डियन एण्टिक्वेरी: जिल्द ५ पृ० १४६।
५. एपिग्राफिआ इण्डिका' जिल्द ६, पृ० २७६।
६. सग काले वोलीणे वरिसाण सएहिं सत्तहिं गएहिं। एक दिणेणूणेहिं रइया अवरण्ह वेलाए।।
परभडभिउडी भंगो पणईयण रोहिणी कला चंदो। सिरिवच्छ रायणामो णरहत्थी पत्थिवो जइआ।।

के समय (शक सं० ७०५ में) तो (उत्तर दिशा का) मारवाड़ इन्द्रायुध के आधीन था और (पूर्वका) मालवा वत्सराज के अधिकार में था। परन्तु इसके ५ वर्ष पहले (शक सं० ७००) में वत्सराज मारवाड़ का अधिकारी था इससे अनुमान होता है कि उसने मारवाड़ से ही आकर मालवा पर अधिकार किया होगा और उसके बाद ध्रुवराज की चढ़ाई होने पर वह फिर मारवाड़ की ओर भाग गया होगा। शक सं० ७०५ में वह अवन्ति या मालवा का शासक होगा। अवन्ति बढ़वाण की पूर्व दिशा में है ही। परन्तु यह पता नहीं लगता कि उस समय अवन्ति का राजा कौन था, जिसकी सहायता के लिए राष्ट्रकूट ध्रुवराज दौड़ा था। ध्रुवराज (श० सं० ७०७) के लग-भग गद्दी पर आरूढ़ हुआ था। इन सब बातों से हरिवंश की रचना के समय उत्तर में इन्द्रायुध, दक्षिण में श्री वल्लभ और पूर्व में वत्सराज का राज्य होना ठीक मालूम होता है।

वीर जयवराह

यह पश्चिम में सौरों के अधिमण्डल का राजा था। सौरों के अधिमण्डल का अर्थ हम सौराष्ट्र ही समझते हैं जो काठियावाड़ के दक्षिण में है। सौर लोगों का सोसौर राष्ट्र या सौराष्ट्र। सौ राष्ट्र से बढ़वाण और उसने पश्चिम की ओर का प्रदेश ही ग्रन्थकर्ता को अभीष्ट है

यह राजा किस वंश का था, इसका ठीक पता नहीं चलता। प्रेमीजीका अनुमान है कि यह चालुक्य वंश का कोई राजा होगा और उसके नाम के साथ वराह शब्द का प्रयोग उसी तरह होता होगा, जिस तरह कि कीर्ति वर्मा (द्वितीय) के साथ 'महावराह' का, राष्ट्रकूटों से पहले चौलुक्य सार्वभौम-राजा थे। और काठियावाड़ पर भी उनका अधिकार था। उनसे यह सार्वभौमत्व शक सं० ६७५ के लगभग राष्ट्रकूटों ने ही छीन लिया था। इसलिए बहुत संभव है कि हरिवंश की रचना के समय सौराष्ट्र पर चौलुक्य वंश की किसी शाखा का अधिकार हो और उसी को जयवराह लिखा हो। संभवतः पूरा नाम जयसिंह हो और वराह विशेषण।

प्रतिहार राजा महीपाल के समय का एक दान पत्र हड्डाला गांव (काठियावाड़) से शक सं० ८३६ का मिला है। उससे मालूम होता है कि उस समय बढ़वाण में धरणी वराह का अधिकार था, जो चावड़ा वंश का था और प्रतिहारों का करद राजा था। इससे एक संभावना यह भी हो सकती है कि उक्त धरणी वराह का ही कोई ४-६ पीढ़ी पहले का पूर्वज उक्त जयवराह हो।

आचार्य जिनसेन ने हरिवंश पुराण की रचना शक सं० ७०५ (वि० सं० ८४०) में की है। उसके बाद कितने वर्ष तक वे अपने जीवन से इस भूतल को अलंकृत करते रहे, यह कुछ ज्ञात नहीं होता।

जिनसेनाचार्य

पंचस्तूपान्वयी वीरसेन के प्रमुख शिष्य थे। जिनसेन विशाल बुद्धि के धारक कवि, विद्वान और वाग्मी थे। इसी से आचार्य गुणभद्र ने लिखा है कि जिस प्रकार हिमाचल से गंगा का, सकलज्ञ से (सर्वज्ञ से) दिव्य ध्वनि का और उदयाचल से भास्कर का उदय होता है उसी प्रकार वीरसेन से जिनसेन उदय को प्राप्त हुए हैं[1] जिनसेन वीरसेन के वास्तविक उत्तराधिकारी थे। जय धवला प्रशस्ति में उन्होंने अपना परिचय बड़े ही सुन्दर ढंग से दिया है। और लिखा है कि—'वे अविद्धकर्ण थे- कर्णवेध संस्कार से पहले ही वे दीक्षित हो गए थे। और बाद में उनका कर्णवेध संस्कार ज्ञान शलाका से हुआ था[2]। वे शरीर से दुबले पतले थे, परन्तु तप गुण से वे कृश नहीं थे। शारी-

---

१. अभवदिवहिमाद्रेर्देवसिन्धु प्रवाहो, ध्वनिरिव सकलज्ञात्सर्वशास्त्रैकमूर्तिः।
उदयगिरि तटाद्वा भास्करो भासमानो, मुनिरनुजिनसेना वीरसेनादमुष्यात्॥
—उत्तर पुराण प्रशस्ति

२. तस्य शिष्योभवच्छ्रीमान जिनसेनः समिद्धधीः।
अविद्धावपि यत्कर्णौ विद्धौ ज्ञानशलाकया॥२२—जयधव० प्र०

रिक दुर्बलता सच्ची कृशता नहीं है, जो गुणों से कृश होता है वास्तव में वही कृश है, जिन्होंने न तो कापालिका (सांख्य शास्त्र और पक्ष में तैरने का घड़ा) को ग्रहण किया और न अधिक चिन्तन किया, फिर भी अध्यात्म विद्या रूप सागर के पार पहुंच गये[१]। वे बड़े साहसी, गुरु भक्त और विनयी थे। और बाल्यावस्था से ही जीवन पर्यन्त अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत के धारक थे। वे न तो अधिक सुन्दर थे, और न बहुत चतुर, फिर भी अनन्य शरण होकर सरस्वती ने उनकी सेवा की थी[२]। स्वाभाविक मृदुता और सिद्धान्त मर्मज्ञता गुण उनके जीवन सहचर थे। उनकी गंभीर और भावपूर्ण सूक्तियां बड़ी ही सुन्दर और रसीली हैं। कविता सरस और अलंकारों के विचित्र आभूषणों से अलंकृत है। बाल्यावस्था से ही उन्होंने ज्ञान की सतत आराधना में जीवन बिताया था। सैद्धान्तिक रहस्यों के मर्मज्ञ तो वे थे ही, किन्तु उनका निर्मल यश लोक में सर्वत्र विश्रुत था। वे उच्चकोटि के कवि थे, कविता रसीली और मधुर थी।

आपकी इस समय तीन कृतियां उपलब्ध हैं। पार्श्वाभ्युदयकाव्य, आदि पुराण और जयधवला टीका, जिसे उन्होंने अपने गुरु वीरसेनाचार्य के स्वर्गवास के बाद बना कर पूर्ण की थी।

पार्श्वाभ्युदय काव्य—यह अपने ढंग का एक ही अद्वितीय समस्या पूर्तिक खण्ड काव्य है। दीक्षा धारण करने के पश्चात् भगवान पार्श्वनाथ प्रतिमायोग में विराजमान हैं पूर्व भव का वैरी कमठ का जीव शंवर नामक ज्योतिष्कदेव अवधि ज्ञान से अपने शत्रु का परिज्ञान कर नाना प्रकार के उपसर्ग करता है। परन्तु पार्श्वनाथ अपने ध्यान से रंचमात्र भी विचलित नहीं होते। उनके घोर उपसर्ग को दूर करने के लिये धरणेन्द्र और पद्मावती आते हैं। शम्बर भय-भीत हो भागने की चेष्टा करता है किन्तु धरणेन्द्र उसे रोकते हैं और उसके पूर्व कृत्यों को याद दिलाते हैं। उपसर्ग दूर होते ही भगवान पार्श्वनाथ को केवलज्ञान हो जाता है। इन्द्रादिक देव केवलज्ञान की पूजा करते हैं। शंवरपार्श्वनाथ के धैर्य, सौजन्य, सहिष्णुता, और अपार शक्ति से प्रभावित होकर स्वयं वैर भाव का परित्याग कर उनकी शरण में पहुंचता है और पश्चाताप करता हुआ अपने अपराध की क्षमा याचना करता है, वह जिनधर्म ग्रहण करता है, देव पुष्पवृष्टि करते हैं, कवि ने काव्य में 'पापापाये प्रथम मुदितं कारणं भक्तिरेव' जैसी सूक्तियों की भी संयोजना की है। इसीसे कथावस्तु की अभिव्यंजना पार्श्वाभ्युदय में की गई है। शृंगार रस से ओत-प्रोत मेघदूत को शान्त रस में परिवर्तित कर दिया है। साहित्यिक दृष्टि से यह काव्य बहुत ही सुन्दर और काव्य गुणों से मंडित है। इसमें चार सर्ग हैं। उनमें से प्रथम सर्ग में ११८ पद्य, दूसरे में भी ११८, तीसरे में ५७, और चौथे में ७१ पद्य हैं। काव्य में कुल मिलाकर ३६४ मन्दाक्रान्ता पद्य हैं। काव्य में (कमठ) यक्ष के रूप में कल्पित है। कविता अत्यन्त प्रौढ और चमत्कार पूर्ण है। मेघदूत के अन्तिम चरण को लेकर तो अनेक काव्य लिखे गये। परन्तु सारे मेघदूत को वेष्टित करने वाला यह एक ही काव्य ग्रन्थ है। इस काव्य की महत्ता उस समय और अधिक बढ़ जाती है जब पार्श्वनाथ चरित की कथा और मेघदूत के विरही यक्ष की कथा में परस्पर में भारी असमानता है। ऐसी कठिनाई होते हुए भी काव्य सरस और सुन्दर बन पड़ा है। इस काव्य की रचना जिनसेन ने अपने सधर्मा गुरू भाई विनयसेन की प्रेरणा से की थी[३]।

---

१. यः कृशोपिशरीरेण न कृशोभूतपोगुणैः।
न कृशत्वं हि शारीरं गुणैरेव कृशः कृशः ॥२७
यो न गृहीत्कापलिकान्नाप्यचिन्तयदंजसा।
तथाप्यध्यात्मविद्याब्धेः पारं पारमशिश्रियत् ॥२८
—जयधव० प्रश०

२. यो नाति सुन्दराकारो न चातिचतुरो मुनिः।
तथाप्यनन्य शरणा यं सरस्वत्युपाचरत् ॥२५—जयध० प्र०

३. श्री वीरसेन मुनिपादपयोजभृंग, श्रीमानभूद्विनयसेन मुनिर्गरीयान्।
तच्चोदितेन जिनसेनमुनीश्वरेण, काव्यं व्यधायि परिवेष्टित मेघदूतम् ॥
—पार्श्वाभ्युदय

इस काव्य पर योगिराट पंडिताचार्य नाम के किसी विद्वान की एक संस्कृत टीका है। जो संभवतः १५वीं शताब्दी के अन्तिम चरण का विद्वान था। टीका में जगह जगह 'रत्नमाला' नामक कोष के प्रमाण दिये हैं। रत्नमाला का कर्ता इरुगदण्डनाथ विजय नगर नरेश हरिहरराय के समय शक सं. १३२१ (वि. सं. १४५६) के लगभग हुआ है। अतः पण्डिताचार्य उसके बाद के विद्वान होना चाहिये। काव्य के प्रत्येक सर्ग के अन्त में जिनसेन को अमोघवर्ष का गुरु बतलाया गया है।

पुन्नाट संघीय जिनसेन ने शक सं. ७०५, (सन् ७८३) में पार्श्वाभ्युदय काव्य का हरिवंशपुराण के निम्न पद्य में उल्लेख किया है :—

याऽमिताभ्युदये पार्श्वे जिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः।
स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्ति संङ्कीर्तयत्यसौ ।।

अतः पार्श्वाभ्युदय काव्य शक सं० ७०५ (वि० स० ८४०) से पूर्व रचा गया है। अर्थात् शक सं० ७०० में इसकी रचना हुई है।

आदिपुराण—आचार्य जिनसेन ने त्रेसठशाला का पुरुषों के चरित्र लिखने की इच्छा से 'महापुराण' का प्रारम्भ किया था। किन्तु बीच में ही स्वर्गवास हो जाने के कारण उनकी वह अभिलाषा पूरी नहीं हो सकी। और महापुराण अधूरा ही रह गया। जिसे उनके शिष्य गुणभद्र ने पूरा किया। महापुराण के दो भाग हैं। आदि पुराण और उत्तर पुराण। आदि पुराण में जैनियों के प्रथम तीर्थंकर आदि नाथ या ऋषभ देव का चरित वर्णित है। और उत्तर पुराण में अवशिष्ट २३ तीर्थंकरों और शलाका पुरुषों का। आदि पुराण में ४७ पर्व और बारह हजार श्लोक हैं। इनमें जिनसेन ४२ पर्व पूरे और ४३ वे पर्व के ३ श्लोक ही बना सके थे कि उनका स्वर्गवास हो गया। तब शेष चार पर्वों के १६२० श्लोक उनके शिष्य गुणभद्र के बनाये हुए हैं।

आदि पुराण उच्च दर्जे का संस्कृत महाकाव्य है। आचार्य गुणभद्र ने उसकी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि—'यह सारे छन्दों और अलंकारों को लक्ष्य में रखकर लिखा गया है। इसकी रचना सूक्ष्म अर्थ और गूढ़ पद वाली है। उसमें बड़े बड़े विस्तृत वर्णन हैं जिनके अध्ययन से सब शास्त्रों का साक्षात् हो जाता है। इसके सामने दूसरे काव्य नहीं ठहर सकते, यह श्रव्य है, और व्युत्पन्न बुद्धिवालों के द्वारा ग्रहण करने योग्य है और कवियों के मिथ्या अभिमान को दलित करने वाला है, अतिशय ललित है[२]।

जिनसेन का यह आदि पुराण सुभाषितों का भंडार है। जिस तरह समुद्र बहुमूल्य रत्नों का उत्पत्ति स्थान है, उसी तरह यह पुराण सूक्त रत्नों का भंडार है, जो अन्यत्र दुर्लभ हैं ऐसे सुभाषित इसमें सुलभ हैं। और स्थान स्थान से इच्छानुसार संग्रह किये जा सकते हैं।

आचार्य जिनसेन ने आदि पुराण की उत्थानिका में अपने से पूर्ववर्ती अनेक प्रसिद्ध कवियों और विद्वानों का अनेक विशेषणों के साथ स्मरण किया है। १. सिद्धसेन २. समन्तभद्र ३. श्रीदत्त ४. प्रभाचन्द्र ५. शिवकोटि ६. जटाचार्य ७. काणभिक्षु ८. देव (देवनन्दि) ९. भट्टाकलंक १०. श्रीपाल ११. पात्र केशरी १२. वादिसिंह १३. वीर सेन १४. जयसेन १५. कवि परमेश्वर। इन सब विद्वानों का परिचय यथा स्थान दिया गया है।

जयधवलाटीका—

कसाय प्राभृत के प्रथम स्कन्ध की चारों विभक्तियों पर 'जयधवला नाम की बीस हजार श्लोक प्रमाण टीका लिख कर आचार्य वीरसेन का स्वर्गवास हो गया। अतः उनके शिष्य जिनसेनाचार्य ने अवशिष्ट भाग पर

---

२. 'सकलच्छंदोलंकृति लक्ष्यं सूक्ष्मार्थ गूढपदरचनम् ।।१७
'व्यावर्णनोरुसारं साक्षात्कृतसर्वशास्त्रसद्भावम् ।
अपहस्तितान्य काव्यं श्रव्यं व्युत्पन्नमतिभिरादेयम् ।।१८
'जिनसेन भगवतोक्तं मिथ्याकवि दर्पदलनमति ललितम् ।।१९
—उत्तर पुराण प्रशस्ति

चालीस हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखकर उसे शक संवत् ७५९ में पूरा किया। यह टीका वीरसेन स्वामी की शैली में मणि-प्रवाल (संस्कृत मिश्रित प्राकृत) भाषा में लिखी गई है[1]। टीका की भाषा प्रावाहपूर्ण है। टीकाकार ने स्वयं ही शंकाएं उठा कर विविध विषयों का स्पष्टीकरण किया है।

आचार्य जिनसेन ने कसाय प्राभृत की जयधवला टीका में चूर्णिसूत्र और उच्चारणा आदि के द्वारा वस्तु तत्त्व का यथार्थ विवेचन किया है। कषाय के उपशम और क्षपणा का सुन्दर, सरस एवं हृदयग्राही विवेचन किया गया है। मोह के दर्शन मोहनीय और चरित्र मोहनीय रूप दो भेद हैं। उनमें दर्शन मोहनीयके भेद राग, द्वेष मोहरूप त्रिपुटि का तथा चारित्र मोहनीय के मूलतः कषाय और नो कषायों में विभाजन किया है। ये कषाये राग-द्वेष में विभाजित होकर एक मोह कर्म की राग-द्वेष मोहरूप त्रिरूपताका बोध कराती हैं। आत्मा इन सबकी शक्ति को उपशमाने या क्षीण करने का उपक्रम करता है। उन की शक्ति का निर्बल करने के लिये ध्यानादि का अनुष्ठान करता है। और ग्रन्थ में कषायों के रस को सुखाने, निर्जीर्ण करने आदि का विस्तृत कथन दिया है। जिसका परिणाम घाति कर्म क्षय रूप कैवल्य की प्राप्ति है। उसमे आत्मा कर्म के मोहजन्य सम्कार के अभाव से हलका हो जाता है। पश्चात् वह योग निरोधादि द्वारा अघाति रूप कर्म-कालिमा का अन्त कर स्वात्म लब्धि का पथिक बन जाता है। और जन्म मरणादि से रहित अनन्तकाल तक आत्म-सुख में निमग्न रहता है। यह टीका प्रमेय बहुल और सैद्धान्तिक चर्चा से ओत-प्रोत है। इसका अध्ययन और मनन करना श्रेयरकर है।

इस सब विवेचन पर से जयधवला टीका की महत्ता का बोध सहज ही हो जाता है, और उसमे जिनसेनाचार्य की प्रज्ञा एवं प्रतिभा का अच्छा आभास मिल जाता है। आचार्य जिनसेन ने जयधवला टीका में श्रीपाल, पद्मसेन और देवसेन नामके तीन विद्वानों का उल्लेख किया है[2]। संभवतः ये उनके सधर्मा या गुरु भाई थे। श्रीपाल को तो उन्होंने जयधवला का संपालक कहा है।

समय

जिनसेन अपनी अविद्धकर्ण बाल्य अवस्था में ही वीर सेन के चरणों में आ गए थे। वीरसेन ही उनके विद्या गुरु और दीक्षा गुरु थे।

उन्ही की शिक्षा द्वारा तपस्वी और विद्वान आचार्य बने। उन्ही के पादमूल में उनके जीवन का अधिकाश भाग व्यतीत हुआ है। इसी से उन्होंने अपने गुरु का बहुत ही आदरपूर्ण शब्दों में स्मरण किया है। वीर सेन ने अपनी धवला टीका शक स० ७३८ सन् ८१६ में समाप्त की है। और जय धवला टीका की समाप्ति उससे २१ वर्ष बाद शक संवत ७५९ (सन् ८३७) में गुर्जरनरेन्द्र अमोघवर्ष के राज्य काल में वाट ग्राम हुई है[3]। चूंकि

---

१. प्रायः प्राकृत भारत्या क्वचित्संस्कृतमिश्रया।
मणि—प्रवालन्यायेन प्रोक्तोऽयंग्रन्थ विस्तरः ॥३२
—(जयधवला प्रशस्ति)

२. ते नित्योज्वलपद्मसेनपरमाः श्रीदेवसेनार्चिताः।
भासन्ते रविचन्द्रभासि सुतपा श्रीपाल सत्कीर्तयः ॥३९
—जय धवला प्रशस्ति।

३. इतिश्री वीर सेनीया टीका सूत्रार्थ-दर्शिनी।
वाट ग्राम पुरे श्रीमद् गुर्जरार्यानुपालिते ॥६
फाल्गुणे मासि पूर्वान्हे दशम्या शुक्लपक्षके।
प्रवर्धमान—पूजोरु-नन्दीश्वर- महोत्सवे ॥७
अमोघवर्ष राजेन्द्र—राज्य प्राज्य गुणोदया।
निष्ठिता प्रचय यायादाकल्पान्तमनल्पिका ॥८—(जयधवला प्रशस्ति)।

पार्श्वाभ्युदय काव्य का उल्लेख शकसं० ७०५ में हरिवंश में पुन्नाट संघी जिनसेनने किया है। और लिखा है कि भगवान पार्श्व नाथ के गुणों की स्तुति उनकी कीर्तिका सक र्तन करती है[1]। इससे स्पष्ट है कि जिनसेन ने शक सं० ७०५ से पूर्व ही ग्रन्थ रचना शुरू कर दी थी। अतः उक्त पार्श्वाभ्युदय काव्य शक सं० ७०० के लगभग की रचना है, क्योंकि शक सं० ७०५ में उसका उल्लेख मिलता है। इस रचना के समय जिनसेन की आयु कम से कम १५ और २० वर्ष के मध्य रही होगी। पार्श्वाभ्युदय काव्य की रचना से ५९ वर्षबाद उन्होंने जयधवला को शक सं० ७५९ सन् ८३७ में पूर्ण किया है। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि आचार्य जिनसेन ने शक सं० ७०० से ७३८ के मध्यवर्ती समय में क्या कार्य किया। इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि जब गुरु वीरसेन ने धवला और जयधवला टीका बनाई, तब उसमें उन्होंने अपने गुरु को अवश्य सहयोग दिया होगा। और यदि उन्होंने उस काल में अन्य किसी ग्रन्थ की रचना की होती तो वे उसका उल्लेख अवश्य करते।

उसके बाद उन्होंने आदि पुराण की रचना की है। और वे महापुराण की रचना करते हुए बीच में ही स्वर्गवासी हो गए। उनके इस अधूरे पुराण को उनके शिष्य गुणभद्राचार्य ने पूर्ण किया है। आदि पुराण के दश हजार श्लोंकी रचना करने में ५-६ वर्ष का समय लग जाना अधिक नहीं है। इससे जिनसेना चार्य दीर्घ जीवी थे। और उनका स्वर्गवास ८० वर्ष की अवस्था में हुआ होगा।

दशरथ गुरु

दशरथ गुरु—पंचस्तूपान्वयी वीरसेन के शिष्य थे, और जैन सेनाचार्य के सधर्मा बन्धु—गुरुभाई थे[2]। जो बड़े विद्वान थे—जिस तरह सूर्य अपनी निर्मल किरणों से संसार के पदार्थो को प्रकाशित करता है। उसी प्रकार वे भी अपने वचन रूपी किरणों से समस्त जगत को प्रकाशमान करते थे। जिनसेनाचार्य का जो समय है, वही दशरथ गुरु का है, जिनसेनाचार्य ने अपनी जयधवला टीका शक सं० ७५९ (सन् ८३७) में पूर्ण की है। अतएव दशरथगुरु का समय भी सन् ८०० से ८३७ होना चाहिये।

गुणभद्राचार्य

गुणभद्र—मूलसंघ सेनान्वय के विद्वान थे। और पचस्तूपान्वय के विद्वान आचार्य जिनसेन के सधर्मा (गुरुभाई) दशरथ गुरु के शिष्य थे। सिद्धान्त शास्त्र रूपी समुद्र के परिगामी होने से जिनकी बुद्धि अतिशय प्रगल्भ तथा देदीप्यमान (तीक्ष्ण) थी, जो अनेक नय और प्रमाण के ज्ञान में निपुण, अगणित गुणों से विभूषित, समस्त जगत में प्रसिद्ध थे[3]। जो तपोलक्ष्मी से भूषित थे। उत्कृष्ट ज्ञान से युक्त, पक्षोपवासी, तपस्वी तथा भावलिंगी

---

१. यामिताभ्युदये पार्श्व जिनेन्द्रगुण संस्तुतिः।
स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्ति सं कीर्तयत्वसौ ॥४०
—हरिवंशपुराण

२. दशरथगुरुरासीत्तस्य धीमान्सधर्मा
शशिन इव दिनेशो विश्वलोकैकचक्षुः।
निखिलमिद मदीपि व्यापितद्वाङ्मयूखैः।
प्रकटितनिजभाव निर्मलैर्धर्मसारैः ॥१२
—उत्तर पुराण प्रशस्ति

३. प्रत्यक्षीकृत लक्ष्य लक्षण विधि विश्वोपविद्यां गतः।
सिद्धान्ताअबवसानयान जनित प्रागल्भ्या वृद्धीद्धधी;।
नानानूननयप्रमाणनिपुणोऽगण्ये र्गुणैर्भूषित:।
शिष्यः श्रीगुणभद्रसूरिरनयोरासीज्जगद्विश्रुतः ॥
—उत्त० पु० प्रशस्ति १४

मुनिराज थे[१]। राष्टकूट राजा अमोघवर्ष ने गुणभद्राचार्य को अपने द्वितीय पुत्र कृष्ण का शिक्षक नियुक्त किया था[२]। इन्होंने जिनसेनाचार्य के दिवंगत हो जाने पर उनके अपूर्ण आदि पुराण को १६२० श्लोकों की रचना कर उसे पूरा किया था। उसके बाद उन्होने आठ हजार श्लोक प्रमाण 'उत्तर पुराण' की रचना की। उसकी रचना में गुणभद्राचार्य ने कवि परमेष्ठी के 'वागर्थ सग्रह' पुराण का आश्रय लिया था।

उत्तर पुराण—में द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ से लेकर २३ तीर्थंकरों, ११ चक्रवर्ती, नव नारायण, नव बलभद्र और ६ प्रतिनारायण तथा जीवंधर स्वामी आदि विशिष्ट महापुरुषों के कथानक दिये हुए हैं। इस पुराण को कवि ने संभवत: बंकापुर में समाप्त किया था। प्रस्तुत बकापुर अपने पिता वीर बंकेय के नाम से लोकादित्य द्वारा स्थापित किया गया। प्रपितामह मुकुल के वश को विकसित करने वाले सूर्य के प्रताप के साथ जिसका प्रताप सर्वत्र फैल रहा था, और जिसने प्रसिद्ध शत्रुरूपी अंधकार नष्ट कर दिया था, जो चेल्ल पताका वाला था जिसकी पताका में मयूर का चिन्ह था[३]। चेलध्वज का अनुज था और चेल्ल केतन बंकेय का पुत्र था, जैनधर्म की वृद्धि करने वाला, चन्द्रमा के समान उज्वल यश का धारक लोकादित्य बंकापुर में वनवास देश का शासन करहा था।

उस समय बंकापुर वनवासि प्रान्तकी राजधानी था। और अनेक विशाल जिन मन्दिरों से सुशोभित था। यह नृपतुंगका सामन्त था, और वीर योद्धा था। इसने गगराज राजमल को युद्ध में पराजित कर बन्दी बनाया था। इस विजयोपलक्ष्य में भरी सभा में वीर बकेय को नृपतुंग द्वारा अभीष्ट वर माँगने की आज्ञा हुई। तब जिनभक्त बकेय ने गद-गद हो नृपतुंग से यह प्रार्थना की, कि अब मेरी कोई लौकिक कामना नहीं है। यदि आप देना ही चाहें तो कोलनूर में मेरे द्वारा निर्मित जिनमंदिर के लिये पूजादि कार्य सचालनार्थ एक भूदान प्रदान कर सकते है। उन्होंने वैसा ही किया। बकेय का पत्नी विजयादेवी बड़ी विदुषी थी। इसने सस्कृत में काव्य रचना की है[४]। इनका पुत्र लोकादित्य भी अपने पिताके समान ही वीर और पराक्रमी था। लोकादित्य शत्रु रूपी अन्धकार को मिटाने वाला एक ख्याति प्राप्त शासक था। लोकादित्य पर गुणभद्राचार्य का पर्याप्त प्रभाव था। लोकादित्य जैन धर्म का प्रेमी था, और समूचा वनवासि प्रान्त लोकादित्य के वस में था।

आचार्य जिनसेन की इच्छा महापुराण को विशाल ग्रन्थ बनाने की थी। परन्तु दिवंगत हो जाने से वे उसे पूर्ण नहीं कर सके। ग्रन्थ का जो भाग जिनसेन के कथन से अवशिष्ट रह गया था, उसे निर्मल बुद्धि के धारक गुण भद्रसूरि ने हीनकाल के अनुरोध से तथा भारी विस्तार के भय से संक्षेप में ही संग्रहीत किया है[५]।

उत्तर पुराण को यदि गुणभद्राचार्य आदि पुराण के सदृश विस्तृत बनाते तो महापुराण एक उत्कृष्ट कोटि का महाभारत जैसा एक विशाल ग्रन्थ होता। किन्तु आयु काय आदि की स्थिति को देखते हुए वे उसे जल्दी पूर्ण करना चाहते थे। इसी से उसमें बहुत से कथन मौलिक और विस्तृत नही हो पाये हैं, और कितने ही कथानकों से मुख मोड़ना पड़ा है। कुछ कथानकों में वह विशदता भी शीघ्रता के कारण नहीं लासके हैं। फिर भी उनका उक्त प्रयत्न महान और प्रशंसनीय है।

---

१. तस्सय सिस्सो गुणव गुणभद्दो दिव्वणाण परिपुण्णो।
पक्खोववास मंडी महातवो भावलिंगो व॥ —दर्शनसार

२. देखो, डा० अल्तेकर का राष्ट्रकूटाज और उनका समय पृ०

३. चेल्लपताके चेल्लध्वजानुजे चेल्लकेतननतनूजे।
जैनेन्द्रधर्मवृद्धे विधायिनिविधुवीध्र पृथु यशसि॥
—उत्त० पु० प्रशस्ति ३३

४. "सरस्वती व कर्णाटी विजयांका जयत्यसौ।
या वैदर्भी गिरां वासः कालिदासादनन्तरम्॥"

५. अति विस्तर भीरुत्वादवशिष्टं सङ्गृहीत ममलधिया।
गुणभद्र सूरिणेदं—प्रहीणकालानुरोधेन॥
—उत्तर० पु० प्रश० २०

जिन-सेनाचार्य को यह विश्वास हो गया कि अब मेरा जीवन समाप्त होने वाला है और मैं महापुराण को पूरा नहीं कर सकूंगा। तब उन्होंने अपने सबसे योग्य शिष्यां को बुलाया और उनसे कहा कि सामने जो यह सूखा वृक्ष खड़ा है, इसका काव्यवाणी में वर्णन करो। गुरु वाक्य सुनकर उनमें से एक शिष्य ने कहा 'शुष्क काष्ठं तिष्ठत्यग्रे'। फिर दूसरे शिष्य ने कहा—"नीरसतरुरिह विलसति पुरतः"। गुरु को द्वितीय वाक्य सरस ज्ञात हुआ। अतः उन्होंने उसे आज्ञा दी कि 'तुम महापुराण को पूरा करो। गुणभद्र ने गुरु आज्ञा को स्वीकार कर महापुराण को पूरा किया।

आचार्य गुणभद्र ने लिखा है कि इस ग्रन्थ का पूर्वार्ध ही रसावह है, उत्तरार्ध में तो ज्यों-त्यों करके ही रस की प्राप्ति होगी[1]। गन्ने के प्रारम्भ का भाग ही स्वादिष्ट होता है ऊपर का नहीं। यदि मेरे वचन सरस या सुस्वादु हों तो इसे गुरु का माहात्म्य ही समझना चाहिये। यह वृक्षोंका स्वभाव है कि उनके फल मीठे होते हैं[2]। वचन हृदय से निकलते हैं और हृदय में मेरे गुरु विराजमान हैं। वे वहां से उनका संस्कार करेंगे ही। इसमें मुझे परिश्रम न करना पड़ेगा। गुरुकृपा से मेरी रचना संस्कार की हुई होगी[3]। जिनसेन के अनुयायी पुराण मार्ग के आश्रय से संसार समुद्र के पार होना चाहते हैं फिर मेरे लिये पुराण सागर के पार पहुंचना क्या कठिन है[4]।

उत्तर पुराण का रचना काल

आचार्य गुणभद्र ने उत्तर पुराण में उसका कोई रचना काल नहीं दिया। उनकी प्रशस्ति २७ वें पद्य तक समाप्त हो जाती है। पांच-छह श्लोकों में ग्रन्थ का माहात्म्य वर्णन करने के अनन्तर २७ वें पद्य में बताया है कि भव्यजनों को इसे सुनना चाहिये, व्याख्यान करना चाहिये, चिन्तवन करना चाहिये, पूजना चाहिये, और भक्तजनों को इसकी प्रतिलिपियाँ लिखना लिखाना चाहिये। यहीं गुणभद्राचार्य का वक्तव्य समाप्त हो जाता है। जान पड़ता है उन्होंने उसका रचनाकाल नहीं दिया। उनका समय शक सं० ८२० से पूर्ववर्ती है। उस समय अकाल वर्ष के सामन्त लोकादित्य बंकापुर राजधानी से सारे वनवास देशका शासन कर रहे थे। तब शक सं० ८२० पिंगल नाम के संवत्सर में पंचमी (श्रावण वदी ५) बुधवार के दिन भव्य जीवों ने उत्तर पुराण की पूजा की थी[5]। गुणभद्राचार्य के शिष्य मुनि लोकसेन ने उत्तरपुराण की रचना करते समय अपने गुरु की सहायता की।

आत्मानुशासन—में २६६ श्लोक हैं। जिनमें आत्मा के अनुशासन का सुन्दर विवेचन किया गया है। यह गुणभद्राचार्य की स्वतंत्र कृति है। इसमें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तपरूप चार आराधनाओं का स्वरूप सरल रीति से दिया है। ग्रन्थ में चर्चित विषय उपयोगी और स्व-पर-सम्बोधक है। ग्रंथ मनन करने योग्य है। इस पर पंडित प्रभाचन्द्र की एक संस्कृत टीका है जो संक्षिप्त और सरल है। ग्रन्थ हिन्दी और संस्कृत टीका के साथ जीवराज ग्रंथमाला शोलापुर से प्रकाशित हो चुका है। इसमें अनुष्टुप सहित आर्या, शिखरिणी, हरिणी, मालिनी, पृथ्वी, मन्दाक्रान्ता, वंशस्थ, उपेन्द्रा, रथोद्धता, गीति, वसन्ततिलका, स्त्रग्धरा, शार्दूल विक्रीडित और

---

१. इक्षोरिवास्य पूर्वार्द्ध मेवाभावि रसावहम्।
यथातथास्तु निष्पत्तिरिति प्रारभ्यते मया ॥१४

२. गुरुणामेव माहात्म्यं यदपि स्वादु मद्वचः।
तरूणां हि स्वभावोऽसौ यत्फलं स्वादु जायते ॥१७

३. निर्यान्ति हृदयाद्वाचो हृदि मे गुरवः स्थिताः।
ते तत्र संस्करिष्यन्ते तन्न मेऽत्र परिश्रमः ॥१८

४. पुराणं मार्गमासाद्य जिनसेनानुगा ध्रुवम्।
भवाब्धेः पारमिच्छन्ति पुराणस्य किमुच्यते ॥१९

५. शकनृप कालाभ्यन्तर विंशत्यधिकाष्ट शतमिताब्दान्ते।
मंगलमहार्थकारिणि पिंगल नामिनि समस्त जन सुखदे ॥३५

वेताली आदि छन्दो का उपयोग किया गया है। कविता प्रायः सरस है। जो रस तथा अलंकार सहित है, उसमें सुभाषितो की कमी नही है। और काव्य के गुणो से युक्त है।

जिनदत्तचरित— भी इनकी कृति बतलाया जाता है। यह संस्कृत का एक काव्य ग्रन्थ है। जिसमें जिनदत्त का जीवन परिचय अंकित है। और जो माणिक चन्द्र ग्रन्थमाला से मूल रूप में प्रकाशित हो चुका है।

शाकटायन

शाकटायन (पाल्यकीर्ति)— यापनीय संघ के आचार्य थे। यापनीय संघ का बाह्य आचार बहुत कुछ दिगम्बरो से मिलता था। वे नग्न रहते थे पर श्वेताम्बर आगम को आदर की दृष्टि से देखते थे। शाकटायन (पाल्यकीर्ति) ने तो स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति नाम के दो प्रकरण भी लिखे हैं। जो प्रकाशित हो चुके हैं। इनका वास्तविक नाम पाल्यकीर्ति था। परन्तु शाकटायन व्याकरण के कर्ता होने के कारण शाकटायन नाम से प्रसिद्ध हो गए थे।

वादिराजसूरि ने अपने पार्श्वनाथ चरित में उनका निम्न शब्दो में स्मरण किया है-

कुतस्त्या तस्य सा शक्तिः पाल्यकीर्तेर्महौजसः।
श्रीपद श्रवणं यस्य शाब्दिकान्कुरुते जनान्॥

इसमें बताया है कि उस महातेजस्वी पाल्यकीर्ति की शक्ति का क्या वर्णन किया जाय, जिसका 'श्री' पद श्रवण ही लोगों को शाब्दिक या व्याकरणज्ञ कर देता है।

शाकटायन को 'सकलज्ञानदेशीय आचार्य' लिखा है। जिसका अर्थ श्रुतकेवली के समान होता है। पाणिनि ५-३-६७ के अनुसार देशीय शब्द तुल्यता का वाचक है। चिन्तामणिटीका के कर्ता यक्षवर्मा ने तो उन्हे 'सकलज्ञान साम्राज्य पदमाप्तवान्' कहा है।

शाकटायन की 'अमोघवृत्ति नाम की' एक स्वोपज्ञटीका है। उसका प्रारम्भ 'श्रीममृत ज्योति' आदि मंगलाचरण से होता है। वादिराज सूरि ने इसी मंगलाचरण के 'श्री' पद को लक्ष्य करके यह बात कही है कि पाल्यकीर्ति (शाकटायन) के व्याकरण का आरम्भ करने पर लोग वैयाकरण हो जाते हैं।

इसका नाम शब्दानुशासन है। शाकटायन नाम बाद को प्रचलित हुआ है।

शाकटायन की अमोघवृत्ति मे, आवश्यक, छेद सूत्र, निर्युक्ति कालिक सूत्र आदि ग्रन्थो का उल्लेख किया है। उससे जान पडता है कि यापनीय संघमे श्वेताम्बर ग्रन्थोके पठन-पाठन का प्रचार था। अपराजित सूरि ने तो दशवेकालिक पर टीका भी लिखी थी।

अमोघवृत्ति मे 'उपसर्वगुप्तं व्याख्यातारः' कहकर शाकटायन ने सर्वगुप्त आचार्य को सबसे बडा व्याख्याता बतलाया है। संभव है ये सर्वगुप्त मुनि वही हो जिनके चरणो मे बैठकर आराधना के कर्ता शिवार्य ने सूत्र और अर्थ को अच्छी तरह समझा था।

शाकटायन या पाल्यकीर्ति की तीन रचनाएं उपलब्ध है। शब्दानुशासन का मूल पाठ, उसकी अमोघवृत्ति और स्त्रीमुक्ति केवलिभुक्ति प्रकरण। राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा मे पाल्यकीर्ति के मतका उल्लेख करते हुए लिखा है कि— 'यथा तथा वास्तु वस्तुनो रूप वक्तृ प्रकृतिविशेषायत्तातु रसवत्ता। तथा च यमर्थरक्त स्तौति तं विरक्तो विनिन्दति मध्यस्थस्तु तत्रोदास्ते इति पाल्यकीर्ति।" इससे ज्ञात होता है कि पाल्यकीर्ति को और भी कोई रचना रही है।

शाकटायन के शब्दानुशासन पर सात टीकाएँ लिखी गई है —

१ अमोघवृत्ति, स्वयं पाल्यकीर्ति द्वारा
२ शाकटायन न्यास—प्रभाचन्द्र कृत न्यास
३ चिन्तामणिटीका यक्ष वर्माकृत[1]

---

१ तस्याति महती वृत्ति संहृत्येयं लघीयसी।
सम्पूर्ण लक्षणावृत्तिर्वक्ष्यते यक्षवर्मणा॥

४. मणि प्रकाशिका—चिन्तामणि को प्रकाशित करने वाली टीका, जिसके कर्ता अजितसेन हैं।

५. प्रक्रिया संग्रह—इसके कर्ता अभयचन्द्र है।

६. शाकटायन टीका—वादिपर्वतवज्र भावसेन त्रैविद्यदेवकृत। इनकी एक कृति विश्व तत्त्व प्रकाश नाम की है यः ग्रंथ प्रकाशित हो चुका है।

७. रूपसिद्धि दयापाल मुनि कृत। यह द्रविड़ संघ के विद्वान थे। इनके गुरु का नाम मतिसागर था।

'ख्याते दृश्ये' सूत्र की जो अमोघवृत्ति दी है, उसमें निम्न उदाहरण दिया है—"अदहदमोघवर्षोऽरातीन—अमोघवर्ष ने शत्रुओं को जला दिया। इस उदाहरण में ग्रन्थ कर्ता ने अमोघवर्ष (प्रथम) की अपने शत्रुओं पर विजय पाने की जिस घटना का उल्लेख किया है। ठीक उसी का जिक्र शक सं० ८३२ (वि० सं० ९६७) के एक राष्ट्रकूट शिलालेख[२] में निम्न शब्दों में किया है—'भूपालान् कण्टकाभान वेष्टयित्वा ददाह।' इसका अर्थ भी वही है—अमोघवर्ष ने उन कांटे जैसे राजाओं को घेरा और जला दिया जो उससे एकाएक विरुद्ध हो गये थे। यद्यपि उक्त शिलालेख अमोघवर्ष के बहुत पीछे लिखा गया था, इस कारण इसमें परोक्षार्थ वाली 'ददाह' क्रिया दी है। यह उसके समक्ष की घटना है।

बाग्मुरा के दानपत्र[३] में जो शक सं० ७८९ (वि० सं० ९२४) का लिखा हुआ है इस घटनाका उल्लेख है—उसका सारांश यह है कि गुजरात के मालिक राजा एकाएक बिगड़कर खड़े हुए और उन्होंने अमोघवर्ष के विरुद्ध हथियार उठाये, तब उसने उन पर चढ़ाई कर दी और उन्हें तहस-नहस कर डाला। इस युद्ध में ध्रुव घायल होकर मारा गया।

अमोघवर्ष शक सं० ७३६ (वि० स० ७७१) में सिंहासनारूढ़ हुए थे। और यह दानपत्र शक सं० ८२४) का है। अतः सिद्ध है कि अमोघवृत्ति शक सं० ७३६ से ७८९ सन् ८१४ से ८६७ तक के मध्य किसी समय रची गई है। और यही समय पाल्यकीर्ति या शाकटायन का है।

उग्रदित्याचार्य

उग्रदित्याचार्य—श्रीनन्दी मुनि के शिष्य थे। उग्रदित्याचार्य ने इन्हीं से ज्ञान प्राप्त करके उन्हीं की आज्ञा से कल्याणकारक नामक वैद्यक ग्रन्थ की रचना की है।

यह श्रीनन्दि मुनि के शिष्य थे। उग्रदित्याचार्य ने श्रीनन्दि से ज्ञान प्राप्त किया था। उग्रदित्याचार्य ने नृपतुङ्गवल्लभराज के दरबार में मांस भक्षण का समर्थन करने वाले विद्वानों के समक्ष मांस की निष्फलता को सिद्ध करने के लिए कल्याणकारक नाम के वैद्यक ग्रंथ की रचना की है। नृपतुंग (अमोघवर्ष) राष्ट्रकूटवंश के राजा थे। उन्हीं के राज्यकाल के रामगिरि पर्वत के जिनालय में बैठकर ग्रन्थ बनाया था। ग्रथ में दशरथ गुरु का भी उल्लेख है जो वीरसेनाचार्य के शिष्य थे। इससे भी उग्रदित्याचार्य का समय ९ वीं शताब्दी का अन्तिम चरण जान पड़ता है। प्रशस्ति में उल्लिखित विष्णुराज परमेश्वर का कोई पता नहीं चलता। कि वे किस वंश के और कहां के राजा थे।

ग्रन्थ में २५ अधिकार हैं—और श्लोक संख्या पांच हजार बतलाई जाती है। स्वास्थ्य-संरक्षक, गर्भोत्पत्ति विचार, स्वास्थ्य रक्षाधिकार-सूत्रवर्णन, धन्यादि, गुण, गुणविचार, अन्नपान विधि वर्णन, रसायन विधि, व्याधि समुद्देश, वात व्याधि चिकित्सा, पित्तव्याधि-चिकित्सा, श्लेष्म व्याधि चिकित्सा, महाव्याधि चिकित्सा, क्षुद्ररोग चिकित्सा, बालग्रह भूतमन्त्राधिकार, सर्पविष चिकित्सा, शास्त्रसंग्रह-तत्रयुक्ति कर्म चिकित्सा, भैषज्य कर्मापद्रव चिकित्सा, सर्वौषधकर्म व्याप-चिकित्सा, रसायन सिद्ध्यधिकार, नानाविध कल्पाधिकार। ग्रन्थ आयुर्वेद का है। जो सोला पुर से प्रकाशित हो चुका है, पर वह इस समय मेरे सामने नहीं है चिकित्सा शास्त्र का अच्छा ग्रन्थ है।

२. एपि ग्राफिआ इंडिका जिल्द १ पृ० ५४

३. इण्डियन एण्टिक्वेरी जि० १२ पृ० १८१

महावीराचार्य (गणितसार के कर्ता)

महावीराचार्य—राष्ट्रकूट वंशी राजा अमोघवर्ष (प्रथम) के समकालीन थे। उन्होंने अपने गणितसार के प्रारम्भ में अमोघवर्ष के दीक्षा लेकर तपस्वी बन जाने पर उनके तपस्वी जीवन का उल्लेख किया है। प्रथम पद्य में अमोघवर्ष को प्राणी रूपी सस्य समूह का सन्तुष्ट, निरीति व निरवग्रह करने वाला और स्वेष्ट हितैषी बतलाया है। यहां राजा के ईति निवारण और अनावृष्टिरूप विपत्ति के निवारण के साथ-साथ सब प्राणियों के प्रति अभय और राग-द्वेष रहित उपेक्षा वृत्ति का उल्लेख है। स्वेष्ट हितैषिणा वाक्य से स्पष्ट है कि वे आत्म कल्याण परायण हो गए थे। दूसरे पद्य में उनके पापरूपी शत्रुओं का उनकी चित्तवृत्ति रूप तपोज्वाला में भस्म होने का उल्लेख है। राजा अपने शत्रुओं को क्रोधाग्नि में भस्म करता है, उन्होंने काम क्रोधादि अन्तरंग शत्रुओं को कषाय रहित चित्तवृत्ति से नष्ट कर दिया था। अतएव वे अवन्ध्य कोप हो गए थे। तीसरे पद्य में उनके समस्त जगत को वशीभूत करने, किन्तु स्वयं किसी के वशीभूत न होने से अपूर्व मकरध्वज कहा है। चौथे पद्य में उनको 'एक चक्रिका-भजन' पदवी की सार्थकता सिद्ध की है। राजमंडल को वश करने के अतिरिक्त यहां स्पष्टतः तपस्या वृद्धि-द्वारा संसार चक्र परिभ्रमण का क्षय करने का उल्लेख है। पांचवें पद्य में उनकी विद्या प्राप्ति और मर्यादाओं की वज्र-वेदिका द्वारा उनकी ज्ञानवृद्धि और महाव्रतों के प्रतिपालन का उल्लेख अंकित किया गया है 'रत्न गर्भ' विशेषण से उनके दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप रत्नत्रय का भाव प्रकट किया है। उनके 'यथाख्यात चारित्र के जलधि' विशेषण द्वारा उनके पूर्ण मुनि और उत्कृष्ट ध्यानी होने का स्पष्ट संकेत है। क्योंकि यथाख्यात चारित्र जैन सिद्धान्त की विशिष्ट संज्ञा है, जो मुनि सकल चारित्र द्वारा भावविशुद्धि से कषायों का उपशमित या क्षीण कर देता है वह यथाख्यात चारित्र का धारी होता है। अन्तिम पद्य में उनके एकान्त को छोड़कर स्याद्वादन्याय का अवलम्बन लेने का स्पष्ट उल्लेख है। ऐसे नृपतुंग के शासन की वृद्धि की आशा की गई है।

प्रीणितः प्राणिसस्यौघो निरीति निरवग्रहः।
श्रीमतामोघवर्षेण येन स्वेष्टहितैषिणा ॥१
पापरूपाः परा यस्य चित्तवृत्तिहविर्भुजि।
भस्मसाद्भावमीयुस्तेऽवन्ध्यकोपोऽभवत्ततः ॥२
वशीकुर्वन् जगत्सर्वं स्वयं नानु वशः परैः।
नाभिभूतः प्रभुस्तस्मादपूर्वमकरध्वजः ॥३
यो विक्रमक्रमाक्रांतचक्रिचक्रकृतक्रियः।
चक्रिकाभञ्जनो नाम्ना चक्रिकाभञ्जनोऽञ्जसा ॥४
यो विद्यानद्यधिष्ठानो मर्यादावज्रवेदिकः।
रत्नगर्भो यथाख्यातचारित्रजलधिर्महान् ॥५
विध्वस्तैकान्तपक्षस्य स्याद्वादन्यायवादिनः।
देवस्य नृपतुंगस्य वर्धतां तस्य शासनम् ॥६

महावीराचार्य ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में गणित की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि लौकिक, वैदिक, और सामायिक जो जो व्यापार है उन सब में गणित संख्यान का उपयोग है। काम शास्त्र, अर्थशास्त्र, गान्धर्व शास्त्र, नाट्य शास्त्र, पाकशास्त्र, आयुर्वेदिक और वस्तु विद्या एवं छन्द अलंकार, काव्य तर्क व्याकरण आदि कलाओं के समस्त गुणों में गणित अत्यन्त उपयोगी है। सूर्य आदि ग्रहों की गति को ज्ञात करने, ग्रहण में ग्रहों युति, प्रश्न अर्थात् दिक देश काल को जानने तथा चन्द्रमा के परिलेख में, द्वीपों समुद्रों और पर्वतों की संख्या, व्यास और परिधि पाताल लोक, मध्यलोक ज्योतिर्लोक, स्वर्ग नरक, श्रेणिबद्ध भवनों, सभाभवनों और गुम्दाकार मन्दिरों के प्रमाण गणित की सहायता से ही जाने जा सकते है। प्राणियों के संस्थान, उनकी आयु, यात्रा और संहिता आदि से सम्बन्ध रखने वाले सभी विषय गणित से ही ज्ञात होते हैं।

ग्रन्थकार ने लिखा है कि तीर्थंकर और उनकी शिष्य प्रशिष्यादि की प्रसिद्ध गुरु परम्परा से आये हुए

सख्यान रूपी समुद्र में से रत्न की तरह, पाषाण से काञ्चन की भांति अथवा शुक्तियों से मुक्ता फल की तरह सार निकाल कर अपना शक्ति अनुसार गणित सार संग्रह को कहता हूं। जो लघु होते हुए अनल्पार्थक है।

गणित सार संग्रह में चौबीस अंक तक की संख्या का उल्लेख करते हुए उनके नाम इस प्रकार दिये है, एक, दश, शत सहस्र, दशसहस्र, लक्ष, दशलक्ष कोटि, दशकोटि, शतकोटि, अर्बुद, खर्व, पद्म महापद्म, क्षोणी, महाक्षोणी, शंख, महाशंख क्षिति, महा क्षिति, क्षोभ, महाक्षोभ। अंकों के लिये शब्दों का भी प्रयोग किया है, जैसे तीन के लिये रत्न, छह के लिये द्रव्य, भाव, सात के लिये तत्त्व, पन्नग और भय, आठ के लिये कर्म, तनु और मद, नौ के लिये गो पदार्थ आदि।

लघुतम समापवर्तक के विषय में अनुसन्धान करने वालों में महावीराचार्य विद्वानों में प्रथम गणितज्ञ थे, जिन्होंने लाघवार्थ निरुद्ध, लघुत्तम समापवर्तक की कल्पना की। महावीराचार्य ने निरुद्ध की परिभाषा इस प्रकार की है—'छेदों के महत्तम समापवर्तक और उससे भाग देने पर प्राप्त लब्धियों का गुणनफल निरुद्ध कहलाता है। इस तरह यह ग्रंथ गणित की अनेक विशेषताओं को लिये हुए है। भारतीय गणितज्ञ विद्वानों ने उसकी प्रशंसा करते हुए लिखा है—डा० अवधनारायण सिंह ने धवला टीका की भूमिका में लिखा है कि महावीराचार्य का गणितसार संग्रह ग्रंथ सारांशरूप से ब्रह्म गुप्त श्रीधराचार्य, भास्कर तथा अन्य हिन्दू गणितज्ञों के ग्रंथों के समान होते हुए भी बहुत सी बातों में उनसे पूर्णत आगे है।

गणितसार में अभिन्न गुणक, भागहार, वर्ग, वर्गमूल, धन, घन-मूल, छिन्न, समच्छेद, भागजाति, प्रभाग-जाति, भागानुबन्ध, भागमातृ जाति, त्रैराशिक, सप्तराशिक, नवराशिक, भाण्ड, प्रतिभाण्ड, व्यवहार, मिश्रक व्यवहार भाव्यकव्यवहार, एक पत्रीकरण, श्रेणीव्यवहार, खातव्यवहार, चितिव्यवहार, छाया व्यवहार आदि गणितों का विवेचन किया है। रेखागणित, बीजगणित, और पाटी गणित की दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्वपूर्ण है। इस पर एक संस्कृत टीका भी उपलब्ध है।

इनकी दो कृतियां और हैं ज्योतिर्ज्ञाननिधि, और जातक तिलक।

गोविन्दराज की उत्तरभारत की विजय का काल- सन् ८०६ से ८०८ तक सिद्ध होता है। जब वे सन् ८१४-८१५ में सिंहासनारूढ हुए, तब उनकी अवस्था छह वर्ष की थी[1]। और जब ८७७ के लग-भग राज्य कार्य का परित्याग किया, तब उनकी आयु ७० वर्ष से कुछ कम ही जान पड़ती है। उस समय तक जिनसेनाचार्य और गुणभद्र का स्वर्गवास हो चुका होगा, इसी कारण उनकी प्रशस्तियों में अमोघवर्ष के मुनि जीवन का उल्लेख नहीं हो सका। इससे लगता है कि महावीराचार्य ने अपना गणितसार संग्रह दीक्षा लेने के उपरान्त मुनि जीवन के भीतर किसी समय रचा होगा। अतः महावीराचार्य का समय ईसवी सन् की ९वीं सदी है। ग्रन्थ का नया एडीसन जीवराज ग्रन्थमाला शोलापुर से प्रकाशित हो चुका है।

अपराजित गुरु

मूलसंघस्थ सेन गण के मल्लवादि गुरु के प्रशिष्य और सुमति पूज्यपाद के शिष्य थे। इन्हें नवसारी जि० सूरत के नागसारिका जिनालय के लिये 'हिरण्य योगा' नाम का खेत दान में दिया था। इनका समय शक सं० ७४३ सन् ८२१ और वि० सं० ८७८ है। क्योंकि इन्हें वह दान उक्त संवत् में प्राप्त हुआ था।

—(एपिग्राफिया इंडिका जि० २१ पृ० १३३) (इण्डियन एण्टिक्वेरी वा० २१ पृ०१३३)

लोकसेन (गुणभद्राचार्य के प्रमुख शिष्य)

लोकसेन गुणभद्राचार्य के शिष्यों में प्रमुख शिष्य थे। लोक सेन की प्रशस्ति २८ वें पद्य से प्रारम्भ हो जाती है। उन्होंने गुरु को विनय रूप सहायता दे कर सज्जनों द्वारा बहुत मान्यता प्राप्त की थी[2]। उस समय राष्ट्रकूट नरेश अकाल वर्ष पृथ्वी का पालन कर रहे थे। उनके पास हाथियों की बहुत बड़ी सेना थी, जिन्होंने अपने मद से गंगा के

1 Altekar, The Rashtra Kutas and their times P. 71-72

२. विदित सकल शास्त्रो लोकसेनो मुनीशः कविरविकलवृत्तस्तस्य शिष्येषु मुख्यः।
सततमिह पुराणे प्रार्थ्य साहाय्य मुच्चै—र्गुरुविनय मनैषीन्मान्यता स्वस्य सद्भिः॥२८, उ० पु० प्र०

पानी को भी कडुआ कर दिया था[1]। उसका राज्य उत्तर में गगा के तट तक पहुंच गया था। लोकसेन की प्रशस्ति के अनुसार उस समय वही सम्राट था[2]। उस समय बकापुर जन-धन से समृद्ध नगर था, उस वनवास देश की राजधानी बनने का भी गौरव प्राप्त है लोकसेन बकापुर के निवासी थे। ... लोकसेन ने उत्तर पुराण की अपनी प्रशस्ति के ३५ वें पद्य में गुणभद्राचार्य की स्तुति करते हुए लिखा है कि — गुणभद्राचार्य जयवन्त रहे, जो समस्त योगियों के द्वारा वन्दनीय है, सब श्रेष्ठ कवियों में अग्रगामी है, आचार्यों के द्वारा वन्दना करने योग्य है, जिन्होंने मदन के विलास को जीत लिया है, जिनकी कीर्ति रूपी पताका समस्त दिशाओं में फहरा रही है। जो पापरूपी वृक्ष को काटने के लिये कुठार के समान है, और समस्त राजाओं के द्वारा वन्दनीय है।[3]

लोकसेन ने यह प्रशस्ति महामंगलकारी पिंगल नामक शक संवत् श्रावण वदि पंचमी गुरुवार के दिन, पूर्वा फाल्गुणी स्थित सिंहलग्न में, जबकि बुध आर्द्रा नक्षत्र का, शनि मिथुन राशि का, मंगल धनु राशि का, राहु तुला राशि का, सूर्य कर्क राशि का और बृहस्पति वृष राशि पर था तब यह उत्तरपुराण पूर्ण हुआ — यह ग्रन्थ समाप्ति की तिथि नहीं किन्तु उसकी पूजा महोत्सव मनाया गया था।[4] पर इस पद्य पर से यह ज्ञात नहीं होता कि गुणभद्राचार्य उस समय जीवित थे। संभवतः उस समय उनका देवलोक हो चुका था। उस समय बंकापुर में अकाल वर्ष का सामन्त लोकादित्य वनवास देश पर शासन कर रहा था, जिसकी राजधानी बंकापुर थी।[5] उनके पिता का नाम बंकेय या बंकराज था। उन्हीं के नाम पर उक्त नगर बसाया गया था। इसकी ध्वजा पर चील का चिन्ह था। इनके पिता और भाई भी चेल्लध्वज थे। लोकसेन ने उन्हें जैनधर्म का वृद्धि करने वाला महान यशस्वी बतलाया है। चूंकि लोकसेन ने अपनी प्रशस्ति शक सं० ८२० (सन् ८९८) में लिखी है, अतः उनका समय ईसा की नवमी शताब्दी का अन्तिम चरण है।

श्रीदेव

श्री देव कमलभद्र के शिष्य थे। उन्होंने सं० ९१९ आश्विन शुक्ला १४ बृहस्पतिवार के दिन लच्छगिरी (देवगढ) में स्तम्भ स्थापित किया। देवगढ़ का पुराना नाम लच्छगिरि है।

जैन शिलालेख सं० भा० २ पृ० १५०

स्वयम्भू कवि

स्वयम्भू— का जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था, परन्तु जैन धर्म पर आस्था हो जाने के कारण, उसकी उस पर पूरी निष्ठा एवं भक्ति थी। कवि के पिता का नाम मारुत देव और माता का नाम पद्मिनी था[6]। कवि ने स्वयं

---

१ यस्योत्तुंग मतंगजा निजमद स्रोतस्विनी संगमात्।
गाङ्गं वारि कलंकितं कटु मुहुः पीत्वा ...तृषः ॥२९ उ० पु० प्र०

२. अकालवर्षभूपाले पालयत्यखिलामिलाम्

३. सजयति गुणभद्रः सर्वयोगीन्द्र वन्द्यो ... ।
जित मदनविलासो दिक्चलत्कीर्ति केतुः ... दुरितरुकुठारः सर्वभूपालवन्द्यः ॥३५

४. शककाल ... नाष्ट ... मिताब्दान्ते ।
मंगलमहार्थकारिणि पिंगल नाम्नि समस्त जनसुखदे ॥३५
श्री पञ्चम्यां बुधार्द्रायुजि ... मन्दवारे बुधांशे
पूर्वायां सिंहलग्ने धनुषि धरणिजे संहिते ... तुलायाम्।
सूर्ये शुक्रे कुलीरे गवि च सुरगुरौ निष्ठितं भव्यवर्य्यैः।
प्राप्तेज्यं सर्वसारं जगति विजयते पुण्यमेतत्पुराणम् ॥३६

—उ० पु० प्र०

५. देखो, उत्तरपुराण प्र० श्लो० ४, ५, ६ (३२ से ३४)

६. पउमिणी गब्भ संभूए, मारुय देव अणुराये। पउमच० १ पृ० २

अपने छन्द ग्रन्थ में मारुत देव का उल्लेख किया है। बहुत संभव है कि वे कवि के पिता ही हों। पुत्र द्वारा पिता की कृतिका उल्लिखित होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

कवि की तीन पत्नियां थीं। आदित्य देवी जिसने अयोध्या काड लिपि किया था[1]। दूसरी आमिअव्वा (अमृताम्बा) जिसने पउमचरिय के विद्याधर काण्ड की २० संधियां लिखवाई थीं। और तीसरी सुअव्वा, जिसके पवित्र गर्भ से 'त्रिभुवन स्वयंभू जैसा प्रतिभासम्पन्न पुत्र उत्पन्न हुआ था, जो अपने पिता के समान ही विद्वान और कवि था। इसके सिवाय अन्य पुत्रादिक का कोई उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु जान पड़ता है कि स्वयंभू के अन्य पुत्र भी थे। क्योंकि स्वयभू ने पउम चरिउ की प्रशस्ति के आठवें पद्य में तिहुयण स्वयभू लहुतणउ, वाक्य द्वारा त्रिभुवन स्वयंभू को लघु पुत्र कहा, लघु पुत्र कहने से अन्य पुत्रों के होने का भी संकेत मिलता है। त्रिभुवनने अनेक जगह अपने पिता के सम्बन्ध में बहुत सी बातें कही हैं। उनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि स्वयभू के कई पुत्र और शिष्य थे। अन्य पुत्र तो धन के पीछे दौड़, किन्तु त्रिभुवन को पिता की साहित्यिक विरासत मिली। कविवर स्वयभू शरीर से दुबले-पतले और उन्नत थे, उनकी नाक चपटी और दांत विरल थे[2]।

कवि स्वयभू कोशल देश के निवासी थे। जिन्हें उत्तरीय भारत के आक्रमण के समय राष्ट्रकूट राजा ध्रुव का मंत्री रयडा धनंजय मान्यखेट ले गया था। राजा ध्रुव का राज्यकाल वि० सं० ८३७ से ८५१ तक रहा है[3]।

धनंजय, धवलइया और वदइया ये तीनों ही पिता पुत्र आदि के रूप में सम्बद्ध जान पड़ते हैं। उनका कवि के ग्रन्थ निर्माण में सहायक रहना श्रुत भक्ति का परिचायक है।

समय

कवि ने ग्रन्थ में अपना कोई समय नहीं दिया है, परन्तु पद्मचरित के कर्ता रविषेण का स्मरण जरूर किया है। आचार्य रविषेण ने पद्मचरित को वीर निर्वाण सं० १२०३ वि० सं० ७३३ में बनाकर समाप्त किया है। अतः स्वयभू वि० सं० ७३३ के बाद किसी समय हुए हैं। श्रद्धेय पं० नाथूराम जी प्रेमीने लिखा है कि—स्वयभूने रिट्ठणेमि चरिउ में हरिवंश पुराण के कर्ता पुन्नाट संघी जिनसेन का उल्लेख नहीं किया, हो सकता है कि उक्त उल्लेख किसी कारण छूट गया हो, या उन्हें लिखना स्वयं याद न रहा हो। रिट्ठणेमिचरिउ का ध्यान से समीक्षण करने पर या अन्य सामग्री से अनुसन्धान करने पर यह स्पष्ट जरूर हो जायगा कि ग्रन्थकर्ता ने उसकी रचना में उसका उपयोग किया या नहीं। भट्टारक यशः कीर्तिके उद्धार काल से पूर्व की कोई प्रति १५ वीं शताब्दी की लिखी हुई कहीं मिल जाय तो उस समस्या का हल शीघ्र हो सकता है।

स्वयभू के पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू ने 'रिट्ठणेमिचरिउ' की १०४ वीं संधि में प्राकृत-संस्कृत और अपभ्रंश के ७० के लग-भग पूर्ववर्ती कवियों के नाम गिनाये हैं। उनमें जिन सेनाचार्य और गुणभद्राचार्य का भी नामोल्लेख किया है। उनका उल्लेख निम्न प्रकार है :—

देविल, पचाल, गयन्द, ईश्वर, र्णाल, कंठाभरण, मोहकलस (मोहकलश) लोलुय (लोलुक) बन्धुदत्त, हरिदत्त, दोल्ल, वाण, पिंगल, कलमियक, कुलचन्द्र, मदनोदर, गाड, श्रीसंघात, महाकवि तुंग, चारुदत्त, रुद्दड (रुद्रट) रज्ज, कविन्न अहिमान, गुणानुराग, दुग्गह, ईस.न, इद्रक, वस्त्रादन, णारायण, महट्ट, साहप्प, कीतिरण, पल्लव-किर्त्ति, गुणाढ्य, गणश, भासड, पिशुन, गोविन्द, चेयाल (चेन.ल) विसयड, णाग, पण्डणत्त, सुग्रीव, पतजलि, वीरसेन मल्लिषेण मधुकर चतुरानन (चउमुख) संघसेन, बकुय, बर्द्धमान सिद्धसेन, जीव या जीवदेव, दयोवरिद, मेघाल, विलालिय, पुण्डरीक, वसुदेव, भीउय, पुण्डरीक, वृद्धमति, गृहत्थि भावक्ष, यक्ष, द्रोण, पणभद्र, श्रीदत्त धर्मसेन, जिनसेन,

---

१. सव्वो वि जणोगोहइ पित्ताग विढत्त दव्व सताग।
निहुवण संयभूणा पुणु गहिय सुकइत्त—संताग ॥
—अन्तिमअंश ३, ७, ६ और १०

२. अइतणुण पईहर गत्ते छिव्वरणासें पविरलदंते ॥ प० च० १ पृ० २४

३. हिन्दी काव्यधारा पृ० २३

दिनकर, णाग, धर्म, गुणभद्र, कुशल, स्वयंभूदेव, वीरवदक, सर्वनन्दि, कलिकाभद्र, णागदेव और भवनंदि[1]।

इन कवियो में जैन जनेतर प्राकृत संस्कृत और अपभ्रंशभाषक कवि शामिल है। जैसे गोविद, मल्लिषेण, चतुरानन, संघसेन वर्द्धमान, सिद्धसेन श्रीदत्त, धर्मसेन, जिनसेन, जिनदत्त, गुणभद्र, स्वयभूदेव, सर्वनन्दि, नाग देव और भवनन्दि आदि जैन कवि प्रतीत होते हैं। संभव है, इनमें और भी चार पाच नाम हों। क्योंकि उनका ग्रंथ परिचयादि के बिना ठीक परिज्ञान नहीं होता। इससे यह भी स्पष्ट है कि उनमे पूर्व अनेक कवि अपभ्रंश के भी हो गये हैं।

इन मे उल्लिखित गुणभद्राचार्य राष्ट्रकूट राजा कृष्ण द्वितीय के शिक्षक थे। गुणभद्र का समय विक्रम की १० वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। हो सकता है कि स्वयभू गुणभद्र के समय नहीं रहे हो, किन्तु त्रिभुवन स्वयभू तो मौजूद थे। इसी से उन्होंने उनका नामोल्लेख किया है। जिनसेन ने अपना हरिवंश पुराण शक सं० ७०५ वि. सं० ८४० में बनाकर समाप्त किया है। स्वयंभू ने जब अपना ग्रन्थ बनाया, उस समय गुणभद्र नहीं होंगे। किन्तु हरिवंश पुराण के कर्ता के समय तक वे अवश्य रहे होंगे। अत: रिट्ठणेमिचरिउ के रचयिता स्वयभू देव के समय की पूर्वावधि वि० से ८०० और उत्तरावधि वि० सं० ६०० मानने में कोई बाधा नहीं जान पड़ता। अतएव स्वयंभू विक्रम का ६ वीं शताब्दी के विद्वान होने चाहिये। यदि रयडा धनजय की बात स्वीकृत की जाय, तो राष्ट्रकूट ध्रुव का राज्य काल वि० स ८३७ स० ८५१ तक रहा है। इससे भी स्वयभू देव का समय विक्रम की ६ वी शताब्दी का मध्य काल सुनिश्चित होता है। इससे स्वयभूदेव पुन्नाट सघीय जिनसेन के प्राय: समकालीन जान पड़ते हैं।

कन्नड़ कवि जयकीर्ति ने 'छन्दोनुशासन' नाम का ग्रन्थ बनाया है, उसकी हस्तलिखित प्रति स० ११६२ की जैसलमेर के शास्त्र भंडार में सुरक्षित है। यह ग्रथ एच० डी० वेलनकर द्वारा सम्पादित हो चुका है। इस ग्रन्थ में कविने स्वयंभूछन्द के 'नान्दिनी' छन्द का उल्लेख किया है। कवि जय कीर्तिका समय विक्रम की दशवीं शताब्दी का पूर्वार्ध या नौवी शताब्दी का उपान्त्य होना चाहिये। क्योंकि दशवीं शताब्दी के कवि असग ने जयकीर्ति का उल्लेख किया है। इससे भी स्वयंभू का समय ६ वी शताब्दी आता है।

रचनाएँ

कवि स्वयंभू-त्रिभुवन स्वयंभू की तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं। पउम चरिउ, रिठ्ठणेमिचरिउ और स्वयंभू छन्द। इनमें पउमचरिउ या रामकथा बहुत ही सुन्दर कृति है। इसमें ६० सन्धिया है, जो पांचकाण्डो में विभक्त हैं। विद्याधर काण्ड में २०, अयोध्याकाण्ड में २२, सुन्दर काण्ड में १४, और उत्तरकाण्ड में १३ सन्धियां हैं। जिनमें स्वयंभू देव रचित ८३ सन्धियां है। शेष उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयभू द्वारा रची गई हैं। ग्रन्थ में प्रारम्भिक पीठिका के अनन्तर जम्बूद्वीप की स्थिति, कुलकरों की उत्पत्ति, अयोध्या में ऋषभदेव की उत्पत्ति तथा जीवन परिचय, लंका में देवताओं और विद्याधरों के वंश का वर्णन, अयोध्यामें राजा दशरथ और राम-लक्ष्मण आदि की उत्पत्ति, बाल्यावस्था, जनक की पुत्री सीता से विवाह, राम-लक्ष्मण-सीता का वनवास, संबूक मरण, सीताहरण, रावण से राम-लक्ष्मण का युद्ध, सुग्रीव आदि से राम का मिलाप, लक्ष्मण के शक्ति का लगना और उपचार आदि। विभीषण का राम से मिलना, रावण मरण, लंका विजय, विभीषण को राज्य प्राप्ति, राम-सीता-मिलन, अयोध्या को प्रस्थान, भरत दीक्षा, व तपश्चरण, सीता का लोकापवाद से निर्वासन, लव-कुश उत्पत्ति, सीता की अग्नि परीक्षा, दीक्षा और तपश्चरण, लक्ष्मण मरण, राम का शोकाकुल होना, और प्रबुद्ध होने पर दीक्षा लेकर तपश्चरण करके कैवल्य प्राप्ति और निर्वाण लाभ, आदिका सविस्तर कथन दिया हुआ है।

इस ग्रन्थ में राम कथा का वही रूप दिया है, जो विमलसूरि के पउम-चरिउ में और रविषेण के पद्मचरित में पाया जाता है। ग्रन्थ में रामकथा के उन सभी अंगों की चर्चा की गई है जिनका कथन एक महाकाव्य में आवश्यक होता है। इस दृष्टि से पउमचरिउ को महाकाव्य कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। ग्रन्थ में कोई दुरूहता नहीं हैं, वह सरल और काव्य-सौन्दर्य की अनुपम छटा को लिये हुए हैं। समूचावर्णन काव्यात्मक-सौन्दर्य और सरसता से ओत प्रोत है, पढ़ते हुए छोड़ने को जी नहीं चाहता।

कविता की शैली जहां कथा-सूत्र को लेकर आगे बढती है और वहां वह सरलता तथा स्वाभाविकता का

---

१. जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह भा० २, प्रस्तावना पृ० ४६।

निर्वाह करता है। किन्तु जहा कवि प्रकृति का चित्रण करने लगता है, वहां एक से एक अलंकृत सविधान का आश्रय कर ऊंची उड़ान भरता है। गोदावरी की उपमा द्रष्टव्य है—गोदावरी नदी वसुधारूपी नायिका की वकित फेनावली के वलय में अलंकृत दाहिनी बांह ही है। जिसे उसने वक्षस्थल पर पुरना हार धारण करने वाले पति के गले में डाल रक्खा है[1]।

कवि की कुछ पंक्तियां वसुधा की रोम-राजि सदृश जान पडती हैं[2]।

युद्ध में लक्ष्मण के शक्ति लगने पर अयोध्या के अन्तःपुर में स्त्रियों का विलाप कितना करुण है 'दुःखातुर होकर सभी रोने लगे, मानो सर्वत्र शोक ही भर दिया हो। भूमिजन हाथ उठा-उठा कर रोने लगे, मानों कमलवन हिमवन से विच्छिन्न हो उठा हो। राम की माता सामान्य नारी के समान रोने लगीं, सुन्दरी उर्मिला हतप्रभ हो रोने लगी, सुमित्रा व्याकुल हो उठी, रोती हुई सुमित्रा ने मर्म जनों को रुला दिया। कवि कहता है कि कारुण्य पूर्ण काव्य-कथा से किस के आंसू नहीं आ जाते[3]। भरत और राम का विलाप किसे विगलित नहीं करता[4]। इसी तरह रावण की मृत्यु होने पर विभीषण और मन्दोदरी के विलापका वर्णन केवल पाठकों के नेत्रों को ही सिक्त नहीं करता, प्रत्युत रावण-मन्दोदरी और विभीषण के उदात्त भावों का स्मरण कराता है[5]। इसी तरह अजना सुन्दरी के वियोग में पवनजय का विलाप चित्रण भी पाठक को विचलित किये बिना नहीं रहता।

ग्रन्थ में ऋतुओं का कथन तो नैसर्गिक ही है, किन्तु प्रकृति के सौन्दर्य का विवेचन भी अपूर्व हुआ है। नारी चित्रण में राष्ट्रकूट नारी का चित्रण बड़ा ही सुन्दर है।

कवि ने राम और सीता के रूप में पुरुष और नारी का रमणीय तथा स्वाभाविक चित्रण किया है। पुरुष और नारी के सम्बन्धों का जैसा उदात्त और याथा तथ्य चित्रण सीता की अग्नि परीक्षा के समय हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है ग्रन्थ में सीता के अमित धैर्य, साहस और उदात्त गुणो का वर्णन नारी की महत्ता का द्योतक है, उसके सतीत्व की आभा ने नारी के कलंक को धो दिया है।

ग्रन्थ का कथा भाग कितना चित्ताकर्षक है, इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं है। सहस्रार्जुन की जल क्रीड़ा का वर्णन अद्वितीय है[6]। युद्ध के वर्णन में भी कवि ने अपनी कुशलता का परिचय दिया है जिसे पढ़ते ही सैनिकों के प्रयाण की पगध्वनि कानों में गूंजने लगती है और शब्द योजना तो उसके उत्साह की संवर्धक है ही[7]।

१ फेणावलि वंकिय वलयालंकिय, ण महि वहु अहे तणिया।
जलणिहि भत्तार हो मोत्तिय-हार हो, बाँह पसारिय दाहिणिया॥" पउमचरिउ

२. "कसण वि णाणाविह रुक्खराइ, ण महिकुलवहु अहि रोम-राई॥" वही।

३. "दुक्खा उरु रोवइ सयलु लोउ, ण चप्पिवि चंपिवि भरिउ सोउ।
रोवइ भिच्च यणु समुद्धहत्थु, ण कमल-सडु हिम-पवण-त्थु॥
रोवइ अपराइय राम जणणि, केक्कय दाएव तर मुक्क-णयणि।
रोवइ सुप्पह विच्छाय जाय, रोवइ सुमित्त सोमित्ति-माय॥
हा पुत्त पुत्त! केत्तहि गओसि, किह सत्तिए वच्छयले हओसि।
हा पुत्त! मइ जुम जो हओसि, दइवेण केण विच्छोइ ओसि।
घत्ता—तो वनिए लक्खण-मायरिए, सयल लोउ रोवा विउ।
कारुण्णइ कव्व कहाए जिह, कोवण अंसुआविराउ॥" —पउमचरिउ, संधि ६६—१३

४. देखो, पउमचरिउ संधि ६७।३-४, संधि ६८, १०-१२

५. देखो, पउमचरिउ ७६,८-११, ७६,२-३।

६. देखो संधि १४,६

७. केवि जसलुद्ध, सण्णद्ध कोह। के वि सुमित्त-पुत्त, सुकलत्त-चत्त-मोह।

दूसरा ग्रन्थ 'रिट्ठणेमिचरिउ' है जिसमें ११२ संधियां और १९३७ कडवक हैं। इनमें ९९ सन्धियां स्वयंभू द्वारा रची गई हैं शेष १३ सन्धियां स्वयंभू के पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू की बनाई हुई हैं। किन्तु अन्तिम कुछ सन्धियां खण्डित हो जाने के कारण भट्टारक यशःकीर्ति ने अपने गुरु गुणकीर्ति के सहाय से गोपाचल के समीप स्थित कुमार नगर के पणियार चैत्यालय में उसका समुद्धार किया था और परिणाम स्वरूप उन्होंने उक्त स्थानों में अपना नाम भी अंकित कर दिया। ग्रन्थ में चार काण्ड हैं, यादव, कुरु, युद्ध और उत्तर काण्ड।

प्रथम काण्ड में १३ सन्धियाँ हैं। जिनमें कृष्ण जन्म, बाललीला, विवाहकथा, प्रद्युम्न आदि की कथाएँ और भगवान नेमिनाथ के जन्म की कथा दी हुई है। ये समुद्रविजय के पुत्र और कृष्ण के चचेरे भाई थे। दूसरे काण्ड में १९ सन्धियां हैं, जिनमें कौरव-पाण्डवों के जन्म, बाल्यकाल, शिक्षा आदि का कथन, परस्पर का वैमनस्य, युधिष्ठिर का द्यूत क्रीडा में पराजित होना, द्रौपदी का चीर हरण, तथा पाण्डवों के बारह वर्ष के वनवास आदि का विस्तृत वर्णन है।

तृतीय काण्ड में ६० सन्धियाँ हैं। कौरव-पाण्डवों के युद्ध वर्णन में पाण्डवों की विजय और कौरवोंकी पराजय आदि का सुन्दर चित्रण किया गया है। और उत्तर काण्ड को २० सन्धियों में कृष्ण की रानियों के भवांतर, गजकुमार का निर्वाण, द्वीपायनमुनि द्वारा द्वारिकादाह, कृष्णनिधन, बलभद्रशोक, हलधर दीक्षा, जरत्कुमार का राज्यलाभ, पाण्डवों का गृहवास, मोह परित्याग, दीक्षा, तपश्चरण और उपसर्ग सहन तथा उनके भवांतर आदि का कथन, भगवान नेमिनाथ के निर्वाण के बाद ७७ वी संधि के पश्चात् दिया हुआ है। रिट्ठणेमिचरिउ की संधि पुष्पिकाओं में स्वयंभू को धवलइया का आश्रित, और त्रिभुवन स्वयंभू को बन्दइया का आश्रित बतलाया है।

मत्स्य देश के राजा विराट के साले कीचक ने द्रौपदी का सबके सामने अपमान किया। कवि कल्पना द्वारा उसे मूर्तिमान बना देता है।

यमदूत की तरह कीचकने द्रोपदी का केश-पाश पकड कर खींचा और उसे लातमारी। यह देखकर राजा युधिष्ठिर मूर्छित हो गए। भीमसेन क्रोध के मारे वृक्ष की ओर देखने लगे कि उसे किस तरह मारे। किन्तु युधिष्ठिर ने पैर के अंगूठे से उन्हें मना कर दिया। उधर पुर की नारियां व्याकुल हो कहने लगीं कि इस दग्ध शरीर का धिक्कार है, इसने ऐसा जघन्य कार्य क्यों किया? कुलीन नारियों का तो अब मरण ही हो गया, जहां राजा ही दुराचार करता हो, वहां सामान्य जन क्या करेंगे?

सो तेण विलक्खी हूवएण, अणुलग्गे जिह जम दूयएण।
विहुरे हि धरे विचलणेहि हय, पेक्खतहं रायहं मुच्छ गय।
मणि रोस पवट्टिय वल्लभहो, किर देह दिट्ठ तरु पल्लव हो।
मरु मारमि मच्छु स-मेहुणउं, पट्ठवमि कयंत हो पाहुणउं।
तो तव-सुएण आरुट्टएण, विणिवारिउ चलण गुट्ठएण।
ओसारिउ विओयरु सण्णियउ, पुरवर णारिउ आदण्णियउ।
धि-धि दण्ड सरीरं काइकिउ, कुलजायहं-जायहं मरणथिउ।
जहि पउ दुच्चारिउ समायरइ, नहि जण तम्मण्णु काइं करइ।।

—संधि २८-७

ग्रन्थ में वीर, शृंगार, करुण और शान्त रसों का मुख्य रूप में कथन है। वीर रस के साथ शृंगार रस की अभिव्यक्ति अपभ्रंश काव्यों में ही दृष्टिगोचर होती है। अलंकारों में उपमा और श्लेष का प्रयोग किया गया है।

केवि णीसरनिवीर, अधरव्व तुंगधीर।
सायरव्व अप्पमाण, कुंजरव्व दिण्णदाण।
के सरिव्व उद्धकेस, चत्त सव्व-जीविगास।
केवि सामि-भत्ति-वंत, मच्छिरग्गि-पज्जलंत
के वि आहवे अभंग, कुंकुमं पसाहि अंग। (पउमचरिउ ५७-२

इसी संधि के १५वे कडवक में द्रोपदी के अपमान से क्रुद्ध भीम का और कीचक का परस्पर बाहु युद्ध का वर्णन भी सजीव हुआ है :—

रण में कुशल भीम और कीचक दोनों एक दूसरे से भिड गए। दोनों ही हजारों युवा हाथियों के समान बलवाले थे। दोनों ही पर्वत के बड़े शिखर के समान लम्बे थे। दोनों ही मेघ के समान गर्जना वाले थे। दोनों ने ही अपने अपने ओंठ काट रखे थे, उनके मुख क्रोध से तमतमा रहे थे। नेत्र गुजा (चिरमटी घुघची) के समान लाल हो गए थे। दोनों के वक्षस्थल आकाश के समान विशाल और दोनो के भुजदण्ड परिधि के समान प्रचड थे[1]।

कवि ने शरीर की असारता का दिग्दर्शन करते हुए लिखा है कि मानव का यह शरीर कितना घिनावना और शिराओं-स्नायुओं मे वधा हुआ अस्थियों का एक ढाचा या पोट्टल मात्र है। जो माया और मदरूपी कचरे से सड़ रहा है, मल पुज है, कृमि-कीटों से भरा हुआ है, पवित्र गध वाले पदार्थ भी इससे दुर्गन्धित हो जाते है, मास और रुधिर से पूर्ण चर्म वृक्ष से घिरा हुआ है—चमड़े की चादर से ढका हुआ है, दुर्गन्ध कारक आतो की यह पोटली और पक्षियों का भोजन है। कलुषता से भरपूर इस शरीर का कोई भी अंग चगा नही है। चमड़ी उतार देन पर यह दुष्प्रेक्ष्य हो जाता है, जल विन्दु तथा सुरधनु के समान अस्थिर और विनश्वर है। ऐसे घृणित शरीर से कौन ज्ञानी राग करेगा ? यह विचार ही ज्ञानी के लिये वैराग्यवर्धक है[2]।

तीसरीकृति स्वयभू छन्द ग्रन्थ है, जो प्रकाशित हो चुका है और जिसका सम्पादन एच. डी. वेलकर ने किया है। त्रिभुवन स्वयभू ने उन्हे, 'छन्द चूड़ामणि' कहा है। इससे वे छन्द विशेषज्ञ थे, इसका सहज ही आभास हो जाता है। इस ग्रंथ में प्राकृत और अपभ्रंश भाषा के छन्दों का स्वरूप मय उदाहरणों के दिया गया है। इसके अन्तिम अध्याय में गाहा, अडिल्ल, और पद्धडिया आदि स्वोपज्ञ छन्दों के उदाहरण दिये है। उनमें जिनदेव की स्तुति है[3]। ग्रन्थ के अन्त में कोई परिचयात्मक प्रशस्ति नही है। इस ग्रन्थ का सबसे पुरातन उल्लेख जयकीर्ति ने अपने छन्दोनुशासन में किया है। जिसमें स्वयभू के नन्दिनी छन्द का उल्लेख है[4]। इससे स्पष्ट है कि स्वयभू के छन्द ग्रन्थ का १०वी शताब्दी में प्रचार हो गया था। जयकीर्ति का समय विक्रम की दशमी शताब्दी है। जयकीर्ति कन्नड प्रान्त के निवासी और दिगम्बर जैन धर्म के अनुयायी थे। स्वयभू छन्द ग्रन्थ में अपने ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ कर्ताओं के भी उदाहरण दिये है। 'वम्मह तिलअ' के उदाहरण में (६—४२ में) पउमचरिउ की ६५वी सन्धि का पहला पद्य दिया है[5]। 'रणावली' के उदाहरण में (६-७४) में ७७वी सन्धि के १३वे कडवक का अन्तिम पद्य है[6]। इस तरह यह छद ग्रन्थ महत्वपूर्ण है।

त्रिभुवनस्वयंभू ने, जो स्वयंभू का लघुपुत्र था उसने अपने पिता के पउमचरिउ, हरिवशपुराण और पंचमी चरित को सम्हाला था, उनका समय १० वी शताब्दी का पूर्वार्ध है। इसका अलग परिचय नही लिखा।

स्वयभू देव ने 'पंचमीचरिउ' ग्रन्थ भी बनाया था। किन्तु वह अनुपलब्ध है। पउमचरिउ में लिखा है कि

---

१ तो भिडिवि परोधयरण कुसल, विण्णिवि णायणाय सहस्स-बल।
विण्णि वि गिरि तुग-सिग सिहर, विण्णिवि जल हरव गहिर गिर।
विण्णि वि दट्ठोट्ठ रुद्द वयण, विण्णि वि गुजाहल सम-णयरण।
विण्णि वि णहयल णिरु-वच्छयल, विण्णि वि परिहोवम-भुज-जुयल। — रिट्ठणेमिचरिउ २८—१५

२. देखो, रिट्ठणेमिचरिउ ५४—११

३ तुम्ह पअ कमलमूले अम्ह जिण दुक्ख भावतविग्राइ।
ढुरु ढुल्लियाइं जिणवर ज जाणमु त करेज्जासु ॥३८
—जिण णामे छिंदेवि मोहजाल, उप्पज्जइ देवल्लमामि सालु।
जिणणामे कम्मइ णिद्दलेवि, मोक्खग्गे पइसिअ सुह लहेवि ॥४४

४. जयकीर्ति ने अपने छन्द ग्रन्थ मे स्वयभू के नन्दिनी छन्द का उल्लेख किया है।
तौ ज्रौ तथा पद्म पद्मनिधिर्जतौ जरौ, स्वयभुदेवेश मते तु नन्दिनी ॥२२॥

५. हणुवंत रणे परिवेढिज्जई णिसियरेहि। णं गयणयले बालदिवायरु जलहरेहि ॥

६. सुरवर डामरु रावणु दट्ठ जामु जगकयइ। अण्णु कहिं महु चुक्कइ एवणाइ सिहि जंपइ ॥

यदि स्वयंभू देव के लघुपुत्र त्रिभुवन न होते तो उनके पद्धडियाबद्ध पंचमी चरित[७] को कौन संभारता ? इससे स्पष्ट है कि स्वयभू ने पचमी चरित की रचना की थी।

स्वयंभू व्याकरण—स्वयभूदेव ने स्वयंभू छन्द के समान अपभ्रंश का व्याकरण भी बनाया था। पउमचरिउ के एक पद्य में लिखा है कि अपभ्रंश रूप मतवाला हाथी तब तक ही स्वच्छन्दता से भ्रमण करता है जब तक कि उस पर स्वयभू व्याकरण रूप अंकुश नही पड़ता। इसमे उनके व्याकरण ग्रथ बनाये जाने का स्पष्ट निर्देश है, पर खेद है कि वह अनुपलब्ध है।

अभयनन्दि

अभयनन्दि— व्याकरण शास्त्र के निष्णात विद्वान थे। इनका व्याकरण-विषयक ज्ञान केवल जैनेन्द्र व्याकरण तक ही सीमित नहीं था, किन्तु पाणिनीय व्याकरण और पतंजलि महाभाष्य में भी उनकी अप्रत्याहत गति थी। अभयनन्दि की एक मात्र कृति 'महावृत्ति' है, जो जैनेन्द्र व्याकरण की सबसे बड़ी टीका है। महावृत्ति के स्थल उनके व्याकरण विषयक अभूत पूर्व पाण्डित्य का निदर्शन कराते है। यथा—१।२।६६ सूत्र की व्याख्या मे 'प्रवितण्य' प्रयोग की सिद्धि के सम्बन्ध मे जो विचार किया है वह अन्यत्र नही मिलता।

महत्ता -- अभयनन्दि कृत महावृत्ति का परिमाण बारह हजार श्लोक जितना है। यद्यपि महावृत्ति कारने काशिका का उपयोग किया है, किन्तु दोनो की तुलना करने से ज्ञात होता है कि अभय नन्दि ने जो उदाहरण दिये है। वे काशिका में उपलब्ध नही होते। जैसे—१।४।१५ के उदाहरण मे अनुशालिभद्रम् आढ्याः। 'अनुसमन्तभद्र तार्किकाः' ४।१।१६ के उदाहरण मे 'उपसिंह नन्दिन कवय.'। 'उपसिद्धसेन वयाकरणा.'। सब वैयाकरण सिद्धसेन से हीन है। १।३।१० के उदाहरण मे 'आ कुमार यशः समन्तभद्रस्य' वाक्यों द्वारा समन्तभद्र, सिंहनन्दि और सिद्धसेन का नामोल्लेख है।

महावृत्ति के सूत्र ३।२।५५ की टीका में एक स्थल पर अकलङ्क देव के तत्त्वार्थवार्तिक का उल्लेख किया है। अतः अभयनन्दी का समय अकलक देव के बहुत बाद का जान पडता है।

यच्छब्द लक्षणमव्रज पारमन्यै, रव्यक्तमुक्तिमभिधानविधौदरिद्रैः।
तत्सर्वलोकहृदयप्रियचारुवाक्यै र्व्यक्ती करोत्यभयनन्दिमुनिः समस्तम्॥

कठिनता से पार पाने योग्य जिस शब्द लक्षण को दरिद्रो ने व्याख्या करने मे स्पष्ट नही किया। उस सम्पूर्ण शब्द लक्षण को अभयनन्दि मुनि सबके हृदयो को प्रिय लगने वाले सुन्दर वाक्यों से स्पष्ट करता है।

इस श्लोक के पूर्वार्ध से स्पष्ट जान पड़ता है कि अभयनन्दि से पूर्व जैनेन्द्र व्याकरण पर अनेक वृत्तियाँ बन चुकी थी। जिनमे सूत्रों की पूर्ण और स्पष्ट व्याख्या नही थी। इससे महावृत्ति की महत्ता का स्पष्ट बोध होता है।

अभयनन्दी ने अपने समय का कोई उल्लेख नही किया और किस राजा के राज्यकाल में ग्रन्थ का निर्माण हुआ, इसका भी उल्लेख नही किया। अत अभयनन्दी का समय विवादास्पद है। डाक्टर बेल्वेक्कर ने अपने 'सिस्टम आफ सस्कृत ग्रामर' मे अभयनन्दी का समय सन् ७५० (वि० सं० ८०७) माना है। पर महावृत्ति का अध्ययन करने से महावृत्ति का रचनाकाल ९वी शताब्दी ज्ञात होता है।

अनन्तवीर्य

अनन्तवीर्य—रविभद्र पादोपजीवी थे। इनकी एक मात्र कृति 'सिद्धि विनिश्चय' टीका है। यह अकलङ्क वाङ्मय के पडित थे। और उनके विवेचक और मर्मज्ञ थे। प्रभाचन्द्र ने इनकी उक्तियों मे अकलङ्क देवके दुरवगाह ग्रन्थो का अच्छा अभ्यास और विवेचन किया था। आचार्य अनन्तवीर्य की सिद्धि विनिश्चय टीका बड़ी ही महत्वपूर्ण है, उसमें दर्शनान्तरीय मतों की विस्तृत आलोचना की गई है। टीका में धर्मकीर्ति, अर्चट, धर्मोत्तर और प्रज्ञाकर गुप्त आदि प्रसिद्ध विद्वानों के मतों के अवतरण उद्धृत किये है। इनके अतिरिक्त अनन्तवीर्य टीका में 'ऊहो मति निबन्धनः' वाक्य उद्धृत किया है। विद्यानन्द के तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक पृष्ट १९६ में यह वाक्य इस रूप में उपलब्ध है:—

'समारोपच्छिद् दूहोऽत्र मानं मतिनिबन्धनः' (तत्त्वा० श्लो० १-१३-९०

---

७. जइ ण हुअ छन्द चूडामणिस्स तिहुअणसयंभु लहु तणउ। तो पद्धडिया कव्व सिरि पचमि को समारेउ॥

अतः विद्यानन्द (ई० ८४०) का अवतरण लेने वाले तथा विद्यानन्द के उत्तरवर्ती अनन्तवीर्य के स्वतः प्रामाण्य भंग का उल्लेख करने वाले अनन्तवीर्य का समय ईसा की ९वीं का उत्तरार्ध या १०वीं का पूर्व भाग होना चाहिये।

अनन्तवीर्य ने अपनी टीका के पृ० २४६ में कर्मबन्ध के प्रकरण में 'तदुक्त' वाक्य के साथ निम्न श्लोक उद्धृत किया है :—

एषोऽहं ममकर्मशर्महरतेतद्बन्धनान्यास्रवैः,
ते क्रोधादिवशाः प्रमादजनिताः क्रोधादयस्तेऽव्रतात्।
मिथ्याज्ञान कृतात्ततोऽस्मि सततं सम्यक्त्ववान सुव्रतः,
दक्षः क्षीणकषाययोगतपसां कर्त्तेति मुक्तो यतिः॥

यह श्लोक यशस्तिलकचम्पू के उत्तरार्ध पृ० २४६ में पाया जाता है इसी भाव का एक श्लोक गुणभद्राचार्यके आत्मानुशासन में भी उपलब्ध होता है।

अस्त्यात्मास्तिमितादिबन्धनगतः तद्बन्धनान्यास्रवैः,
ते क्रोधादिकृताः प्रमादजनिताः क्रोधादयस्तेऽव्रतात्।
मिथ्यात्वोपचितात् स एव समलः कालादिलब्धौ क्वचित्,
सम्यक्त्वव्रतदक्षताकलुषतायोगैः क्रमान्मुच्यते॥२४१

इन दोनों श्लोकों के बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव ही नहीं किन्तु शब्द रचना भी मिलती जुलती है।

इससे अनन्तवीर्य का समय सोमदेव के बाद शक सं० ८८१ सन् ९५९ ई० के आस-पास होना चाहिये। हुम्मच के शिलालेख में अनन्तवीर्य को वादिराज के दादा गुरु श्रीपाल त्रैविद्यदेव का सधर्मा लिखा है[1]। वादिराज के दादा गुरु का समय ५० वर्ष मान लिया जाय तो अनन्तवीर्य की स्थिति ९७५ ई० के आस-पास आती है[2]।

इस समय का समर्थन शान्तिसूरि (ई० सन् ९९३-१०४७) और वादिराज (१०१५ ई०) के द्वारा किये अनन्तवीर्य के उल्लेखों से हो जाता है। प्रभाचन्द्र अनन्तवीर्य की उक्तियों को सुन सकते हैं।

डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने के० वी० पाठक की आलोचना करते हुए अनन्तवीर्य का समय ईसा की ८वीं सदी का पूर्वार्ध बतलाया है[3]। परन्तु वह डा० महेन्द्र कुमार जी को मान्य नहीं है, उनका कहना है कि अनन्तवीर्य की समयावधि सन् ९५० से ९९० तक निश्चित होती है[4]।

देवेन्द्र सैद्धान्तिक

देवेन्द्रसैद्धान्तिक—मूल संघ, देशीयगण पुस्तक गच्छ और कुन्दकुन्दान्वय के विद्वान त्रैकालयोगी के शिष्य थे[5]। इनके विद्यागुरु गुणनन्दी थे। जिनके तीन सौ शिष्य थे। उनमें ७२ शिष्य उत्कृष्ट कोटि के विद्वान और व्याख्यान पटु थे। उनमें प्रसिद्ध मुनि देवेन्द्र थे, जो नय-प्रमाण में निपुण थे। यह चतुर्मुख देव के नाम से भी प्रसिद्ध थे, क्योंकि इन्होंने चारों दिशाओं की ओर मुख करके आठ-आठ उपवास किये थे। यह बंकापुर के आचार्यों के अधिनायक थे[6]।

१. जैन लेख सं० भा० ३ पृ० ७२, २. न्याय कुमुदचन्द्र पृ० ७६, ३. जैन दर्शन वर्ष ४ अंक ९
४. सिद्धिविनिश्चय प्रस्तावना पृ० ८७
५. श्री मूलसंघ—देशीयगण-पुस्तक गच्छतः।
जातस्त्रैकाल योगीशः क्षीराब्धेरिव कौस्तुभः॥३५
तच्चारित्र वधू पुत्रः श्री देवेन्द्र मुनीश्वरः।
सिद्धान्तिकाग्रणीस्तस्मै बंकेयो (यामदात्सु) दा॥३६ —जैन० ले० सं० भा० २ पृ० १४५
६. तच्छिष्यास्त्रिशताविवेकनिधयःशास्त्राब्धि पारङ्गता-
स्तेषूत्कृष्टतमा द्विसप्ततिमितास्सिद्धान्तशास्त्रार्थक—
व्याख्याने पटवो विचित्र चरितास्तेषु प्रसिद्धो मुनिः;
नानानूननय-प्रमाण निपुणो देवेन्द्र सैद्धान्तिकः॥८ —जैन लेख सं० भा० १ पृ० ७२
७. बङ्कापुर मुनीन्द्रोऽभूद देवेन्द्रो रुन्द्र सद्गुणः।
सिद्धान्ताद्यागमार्थज्ञो सज्ज्ञानादि गुणान्वितः॥—जैन लेख सं० भा० २ पृ० ११६

शक सं० ७८२ सन् ८६० के ताम्रपत्र से ज्ञाता है कि अमोध वर्ष प्रथम ने अपने राज्य के ५२वें वर्ष में मान्य खेट में जैनाचार्य देवेन्द्र को दान दिया था। अमोघवर्ष ने यह दान अपने अधीनस्थ राज कर्म चारी बङ्केय की महत्वपूर्व सेवा के उपलक्ष्य में कोलनूर में बङ्केय द्वारा स्थापित जिनमन्दिर के लिये देवेन्द्र मुनि को तलेयूर नाम का पूरा गांव और दूसरे गावों की कुछ जमीनें प्रदान की थी। यह दान शक स० ७८२ (सन् ८६०- वि० सं० ९१७) में दिया गया था। इससे देवेन्द्र सैद्धान्तिक का समय ईसा की नवमी और विक्रम की दशमी शताब्दी का पूर्वार्ध है। इनके शिष्य कलधौतनन्दी थे। जिनका परिचय नीचे दिया गया है।

कलधौतनन्दि

कलधौतनन्दि—मूलसंघ देशीय गण पुस्तक गच्छ के विद्वान गुणनन्दि के प्रशिष्य और देवेन्द्र सैद्धान्तिक के शिष्य थे। बड़े भारी सैद्धान्तिक और पचाक्षरूप उन्नत गज के कुंभस्थल को फाड़कर मुक्ताफल प्राप्त करने वाले केशरी सिंह थे। विद्वानों के द्वारा स्तुत और वाक्य रूपी कामिनी के वल्लभ थे[1]।

चूंकि देवेन्द्र सैद्धान्तिक को राष्ट्रकूट राजा अमोध वर्ष प्रथम ने बङ्केय द्वारा स्थापित जिनालय के लिये 'कोलनूर' में 'तलेयूर' नामका ग्राम और दूसरे ग्रामों की कुछ जमीनें प्रदान की थी। यह लेख शक सं० ७८२ सन् ८६० (वि० सं० ९१७) का लिखा हुआ है। अतः कलधौतनन्दि का समय भी ईसा की नवमी (वि० की १०) शताब्दी हो सकता है। (जैन लेख सं० भा० २ पृ० १४१)

वृषभनन्दी

सिद्धभूषण सैद्धान्तिक मुनि—का उल्लेख प्रायश्चित्तके एक संस्कृत 'ग्रंथ जीतसारसमुच्चय, की प्रशस्ति में किया गया है। इन्हें मान्यखेट में मजूषा में कुन्दकुन्दाचार्य 'नामांकित' जीतोपदेशिका' नाम का ग्रन्थ प्राप्त हुआ था। और जो संभरी स्थान में चले गये थे। उन्हीं मुनिराज ने उसकी व्याख्या वृषभनन्दी को की थी[2] तब वृषभनन्दी, जो नन्दनन्दी के शिष्य, और रूक्षाचार्य के प्रशिष्य थे। जीतसार समुच्चय ग्रन्थ की रचना संस्कृत पद्यों में की थी। और हर्षनन्दी ने सुन्दर अक्षरों में लिखा था। वृषभनन्दी का यह ग्रन्थ महत्वपूर्ण हे, इसमें प्रायश्चिन्त का कथन किया गया है। इसका प्रकाशन होना चाहिये। यह अजमेर के भट्टारकीय शास्त्र भण्डार में मौजूद है।[3] इससे इनका समय नवमी शताब्दी जान पड़ता है।

तच्छिष्यः कलधौतनन्दिमुनिपस्सैद्धान्तचक्रेश्वरः,
पारावारपरीतधारिणि कुलव्याप्तोरुकीर्तीश्वर ।
पञ्चाक्षोन्मदकुम्भिदलन प्रोन्मुक्त मुक्ता फल—
प्रांशु प्राञ्चित केसरी बुधनुतो वाक्कामिनी वल्लभ ॥१०

—जैन लेख सं० भा० १ पृ० ७२

२. मान्याखेटे मञ्जूषेक्षी सैद्धान्त सिद्धभूषणः ।
मुजीर्णा पुस्तिका जैनी प्राप्यांप्य संभरी गतः ॥३४
श्री कोड कुन्दनामाका जीतोपदेशदीपिका ।
व्याख्याता मदहितार्थेन मयाप्युक्ता यथार्थत ॥३५

सद्गुरोः सदुपशेन कृता वृषभनन्दिना ।
जीतादिसार संक्षेपो नद्याद्या चद्रुनार्क ३६

३. देखो, अनेकान्तवर्ष १४ कि० १ पृ० २७ मे पुराने साहित्य की खोज लेख।

सर्वनन्दि भट्टारक

सर्वनन्दि भट्टारक—कुन्दकुन्दान्वय के एक चट्टुगद भट्टारक (मिट्टी के पात्र धारी) के शिष्य श्री सर्वनन्दि भट्टारक ने इस (कोप्पल) नामक स्थान में निवास कर यहां के नगरवासी लोगों को अनेक उपदेश दिए और बहुत समय तक कठोर तपश्चरण कर सन्यास विधि से शरीर का परित्याग किया। यह सर्वनन्दि सब पापों की शान्ति करें। यह लेख शक सं० ८०३ सन् ८८१ (वि० सं० ६३८) का है। अतः इन सर्वनन्दि का समय ईसा की ९वीं और विक्रम की दशमी शताब्दी का पूर्वार्ध है। (Jainism in Sauth India P. 523)

आचार्य विद्यानन्द

विद्यानन्द—अपने समय के प्रसिद्ध तार्किक विद्वान थे। आपका जैन तार्किक विद्वानों में विशिष्ट स्थान है। आपकी कृतियां आपके अतुलतलस्पर्शी पाण्डित्य और सर्वतोमुखी प्रतिभा का पद-पद पर अनुभव कराती हैं। आपकी अष्ट सहस्री और तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकादि कृतियों से जहां आपके विशाल वैदुष्य का पता चलता है वहां उनकी महत्ता और गंभीरता का भी परिज्ञान होता है। आपकी कृतियां अपना सानी नहीं रखतीं। जैन दर्शन उन कृतियों से गौरवान्वित है। जैन परम्परा में विद्यानन्द नाम के अनेक विद्वान हो गए हैं। परन्तु प्रस्तुत विद्यानन्द उन सब से ज्येष्ठ, प्रसिद्ध औरप्राचीन बहुश्रुत विद्वान हैं। यद्यपि उन्होंने अपनी कृतियां में जीवन घटना और समयादि का कोई उल्लेख नहीं किया, फिर भी अन्य सूत्रों से उनके समय का परिज्ञान हो जाना है।

आचार्य विद्यानन्द का जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था। वे जन्म से होनहार और प्रतिभाशाली थे। अतएव उन्होंने वैशेषिक, न्याय मीमांसा, वेदान्त आदि वैदिक दर्शनों का अच्छा अभ्यास किया था, और बोद्धदर्शन के मन्तव्यों में विशेषतया दिग्नाग, धर्मकीर्ति और प्रज्ञाकर आदि प्रसिद्ध बोद्ध विद्वानों के दार्शनिक ग्रन्थों का भी परिचय प्राप्त किया। इस तरह वे दर्शन शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान बने। और जैन सिद्धान्त के ग्रन्थों के भी वे विशिष्ट अभ्यासी थे। जान पड़ता है विद्यानन्द उस समय के वाद-विवाद में भी सम्मिलित हुए हों तो कोई आश्चर्य नहीं। हो सकता है उन्हें जैन और बौद्ध विद्वानों के मध्य होने वाले शास्त्रार्थों को देखने या भाग लेने का अवसर भी प्राप्त हुआ हो। वे अपने समय के निष्णात तार्किक विद्वान थे। और तार्किक विद्वानों में उनका ऊँचा स्थान था। उन्होंने जैन धर्म कब धारण किया, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। पर वे जैन धर्म के केवल विशिष्ट विद्वान ही नहीं थे; किन्तु जैनाचार के संपालक मुनि पुंगव भी थे। उनकी कृतियाँ उनके अतुल तलस्पर्शी पांडित्य का पद-पद पर बोध कराती हैं। जैन परम्परा में विद्यानन्द नाम के अनेक विद्वान आचार्य और भट्टारक हो गये हैं[1]। पर आपका उन सब में महत्वपूर्ण स्थान है। विद्यानन्द प्रसिद्ध वैयाकरण, श्रेष्ठ कवि, अद्वितीयवादि, महान सैद्धान्तिक, महान् तार्किक, सूक्ष्म प्रज्ञ और जिन शासन के सच्चे भक्त थे। आपकी रचनाओं पर गृद्धपिच्छाचार्य, स्वामी समन्तभद्र, श्रीदत्त, सिद्धसेन, पात्रस्वामी भट्टाकलंकदेव और कुमारनन्दि भट्टारक आदि पूर्ववर्ती विद्वानों की रचनाओं का प्रभाव दृष्टि-गोचर होता है। आप की दो तरह की रचनाएँ प्राप्त होती हैं। टीकात्मक और स्वतंत्र।

आपका कोई जीवन परिचय नहीं मिलता। और न आपके जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का ही कोई उल्लेख उपलब्ध होता है। आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। जिनके नाम इस प्रकार है :—

१. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, २. अष्टमहस्री (देवागमालंकार, और युक्त्यनुशासनालकार ये तीन टीका ग्रन्थ हैं। और विद्यानन्द महोदय, आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासन परीक्षा, और श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र, ये सब उनकी स्वतन्त्र कृतियां हैं।

तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक—यह गृद्धपिच्छाचार्य के तत्त्वार्थ सूत्र पर विशाल टीका है। जिसके पद्य वार्तिकों पर उन्होंने स्वयं गद्य में भाष्य अथवा व्याख्यान लिखा है। यह अपने विषय की प्रमेय बहुल टीका है। आचार्य विद्यानन्द ने इस रचना द्वारा कुमारिल और धर्मकीर्ति जैसे प्रसिद्ध तार्किक विद्वानों के जैनदर्शन पर किये गए

---

१. विद्यानन्द नाम के अन्य विद्वानों का यथा स्थान परिचय दिया गया है, पाठक उनका वहां अवलोकन करें।

आक्षेपों का सबल उत्तर दिया है। और जैनदर्शन के गौरव को उन्नत किया है—बढाया है। भारतीय दर्शन साहित्य में ऐसा एक भी ग्रंथ दिखाई नहीं देता, जो इसकी समता कर सके। इस ग्रंथ में कितनी ही चर्चाएं अपूर्व हैं। और वस्तु तत्त्व का विवेचन बड़ी सुन्दरता से दिया हुआ है। इसके आधुनिक सम्पादित शुद्ध संस्करण की आवश्यकता है। क्योंकि सन् १९१८ में प्रकाशित संस्करण अनुपलब्ध है, फिर वह अशुद्ध और त्रुटिपूर्ण है।

अष्टसहस्री—(देवागमालंकार)—यह आचार्य समन्तभद्र के देवागम पर लिखी गई विस्तृत और महत्व-पूर्ण टीका है। देवागम पर लिखी गई अकलंक देव की दुरूह और दुरवगाह अष्टशती विवरण (देवागमभाष्य) को अन्तः प्रविष्ट करते हुए उसकी प्रत्येक कारिका का व्याख्यान किया गया है। विद्यानन्द यदि अष्टशती के दुरूह और जटिल पद-वाक्यों के गूढ रहस्य का उद्भावन न करते तो विद्वानों की उसमें गति होना संभव नहीं था। उन्होंने अष्टसहस्री में कितने ही नये विचार और विस्तृत चर्चाएं दी हुई हैं, जिनसे पाठक उसके महत्व का सहज ही अनुमान कर सकते हैं। विद्यानन्द ने स्वयं लिखा है कि हजार शास्त्रों को सुनने से क्या, अकेली अष्ट सहस्री को सुन लीजिये उसी से समस्त सिद्धांतों का परिज्ञान हो जायगा[1]। उन्होंने कुमारसेन को उक्तियों से अष्ट सहस्री को वर्धमान भी बतलाया है। और कष्टसहस्री भी सूचित किया है।

इस पर लघु समन्तभद्र ने 'अष्टसहस्री विषम पद तात्पर्य टीका' और श्वेताम्बरीय विद्वान यशोविजय ने 'अष्टसहस्री तात्पर्यविवरण' नाम की टीकाएं लिखी हैं। चूंकि देवागम में दश परिच्छेद हैं। अतः अष्टसहस्री में दश परिच्छेद दिये हुए हैं।

युक्त्यनुशासनालंकार—यह आचार्य समन्तभद्र का महत्वपूर्ण और गंभीर स्तोत्र ग्रंथ है। उन्होंने आप्त-मीमांसा के बाद इसकी रचना की है। आप्तमीमाँसा में अन्तिम तीर्थंकर महावीर की परीक्षा की गई है। और परीक्षा के बाद उनकी स्तुति की गई है। इसमें कुल ६४ पद्य हैं। प्रत्येक पद्य दुरूह और गम्भीर अर्थ को लिये हुए है। उस पर विद्यानन्द की 'युक्त्यनुशासनालंकार टीका है। जो पद्यों के भावों का उद्घाटन करती हुई दार्शनिक चर्चा से ओत-प्रोत है। इस ग्रन्थ का पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने बड़े परिश्रम से हिन्दी अनुवाद किया है, जिससे ग्रन्थ का अध्ययन सबके लिये सुलभ हो गया है। दूसरी हिन्दी टीका पं० मूलचन्द्र जी शास्त्री महावीर जी ने की है, जो प्रकाशित हो चुकी है।

विद्यानन्द महोदय—आचार्य विद्यानन्द की यह महत्वपूर्ण प्रथम कृति थी। आचार्य विद्यानन्द ने स्वयं 'श्लोकवार्तिकादि ग्रन्थों में उसका उल्लेख अनेक स्थलों पर किया है। खेद है कि विद्यानन्द की यह बहुमुल्य कृति अनु-पलब्ध है। श्वेताम्बरीय विद्वान वादिदेव सूरि ने 'स्याद्वादरत्नाकर में उसका उल्लेख निम्न वाक्यों में किया है—

"महोदये च—'कालान्तराविस्मरणकारणं हि धारणाभिधानं ज्ञानं संस्कारः प्रतीयते इति वदन विद्यानन्दः) संस्कार धारणयो रैकार्थ्यमचकथत्"। (स्याद्वादरत्नाकर पृ० ३४९)। उनकी इस मौलिक स्वतंत्र रचना का अन्वेषण होना आवश्यक है।

आप्तपरीक्षा—आप्तमीमाँसा की तरह आचार्य विद्यानन्द ने आप्तपरीक्षा में तत्त्वार्थ सूत्र के मंगलाचरण गत मोक्षमार्ग नेतृत्व, कर्मभूभृद्भेतृत्व और विश्वतत्त्व ज्ञातृत्त्व इन तीन गुण विशिष्ट आप्त का समर्थन करते हुए अन्ययोग व्यवच्छेद से ईश्वर, कपिल, बुद्ध और ब्रह्म की परीक्षा पूर्वक अर्हन्त जिन को आप्त निश्चित किया है। ग्रन्थ में १२४ कारिकाएं हैं। और उन पर विद्यानन्द स्वामी की आप्तपरीक्षालं कृति' नाम की स्वोपज्ञटीका है। ग्रन्थ की भाषा सरल और विशद है। कारिकाएं सरल हैं। और टीका की भाषा सरल सुगम बोधक है। इसमें वस्तु तत्त्व का अच्छा प्रतिपादन किया गया है। यह ग्रन्थ पं० दरबारी लाल जी न्यायाचार्य द्वारा अनुवादित सम्पादित होकर वीर सेवामन्दिर से प्रकाशित हो चुका है।

प्रमाणपरीक्षा—यह विद्यानन्द की तीसरी स्वतंत्र कृति है। इसमें प्रमाण का सम्यग्ज्ञानत्व लक्षण करके उसके भेद-प्रभेदों का विषय तथा फल और हेतुओं की सुसम्बद्ध प्रामाणिक और विस्तृत चर्चा सरल संस्कृत गद्य में

---

१. कष्ट-सहस्री सिद्धा साऽष्ट सहस्रीयमत्र मे पुष्यात्।
शश्वदभीष्ट-सहस्रीं कुमारसेनोक्ति वर्धमानार्था॥

की गई है। ग्रन्थ आधुनिक सम्पादन की वाट जोह रहा है।

पत्र-परीक्षा—इसमें दर्शनान्तरीय पत्र लक्षणों की समालोचना पूर्वक जैन दृष्टि से पत्र का सुन्दर लक्षण किया है। प्रतिज्ञा और हेतु को अनुमानाङ्ग प्रतिपादित किया है।

सत्य-शासन-परीक्षा—इसमें पुरुषाद्वैत आदि १२ शासनों की परीक्षा की प्रतिज्ञा की गई है। किन्तु ९ शासनों की परीक्षा पूरी और प्रभाकर शासन की अधूरी परीक्षा उपलब्ध होती है। यह ग्रंथ डा० गोकुलचन्द जी के सम्पादकत्व में भारतीय ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित हो चुका है।

श्री पुरपार्श्वनाथ स्तोत्र—यह ३० पद्यात्मक स्तोत्र ग्रन्थ है। जिसमें श्रीपुर[1] के पार्श्वनाथ का स्तवन किया गया है। इसमें विद्यानन्द ने स्रग्धरा, शार्दूल विक्रीडित, शिखरिणी और मन्दा क्रान्ता छन्दों का प्रयोग किया है। इस स्तोत्र में समन्तभद्राचार्य के देवागमादिक स्तोत्र जैसी तार्किक शैली को अपनाया गया है। और कपिलादिक में अनाप्तता बतलाकर पार्श्वनाथ में आप्त पना सिद्ध किया गया है, और उनके वीतरागत्व, सर्वज्ञत्व और मोक्षमार्ग-प्रणेतृत्व इन असाधारण गुणों की स्तुति की गई है। रूपकालंकार की योजना करते हुए आराध्य देव की प्रशंसा की गई है।

यथा शरण्यं नाथाऽर्हन् भव-भव भवारण्य-विगति-च्युता नामस्माकं निरवर-वर कारुण्य-निलयः।
यतो गण्यात्पुण्याच्चिरतरमपेक्ष्यं तव पदं, परिप्राप्ता भक्त्या वयमचल-लक्ष्मीगृहमिदम् ॥२९

हे नाथ! हे अर्हन्! आप संसाररूपी वन में भटकने वाले हम संसारी प्राणियों के लिये शरण हों, आप हमें अपना आश्रय प्रदान कर संसार परिभ्रमण से मुक्त करें, क्योंकि आप पूर्णतया करुणानिधान हैं। हम चिरकाल से आप के पदों की अपेक्षा कर रहे हैं। आज बड़े पुण्योदय से मोक्ष लक्ष्मी के स्थान भूत आप के चरणों की भक्ति प्राप्त हुई है।

स्तोत्र में भाषा का प्रवाह और उदात्त शैली मन को अपनी ओर आकृष्ट करती है।

यह स्तोत्र पं० दरबारी लाल जी की हिन्दी टीका के साथ वीर सेवा मन्दिर से प्रकाशित हो चुका है?

आचार्य विद्यानन्द का समय—

आचार्य विद्यानन्द ने अष्टसहस्री के प्रशस्ति पद्य में कुमारसेन की उक्तियों से उसे प्रवर्धमान बतलाया है। इससे विद्यानन्द कुमारसेन के उत्तरवर्ती हैं। कुमार सेन का समय ७८३ से पूर्ववर्ती है। क्योंकि कुमारसेन का स्मरण पुन्नाटसंघी जिनसेन (शक सं० ७०५-सन् ७८३) ने हरिवंश पुराण में किया है[2]। इससे कुमारसेन वि० सं० ८४० से पूर्ववर्ती हैं। उस समय उनका यश वर्धमान होगा। अतः विद्यानन्द का समय सन् ७७५ से ८४० प्रमाणित होता है।

आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक की अन्तिम प्रशस्ति में निम्न पद्य दिया है:—

'जीयात्सज्जनताऽऽश्रयः शिव-सुधा धारावधान-प्रभुः,
ध्वस्त-ध्वान्त-ततिः समुन्नतगतिस्तीव्र-प्रतापान्वितः।
प्रोर्जज्योतिरिवावगाहनकृतानन्तस्थितिर्मानतः,
सन्मार्गस्त्रितयात्मकोऽखिलमलः-प्रज्वालन-प्रक्षमः ॥'३०

इस पद्य में विद्यानन्द ने जहां मोक्षमार्ग का जयकार किया है। वहां उन्होंने अपने समय के गंगनरेश शिवमार द्वितीय का भी यशोगान किया है। शिवमार द्वितीय पश्चिमी गंगवंशी श्रीपुरुष नरेश का उत्तराधिकारी और उसका पुत्र था, जो ई० सन् ८१० के लगभग राज्य का अधिकारी हुआ था। इसने श्रवण बेलगोल की छोटी

१. प्रस्तुत श्रीपुर धारवाड जिले का शिरूर ग्राम ही श्रीपुर हो। क्योंकि शक सं० ६९८ (ई० सन् ७७६) में पश्चिमी गंग-वंशी राजा श्री पुरुष के द्वारा श्रीपुर के जैन मन्दिर के लिये दिये जाने वाले दान का उल्लेख करने वाला एक ताम्रपत्र मिला है।

—(जैन सि० भा० भा० ४ कि०३ पृ १५८)

वर्जेस और हण्टर आदि अनेक पाश्चात्य लेखकों ने वेसिंग जिले के सिरपुर' को प्रसिद्ध तीर्थ बतलाया है। और पार्श्वनाथ के प्राचीन मन्दिर होने की सूचना की है। संभव है इसी नगर के पार्श्वनाथ की स्तुति विद्यानन्द ने की हो। और महाराष्ट्र देश का श्रीपुर नगर जहाँ के अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ का मन्दिर भिन्न ही हो। जिसके कुए के जल से एलग राय (श्रीपाल) का कुष्ट रोग दूर हुआ था। इस सम्बन्ध में अन्वेषण करने की आवश्यकता है।

२. देखो हरिवंश पुराण १-३८

पहाड़ी पर एक वसदि बनवाई थी, जिसका नाम 'शिवमारनवसदि' था। चन्द्रनाथ स्वामी की वसदि के निकट एक चट्टान पर कनड़ी मे 'शिवमारन वसदि'[1] इतना लेख उत्कीर्ण है जिसका समय सन् ८१० माना जाता है। प्रस्तुत शिवमार द्वितीय अपने पिता श्रीपुरुष की तरह जैन धर्म का समर्थक था। वह समर्थक ही नही किन्तु उसके एक ताम्रपत्र सप्रमाणित होता है कि वह स्वय जैन था[2]।

शिवमार का भतीजा विजयादित्य का पुत्र राचमल्ल सत्यवाक्य[3] प्रथम शिवमार के राज्य का उत्तराधिकारी हुआ था। और वह सन् ८१६ के लगभग गद्दी पर बैठा था। विद्यानन्द ने अपने ग्रन्थों में सत्यवाक्याधिप का उल्लेख किया है।

स्थेयाज्जात जयध्वजाप्रतिनिधिः प्रोद्भूतभूरिप्रभुः,
प्रध्वस्ताखिल-दुर्नय-द्विषदिभिः सन्नीति-सामर्थ्यतः।
सन्मार्ग स्त्रिविधः कुमार्गमथनोऽर्हन् वीरनाथः श्रिये,
शश्वत्संस्तुतिगोचरोऽनघधियां श्रीसत्यवाक्याधिपः॥१

× × × ×

प्रोक्तं युक्त्यनुशासन विजयिभिः स्याद्वादमार्गानुगै—
विद्यानन्द बुधैरलंकृतमिद श्रीसत्यवाक्याधिपैः॥२॥

—युक्त्यनुशासनालंकार प्रशस्ति।

जयन्ति निर्जताशेष सर्वथैकान्तनीतयः।
सत्यवाक्याधिपाः शश्वद्विद्यानन्दा जिनेश्वरः॥

—प्रमाण परीक्षा मंगल पद्य

विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्धयैः॥

आप्त परीक्षा १२३

इन सब प्रमाणों से स्पष्ट है कि आचार्य विद्यानन्द की रचनायें ८१० मे ८४० के मध्य रची गई है। इन्हीं सब आधारो से प० दरबारीलाल जी कोठिया ने भी विद्यानन्द का समय ई० सन् ७७५ से ८४० तक का निश्चित किया है। इससे आचार्य विद्यानन्द का समय ईसा की नवमी शताब्दी सुनिश्चित हो जाता है।

अज्जनन्दि (आर्यनन्दि)

तमिल प्रदेश में अज्जनन्दि नाम के प्रभावशाली आचार्य हो गए हैं। उनका व्यक्तित्व महान था। सातवी शताब्दी के उतरार्ध में तमिल प्रदेश में जैन धर्म के अनुयायियों के विरुद्ध एक भयानक वातावरण उठा। परिणाम स्वरूप वहाँ जैन धर्म का प्रभाव क्षीण हो गया और उसके सम्मान को ठेस पहुंची, ऐसे विषम समय में आर्यनन्दि आगे आये। उन्होने समस्त तमिल प्रदेश में भ्रमण कर जैन धर्म के प्रभाव को पुन: स्थापित करने के लिये जगह-जगह जैन तीर्थकरो की मूर्तियां अकित कराई। इसमें अज्जनन्दि के साहस और विक्रम का पता चलता है। उन्हें इस कार्य के सम्पन्न कराने में कितने कष्ट उठाने पड़े होंगे, यह भुक्तभोगी ही जानता है। परन्तु उनकी आत्मा में जैन धर्म की क्षीणता को देखकर जो टीस उत्पन्न हुई उसीके परिणामस्वरूप उन्होंने यह कार्य सम्पन्न कराया। उनका यह कार्य ८वी ९वी शताब्दी का है। उनका कार्यक्षेत्र मदुरा, और त्रावणकोर आदिका स्थान रहा है।

आर्यनन्दि ने उत्तर आरकाट जिले के वल्लीमले की और मदुरा जिले के अन्नैमले, ऐवरमले, अलगरमले,

१. जैन लेख संग्रह भा० १ पृ० ३२७
२. दक्षिण भारत में जैन धर्म पृ० ८१
३ गंग वंश में कुछ राजाओं की उपाधि 'सत्य वाक्य थी। इस उपाधि के धारक ई० सन् ८१५ के बाद प्रथम सत्य वाक्य, दूसरा ८७० से ९०७, तीसरा सत्य वाक्य ९२०, और चौथा ९७७,

करुंगाल्लक्कुडी ओर उत्तम पाल्यम् की चट्टानों पर जैनमूर्तियां का निर्माण करवाया। दक्षिण को ओर तिलेवेल्लो जिले के इरुवाड़ी (Eruvadi) स्थान में मूर्तियां का निर्माण कराया।

त्रावणकोर राज्य के चितराल नामक स्थान के समीप तिरुच्चाणट्टु (Tiruchchanattu) नामकी पहाड़ी पर भी चट्टान काट कर जैन मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गई है।

आर्यनन्दिका यह कार्य महत्वपूर्ण, तथा जैनधर्म की प्रसिद्ध के लिए था। इनका समय ८-९वीं शताब्दी है।

गुणकीर्ति मुनीश्वर

मुनि गुणकीर्ति मेलाप तीर्थ कारेयगण के विद्वान मूल भट्टारक के शिष्य थे। और जो अत्यन्त गुणी थे।

श्रीमन्मैलापतीर्थस्य गणे कारेय नामनि।
बभूवोग्रतपोयुक्तः मूलभट्टारको गणी॥
तच्छिष्यो गुणवान्सूरि गुणकीर्ति मुनीश्वरः।
तस्याप्यासीं (सींद्रि) द्रकीर्तिस्वामी काममदापहः॥

—जैन लेख सं० भा० २ पृ० १५२

सौदत्ती का यह शिलालेख शक सं० ७९७ सन् ८७५ ईसवी का है। अतः गुणकीर्ति का समय ईसा की नवमी शताब्दी है। इनके शिष्य इन्द्रकीर्ति थे।

इन्द्रकीर्ति

इन्द्रकीर्ति मेलाप तीर्थ कारेयगण के विद्वान गुणकीर्ति के शिष्य थे, जो काम के मद को दूर करने वाले थे। पाडली और हन्निकेरि के शिलालेखों से स्पष्ट होता है कि कारेयगण यापनीयसंघ एक गण था। और सौदंत्ती नवमी शताब्दी में यापनीय संघ का एक प्रमुख केन्द्र था।

महासामन्त पृथ्वीराय राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय का महा सामन्त था। और इन्द्रकीर्ति का शिष्य था। उसने एक जिनालय का निर्माण कराकर उसे भूमि प्रदान की थी। इन इन्द्रकीर्ति के पूर्वज भी कारेय गण के थे।

सौदंत्ती का यह लेख शक सं० ७९७ सन् ८७५ ईस्वी का है, जो वहां के एक छोटे मन्दिर की बायीं ओर दीवाल में जड़े हुए पाषाण पर से लिया गया है। इससे इनका समय ईसा की नवमी शताब्दी है। इनके गुरु गुणकीर्ति का समय भी ईसा की नवमी सदी है[१]।

अपराजितसूरि (श्री विजय)

अपराजित सूरि—यह यापनीय संघ के विद्वान थे। चन्द्रनन्दि महाकर्म प्रकृत्याचार्य के प्रशिष्य और बलदेव सूरि के शिष्य थे। यह आरातीय आचार्यों के चूड़ामणि थे। जिन शासन का उद्धार करने में धीर वीर तथा यशस्वी थे। इन्हें नागनन्दि गणि के चरणों की सेवा से ज्ञान प्राप्त हुआ था। और श्रीनन्दी गणी की प्रेरणा से इन्होंने शिवार्य की भगवती आराधना की 'विजयोदया' नाम की टीका लिखी थी। इनका अपर नाम श्री विजय या विजयाचार्य था। पंडित आशाधर जी ने इनका 'श्री विजय' नाम से ही उल्लेख किया है[२]। भगवती आराधना की ११९७ नम्बर की गाथा की टीका में 'दशवैकालिक पर 'विजयोदया टीका लिखने का उल्लेख किया है—"दशवैकालिक टीकायां 'श्री विजयोदयायाँ प्रपंचिता उद्गमादि दोषा, इति नेह प्रतन्यते।" आराधना की टीका का नाम भी 'श्री विजयोदया' दिया है। टीका में अचेलकत्व का समर्थन किया गया है। और श्वेताम्बरीय उत्तराध्ययनादि ग्रन्थों के

१. जैन लेख सं० भा० २ लेख न० १३० पृ० १५२

२. एतच्च श्री विजयाचार्य विरचित संस्कृत मूलाराधना टीकायां सुस्थित सूत्रे विस्तरतः समर्थितं। अनगार धर्मामृत टीका पृ० ६७३)।

अनेक प्रमाण भी दिये है। यह यापनीय सघ के आचार्य थे। इस सघ के सभी आचार्य नग्न रहते थे, किन्तु श्वेताम्बरीय आगम ग्रन्थों को मानते थे और सवस्त्र मुक्ति आर केवल भुक्ति को मानते थे। इस सघ के शाकटायन व्याकरण के कर्त्ता पाल्यकीर्ति ने स्त्री मुक्ति और केवल भुक्ति नाम के दो प्रकरण लिखे है, जो मुद्रित हो चुके है।

टीका मे एक स्थान पर भूत और भविष्यत् काल के सभी जिन अचेलक है। मेरु आदि पर्वतों की प्रतिमाए और तीर्थकर मार्गानुयायी गणधर तथा उनके शिष्य भी उसी तरह अचेलक है। इस तरह अचेलता सिद्ध हुई। जिनका शरीर वस्त्र से परिवेष्टित है वे व्युत्सृष्ट, प्रलम्ब भुज और निश्चल जिनके सदृश नही हो सकते।[१] दशवैकालिक पर टीका लिखने के कारण 'आरातीय चूडामणि' कहलाते थे।

समय

ऊपर जो गुरु परम्परा दी है वे सब आचार्य यापनीय सघ के जान पडते है। अपराजित सूरि ने लिखा है कि—"चन्द्रनन्दि महाकर्मप्रकृत्याचार्यशिष्येण आरातीयसूरि चूलामणिना नागनन्दिगणि-पाद-पद्मोपसेवाजात-मतिबलेन बलदेव सूरिशिष्येण जिनशासनोद्धरणधीरेण लब्धयशःप्रसरेणापराजितसूरिणा श्रीनन्दिगणिनावचोदितेन रचिता।"

चन्द्रनन्दी का सबसे पुराना उल्लेख अभी तक जो उपलब्ध हुआ है वह श्री पुरुष का दानपत्र है, जो 'गोवपैय' को ई० सन् ७७६ मे दिया गया था। इसमें गुरु रूप से विमलचन्द्र, कीर्तिनन्दी, कुमारनन्दी और चन्द्रनन्दी नाम के चार आचार्यो का उल्लेख है (S J. pt III, 88)। बहुत सम्भव है कि टीकाकार ने इन्ही चन्द्रनदि का अपने को प्रशिष्य लिखा हो। यदि ऐसा है तो टीका बनने का समय वि० स० ८३३ अर्थात् विक्रम की ९वी शताब्दी तक पहुच जाता है। चन्द्रनन्दी का नाम 'कर्मप्रकृति' भी दिया है और 'कर्म और कर्म प्रकृति का वेलूर के १७ वे शिलालेख मे अकलक देव और चन्द्रकीर्ति के बाद होना बतलाया है। और उनके बाद विमलचन्द्र का उल्लेख किया है। इससे भी उक्त समय का समर्थन होता है। बलदेव सूरि का प्राचीन उल्लेख श्रवण बेल्गोल के दो शिलालेखो में न० ७ और १५ में पाया जाता है। जिनका समय क्रमशः ६२२ और ५७२ शक सवत् के लगभग अनुमान किया गया है। बहुत सम्भव है कि यही बलदेव सूरि टीकाकार के गुरु रहे हो। इससे भी उक्त समय की पुष्टि होती है। इनके अतिरिक्त टीकाकार ने नागनन्दी को अपना गुरु बतलाया है। वे नागनन्दी वही जान पडते है, जो असग के गुरु थे।[२] अत अपराजित सूरि का समय विक्रम की नवमी का उपान्त्य हो सकता है।

टीका

आराधना की यह टीका अनेक विशेषताओं को लिये हुए है। न० ११६ की टीका करते हुए 'उसकी व्याख्या में सयमहीन तप कार्यकारी नही। इसकी पुष्टि करते हुए मुनि श्रावक के मूल गुणों तथा उत्तर गुणों और आवश्यकादि कर्मो के अनुष्ठान विधानादि का विस्तार के साथ वर्णन दिया है। उसका एक लघु अश इस प्रकार है —

'तद् द्विविध मूलगुणप्रत्याख्यान उत्तरगुणप्रत्याख्यान। तत्र सयताना जीवितावधिक मूलगुणप्रत्याख्यान। सयतासयताना अणुव्रतानि मूलगुण व्यपदेशभाँजि भवन्ति। तेषा द्विविध प्रत्याख्यान अल्पकालिक, जीवितावधिक चेति। पक्ष-मास-षण्मासादि रूपेण भविष्यत्काल सावधिक कृत्वा तत्र स्थूल हिसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहान्न चरिष्यामि। इति प्रत्याख्यानमल्पकालकम्। आमरणमवधि कृत्वा न करिष्यामि। स्थूल हिसादीनि इति प्रत्याख्यान

---

१. 'तीर्थंकराचरित च गुण —सहनन बल ममग्रा मुक्तिमार्ग प्रख्यापन परा जिना सर्वे एवाचेला भूताभविष्यतश्च। यथा मेर्वादि पर्वत गता प्रतिमास्तीर्थकर मार्गानुयायिनश्च गणधरा इति ते यचेलाम्तिच्छिष्याश्चतथैवेति सिद्धमचेलत्वम। चेल परिवेष्टितागो न जिन सदृशः व्युत्सृष्ट प्रलम्बभुजो निश्चलो जिन प्रतिरूपता धत्ते।।" भ० आ० टी० पृ० ६११

२. देखो, अनेकान्त वर्ष २ कि० ८ पृ० ४३७।

जीवितावधिकं च। उत्तर गुण प्रत्याख्यान मयंतामंयतयोरपि अल्पकालिकं जीविता वधिकं वा।"

अर्थात् वह प्रत्याख्यान दो प्रकार का है, मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तरगुण प्रत्याख्यान। उनमें से संयमी मुनियों के मूलगुण प्रत्याख्यान जीवन पर्यन्त के लिए होता है। सयतासयत पचम गुणस्थानवर्ती श्रावक के अणुव्रतों को मूल गुण कहते है। गृहस्थों के मूलगुणों का प्रत्याख्यान अल्पकालिक और सर्वकालिक दोनों प्रकार का होता है। पक्ष, महीना, छह महीने इत्यादि रूप से भविष्यत्काल की मर्यादा करके जो स्थूल हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन सेवन और परिग्रह रूप पच पापों को मैं नही करूंगा, ऐसा संकल्प कर उनका जो त्याग करता है वह जीवितावधिक प्रत्याख्यान है। उत्तर गुण प्रत्याख्यान तो मुनि और गृहस्थ दोनों ही जीवन पर्यन्त तथा अल्पकाल के लिए कर सकते है।

गाथा न० ५ की टीका में 'सिद्ध प्राभृत' का उल्लेख किया है।[१] ७५३ की गाथा की व्याख्या करते हुए 'नमस्कारपाहुड' ग्रन्थ का उल्लेख किया है।[२]

अपराजित सूरि ने अपनी टीका में देवनन्दी (पूज्य पाद) की सर्वार्थसिद्धि तथा अकलंकदेव के तत्त्वार्थ वार्तिक का भी उपयोग किया है। और उनकी अनेक पंक्तियों को उद्धृत किया है।[३]

अमितगति प्रथम

अमितगति—माथुर संध के विद्वान देवसेन के शिष्य थे। जिन्हे विध्वस्त कामदेव, विपुलशमभृत, कान्तकीर्ति और श्रुत समुद्र का पारगामी सुभाषित रत्न सन्दोह की प्रशस्ति में बतलाया गया है।[४] और इनके शिष्य प्रथम अमितगति योगी को अशेष शास्त्रों का ज्ञाता, महाव्रतों—समितियों के धारकों में अग्रणी, क्रोध रहित, मुनिमान्य और वाह्याभ्यन्तर परिग्रहों का त्यागी बतलाया है, जैसा कि—'त्यक्तनिःशेष संगः। वाक्य मे प्रकट है :—

"विज्ञाताशेषशास्त्रो व्रत समितिभृतामग्रणीरस्तकोपः।
श्रीमान्मान्यो मुनीनाममितगति यतिस्त्यक्तनिशेषसंगः ॥"

इस तरह अमित गति द्वितीय ने उनका बहुत गुण गान किया है, उन्हें अलंघ्य महिमालय, विमलसत्ववान रत्नघी, गुणमणि पयोनिधि, बतलाया है। साथ ही धर्म परीक्षा[५] में 'भासिताखिल पदार्थ समूह :निर्मलः, तथा आराधना[६] में 'शम-यम-निलयः, प्रदलितमदनः, पदनतसूरि जैसे विशेषणों के साथ स्मरण किया है। जो उनके व्यक्तित्व की महत्ता को प्रकट करते है। इससे वे ज्ञान और चारित्र की एक असाधारण मूर्ति थे। उनका व्यक्तित्व महान् था और अनेक आचार्यो से पूजित—नमस्कृत एव महामान्य थे। उन्होंने अशेप शास्त्रों का अध्ययन किया था, और उन्होने जो अनुभव प्राप्त किया था, उसी का सार रूप ग्रन्थ योगसार प्राभृत' हे। उनकी यह रचना संक्षिप्त, सरस और गम्भीर अर्थ की प्रतिपादक है। 'चू कि अमित गति द्वितीय का रचना समय स० १०५० से १०७३ है। अमित गति प्रथम इनसे दो पीढ़ी पहले है। अतः उसमें से ५० वर्ष कम कर देने पर उनका समय विक्रम की ११ वी शताब्दी का प्रथम चरण जान पड़ता है।

---

१. सिद्ध प्राभृतगदित स्वरूप सिद्धज्ञानमागमभावसिद्धः ॥ (गाथा ५)

२. 'नमस्कार प्राभृत नामास्ति ग्रन्थः यत्र नय प्रमाणादि निक्षेपादि मुखेन नमस्कारो निरूप्यते। (गाथा ७५३)

३. देखो अनेकान्त वर्ष २ किरण ८ पृ० ४३७।

४. "आशीर्विध्वस्त.-कन्तो विपुलशमभृतः श्रीमतः कान्तकीर्तिः।
सूरेर्या तस्य पार श्रुतसलिलनिधेर्देवसेनस्य शिष्यः" ॥

—सुभा० स० ९१५

५. "भासिताखिलपदार्थ समूहो निर्मलोऽमितगतिर्गणनाथः।
वासरो दिनमणे रिव तस्माज्जायतेस्मकमलाकर बोधी ॥३"

६. "धूर्ताजन समयोऽजनि महनीयोगुणमणि जलधेस्तदनुमतियंः।
शमयम निलयोऽमितगति सूरिः प्रदलितमदनो पदनतसूरिः ॥"

आपकी एकमात्र कृति 'योगसार' है। जो नो अधिकारों में विभक्त है—जीवाधिकार, अजीवाधिकार, आस्रवाधिकार, बन्धाधिकार, संवराधिकार, निर्जराधिकार, मोक्षाधिकार, चारित्राधिकार और चूलिकाधिकार। इन अधिकारों में योग और योग से सम्बन्ध रखने वाले आवश्यक विषयों का सुन्दर प्रतिपादन किया गया है। ग्रन्थ अध्यातम रस से सराबोर है। उसके पढ़ने पर नई अनुभूतियां सामने आती है। ग्रन्थ आत्मा को समझने और उसके समुद्धार में कितना उपयोगी है। इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं, ग्रन्थ का अध्ययन करने से यह स्वयं समझ में आ जाता है। ग्रंथ की भाषा सरल संस्कृत है। पद्य गम्भीर अर्थ का लिए हुए हैं। उक्तियों और उपमाओं तथा उदाहरणादि द्वारा विषय को स्पष्ट और बोधगम्य बना दिया है। ग्रन्थ पर कुन्द कुन्दाचार्य के अध्यात्म-ग्रन्थों का पूर्ण प्रभाव है।

अन्तिम अधिकार में भोग का स्वरूप दिया है और संसार को आत्मा का महान् रोग बतलाया है, और उससे छूट जाने पर मुक्तात्मा जैसी स्वाभाविक स्थिति हो जाती है। भोग संसार से सच्चा वैराग्य कब बनता है। और निर्वाण प्राप्त करने के लिये क्या कुछ कर्त्तव्य है इसका संक्षिप्त निर्देश है। ग्रन्थ का अध्ययन और मनन जीवन की सफलता का संद्योतक है। ग्रंथ महत्त्वपूर्ण है।

विनयसेन

विनयसेन—मूलसंघ सेनान्वय पोगरियगण या होगरिगच्छ के विद्वान थे। जैन शि० सं० भा० ४ के लेख नं० ६१, जो शक सं० ८१५ (सन् ८९३) वि० सं० ९५० के इस प्रथम लेख में इन्हें ग्राम दान देने का उल्लेख है।

आचार्य अमृतचन्द्र ठक्कुर

सो जयउ अमियचंदो णिम्मल-वय-तव-समाहि-संजुत्तो।
जो सारत्तयणिउणो विज्जा-गुण-संठियो धीरो ॥१
जस्स य पसत्थ वयणं णिकलकं अमियगुणेण संजुत्तं।
भव्वाणं सुह-कंदं सो सूरि जयउ अमियचंदुत्ति ॥२
जेण विणिम्मिय वित्ति सारत्तयस्स सयलगुणभरिया।
जो भव्वाणं सुहिदा ससमय-पर समय-वियाणया सयला ॥३

आचार्य अमृत चन्द्रसूरि ने अपनी गुरु परम्परा और गण-गच्छादिका कोई उल्लेख नहीं किया। वे निलप व्यक्ति थे। उन्होंने अपने ग्रंथों में अपने नाम के अतिरिक्त कोई भी वाक्य आत्म प्रशंसा-परक नहीं लिखा। किन्तु उन्होंने यहाँ तक लिखा है कि वर्णो से पद बन गये, पदों से वाक्य बन गए और वाक्यों से यह ग्रंथ बन गया। इसमें हमारा कुछ भी कर्तृत्व नहीं है[1]।

आचार्य अमृत चन्द्र विक्रम की दशवीं शताब्दी के अध्यात्म रसज्ञ विशिष्ट विद्वान थे। संस्कृत और प्राकृत भाषा पर उनका असाधारण अधिकार था। उन्होंने शताब्दियों से विस्मृत कुन्दकुन्दाचार्य की महत्ता एवं प्रभुता को पुनरुजीवित किया है। उन्होंने निश्चय नय के प्रधान ग्रन्थों की टीका लिखते हुए भी अनेकान्त दृष्टि को नहीं भुलाया है। समयसारादि टीका ग्रन्थों के प्रारम्भ में लिखा है कि—जो अनन्त धर्मो से शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अवलोकन करती है वह अनेकान्तरूप मूर्ति नित्य ही प्रकाशमान हो।

अनन्त धर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।
अनेकान्तमयी मूर्ति नित्यमेव प्रकाशताम् ॥

इसी तरह प्रवचनसार टीका के प्रारंभ में लिखा है कि जिसने मोह रूप अन्धकार के समूह को अनायास ही लुप्त कर दिया है, जो जगत तत्व को प्रकाशित कर रहा है ऐसा यह अनेकान्तरूप तेज जयवन्त रहे।

---

१. वर्णैः कृतानि चित्रैः पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः ॥ —पुरुषा० सि० २२६

हेलोल्लुप्तं महामोहतमस्तोमं जयत्यद: ।
प्रकाशयज्जगत्तत्त्वमनेकान्तमयं महः ।।

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में तो उसे परमागम का बीज अथवा प्राण बतलाया है, और जन्मान्ध मनुष्यों के हस्ति विधान का निषेध कर समस्त नय विलासों के विरोध को नष्ट करने वाले अनेकान्त को नमस्कार किया है। टीकाओं के अन्त में भी उन्होंने स्याद्वाद को और उसकी दृष्टि को स्पष्ट करते हुए तत्त्व का निरूपण किया है। इससे उनकी अनेकान्त दृष्टि का महत्व प्रतिभाषित होता है।

इनकी कुन्दकुन्दाचार्य के प्राभृतत्रय—समयसार-प्रवचनसार और **पंचास्ति काय**—इन तीनों ग्रन्थों की टीकाएँ बड़ी मार्मिक और हृदय स्पर्शी और उनको हार्दको प्रकट करने वाली हैं। समयसार की टीका में तो उसके अन्तः रहस्य का केवल उद्घाटन ही नही किया गया किन्तु उस पर समयानुसार-कलश की रचना कर वस्तुतः उस पर कलशारोहण भी किया है। अध्यात्म के जिस बीज को आचार्य कुन्दकुन्द ने बोया, और उसे पल्लवित, पुष्पित एवं फलित करने का श्रेय आचार्य अमृत चन्द्र को ही प्राप्त है। टीकाओं का अध्ययन कर अध्यात्म रसिक विद्वान दात तले अंगुली दबाकर रह जाते हैं। टीकाओं की भाषा प्रौढ़, प्रभावशाली और गतिशील है। और विषय की स्पष्ट विवेचक हैं। अध्यात्म दृष्टि से लिखी गई ये टीकाएं स्वसमय परसमय को बोधक है; और अध्येता के लिए महत्वपूर्ण विषयों की परिचायक हैं इनमें निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से वस्तु तत्व का विचार किया गया है सम्यग्दृष्टि जीव वस्तुतत्व का परिज्ञान करने के लिए दोनों नयों का अवलम्बन लेता है परन्तु श्रद्धा में वह अशुद्ध नय के आलम्बन को हेय समझता है, यही कारण है कि वस्तु तत्व का यथार्थ परिज्ञान होने पर अशुद्ध नय का आलम्बन स्वयं छूट जाता है इसी से कुन्दकुन्दाचार्य ने उभय नयों के आलम्बन से वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन किया है।

आपकी इन तीनों टीकाओं के अतिरिक्त आपकी दो कृतियां और भी हैं। पुरुषार्थ सिद्धयुपाय और तत्त्वार्थसार। इन दोनों में भी उनके वैशिष्टय की स्पष्ट छाप है।

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय २२६ श्लोकों का प्रसादगुणोपेत एक स्वतंत्र ग्रन्थ है। इसका-दूसरा नाम जिन वचन रहस्य कोश है। ग्रन्थ के नाम से ही उसका विषय स्पष्ट है इसमें श्रावक धर्म के वर्णन के साथ सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्याक्चरित्र का सुन्दर कथन दिया हुआ है। जहां इस ग्रंथ के नाम में वैशिष्ट्य है वहां आद्यन्त में भी वैशिष्ट्य है। ग्रंथ के आदि में निश्चय नय और व्यवहार नय की चर्चा है तो अन्त में रत्नत्रय को मोक्ष का उपाय बतलाया गया है यह कथन श्रावकाचारों में हैं। पुण्यास्रवको शुभोपयोग का अपराध बतलाना अमृतचन्द्र को वाणी की विशेषता है।

विक्रम की १३वीं शताब्दी के विद्वान पं० आशाधर जी ने अनगार धर्मामृत की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र का ठक्कुर विशेषण के साथ उल्लेख किया है—'एतदनुसारेणैव ठक्कुरोऽपीदमपाठीत्—लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे। (पृ० १६०) एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचन्द्रसूरि विरचित समयसारटीकायां द्रष्टव्यम्।(पृ० ५८८)।

ठक्कुर या ठाकुर शब्द का प्रयोग जागीरदारों और ओहदेदारों के लिये तो व्यवहृत होता था। किन्तु 'ठक्कुर' शब्द गोत्र का भी वाची है। आज भी जैसवाल आदि जातियों के गोत्रों में प्रयुक्त देखा जाता है।

तत्त्वार्थसार—गृद्धपिच्छाचार्य के तत्त्वार्थसूत्र के सार को लिए हुए होने पर भी अपना वैशिष्ट्य रखता है। यह २२६ श्लोकों की रचना होते हुए भी, प्रसाद गुणोपित एक स्वतंत्र ग्रंथ है। जिसमें सम्यदर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का सुन्दर कथन किया है। तत्त्वार्थसार नाम से भी यह ध्वनित होता है कि इसमें तत्त्वार्थ सूत्र प्रतिपादित तत्त्वों का ही सार संगृहीत है। तत्त्वार्थ राजवार्तिकादि में प्रतिपादित कितनी ही विशिष्ट बातों का इसमें संकलन किया गया है। आचार्य अमृतचन्द्र ने इसे मोक्षमार्ग का प्रकाश करने वाला एक प्रमुख दीपक[१] बतलाया है। क्योंकि इसमें युक्ति आगम से सुनिश्चित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का स्वरूप

१. अथ तत्त्वार्थसारोऽयं मोक्ष मार्गैकदीपक।

—तत्वार्थसार २

प्रतिपादित किया है। तथा सम्यग्दर्शन का स्वरूप बतलाते हुए सप्त तत्त्वों का विशद वर्णन किया है। तत्त्वार्थ सूत्र का पद्य में अनुवाद होते हुए भी एक स्वतंत्र ग्रंथ जैसा प्रतीत होता है। कहीं-कहीं तो ऐसा जान पड़ता है कि अमृत-चन्द्राचार्य ने गद्य के स्थान में पद्य का रूप दिया है और कितने ही स्थानों पर उन्होंने नवीन तत्त्वों का संयोजन भी किया है और उसके लिए उन्हें अकलंक देव के तत्त्वार्थ वार्तिक का सर्वाधिक आश्रय लेना पड़ा है। उसके वार्तिकों को श्लोक रूप में निबद्ध करके तत्त्वार्थसार के महत्व को वृद्धिगत किया है।

समय

पट्टावली में अमृतचन्द्र के पट्टारोहण का समय वि० सं० ९६२ दिया है। वह प्रायः ठीक है। क्योंकि धर्मरत्नाकर के कर्ता जयसेन ने, जो लाडबागड संघ के विद्वान थे। उन्होंने अमृतचन्द्रसूरि के पुरुषार्थसिद्धयुपाय के ५९ पद्य उद्धृत किये है। जयसेन ने अपना यह ग्रंथ वि० सं० १०५५ में बनाकर समाप्त किया है।[1] अतः आचार्य अमृतचन्द्र सं० १०५५ से पूर्ववर्ती है। मुख्तार सा० ने लिखा है कि—अमित गति प्रथम के योगसार प्राभृत पर भी अमृतचन्द्र के तत्त्वार्थसार तथा समयसारादि टीकाओं का प्रभाव परिलक्षित होता है। जिनका समय अमित गति द्वितीय से कोई ४०-५० वर्ष पूर्व का जान पड़ता है। ऐसी स्थिति में अमृतचन्द्रसूरि का समयविक्रम की १० वीं शताब्दी का तृतीय चरण है। पं. नाथूराम प्रेमी और डा० ए. एन. उपाध्ये अमृतचन्द्र का समय १२वीं मानते थे, पर वह मुझे नही रुचा। फलतः मैने अपने लेख में अमृतचन्द्र के समय को दशवीं शताब्दी का बतलाया, तब से सभी उनका समय १०वीं शताब्दी मानने लगे हैं।[2]

रामसेन

रामसेन नाम के अनेक विद्वान हो गये हैं।[3] उनमें प्रस्तुत रामसेन सबसे भिन्न हैं। ग्रन्थ प्रशस्ति में राम सेन ने अपना संक्षिप्त परिचय पांच गुरुओं के नामोल्लेख के साथ दिया है उससे रामसेन के सम्बन्ध में स्पष्ट परिचय तो ज्ञात नहीं होता। ब्रह्मश्रुतसागर ने रामसेन को 'प्रथमाङ्गपूर्व भागज्ञाः' लिखा है जिससे वे अंगपूर्वों के एक देश ज्ञाता जान पड़ते हैं।[4] उनका संघ-गण-गच्छ क्या था और उनके शिष्य-प्रशिष्यादि कौन थे। उन्होंने तत्त्वानुशासन के सिवाय अन्य किन ग्रन्थों की रचना की इसका कोई भी उल्लेख नहीं मिलता। ग्रन्थ प्रशस्तियों पट्टावलियों और शिलालेखादि में भी ऐसा कोई परिचय उपलब्ध नहीं होता, जिससे उनके सम्बन्ध में विचार किया जा सके और यह ज्ञात हो सके कि नागसेन के शिष्य रामसेन की शिष्य परम्परा क्या और कहां थी। रामसेन ने नागसेन को अपना दीक्षा गुरु लिखा है, वे पट्ट गुरु नही थे। उन्होंने अपने चार गुरुओं के नामोल्लेख के साथ दीक्षा गुरु में नाग-

१. बाणेन्द्रियव्योम सोम-मिते संवत्सरे शुभे। (१०५५)
ग्रन्थोऽयं सिद्धनां यातः सबली करहाटके॥
—धर्म रत्नाकर प्रशस्ति

२. देखो, अनेकान्त वर्ष ८ कि ४-५ में अमृतचन्द्र सूरि का समय शीर्षक लेख (पृ १७३)

३. सेनगण के रामसेन पंडितदेव को, जिन्हें सं० ११३४ की पौष शुक्ला ७ को उत्तरायण संक्रान्ति के दिन चालुक्य वंशीय त्रिभुवनमल्ल के समय गंग पेर्मानडि जिनालय के लिए राजधानी बलगावे में दान दिया गया।
—भ० सम्प्रदाय पृ० ७

दूसरे रामसेन वे हैं जो नरसिंह पुरा जाति के प्रबोधक एवं संस्थापक थे।
तीसरे रामसेन निष्पिच्छ माथुर संघ के संस्थापक।
इन तीनों रामसेनों में से तत्त्वानुशासन के कर्ता रामसेन भिन्न हैं।

४. देखो, सुत्त पाहुडटीका गाथा २

सेन का नामोल्लेख किया है नागसेन नाम के भी कई विद्वान आचार्य हो गये है।[1]

उन सब में वे नागसेन चामुण्डराय के साक्षात् गुरु अजितसेन के प्रगुरु थे। अर्थात् अजितसेन के गुरु आर्य सेन (आर्यनन्दी) के गुरु थे। और जिनका चामुण्डराय पुराण मे आचार्य कुमारसेन के बाद उल्लेख है। चामुण्डराय ने अपने पुराण का निर्माण शक स० ९०० (वि० स० १०३५) में किया है। अतएव नागसेन का समय वि० सं० १००० से कुछ पहले का समझना चाहिए।[2] यह नागसेन रामसेन के दीक्षा गुरु हो सकते है। अन्य नागसेन नही।

प्रस्तुत रामसेन काष्ठा संघ नन्दीतटगच्छ और विद्यागण के आचार्य थे। क्योंकि नन्दीतटगच्छ की गुर्वावली में उन्हे 'प्रतिबोधन पण्डित' बतलाया है।[3] नरसिंह पुरा जाति के संस्थापक भी थे[4]। अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान तपस्वी आचार्य रहे है।

रामसेन ने प्रशस्ति मे अपने चार विद्या गुरुओं के नामों का उल्लेख किया है **"श्री वीरचन्द्र-शुभदेव-महेन्द्रदेवाः-शास्त्राय यस्य गुरवो विजयामरश्च"** वीरचन्द्र, शुभदेव, महेन्द्रदेव और विजयदेव। पर इनका अन्य परिचय कहीं से भी उपलब्ध नही होता। हां, महेन्द्र- देव का परिचय अवश्य प्राप्त होता है। ये महेन्द्रदेव वही ज्ञात होते है जो नेमिदेव के शिष्य और सोमदेव के बड़े गुरुभाई थे। नेमिदेव के बहुत से शिष्य थे, उनमें से एक शतक शिष्यों के अवरज (अनुज) और एक शतक के पूर्वज सोमदेव थे। ऐसा परभनी के ताम्र शासन (दान पत्र) से जान पड़ता है।[5] इनमें महेन्द्रदेव प्रमुख विद्वान थे। उन्हे नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति में 'वादीन्द्रकालानल श्रीमन्महेन्द्र-

१. नागसेन नाम के ५ विद्वानों का उल्लेख मिलता है—१ वे नागसेन जो दशपूर्व के पाठी थे और जिनका समय विक्रम स० से २५० वर्ष पूर्व है।

२रे वे नागसेन जो ऋषभसेन के गुरु के शिष्य थे, जिन्होने सन्यास विधि से श्रवण बेल्गोल के शिलालेख न० (१४) ३४ के अनुसार देवलोक प्राप्त किया था शिलालेख मे ७ विशेषणों के साथ उनकी स्तुति की गई है। शिलालेख का समय शक स० ६२२ (वि० सं० ७५७) के लगभग अनुमान किया गया है, पर उसका कोई आधार नही बतलाया।

३रे नागसेन वे है जो चामुण्डराय के साक्षात् गुरु अजितसेन के प्रगुरु अर्थात् अजितसेन के गुरु आर्यसेन (आर्य नन्दी) के गुरु थे। जिनका चामुण्डराय पुराण में आचार्य कुमारसेन के बाद उल्लेख किया गया है। चामुण्डराय पुराण का निर्माण शक सं० ९०० सन् ९७८ (वि स० १०३५) मे हुआ है। इससे यह नागसेन १० वी शताब्दी के विद्वान जान पड़ते है।

४थे नागसेन वे हैं जिन्हें रानी अक्कादेवी ने गोणदवेडगि जिनालय के लिए सन् १०४७ (वि० स० ११०४) में भूमिदान दिया था। यह मूलसंघसेनगण तथा हेगरि (पोगरि) गच्छ के विद्वान आचार्य थे।

(देखो, जैनिज्म इन साउथ इंडिया पृ० १०६)

५वे नागसेन वे है, जो नन्दीतट गच्छ की गुर्वावलि के अनुसार रामसेन के उत्तरवर्ती और सिद्धान्तसेन तथा गोपसेन के पूर्ववर्ती हुए है। जिनका समय १०वी शताब्दी का मध्य जान पड़ता है।

२ देखो, पी. बी. देसाई का जैनिज्म इन साउथ इ डिया पृ० १३४-३७

३ रामसेनोऽतिविदितः प्रतिबोधन पंडित।
स्थापिता येन सज्जातिर्नारसिंहाऽभिधा भुवि ।।२४।। —गुर्वावली काष्ठासंघ नंदीतटगच्छ, अनेकान्त वर्ष १५ किरण ५

४. श्री गौड संघे मुनिमान्यकीर्तिर्नाम्ना यशोदेव इति प्रजज्ञे।
बभूव यस्याग्र तपःप्रभावात्समागमः शासनदेवताभिः ।।१५
शिष्योऽभवत्तस्य महर्द्धिभाजः स्याद्वादरत्नाकर पारदृश्वा।
श्री नेमिदेवः परवादि दर्पद्रुमावलीच्छेद-कुठारनेमिः ।।१६
तस्मात्तपः श्रियोभर्त्तुर्लोकाना हृदयगमाः।
बभूवुः बहवः शिष्या रत्नानीव तदाकरात् ।।१७
तेषा शतस्यावरजः शतस्य तथा भवत्पूर्वज एव धीमान्।
श्री सोमदेवस्तपसः श्रुतस्य स्थानं यशोधाम गुणोर्जितश्रीः ।।१८।।

देवभट्टारकानुजेन' वाक्य द्वारा महेन्द्रदेव का उक्त विशेषण दिया है जिससे वे वादियों के विजेता थे। बहुत सम्भव है कि प्रस्तुत महेन्द्रदेव उनके विद्यागुरु रहे हों। अन्य तीन गुरुओं के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं होता। सभव है उस समय के साधु सघ में उक्त नाम के तीन विद्वान भी रामसेन के गुरु रहे हों।

रचना—प्रस्तुत तत्त्वानुशासन ग्रन्थ २५८ सस्कृत पद्यों का महत्वपूर्ण रचना है। इसमें अध्यात्म विषय का प्रतिपादन सुन्दर है वह भाषा और विषय दोनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। ग्रन्थ की भाषा जहाँ सरल-प्राजल एवं सहज बोध गम्य है, वहां वह विषय प्रतिपादनकी कुशलता को लिये हुए है। ग्रन्थ कारने अध्यात्मजैसे नीरस कठोर और दुर्बोध विषय को इतना सरल एव सुगम बना दिया है कि पाठक का मन कभी ऊब नही सकता। उसमें अध्यात्म रस की फुट जो अकित है। ग्रन्थ में स्वानुभूति से अनुप्राणित रामसेन की काव्य शक्ति चमक उठी है वह अपने विषय की एक सुन्दर व्यवस्थित कृति है। जिससे पाठक का हृदय आत्म-विभोर हो उठता है। ग्रन्थ में हेय और उपादेय तत्त्व का स्वरूप बतलाते हुए बन्ध और बन्ध के हेतुओं को हेय तथा मोक्ष और मोक्ष के कारणों को उपादेय बतलाया है। कर्म बन्ध के कारण मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्या चारित्र को हेय और दुरगति एवं दुःख का हेतु बतलाया है क्योंकि उनमे मोह-या ममकार तथा अहंकार की उत्पत्ति आदि संसार दुःख के कारणों का संचय होता है इसीसे ऐसा कहा है। और सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र को उपादेय और सुख का कारण बतलाया। क्योंकि इन तीनों को धर्म बतलाया है।[1] आत्मा का मोह क्षोभ से रहित परिणाम धर्म है। और इन तीनों की एकता मोक्ष का मार्ग है। इसी से इन्हें उपादेय कहा है।

कर्म बन्ध की निवृत्ति के लिये ध्यान की आवश्यकता बतलाते हुए ध्यान, ध्यान की सामग्री और उसके भेदों आदि का सुन्दर स्वरूप निर्दिष्ट किया है। एकाग्रचित्त से पंच परमेष्ठियों के स्वरूप का चिन्तन स्वाध्याय है आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि जो अरहंत को द्रव्यत्व गुणत्व और पर्यायत्व के द्वारा जानता है वह आत्मा को जानता है और उसका मोह क्षीण हो जाता है। स्वाध्याय से ध्यान का अभ्यास करे और स्वाध्याय से ध्यान का, क्योंकि ध्यान और स्वाध्याय से परमात्मा का प्रकाश होता है (तत्त्वा० (८१))। ध्यान का विशद विवेचन करते हुये ध्यान की महत्ता और उसका फल बतलाया है ध्यान को निर्जरा का हेतु और संवर का कारण बतलाया है[2]। ध्यान की स्थिरता के लिये मन और इन्द्रियों का दमन आवश्यक है। इन्द्रिय की प्रवृत्ति में मन ही कारण है। मन की सामर्थ्य से इन्द्रियां अपना कार्य करती है, अतएव मन का जीतना जरूरी है[3]। ज्ञान वैराग्य रूप रज्जू (रस्सी) से उन्मार्गगामी इन्द्रिय रूप अश्वों (घोड़ों) को वश में किया जाता है[4], क्योंकि इन्द्रियोंका असंयम आपत्ति का कारण है और उनका जीतना या वश में करना सम्पदा का मार्ग है। अतएव उनका नियमन जरूरी है। मन का व्यापार नष्ट होने पर इन्द्रियों की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। जिस तरह वृक्ष की जड़ के विनष्ट होने पर पत्ते भी नष्ट हो जाते हैं[5]। मन को जीतने के लिये स्वाध्याय में प्रवृत्त होना चाहिए। और अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) का चिन्तवन करना चाहिए। इससे मन को स्थिर करने में सहायता मिलती है। इस तरह यह अपने विषय की महत्व-पूर्ण कृति हैं, इसका मनन करने से आत्मज्ञान की वृद्धि होती है। स्वाध्याय प्रेमियों के लिये अत्यन्त उपयोगी है।

---

१. सदृष्टि ज्ञान वृत्तानिधर्म धर्मेश्वराः विदुः।
रत्नकरण्ड श्रावकाचार

२. तद् ध्यान निर्जरा-हेतु सवरस्य च कारणम् (तत्त्वानुशासन ५६

३. इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मनः प्रभुः।
मनएव जयेत्तस्माज्जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः ॥७६॥तत्त्वानु०

४. ज्ञान-वैराग्य-रज्जुभ्यां नित्यमुत्पथवर्तिनः :
जित चित्तेन शक्यन्ते धर्तु मिन्द्रियवाजिनः ॥ तत्वा० ७७

५. णट्ठे मणवावारे विसएसुण जंति इंदिया सव्वे।
छिण्णे तरुस्स मूले कत्तो पुण पल्लवा हुंति ॥ ६६आराधनासार

रचना काल

रामसेन ने अपने ग्रन्थ में रचना काल नहीं दिया और न उसके रचना स्थान आदि का ही उल्लेख किया है इससे ग्रन्थ के रचना काल पर प्रकाश डालने के लिये कठिनाई उपस्थित होती है। ग्रन्थोल्लेखों, प्रशस्तियों शिलालेखों और ताम्रपत्रादि में भी ऐसा कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। जिससे ग्रन्थ के रचना काल पर प्रकाश पड़ता। अतएव अन्य साधन सामग्री पर से रचना काल पर विचार किया जाता है।

जिनसेनाचार्य के शिष्य गुणभद्राचार्य द्वारा रचित उत्तरपुराण के ६४वें पर्व में भगवान कुन्थुनाथ के चरित को समाप्त करते हुए निम्न पद्य दिया है:—

देह ज्योतिषि यस्य शक्र सहिताः सर्वेपि मग्नाः सुराः।
ज्ञान ज्योतिषि पंच तत्त्व सहितं मग्नं नभश्चाखिलम्।
लक्ष्मी धाम दधद्विधूतविततध्वावन्तः सधामद्वय—
पंथानं कथयत्वनन्तगुणभृत् कुन्थुर्भवान्तस्य वः ॥५५

इस पद्य के साथ तत्त्वानुशासन के अन्तिम निम्न पद्य का अवलोकन कीजिए:—

देहज्योतिषि यस्य मज्जन्ति जगत् दुग्धाम्बुराशाविव
ज्ञानज्योतिषि च स्फुटत्यतितरामो भूर्भवः स्वस्त्रयी।
शब्द-ज्योतिषि यस्य दर्पण इव स्वार्थश्चकासन्त्यमी।
स श्रीमानमरार्चितो जिनपतिज्योतिस्त्रयायाऽस्तु नः ॥२५६

इस पद्य में उत्तर पुराण के पद्य से जहां महत्व की विशेषता का दर्शन होता है वहां उसके आँशिक अनुसरण का भी पता चलता है और यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि तत्त्वानुशासनकारके सामने अथवा उनकी स्मृति में उक्त पद्य को रचते समय उत्तर पुराण का उक्त पद्य रहा है। इसी तरह का अनुसरण तत्त्वानुशासन के १४८ पद्य में गुणभद्राचार्य रचित आत्मानुशासन के २४३ वें पद्य का भी देखा जाता है। दोनों पद्य इस प्रकार है:—

मामन्यमन्यं मां मत्वा भ्रान्तो भ्रान्तौ भवार्णवे।
नान्योऽहमहमेवाऽहमन्योऽन्योन्योऽहमस्ति न ॥

आत्मानुशासन

नान्योऽस्मि नाहमस्त्यन्यो नाऽन्यास्या ऽहं न मे परः।
अन्यस्त्वन्योऽहमेवाऽहमन्योऽन्यस्याऽहमेव मे ॥ १४८

तत्त्वानुशासन

इससे स्पष्ट है कि रामसेन के सामने गुणभद्राचार्य का आत्मानुशासन भी रहा है। आचार्य गुणभद्र का समय विक्रम की १०वीं शताब्दी का पूर्वार्ध पाया जाता है; क्योंकि उत्तर पुराण की अन्तिम प्रशस्ति के २८वें पद्य से ३७ वें पद्य तक गुणभद्राचार्य के प्रमुख शिष्य लोकसेन कृत प्रशस्ति में उसका समय शक सं० ८२०, सन् ८३८ (वि० सं० ९५५) दिया है,[1] यह उसके रचना काल का समय नहीं है किन्तु उत्तर पुराण के पूजोत्सव का काल है, जैसा कि उसके निम्न वाक्य—"भव्यः वर्यैः प्राप्तेज्यं सर्वसारं जगति विजयते पुण्यमेतत्पुराणम्"—से जाना जाता है। पूजोत्सव का यह समय रचना काल से अधिक बाद का मालूम नहीं होता। यदि उसमें से पांच वर्ष का समय ग्रन्थ की लिपि आदि का निकाल दिया जाय तो शक सं० ८१५ (वि० सं० ९५०) के लगभग उत्तर पुराण का रचना काल निश्चित होता है। इस तरह तत्त्वानुशासन के निर्माण समय की पूर्व सीमा वि० सं० ९५० स्थिर हो जाती है। इससे पूर्व की वह रचना नहीं है। किन्तु दशवीं शताब्दी के अन्तिम चरण की जान पड़ती है।

जयसेन के धर्मरत्नाकर के 'सामायिक प्रतिमा-प्रपंचन' नामक १५वें अवसर में तत्त्वानुशासन के निम्न पद्य को अपने ग्रन्थ का अंग बनाया गया है, जो तत्त्वानुशासन का १०७वां पद्य है:—

---

१. शकनृपकालाभ्यन्तर विंशत्यधिकाष्ट शतमिताब्दान्ते।
मङ्गल महार्थकारिणि पिङ्गलनामनि समस्तजन सुखदे ॥३५॥ —उत्तर पुराण प्रश०

अकारादि हकारान्ता मंत्राः परमशक्तयः ।
स्वमंडलगताः ध्येया लोकद्वयफलप्रदाः ।।

धर्म रत्नाकर का रचना काल स० १०५५ है ।[1] अतः तत्त्वानुशासन इससे पूर्ववर्ती रचना है:—

आचार्य अमितगति द्वितीय के उपासकाचार में एक पद्य निम्न प्रकार पाया जाता है:—

अभ्यस्यमानं बहुधास्थिरत्वं यथैति दुर्बोध मयीह शास्त्रम् ।
शूनं तथा ध्यान मपीतिमत्वा ध्यानं सदाभ्यस्तु मोक्तु कामः ।।

उपासकाचार १०—१११

ध्यान विषय की प्रेरणा करने वाला यह पद्य तत्त्वानुशासन के निम्न पद्य से प्रभावित तथा अनुसरण को लिये हुए है:—

यथाभ्यासेन शास्त्राणि स्थिराणि स्युर्महान्त्यपि ।
तथा ध्यानमपि स्थैर्यं लभतेऽभ्यास वर्तिनाम् ।।८८

इन. अमितगति द्वितीय के दादा गुरु अमितगति (प्रथम) द्वारा रचित योगसार प्राभृत १९ वें अधिकार में एक पद्य निम्न प्रकार से उपलब्ध होता है ।

येन येनैव भावेन युज्यते यंत्रवाहकः ।
तन्मयस्तत्रतत्रापि विश्वरुपो मणिर्यथा ।।५१

यह पद्य तत्त्वानुशासन के १९१ पद्य के साथ सादृश्य रखता है:—

येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मान मात्मवित् ।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ।।१९१।।

अमितगति प्रथम का समय विक्रम की ११वीं शताब्दी का प्रथम चरण है । द्रव्य संग्रह के टीकाकार ब्रह्मदेव ने तत्त्वानुशासन से (८३-८४) ये दो पद्य ग्रन्थ के नामोल्लेख के साथ उद्धृत किये हैं । ब्रह्मदेव का समय विक्रम की ११वीं शताब्दी का अन्तिम चरण और १२वीं का पूर्वार्ध है । इससे स्पष्ट है कि रामसेन अमितगति प्रथम और ब्रह्मदेव ११ वीं शताब्दी से पूर्ववर्ती हैं ।

तत्त्वानुशासन पर आचार्य अमृतचन्द्र के ग्रन्थों का साहित्यिक अनुसरण एवं प्रभाव परिलक्षित है । तत्त्वार्थसार के ७ वें ८वें पद्यों का तत्त्वानुशासन के ४-५ पद्यों पर स्पष्ट प्रभाव है और साहित्यिक अनुसरण है । इससे तत्त्वानुशासन की रचना अमृतचन्द्राचार्य के बाद हुई है । सप्त तत्त्वों में हेयोपादेय का विभाग करने वाले वे पद्य इस प्रकार हैं:—

उपादेय तया जीवोऽ जीवोहेयतयोदितः ।
हेयस्यास्मिन्नुपादान हेतुत्त्वेनाऽ स्रवः स्मृतः ।।७
संवरो निर्जरा हेय-हान-हेतु-तयोदितौ ।
हेय-प्रहाणरूपेण मोक्षो जीवस्य दर्शितः ।। तत्त्वार्थसार
बन्धो निवन्धनं चास्य हेयमित्युपदर्शितम् ।
हेयस्याऽ शेष दुःखस्य यस्माद् बीजमिदं द्वयम् ।।४
मोक्षस्तत्कारणं चैतदुपादेय मुदाहृतम् ।
उपादेयं सुखं यस्मादस्मादाविर्भविष्यति ।। तत्त्वानुशासन ।

निश्चय और व्यवहार के भेद से मोक्षमार्ग के दो भेदों का प्ररूपक तथा उनमें साध्य-साध्यनता-विषयक पद्य भी साहित्यिक अनुसरण को लिये हुए पाया जाता है ।

१. बाणेन्द्रिय व्योम सोम-मिते सवत्सरे शुभे । (१०५५)
ग्रन्थोऽय सिद्धता यातिः सबलीकरहाटके ।। —धर्मरत्नाकर प्रश०

आचार्य अमृतचन्द्र का समय विक्रम की १० वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। पट्टावली में उनके पट्टारोहण का समय जो वि० सं० ९६२ दिया है, वह ठीक जान पड़ता है ; क्योंकि सं० १०५५ में बनकर समाप्त हुए 'धर्म-रत्नाकर' में अमृतचन्द्राचार्य के पुरुषार्थ सिद्धयुपाय से ६० पद्य के लगभग उद्धृत पाये जाते हैं।[1] इससे अमृतचन्द्र सं० १०५५ से पूर्ववर्ती हैं। पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने अमृतचन्द्र का समय १० वीं शताब्दी तृतीय चरण बतलाया है और रामसेन का १० वीं शताब्दी का चतुर्थ चरण है।

इन्द्रनन्दी (ज्वालामालिनी ग्रन्थ के कर्ता)

प्रस्तुत इन्द्रनन्दी योगीन्द्र वे हैं जो मंत्र शास्त्र के विशिष्ट विद्वान थे। यह वासवनन्दी के प्रशिष्य और बप्पनन्दी के शिष्य थे। इन्होंने हेलाचार्य द्वारा उदित हुए अर्थ को लेकर 'ज्वालिनी कल्प' नाम के मंत्र शास्त्र की रचना की है। इस ग्रन्थ में मन्त्रि, ग्रह, मुद्रा, मण्डल, कटु, तैल, वश्यमंत्र, तन्त्र, वपनविधि, नीराजनविधि और साधन विधि नाम के दस अधिकारों द्वारा मंत्र शास्त्र विषय का महत्व का कथन दिया हुआ है। इस ग्रन्थ की आद्य प्रशस्ति के २२वें पद्य में ग्रन्थ रचना का पूरा इतिवृत्त दिया हुआ है। और बतलाया है कि देवी के आदेश से 'ज्वालिनीमत, नाम का ग्रन्थ हेलाचार्य ने बनाया था। उनके शिष्य गंगमुनि, नीलग्रीव और बीजाब हुए। आर्यिका क्षांतिरसब्बा और विरुवट्ट नाम का क्षुल्लक हुआ। इस तरह गुरु परिपाटी और अविच्छिन्न सम्प्रदाय से आया हुआ उसे कन्दर्प ने जाना और उसने गुणनन्दी नामक मुनि के लिये व्याख्यान किया, और उपदेश दिया। उनके समीप उन दोनों ने उस शास्त्र को ग्रन्थतः और अर्थतः इन्द्रनन्दी मुनि के प्रति भले प्रकार कहा। तब इन्द्रनन्दि ने पहले क्लिष्ट प्राक्तन शास्त्र को हृदय में धारण कर ललित आर्या और गीतादिक में हेलाचार्य के उक्त अर्थ को ग्रन्थ परिवर्तन के साथ सम्पूर्ण जगत को विस्मय करने वाला जनहितकर ग्रन्थ रचा। अतएव प्रस्तुत इन्द्रनन्दी विक्रम की दशवीं शताब्दी के उपान्त्य समय के विद्वान हैं। क्योंकि इन्होंने ज्वालामालिनी कल्प की रचना शक सं० ८६१ सन् ९३९ (वि० सं० ९९६ में बनाकर समाप्त किया था[3]।

गोम्मटसार के कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने इन्द्रनंदि का गुरु रूप से स्मरण किया है। ये इन्द्रनंदि वही जान पड़ते हैं। जिनके दीक्षा गुरु बप्पनन्दी और मंत्रशास्त्र गुरु गुणनन्दी और सिद्धान्त शास्त्र गुरु अभयनंदी हो

---

१. अनेकान्त वर्ष ८ किरण ४—५ में प्रकाशित अमृतचन्द्र सूरिका समय पृ० १७३

२. यद् वृत्तं दुरितारिसैन्यहनने चण्डासि धारायितम्
चित्तं यस्य शरत्सरत्सलिलवत्स्वच्छं सदाशीतलम्।
कीर्तिः शारद कौमुदी शशिभृतो ज्योत्स्नेव यस्याऽमला
स श्री वासवनन्दि सन्मुनिपतिः शिष्यस्तदीयो भवेत् ॥२॥
शिष्यस्तस्य महात्मा चतुरनुयोगेषु चतुरमति विभवः।
श्रीबप्पणंदिगुरुरिति बुधमधुपनिषेवितपदाब्जः ॥३
लोके यस्य प्रसादादजनि मुनिजनस्तत्पुराणार्थवेदी।
यस्याशास्तंभमूर्धन्यति विमलयशः श्री वितानो निबद्धः।
कालास्तायेन पौराणिक कविवृषभा द्योतितास्तत्पुराण—
व्याख्यानाद् बप्पणंदि प्रथितगुण-गणस्तस्य किं वर्ण्यतेऽत्र॥२

३. अष्टशतस्यैकषष्ठि प्रमाणशकवत्सरेष्वतीतेषु।
श्रीमान्यखेट कंटके पर्वण्यक्षय तृतीयायाम् ॥
शतदलसहितचतुःशत परिमाणग्रन्थ रचनयायुक्तम्
श्रीकृष्णराज राज्ये समाप्तमेतन्मत देव्याः ॥
देखो ज्वालामालिनी कल्प कारंजाभंडार प्रशस्ति। जैन साहित्य संशोधक खण्ड-२ अंक ३, पृ० १४ -१५६

जाते हैं। यदि यह कल्पना ठीक है तो नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के गुरु इन्द्रनंदी का ठीक पता चल जाता है। समय की दृष्टि से भी नेमिचन्द्र और इन्द्रनंदी का सामंजस्य बैठ जाता है। इन्द्रनंदी ने इस ग्रन्थ की रचना मान्यखेट (मलखेडा) के कटक में राजा श्रीकृष्ण के राज्यकाल में शक संवत ८६१ (सन् ६३६) में की थी।

गुरुदास

गुरुदास—यह कौण्ड कुन्दान्वयी श्रीनंदनंदी के शिष्य और श्रीनंदीगुरु के चरण कमलों के भ्रमर थे, जिन्हें जीत शास्त्र (प्रायश्चित्य शास्त्र) में विदग्ध और सिद्धान्तज्ञ बतलाया है। वे गुरुदास के पूर्ववर्ती बड़े गुरु भाई के रूप में हुए हैं। वृषभनंदी गुरुदास से भी उत्तरवर्ती हैं। गुरुदास को तीक्ष्णमती और सरस्वतीसूनु लिखा है। वे बड़े भारी विद्वान और ग्रंथकर्ता थे। वृषभनंदी ने जीतसार समुच्चय में लिखा है कि—

श्रीनंदनन्दिवत्सः श्रीनंदिगुरुपदाब्ज-षट्चरणः।
श्रीगुरुदासोनंद्या तीक्ष्णमतिः श्री सरस्वती सूनुः॥

इनके द्वारा बनाया हुआ चूलिका सहित प्रायश्चित ग्रंथ अपूर्व रचना है। गुरुदास ने अपना कोई समय नहीं दिया। परन्तु जान पड़ता है कि गुरुदास विक्रम की दशवीं शताब्दी के उपान्त्य समय और ११वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के विद्वान हैं।

बाहुबलिदेव

यह व्याकरण शास्त्र के विद्वान आचार्य थे। उस समय रविचन्द्र स्वामी, अर्हनंदी, शुभचन्द्र भट्टारक देव, मौनीदेव, और प्रभाचंद्र नाम के मुनिगण विद्यमान थे। शाका ६०२ (वि० सं० १०३७) में राजा शान्तिवर्मा ने आचार्य बाहुबलिदेव के चरणों में सुगंधवर्ती (सौन्दत्ति) के जैन मंदिरों के लिये १५० एक सौपचास मत्तर भूमि प्रदान की थी[1]।

भुवनैक मल्ल चालुक्य वंशीय सत्याश्रय के राज्य में लट्टलूरपुर के महामण्डलेश्वर कार्तिवीर्य द्वि० सेन प्रथम के पुत्र थे। उस समय रविचंद्र स्वामी और अर्हनन्दी मौजूद थे।

कनकसेन

यह कुमारसेन के प्रशिष्य और वीरसेन के शिष्य थे। इन्हें श्रीकृष्ण वल्लभ के सामन्त विनयाम्बुधि के प्रदेश धवल में मूल्लगुन्द नगर के जिन मंदिर के लिये, जिसे चदार्य के पुत्र चिकार्य ने बनवाया था। अरसार्य ने दान दिया था। इस दान का उल्लेख सेनवंश के मूलगुन्द के शक सं० ८२४ (वि० सं० ६५६) के लेख[2] में हुआ है। जैसा कि उसके निम्न पद्य से प्रगट है

शकनृपकालेष्टशते चतुरुत्तरविंशदुत्तरे संप्रगते।
दुंदुभिनाम्नि वर्षे प्रवर्तमाने जनानुरागोत्कर्षे॥

सर्वनन्दि भट्टारक

यह कुन्दकुन्द आम्नाय के विद्वान थे। इनके समय का एक शिलालेख मिला है जिसमें कुन्दकुन्दआम्नाय के (मिट्टी के पात्र धारी) भट्टारक के शिष्य सर्वनन्दि भट्टारकने कोप्पल के पहाड़ पर निवासकर वहां के लोगों को अनेक उपदेश दिये। और बहुत समय तक कठोर तपश्चरण कर सन्यासविधि से शरीर का परित्याग किया। यह शिलालेख शक सं० ८०३ (वि० सं० ६३८) का है। इससे ये विक्रम की दशवीं शताब्दी के आचार्य थे।[3]

---

१. (See Indian Antiquary V. IV p. 279–80)

२. जैन लेख सं० भा० २ पृ० १५८-६

३. (See Jainism in South India p. 424

नागवर्म प्रथम

नागवर्म नाम के दो कवि हो गए हैं। एक छन्दोम्बुनिधि और कादम्बरी का रचयिता और दूसरा काव्यावलोकन, वस्तु कोश और कर्नाटकभाषा भूषणादि ग्रन्थों का कर्ता।

इनमें प्रथम नागवर्म वेंगीदेशके बेंगीपुर नगर के रहने वाले कौंडिय्य गोत्रीय बेन्नामय्य ब्राह्मण का पुत्र था। इसकी माता का नाम पोलकव्वे था। इसने अपने गुरु का नाम अजितसेनाचार्य बतलाया है। रक्कसगंगराज जिसने ईसवी सन् ६८४ से ६६६ तक राज्य किया है और जो गंगवंशीय महाराज राचमल्ल का भाई था, इसका पोषक था। चामुंडराय की भी इस पर कृपा रहती थी। कवि होकर भी यह बड़ा वीर और युद्ध विद्या में चतुर था। कनड़ी में इस समय छन्द शास्त्र के जितने ग्रन्थ प्राप्य हैं उनमें इसका 'छन्दोम्बुनिधि' सबसे प्राचीन माना जाता है। यह ग्रन्थ कवि ने अपनी स्त्री को उद्देश्य करके लिखा है। इसका दूसरा ग्रन्थ बाणभट्ट के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'कादम्बरी' का सुन्दर पद्यमय अनुवाद है। पर ग्रन्थों के मंगलाचरण में न जाने शिवादि की स्तुति क्यों की है?

इसका समय ईसा की १०वीं शताब्दी है।

नागवर्मद्वितीय

नागवर्म दूसरा—यह जातिका ब्राह्मण था। इसके पिता का नामदामोदर था। यह चालुक्य नरेश जगदेक मल्लका सेनापति और जन्न कवि का गुरु था। कनड़ी साहित्य में इसकी 'कवितागुणोदय' के नाम से ख्यात है। अभिनव शर्ववर्म, कविकर्णपूर और कविता गुणोदय ये उसकी उपाधियाँ थी। वाणिवल्लभ, जन्न, साल्व आदि कवियों ने इसकी स्तुति की है। इसके बनाये हुए काव्यावलोकन कर्णानाटक भाषा भूषण, और वस्तु कोश ये तीन ग्रन्थ हैं। इसमें पांच अध्याय हैं। पहले भाग में कनड़ी का व्याकरण है। नृपतुंग (अमोघवर्ष) के अलंकार शास्त्र की अपेक्षा यह विस्तृत है। कर्णाटक भाषा भूषण संस्कृत में भाषा का उत्कृष्ट व्याकरण है। मूलसूत्र और वृत्ति संस्कृत में है। और उदाहृण कनड़ी में। उपलब्ध कनड़ी व्याकरणों में—जो कि संस्कृत सूत्रों में है—यह सबसे पहला और उत्तम व्याकरण है। इसी को आदर्श मान कर सन् १६०४ में भट्टाकलंक (द्वितीय) ने कनड़ी का शब्दानुशासन नामका विशाल व्याकरण संस्कृत में बनाया है। यह व्याकरण मैसूर सरकार की ओर से छप चुका है। वस्तु कोश कनड़ी में प्रयुक्त होने वाले संस्कृत शब्दों का अर्थ बतलाने वाला पद्यमय निघण्टु या कोश है। वररुचि, हलायुध, शाश्वत, अमरसिंह आदि के ग्रन्थ देखकर इसकी रचना की गई है। इसका समय ११३६ ई० से ११४६ ईस्वी है।

आचार्य महासेन

यह लाड़ बागड संघ के पूर्णचन्द्र, आचार्य जयसेन के प्रशिष्य और गुणाकर सेनसूरि के शिष्य थे। आचार्य महासेन सिद्धान्तज्ञ, वादी, वाग्मी और कवि थे, तथा शब्दरूपी ब्रह्म के विचित्र धाम थे। यशस्वियों द्वारा मान्य और सज्जनों में अग्रणी एवं पाप रहित थे और परमार वंशी राजा मुंज के द्वारा पूजित थे[1]। ये सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप की सीमा स्वरूप थे, और भव्यरूपी कमलों को विकसित करने वाले बान्धव थे—सूर्य थे। तथा सिन्धुराज के महामात्यपर्पट द्वारा जिनके चरण कमल पूजित थे उन्हीं के अनुरोध से कवि ने प्रद्युम्न चरित की, रचना की है[2]। और राजा के अनुचर विवेकवान मधन ने इसे लिखकर कोविद जनों को

---

१. तच्छिष्यो विदिता खिलोरुसमयो वादी च वाग्मी कविः
शब्दब्रह्मविचित्रधामयशसां मान्यां सतामग्रणीः।
आसीत् श्रीमहासेनसूरिरनघः श्रीमुंजगजार्चितः॥
सीमा दर्शनबोधप्रत्ततपसां भव्याब्जनीवान्धवः॥३

२. श्री सिन्धुराजस्य महत्तमेन श्री पर्पटेनार्चितपादपद्मः।
चकार तेनाभि हितः प्रबन्धं, स पावनं निष्ठित मङ्गजम्य॥ —प्रद्युम्न चरित प्रशस्ति

दिया[3]।

आपकी कृति 'प्रद्युम्न चरित' नामक महाकाव्य है। जिसके प्रयेतक सर्ग की पुष्पि का में—'श्रीसिन्धुराज सत्क महामहत्तम श्री पर्पट गुरोः पंडित श्रीमहासेनाचार्यस्य कृते। वाक्य उल्लिखित मिलता है जिससे स्पष्ट है कि पर्पट महासेन केशिष्य थे। और जैन धर्म के संपालक थे। यह एक सुन्दर काव्य-ग्रन्थ है। इस में १४ सर्ग हैं, जिनमें श्री कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न कुमार का जीवन परिचय अंकित किया गया है, जो कामदेव थे। जिसे कवि ने ससार-विच्छेदक बतलाया है। इसकी कथा वस्तु का आधार स्रोत हरिवंश पुराण है। हरिवंश पुराण में यह चरित ४७वें सग के २०वें पद्य से ४८वें सर्ग के ३१वें पद्य तक पाया जाता है। काव्य का 'कथा भाग बड़ा ही सुंदर रस और अलकारों से अलंकृत है। इस ग्रन्थ में उपजाति, वंशस्थ शार्दूलविक्रीडित, रथोद्धता, प्रहर्षिणी, द्रुतविलम्बित, पृथ्वी, अनुष्टुभ, उपेन्द्रवज्रा, हरिणी, स्वागता, मालिनी, ललिता, शालिनी, और वसन्ततिलका आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है। कथा का नायक पौराणिक व्यक्ति है परन्तु उसका जीवन अत्यन्त पावन रहा है।

कवि महासेन ने ग्रंथ में रचना काल नहीं दिया,किन्तु शिलालेखों आदि पर से मुंज और सिन्धुल का काल निश्चित है। राजा मुंज के दो दानपत्र वि० सं० १०३१ और १०३६ के मिले हैं। सं० १०५० और सं० १०५४ के मध्य किसी समय तैलपदेव ने मुंज का वध किया था। इन्हीं राजा मुंज के समय १०५० में अमितगति द्वितीय ने अपना सुभाषितरत्नसन्दोह समाप्त किया था। अतः यही समय आचार्य महासेन का होना चाहिए। यह ईसा की १०वीं शताब्दी के आचार्य हैं।

आदि पंप

इनका जन्म सन् ९०२ में ब्राह्मण कुलमें हुआ था। पिता का नाम अभिरामदेवराय था। जो पहले वेदानुयायी था और बाद को वह जैनधर्म का उपासक हो गया था। यह पुलिगेरी चालुक्य राजा अरिकेशरी का दरबारी कवि और सेनापति था। और कनड़ी भाषा का श्रेष्ठ कवि समझा जाता था। इसकी दो कृतियां उपलब्ध हैं। एक आदि पुराण और दूसरा भारतचम्पू। आदि पुराण गद्य-पद्यमय चम्पू है, जिसे कवि ने ३९ वर्ष की अवस्था में तीन महीने में बनाकर समाप्त किया था। ग्रन्थ में १६ परिच्छेद या अध्याय हैं। इस ग्रन्थ का गद्य ललित, हृदयंगम, गंभीराशय और भावपूर्ण है और पद्य मोती की लड़ियों के समान है। भाषा शैली सर्वोत्कृष्ट है। इस ग्रन्थ के आदि में समन्तभद्र, कवि परमेष्ठी, पूज्यपाद, गृद्धपिच्छाचार्य, जटाचार्य, श्रुत कीर्ति, मलधारि, सिद्धान्त मुनीश्वर, देवेन्द्र मुनि, जयनंदि मुनि और अकलंक देव का उल्लेख किया है।

कवि की दूसरी कृति भारतचम्पू' है जिसे कवि ने छह महीने में बनाकर पूर्ण किया था। इसमें १४ आश्वास हैं। जिसमें पाण्डवों के जन्म से लेकर कौरवों के वध तक की घटना अंकित है। और राज्याभिषेक हो चुकने पर ग्रन्थ समाप्त किया गया है। यह ग्रन्थ कनड़ी साहित्य में वे जोड है इसमें कवि को आश्रय देने वाले राजा अरिकेसरी का अर्जुन के साथ साम्य दिखलाया गया है। इस ग्रन्थ की रचना से प्रसन्न होकर अरिकेसरी ने कवि को बच्चे सासिर' प्रान्त का 'धर्मपुर नाम का एक ग्राम भेंटस्वरूप दिया था। कवि ने यह ग्रन्थ शक सं० ८६३ सन् ९४१ और वि० सं० ९९८) में बनाकर समाप्त किया था। अतः कवि दशवीं शताब्दी के विद्वान है।

कवि पौन्न

पौन्न कनड़ी भाषा का प्रसिद्ध कवि हुआ है। कवि चक्रवर्ती, उभयचक्रवर्ती, सर्वदेव कवीन्द्र और सौजन्य कुन्दांकुर आदि इसकी उपाधियां थीं। इसके गुरु का नाम इन्द्रनंदि था। कन्नड़ साहित्य में पम्प, पौन्न और रन्न ने

---

३. श्री भूयतेरनुचरो मघनो विवेकी श्रृंगार भावधनसागररागसारं।
काव्यं विचित्र परमाद्भुतवर्ण-गुम्फं संलेख्य कोविद जनाय ददौ सुवृत्तं ॥६
वही प्रशस्ति

असाधारण ख्याति पाई है। पौन्न तो बाण की बराबरी करते हैं। नयसेन ने अपने धर्मामृत के ३६ वें पद्य के निम्न वाक्य द्वारा '**असगन देसि पोन्नत महोत्तन तिवेत्त वेडगुं,**—असग और पौन्न का नामोल्लेख किया है। पौन्न ने स्वयं शान्तिनाथ पुराण (९५० ई०) में कन्नड़ कविता में अपने को—'**कन्नडकवितेयोल असगम्**, वाक्य द्वारा असग के समान होना बतलाया है। राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय ने जिसका दूसरा नाम अकालवर्ष था। इनका राज्य काल शक सं० ८६७ से ८९४, (सन् ९४५ से ९७२) तक था। इसे उभयकवि चक्रवर्ती का सम्मान सूचक पद प्रदान किया था, ऐसा जन्न के यशोधर चरित्र से जो ईस्वी सन् १२०९ में बना है मालूम होता है दुर्गसिंह (सन् ११४५) के एक पद्य से भी इसका साक्ष्य मिलता है। इसके बनाये हुए शान्तिनाथ पुराण और जिनाक्षर माला ये दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं। शान्तिनाथ पुराण, जिसमें सोलहवें तीर्थंकर का जीवन वृत्त अंकित है। गद्य-पद्य मय चम्पूकाव्य है। इसके बारह आश्वास हैं। इस ग्रन्थ को कवि पुराण चूड़ामणि भी कहते हैं। इसकीक विता बहुत ही सुन्दर है।

वेंगी देश के कम्मेनाडिका पुंगनूर नामक गांव के रहने वाले कौंडिन्य गोत्रोद्भव नागमय्य नामक, जैन ब्राह्मण के मल्लय और पुन्निमय्य नाम के दो पुत्र थे' जो बाद में तैलपदेव के सेनापति हो गये थे। अपने गुरु जिनचन्द्र देव के प्रति परोक्ष विनय प्रगट करने के लिए कवि पौन्न से शांतिनाथ पुराण बनाने का अनुरोध किया था। उन्हीं के अनुरोध से इस ग्रन्थ की रचना हुई है ऐसा ग्रन्थ प्रशस्ति पर से ज्ञात होता है।

जिनाक्षर माला छोटी-सी स्तवनात्मक कविता है। जो वर्णानुक्रम से बनाई गई है। शान्तिनाथ पुराण के अन्त के एक पद्य से मालूम होता है कि इस कवि के बनाये हुए दो ग्रन्थ और हैं। एक राम कथा या भुवनंक रामाभ्युदय और दूसरा गतप्रत्यागतवाद। यह दूसरा ग्रन्थ संस्कृत में है। कोई-कोई विद्वान इनका बनाया हुआ अलंकार ग्रन्थ भी बतलाते हैं परन्तु ये तीनों ग्रन्थ अनुपलब्ध है। अजितपुराण के एक पद्य से ज्ञात होता है कि पम्प, पौन्न और रन्न तीनों कवि कन्नड़ साहित्य के रत्न हैं। पौन्न कवि की उत्तरवर्ती जैन-जैनेतर कवियों ने बहुत प्रशंसा की है। पार्श्व पण्डित (ई० सन् १२०६), नयसेन (१११२), नागवर्म (११४५) रुद्रभट्ट (११८०) केशिराज (१२६०) मधुर (१३८०) आदि। इन कवियों के कन्नड़ी ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद होना आवश्यक है जिससे हिन्दी भाषी जनता भी उससे लाभ उठा सके। चूंकि कवि ने अपना शान्तिनाथ पुराण सन् ९५० ई० में बनाया था। अतः कवि का समय १०वीं शताब्दी है।

कवि रन्न

रन्न कवि का जन्म सन् ९४९ ईस्वी में 'मुद्रुबोल' नाम के ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम जिन-वल्लभेन्द्र और माता का नाम अब्वलब्बे था। यह जैनधर्म के संपालक वैश्य (वनिया) थे। आर्थिक स्थिति कमजोर होने के कारण अपना जीवन निर्वाह चूड़ी बेच कर करते थे। इस कारण वे अपनी संतान की शिक्षा का उचित प्रबन्ध नहीं कर पाते थे। किन्तु रन्न जन्म से ही होनहार, सुभग चारित्रवान और उत्तम प्रकृतियों का धनी था। वह मेधावी और भाग्यशाली था। इसको देखते ही अनजान आगन्तुक भी अपनाने लग जाते थे। वह पड़ोसियों के लिये अत्यन्त प्रिय था। उसके माता-पिता का उस पर अपार प्रेम था। उसकी ग्रहण-धारण की शक्ति और प्रतिभा बाल्यकाल से ही आश्चर्य जनक थी। उसने बाल्यकाल में अपना समय अध्ययन में व्यतीत किया था। कुमार अवस्था में भी उसकी विशेष रुचि अध्ययन की ओर थी। आर्थिक परिस्थिति ठीक न होने पर भी उसने अपनी हिम्मत नहीं हारी। किन्तु वह दृढव्रती रह अपने उद्देश्य की पूर्ति करने के प्रयत्न में संलग्न रहता था।

एक दिम वह घर से बंकापुर चला गया। उस समय बंकापुर विद्या का केन्द्र बना हुआ था। वहां कई विद्यालय थे, जिनमें शिक्षा दी जाती थी। वह अजितसेनाचार्य के पास पहुँचा, उनके दर्शन कर उसका मन हर्षित हुआ, उसने उन्हें नमस्कार किया। आचार्य ने पूछा तुम्हारा क्या नाम है और यहाँ किस लिये आये हो। उसने कहा, भगवन्! मेरा नाम रन्न है और यहां विद्याध्ययन करने की इच्छा से आया हूँ। आचार्य ने उसकी रुचि विद्याध्ययन की देख उसकी सब व्यवस्था करा दी। रन्न मेधावी और परिश्रमी छात्र था, उसने बड़ी लगन से वहाँ सिद्धान्त

काव्य, छन्द, अलंकार, कोश और महाकाव्यों का अध्ययन किया। विद्याध्ययन मे उसकी बुद्धि शान पर रखे हुए रत्न के समान चमक उठी। प्रतिभा सम्पन्न विद्वान देखकर आचार्य के हर्ष का ठिकाना न रहा।

आचार्य ने गगराज के मंत्री चामुण्डराय मे उसका परिचय कराया। चामुण्डराय गुणीजनों के आश्रय-दाता तो थे ही, उन्होने तीक्ष्ण बुद्धि और प्रतिभा सम्पन्न युवक को पाकर उसकी सहायता की। वे इसके पोषक थे। अब कवि राज्य मान्य था और राजा की ओर से उसे सुवर्णदण्ड, चवंर, छत्र' हाथी उसके साथ चलते थे। इसकी कविरत्न, कविचक्रवर्ती, कविकुजराकश और उभयभाषाकवि उपाधिया थी। कवि रत्न ने अपनी काव्यकला, कोमल कल्पना, चारू चिन्ता ओरप्रस्फुटित प्रतिभा और प्रसाद गुण यक्त शैली के कारण उसकी तत्कालीन कन्नड विद्वानों पर प्रभुता छा गई थी। इससे उसे असाधारण ख्याति मिली। कवि की इस समय दो कृतिया उपलब्ध है। एक का नाम 'अजितपुराण, और दूसरी कृति का नाम साहस भीम विजय या गदायुद्ध है।

अजित पुराण मे जैनियो के दूसरे तीर्थकर अजितनाथ का जीवन परिचय १२ आश्वासों में अंकित है। यह गद्य पद्यमय चम्पू ग्रन्थ है जिसे काव्यरत्न और पुराण तिलक भी कहते है। कवि ने इस ग्रन्थ की रचना शक सं० ६१५ (सन् ६६३ ई०) वि० स० १०५० मे बनाकर समाप्त की थी। कवि कहता है कि जिस तरह मै इस ग्रन्थ की रचना से 'वैश्यवशध्वज' कहलाया, उसी तरह आदिपुराण की रचना के कारण पप 'ब्राह्मणवशध्वज' कहलाया था।

तैलपदेव (६७३—६६७) के दो सेनापति थे। मल्लप और पुण्यमय्य इनमे से पुण्यमय्य तो अपने शत्रु गोविन्द के साथ लडकर कावेरी नदी के तट पर मारा गया। और मल्लप तैलिपदेव के स्वर्गवासी होने के बाद आहव मल्ल के राजा होने पर (सन् ६६७ मे १००८ दस सौ आठ) तक मुख्याधिकारी हुआ। इसकी अतिमब्बे नाम की एक सुन्दर कन्या थी, जो चालुक्य चक्रवर्ती के महामंत्री दल्लिप के पुत्र नागदेव को विवाही थी। नागदेव बालकपन से बड़ा साहसी और पराक्रमी हुआ। अतएव चालुक्य नरेश आहव मल्ल ने प्रसन्न होकर इसे अपना प्रधान सेनापति बनाया। यह अनेक युद्धो मे अपना पराक्रम दिखलाकर विजयी हुआ और अन्त को मारा गया। इसकी लघुपत्नी गुडमब्बे तो इसके साथ सती हो गई, किन्तु अतिमब्बे अपने पुत्र अन्नगदेव की रक्षा करती हुई व्रत निष्ठ होकर रहने लगी। इसकी जैनधर्म पर अगाध श्रद्धा थी। इसने सुवर्णमय और रत्नजटित एक हजार जिन प्रतिमाएं बनवाकर स्थापित की। और लाखो रुपयों का दान किया। इस दानशीला स्त्रीरत्न के सन्तोष के लिए कविरत्न ने उक्त अजितपुराण की रचना की थी। ऐसा उस ग्रन्थ की प्रशस्ति मे ज्ञात होता है।

साहस भीमविजय या गदा युद्ध—यह दस आश्वासों का गद्य-पद्यमय चम्पू ग्रन्थ है। इसमें महाभारत की कथा का सिंहावलोकन करते हुए चालुक्य नरेश आहव मल्ल का चरित्र लिखा है। और अपने पोषक आहव मल्लदेव की भीमसेन के साथ तुलना की है। रचना विलक्षण और प्रासाद गुण को लिए हुए है। कर्नाटक कवि चरित के कर्ता ने लिखा है कि रत्न कवि की रचना प्रोढ और सरस है, पद्य प्रवाह रूप और हृदयग्राही है। साहस भीम विजय को पढ़ना शुरू करके फिर छोड़ने को जी नहीं चाहता।

महाभारत युद्ध में कौरव-पाण्डवो की सैन्य शक्ति के क्षय के साथ दुर्योधन के सभी आत्मीयजनों के मारे जाने पर, तथा पाण्डवो के अभिमन्यु जैसे वीर युवक के स्वर्गवासी हो जाने पर, लोगो की यह धारणा हो गई थी कि दुर्योधन अकेला पाण्डवों को विजित नही कर सकता। यद्यपि वह वीर क्षत्रिय, महापराक्रमी, गुरुभक्त, हठी, प्रति काराभिलापी, युद्ध प्रिय एव उदार है, तो भी उसने माता-पिता, भीष्म और सजय द्वारा उपस्थित सधि के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। वह उसी समय सगर्व सजय से कहता है कि ये सबल भुजाएँ और मेरी प्रचड गदा मौजूद है। अतएव मुझे किसी की सहायता की आवश्यकता नही है। अधपिता धृतराष्ट्र पाण्डवों को आधा राज्य देकर सधी करने को प्रार्थना करता है, माता गाधारी भी दीनता से उसका समर्थन करती है। तो भी उस पर उसका कोई प्रभाव नही पड़ता।

अन्त में दुर्योधन और भीम का भीषण गदायुद्ध होता है। उसमें भीम की गदा के प्रहार से दुर्योधन के उरु भग हो गए। जिससे वह मरणासन्न हो गया। उरुओं की असह्य पीडा को सहता हुआ भी दुर्योधन पाडवो से बदला लेने के लिए अश्वत्थामा से कहता है कि पाडवो को मार कर उनके मस्तक लाकर मुझे दिखलाओ जिससे मेरे प्राण-शान्ति से निकल सके।

इसमें सन्देह नहीं कि दुर्योधन महा अभिमानी और ईर्षालु और कौरवों का पक्षपाती था। वह पांडवों को निर्दोप म.नता हुआ भी उनके प्रतिकार करने की भावना रखता था। फिर भी उसमें कुछ मानवोचित गुण भी थे, उनका सर्वथा भुलाया नहीं जा सकता। जब वह युद्ध स्थल में मारे गए अपने स्नेही और गुरुजनों आदि को देखता है तब वह उनके प्रति स्वाभाविक गुरु भक्ति प्रकट करता हुआ स्नेही जनों के वियोग से खिन्न होता है। और उनके विनाश में दुर्नय एवं दुष्टता का कारण मानता हुआ पश्चाताप करता है। और भीष्म के चरणों में पड़ कर उनसे क्षमा मागता है। आगे शत्रुकुमारों में पराक्रमी बालक अभिमन्यु को देखता है तब उसके साहस और वीरता का मुक्त कंठ से प्रशसा करता हुआ दुर्योधन हाथ जोड़कर प्रार्थना करता है कि मुझे भी इसी प्रकार वीर मरण प्राप्त हो।

रन्न कवि का 'गदायुद्ध' बहुत ही मार्मिक और वस्तुतत्व का यथार्थरूप में चित्रण करता है। महाभारत में सर्वत्र भीम के साहस की प्रशसा मिलेगी। किन्तु रन्न कवि के गदायुद्ध में दुर्योधन के सामने भीम का साहस निस्तेज (फीका) हो जाता है अधिकांश ग्रन्थ कर्ताओं ने द्रौपदि के वस्त्रापहरण आदि अनुचित घटनाओं के कारण दुर्योधन को कलंकी आदि अपशब्दों से दोषी ठहराया है वह हठी होते हुए भी उसमें उदारता आदि गुण अवश्य थे। भीम भी अभिमानी प्रतापी और साहसी था। उसकी गदा प्रहार से जब दुर्योधन के उरु भंग हो गए। उसकी असह्य पीड़ा से पीडित और रक्त आद्रित मरणासन्न दुर्योधन के मुकुट को लात मारना किसी तरह भी उचित नहीं कहा जा सकता, वह भीम का अनुचित कार्य था। रन्न का दुर्योधन अन्ततक क्षात्र धर्म का पालन करता है। भीम में हंसी आदि कुछ ऐसे दोष भी थे जिनके कारण महा प्रतापी नारायण कृष्ण भी पाण्डवों से विरक्त हो गए थे।

रन्न कवि का 'रन्न कन्द' नाम का एक छोटा-सा कविता ग्रन्थ भी है।

गुणनन्दि

गुणनन्दि—नन्दि संघ देशीय गण के आचार्य बलाकपिच्छ के शिष्य थे। जो भव्यरूपी कमलों को विकसित करने वाले पद्म बन्धु थे। मुनियों के स्वामी देशीय गण में अग्रणीय, और गुणाकर तथा गणधर के समान थे। उनकी विद्वता और महत्ता का सहज ही अनुमान हो जाता है। जैसाकि कि निम्न पद्य मे प्रकट है:—

बभूव भव्याम्बुजपद्मबन्धुः पतिर्मुनीनां गणभृत्समानः।
सदग्रणी देशगणाग्रगण्यो गुणाकरः श्रीगुणनन्दिनामा ॥

श्रवण बेलगोल के ४७ वें शिलालेख में बतलाया गया है कि गुणनन्दि आचार्य के तीन सौ ३०० शिष्य थे। उनमें ७२ सिद्धान्त शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान थे। विबुधगुणनन्दि भी इन्ही के शिष्य थे। विबुधगुणनन्दि के शिष्य अभय नन्दि थे उन शिष्यों में देवेन्द्र सैद्धान्तिक सबसे अधिक प्रसिद्ध थे।[1] इन देवेन्द्र सैद्धान्तिक के एक शिष्य कलधौतनन्दि या कनक नन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती थे जिन्होंने इन्द्रनन्दि गुरु के पास सिद्धान्त शास्त्र का अध्ययन किया था और सत्व स्थान की रचना की थी। इस लेख के उत्कीर्ण होने का समय शक स० १०२९ सन् ११०७ है। किन्तु प्रस्तुत आचार्य का समय उक्त शिलालेख से पूर्ववर्ती है। वे दशवीं शताब्दी के विद्वान् थे।

यशोदेव

यशोदेव—गौड संघ के मान्य मुनि थे। उग्र तप के प्रभाव से जिनका शासन देवता से समागम

---

१. तच्छिष्यो गुणनन्दि पण्डित यतिश्चारित्रचक्रेश्वर—
स्तर्क व्याकरणादि शास्त्रनिपुणस्साहित्य विद्यापतिः!
मिथ्यावादिमदान्धसिन्धुरघटासंघट्टकण्ठीरवो,
भव्याम्भोज दिवाकरो विजयता कन्दर्प्पदर्प्पापहः ॥७॥
तच्छिष्या स्त्रिशताविवेकनिधयश्शास्त्राब्धिपारङ्गता—
स्तेपूत्कृष्टतमा द्विसप्ततिमिता सिद्धान्तशास्त्रार्थक --
व्याख्याने पटवो विचित्रचरितास्तेषु प्रसिद्धो मुनिः।
नानानूननयप्रमाणनिपुणो देवेन्द्रसैद्धान्तिकः ॥८

—जैन लेख सं० भा० १ पृ० ५८-५९

हुआ था[1]। यह महान ऋद्धि के धारक थे। इन्ही के शिष्य नेमिदेव थे, जो स्याद्वाद समुद्र के उस पार तक देखने वाले और परवादियों के दर्परूपी वृक्षों को छेदने के लिये कुठार थे। आचार्य सोमदेव ने नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति में नेमिदेव को ५५ महावादियों को पराजित करने वाला बतलाया है। और यशस्तिलक की प्रशस्ति में ९३ महावादियों को जीतने वाला लिखा है। इनका समय सं० ९७५ होना चाहिये।

नेमिदेवाचार्य

नेमिदेवाचार्य—यह देव संघ के विद्वान यशादेव के शिष्य थे। बड़े भारी विद्वान और वाद विजेता थे। इन्हीं के शिष्य सोमदेव थे। सोमदेव ने अपने गुरु नेमिदेवाचार्य को नीतिवाक्यामृत प्रशस्ति मे पचपन (५५) वादियों का विजेता बतलाया है। जैसा कि उसके निम्न प्रशस्ति वाक्य से प्रकट है :—

'सकलतार्किक चक्रचूडामणि चुम्बित-चरणस्य पंच पंचाशन्महावादि विजयोपार्जित कीर्ति मन्दाकिनी पवित्रित त्रिभुवनस्य, परम तपश्चरणरत्नोदन्वतः श्री मन्नेमिदेव भगवतः' । - नीतिवाक्यामृत प्रशस्ति

वे तार्किक चक्रचूडामणि, और स्याद्वाद रूप रत्नाकर के पारदर्शी तथा परवादियों के दर्प रूपी द्रुमावली को छेदने के लिये 'कुठारनेमि'—कुदाली की—धार थे[2]।

सोमदेवाचार्य ने जब यशस्तिलक चम्पू बनाया, उस समय तक उनके गुरु नेमिदेव ने तेरानवे वादियों को जीत लिया था। जैसाकि यशस्तिलक चम्पू के निम्न पद्य से प्रकट है :—

श्रीमानस्ति देवसंघतिलको देवो यशःपूर्वकः।
शिष्यस्तस्य बभूव सद्गुणनिधिः श्रीनेमिदेवाह्वयः॥
तस्याश्चर्य तपः स्थितेस्त्रिनवते जेतुर्महावादिनां।
शिष्यो भूदिह सोमदेव यतिपस्तस्यैव काव्य क्रमः (—यशस्तिलक चम्पू प्रशस्ति)

इनके बहुत शिष्य थे। जिनमें से एक शतक शिष्यों के अवरज (अनुज) और शतक के पूर्वज सोमदेव थे, ऐसा परभणी के ताम्र पत्र से ज्ञात होता है[3]।

इससे नेमिदेव की विद्वत्ता और महत्ता का सहज ही भान हो जाता है और यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि नेमिदेव उस समय के तार्किक विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ थे। और नीतिवाक्यामृत और यशस्तिलक चम्पू की प्रशस्तियों से यह निश्चित होता है कि वे दोनों रचनाओं के समय मौजूद थे। चूंकि यशस्तिलक की रचना शक सं० ८८१ (वि० सं० १०१६) में हुई है। अतः नेमिदेव उस समय जीवित थे। उसके बाद वे और कितने समय तक जीवित रहे, यह कुछ ज्ञात नही होता। अतएव इनका समय विक्रम की १० वीं शताब्दी का उपान्त्य भाग है।

महेन्द्र देव

महेन्द्रदेव—देव संघ के आचार्य नेमिदेव के शिष्य थे और सोमदेवाचार्य के अनुज और बड़े गुरु

१. श्री गौड़संघे मुनिमान्यकीर्तिनाम्ना यशोदेव इति प्रजज्ञे।
बभूव यस्योग्रतपः प्रभावात्समागमः शासनदेवताभिः ॥१५ —परभणी ताम्रपत्र

२. शिष्योभवत्तस्यमहर्द्धिभाजः स्याद्वादरत्नाकरपारदृश्वा।
श्रीनेमिदेवः परवादिदर्प्पद्रुमावलीच्छेद कुठारनेमिः ॥१६ —वही

३. तस्मात्तपःश्रियो भर्त्तुर्ल्लोकाना हृदयंगमाः।
बभूवुर्बहवःशिष्या रत्नानीव तदाकरात् ॥१७॥
तेषा शतस्यावरजः शतस्य तथाभवत्पूर्वज एव धीमान्।
श्री सोमदेवस्तपसः श्रुतस्य स्थानं यशोधाम गुणोर्जितश्रीः ॥१८ —वही

भाई थे। सोमदेवाचार्य ने नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति में महेन्द्रदेव भट्टारक का अपने को अनुज लिखा है और उन्हें 'वादीन्द्रकलानल बतलाया है। वे उन महेन्द्र देव से भिन्न नहीं है, जिनका उल्लेख रामसेन (तत्त्वानुशासन के कर्ता) ने अपने शास्त्र गुरुओं में किया है। परभणी के ताम्रशासन से ज्ञात होता है[1] कि प्रस्तुत महेन्द्रदेव नेमिदेव के बहुत से शिष्यों में से एक थे। जिनमें एक शतक शिष्यों के अवरज (अनुज) और एक शतक शिष्यो के पूर्वज सोमदेव थे। चूंकि यह ताम्रशासन यशस्तिलक चम्पू की रचना से सात वर्ष बाद शक सं० ८८८ के व्यतीत होने पर वैशाख की पूर्णिमा को लिखा गया है अतः इन महेन्द्रदेव का समय शक सं० ८७० से ८८८ तक सुनिश्चित है अर्थात् महेन्द्रदेव सन् ९४८ से ९६६ ई० के अर्थात् ईसा की १०वी शताब्दी के मध्यवर्ती विद्वान हैं।

कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल प्रथम या द्वितीय ने सोमदेव के गुरु नेमिदेव से दीक्षा ग्रहण की थी; अथवा सोमदेव महेन्द्रपाल राजा का कौटुम्बिक दृष्टि से छोटा भाई था, यह कोरी कल्पना जान पड़ती है। क्योंकि महेन्द्र पाल का 'वादीन्द्र कालानल' विशेषण भी उनके राजत्व का द्योतक नही है। प्रत्युत नीतिवाक्यामृत के टीकाकार ने उन्हें शिव भक्त के रूप में उल्लेखित किया है। तत्त्वानुशासन के कर्ता रामसेन ने अपने विद्याशास्त्री गुरुओं में जिन महेन्द्र देव का नामोल्लेख है, वे सोमदेव के बड़े गुरु भाई ही जान पड़ते है।

सोमदेव

देवसंघ के आचार्य यशोदेव के प्रशिष्य और नेमिदेवाचार्य के शिष्य थे[2]। जो तेरानवे वादियों के विजेता थे। देवसंघ लोक में प्रसिद्ध है। इसकी स्थापना आचार्य अर्हद्बली ने की थी। इस संघ में अनेक विद्वान हो गए हैं। यह अकलंक और देवनन्दि (पूज्यपाद) इसी संघ के मान्य विद्वान थे। यशोदेव, नेमिदेव और महेन्द्रदेव आदि देवान्त नाम इसी देव संघ के द्योतक हैं। नीतिवाक्यामृत प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि सोमदेव महेन्द्रदेव के लघु भ्राता थे। और स्याद्वादाचलसिंह, तार्किक चक्रवर्ती, वादीभपञ्चानन, वाक्कल्लोलपयोनिधि, तथा कविकुलराज, उनकी उपाधियाँ थीं। परभणी ताम्रपत्र में सोमदेव को 'गौड़संघ' का विद्वान लिखा है। ओझा जी के अनुसार प्राचीन काल में गौड़नाम के दो देश थे। पश्चिमी बंगाल और उत्तरी कोशल—अवधका एक भाग, कन्नौज साम्राज्य, का अधिकार भी गौड़पर रहा है।

सोमदेव का संस्कृत भाषा पर विशेष अधिकार था। न्याय, व्याकरण, काव्य, छन्द, धर्म, आचार और राजनीति के वे प्रकाण्ड पंडित थे। महाकवि धर्म शास्त्रज्ञ और प्रसिद्ध दार्शनिक थे। सोमदेव की ख्याति उनके गद्य-पद्यात्मक काव्य यशस्तिलक और राजनीति की पुस्तक नीतिवाक्यामृत से है। यदि इनमें से नीति वाक्यामृत को छोड़ भी दिया जाय तो भी अकेला यशस्तिलक ग्रन्थ ही उनके वैदुष्य के परिचय के लिये पर्याप्त है। उसमें उनके वैदुष्य के अपूर्व रूप दिखाई देते है। संस्कृत की गद्य-पद्य रचना पर उनका पूर्ण प्रभुत्व है। जैन सिद्धान्तों के अधिकारी विद्वान होते हुए भी वे इतर दर्शनों के दक्ष समालोचक हैं। राजनीति के तो वे गंभीर विद्वान हैं ही, इस तरह उनकी दोनों प्रसिद्ध रचनाएं परस्पर में एक दूसरे की पूरक हैं।

नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति का निम्न पद्य इस प्रकार है:—

"सकल समयतर्के नाकलङ्को ऽसि वादि, न भवसि समयोक्तौ हंससिद्धान्तदेवः।
न वचन विलासे पूज्यपादो ऽसि तत्त्वं। वदसि कथमिदानी सोमदेवेन सार्धम्॥'

---

१. तस्मात्तपः श्रियां भर्ता (र्तु) लोकानां हृदयंगमाः।
बभूवुर्बहवःशिष्या रत्नानीव तदाकरात्॥१७
तेषां शतस्यावरजः शतस्य तथा भवत्पूर्वज एव धीमान्।
श्री सोमदेवस्तपसः श्रुतस्य स्थान यशोधाम गुणोर्ज्जितश्रीः॥१८

२. श्री मानस्ति स देवसंघ तिलको देवोयशः पूर्वकः। शिष्यस्तस्य बभूव सद्गुणनिधिः श्रीनेमिदेवाह्वयः।
तस्याश्चर्यतपः स्थितेस्त्रिनवतेर्जेतुर्महावादिनां, शिष्योऽभूदिह सोमदेव इति यस्तस्यैष काव्यक्रमः॥

यह पद्य एक वादी के प्रति कहा गया है कि तुम समस्त दर्शनो के तर्क में अकलंक देव नही हो, और न आगमिक उक्तियो मे हस सिद्धान्त देव हो, न वचन विलास मे पूज्यपाद हो, तब तुम कहो इस समय सोमदेव के साथ कैसे वाद कर सकते हो ?

उसी प्रशस्ति के अन्तिम पद्य मे कहा गया है कि सोमदेव की वाणी वादिरूपी मदोन्मत्त गजो के लिये सिहनाद के तुल्य है। वाद काल में बृहस्पति भी उनके सन्मुख नही ठहर सकता[1]।

सोमदेव ने अपने व्यवहार के सम्बन्ध मे लिखा है कि मै छोटो के साथ अनुग्रह, बराबरी वालों के साथ सुजनता और बड़ो के साथ महान् आदर का वर्ताव करता हू। इस विषय मे मेरा चरित्र बड़ा ही उदार हे। परन्तु जो मुझे ऐठ दिखाता है, उसके लिये, गर्वरूपी पर्वत को विध्वस करने वाले मेरे वज्र वचन कालस्वरूप हो जाते है।

"अल्पेऽनुग्रह धीः समे सुजनता मान्ये महानादरः,
सिद्धान्तोऽय मुदात्त चित्त चरिते श्री सोमदेवे मयि।
यः स्पर्धेत तथापि दर्पदृढता प्रौढिप्रगाढाग्रह—
स्तस्या खर्वितगर्वपर्वतपविर्मद्वाक्कृतान्तायते॥"

आचार्य सोमदेव ने यशस्तिलक की उत्थानिका में कहा है कि जैसे गाय घास खाकर दूध देती है वैसे ही, जन्म से शुष्क तर्क का अभ्यास करने वालो मेरी बुद्धि मे काव्य धारा निसृत हुई है। इससे स्पष्ट है कि सोमदेव ने अपना विद्याभ्यास तर्क से प्रारम्भ किया था और तर्क ही उनका वास्तविक व्यवसाय था। उनकी तार्किक चक्रवर्ती और वादीभ पचानन आदि उपाधियाँ भी इसका समर्थन करती है। यशस्तिलक चम्पू मे ज्ञात होता है कि सोमदेव का अध्ययन विशाल था। और उस समय मे उपलब्ध न्याय, नीति, काव्य, दर्शन, व्याकरण आदि साहित्य से वे परिचित थे।

यद्यपि सोमदेवाचार्य ने अनेक ग्रन्थो की रचना की हे, यशस्तिलक चम्पू, नीतिवाक्यामृत, अध्यात्मतरगिणी (ध्यान विधि) युक्ति चिन्तामणि, त्रिवर्ग महेन्द्रमातलि सजल्प, षण्णवति प्रकरण, स्याद्वादोपनिषत् और सुभाषित ग्रन्थ[2]। इन रचनाओ मे से इस समय प्रारम्भ के तीन ग्रन्थ ही उपलब्ध है। शेष ग्रन्थो का केवल नामोल्लेख ही मिलता है। नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति से ज्ञात होता हे कि सोमदेवाचार्य ने 'षण्णवति' प्रकरण, युक्ति चिन्तामणि सूत्र, महेन्द्रमातलिसजल्प और यशोधरचरित की रचना के बाद ही नीतिवाक्यामृत की रचना की गई है।

यशस्तिलक चम्पू—यशस्तिलक चम्पू के पाच आश्वासो मे गद्य-पद्य मे राजा यशोधर की कथा का चित्रण किया गया है। राजा यशोधर की कथा बडी ही करुणा जनक है। हिंसा के परिणाम का बड़ा ही सुन्दर अकन किया गया है। आटे के मुर्गा मुर्गी बनाकर मारने से अनेक जन्मो मे जो घोर कष्ट भोगने पडे, जिनको सुनने से रोगटे खड़े हो जाते है। आचार्य सोमदेव ने यशोधर और चन्द्रमति के चरित्र का यथार्थ चित्रण किया है। और अवशिष्ट तीन आश्वासो मे उपासकाध्ययन का कथन किया गया है—श्रावक धर्म का प्रतिपादन है। इसमे ४६ कल्प है जिनके नाम भिन्न भिन्न है। प्रथम कल्प का नाम 'समस्तसमयसिद्धान्तावबोधन है। जिसमे सभी दर्शनो की समीक्षा की गई है। दूसरे कल्प का नाम 'आप्तस्वरूप मीमासन' हे, जिसमे आप्त की मीमासा करते हुए उनके देवत्व का निरसन किया है। तीसरे का नाम 'आगमपदार्थ परीक्षण' है—जिसमे पहले देव की परीक्षा करने के बाद उनके वचनो की परीक्षा करने का निर्देश किया गया है। चौथे कल्प का नाम 'मूढतोन्मथन' है जिसमे मूढताओं का कथन किया गया है। इसीतरह अन्य कल्पो का विवेचन किया गया है। इससे स्पष्ट है कि सोमदेव का उपासकाध्ययन कई दृष्टियो से महत्वपूर्ण है। और प्रसगवश जैनधर्म के सिद्धान्तो का विस्तार के साथ प्रतिपादन किया गया है।

१ दर्पान्ध बोधविध सिन्धुरसिहनादे, वादि द्विपोद्दलनदुर्धरवाग्विवादे।
श्री सोमदेवमुनिपे वचना रसाले, वागीश्वरोऽपि पुरतोऽस्ति न वादकाले॥

२. परभणी ताम्रपत्र मे उन्हे सुभाषितो का कर्ता भी लिखा है।

यशस्तिलक मे आपकी नैसर्गिक एवं निखरी हुई काव्य प्रतिभा का पद-पद पर अनुभव होता है। वे महा कवि थे और काव्य कला पर पूरा अधिकार रखते थे। यशस्तिलक में जहा उनकी काव्य-कला का निदर्शन होता है वहा तीसरे अध्याय या आश्वास में राजनीति का, और ग्रंथ के अन्त में धर्माचार्य एव दार्शनिक होने का परिचय मिलता है।

इस ग्रन्थ पर ब्रह्म श्रुतसागर की संस्कृत टीका है। पर वह पूर्वार्ध पर ही है, उत्तरार्ध पर नही है।

आचार्य सोमदेव ने शक सवत ८८१ (९५९ई०) में सिद्धार्थ सवत्सर मे चैत्र मास की मदनत्रयोदशी के दिन, जब कृष्णराज देव (तृतीय) पाण्ड्य, सिंहल, चोल और चेर आदि राजाओं को जीत कर मेलपाटी मे शासन कर रहे थे। वहा मान्य खेट में यशस्तिलक नही रचा गया; किन्तु कृष्णराज के सामन्त चालुक्य वंश अरिकेसरी के ज्येष्ठ पुत्र वागराज की राजधानी गंगधारा मे रचना की थी¹। और इसी सिद्धार्थ संवत्सर मे पुष्पदन्त ने महापुराण की रचना का प्रारम्भ किया था। पुष्पदन्त ने महापुराण की उत्थानिका मे लिखा है कि—'सिद्धार्थ सवत्सर मे, जब चोलराज का सिर, जिस पर केशो का जूडा ऊपर की ओर बधा हुआ था, काट कर राजाधिराज तुडिग (कृष्णराज तृतीय) मेपाडि (मेलपाटी) नगर मे वर्तमान है मै प्रसिद्ध नामवाले पुराण को कहता हूं²।

नीतिवाक्यामृत— राजनीति का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह संस्कृत साहित्य का अनुपम रत्न है। इस का प्रधान विषय राजनीति है। राजा और राज्य शासन से सम्बन्ध रखने वाली सभी आवश्यक बातों का उसमे विवेचन किया गया है। ग्रन्थ गद्य सूत्रों में निबद्ध है। ग्रन्थ की प्रतिपादन शैली प्रभावशालिनी और गंभीर है। आचार्य सोमदेव ने डा० राघवन के अनुसार इस ग्रन्थ की रचना कन्नोज के प्रतिहार राजा महेन्द्रपाल द्वितीय की प्रेरणा मे की थी। इनका एक शिलालेख वि० सं० १००३ का प्राप्त हुआ है और दूसरा वि० स० १००५ का इनके उत्तराधिकारी देवपालका। यशस्तिलक के 'कान्यकुब्ज महोदय' और 'महेन्द्रामर मान्य धी' वाक्य भी उसकी पुष्टि करते हैं। नीतिवाक्यामृत में उसकी रचना का स्थान और समय नही दिया। इस ग्रन्थ पर कनडी भाषा के कवि नेमिनाथ का टीका है, जो किसी राजा के सन्धि विग्रहिक मत्री थे। उन्होंने मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव और वीरनन्दि का स्मरण किया है। नेमिनाथ ने यह टीका वीरनन्दि की आज्ञा मे लिखी है। मेघचन्द्र का स्वर्गवास शक स० १०३७ (वि० स० ११७२) मे हुआ था। और वीरनन्दि ने आचारसार की कनडी टीका शकसवत १०७६ (वि० स० १२११) मे लिखी थी। अतः नेमिनाथ १२वी शताब्दी के अन्त और तेरहवी के प्रारम्भ में हुए है।

तीसरा ग्रन्थ 'ध्यान विधि' या अध्यात्मतरंगिणी है, जिसकी श्लोक संख्या चालीस है। इसमें ध्यान और उसके भेद आदि का वर्णन दिया है। इस पर अध्यात्मतरंगिणी नाम की एक संस्कृत टीका है। जिसके कर्ता मुनि गणधर कीर्ति है। जिसे उन्होंने यह टीका वि० स० ११८९में चैत्र शुक्ला पंचमी रविवार के दिन गुजरात के चालुक्य वंशीय राजा जयसिंह या सिद्धराज जयसिंह के राज्य काल में बनाकर समाप्त की है। जैसा कि उसकी प्रशस्ति के निम्न पद्यों से प्रकट है:—

१. शकनृपकालातीतसंवत्सरशतेष्वष्टस्वेकाशीत्यधिकेषु गतेषु अङ्कतः (८८१) सिद्धार्थ संवत्सरान्तर्गत चैत्र मास मदन त्रयोदश्यां पाण्ड्य-सिंहल-चोल चेरमप्रभृतीन्महीपतीन्प्रसाध्य मेलपाटी प्रवर्धमान राज्यप्रभावे श्रीकृष्णराजदेवे सति तत्पादपद्मोपजीविनः समधिगत पञ्चमहाशब्दमहासामन्ताधिपतेश्चालुक्यकुलजन्मनः सामन्तचूडामणेः श्रीमदरिकेसरिणः प्रथम पुत्रस्य श्रीमद्वद्यगराजस्य लक्ष्मी-प्रवर्धमानवसुधारायां गंगाधारायां विनिर्मापितमिदं काव्यमिति।

—यशस्तिलक प्रशस्ति

२. जं कहमि पुराणु पसिद्धणामु, सिद्धत्थ वरिसि भुवणाहिरामु।
उव्वद्ध जूडु भूभंगभीसु, तोडेप्पिणु चोडहो तणउ सीसु।
भुवणेक्कराम्रु रायाहिराउ, जहि अच्छइ तुडिगु महाणुभाउ।
तं दीण दिण्ण धणकणय पयरु, महि परिभमंतु मेपाडि णयरु॥

—महापुराण उत्थानिका

एकादश शताकीर्णे नवाशीत्युत्तरे परे।
संवत्सरे शुभे योगे पुष्यनक्षत्रसंज्ञके॥
चैत्रमासे सिते पक्षेऽथ पंचम्यां रवौ दिने।
सिद्धा सिद्धप्रदाटीका गणभृत्कीर्तिविपश्चितः॥
निस्त्रशतजितारातौ विजयश्री विराजनि।
जयसिंह देव सौराज्ये सज्जनानन्ददायिना॥

जयसिंह देव का राज्य सं० ११५०से ११९९ तक वहां रहा है। अतः गणधर कीर्ति के उक्त समय में कोई बाधा नहीं आती।

हैदराबाद के परभनी नामक स्थान से एक ताम्रपत्र प्राप्त हुआ है जो यशस्तिलक की रचना से सात वर्ष पश्चात् सोमदेव को दिया गया था। उसमें चालुक्य सामन्तों की वंशावली दी हुई है, जो इस प्रकार है:—

युद्धमल्ल १ अरिकेशरी, नरसिंह (भद्रदेव) युद्धमल्ल वड्डिग १, युद्धमल्ल अरिकेशरी नरसिंह २ (भद्रदेव), अरिकेशरी ३, वड्डिग २ (वाद्यग) और अरिकेशरी ४। इसी वड्डिग द्वितीय या वाद्यग के राज्यकाल ९५९ ई० में सोमदेव ने अपना काव्य रचा था।

इसी ताम्रपत्र में वाद्यग के पुत्र अरिकेसरी चतुर्थ शक सं० ८८८ (९६६ ई०) में शुभधाम नामक जिनालय के जीर्णोद्धारार्थ सोमदेव को एक गांव देने का उल्लेख है। यह जिनालय लेंबुल पाटक नाम की राजधानी में वाद्यग ने बनवाया था।

इससे स्पष्ट है कि उस समय (९६६ ई०) में सोमदेव शुभधाम जिनालय के व्यवस्थापक थे। और अपनी साहित्यिक प्रवृत्ति में संलग्न थे, क्योंकि इस ताम्रपत्र में सोमदेव को यशोधर चरित के साथ-साथ 'स्याद्वादोपनिषत्' नामक ग्रन्थ का भी रचयिता लिखा है।

शोधाङ्क नं० २२ में डा० ज्योतिप्रसाद जी ने सोमदेव सम्बन्धी एक शिलालेख का परिचय दिया है। अस्तगत निजामराज्य के करीम नगर जिले में स्थित 'लेमुलवाड' नामक स्थान में एक पाषाणखण्ड प्राप्त हुआ है। जिसमें संस्कृत के दो पद्य हैं। जिनमें लिखा है कि लेम्बुल पाटक के चालुक्य वंशी नरेश वद्दिगने गौड़ संघ के आचार्य सोमदेव सूरि के उपदेश से (अथवा उनके हितार्थ) उक्त नगर में एक जिनालय का निर्माण कराया था। अभिलेख में सूचित किया है कि यह राजा वद्दिग सपादलक्ष (सवालाख) देश के शासक युद्धमल्ल की पांचवी पीढ़ी में हुआ था। यह वही शुभ धाम जिनालय है जिसके संरक्षण के लिए चालुक्य नरेश अरिकेसरी ने शक सं ८८८ (सन् ९६६ ई) में अपने गुरु सोमदेव को एक ताम्र शासन अर्पित किया था। यह लेख महत्वपूर्ण है इससे शुभधाम जिनालय के स्थल का पता चल जाता है। संभव है वहां खुदाई करने पर और भी अवशेष प्राप्त हो जाय। मूल शिलालेख के वे पद्य भी प्रकाशित होना चाहिए।

त्रैकाल योगीश

मूलसंघ, देशीयगण और पुस्तक गच्छ के विद्वान थे। यह गोल्लाचार्य के विद्वान् शिष्य थे। इन्होंने किसी ब्रह्म राक्षस को अपना शिष्य बना लिया था। उनके स्मरण मात्र से भूतप्रेत भाग जाते थे। इन्होंने करञ्ज के तेल को घृत रूप में परिवर्तित कर दिया था। यह बड़े प्रभावशाली थे।

इनका समय—१०वीं का अन्त और ११वीं शताब्दी का प्रारम्भ होना चाहिए।

---

१. "(ले) बुल पटकनामधेय निजराजधान्यां निजपितुः श्री मद्वद्यगस्य शुभधाम जिनालयाख्य वस (ते) खण्डस्फुटित नवसुधाकर्म बलि निवेद्यार्थं शकाब्देष्वष्टाशीत्यधिकेष्वष्टशतेषुगतेषु······ ते श्रीमदरिकेसरिणा······श्रीसोमदेवसूरये······वनिकटु पुलनामा ग्रामः······दत्तः।" —यशस्तिलक. एण्डि० क० पृ० ५

२. "विरचिता यशोधरचरितस्य कर्ता स्याद्वादोप निषदः क वि (वयि) ता।"

कवि असग

जीवन-परिचय—कवि असग दशवीं शताब्दी के विद्वान थे। उनके पिता का नाम 'पटुमति' था, जो धर्मात्मा और मुनि चरणों का भक्त था, और शुद्ध सम्यक्त्व से युक्त श्रावक था। और माता का नाम 'वैरित्ति' था, जो शुद्ध सम्यक्त्व से विभूषित थी। असग इन्हीं का पुत्र था। इनके गुरु का नाम नागनन्दी था, जो शब्द समयार्णव के पारगामी अर्थात् व्याकरण काव्य और जैन शास्त्रों के ज्ञाता थे। असग के मित्र का नाम जिनाप्य था। वह भी जैन धर्म में अनुरक्त शूरवीर, परलोक भीरु एवं द्विजातिनाथ (ब्राह्मण) होने पर भी पक्षपात रहित था ?

कवि असग ने भावकीर्ति मुनि के पादमूल में मौद्गल्य पर्वत पर रहकर और श्रावक के व्रतों का विधि-पूर्वक अनुष्ठान कर ममता रहित होकर विद्याध्ययन करने का उल्लेख किया है। और बाद को चोल देश में जनतोपकारी राजा श्रीनाथ के राज्य को पाकर और वहा की वरला नगरी में रहकर जिनोपदिष्ट आठ ग्रन्थों की रचना करने का उल्लेख किया गया है। परन्तु उन आठ ग्रन्थों के नामों की कोई सूचना नहीं की गई। कवि ने वर्धमान चरित, की रचना वि० स० ६१० (ई० सन ६५३ में की है। पौन्न कवि ने अपने शान्तिनाथ पुराण में ६५० ई० में अपने को असग के समान 'कन्नड कवितेयोल असगम्, बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि असग कवि के वर्धमान चरित की रचना सन् ६५० ई० से पूर्व में हो चुकी थी, और वह प्रचार में आ गया था। अतएव वीरचरित की रचना शक स० ६१० नहीं हो सकती। वह विक्रम स० ६१० की रचना निश्चत है।

कवि की दो कृतियाँ उपलब्ध है वर्धमान चरित और शान्तिनाथ चरित। कवि ने वर्धमान चरित्र आर्यनन्दी की प्रेरणा से बनाया था। अन्तिम तीर्थंकर भगवान वर्धमान (महावीर) का चरित अंकित किया गया है। चरित्र चित्रण में कवि में कुशल है और उसे कवि ने सस्कृत के प्रसिद्ध विविध छन्दों— उपजाति, वसन्ततिलका, शिखरिणी, वंशस्थ, शालिनी, अनुष्टुप मन्दाक्रान्ता, शार्दलविक्रीडित, स्वागता, प्रहर्षिणी, हरिणि, और स्रग्धरा आदि वृत्तों—में रखने का प्रयत्न किया है। ग्रन्थ १८ सर्गों में पूर्ण हुआ है। कवि ने चरित को जन प्रिय बनाने के लिये शान्तादि रसों और उपमा, उत्प्रेक्षादि अलंकारों की पुट देकर रमणीय, सरस और चमत्कार पूर्ण बना दिया है। ग्रन्थ में महाकाव्यत्व के सभी अगो की योजना की गई है। महवीर का जीवन परिचय उनके पूर्व भवों से संयोजित है। उससे उनके जीवन विकास का क्रम भी सम्बद्ध है। यद्यपि वर्धमान का जीवन-परिचय गुणभद्राचार्य के उत्तर पुराण के ७४वें पर्व से लिया गया है, परन्तु उसे काव्योचित बनाने के लिये उनमें कुछ काट-छांट भी की गई है। किन्तु पूर्व कथानक को ज्यों का त्यों रहने दिया है, कवि ने पुरुरवा और मरीचि के आख्यान को छोड़ दिया है। और श्वेतातपत्त नगरी के राजा नन्दिवर्धन के पुत्र जन्मोत्सव से कथानक शुरु किया है। ग्रन्थ में घटनाओं का पूर्वा पर क्रम निर्धारण, उनका परस्पर सम्बन्ध, और उपाख्यानों का यथा स्थान संयोजन मौलिक रूप में घटित हुआ है। कवि को उसमें सफलता भी मिली है। कृति पर पूर्ववर्ती कवियों के चरित्रों का उस पर प्रभाव होना सहज है। इस महाकाव्य की शैली कवि

---

१. सवत्सरे दशनवोत्तर वर्षयुक्ते (६१०) भावादिकीर्तिमुनिनायकपादमूले।
मौद्गल्य पर्वत निवास व्रतस्थसपत्सच्छ्रावक प्रजनिते सतिनिर्ममत्वे ॥१०५
विद्या मया प्रपठितेत्यसगाह्वकेन श्रीनाथराज्यमखिल-जनतोपकारि।
प्राप्ये च चौडविषये वरलानगर्या ग्रन्थाष्टक च ममकारि जिनोपदिष्ट ॥१०६
—जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सग्रह भा० १, प्र० १०७-८

२. "मुनिचरणरजोभिः सर्वदा भूतधात्र्याप्रणति समयलग्नैः पावनीभूतमूर्धा।
उपशम इव मूर्तः शुद्ध सम्यक्त्वयुक्तः पटुमतिरिति नाम्ना विश्रुतः श्रावकोऽभूत् ॥"
"वैरेति रित्यनुपमा भवि तस्य भार्या सम्यक्त्व शुद्धिरिव मूर्तिमती पराऽभूत् ।"२४४
पुत्रस्तयोरसग इत्यवदातकीर्त्योरासीन्मनीषिनिवहप्रमुखस्य शिष्यः।
चद्रांश शुभ्रयशसो भुवि नाग नद्याचार्यस्य शब्द समयार्णव पारगस्य ॥२४५
तस्याऽभव द्भव्य जनस्य सेव्यः सखा जिनाप्यो जिनधर्मसक्तः।
ख्यातोऽपि शौर्यात्परलोकभीरु द्विजातिनाथोऽपि विपक्षपातः ॥२४६॥

भारवि के किरातार्जुनीय मे प्रायः मिलती-जलती है । रचना सुन्दर तथा पठनीय है। ग्रन्थ का आधुनिक सम्पादित संस्करण प्रकाशित होना जरूरी है।

दूसरी रचना शान्तिनाथ चरित है जिसमें सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ का जीवन-परिचय अंकित किया गया है। यह ग्रन्थ सोलह सर्गों में विभक्त है। यह ग्रन्थ वर्धमान चरित के बाद बनाया गया है। इस ग्रन्थ पर एक संस्कृत टिप्पणी भी उपलब्ध है। परन्तु मूल और टिप्पण दोनों ही अभी तक अप्रकाशित है। शेष ग्रन्थों का अन्वेषण होना चाहिए।

विमलचन्द्र मुनीन्द्र

विमलचन्द्र मुनीन्द्र—महापण्डित, गुरुओं के गुरु और वादियों का मद भजन करने वाले थे।[1] चूर्णि मे उनके द्वारा राजा शत्रु भयंकर के सभा द्वार पर लगाये गये वादपत्र चलज के श्लोक निम्न प्रकार है:—

पत्रं शत्रु-भयङ्करोरु-भवन-द्वारे सदासञ्चरन्—
नाना-राज-करीन्द्र-वृन्द-तुरग-व्रातकुले स्थापितम ।
शैवान्पाशु पतांस्तथागतसुतान्कापालिकान्कापिला—
नुद्दिश्योद्धत-चेतसा विमलचन्द्राशाम्बरेणादरात् ॥२६

इनका समय संभवतः विक्रम की १०वी का उत्तरार्ध और ग्यारहवी का पूर्वार्ध सुनिश्चित है।

महामुनि वक्रग्रीव

यह बड़े भारी विद्वान थे। यह किसी वाद में छहमास पर्यन्त केवल 'अथ' शब्द की व्याख्या करते रहे। इससे उनकी विद्वत्ता का सहज ही अनुभव हो जाता है। जैसा कि मल्लिषेण प्रशस्ति के निम्न पद्य से स्पष्ट है:—

वक्रग्रीव-महामुने-र्दश-शत-ग्रीवोऽप्यहीन्द्रो यथा—
जातं स्तोतुमल वचोबलमसौ किं भग्न-वाग्मि-व्रजं ।
योऽसौ शासन देवता-बहुमतोह्री-वक्त्र-वादि-ग्रह—
ग्रीवोऽस्मिन्नथ-शब्द-वाच्य मवदद् मासान्समासेन षट् ॥१०

चूंकि मल्लिषेण प्रशस्ति-उत्कीर्ण होने का समय शक सं० १०५० सन् ११२८ ई० है। वक्रग्रीव मुनि उससे पूर्व हुए है। अतः इनका समय संभवतः ईसा की दसवी-ग्यारहवीं सदी हो सकता है।

हेलाचार्य

हेलाचार्य—यह द्रविड संघ के अधिपति और द्रविडगण के मुनियों में मुख्य थे। और जिनमार्ग की क्रियाओं का विधिपूर्वक पालन करते थे। पंच महाव्रत पंच समिति और तीन गुप्तियों से संरक्षित थे—उनका विधि पूर्वक आचरण करते थे[2]। यह मलयदेश में स्थित 'हेम' ग्राम के निवासी थे। एक बार उनकी शिष्या कमलश्री को, जो समस्त शास्त्रज्ञ और श्रुत देवी के समान विदुषी थी। उसे कर्मवश ब्रह्म राक्षस लग गया[3]। उसकी पीड़ा

---

१ विमलचन्द्र-मुनीन्द्र-गुरोर्गुरु प्रशमिताखिल वादिमद पद ।
यदि यथावदवैष्यत पण्डितैर्न्न तदान्वयवदिष्यत वाग्विभोः ॥२५

२. द्रविडगण समयमुख्यो जिनपति मार्गोपचितक्रियापूर्णः ।
व्रत समितिगुप्तिगुप्तो हेलाचार्यो मुनिर्जयति ॥ १६ —(ज्वालामालिनी कल्प प्रशस्ति)

३. दक्षिणदेशे मलये हेम ग्रामे मुनि र्महात्मासीत् ।
हेलाचार्योनाम्ना द्रविडगणाधीश्वरो धीमान् ॥
तच्छिष्या कमलश्रीः श्रुतदेवी वा समस्त शास्त्रज्ञा ।
सा ब्रह्मराक्षसेन गृहिता रौद्रेण कर्मवशात् ॥ —(ज्वालामालिनी कल्प प्रशस्ति ॥५।६।

को देखकर हेलाचार्य नीलगिरि' के शिखर पर गए। वहां उन्होंने 'ज्वालामालिनी' देवी की विधि की विधि पूर्वक साधना की। सात दिन में देवी ने उपस्थित होकर पूछा कि क्या चाहते हो? तब मुनि ने कहा, मैं कुछ नहीं चाहता। सिर्फ कमलश्री को ग्रह मुक्त कर दीजिये। तब देवी ने एक लोहे के पत्र पर एक मंत्र लिखकर दिया और उसकी विधि बतला दी। इसमे उनकी शिष्या ग्रह मुक्त हो गई। फिर देवी के आदेश से उन्होंने 'ज्वालिनीमत' नामक ग्रन्थ की रचना की।

पोन्नूर की कनकगिरि पहाड़ी पर बने आदिनाथ के विशाल जिनालय में जैन तीर्थंकर और अन्य देवताओं की मूर्तियाँ हैं। उनमें एक मूर्ति ज्वालामालिनी देवी की है। उसके आठ हाथ हैं दाहिनी आर के हाथों में मंडल अभय, गदा और त्रिशूल है। तथा बाई ओर के हाथों में शंख, ढाल, कृपाण और पुस्तक है। मूर्ति की आकृति हिन्दुओं की महाकाली से मिलती जुलती है। पोन्नूर मे लगभग तीन मील दूर 'नीलगिरि' नामक पहाड़ी है, उस पर हेलाचार्य की मूर्ति अंकित है[1]।

हेलाचार्य से वह ज्ञान उनके शिष्य प्रशिष्य गंग मुनि, नीलग्रीव, बीजाव, शान्तिरसव्वा आर्यिका, और विरुवट्ट क्षुल्लक को प्राप्त हुआ। वह क्रमागत गुरु परिपाटी मे कन्दर्प ने जाना और उसने गुणनन्दि मुनि के लिए व्याख्यान किया। इन दोनों ने उस शास्त्र का ग्रन्थ और अर्थतः इन्द्रनन्दि के प्रति कहा। तब इन्द्रनन्दि ने उस कठिन ग्रन्थ को अपने मन में अवधारण करके ललित आर्या और गीतादि छन्दों में ग्रन्थ परिवर्तन (भाषा परिवर्तनादि) के साथ रचा। संभवतः हेलाचार्य का यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा में रचा गया था, इसी से इन्द्रनन्दी ने उसे भाषा परिवर्तनादि से संस्कृत भाषा में बनाया। जिसकी श्लोक संख्या का प्रमाण साढ़े चार सौ श्लोक बतलाया गया है।

कवि ने इस ग्रन्थ की रचना राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय की संरक्षता में शक सं० ८६१ (ई०सन् ६३६) में की[2]। इससे हेलाचार्य का समय यदि उनके शिष्य प्रशिष्यादि के समय क्रम में से कम से कम एक शताब्दी और पच्चीस वर्ष पूर्व माना जाय, जो अधिक नहीं है तो हेलाचार्य के ग्रन्थ का रचना काल शक सं० ७३६ (ई० सन् ८१४) हो सकता है।

कवि हरिषेण

मेवाड़ देश में विविध कलाओं में पारंगत हरि नाम के एक महानुभाव थे, जो उजपुर के धक्कडवंशज थे। इनके एक धर्मात्मा पुत्र था, जिसका नाम गोवड्ढण (गोवर्धन) था उसकी पत्नी का नाम गुणवती था, जो जैनधर्म में प्रगाढ़ श्रद्धा रखती थी। इन दोनों के हरिषेण नाम का एक पुत्र हुआ, जो विद्वान कवि के रूप में प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। उसने किसी कार्यवश चित्रकूट (चितौड़) छोड़ दिया, और वह अचलपुर चला गया। उसने वहां छन्द और अलंकार शास्त्र का अध्ययन किया। इसके गुरु बुध सिद्धसेन थे। जैसा कि ११वीं संधि के २५ वें कडवक के घत्ते में 'सिद्धसेण पय वंदहि' वाक्य से सूचित होता है। हरिषेण ने इनकी सहायता से धर्मपरीक्षा नामकी रचना की। जो जयराम की प्राकृत गाथाबद्ध पूर्ववनी धर्मपरीक्षा का पद्धडिया छन्द में अनुवाद मात्र है। कवि ने इसे वि० सं० १०४४ (सन् ६८७) में बनाकर समाप्त की थी।

प्रस्तुत ग्रन्थ में ११ सन्धिया और २३८ कडवक हैं। सन्धि की प्रत्येक पुष्पिका में धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चार पुरुषार्थो का निरूपण करने के लिये हरिषेण ने इस ग्रन्थ की रचना की है। जैसा कि निम्न संधि-वाक्य से प्रकट है—

इय धम्मपरिक्खाए चउवग्गहिट्ठियाए बुह हरिसेणकयाए एयारसमो संधि सम्मत्तो।

कर्ता ने ग्रन्थ रचना का कारण निर्दिष्ट करते हुए बतलाया है कि एक बार मेरे ध्यान में आया कि यदि कोई आकर्षक पद्य रचना नहीं की जाती है तो इस मानवीय बुद्धि का होना बेकार है। और यह भी संभव है कि

---

१. See Jainism in South India p. 47

२. विक्कम णिय परिवत्तिय कालए, गएएवरिस सहसचउतालए।
इय उप्पण्णु भवियजण सुहयरु डंभरहिय धम्मासयसायरु॥ —जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सं० भा० २, २३ टि०

इस दिशा में एक मध्यम बुद्धि का आदमी उसी तरह उपहासास्पद होगा, जिस तरह संग्राम भूमि से भागे हुए कायर पुरुष का होता है। कवि ने अपनी छन्द और अलंकार-सम्बन्धी कमजोरी को जानते हुए भी जैनधर्म के अनुराग और और सिद्धसेन के प्रसाद से रचना कर ही डाली।

कवि ने अपने से पूर्ववर्ती तीन कवियों का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि चतुर्मुख का मुख सरस्वती का आवास मन्दिर था। और स्वयंभू-लोक-अलोक के जानने वाले महान् देवता थे। तथा पुष्पदन्त अलौकिक पुरुष थे। जिनका साथ सरस्वती कभी नहीं छोड़ती थी। कवि अपनी लघुता व्यक्त करते हुए कहता है कि मैं इनकी तुलना में अत्यन्त मन्द बुद्धि हूं। पुष्पदन्त ने भी चतुर्मुख और स्वयभू का उल्लेख किया है। पुष्पदन्त ने अपना महापुराण ९६५ ई० में पूर्ण किया है।

जयकीर्ति

कवि कन्नड प्रान्त के निवासी थे। इनकी एकमात्र कृति छन्दोनुशासन है, जिसमे वैदिक छन्दों को छोड़कर आठ अध्यायों में विविध छन्दों का वर्णन किया गया है। ग्रन्थ के अन्तिम दो अध्यायों में कन्नड़ छन्दों का विवेचन दिया हुआ है। ग्रन्थ की रचना पद्यात्मक है जिसमें अनुष्टुभ, आर्या और स्कन्ध छन्दों का लक्षण पूरी तरह या आंशिक रूप में उसी छन्द में दिया है। यह ग्रन्थ छन्दों के विकास की दृष्टि से केदारभट्ट के वृत्तरत्नाकर और हेमचन्द्र के छन्दोऽनुशासन के मध्य की रचना कहा जा सकता है। ग्रन्थ के अन्त में माण्डव्य, पिङ्गल, जनाश्रय, सेतव, पूज्यपाद और जयदेव को पूर्वाचार्यों के रूप में स्मरण किया है। किन्तु छन्दोनुशासन के अर्धसम वृताधिकार में पाल्यकीर्ति और स्वयंभू देव के मत से सुनन्दिनी और नन्दिनी छन्द के लक्षण भी प्रस्तुत किये हैं।

"जतौ जरौ शंखनिधिस्तु तौ जरौ, श्री पाल्यकीर्तीश मते सुनन्दिनी ।।२१
त्तौ ज्रौ तथा पद्म पद्मनिधिर्जतौ जरौ, स्वयम्भुदेवेशमते तु नन्दिनी ।।"२२

इससे इनका समय ईसाकी १०वीं शताब्दी से पूर्व होना चाहिए। क्योंकि वि० की दशवीं शताब्दी के आचार्य असगने इनका उल्लेख किया है। कवि असगने अपना 'वर्धमान चरित' स० ९१० में बनाकर समाप्त किया है।

छन्दोनुशासन की यह प्रति सं० ११९२को लिखी हुई है। और जैसलमेर के भण्डार में मोजूद है। जयकीर्ति का यह छन्दोनुशासन डा० एच० डी० वैलंकर द्वारा सम्पादित होकर जयदामन ग्रन्थ के साथ प्रकाशित हो चुका है।

देखो मि० गोविन्द पै का Jaikirti in the Kannada quarterly Prabudha Karnatak Vol' 28 No. 3 Jan. 1942 Mysore College Mysore. Bombay University Journal 1847.

बप्पनन्दी

वासवनन्दी के शिष्य थे। ओर इन्द्रनन्दी प्रथम के प्रशिष्य थे। संभव है ज्वालामालिनी कल्प के कर्ता इन्द्रनन्दी इन्हीं बप्पनन्दो से दीक्षित हों। क्योंकि इन्द्रनन्दी ने अपना उक्त ग्रन्थ शक स० ८६१ सन्९३९ (वि० सं० ९९६) में समाप्त किया है। इन्द्रनन्दी ने प्रशस्ति में बप्पनन्दी को पुराण विपण में अधिक ख्याति प्राप्त करनेवाला लिखा है। और उन्हें पुराणार्थ वेदी बतलाया है। (देखो, ज्वालामालिनी कल्प प्रशस्ति पद्य ४)

बन्धुषेण

आचार्य बन्धुषेण—(यापनीय संघ के आचार्य) थे, जो निमित्तज्ञान में पारगत थे। और दामकीर्ति के ज्येष्ठ पुत्र जयकीर्ति के गुरु थे। (जैन लेख सं० भा० २ पृ० ७५

एलाचार्य

सूरस्त गणके विद्वान, रविचन्द्र के प्रशिष्य और रविनन्दी आचार्य के शिष्य थे। जो तप के अनुष्ठान में तत्पर रहते थे, और बड़े विद्वान थे। तथा कोगल देश के निवासी थे। उन्हें गंगवशीय राजा मारसिंह (द्वितीय) ने

अपनी माता कल्नब्बे द्वारा निर्मित जिनमन्दिर के लिए 'कादलूर' नाम का एक गाव शक सवत् ८८४ सन् ९६२ मे पौषवदी ९ मगलवार के दिन दान दिया था, जब वे मेलपाटि के स्कन्धावार मे थे।

(देखो, कादलूर का ताम्रशासन, जैन ले० स० भा० ५ पृ. २०)

गुणचन्द्र पंडित

गुणचन्द्र पंडित कुन्दकुन्दान्वय देशीयगण के महेन्द्र पण्डित के प्रशिष्य और वीरनन्दि पडित के शिष्य थे। इन्हे राष्ट्रकूट सम्राट् अकाल वर्ष कृष्णराजदेव (तृतीय) के सामन्त गग वशीय कुतय्य पेमार्डि राना पद्मव्यरसि द्वारा निर्मित दानशाला के लिए नमयर मारसिघय्य ने एक तालाब अर्पित किया था। यह लेख शक स० ८७३ सन् ९५० पौष शुक्ला १०मी रविवार को दिया गया था।

(जैन लेख स० भा० ४ पृ० ५३)

अनन्तकीर्ति

अनन्तकीर्ति अपने समय के यशस्वी तार्किक हो गये है। लघु सर्वज्ञसिद्धि के अन्त में उन्होंने लिखा है

समस्तभुवन व्यापि यशसानन्तकीर्तिना।
कृतेय मुज्ज्वला सिद्धिर्धर्मज्ञस्य निरर्गला ।।

इनके बनाये हुए लघु सर्वज्ञसिद्धि और वृहत्सर्वज्ञसिद्धि नाम के दो ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है। उनमें कोई प्रशस्ति आदि नही है जिससे उनकी गुरु परम्परा और समयादि का पता लग सके।

न्याय विनिश्चय के टीकाकार वादिराजसूरि ने अपने पार्श्वनाथ चरित में अनन्तकीर्ति का स्मरण निम्न पद्य में किया है :—

आत्मनैवाद्वितीयेन जीवसिद्धिं निबध्नता।
अनन्तकीर्तिना मुक्ति रात्रिमार्गेव लक्ष्यते ।।

इससे स्पष्ट है कि अनन्तकीर्ति ने 'जीवसिद्धि' नाम के ग्रथ का प्रणयन किया था। अनन्तवीर्य ने सिद्धि-विनिश्चय टीका के पृ० २३४ के प्रमाण विचार प्रकरण में आचार्य अनन्तकीर्ति के 'स्वतः प्रमाणभङ्ग' प्रकरण का उल्लेख निम्न प्रकार किया है:—

"शेष मुक्तवत् अनंतकीर्तिकृतेः स्वतः प्रामाणयभङ्गादवसेय मेतत्।"

अनन्तवीर्य ने सिद्धिविनिश्चय टीका पृ० ७०८ के सर्वज्ञसिद्धि प्रकरण में—'अनुपदेशालिङ्गा व्यभिचारि-नष्टमुष्टयाद्युपदेशान्यथानुपपत्तेः' हेतु का प्रयोग किया है जो अनन्तकीर्ति की लघु और वृहत्सर्वज्ञसिद्धि (पृ० १०९) का मूल हेतु है। इससे स्पष्ट है कि अनन्तकीर्ति अनन्तवीर्य से पूर्ववर्ती है। सिद्धि विनिश्चय के टीकाकार अनन्तवीर्य का समय डा० महेन्द्रकुमार जी ने सन् ९५९ ई० के बाद और ई० १०२५ मे पहले किसी समय हुए बताया है। ये वही ज्ञात होते है जो वादिराज के दादागुरु श्रीपाल के सधर्मा रूप मे उल्लिखित है।

आचार्य शान्तिसूरि ने जैन तर्कवार्तिकवृत्ति 'पृ० ७७ मे स्वप्नविज्ञान यत् स्पष्ट मुत्पद्यते इत्यनन्तकीर्त्यादिय" लिखकर स्वप्न ज्ञान को मानस प्रत्यक्ष मानने वाले अनन्तकीर्ति आचार्य का मत दिया है। यह मत वृहत्सर्वज्ञसिद्धि के कर्ता अनन्तकीर्ति का ही है। उन्होने लिखा है "तथा स्वप्नज्ञाने चानक्षजेऽपिवैशद्यमुपलभ्यते" वृहत्सर्वज्ञसिद्धि पृ० १५१। शान्तिसूरि का समय ई० ९९३ से ११४७ के मध्य माना गया है[१]। इससे भी अनन्तकीर्ति का समय ई०९९३ से पूर्ववर्ती है।

प्रमेय कमलमार्तण्ड और न्यायकुमुद के कर्ता आचार्य प्रभाचन्द्र का समय सन् ९८० से १०६५ ई० है। उन्होंने न्यायमुकुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्ड के सर्वज्ञसिद्धि प्रकरणों में अनन्तकीर्ति की वृहत्सर्वज्ञसिद्धि का पूरा-पूरा शब्दानुसरण किया है। इससे भी अन्तकीर्ति प्रभाचन्द्र से पूर्ववर्ती है।

१. जैन तर्कवार्तिक प्रस्तावना पृ० १४१

सिद्धिविनिश्चय के टीकाकार अनन्तवीर्य ने (पृ० २३४) में प्रामाण्यविचार प्रकरण में आचार्य अनन्तकीर्ति के 'स्वतः प्रमाण भङ्ग' ग्रन्थ का उल्लेख किया है, जो इस समय अनुपलब्ध है।

अतः इन अनन्तकीर्ति का समय सन् ८५० से ९८० से पूर्ववर्ती है। अर्थात् वे ईसा की १०वीं शताब्दी के विद्वान हैं।

अनन्तकीर्ति (नाम के अन्य विद्वान)

जैन शिलालेख संग्रह प्रथम भाग में चन्द्रगिरि पर्वत के महानवमी मंडप के एक शिलालेख में मूलसंघ देशी-गण पुस्तक गच्छीय मेघचन्द्र त्रैविद्य के प्रशिष्य और वीरनन्दी त्रैविद्य के शिष्य अनन्तकीर्ति का स्याद्वाद रहस्यवाद निपुण के रूप में उल्लेख मिलता है। यह शिलालेख शक सं० १२३५ सन् १३१३ ई० का है। इसमें इनका परम्परा के रामचन्द्र के शिष्य शुभचन्द्र के उक्त तिथि में किए गए देवलोक का वर्णन है। अतएव इन अनन्तकीर्ति का समय ईसा की १२वीं शताब्दी जान पड़ता है, क्योंकि इनके दादागुरु (मेघचन्द्र) का स्वर्गवास ई० सन् १११५ में हो गया था। मेघचन्द्र के शिष्य प्रभाचन्द्र के दिवगत होने की तिथि शक सं० १०६८ (सन् ११४६) आश्विन शुक्ला दशमी दी गई है। उसमें मेघचन्द्र के दो शिष्यों का प्रभाचन्द्र और वीर नन्दी का उल्लेख है। अस्तु, प्रस्तुत अनन्तकीर्ति ईसा की १२वीं सदी के विद्वान है।

अनन्तकीर्तिभट्टारक

बान्धव नगर की शान्तिनाथ बसदि ई० सन् १२०७ में बनाई गई थी, जब कदम्ब वंश के किंग ब्रह्म का राज्य था। यह बसदि उस समय क्राणूर गण तन्त्रिणिगच्छ के अनन्तकीर्ति भट्टारक के अधिकार में थी[1]। अतएव इनका समय ईसा की १३वीं सदी है। जैन शिलालेख सं० भाग ३ पृ० २३२ में होय्सल वीर बल्लाल देव के २३ वे वर्ष (सन् १२१२) के लगभग के लेख में जक्कले के समाधिमरण का वर्णन है। उसमें जक्कले के उपदेष्टा गुरु के रूप में अनन्तकीर्ति का उल्लेख है। प्रस्तुत अनन्तकीर्ति बान्धव नगर की शान्तिनाथ बसदि के अधिकारी अनन्तकीर्ति से अभिन्न है, क्योंकि दोनों का समय लगभग एक है।

अनन्तकीर्ति

अनन्तकीर्ति काष्ठासंघ माथुरान्वय के पूर्णचन्द्र थे। और मुनि अश्वसेन के पट्टधर थे। इनके शिष्य एवं पट्टधर भट्टारक क्षेमकीर्ति थे। इनका समय विक्रम की १४वीं शताब्दी है।

मौनि भट्टारक

यह पुन्नाट संघ के पूर्ण चन्द्र थे, और सम्पूर्ण राद्धान्त रूप वचन किरणों से भव्य रूप कुमुदों को विकसित करने वाले थे, जैसा कि हरिषेण कथा कोश के प्रशस्ति पद्य में प्रकट है।

> **यो बोधको भव्यकुमुद्वतीनां निःशेषराद्धान्तवचोमयूखैः।**
> **पुन्नाटसंघांवरसन्निवासी श्रीमौनिभट्टारक पूर्णचन्द्रः॥**

हरिषेण ने कथा कोश का रचना काल शक सं० ८५३ बतलाया, कथा कोश के कर्ता मौनिभट्टारक से चतुर्थ पीढ़ी में हुए है। अतः हरिषेण के शक सं० ८५३ में से ६० वर्ष कम करने पर शक सं० ७९३ हुए। उसमें ७८ जोड़ने पर समय सन् ८७१ हुए अर्थात् विक्रम की ९वीं शताब्दी इनका समय होता है। इनके शिष्य हरिषेण थे।

श्रीहरिषेण

हरिषेण पुन्नाट संघ के विद्वान मौनिभट्टारक के शिष्य थे। जो अपने समय के बड़े भारी विद्वान तपस्वी थे। गुणनिधि और जनता द्वारा अभिवन्द्य थे[2]। उक्त कथा कोश के रचना काल में से ४० वर्ष कम करने

---

१. मिडियावल जैनिज्म पृ० २०९

२. सारागमाहित मतिर्विदुषां प्रपूज्यो नानातपो विधिविधान करो विनेय।
तस्या भवद् गुणनिधिर्जनताभिवंद्य श्री शब्द पूर्व पद को हरिषेण संज्ञः॥५

पर शक सं८१३ सन् ८६१ होता है, यह नवमी शताब्दी के अन्तिम चरण के विद्वान जान पड़ते हैं।

भरतसेन

भरतसेन पुन्नाट संघ के विद्वान मौनिभट्टारक के प्रशिष्य और हरिषेण के शिष्य थे। भरतसेन के शिष्य का नाम भी हरिषेण था। उसने कथा कोश की प्रशस्ति में अपने गुरु भरतसेन को छन्द, अलंकार, काव्य-नाटक शास्त्रों का ज्ञाता, काव्य का कर्ता, व्याकरणज्ञ, तर्क निपुण, तत्त्वार्थ वेदी, नाना शास्त्रों में विचक्षण, बुधगणां द्वारा सेव्य और विशुद्ध, विचार वाला बतलाया है। जैसा कि उसके निम्न पद्य से प्रकट हैं:—

छन्दो लंकृति काव्यनाटकचण: काव्यस्य कर्ता सतो,
वेत्ता व्याकरणस्य तर्कनिपुणस्तत्त्वार्थवेदी परं।
नाना शास्त्र विचक्षणो बुधगणैः सेव्यो विशुद्धाशयः।
सेनान्तोभरतादिरत्रपरमः शिष्यः बभूवक्षितौ ॥६॥ —हरिषेण कथा कोश प्रशस्ति

इससे मालूम होता है कि इन्होंने किसी काव्य ग्रन्थ की रचना की थी, किन्तु दैवयोग से वह अप्राप्य है। उसके नामादि की सूचना भी नहीं मिलती। हरिषेण ने अपना कथा कोश शक सं० ८५३ सन् ९३१ में समाप्त किया है। उसमें से कम से कम बीस वर्ष कम करने पर सन् ९११ भरतसेन का समय हो सकता है अर्थात् वे दशवीं शताब्दी के प्रारम्भ के विद्वान थे।

हरिषेण (कथाकोश के कर्त्ता)

हरिषेण नाम के अनेक विद्वान हो गये हैं। उनसे प्रस्तुत हरिषेण भिन्न हैं। ये हरिषेण पुन्नाट संघ के विद्वान थे। इन्होंने हरिवंश पुराण की रचना से १४८ वर्ष बाद उसी बढ़वाण या वर्द्धमानपुर में कथाकोष की रचना की थी। ग्रन्थ प्रशस्ति में उन्होंने अपनी गुरु परम्परा इस इस प्रकार दी है—मौनिभट्टारक, हरिषेण, भरत-सेन और हरिषेण। हरिषेण ने अपने गुरु भरतसेन को छन्द अलंकार, काव्य-नाटक-शास्त्रों का ज्ञाता, काव्य का कर्त्ता, व्याकरणज्ञ, तर्क निपुण, तत्त्वार्थवेदी, और नाना शास्त्र विचक्षण बतलाया है। इससे हरिषेण के गुरु बड़े भारी विद्वान जान पड़ते हैं।

इस कथाकोश में छोटी बड़ी १५७ कथाएं संस्कृत पद्यों में लिखी गई हैं। उनमें कुछ कथाएँ, चाणक्य, शकटाल, भद्रबाहु, वररुचि, स्वामी कार्तिकेय, श्रेणिक बिम्बसार, आदि की कथाएँ ऐतिहासिक पुरुषों से सम्बन्ध रखती हैं। परन्तु अकलंक समन्तभद्र और पात्र केशरी आदि की कथायें इसमें नहीं हैं। जो प्रभाचन्द्र के गद्य कथा-कोश में पाई जाती हैं। उसका कारण यह है कि हरिषेण के सामने कथाओं को रचते समय शिवार्य की आराधना सामने रही है, उसमें जिनका उदाहरण संकेत रूप में गाथाओं में उपलब्ध है, उनका नामोल्लेख आदि गाथाओं में किया गया है, उनकी कथा हरिषेण ने लिखी हैं। कुछ कथायें ऐसी भी हैं जिनका उल्लेख उसमें नहीं है किन्तु अन्यत्र मिलता है, वे भी इसमें सम्मिलित दिखती हैं। हरिषेण ने प्रशस्ति के आठवें श्लोक में 'आराधनोद्धृतः' वाक्य द्वारा उसकी स्वयं सूचना कर दी है। तुलना करने से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है।

इस ग्रन्थ की रचना वर्धमानपुर में हुई है, कवि ने उसका वर्णन करते हुए उसे बड़ा समृद्धनगर बतलाया है, जिनके पास बहुत सोना था, वह ऐसे लोगों से आवाद था। वहां जैन मन्दिरों का समूह था, और सुन्दर महल बने हुए थे, जैसा कि उसके निम्न पद्य से स्पष्ट है।—

जैनालयाव्रातविराजतान्ते चन्द्रावदातद्युति सौधजाले।
कार्तस्वरा पूर्ण जनाधिवासे श्री वर्धमानाख्यपुरे वसन्सः ॥४

वर्धमानपुर की नन्न राज वसति में या उसके किसी वंशधर के बनवाए हुए जैन मन्दिर में हरिवंशपुराण रचा गया था। यह कोई राष्ट्रकूट वंश के राजपुरुष जान पड़ते हैं।

प्रस्तुत कथाकोश की रचना उक्त वर्धमानपुर में उस समय की गई, जबकि वहां पर विनायकपाल नामका राजा राज्य करता था। उसका राज्य इन्द्र के जैसा विशाल था।[1] यह विनायकपाल प्रतिहारवंश का राजा जान पड़ता है जिसके साम्राज्य की राजधानी कन्नौज थी। उस समय प्रतिहारों के अधिकार में केवल राजपूताने का ही अधिकांश भाग नही था, किन्तु गुजरात, काठियावाड़, मध्य भारत और उत्तर में सतलज से लेकर विहार तक का प्रदेश था। यह महाराजाधिराज महेन्द्रपाल का पुत्र था और अपने भाइयों महीपाल और भोज (द्वितीय) के बाद गद्दी पर बैठा था। कथाकोश की रचना मे लगभग एक वर्ष पूर्व का वि० सं० ९५५ का इसका दान पत्र[2] भी मिला है।[3]

काठियावाड़ के हड्डाला गांव में विनायकपाल के बड़े भाई महीपाल के समय का भी शक स० ८३६ (वि० सं० ९७१) का एक दानपत्र मिला है। जिससे मालूम होता है कि उस समय वढवाण में उसके सामन्त चापवशी धरणीवराह का अधिकार था। उसके १७ वर्ष बाद ही बढवाण में कथाकोश रचा गया है।

रचनाकाल

नवाष्ट नवकेष्वेषु स्थानेषु त्रिषु जायतः।
विक्रमादित्य कालस्य परिमाणमिदं स्फुटम् ॥११
शतेष्ट सु विस्पष्टं पंचाशतत्र्यधिकेषु च।
शक कालस्य सत्यस्य परिमाणमिदं भवेत् ॥१२

प्रस्तुत कथाकोश की रचना शक सं० ८५३ (वि० सं० ९८८) में की गई है। अतः प्रस्तुत कवि हरिषेण ईसा की दशवीं शताब्दी के विद्वान हैं।

देवसेन (भट्टारक)

भट्टारक देवसेन वाणराय (बाणवंशी किसी नरेश) के गुरु भवणन्दि भट्टारक के शिष्य थे। और जिनकी समाधि उनके मरण के उपरान्त बल्लीमलै (जिला अर्काट) में स्थापित की गई थी। प्रतिमा पर काल निर्देश रहित उक्त आशय का कन्नड़ शिलालेख अंकित है। मूर्ति लेख का काल ८-९ वीं शती के बाद का नहीं जान पड़ता।

—जैन शि० सं० भाग २ पृ० १३६

देवसेन नाम के अनेक विद्वान हो गए हैं, जिनकी गुरु परम्परा और समय भिन्न है। यहां दो-तीन देवसेनों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है; जो अन्वेषकों के लिये उपयोगी है।

देवसेन

देवसेन वे, जो पंचस्तूपान्वयी वीरसेन स्वामी के शिष्य थे, और जिनसेन, पद्मसेन, श्रीपाल आदि के सधर्मा थे। जिनसेनाचार्य ने जयधवला टीका (प्रशस्ति श्लोक ३९) में पद्मसेन के साथ देवसेन का उल्लेख किया है। जिन सेनाचार्य ने अपनी जयधवला टीका शक सं० ७५९ (सन् ८३७ ई०) में समाप्त की है। अतः लगभग यही समय इन देवसेन का होना चाहिये। प्रस्तुत देवसेन ९वीं शताब्दी के विद्वान थे।

देवसेन (दर्शनसारादि के कर्ता)

प्रस्तुत देवसेन अपने समय के अच्छे विद्वान थे। उन्होंने धारा नगरी के पार्श्वनाथ मन्दिर में रहते हुए संवत

---

१. संवत्सरे चतुर्विंशे वर्तमाने खगभिधे।
विनयादिक पालस्य राज्ये शक्रोपमान के ॥१३, —कथा० प्रश०

२. इण्डियन एण्टिक्वेरी जि० १५, पृ० १४०-४१

३. राजपूताने का इतिहास जि० १ पृ० १६३

९९० माघ शुक्ला दशमी के दिन 'दर्शनसार की रचना की है।[1] दर्शनसार में अनेक मतों तथा संघो की उत्पत्ति आदि को प्रकट करने वाला अपने विषय का एक ही ग्रन्थ है। देवसेन ने पूर्वाचार्यकृत गाथाओं का संकलन कर उसे दर्शन-सार का रूप दिया है। जो अनेक ऐतिहासिक घटनाओं की सूचनादि को लिए हुए है। इसमें एकान्तादि प्रधान पांच मिथ्यामतों और द्रविड़, यापनीय, काष्ठा, माथुर और भिल्ल संघों की उत्पत्ति का कुछ इतिहास उनके सिद्धान्तों के उल्लेख पूर्वक दिया है। और द्रविड़ादि संघों को जैनाभास बतलाया गया है। देवसेन ने अपने गुरु का और गण-गच्छादि की कोई उल्लेख नही किया। जिससे उनके सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डाला जाता। दर्शनसार में दी गई तिथियों का समय विक्रम की मृत्यु के अनुसार है। किन्तु वि० सं० के साथ उनका कोई सामंजस्य ठीक नहीं बैठता। अत: उन तिथियों का संशोधन करना आवश्यक है। यदि उन तिथियों को शक संवत् की मान लिया जाय तो समय-सम्बन्धी वे सभी बाधायें वे दूर हो जाती हैं। जो उन्हें विक्रम संवत् मानने के कारण उत्पन्न होती है और ऐतिहासिक शृंखलाओं में क्रम सम्बद्धता बनी रहती है। प० नाथूराम जी प्रेमी ने दर्शनसार की समालोचना की है। दर्शन-सार के अतिरिक्त देवसेन की निम्न रचनाएं और मानी जाती हैं। तत्त्वसार, आराधनासार और नयचक्र।

तत्त्वसार—७५ गाथात्मक एक लघु अध्यात्म ग्रन्थ है जिसमें स्वगत और परगत के भेद से तत्त्व का दो प्रकार से निरूपण किया है। और बतलाया है कि जिसके न क्रोध है न मान है, न माया है और न लोभ है, न शल्य है, न लेश्या है, जो जन्म-जरा और मरण से रहित है वही निरंजन आत्मा है।

"जस्स ण कोहो माणो माया लोहो ण सल्ल लेस्साओ।
जाइ जरा मरणं चि य णिरंजणो सो अहं भणिओ॥'

जो कर्मफल को भोगता हुआ भी उसमें राग-द्वेष नही करता है वह सचित कर्म का विनाश करता है और वह नूतन कर्म से भी नहीं बंधता। अन्त में कवि ग्रन्थ का उपसंहार करता हुआ कहता है कि—

जो सदृष्टि देवसेन मुनि रचित तत्त्वसार को सुनता तथा उसकी भावना करता है, वह शाश्वत सुख को प्राप्त करता है।

आराधनासार—यह एक सौ पन्द्रह गाथात्मक ग्रन्थ है, जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और तपरूप चार आराधनाओं के कथन का सार निश्चय और व्यवहार दोनों रूप से दिया है। विषय विवेचन की शैली बड़ी सुन्दर है। मरते समय आराधक कौन होता है? इसका अच्छा कथन किया है और बतलाया है कि—जिस भव्य ने क्रोधादि कषायों को नष्ट कर दिया है, सम्यग्दृष्टि है और सम्यग्ज्ञान से सम्पन्न है अन्तरंग, बहिरंग परिग्रह का त्यागी है वह मरण समय आराधक होता है। यथा—

णिहय कसाओ भव्वो दंसणवन्तो हु णाणसंपण्णो।
दुविह परिग्गहचत्तो मरणे आराहओ हवइ॥१७

जो सांसारिक सुख से विरक्त है। शरीरादि पर इष्ट वस्तुओं से प्रीतिरूप राग जिसका नष्ट हो गया है—वैराग्य है, अथवा संसार शरीर भोगों से निर्वेद को प्राप्त है, परमोपशम को प्राप्त है जिसने अनन्तानुबंधिचतुष्टय, तीन मिथ्यात्व रूप मोहनीय कर्म की इन सात प्रकृतियों का उपशम है, और अन्तर बाह्यरूप विविध प्रकार के तपों से जिसका शरीर तप्त है, वह मरण समय में आराधक होता है, जो आत्म स्वभाव में निरत है, पर द्रव्य जनित परिग्रह रूप सुखरस से रहित है, राग-द्वेष का मथन करने वाला है, वह मरण समय में आराधक होता है, जैसा कि निम्न गाथाओं से स्पष्ट है:—

१. रइयो दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवई।
सिरि पासणाह गेहे सुविसुद्धे माह सुद्धदसमीए॥५०
सिरि देवसेण गणिणा धाराए संवसंतेण। —दर्शनसार

संसार सुहविरत्तो वेरग्गं परम उवसमं पत्तो ।
विविह तव तविय देहो मरणें आराहओ एसो ।।१८
अप्प सहावेणिरओ वज्जिय परदव्वसंगसुक्खरसो ।
णिम्महिय रायदोसो हवई आराहओ मरणे ।।१९

सल्लेखना करने वाला भव्य यदि केवल वाह्य शरीर को ही कृश करता है किन्तु आन्तरिक कषायों का विनाश नहीं करता तो उसकी वह शरीर सल्लेखना निरर्थक है । इस कारण शरीर सल्लेखना के साथ आन्तरिक कषायों का दमन करना—उन्हें रस विहीन बनाना नितान्त आवश्यक है—अथवा उनकी शक्ति क्षीण कर अशक्त बनाना जरूरी है, जिससे वे अपना कार्य करने में समर्थ न हो सके । क्योंकि कषाय बलवान है, व अवसर पाते ही क्षपक के चित्त को संक्षुभित कर सकती है, अतएव उनका जय करना श्रेयस्कर है, उनके संल्लखित होने पर मुनि का चित्त क्षुभित नहीं हो सकता । अतएव साधु उत्तम धर्म को प्राप्त होता है ।

ग्रन्थ में परिषह और उपसर्ग सहिष्णु मुनियों का नामोल्लेख भी किया है । समाधिमरण करने वाला क्षपक यह भावना करता है कि मेरे कोई व्याधि नहीं है, राग-द्वेष रहित मेरे आत्मा का कभी मरण नहीं होना, क्योंकि व्याधि और मरण तो शरीर में होता है आत्मा का कोई मरण नहीं होता, शरीर जड़ है, आत्मा चैतन्य का पिण्ड है । अतः आत्मा में कोई,दुःख नहीं होता ।

सल्लेहणा शरीरे बाहिरजोएहि जा कया मुणिणा ।
सयला वि सा णिरत्था जाम कसाए ण सल्लिहदि ।।३५

इस तरह जो पुरुष चारों आराधनाओं का आराधना करता है, और तपश्चरण द्वारा आत्मशुद्धि करता है, सर्व परिग्रह का परित्याग कर जिनलिंग धारक होता है, तथा आत्मा का ध्यान करता है वह निश्चय से सिद्धि को (स्वात्मोपलब्धि को) प्राप्त करता है, इस तरह यह ग्रन्थ बड़ा सुन्दर और मनन करने योग्य है ।

अन्त में कवि अपने अहंकार का परिहार करता हुआ कहता है कि मेरे में कवित्व नहीं है, छन्दों का भी परिज्ञान नहीं है फिर भी मैं देवसेन अपनी भावना के निमित्त इस ग्रन्थ की (आराधनासार की) रचना कर रहा हूं । यदि इसमें अज्ञतावश प्रवचन विरुद्ध कहा गया हो, तो मुनीन्द्रजन उसका संशोधन कर ले ।

इस ग्रन्थ पर एक संस्कृत टीका है, जिसके कर्त्ता काष्ठासंघी मुनि क्षेमकीर्ति के शिष्य रत्नकीर्ति हैं । यह रत्नकीर्ति पंडिताचार्य के नाम से विश्रुत थे । टीका सरल, सुबोध और प्रसाद गुण से युक्त है । और ग्रन्थ कर्त्ता के रहस्य को उद्घाटित करती हुई वस्तु तत्त्व की विवेचक है । मूल ग्रन्थ और टीका दोनों ही माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला में प्रकाशित है ।

नयचक्र—८७ गाथात्मक है, जिसे लघु नयचक्र भी कहा जाता है । यह नाम करण किसी बड़े नयचक्र को देखकर बाद में किया गया जान पड़ता है । समाप्ति वाक्य में इसे नयचक्र प्रकट किया है । अन्यत्र भी नयचक्र के नाम से इसका उल्लेख मिलता है[1] ।

देवसेन ने नयचक्र में नयों का मूल रूप से सुन्दर वर्णन किया है । नयों के मूल दो भेद द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक किये गए है और शेष सब संख्यात असंख्यात भेदों को इन्हीं के भेद-प्रभेद बतलाया गया है[2] । नयों के कथन

---

१. श्वेताम्बराचार्य यशोविजय ने 'द्रव्यगुणपर्यायरासो' में और भोज सागर ने 'द्रव्यानुयोग तर्कणा' में भी देवसेन के नामोल्लेख पूर्वक लघु नयचक्र का उल्लेख किया है ।

२. णिच्छय ववहारणया मूलिमभेयाणयाण सव्वाण ।
णिच्छय साहणहेउ पज्जयदव्वत्थिय मुणह ।
दो चेवय मूलणया भणियादव्वत्थ पज्जयत्थ गया ।
अं सखा ते तब्भेया मुणेयव्वा ।।
—नय चक्रसग्रह

का प्रारम्भ करते हुए लिखा है कि—जो नयदृष्टि से विहीन है उन्हें वस्तु स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती। और जिन्हें वस्तु स्वरूप की उपलब्धि नही है—जो वस्तु स्वरूप को नही पहचानते—वे सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते। यथा—

जो णयदिट्ठि विहीणा ताण ण वत्थुसरुवउवलद्धि।
वत्थुसहावविहूणा सम्मादिट्ठी कहं हुंति॥

ग्रन्थकार ने यह बड़े मर्म की बात कही है। इसपर से ग्रन्थ के महत्व का स्पष्ट आभास मिल जाता है। ग्रन्थ के अन्त में कर्त्ता ने नयचक्र के विज्ञान को सकल शास्त्रों की शुद्धि करने वाला और दुर्णय रूप अन्धकार के लिये मार्तण्ड बतलाते हुए लिखा है कि यदि अज्ञान महोदधि को लीलामात्र में तिरना चाहते हो तो नयचक्र को जानने के लिए अपनी बुद्धि लगाओ—नयो का ज्ञान प्राप्त किए बिना अज्ञान महासागर से पार न हो सकोगे।

यहा यह बात विचारणीय है कि प्रस्तुत नयचक्र वह नयचक्र नही जिसका उल्लेख अकलंक देव ने न्याय-विनिश्चय में और विद्यानन्द ने अपने तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक के नय विवरण प्रकरण में निम्न पद्य द्वारा किया है:—

न्याय विनिश्चय के अन्त में लिखा है- **इष्टं तत्त्वमपेक्षा तो नयानां नयचक्रतः** ॥३-९१

संक्षेपेण नयास्तावद् व्याख्याताः सूत्र सूचिताः।
तद्विशेषाः प्रपञ्चेन संचिन्त्या नयचक्रतः॥

इस पद्य में जिस नयचक्र के विशेष कथन को देखने की प्रेरणा की गई है वह यह नयचक्र नही है। एक बड़ा नयचक्र श्वेताम्बराचार्य मल्लवादि का प्रसिद्ध है जिसे द्वादशार नयचक्र कहा जाता है। और जिसका समय वि० सं० ४१४ माना जाता है। पर मल्लवादि ने सिद्धसेन के सन्मति पर टीका लिखी है जिसका निर्देश हरिभद्र ने किया है। और सिद्धसेन का समय पांचवी शताब्दी माना जाता है। वे गुप्त काल के विद्वान है। अतः मल्लवादी का समय भी सिद्धसेन के बाद ही होना चाहिए। क्योंकि जिनभद्र गणी क्षमा श्रमण ने अपने विशेषावश्यक भाष्य में सिद्धसेन और मल्लवादि के उपयोग के अभेद की चर्चा विस्तार से की है। उक्त विशेषावश्यक बल्लभी में वि० स० ६६६ में समाप्त हुआ था। इससे मल्लवादी का समय छठी शताब्दी जान पड़ता है।

प्रस्तुत नयचक्र दर्शन सार के कर्त्ता की कृति मालूम नही होता, वह किसी अन्य देवसेन द्वारा रचा गया होगा, उसके निम्न कारण है:—

देवसेन ने अपने ग्रन्थों (दर्शनसार, आराधनासार और तत्त्वसार) में अपना नाम कर्त्तारूप से उल्लेखित किया है, किन्तु प्रस्तुत नयचक्र में कर्त्ता का नाम नही दिया है।

२. नयचक्र की गाथा न० ८७ के आगे 'तदुच्यते' वाक्य के साथ दो पद्य अन्य ग्रन्थों से उद्धृत किये हैं। उनमें एक गाथा 'अणुगुरु देह पमाणो' नेमिचन्द्र के द्रव्य संग्रह की है। द्रव्य संग्रह का निर्माण दर्शनसार के बाद हुआ है, वह ११वी शताब्दी की रचना है। ऐसी स्थिति में वह दर्शनसार के कर्त्ता देवसेन की कृति कैसे हो सकती है?

३. दर्शनसार के कर्त्ता के ग्रन्थों के नाम सारान्त पाये जाते हैं जैसे दर्शनसार आराधनासार और तत्त्वसार गोम्मटसार के कर्त्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने भी अपने ग्रन्थों के नाम सारान्त रक्खे हैं। जैसे लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार आदि।

नयचक्र नाम के अनेक ग्रन्थ है। द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र, श्रुतभवन दीपक नयचक्र और आलाप पद्धति। इनमें द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र के कर्त्ता देवसेन के शिष्य माइल्ल धवल है। इनका परिचय अलग से दिया गया है।

देवसेन

श्रुतभवन दीपक नयचक्र के कर्ता देवसेन है। इस नय चक्र में दो नयों का संग्रह है। प्रथम नयचक्र के मंगल पद्य में घातिया कर्मो के जीतने वाले श्री वर्द्धमान को नमस्कार करके आगम ज्ञान की सिद्धि के लिये नय के विस्तार को कहता हूं। यथा—

श्री वर्द्धमानमानम्य, जितघातिचतुष्टयं।
वक्ष्येह नयविस्तारमागमज्ञानसिद्धयं ॥

नय का लक्षण देते हुए लिखा है-- 'नानास्वभावेभ्यो व्यावृत्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयतीतिनयः।' जो वस्तु को नाना स्वभावों से हटा कर एक स्वभाव में (विषय में) निश्चय कराता है वह नय है। एक गाथा उक्तं च रूप से दी है, जो धवला टीका में भी उद्धृत है: –

णयदित्ति णओ भणिदो बहूहिं गुणपज्जएहिं जं दव्व।
परिणामखेत्त कालन्तरेसु अविणट्ठ सब्भावं ॥

इसके बाद सप्त नयों का गद्य-पद्य में वर्णन किया गया है।

द्वितीय नयचक्र के मंगल पद्य में मोह रूपी अन्धकार को नष्ट करने वाले अनन्तज्ञानादि रूप श्री से युक्त वर्द्धमान रूपी सूर्य को नमस्कार करके गाथा के अर्थ में अविरुद्ध—अनुकूल रूप से मेरे द्वारा नयचक्र कहा जाता है :—

श्रीवर्द्धमानार्कमानम्य मोहध्वान्तप्रभेदिनं।
गाथार्थस्याविरोधेन नयचक्रं मयोच्यते ॥

दूसरे पद्य में जिनपति मत (जैनमत) एक पृथ्वी है, उसमें समयसार नामक रत्नों का पहाड़ है, उसमें रत्न लेकर मोह के गाढ़ विभ्रम को नष्ट करने वाले श्रुतभवन दीपक नयचक्र को कहा। १ :

जिनपति मतगत्यां रत्नशैलादयापादिह हि समयसारादबुद्ध बुद्धया गृहीत्वा।
प्रहृतघनाविमोहं सुप्रमाणादि रत्न, श्रुतभुवन सुदीपं विद्धि तदव्यापनीयं ॥२

प्रस्तुत नयचक्र 'श्रुतभवन दीपक नाम से ख्यात है जो देवसेन के प्राकृत नयचक्र से भिन्नता का बोधक है। कर्ता के साथ भट्टारक विशेषण भी प्रा० नयचक्र के कर्ता से भिन्नता का सूचक है। यह नयचक्र संस्कृत गद्य-पद्य में रचा गया है। विषय विवेचन की दृष्टि और तर्कणा शैली सुन्दर है, जो व्योम पण्डित के प्रतिबोधन के लिये रचा गया है। जैसा कि उसके निम्न पुष्पिका के 'इति देवसेन भट्टारक विरचिते व्योम पंडित प्रतिबोधके नयचक्रे' वाक्य से जाना जाता है। इसमें तीन अधिकार है। ग्रन्थ के शुरू में समयसार की तीन गाथाओं को उद्धृत करके कर्ता ने संस्कृत गद्य में उनकी व्याख्या करते हुए व्यवहार नय की अभूतार्थता और निश्चय नय की भूतार्थता पर अच्छा प्रकाश डाला है। ग्रन्थ व्यवस्थित और नयादि के स्वरूप का प्रतिपादक है। इसका सम्पादन क्षुल्लक सिद्धसागर ने किया है। और वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री ने सोलापुर से प्रकाशित किया है। सामग्री के अभाव से रचना का समय निर्णय करना कठिन है।

आलाप पद्धति

आलाप पद्धति के कर्ता देवसेन बतलाये जाते है। परन्तु ग्रन्थ में कहीं भी कर्तृत्व विषयक संकेत नही मिलता। इस कारण यह भी दर्शनसार के कर्ता देवसेन की कृति नहीं मालूम होती। यद्यपि प्राकृत नय चक्र और आलाप पद्धति का विषय समान है। आलाप पद्धति नयचक्र पर लिखी गई है। जैसा कि उसके निम्न वाक्य से प्रकट है :

'आलाप पद्धतिर्वचन रचनानुक्रमेण नयचक्रस्योपरि उच्यते।' फिर प्रश्न हुआ कि इसकी रचना किस लिये की गई है, तब उत्तर में कहा गया है कि द्रव्य लक्षण सिद्धि के लिये और स्वभाव सिद्धि के लिये आलाप पद्धति की रचना की गई है।[1] अब तक इसे दर्शनसार के कर्ता की कृति कहा जाता रहा है, पर इस सम्बन्ध में, अब तक कोई अन्वेषण नही किया गया, जिससे यह प्रमाणित हो सके कि यह दर्शनसार के कर्ता की कृति है या अन्य किसी देवसेन की।

---

१. सा च किमर्थम्। द्रव्यलक्षण सिद्धयर्थं स्वभाव सिद्धयर्थं च। आलापपद्धति

तोरणाचार्य

यह कुन्द कुन्दान्वय के विद्वान थे। और शाल्मली नामक ग्राम में आकर रहे थे। वहां उन्होंने लोगों का अज्ञान दूर किया था और जनता को सन्मार्ग में लगाया था। तथा अपने तेज से पृथ्वी मण्डल को प्रकाशित किया था। तोरणाचार्य के शिष्य पुष्पनन्दि थे। जो उक्त गण में अग्रणी थे। पुष्पनन्दि के शिष्य प्रभाचन्द्र थे, जिनके लिये यह वसति बनवाई गयी थी। उस समय राष्ट्रकूट वंशी राजा गोविन्द तृतीय का राज्य था। उसके राज्य के दो ताम्रपत्र मिले हैं।[1] एक शक सं० ७२४ का और दूसरा शक सं० ७१६ का। अतः इन प्रभाचन्द्र के दादा गुरु तोरणाचार्य का समय प्रभाचन्द्र से लगभग ४० वर्ष पूर्व माना जाय तो उनका समय शक सं० ६७६ सन् ७५६ होना चाहिए। अर्थात् वे ईसा की आठवी शताब्दी के विद्वान थे और विक्रम की ६वीं शताब्दी के।

कुमारसेन भट्टारक

भट्टारक कुमारसेन को शक सं० ८२२ (सन् ६००) वि० सं० ६५७ में सत्यवाक्य कोंगणिवर्म धर्म महा-राजाधिराज ने, जो कि कुवलाल नगर के स्वामी थे। और श्रीमत्पेर्म्मनडि ऐरेयप्पेरस ने सफेद चावल, मुक्तश्रम, घी सदा के लिये चुंगी से मुक्तकर पेर्म्मनडिवसदि के लिए भट्टारक कुमारसेन को दिया था। इससे इन कुमारसेन का समय ईसा की नवमी और विक्रम की दशवीं शताब्दी है।

—जैन लेख सं० भा० २ पृ० १६०

कुमारसेन

यह कुमारसेन वीरसेन के शिष्य थे, जो चन्द्रिकावाट के विद्वान थे। इन्होंने मूलगुण्ड में अपना स्थायी निवास बना लिया था। यह बड़े विद्वान थे। इनका समय १०वीं शताब्दी है।

रविकीर्ति

रविकीर्ति अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान और जैनधर्म के संपालक थे। ऐहोल-अभिलेख बीजापुर जिले के हुगुण्ड तालुका के ऐहोल के मेगुटि नाम के जैन मन्दिर की ओर पूर्व की दीवाल पर अंकित है। लेख में १६

१. कोण्डकोन्दान्वयो दारो गणोऽभूद्भुवनस्तुतः।
तदैतद् विषय विख्यातं शाल्मली ग्राममावसन्।
आसीद (१) तोरणाचार्य स्तपः फलपरिग्रहः।
तत्रोपशम सभूत भावनापास्तकल्मषः॥
पण्डितः पुष्पनन्दीति बभूवभुवि विश्रुतः।
अन्तेवासी मुनेस्तस्य सकलश्चन्द्रमाटव॥
प्रति दिवस भवद्वृद्धि निरस्तदोषो व्यथेत हृदयमलः।
परिभूतचन्द्र बिम्बस्तच्छिष्योऽभूत प्रभाचन्द्रः॥

—शक सं० ७२४ का ताम्रपत्र

आसीद तोरणाचार्यः कोण्डकुन्दान्वयोद्भवः।
स चैतद् विषये श्रीमान् शल्मलीग्राम माश्रितः।
निराकृत तमोरातिं स्थापयन् सत्पथे जनान्।
स्वतेजो द्योतिता क्षौणिश्चंडार्चिरिव यो बभौ।
तस्याभूद् पुष्पनन्दीतु शिष्योविद्वान गणाग्रणीः।
तच्छिष्यश्चप्रभाचन्द्रस्तस्येयं वसतिः कृता॥ —शक सं० ७१६ का ताम्रपत्र

पंक्तियाँ और ३७ श्लोक हैं। अन्तिम पंक्ति छोटी है जो बाद में जोड़ी गई है। यह लेख धर्म, सस्कृति और काव्य की दृष्टि से बड़े महत्व का है। और उपयोगी है। इस प्रशस्ति लेख के लेखक रविकीर्ति है, जो सस्कृत भाषा के अच्छे विद्वान और कवि थे। वे काव्य योजना में प्रवीण और प्रतिभाशाली थे। उन्होंने कविता के क्षेत्र में कालिदास और भारवि की कीर्ति प्राप्त की थी।[1] इस लेख मे हमें केवल रवि कीर्ति की प्रतिभा का ही परिचय नही मिलता किन्तु उक्त दोनों कवियों के काल की अन्तिम सीमा भी सुनिश्चित हो जाती है। यह लेख शक स० ५५६ (सन् ६३४ ई०) सातवीं शताब्दी के दक्षिण भारत के राजनैतिक इतिहास पर अच्छा प्रकाश डालता है। रविकीर्ति चालुक्य पुलकेशी सत्याश्रय (पश्चिमी चालुक्य पुलकेशी द्वितीय) के राज्य में थे। यह राजा उनका संरक्षक या पोषक था। पुलकेशी स्वयं शूरवीर, रण कुशल योद्धा था, प्रशस्ति में उसके पराक्रम, युद्ध सचालन, साहस और सैनिकों की गतिविधियों का इतना सुन्दर और व्यवस्थित वर्णन दिया है जो देखते ही बनता है। मगलेश अपने भाई के पुत्र पुलकेशी से ईर्षा करता था—उसकी कीर्ति से जलता था—और अपने पुत्र को राजा बनाना चाहता था। पर नहुष के समान प्रतापी पुलकेशी के सामने उसकी शक्ति कु ठित हो गई—वह काम न आ सकी, और राज्यलक्ष्मी ने पुलकेशी को वरण किया।

पुलकेशी ने आप्यायिक, गोविन्द, गंग, अलूप, मौर्य, लाट, मालव, गुर्जर, कलिग, कोसल, पल्लव, चोल, निन्यानवे हजार गांव वाले महाराष्ट्र, पिष्टपुर का दुर्ग, कुणालद्वीप, वनवासी और पश्चिम समुद्र की पुरी को जीत लिया था। और राजा हर्ष वर्द्धन को रोक कर नर्मदा के किनारे अपना सैनिक केन्द्र स्थापित किया था।

प्रशस्ति में पुलकेशी के प्रताप और तेज का बहुत सुन्दर वर्णन दिया है और बतलाया है कि पुलकेशी ने अपनी सेना के कारण पल्लव राजाओं को इतना आतंकित और भयभीत कर दिया था, जिससे वे अपनी राजधानी की चहार दीवारी के भीतर ही निवास करते थे—बाहर निकलने का उनका साहस नहीं होता था। चोल देश पर विजय प्राप्त करने के लिये उसने कावेरी नदी पार की तथा दक्षिण भारत के अन्य प्रदेशों को अपने आश्रित किया।

रवि कीर्ति का समय शक सं० ५५६ (सन् ६३४) सातवी शताव्दी है।

चन्द्रदेवाचार्य

चन्द्रदेव नन्दि राज्य के यशस्वी, प्रभावयुक्त, शील-सदाचार-सम्पन्न आचार्य कल्वप्प नामक ऋषि पर्वत पर व्रतपाल दिवगत हुए थे। यद्यपि यह लेख काल रहित है। इसमें सम्वत् का उल्लेख नही है फिर भी इसे लगभग शक सं० ६२२ का माना जाता है। जो सन् ७०० होता है। इनका समय विक्रम की ८वी शताव्दी होना चाहिए।

—जैन लेख सं० भा० १ पृ० १४ ले० ३४ (८४)

दूसरे चन्द्रदेव को कल्याणी के प्रसिद्ध रावंश राजामल्लिकार्जुन ने शक सं० ११२७ रक्ताक्षि संवत्सर द्वितीय पौष सुदि बुधवार मकर संक्रान्ति के दिन उक्त गुरु चन्द्रदेव भट को जलधारा पूर्वक दान दिया गया था। इनका समय सन् १२०५ ई० है।

(जैन लेख स० भा ३ पृ० २९४)

आर्यसेन

मूलसंघ वरसेनगण और पोगरि गच्छ के विद्वान आचार्य थे। और ब्रह्मसेन व्रतिप के शिष्य थे। जो अनेक राजाओं द्वारा सेवित थे। आर्यसेन के शिष्य महासेन थे।[2] शिलालेख में महासेन मुनीन्द्र के छात्र चाकि-

१. स विजयता रविकीर्तिः कविताश्रित कालिदास भारवि कीर्तिः। —मेगुति लेख

२ श्रीमूलसंघे जिनधर्ममूले, गणाभिधाने वरसेन नाम्नि।
गच्छेषु तुच्छेऽपि पोगर्य्यभिख्ये संस्तूयमानो मुनिरार्य्यसेनः॥
तस्यार्यसेनस्य मुनीश्वरस्य शिष्यो महासेन महा मुनीन्द्रः॥ —जैन लेख स० भा० २ पृ० २२८

राज वाणस वंश के तथा केतलदेवी के आफिसर थे। उन्होंने शांतिनाथ, पार्श्वनाथ तथा सुपार्श्वनाथ की प्रतिमा बनवाई थीं, और पोन्नवाड़ वर्तमान होन्वाड में त्रिभुवन तिलक नामक चैत्यालय बनवाया।[1] और उसके लिए कुछ जमीन तथा मकानात् शक सं० ९७६ सन् १०५४ मे दान दिया था। अतः आर्यसेन का समय सन् १०२९ के लगभग होना चाहिये।

—जैन शिलालेख भा० २ पृ० २२८

आर्यनन्दी

कवि असग ने, जो नागनन्दी का शिष्य था। उसने आर्यनन्दी गुरु की प्रेरणा से वर्धमान पुराण की रचना की थी। कवि ने इसे सं० ९१० में बनाकर समाप्त किया था। कवि का मित्र जिनाप्य नाम का एक ब्राह्मण विद्वान था। वह पक्षपात रहित, जिनधर्म में अनुरक्त, बहादुर और परलोक भीरू था, उसकी व्याख्यान शीलता और पुण्य श्रद्धा को देखकर उक्त पुराण ग्रन्थ की रचना की है। आर्यनन्दि गुरु का समय विक्रम की १० वीं शताब्दी का प्रारम्भ है।

जयसेन

यह लाड वागडसंघ के पूर्णचन्द्र थे। शास्त्र समुद्र के पारगामी और तप के निवास थे। तथा स्त्री के कलारूपी वाणों से नहीं भिदे थे—पूर्ण ब्रह्मचर्य से प्रतिष्ठित थे। जैसा कि प्रद्युम्नचरित्र की प्रशस्ति के निम्न पद्य से प्रकट है :—

श्रीलाटवर्गट नभस्तल पूर्णचन्द्रः शास्त्रार्णवान्तग सुधी तपसां निवासः।
कान्ता कलावपि न यस्य शरैर्विभिन्नं, स्वान्तं बभूव स मुनिर्जयसेन नामा ।।

इनके शिष्य गुणाकरसेन सूरि थे और प्रशिष्य महासेन, जो मुञ्ज नरेश द्वारा पूजित थे। इन जयसेन का का समय विक्रम की दशवी शताब्दी है।

कनकसेन

कनकसेन सेनान्वय मूलसंघ पोगरीगण के सिद्धान्त भट्टारक विनयसेन के शिष्य थे। शक सं० ८१५ (सन् ८९२ ई०) में निधियण्ण और वेदियण्ण नाम के दो वणिक पुत्रों ने (Sons of a merchant from Srimangal ने नगडूर (धर्मपुरी) मे एक जिनमंदिर बनवाया। इनमें से पहले को राजा से 'मूलपल्लि' नाम का गाव दान में मिला। जिसे उसने कनकसेन भट्टारक को मन्दिर की सुव्यवस्था के लिये प्रदान किया।

(जैन लेख स० भा० ४ पृ० ३९)

अजितसेनाचार्य

आचार्य अजितसेन आर्यसेन के शिष्य थे। बड़े भारी विद्वान और तत्त्व चिन्तक थे। मूलगुण्ड के सन् १०५३ ई० के एक शिला लेखमें अजितसेन भट्टारक को 'चन्द्रिकावाटान्वयवरिष्ठ' बतलाया है। यह राजाओं से सम्मानित थे। गंगवंशी राजा मारसिंह और राचमल्ल के गुरु थे। और इनके मंत्री एवं सेनापति चामुण्डराय के भी गुरु थे। इसी से गोम्मटसार के कर्ता आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने उन्हें ऋद्धि प्राप्त गणधर देवादि के समान गुणी और भुवन गुरु बतलाया है। जैसाकि उसकी निम्न गाथा से प्रकट है :—

---

१. तन्निर्मित भुवन वुम्भुकमस्युदात्त, लोक-प्रसिद्धविभ-वोन्नतपोन्नवाडे।
रम्यते परमशान्तिजिनेन्द्रगेह, पार्श्वद्वयानुगतपार्श्वसुपार्श्वदासम् ।।
महासेनमुनेच्छात्र, चाङ्किराजेन निर्मित।
द्रष्टु कामाघसंहारि शान्तिनाथस्य बिम्बकम् ।। —जैन शि० ले० सं० पृ० २२९

अज्जज्जसेण गुणगण समूह संधारि—अजियसेण गुरु ।
भुवणगुरु जस्स गुरु सो राओ गोम्मटो जयऊ ।।९३३।।

यह अजितसेन अपने समय के प्रसिद्ध आचार्य थे ।

चामुण्डराय का पुत्र जिनदेवन भी इनका शिष्य था । उसने सन् ६६५ ई० में श्रवणबेलगोल में एक जिन मन्दिर बनवाया था[1] । प्रस्तुत अजितसेनाचार्य प्रसिद्ध कवि रन्न के भी गुरु थे ।

गंगवंशी राजा मारसिंह बड़े वीर और जिनधर्म भक्त थे । इन्होंने राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय के लिये गुर्जरदेश को विजय किया, विन्ध्यपर्वत की तली में रहने वाले किरातों के समूह को जीता, मान्यखेट में कृष्णराज की सेना की रक्षा की, इन्द्रराज चतुर्थ का अभिषेक कराया । और भी अनेक राजाओं को विजित किया । अनेक युद्ध जीते, और चेर, चोड, पाण्ड्य, पल्लव नरेशों को परास्त किया । जैन धर्म का पालन किया । अनेक जिनमन्दिर बनवाये और मन्दिरों को दान दिया । मारसिंह ने ६६१ ई० से ६७४ ई० तक राज्य किया है । इनके धर्म महाराजाधिराज, गंगचूड़ामणि, गंगविद्याधर, गंगकन्दर्प और गंगवज्र आदि विरुद पाये जाते हैं । और अन्त में राज्य का परित्याग कर अजितसेन गुरु के समीप सन् ६७४ ई० में बंकापुर में समाधि पूर्वक शरीर का परित्याग किया ।

अजित सेनाचार्य का समय ई० सन् ६६० (वि० स० १०१७) है । अजितसेन के शिष्य कनकसेन द्वितीय थे ।

नागनन्दी

सूरस्थ गण के मुनि श्रीनन्दि भट्टारक के प्रशिष्य और विनयनन्दि सिद्धान्त भट्टारक के शिष्य थे । इनके पाद प्रक्षालन पूर्वक कुक्कनूर ३० में स्थित अपनी जागीर में ३०० मत्तर प्रमाण कृष्य भूमि, कोपण में यादव वंश में समुत्पन्न महा सामन्त शङ्कर गण्डरस द्वारा निर्मापित जयधीर जिनालय को नित्य प्रति की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये दान में दी गई थी । यह लेख अकाल वर्ष कन्नरदेव (राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय) के राज्य में रक्ताक्षि संवत्सर एवं शक संवत् ८८७ सन् ६६४ ईस्वी में लिखा गया था । इससे नागनन्दी का समय सन् ६६४ है ।

—जैनिज्म इन साउथ इंडिया पृ० ४२६

गोल्लाचार्य

मूल संघान्तर्गत नन्दिगण से प्रसृत देशीयगण के प्रसिद्ध आचार्य थे, और गोल्लाचार्य नाम से ख्यात थे । यह गृहस्थ अवस्था में पहले गोल्लदेश के अधिपति (राजा) थे । और नूलचन्दिल नाम के राजवंश में उत्पन्न हुए थे । उन्होंने किसी कारणवश संसार से भयभीत हो, राज्य का परित्याग कर जिनदीक्षा ले ली थी[1] । और तपश्चरण द्वारा आत्म-साधना में तत्पर थे । वे श्रमण अवस्था में अच्छे तपस्वी, और शुद्धरत्नत्रय के धारक थे । सिद्धान्तशास्त्ररूपी समुद्र की तरंगों के समूह से जिन्होंने पापों को धो डाला था । इनके शिष्य त्रैकाल्य योगी थे । इनका समय संभवतः दशवीं शताब्दी है ।

---

१. इत्याद्युद्ध मुनीन्द्रसन्ततिनिधौ श्रीमूलसङ्घे ततो ।
जाते नन्दिगण-प्रभेदविलसद्देशीगणे विश्रुते ।
गोल्लाचार्य इति प्रसिद्ध-मुनिपोऽभूद्गोल्लदेशाधिपः ।
पूर्व्व के न च हेतुना भवभिया दीक्षां गृहीतस्सुधी ।।

—जैनलेखसंग्रह भा०१ ले० नं० ४० पृ० २५

अनन्तवीर्य (वृद्ध)—

सिद्धिविनिश्चय के टीकाकार एक वृद्ध अनन्तवीर्य हुए हैं। सिद्धिविनिश्चय टीका के पृ० २७, ५७, १३५, ५३८) से ज्ञात होता है कि उनकी यह टीका रविभद्रपादोपजीवी अनंतवीर्य को प्राप्त थी, उन्होंने अपनी टीका में उसकी कुछ बातों का निरसन भी किया है। पर वे उससे प्रभावित नहीं थे, और संभवतः वह उन्हें विशेष रुचिकर भी न थी। इसी से उन्होंने अपनी टीका का निर्माण किया। इससे इतना तो निश्चित है कि यह अनन्तवीर्य उनसे पूर्ववर्ती है। सभवतः इनका समय वि० की ९वी शताब्दी का मध्यकाल हो सकता है।

अनन्तवीर्य

इनका पेग्गूर के कन्नड शिलालेख में वीरसेन सिद्धान्त देव के प्रशिष्य और गोणसेन पण्डित भट्टारक के शिष्य के रूप में उल्लेख है[1]। ये श्री वेलगोल के निवासी थे। इन्हें वेट्टोरेगरे के राजा श्रीमत् रक्कस ने पेरग्गदूर तथा नई खाई का दान किया था। यह दान लेख शक सं० ८९९ (ई० सन् ९७७) का लिखा हुआ है। अतः इनका समय ईसा की दसवीं शताब्दी है।

इन्द्रनन्दी प्रथम

इनका उल्लेख ज्वाला मालिनी कल्प की प्रशस्ति में इन्द्रनन्दी (द्वितीय) ने किया है। इन्द्रादि देवों के द्वारा इनके चरण कमल पूजित थे। जिनमत रूपी जलधि (समुद्र) से पापलेप को धो डाला था। सिद्धान्त शास्त्र के ज्ञाता त्रिलोक रूपी कमल वन में विचरण करने वाले यशस्वी राजहंस थे[2]। इनका समय विक्रम की दशवी शताब्दी का पूर्वार्ध है।

वासवनन्दी

यह इन्द्रनन्दी प्रथम के शिष्य थे। वड़े भारी विद्वान थे। जिनका चरित्र पाप रूपी शत्रु सैन्य का हनन करने के लिये तेज तलवार के समान था। और चित्तशरत्कालीन जल के समान स्वच्छ और शीतल था, जिनकी निर्मल कीर्ति शरत्कालीन चन्द्रमाकी चादनी के समान प्रकाशमान थी[3]। इनका समय भी विक्रम का दशवी शताब्दी का मध्य भाग होना चाहिये।

---

१. श्री बेलगोलनिवासिगलप्प श्री वीरसेनसिद्धान्तदेवर वर शिष्यर श्रीगोणसेनपण्डितभट्टारकवर शिष्य श्रीमत् अनन्तवीर्यगलें……।

—जैन शिला० सं० भा० २ पृ० १९९

२. आसीदिन्द्रादिदेव स्तुतपदकमलश्रीन्द्रनन्दिर्मुनीन्द्रो।
नित्योत्सर्प्पच्चरित्रो जिनमतजलधिर्धौतपापोपलेपः।
प्रज्ञानावामनोद्यत्प्रगुणगणभृतोत्कीर्णविस्तीर्ण सिद्धा—
न्तान्भोगशिस्त्रिलोक्याबुजवन विचरतसद्यशो राजहंसः॥

३. यदवृत्तं दुरितारिसैन्य हनने चण्डासिधारायितम्।
चित्तं यस्य शरत्सरसलिलवत् स्वच्छं सदा शीतलम्।
कीर्तिः शारदकौमुदी शशिभृतो ज्योत्स्नेव यस्याऽमला।
स श्री वासवनंदिसन्मुनिपतिः शिष्यस्तदीयो भवेत्॥

रविचन्द्र—

प्रस्तुत रविचन्द्र सूरस्थगण के एलाचार्य की गुरु परम्परा में हुए हैं। प्रभाचन्द्र योगीश, कल्नेलेदेव, रविचन्द्र मुनीश्वर रविनन्दि देव—एलाचार्य

गंग राजा मारसिंह (द्वितीय) के समय पौष कृष्ण ६ मंगलवार शक ८८४ दुन्दुभि संवत्सर, उत्तरायण संक्रान्ति के समय मेलपाटि के स्कन्धावार मे कोमल देश में स्थित कादलूर' ग्राम एलाचार्य को दिये जाने का उल्लेख है। चूंकि इस कन्नड शिलालेख का समय सन् ९६२ है।[1] अतः यह रविचन्द्र दशवीं शताब्दी के विद्वान हैं।

मुनि रामसिंह (दोहापाहुड के कर्ता)

मुनि रामसिंह ने अपना कोई परिचय नहीं दिया, और न अपनेगुरु का नामोल्लेख ही किया। ग्रन्थ में रचना-काल भी नहीं दिया और न अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख ही किया उनकी एकमात्र कृति 'दोहा पाहुड' है। जिसमें २२२ दोहे हैं। जिनमें आत्म-सम्बोधक वस्तु तत्त्व का वर्णन किया गया है। दोहे भावपूर्ण और सरस हैं। चूंकि इस ग्रन्थ के कर्ता रामसिंह योगी हैं। उन्होंने २११ नं० के दोहे में 'रामसीहु मुणि इम भणइ' वाक्य द्वारा अपने को उसका कर्ता सूचित किया है। डा० ए० एन० उपाध्ये ने लिखा है कि 'एक प्रति की सन्धि में भी उनका नाम मात्र आया है। प्रस्तुत रामसिंह योगीन्दु के बहुत ऋणी हैं। उन्होंने उनके परमात्म प्रकाश से बहुत कुछ लिया है।' रामसिंह रहस्यवाद के प्रेमी थे। इसी से उन्होंने प्राचीन ग्रन्थकारों के पद्यों का उपयोग किया है। वे जोइन्दु और हेमचन्द के मध्य हुए हैं। रामसिंह का समय दसवीं शताब्दी है। क्योंकि ब्रह्मदेव ने परमात्म प्रकाश की टीका में उसके कई दोहे उद्धृत किये हैं। ब्रह्मदेव का समय वि० की ११वीं शताब्दी है। अतः रामसिंह १० वीं शताब्दी के विद्वान होने चाहिये।

ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय अध्यात्म चिन्तन है। आत्मानुभूति और सदाचरण के विना कर्मकाण्ड व्यर्थ है। सच्चा सुख, इन्द्रिय निग्रह और आत्मध्यान में हैं। मोक्षमार्ग के लिये विषयों का परित्याग करना आवश्यक है। बिना उसके देह में स्थित आत्मा को नहीं जाना जा सकता। ग्रन्थ में रहस्यवाद का भी संकेत मिलता है। कुछ दोहों का आस्वाद कीजिये।

हत्थ अहुट्ठहं देवली बालहं णाहि पवेसु।
संतु णिरंजणु तहिं वसइ णिम्मल होइ गवेसु ॥४॥

साढ़े तीन हाथ का यह छोटा-सा शरीर रूपी मन्दिर है। मूर्ख लोगों का उसमें प्रवेश नहीं हो सकता, इसी में निरंजन (आत्मा) वास करता है, निर्मल होकर उसे खोज।

अप्पा बुज्झिउ णिच्चु जइ केवलणाण सहाउ।
ता पर किज्जइ कांइ वढ तणु उप्परि अनुराउ ॥ २२॥

जब केवल ज्ञान स्वभाव आत्मा का परिज्ञान हो गया, फिर यह जीव देहानुराग क्यों करता है ?

धंधइ पडियउ सयल जगु, कम्मइं करइ अयाणु।
मोक्खहं कारणु एक्कु खणु ण वि चिंतइ अप्पाणु ॥

सारा संसार धन्धे में पड़ा हुआ है और अज्ञानवश कर्म करता है, किन्तु मोक्ष के लिए अपनी आत्मा का एक क्षण भी चिन्तन नहीं करता।

सप्पिं मुक्की कंचुलिय जं विसु तं ण मुएइ।
भोयहं भाउ ण परिहरइ लिंगग्गहणु करेइ ॥१५

जिस तरह सर्प कांचुली तो छोड़ देता है, पर विष नहीं छोड़ता। उसी तरह द्रव्य लिंगी मुनि वेष धारण कर लेता है किन्तु भोग-भाव का परिहार नहीं करता।

अप्पा मिल्लि वि जगतिलउ मूढ म झायहि अण्णु।
जिं मरगउ परिया णियउ तहु किं कच्चहु गण्णु ॥७२

---

१. (एन्युअलरिपोर्ट आफ साउथ इण्डियन एपिग्राफी सन् १९३४—५२३ पृ० ७)

जगतिलक आत्मा को छोड़कर हे मूढ ! अन्य किसी का ध्यान मत कर, जिसने आत्मज्ञान रूप माणिक्य पहिचान लिया, वह क्या काँच को कुछ गिनता है।

मूढ़ा देह म रज्जियइ देह ण अप्पा होइ।
देहइं भिण्णउ णाणमउ सो तुहुं अप्पा जोइ ॥१०७॥

हे मढ ! देह में राग मत कर, देह आत्मा नहीं है। देह से भिन्न जो ज्ञानमय है उस आत्मा को तूं देख।

हलि सहिकाइं करइं सो दप्पणु, जहि पडिबिम्बु ण दीसइ अप्पणु।
धंधवालु मो जगु पडिहासइ, घरि अच्छंतु ण घरवइ दीसइ ॥१२२

हे सखि ! भला उस दर्पण का क्या करे, जिसमें अपना प्रतिविम्ब नही दिखाई देता। मुझे यह जगत्-लज्जावान प्रतिभासित होता है, जिस घर में रहते हुए भी गृहपति का दर्शन नही होता।

तित्थइं तित्थ भमेहि वढ धोयउ चम्मु जलेण।
एहु मणु किमधोएसि तुहुं मइलउ पाव मलेण ॥१६३॥

हे मूर्ख ! तूने तीर्थ मे तीर्थ भ्रमण किया और अपने चमड़े को जल से धो लिया, पर तू इस मन को, जो पाप रूपी मल से मलिन है, कैसे धोयगा।

अप्पा परहं ण मेलयउ आवागमणु ण भग्गु।
तुस कंडं तहं कालु गउ तंदुलु हत्थि ण लग्गु ॥१८५

न आत्मा और पर का मेल हुआ और न आवागमन भग हुआ। तुष कूटते हुए काल बीत गया किन्तु तन्दुल (चावल) हाथ न लगा।

पुण्णेण होइ विहओ विहवेण मओ मएण मइ मोहो।
मइ मोहेण य णरयं तं पुण्णं अम्ह म होउ ॥

पुण्य से विभव होता है, विभव से मद, और मद से मतिमोह, और मति मोह से नरक मिलता है। ऐसा पुण्य मुझे न हो।

इस तरह यह दोहा पाहुड बहुत सुन्दर कृति है। मनन करने योग्य है।

पद्मकीर्ति

यह सेनसंघ के विद्वान चन्द्रसेन के शिष्य माधवसेन के प्रशिष्य और जिनसेन के शिष्य थे। अपभ्रंश भाषा के विद्वान और कवि थे। इन्होंने अपनी गुरु परम्परा में इनका उल्लेख किया है।[1] इनकी एकमात्र कृति 'पासणाहचरिउ' है। जिसमें १८ सन्धिया और ३१५ कडवक हैं। जिनमें तेवीसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जीवन-परिचय अंकित किया गया है। कथानक आचार्य गुणभद्र के उत्तर पुराण के अनुसार है। ग्रन्थ में यान्त्रिक छन्दों के अतिरिक्त पज्झटिका, अलिल्लह, पादाकुलिक, मधुदार, स्रग्विणी, दीपक, सोमराजी, प्रामाणिका, समानिका और भुजंगप्रयात छन्दों का उपयोग किया गया है।

कवि ने पार्श्वनाथ के विवाह की चर्चा करते हुए लिखा है कि पार्श्वनाथ ने तापसियों द्वारा जलाई हुई लकड़ी से सर्प युगल के निकलने पर उन्हें नमस्कार मंत्र दिया, जिससे वे दोनों धरणेन्द्र और पद्मावती हुए। इससे पार्श्वनाथ को वैराग्य हो गया। तीर्थंकर स्वयं बुद्ध होते है उन्हें वैराग्य के लिए किसी के उपदेशादि की आवश्यकता नही होती। किन्तु बाह्य निमित्त उनके वैराग्योपादन में निमित्त अवश्य पड़ते हैं। श्वेताम्बरीय विद्वान हेमविजय

---

१. सुपसिद्ध महामइ णियमधरु, थिउसेण संघु इह महिहि वरु।
तहि चंदसेणु णामेण रिसी, वय-संजम-णियमइ जासु किसी।
तहाँ सीसु महामइ णियमधारि, णयवंतु गुणायरु बंभयारि।
सिरि माहउसेण महाणुभाउ, जिणसेणु सीसु पुणु तासु जाउ।
तहो पुव्व सणेहें पउमकित्ति, उप्पण्णु सीसु जिणु जासु चित्ति।

गणी ने तो नेमिनाथ के भित्ति चित्रों को पार्श्वनाथ के वैराग्य का कारण लिखा है। दिगम्बर परम्परा में नाग घटना को वैराग्य का कारण लिखा है। इस मान्यता में कोई सैद्धान्तिक हानि नही है। वादिराज ने पार्श्वनाथ के वैराग्य को स्वाभाविक बतलाया है। पार्श्वनाथ ने विवाह नही कराया, उन्हे वैराग्य हो गया। मूल आगम समवायाग और कल्पसूत्र में भी पार्श्वनाथ के विवाह का वर्णन नही है। उन्हे बाल ब्रह्मचारी प्रकट किया है। किन्तु बाद के श्वेताम्बराचार्य शीलाक, देवभद्र और हेमचन्द्र ने उन्हे विवाहित बतलाया है[२]। हेमचन्द्र ने १२ वे तीर्थंकर वासुपूज्य को बालब्रह्मचारी प्रकट करते हुए पार्श्वनाथ को भी अविवाहित (ब्रह्मचारी) बतलाया है।[३] आ० शीलाक ने उन्हे 'चउपन्न पुरिसचरिउ' में दार-परिग्रह करने और कुछ काल राज्य पालन कर दीक्षित होने का उल्लेख किया है।[४] जबकि हेमचन्द्र ने बालब्रह्मचारी लिखा है। एक ही ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ में एक स्थान पर पार्श्वनाथ को बाल ब्रह्मचारी लिखे और दूसरी जगह उन्हे विवाहित लिखे, इसे समुचित नही कहा जा सकता। दिगम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थकारों ने—यतिवृषभ, गुणभद्र, पुष्पदन्त, वादिराज और पार्श्वकीर्ति आदि ने उन्हे अविवाहित ही लिखा है।

पार्श्वनाथ के वैराग्य का कारण कुछ भी रहा हो, पर उनके वैराग्य को लोकान्तिक देवों ने पुष्ट किया। पार्श्वनाथ ने दीक्षा लेकर घोर तपश्चरण किया। वे एक बार भ्रमण करते हुए उत्तर पचाल देश की राजधानी अहिच्छत्रपुर के बाह्य उद्यान में पधारे। दोष रहित, वे मुनि कायोत्सर्ग में स्थित हो गए, गिरीन्द्र के समान वे ध्यान में निश्चल थे। ध्यानानल द्वारा कर्म समूह को दग्ध करने का प्रयत्न करने लगे। उनके दोनों हाथ नीचे लटके हुए थे, उनकी दृष्टिनासाग्र थी, वे समभाव के धारक थे, उनका न किसी पर रोष था और न किसी पर स्नेह, वे मणि-कचन को धूलि के समान, सुख, दुख, शत्रु, मित्र को भी समानभाव से देखते थे। जैसा कि उसके निम्न पद्य से स्पष्ट है —

तहि फासू जोउवि महिलएसु, थिइ काओसग्गे विगय-दोसु।
झाणाणल-पूरिउमणिमुणिंद, थिउ अविचल णावइ गिरिवरिंद।
ओलंबिय कर-यलु झाणु दक्खु, णासग्ग-सिहरि मुणिवद्ध चक्खु।
सम-सत्तु-मित्त-सम-रोस-तोसु, कंचण-मणि पेक्खइ धूलि सरिसु
सम-सरिसउ पेक्खइ दुक्खु सोक्खु, वंदिउ णरवर पर गणइ मोक्खु॥

—पासणाहचरिउ ३४-३

कमठ का जीव जो यक्षेन्द्र हुआ था विमान द्वारा कही जा रहा था। वह विमान जब पार्श्वनाथ के ऊपर आया, तब रुक गया। विमान रुकने का उसे बड़ा आश्चर्य हुआ, वह नीचे आया, तब उसने पार्श्वनाथ को ध्यानस्थ देखा, उन्हे देखते ही पूर्व भव के वैर के कारण उसने उन्हे ध्यान से विचलित करने का उपक्रम किया। परन्तु वे ध्यान में अविचल थे, उससे वे जरा भी विचलित नही हुए। तब उसने रुष्ट होकर पार्श्वनाथ पर घोर उपसर्ग किया। जब वे उससे भी विचलित नही हुए, तब उसने अत्यन्त रुष्ट होकर भयानक उपसर्ग किये, घन-घोर वर्षा की।[५]

२. इत्थ पितृवचः पार्श्वोऽप्युल्लघयितु मनीश्वरः।
भोग्यकर्म क्षपयितु मुदवाह प्रभावतीम॥ —त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र पर्व ९ श्लो० २१०

३. त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित पर्व ४ श्लोक १०२ पृ० ३८ तथा
मल्लिर्नेमिपार्श्वइति भाविनोऽपि त्रयोजिनाः।
अकृतोद्वाहोऽकृतराज्यः प्राव्राजिष्यन्ति मुक्तये॥ —त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित पर्व ४ श्लोक १०३ पृ० ३८

४. ततो कुमारभावमणुवालिऊण किंचिकाल कयदार परिग्गहो रायसिरि मणुवालिऊण...।
—चउपन्न पुरिसचरिउ पृ० १०४

५. घोरु भीमु उपसग्गु करत हो, सीयलु सलिल-गियरु वरिसत हो।
बोल्लिउ मत्तह गत्तिणिरतरु, तो विरा असुरहो मणुणिम्मच्छरु।
जिह जिह सलिलु पडइ घण मुक्कउ तिह तिह खधि जिणिद हो ढुक्कउ
तो वि ण चलइ चित्त तहो धीर हो, वालुवि कपइ णाहि सरीर हो।
छुडु जलुलघिउ खधि जिणिद हो, आसणु चलिउ नाम धरणिद हो॥

उसने सात रात्रि तक निरन्तर वर्षा की। जिससे वर्षा का पानी पार्श्वनाथ के कंधो तक पहुंच गया। उसी समय धरणेंद्र का आसन कम्पायमान हुआ, उसने भगवान पार्श्वनाथ का उपसर्ग जानकर उनकी रक्षा की।

उपसर्ग दूर होते ही भगवान को केवलज्ञान हो गया और इन्द्रादिक देव केवलज्ञान कल्याणक की पूजा करने आये। कमठ के जीव उस संवरदेव ने अपने अपराध की क्षमा मांगी और वह उनकी शरण में आया। उस समय जो अन्य तपस्वी थे वे भी सब पार्श्वनाथ की शरण में आकर सम्यक्त्व को प्राप्त हुए।

प्रफुल्ल कुमार मोदी ने 'पासचरिउ' की प्रस्तावना में पद्मकीर्ति के इस ग्रंथ का रचना काल शक सं० ९९९ बतलाया है। जबकि ग्रन्थकर्ता ने समय के साथ शक या विक्रम शब्द का प्रयोग नहीं किया, तब उसे शक संवत् कैसे समझ लिया गया। दूसरे पद्मकीर्ति ने अपनी जो गुरु परम्परा दी है उसमें चन्द्रसेन, माधवसेन, जिनसेन और पद्मकीर्ति का नामोल्लेख है। ग्रन्थ में कर्नाटक महाराष्ट्र भाषा के शब्दों का उल्लेख होने से उन्हें दाक्षिणात्यं मान कर शक संवत् की कल्पना कर डाली है।

हिरेआवली के लेख में चन्द्रप्रभ और माधवसेन का उल्लेख देखकर तथा चन्द्रप्रभ को चन्द्रसेन मान कर उनके समय का निश्चय किया है, जबकि उस लेख में माधवसेन के शिष्य जिनसेन का कोई उल्लेख नहीं है। ऐसी स्थिति में पद्मकीर्ति के गुरु जिनसेन का कोई उल्लेख न होने पर भी उक्त चन्द्रप्रभ ही चन्द्रसेन और जिनसेन के प्रगुरु होंगे। यह कल्पना कुछ संगत नहीं कही जा सकती, और न इस पर से यह फलित किया जा सकता है कि ग्रन्थकर्ता पद्मकीर्ति शक सं० ९९९ के ग्रंथकार हैं—इसके लिए किन्हीं अन्य प्रामाणिक प्रमाणों की खोज आवश्यक है नये प्रमाणों के अन्वेषण होने पर नये प्रमाण सामने आयेंगे, उन पर से पद्म कीर्ति का समय विक्रम की दशवी या ग्यारहवीं शताब्दी निश्चित होगा।

अनन्तवीर्य

अनन्तवीर्य—जिनका मटोल (बीजापुर बम्बई) के शिलालेख में निर्देश है। यह शिलालेख चालुक्य जयसिंह द्वितीय और जगदेकमल्ल प्रथम (ई० सन् १०२४) के समय का उपलब्ध हुआ है। इसमें कमल देव भट्टारक, विमुक्त बतीन्द्र सिद्धान्तदेव, अण्णिय भट्टारक, प्रभाचन्द्र और अनन्तवीर्य का क्रमशः उल्लेख है। ये अनन्तवीर्य समस्त शास्त्रों के विशेषकर जैनदर्शन के पारगामी थे। अनन्तवीर्य के शिष्य गुणकीर्ति सिद्धान्त भट्टारक और देवकीर्ति पण्डित थे। ये संभवतः यापनीय संघ और सूरस्थगण के थे[1]।

कनकसेन

चंद्रिकावाट सेनान्वय के विद्वान वीरसेन के शिष्य थे। यह वीरसेन कुमारसेनाचार्य के संघ के साधुओं के गुरु थे। इनका समय पी० बी० देशाई ने ८९० ई० बतलाया है। और कुमारसेन का समय ८६० ई० निर्दिष्ट किया है[2] चिकार्य ने मूलगुण्ड में एक जैन मन्दिर बनवाया था। उसके पुत्र नागार्य के छोटे भाई अरसार्य ने, जो नीति और आगम में कुशल था, और दानादि कार्यों में उद्युक्त तथा सम्यक्त्वी था। उसने नगर के व्यापारियों की सम्मति से एक हजार पान के वृक्षों के खेत को मन्दिरों की सेवा के लिये कनकसेन को शक संवत्० ८२४ सन् ९०३ ई० को अर्पित किया था। अतएव इन कनकसेन का समय ईसा की नौवीं शताब्दी का उपान्त्य और दशवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। —(जैन लेख संग्रह भा० २ पृ० १५८)

अर्हन्नन्दी

अड्डकलिगच्छ और बलहारिगण के सिद्धान्त पार दृष्टा सकलचन्द्र सिद्धान्त मुनि के शिष्य अप्पपोटि

१. जैनिज्म इन साउथ इंडिया पृ० १०५
२. जैनिज्म इन साउथ इंडिया, पी. बी. देशाई पृ० १३९

मुनीन्द्र के शिष्य थे[1]। इन्हें शक सं० ८६७ शुक्रवार के दिन (5 th December ६४५ A.D) पूर्वीय चालुक्य अम्मा द्वितीय या विजयादित्य षष्ठ का जो चालुक्य भीम द्वितीय वेंगी (vengi) के राजा का पुत्र और उत्तराधिकारी था, और जिसने ई० सन् ६७० (वि० सं० १०२७) तक राज्य किया। यह राजा जैनियों का संरक्षक था। महिला चामकाम्ब की प्रेरणा से, जो पट्टवर्धक घराने की थी। और अर्हनन्दी की शिष्या थी, उस राजा ने कलु चुम्बरु नामका एक ग्राम सर्व लोकाश्रय जिनभवन के हितार्थ अर्हनन्दी के पाद प्रक्षालन पूर्वक प्रदान किया। इनका समय ईसा की १०वीं शताब्दी है।

धर्मसेनाचार्य

धर्मसेनाचार्य—यह चन्द्रिकावाट वंश के विद्वान थे। इनका आचार निर्मल था और इनकी बड़ी ख्याति थी[2]। श्री ए. एफ. आर० हार्नले के द्वारा प्रकाश में लाई गई पट्टावलियों में से एक में चन्द्रिकपाट गच्छ का निर्देश काणूरगण और सिंहसंघ से सम्बन्धित था। जैसे हनसोग अन्वय का नाम हनसोग नामक स्थान से निसृत हुआ है। उसी तरह चन्द्रिकावाट भी संभव है किसी स्थान विशेष का नाम हो। देसाई महोदय का सुझाव है कि बीजापुर जिले के सिन्द की ताल्लुके में जो वर्तमान में चन्द्रकवट नामका गांव है, यह वही हो सकता है।

मूलगुण्ड से प्राप्त एक शिलालेख में लिखा है कि वीरसेन के शिष्य कनकसेन सूरि के कर कमलों में एक भेंट दी गई। वीरसेन चन्द्रिकावाट के सेनान्वय के कुमारसेन के मुख्य शिष्य थे। संभव है वे कुमारसेन वही हों, जिन्होंने मूलगुण्ड नामक स्थान पर समाधिपूर्वक मरण किया था। इनका समय ईसा की ६वीं और विक्रम की १०वीं शताब्दी का पूर्वार्ध हो सकता है।

इन्द्रनन्दी (श्रुतावतार के कर्ता)

प्रस्तुत इन्द्रनन्दी ने अपना परिचय और गुरु परम्परा का कोई उल्लेख नहीं किया। और न समय ही दिया। श्रुतावतार के कर्ता रूप से इन्द्रनन्दी का कोई प्राचीन उल्लेख भी मेरे अवलोकन में नहीं आया। ऐसी स्थिति में उनके समय-सम्बन्ध में विचार करने में बड़ी कठिनाई हो रही हैं।

उनकी एक मात्र कृति 'श्रुतावतार' है, जो मूलरूप में माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला से तत्त्वानुशासनादि संग्रह में प्रकाशित हो चुका है। जिसमें संस्कृत के एक सौ सतासी श्लोक हैं। उनमें वीर रूपी हिमाचल से श्रुतगंगा का जो निर्मल स्रोत वहा है वह अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु तक अवच्छिन्न धारा एक रूप में चली आयी। पश्चात् द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षादि के कारण मत-भेद रूपी चट्टान से टकराकर वह दो भागों में विभाजित होकर दिगम्बर-श्वेताम्बर नाम से प्रसिद्ध है। दिगम्बर सम्प्रदाय में जो श्रुतावतार लिखे गये, उनमें इन्द्र नन्दी का श्रुतावतार अधिक प्रसिद्ध है। इसमें दो सिद्धान्तागमों के अवतार की कथा दी गई है। जिनपर अन्त को धवला और जयधवला नामकी विस्तृत टीकाएं, जो ७२ हजार और ६० हजार श्लोक परिमाण में लिखी गई हैं, उनका परिचय दिया गया है। उसके बाद की परम्परा का कोई उल्लेख तक नहीं है। प्रस्तुत इन्द्रनन्दो विक्रम की १० वीं शताब्दी के विद्वान् हैं। ऐसा मेरा अनुमान है। विद्वान् विचार करें।

---

१. अड्डुकलि-गच्छ-नामा, बलहारिगण प्रतीत विख्यात यशाः।
सिद्धान्त पारदृश्वा प्रकटित गुण सकलचन्द्र सिद्धान्त मुनिः।
तच्छिष्यो गुणवान् प्रभुरमित यशास्सुमति रप्पपोटि मुनीन्द्रः॥
तच्छिष्यार्ऽहनन्द्यङ्घ्रितवर मुनये चामेकाम्बा सुभक्त्या।
श्रीमच्छी सर्व्वलोकाश्रय जिनभवनख्यात सत्त्रार्थमुच्चै॥
र्व्वेङ्गिनाथाम्मराजे क्षितिभृतिकलुचुम्बरु सुग्राममिष्टं।
सन्तुष्टा दापयित्वा बुधजन विनुतां यत्र जग्राह कीर्ति॥ —जैन लेख सं० भा० ३ कलुचुम्बरु लेख पृ० १८२

२. देखो चामुण्डराय पुराण पद्य १४

अध्याय ४

११वीं और १२वीं शताब्दी के विद्वान् आचार्य

अर्हनन्दि
धर्मसेनाचार्य
वादिराज
दिवाकरनन्दि सिद्धान्तदेव
दुर्गदेव (रिष्टसमुच्चय के कर्ता)
महाकवि पुष्प दन्त
कविडड्ढा (संस्कृत पंचसंग्रह के कर्ता)
पंडित प्रवचनसेन
शान्तिनाथ
इन्द्र कीर्ति
गुणसेन पंडित (नैयायिक और वैयाकरण)
गोपनन्दी
वृषभनन्दी
वासवनन्दी
वीरनन्दी सिद्धान्त चक्रवर्ती (चन्द्रप्रभचरित्र के कर्ता)
नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती (गोम्मट सार के कर्ता)
आर्यसेन
महासेन
चामुण्डराय (चामुण्डराय पुराण के कर्ता)
महाकवि वीर (जम्बू स्वामीचरित्र के कर्ता)
पद्मनन्दी (जंबूद्वीप पण्णत्ती के कर्ता)
कवि धवल (हरिवंश पुराण कर्ता)
जयकीर्ति (छन्दोनुशासन के कर्ता)
ब्रह्मसेन व्रतिप
मुनि श्रीचन्द्र
केशिराज
पद्मसेनाचार्य
विमलसेन पंडित
सागरसेन सैद्धान्तिक
इन्द्रसेन भट्टारक
आचार्य माणिक्यनन्दी
नयनन्दी
प्रभाचन्द्र (प्रमेयकमलमार्तण्डकर्ता)
वीरसेन (माथुरसंघ)
देवसेन
नेमिषेण
माधवसेन
शान्तिदेव
अमितगति (द्वितीय)
ब्रह्म हेमचन्द्र (श्रुतस्कन्ध के कर्ता)
पद्मनन्दि (तिन्त्रिणी गच्छ)
कनकसेन (द्वितीय)
नरेन्द्रसेन प्रथम
नरेन्द्र सेन (द्वितीय)
जिनसेन
नयसेन
मल्लिषेण
श्रीकुमार कवि (आत्म प्रबोध के कर्ता)
अङ्कदेव भट्टारक
गुणकीर्ति सिद्धान्तदेव
देवकीर्ति पंडित (अनन्तवीर्य शिष्य)
गोवर्द्धन देव

दामनन्दी (कुमार कीर्तिशिष्य)
दामनन्दि भट्टारक
दामनन्दा (मुनि पूर्णचन्द शिष्य)
भूपाल कवि (चतुर्विंशतिका के कर्ता
दामराज कवि कान्ति (कवियत्री)
आचार्य शुभचन्द्र (ज्ञानार्णव के कर्ता)
इन्द्रकीर्ति
केशवनन्दि (मेघनन्दि शिष्य)
कुलचन्द्र मुनि (परमानन्द सि० के शिष्य)
कीर्तिवर्मा
मुनिपद्मसिंह (णाणसार के कर्ता)
पद्मनन्दि मलधारि
श्रुतकीर्ति
कवि धनपाल (भविष्यदत्त कथा)
जयसेन (लाडवागडसंघ)
वाग्भट (नेमिनिर्वाणकाव्य के कर्ता)
हरिसिंह मुनि
हंससिद्धान्त देव
हर्षनन्दी
महा मुनि हेमसेन
भावसेन (गोपसेन शिष्य)
वीरसेन
हरिचन्द्र (धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता)
ब्रह्मदेव (द्रव्यसंग्रह वृत्ति)
त्रिभुवनचन्द्र
रामसेन (मूलसंघ सेनगण)
दयापालमुनि (रूपसिद्धि के कर्ता)
जयसेन (धर्मरत्नाकर के कर्ता)
बाहुबली आचार्य
माधवचन्द त्रैविद्य (त्रिलोकसार के टीकाकार)
पद्मनन्दि (पंचविंशतिका के कर्ता)
पद्मप्रभमलधारिदेव (नियमसार वृत्ति कर्ता)
दामनन्दि त्रैविद्य
कुलचन्द्रमुनीन्द्र
कुलचन्द मुनि (द्वितीय)

आचण्ण
ब्रह्मशिव
बालचन्द अध्यात्मी
राजादित्य
कीर्तिवर्मा
बोप्पण पंडित
वीरनन्दी (आचारसार के कर्ता)
गणधरकीर्ति (ध्यानविधि के टीकाकार)
भट्टवोसरि (आयज्ञान तिलक के कर्ता)
नागचन्द्र (अभिनव पम्प)
गुणभद्र
कर्णपार्य
श्रुतकीर्ति (पंच वस्तु के कर्ता)
वृत्तिविलास
छत्र सेन सं० ११६६
सागरनन्दी सिद्धान्तदेव
अर्हनन्दि (माघनन्दि सि० देव के शिष्य)
माइल्ल धवल (नयचक्र कर्ता)
कुमुदचन्द्र (कल्याण मंदिर स्तोत्रकर्ता)
श्रीचन्द्र (कथाकोश कर्ता)
चन्द्रकीर्ति (श्रुत विन्दु के कर्ता)
चन्द्रकीर्ति नाम के दूसरे विद्वान
चन्द्रकीर्ति (त्रिभुवन कीर्ति शिष्य)
चन्द्रकीर्ति (भ० श्रीभूषण शिष्य)
माघनन्दि सिद्धान्तदेव
देवकीर्ति
गण्ड विमुक्त सिद्धान्तदेव (माघनन्दि सि० के शिष्य)
मणिक्यनन्दी
माधवचन्द मलधारि (अमृतचन्द्र द्वि० के गुरु)
गुणभद्राचार्य (धन्यकुमार चरित के कर्ता)
माधवचन्दव्रती (देवकीर्ति शिष्य)
माधवचन्द्र (शुभचन्द्र सिद्धान्तदेव शिष्य)
वसुनन्दि सैद्धान्तिक
नरेन्द्र कीर्ति त्रैविद्य
त्रिभुवन मल्ल

मुनिकनकामर (करकण्डु चरिउ)
कवि श्रीधर (पार्श्वनाथ चरित्रकर्ता)
श्रमृतचन्द द्वितीय
मल्लिषेण मलधारि
लक्ष्मणदेव
लघु अनन्त वीर्य (प्रमेय रत्नमालाकार)
बालचन्द सिद्धान्तदेव
प्रभाचन्द्र (मेघचन्द्र त्रैविद्य शिष्य)
माधवसेन नाम के अन्य विद्वान
वीरसेन पंडितदेव
नरेन्द्रसेन (सिद्धान्तसार के कर्ता)
कवि सिंद्ध व सिंह (पज्जुण्णचरिउ के कर्ता)
पद्मनन्दिव्रती (एकत्व सप्तति के कनडी टीकाकार)
गिरिकीर्ति (गोम्मटसार पंजिका के कर्ता)

मेघचन्द त्रैविद्यदेव
शान्तिषेण
अमरसेन
श्रीषेण
नेमिचन्द्र
श्रीधर (गणित सारकर्ता)
वासवचन्द्र मुनीन्द्र
देवेन्द्र मुनि
नयकीर्ति मुनि
माणिक्यसेन पंडित
महासेन पंडितदेव
प्रभाचन्द्र (बालचन्द्र शिष्य)
प्रभाचन्द्र (मेघचन्द्र त्रैविद्य शिष्य)
प्रभाचन्द्र त्रैविद्य रामचन्द्र मुनि शिष्य

कनकनन्दी

गोम्मट सार के कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने अपने एक गुरु का नाम कनकनन्दी लिखा है। और बतलाया है कि उन्होंने इन्द्रनन्दी के पास सकल सिद्धान्त को सुनकर 'सत्वस्थान' की रचना की है यथा-

वर इंदणंदी गुरुणो पासे सोऊण सयल सिद्धंतं।
सिरि कणयणंदी गुरुणा सत्तुट्ठाणं समुद्दिट्ठं॥

यह सत्वस्थान ग्रन्थ 'विस्तर सत्व त्रिभगी' के नाम से आरा जैन सिद्धान्त भवन में मौजूद है। जिसके नोट मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी ने लिये थे। प्रेमी जी ने कनकनन्दी को भी अभयनन्दी का शिष्य बतलाया है[1] जो ठीक नही जान पड़ता, क्योंकि नेमिचन्द्र ने स्वय उन्हे इन्द्रनन्दी से सकल सिद्धान्त का ज्ञान करना लिखा है। इस कारण वे इन्द्रनन्दी के शिष्य थे। नेमिचन्द्राचार्य ने गोम्मटसार कर्मकाण्ड मे उक्त सत्वस्थान की ३५८ से ३९७ वें तक ४० गाथाएं दी है। जबकि आरा भवन की प्रति में ४८ या ४९ गाथाएं पाई जाती है। गोम्मटसार मे वे आठ गाथाएं नही दी गई[2]। इससे कनकनन्दी का समय भी १०वी शताब्दी का अन्तिम भाग और ग्यारहवी का प्रारम्भ हो सकता है। अन्त की गाथा मे कनकनन्दी का भी सिद्धान्त चक्रवर्ती होना पाया जाता है।

वादिराज

वादिराज—द्रमिल या द्रविडसंघ के विद्वान थे। द्रविडसंघस्थ नन्दिसंघ की अरुंगल शाखा के आचार्य थे। अरुंगल किसी स्थान या ग्राम का नाम है उसकी मुनिपरम्परा अरुंगलान्वय नाम से प्रसिद्ध हुई। षट्तर्कषण्मुख, स्याद्वादविद्यापति और जगदेकमल्ल इनकी उपाधियां हैं।

वादिराज श्रीपालदेव के प्रशिष्य, मतिसागर के शिष्य और रूपसिद्धि (शाकटायन व्याकरण की टीका) के कर्त्ता दयापाल[3] मुनि के सतीर्थ तथा गुरुभाई थे। वादिराज उनका स्वय नाम नही हैं किन्तु एक पदवी है, किन्तु उसका प्रचार अधिक होने के कारण वह मूल नाम के रूप में प्रचलित हुई जान पड़ती है। मूल नाम कुछ और ही रहा होगा।

चौलुक्य नरेश जयसिह देव की सभा में इनका बड़ा सम्मान था। और प्रख्यात वादियों में इनकी गणना थी[4] मल्लिषेण[5] प्रशस्ति के अनुसार ये राजा जयसिह द्वारा पूजित थे (सिंहसमर्च्य पीठ बिभव) और उन्हें महान् वादी,

---

१. देखो जैन साहित्य और इतिहास पृ० २९६

२. पुरातन जैन वाक्य सूची की प्रस्तावना पृ० ७३

३ हितैषिणा यस्य नृणामुदत्तवाचा निबद्धा हितरूपसिद्धिः।
वन्द्यो दयापाल मुनिः स वाचा सिद्धस्सताम्मूर्द्धनि यः प्रभावैः॥
यस्य श्री मतिसागरो गुरुरसौ चञ्चद्यशश्चन्द्र स्रः?
श्रीमान्यस्य स वादिराज गणभृत्स ब्रह्मचारी विभोः।
ए कोऽतीव कृती स एव हि दयापालव्रती यन्मन—
स्यास्तामन्य-परिग्रह-ग्रह कथा स्वे विग्रहे विग्रहः॥ —मल्लि० प्र० जैनले० भा० १ पृ० १०८

४. श्रीमत्सिंह महीपतेः परिषदि प्रख्यात वादोन्नति—
स्तर्क न्यायतमो पहोदयगिरि. सारस्वत. श्रीनिधिः।
शिष्य श्रीमतिसागरस्य विदुषां पत्युस्तपः श्रीभृतां,
भर्त्तुः सिंहपुरेश्वरो विजयते स्याद्वादविद्या पतिः॥ ५ न्याय वि० प्र०

५. मल्लिषेण प्रशस्ति शक सं० १०५० (वि० सं० ११८५) में उत्कीर्ण की गई है।

विजेता और कवि प्रगट किया है[1]।

जयसिंह (प्रथम) दक्षिण के चौलुक्य या सोलंकी वंश के राजा थे। इनके राज्य काल के ३० से अधिक शिलालेख और दान पत्र आदि मिल चुके हैं। जिनमें पहला लेख शक् सं० ९३८ का है और अन्तिम शक सं० ९६४ का। अतः ९३८ से ९६४ तक इनका राज्य काल निश्चित है। इनके शक सं० ९४५ पौषवदी दोइज के एक लेख में उन्हें भोजरूप कमल के लिये चन्द्र। राजेन्द्र चोल (परकेसरीवर्मा) रूप हाथी के लिये सिंह, मालवे की सम्मिलित सेना को पराजित करने वाला और चेर-चोल राजाओं को दण्ड देने वाला लिखा है।

वादिराज ने पार्श्वनाथ चरित की प्रशस्ति में अपने दादा गुरु श्रीपालदेव को "सिंहपुरैकमुख्य" लिखा है। और न्याय विनिश्चय की प्रशस्ति में अपने आपको भी 'सिंहपुरेश्वर' प्रकट किया है। जिससे स्पष्ट है कि यह सिंहपुर के स्वामी थे—इन्हें सिंहपुर जागीर में मिला हुआ था।

शक सं० १०४७ में उत्कीर्ण श्रवण बेलगोल के ४९३ नम्बर के शिलालेख में वादिराज की ही शिष्य परम्परा के श्रीपाल त्रैविद्यदेव को जिन मन्दिरों के जीर्णोद्धार और ऋषियों को आहार दान के हेतु होय्सल राजा विष्णुवर्द्धन पोय्सल देव द्वारा 'शल्य' नाम का गांव दान स्वरूप देने का वर्णन है। और ४९५ नम्बर के शिलालेख में—जो शक सं० ११२२ में अंकित हुआ, उसमें षड्दर्शन के अध्येता श्रीपाल देव के स्वर्गवास हो जाने पर उनके शिष्य वादिराज[2] (द्वितीय) ने 'परवदिमल्ल-जिनालय' बनवाया और उनके पूजन तथा मुनियों के आहारदानार्थ कुछ भूमि का दान दिया। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि वादिराज की शिष्य परम्परा मठाधीशों की परम्परा थी। जिसमें दान लेने और देने की व्यवस्था थी। वे स्वयं दान लेते थे, जिन मन्दिर निर्माण कराते थे, उनका जीर्णोद्धार कराते थे और अन्य मुनियों के आहार दानादि की व्यवस्था भी करते थे। वे राज दरबारों में जाते थे, और वाद-विवाद में विजय प्राप्त करते थे।

देवसेन ने दर्शनसार में लिखा है कि द्रविड संघ के मुनि, कच्छ, खेत वसति (मन्दिर) और वाणिज्य से आजीविका करते थे। तथा शीतल जल से स्नान करते थे[3]। इसी कारण उसमें द्राविड संघ को जैनाभास कहा गया है।

वादिराज ने पार्श्वनाथ चरित सिंहचक्रेश्वर या चौलुक्य चक्रवर्ती जयसिंह देव की राजधानी में रहते हुए शक सं० ९४७ की कार्तिक सुदी ३ को बनाया था[4]। जयसिंह देव उस समय राज्य कर रहे थे। उस समय यह राजधानी लक्ष्मी का निवास और सरस्वती देवी की जन्म भूमि थी।

यशोधर चरित के तृतीय सर्ग के ८५ वें पद्य[5] में और चौथे सर्ग के उपान्त्य पद्य[6] में महाराजा जयसिंह का उल्लेख किया है। जिससे यशोधर चरित की रचना भी जयसिंह के समय में हुई है।

---

१. त्रैलोक्य दीपिका वाणी द्वाभ्यामेवोदगादिह।
जिनराजत एकस्मादेकस्माद्वादिराजतः ॥५०
अरुद्धाम्बर मिन्दु-बिम्ब-रचितौत्सुक्यां सदा यद्यश—श्छत्रं वाक चमरी जराजिरुचयोऽभ्यर्णं च यत्कर्णयोः,
सेव्यःसिंह समर्च्य-पीठ-विभवः सर्वप्रवादि प्रजा—दत्तोच्चैर्जयकार-सार-महिमा श्रीवादिराजो विदाम् ॥

—४१ मल्लिषेण प्रशस्ति पृ० १०८

२. इस साधु परम्परा में वादिराज और श्रीपाल देव नाम के कई विद्वान हो गए है। ये वादिराज द्वितीय है, जो गंग नरेश राचमल्ल चतुर्थ या सत्यवाक्य के गुरु थे।

३. कच्छं खेत्तं वसदि वाणिज्जं कारिऊण जीवंतो।
ण्हंतो सीयलणीरे पावं पउरं स संजेदि ॥२६॥

४. शाकाब्दे नगवाधिरन्ध्रगणने संवत्सरेक्रोधने, मासे कार्तिकनाम्निबुद्धिमहिते शुद्धे तृतीयादिने।
सिंहे याति जयादि के वसुमतींजैनीकथेयं मया, निष्पत्तिं गमिता सती भवतु वः कल्याण निष्पत्तिये।

पा० च० प्र०

५. 'व्यातन्वज्जयसिंहतां रणमुखे दीर्घं दधौ धारिणीम्।
६. 'रणमुख जयसिंहो राज्यलक्ष्मीं बभार'॥

वादिराज सूरि की निम्न पांच कृतियाँ उपलब्ध हैं, जिनका संक्षित परिचय निम्न प्रकार है—

पार्श्वनाथ चरित—यह १२ सर्गात्मक काव्य है, जो माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो चुका है। इसमें अनेक पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख है।

यशोधर चरित—यह चार सर्गात्मक एक छोटा-सा खण्ड काव्य है। जिसके पद्यों की संख्या २९६ है। और जिसे तंजौर के स्व० टी० एस० कुप्पुस्वामी शास्त्री ने प्रकाशित किया था।

एकीभावस्तोत्र—यह पच्चीस श्लोकों का सुन्दर स्तवन है, और जो एकीभावं गत इव मया—से प्रारंभ हुआ है। स्तोत्र भक्ति के रस से भरा हुआ है और नित्य पठनीय है।

न्याय विनिश्चय विवरण—यह अकलंक देव के 'न्याय विनिश्चय' का भाष्य है। जैन न्याय के प्रसिद्ध ग्रन्थों में इसकी गणना है। इसकी श्लोक संख्या बीस हजार है। यह पं० महेन्द्र कुमार जी न्यायाचार्य के द्वारा सम्पादित होकर भारतीय ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित हो चुका है।

प्रमाण निर्णय—यह प्रमाण शास्त्र का लघुकाय स्वतत्र ग्रन्थ है। इसमें प्रमाण, प्रत्यक्ष, परोक्ष और आगम नाम के चार अध्याय हैं। माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला से मूल रूप में प्रकाशित हो चुका है।

अध्यात्माष्टक—यह आठ पद्यों का स्तोत्र है, माणिक चन्द्र ग्रन्थमाला से प्रकाशित है। पर निश्चयतः यह कहना शक्य नहीं है कि यह रचना इन्हीं वादिराज की है या अन्य की।

त्रैलोक्यदीपिका—नाम का एक ग्रन्थ भी वादिराज का होना चाहिये। जिसका उल्लेख मल्लिषेण प्रशस्ति के—'त्रैलोक्य-दीपिका वाणी' पद से ज्ञात होता है। श्रद्धेय प्रेमी जी ने अपने वादिराज वाले लेख में लिखा है कि स्वर्गीय सेठ माणिकचन्द्र जी के संग्रह में "त्रैलोक्य दीपिका" नामका का एक अपूर्ण ग्रन्थ है। जिसके आदि के दस और अन्त के ५८ वें पत्र से आगे के पत्र नहीं। संभव है यही वादिराज की रचना हो।

दिवाकरनन्दी सिद्धान्तदेव

यह भट्टारक चन्द्रकीर्ति के प्रधान शिष्य थे। सिद्धान्तशास्त्र के अच्छे विद्वान् थे और वस्तु तत्त्व का प्रतिपादन करने में निपुण थे। इन्होंने तत्त्वार्थ सूत्र की कन्नड़ भाषा में ऐसी वृत्ति बनाई थी, जो मूर्खों, बालकों तथा विद्वानों के अवबोध कराने वाली थी। इनके एक गृहस्थ शिष्य पट्टणस्वामी नोकय्यसेट्टि थे इन्होंने एक तीर्थद् वसदि (मन्दिर) का निर्माण कराया था और वीर सान्तर के ज्येष्ठ पुत्र तैलह देव ने, जो भुजबल-सान्तर नाम से ख्यात थे। राजा होकर उन्होंने पट्टणस्वामी की वसदि के लिये दान दिया था।

दिवाकर नन्दी को सिद्धान्त रत्नाकर कहा जाता था। इनके शिष्य मुनिसकलचन्द्र थे। इस लेख में काल नहीं दिया। यह लेख हुम्मच में सूले वस्ती के सामने के मानस्तम्भ पर उत्कीर्ण है। इसका समय १०७७ ई० के लगभग बतलाया गया है[1]।

हुम्मच के एक दूसरे १९७ नं० के लेख में, जिसमें पट्टण स्वामि नोकय्य सेट्टि के द्वारा निर्मित पट्टण स्वामि जिनालय को शक वर्ष ८४ (सन् १०६२) के शुभकृत संवत्सर में कार्तिक सुदि पंचमी आदित्यवार को सर्ववाधा रहित दान दिया। वीरसान्तर देव को सोने के सौ गद्याणभेंट करने पर मोलकेरे का दान मिला। माहुर में उसने प्रतिमा को रत्नों से मढ़ दिया और उसके पास सोना, चाँदी, मूगा आदि रत्नों की और पंच धातु की प्रतिमाएँ विराजमान की। पट्टण स्वामि नोकय्यसेट्टि ने शान्तगेरे, मोलकेरे, पट्टणस्वामिगेरे और कुक्कुड वल्लि के तले विण्डे गेरे ये सब तालाब बनवाये, और सौ गद्याण देकर उगुरे नदी का सौलंग के पागिमगल तालाब में प्रवेश कराया। यह लेख दिवाकर नन्दि के शिष्य सकलचंद पण्डित देव के गृहस्थ शिष्य मल्लिनाथ ने लिखा था[2]।

त्रैलोक्यमल्ल वीर सान्तर देव जैन धर्म का श्रद्धालु राजा था। क्योंकि इसने पोम्बुर्च में बहुत से जिन-मन्दिर बनवाये थे। इसकी धर्म पत्नी चामल देवी ने नोकियब्बे वसदि के सामने 'मकरतोरण' बनवाया था। और

---

१. देखो (जैन लेख सं० भाग, २ पृ० २७५-२८१)

२. जैन लेख सं० भा० २ पृ० २३७—२४१)

बल्लिगावे में चामेश्वर नाम का मन्दिर बनवाया था और ब्राह्मणों का दान दिया था।

—जैन लेख सं० भा २ पृ० २४१—२४५) लेख नं० १६८

दुर्गदेव

दुर्गदेव—यह संयमसेन के शिष्य थे, जिनकी बुद्धि षट्दर्शनों के अभ्यास से तर्कमय हो गई थी, जो पंचांग तथा शब्द शास्त्र में कुशल थे, समस्त राजनीति में निपुण थे। वादि गजों के लिये सिंह थे, और सिद्धान्त समुद्र के पार को पहुँचे हुए थे। उन्हीं की आज्ञा से यह ग्रन्थ 'मरण करण्डिका' आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थों का उपयोग करके 'रिष्ट सचमुच्चय' ग्रन्थ तीन दिन में रचा गया है। और जो विक्रम संवत् १०८९ की श्रावण शुक्ला एकादशी को मूल नक्षत्र के समय श्री निवास राजा के राज्य काल में कुम्भनगर के शान्तिनाथ मन्दिर में समाप्त हुआ है। दुर्गदेव ने अपने को देसजई (देशयति) बतलाया है[1]। इससे वे अष्ट मूल गुणसहित श्रावक के बारह व्रतों से भूषित अथवा क्षुल्लक साधु के रूप में प्रतिष्ठित हुए जान पड़ते हैं। इन्होंने अपने गुरुओं में संयमसेन और माधवचन्द्र का नामोल्लेख किया है। पर उनके सम्बन्ध में विशेष प्रकाश नहीं डाला।

यह ग्रन्थ मृत्यु विज्ञान से सम्बन्ध रखता है। इसमें २६१ प्राकृत गाथाओं में अनेक पिण्डस्थ, पदस्थादि — तथा रूपस्थादि चिन्हों-लक्षणों, घटनाओं एवं निमित्तों के द्वारा मृत्यु को पहले जान लेने की कला का निर्देश है।

इनकी दूसरी रचना अर्घ काण्ड है, जो १४४ गाथाओं में निबद्ध है, और जो वस्तुओं की मन्दी-तेजी जानने के विज्ञान को लिए हुए एक अच्छा महत्व का ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ मेरे पास था, डॉ० नेमिचन्द्र ज्योतिपआचार्य ने मगाया था। वह उनके पास से कहीं खो गया। अतः भण्डारों में उसकी खोज करनी चाहिए।

तीसरी रचना 'मन्त्र महोदधि' का उल्लेख वृहत् टिप्पणि का में—'मन्त्र महोदधि प्रा० दिगंबर श्री दुर्गदेव कृत गा० ३६" रूप से मिलता है

महाकवि पुष्पदन्त

कवि पुष्पदन्त अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान् कवि थे। उन्होंने उत्तरपुराण के अन्त में अपना परिचय निम्न प्रकार दिया है,—सिद्धि विलासिनी के मनोहर दूत, मुग्धादेवी के शरीर से संभूत, निर्धनों और धनियों को एक दृष्टि से देखने वाले, सारे जीवों के अकारणमित्र, शब्द सलिल से जिनका काव्य-स्रोत बढ़ा हुआ है, केशव के पुत्र, काश्यप गोत्री, सरस्वती विलासी, सूने पड़े हुए घरों और देव कुलिकाओं में रहने वाले, कलि के प्रवल पाप-पटलों से रहित, वे घरबार, पुत्र-कलत्रहीन, नदियों वापिकाओं और सरोवरों में स्नान करने वाले, पुराने वस्त्र और बल्कल पहिनने वाले, धूल-धूसरित अंग, दुर्जनों के संग से दूर रहने वाले, जमीन पर सोने वाले और अपने ही हाथों को ओढ़ने वाले, पण्डित-पण्डित मरण की प्रतीक्षा करने वाले मान्यखेट नगरवासी, मनमें अरहंतदेव का ध्यान

१. जो छद्दंसण-तक्क-तक्किय यमं पंचंग सद्दागमं।
जोगी सेसमहीस नीनि कुसलो वाइब्भ कंठीरवो।
जो सिद्धंत मपारती (णी) रसुणिही तीरे वि पारंगओ,
सो देवो सिरि संजमाइ मुणिवो आमी इह भूतले ॥२५७

संजाओ इह तस्स चारु चरियो णाणं बुधोयं मई,
सीसो देस जई संवोहण परो वीसेण-बुद्धागमो।
णामेणं सिरि दुगदेव-विइओ वागीसरा यन्नओ,
तेणेदं रइयं विमुद्ध मइणा सत्थं महत्थं फुडं ॥२५८

× × ×

संवच्छर इग महसे वोलीणं णवय सीइ-संजुत्ते (१०८९)
सावण-सुक्के यारसि दियहम्मि मूल रिक्खम्मि ॥२६०
सिरि कुंभणयर रइए लच्छिणिवास-णिवइ-रज्जंम्मि।
सिरि संतिणाह भवणे मुणिभवियस्स उभे रम्मे (?) ॥२६१

करने वाले, भरतमन्त्री द्वारा सम्मानित, अपने काव्य प्रबन्ध से लोगों को पुलकित करने वाले, धो डाला है पापरूप कीचड़ जिसने ऐसे अभिमान मेरु पुष्पदन्त ने जिनभक्ति पूर्वक क्रोधन संवत्सर में महापुराण की रचना की[1]।

पुष्पदन्त के पिता का नाम केशवभट्ट और माता का नाम मुग्धादेवी था। यह काश्यप गोत्री ब्राह्मण थे। इनका शरीर अत्यन्त कृश (दुबला-पतला) और वर्ण सांवला था[2]। यह पहले शैव मतानुयायी थे। किन्तु बाद में किसी दिगंबर विद्वान् के सानिध्य से जैनधर्म का पालन करने लगे थे। वे जैनधर्म के बड़े श्रद्धालु और अपनी काव्य कला से भव्यों के चित्त को अनुरंजित करने वाले थे। जैनधर्म के सिद्धान्तों और ब्राह्मण धर्म के सिद्धान्तों के विशिष्ट विद्वान थे। प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषा के महापण्डित थे। इनका अपभ्रंश भाषा पर असाधारण अधिकार था। उनकी कृतियां उनके विशिष्ट विद्वान् होने की स्पष्ट सूचना करती है। कविवर बड़े स्वाभिमानी और उग्र प्रकृति के धारक थे। इस कारण वे अभिमान मेरु, कहलाते थे। अभिमान मेरु[3] अभिमान चिन्ह[4] काव्य रत्नाकर[4] कवि-कुल-तिलक[5] और सरस्वती निलय तथा कवि पिशाच[6] आदि उनकी उपाधियां थी। जिनका उपयोग उन्होंने अपने ग्रन्थों में स्वय किया है। इससे उनके व्यक्तित्व और प्रतिष्ठा का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। वे सरस्वती के विलासी और स्वाभाविक काव्य-कला के प्रेमी थे। इनकी काव्य-शक्ति अपूर्व और आश्चर्यजनक थी। वे निस्संग थे, उनकी निस्संगता का परिचय महामात्य भरत के प्रति कहे गए निम्न वाक्यों से स्पष्ट हो जाता है। वे मन्त्री भरत से कहते है कि—मैं धन को तिनके के समान गिनता हूं। मैं उसे नही लेता। मैं तो केवल अकारण प्रेम का भूखा हूं। और इसी से तुम्हारे महल में हूं[8]। मेरी कविता तो जिनचरणों की भक्ति से ही स्फुरायमान होती है, जीविका निर्वाह के ख्याल से नही[9]।

पुष्पदन्त बड़े भारी साम्राज्य के महामात्य भरत द्वारा सम्मानित थे। भरत राष्ट्रकूट राजाओं के अन्तिम सम्राट् कृष्ण तृतीय के महामात्य थे। कवि ने उन्हें 'महयत्त वंसधय वड गहीरु' लिखा है। भरत मानवता के हामी, विद्वानों के प्रेमी और कवि के आश्रय दाता थे। वे उनके पुनीत व्यवहार से उनके महलों में निवास करते थे। यह सब उनकी धर्म वत्सलता का प्रभाव है जो उक्त कवि से महापुराण जैसा महान् ग्रन्थ निर्माण कराने में समर्थ हो सके। भरत मन्त्री के दिवंगत हो जाने के बाद भी कवि उनके सुपुत्र नन्न के महल में भी रहे और नागकुमार चरित यशोधर चरित की रचना की। उत्तर पुराण के संक्षिप्त परिचय पर से ज्ञात होता है कि वे बड़े निस्पृह और अलिप्त थे, और देह-भोगों से सदा उदासीन रहते थे। कवि के उच्चतम जीवन-कणों से उनकी निर्मल भद्र प्रकृति, निस्संगता और अलिप्तता का वह चित्रपट हृदय-पटल पर अंकित हुए विना नहीं रहता। उनकी इस अकिंचन वृत्ति का महामात्य भरत पर भी प्रभाव पड़ा है। देहभोगों की अलिप्तता उनके जीवन की महत्ता का सबसे बड़ा सबूत है। यद्यपि वे साधु नही थे, किन्तु उनकी निरीहभावना इस बातकी सद्योतक है कि उनका जीवन एक साधु से कम भी नही था वे स्पष्टवादी थे और अहंकार की भीषणता से सदा दूर रहते थे, परन्तु स्वाभिमान का परित्याग करना उन्हें किसी तरह भी इष्ट नही था। इतना ही नहीं किन्तु वे अपमान से मृत्यु को अधिक श्रेष्ठ समझते थे। कवि का समय

१. देखो, उत्तर पुराण प्रशस्ति
२. कसरण सरीरें सुद्धकुरूवें मुद्धाएवि गब्भ सभूवे ।।' उत्तर पु० प्रशस्ति
३. (क) न सुणेवि भणइ अहिमाणमेरु।' महापु० स० १-३-१२
(ख) णण्णहो मदिरि णिवसतु सतु, अहिमाण मेरु गुणगण महतु ।। —नाग कु० च० १, २, २
४. वय संजुत्ति उत्त ससत्ति वियलिय संकि अहिमाणंकि ।।जसहरच० ५-३१
५. भो भो केसव तणुरुह णवसर रुह मुह कव्व रयण रयणायरु।
६. त णिसुणेवि भरहे वुत्तु ताव, भो कइकुलतिलय विमुक्कगाव। —महा पु० १-८-१
७. जिणचरण कमल भत्तिल्लएण, ता जपिउ कव्वपिसल्लएण। —महापु० १, ८, ८
८. धणु तणसमु मज्झु, ण तं गहणु, णेहु णिकारिमु इच्छमि।
देवि सुअ सुदणिहि तेण हउ, णिलए तुहारए अच्छमि ।।२०, उत्तरपु०
९. मज्झु कइत्तणु जिण पय भत्तिहे, पसरइ णउ णिय जीविय वित्तिहे—उत्तरपु०

विक्रम की दशवी शताब्दी का अन्तिम भाग और ११वी शताब्दी का पूर्वार्ध है। क्योंकि उन्होंने अपना महापुराण सिद्धार्थ संवत्सर शक सं ८८१ में प्रारम्भ किया था। उस समय मेलपाटी या मेलाडि में कृष्णराज मौजूद थे। तब पुष्पदन्त मेल्पाटी में महामात्य भरत से मिले और उनके अतिथि हुए और उन्होंने उसी वर्ष में महापुराण शुरु कर उसे शक सं० ८८७ (सन् ९६५) वि० सं० १०२२ में समाप्त किया।

समय विचार

महाकवि पुष्पदन्त बरार प्रान्त के निवासी थे। क्यों कि उनकी रचना में महाराष्ट्र भाषा के अनेक शब्द पाये जाते है। जिनका उपयोग उसी देश में होता है। पं० नाथूराम जी प्रेमी ने लिखा है कि ग० वा० तगारे एम.ए. बी. टी. नाम के विद्वान् ने पुष्पदन्त को मराठी भाषा का महाकवि लिखा है। और उनकी रचनाओं में से ऐसे बहुत से शब्द चुनकर बतलाये हैं, जो प्राचीन मराठी भाषा मे मिलते जुलते हैं[1]। मार्कण्डेय ने अपने 'प्राकृत सर्वस्व' में अपभ्रंश भाषा के नागर, उपनागर और व्राचट तीन भेद किये है। इनमें व्राचट को लाट (गुजरात) और विदर्भ (बरार) की भाषा बतलाया है। इससे पुष्पदत्त के ग्रन्थों की भाषा व्राचट होनी चाहिये।

पुष्पदन्त के समकालीन राष्ट्रकूटवंश के राजा कृष्ण तृतीय है। कवि पुष्पदन्त ने स्वयं अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ के समय तीसरे कडवक में कृष्ण राज तृतीय का मेलपाटी में रहने का उल्लेख किया है ओर उसे चोड देश के राजा का शिर तोड़ने वाला लिखा है—

उव्वद्ध जूडु भूभंगभीसु, तोडेप्पिणु चोडहो तणउसीसु।
भुवणेक्करामु रायाहिराउ, जहिअच्छइ तुडिगु महाणुभाउ।
तं दीणदिण्णधण कणय पयरु, महि परि भमंतु मेपाडिणयरु॥

वे महाप्रतापी सार्व भौम रजा थे। इनके पूर्वजों का साम्राज्य उत्तर में नर्वदा नदी से लेकर दक्षिण में मैसूर तक फैला हुआ था। जिसमें सारा गुजरात, मराठी म० प्र० और निजाम राज्य शामिल था। मालवा और बुन्देलखण्ड भी उनके प्रभाव क्षेत्र में थे। इस विस्तृत साम्राज्य को कृष्ण तृतीय ने और भी अधिक बढ़ाया और दक्षिण का सारा अन्तरीप भी अपने अधिकार में कर लिया था। उन्होंने लगभग ३० वर्ष राज्य किया है। वे शक स० ८६१ के आस-पास गद्दी पर बैठे होंगे। वे कुमार अवस्था में अपने पिता के जीते जी राज्य कार्य संभालने लगे थे। पुष्पदन्त शक सं० ८८१ में इन्हीं के राज्य में मेलपाटी पहुचे थे और वे राजा कृष्ण की मृत्यु के बाद भी वहां रहे है। क्योंकि धारा नरेश हर्षदेव ने खोट्टिग देव की राज्यलक्ष्मी को लूट लिया था। धनपाल ने अपनी 'पायलच्छी नाम माला' में लिखा है कि वि० सं० १०२९ में मालव नरेन्द्र ने मान्यखेट को लूटा[2] इसका। समर्थन उदयपुर (ग्वालियर) के शिलालेख में अंकित परमार राजाओं की प्रशस्ति मे भी होता है[3]। मेलपाटी के लूटे जाने पर पुष्पदन्त को भी उसका बड़ा खेद हुआ और उन्होंने भी उसका उल्लेख निम्न पद्य में किया है—

दीनानाथ धनं सदाबहुजनं प्रोत्फुल्लवल्लीवनं।
मान्यखेटपुरं पुरदरपुरी लीलाहरं सुन्दरम्।
धारानाथ नरेन्द्र कोप-शिखिना दग्धंविदग्ध प्रियं।
क्वेदानीं वसतिं करिष्यति पुनः श्री पुष्पदन्तः कविः॥

शक सं० ८९४ में मान्यखेट के लूट लिये जाने के बाद भी पुष्पदन्त वहां रहे हैं। कवि का जसहचरिउ उस समय समाप्त हुआ जब मान्य खेट लूटा जा चुका था। इससे स्पष्ट है कि शक सं० ८८१ से ८७४ तक १३ वर्ष

---

१. उक्कुरड—उकिरडा (घूरा), गजोल्लिय—गांजलेले (दुखी), चिक्खिल्ल—चिखल (कीचड़), तुप्प—तूप (घी), फेड फेडणे (लौटाना। बोक्कड़—बोकड (बकरा) आदि, देखो सहयाद्रि मासिक पत्र अप्रैल १९४१ का अंक, पृ० २५३, ५६।

२. विक्कमकालस्स गए अउणत्तीसुत्तरे सहस्सम्मि। मालवणरिंद धाडीए लूडिए मण्णखेडम्मि॥२७६

३. 'श्री हर्षदेव इति खोट्टिगदेव लक्ष्मी, जग्राह यो युधिनगादसमप्रतापः॥'।

कवि मान्यखेट में रहे, उसके बाद वे कितने वर्ष तक जीवित रहे, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। पर मान्यखेट की लूट से कोई १५ वर्ष के लगभग सं० १०४४ में बुध हरिषेण ने अपनी धर्म परीक्षा बनाई। उसमें पुष्पदन्त का उल्लेख किया है। उस समय पुष्पदन्त काफी प्रसिद्ध हो चुके थे। इसी से उन्होंने लिखा है कि—पुष्पदन्त जैसे मनुष्य थोड़े ही हैं उन्हें सरस्वती देवी कभी नहीं छोड़ती—सदा साथ रहती है[1]।

कवि ने ग्रन्थ में धवल-जयधवल ग्रन्थ का उल्लेख किया है। जिनसेनाचार्य ने अपने गुरुवीरसेन द्वारा अधूरी छोड़ी हुई जयधवला टीका को शक सं० ७५९ में राष्ट्र कूट राजा अमोघ वर्ष प्रथम के राज्य समय समाप्त की थी। अतः पुष्पदन्त उक्त संवत् के बाद हुए हैं। और हरिषेण ने अपनी धर्म परीक्षा वि० सं० १०४४ शक सं० ९०९ में समाप्त की है कवि ने अपने ग्रन्थों में तुडिगु, शुभतुग, वल्लभ नरेन्द्र और कण्हराय नाम से कृष्णराज (तृतीय) का उल्लेख किया है। मान्यखेट को अमोघ वर्ष प्रथम ने शक सं० ७३७ में प्रतिष्ठित किया था। पुष्पदन्त ने मान्यखेट नगरी को कृष्णराज की हाथ की तलवार रूपी जलवाहनी से दुर्गम और जिसके धवल ग्रहों के शिखर मेधावली से टकराने वाले लिखा है। इस सब विवेचन परसे पुष्पदन्त का समय शक सं० ८५० से ८९४ से बाद तक रहा प्रतीत होता है अर्थात् वे ईसा की दशवी और विक्रम की ११वी शताब्दी के पूर्वार्ध के विद्वान् है।

रचनाएं

कवि पुष्पदन्त की तीन रचनाएं मेरे सामने हैं—महापुराण, नागकुमार चरित्र और जसहर चरिउ।

महापुराण—दो खण्डों में विभाजित है—आदिपुराण और उत्तरपुराण। आदिपुराण में ३७ संधियां हैं जिनमें आदि ब्रह्मा ऋषिभदेव का चरित वर्णित है। और उत्तरपुराण की ६५ सन्धियों में अवशिष्ट तेईस तीर्थकरों, १२ चक्रवर्तीयों, नवनारायण, नव प्रतिनायण और बलभद्रादि त्रेसठ शलाका पुरुषों का कथानक दिया हुआ है। जिसमें रामायण और महाभारत की कथाएं भी संक्षिप्त में आ जाती हैं। दोनों भागों की कुल सन्धियां एक सौ दो हैं, जिनकी आनुमानिक श्लोक संख्या बीस हजार से कम नहीं है। महापुरुषों का कथानक अत्यन्त विशाल है और अनेक जन्मों की अवान्तर कथाओं के कारण और भी विस्तृत हो गया है। इससे कथा सूत्र को समझने एवं ग्रहण करने में कठिनता का अनुभव होता है। कथानक विशाल और विशृंखल होने पर भी बीच-बीच में दिये हुए काव्यमय सरस एवं सुन्दर आख्यानों से वह हृदय ग्राह्य हो गया है। जनपदों, नगरों और ग्रामों का वर्णन सुन्दर हुआ है। कवि ने मानव जीवन के साथ सम्बद्ध उपमाओं का प्रयोग कर वर्णनों को अत्यन्त सजीव बना दिया है। रस और अलंकार योजना के साथ पद व्यंजना भी सुन्दर बन पड़ी है साथ ही अनेक सुभाषितों[2] वाग्धाराओं से ग्रन्थ रोचक तथा सरस बन गया है। ग्रन्थों में देशी भाषा के ऐसे अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं जिनका प्रयोग वर्तमान हिन्दी में भी प्रचलित है[3]। कवि ने यह ग्रन्थ सिद्धार्थ संवत् में शुरू किया और क्रोधन संवत्सर की आषाढ़ शुक्ला दशमी के दिन शक संवत् ८८७ (वि० सं० १०२२) में समाप्त किया[4]। उक्त ग्रन्थ राष्ट्रकूट वंश के अन्तिम सम्राट कृष्ण तृतीय के महामात्य भरत के अनुरोध से बना है। ग्रन्थ की संधि पुष्पकाओं के स्वतंत्र संस्कृतपद्यों में भरत प्रशंसा और मंगल कामना की गई है।

महामात्य भरत सब कलाओं और विद्याओं में कुशल थे, प्राकृत कवियों की रचनाओं पर मुग्ध थे। उन्होंने सरस्वती रूपी सुरभिका दूध जो पिया था। लक्ष्मी उन्हें चाहती थी, वे सत्य प्रतिज्ञ और निर्मत्सर थे

१. पुप्फयंत णवि माणमु बुच्चइ, जो सरसइए कयावि ण मुच्चइ॥ —धर्म परीक्षा प्रशस्ति

२. जेट्टा वि उ सुत्तउ सीह केण—सोतेहुए सिंह को किसने जगाया।
माणु भंगुवर मरणु ण जीविउ—अपमानित होकर जीने से मृत्यु भली है।
को तं पुसइ णिडालइ लिहियउ—मस्तक पर लिखे को कौन मेंट सकता है।

३. कप्पड =कपड़ा, अवसें=अवश्य, हट्ट हाट (बाजार) तोंदे थोंद (उदर) लीह=रेखा (लीक), चंग=अच्छा, डरभय, डाल—शाखा, लुक्क=लुकना (छिपना) आदि अनेक शब्द हैं जिन पर विचार करने से हिन्दीके विकास का पता चलता है।

४. कोहण संवच्छरि आसाढइ, दहमइ दियहि चंद रुइ रूढइ।
—उत्तर पुराण प्रशस्ति।

युद्धों का बोझ ढोते-ढोते उनके कन्धे घिस गये थे, उन्होंने अनेक युद्ध किये थे।[1] वे कृष्णराज के सेनापति और दान मंत्री भी थे[2]।

वे कवियों के लिये कामधेनु, दीन-दुखियों की आशा पूरी करने वाले, चारों ओर प्रसिद्ध, परस्त्री पराङ्मुख, सच्चरित्र उन्नतमति और सुजनों के उद्धारक थे[3]। उनका रंग सावला था, उनकी भुजाएं हाथी की सूड के समान थीं, अङ्ग सुडौल नेत्र सुन्दर और वे सदा प्रसन्न मुख रहते थे[4]। भरत बहुत ही उदार और दानी थे। भरत ने पुष्पदन्त से महापुराणकी रचना कराकर अपनी कीर्ति को चिरस्थायी बनाया।

णाय कुमार चरिउ (नाग कुमार चरित)—यह एक छोटा सा खण्ड काव्य है। इसमें ९ सन्धियाँ हैं। जिनमें पचमी व्रत के उपवास का फल बतलाने वाला नाग कुमार का चरित अंकित किया गया है, रचना सुन्दर-प्रौढ़ और हृदय-द्रावक है और उसे कवि ने चित्रित कर कण्ठ का भूषण बना दिया है। ग्रन्थ में तात्कालिक सामाजिक परिस्थिति का भी वर्णन है। ग्रन्थ की रचना भरत मन्त्री के पुत्र नन्न की प्रेरणा से हुई है।

नन्न को यशोधर चरित में 'वल्लभ नरेन्द्र गृह महत्तर'—वल्लभ नरेन्द्र का गृह मन्त्री लिखा है। नन्न अपने पिता के सुयोग्य उत्तराधिकारी थे और वे कवि का अपने पिता के समान आदर करते थे। वे प्रकृति से सौम्य थे, उनकी कीर्ति सारे लोक मे फैली हुई थी। उन्होने जिन मन्दिर बनवाए थे। वे जिन चरणों के भ्रमर थे, और जिन-पूजा में निरत रहते थे, जिन शासन के उद्धारक थे, मुनियों को दान देते थे, पापरहित थे, बाहरी और भीतरी शत्रुओं को जीतने वाले थे, दयावान् दीनों के शरण राजलक्ष्मी के क्रीड़ा सरोवर, सरस्वती के निवास, और तमाम विद्वानों के साथ विद्या-विनोद में निरत एवं शुद्ध हृदय थे।[5]

१. .... णीसेसकला विण्णाणकुसलु।
पाययकइ कव्वरसावउद्धु-सपीय सरासइ सुरहि दुद्धु॥
कमलच्छु अमच्छरु सच्चसधु, रणभर धुर धरणग्घुट्ठखधु।

२ सोय श्री भरतः कलक रहितः कान्त. सवृत्तः शुचिः।
सज्ज्योतिर्मणिराकरो प्लुतइवानर्घ्यो गुणैर्भासते।
वशो येन पवित्रतामिह महामात्याह्वयः प्राप्तवान्।
श्रीमद्वल्लभराज शक्तिकटके यश्चाभवन्नायकः॥ प्र० श्लो० ४६
ह हो भद्र प्रचण्डावनि पति भवने त्याग सख्यान कर्त्ता,
कोय श्यामः प्रधानः प्रवरकरिकराकारबाहुः प्रसन्नः।
धन्यः प्रालेय पिण्डोपमधवलयशो धौतधात्रीतलान्तः।
ख्यातो बन्धुः कवीनां भरत इति कथं पान्थ जानासि नो त्वम्॥ प्र० श्लो० १५

३. सविलास विलासिणि हियहथेणु सुपसिद्ध महाकइ कामधेणु।
काणीणदीणपरिपूरियासु जसपसरपसाहिय दसदिसासु।
पर रमणि परम्मुहु सुद्धसीलु उण्णयमइ-सुयणुद्धरणलीलु॥

४. श्यामरुचि नयन सुभगं लावण्य प्रायमंगमादाय।
भरतच्छलेन सम्प्रति कामः कामाकृतिमुपेतः॥ प्र० श्लो० २०

५. सुहतुंगभवणवावार भार णिव्वहण वीरधवलस्स।
कोंडिल्लगोत्तणहससहरस्स पयईए सोमस्स॥१
कुंद व्वागब्भ समुब्भवस्स सिरि भरत भट्टतणयस्स।
जस पसर भरिय भुवणोयरस्स जिणचरण कमल भसलस्य॥२
अणवरय रइय वरजिणहरस्स जिणभवणपूय णिरयस्स।
जिण सासणायसुद्धारणस्स सुणिदिण्णदाणस्स॥३ नागकु० प्र०

पुष्पदन्त ने एक प्रशस्ति पद्य में नन्न को उनके पुत्रों के साथ प्रसन्न रहने का आशीर्वाद दिया है[1]। पर उनके नामों का उल्लेख नहीं किया।

जसहरचरिउ—यह भी एक खण्ड काव्य है, जिसकी चार सन्धियों में राजा यशोधर और उनकी माता चन्द्रमती का कथानक दिया हुआ है। जो सुन्दर और चित्ताकर्षक है। राजा यशोधर का यह चरित इतना लोकप्रिय रहा है कि उस पर अनेक विद्वानों ने संस्कृत अपभ्रंश और हिन्दी भाषा में अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। सोमदेव, वादिराज, वासवसेन सकलकीर्ति, श्रुतसागर, पद्मनाभ, माणिक्यदेव, पूर्णदेव, कविरइधू, सोमकीर्ति, विश्वभूषण और क्षमा-कल्याण आदि अनेक दिगम्बर, श्वेताम्बर विद्वानों ने ग्रन्थ लिखे हैं। इस ग्रन्थ में सं० १३६५ में कुछ कथन, राउल और कौल का प्रसंग, विवाह और भवांतर पानीपत के बीसल साहु के अनुरोध से कन्हड के पुत्र गन्धर्व ने बनाकर शामिल किया था।

यह ग्रन्थ भी भरत के पुत्र और वल्लभनरेन्द्र के गृहमन्त्री के लिये उन्हीं के महल में रहते हुए लिखा गया था। इसी से कवि ने प्रत्येक संधि के अन्त में 'णण्ण कण्णाभरण' विशेषण दिया है। इस ग्रन्थ में युद्ध और लूट के समय मान्यखेट की जो दुर्दशा हो गई थी—वहाँ दुष्काल पड़ा था, लोग भूखों मर रहे थे, जगह-जगह नर कंकाल पड़े हुए थे, यह लूट शक सं० ८९४। वि० सं० १०२९ में हुई थी। कवि ने उस समय मान्यखेट की दुर्दशा का चित्रण किया है। जान पड़ता है कवि उस समय नन्न के ही महल में रहते थे।

कवि डड्ढा

कवि डड्ढा—संस्कृत भाषा के अच्छे विद्वान् और कवि थे। यह चित्तौड़ के निवासी थे। इनके पिता का नाम श्रीपाल था। इनकी जाति प्राग्वाट (पोरवाड़) थी। यह पोरवाड़ जाति के वणिक थे।[2]

इनकी एक मात्र कृति संस्कृत पंचसंग्रह है, जो प्राकृत पंचसंग्रह की गाथाओं का अनुवाद है।

माथुर संघ के आचार्य अमित गति ने वि० सं० १०७३ में संस्कृत पंचसंग्रह की रचना की है। दोनों पंच-संग्रहों का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि दोनों में अत्यधिक समानता है। अमितगति ने डड्ढा के पंचसंग्रह को सामने रखकर अपना पंचसंग्रह बनाया है। अमितगति के पंचसंग्रह में ऐसे भी पद्य उपलब्ध होते हैं जिसमें थोड़ा-सा शब्द परिवर्तन मात्र पाया जाता है। कुछ ऐस भी पाये जाते हैं जिनका रूपान्तरित होने पर भी भावार्थ वही है। उसमें कोई अन्तर नहीं आता।

अमितगति के पंचसंग्रह से डड्ढा के पंचसग्रह में कुछ वैशिष्ट्य भी पाया जाता है[3]। डड्ढा के पंच संग्रह में जहां प्राकृत गाथाओं का अनुवाद मात्र है वहां अमितगति के पंचसंग्रह में अनावश्यक अतिरिक्त कथन भी उपलब्ध होता है।

कई स्थलों पर अमितगति के पंचसंग्रह की अपेक्षा डड्ढा के पंचसंग्रह की रचना अधिक सुन्दर हुई है। डड्ढा की रचना प्राकृत मूलगाथाओं के अधिक समीप है। वह पद्यानुवाद मूलानुगामी है।

कलि मल कलंक परिवज्जियस्स जिय दुविह वइरिणियस्स।
कारुण्णकंदणव जलहरस्स दीण जण सरणस्स ॥४
णिवलच्छी कीला सरवरस्स वाएसरि णिवासस्स।
णिस्सेसविउस विज्जाविणोय णिरयस्स सुद्ध हिययस्स ॥५—नागकुमार चरित प्रशस्ति

१. स श्रीमान्निह भूतले सह सुतैर्नन्नाभिधो नन्दतात् —यशोधर० २

२. श्री चित्रकूट वास्तव्य प्राग्वाटवणिजा कृते।
श्रीपाल सुत डड्ढेण स्फुटः प्रकृति संग्रहः ॥

३. वचनैर्हेतुभीः रूपैः सर्वेन्द्रियभयाव हैः।
जुगुप्साभिश्च बीभत्सैर्नैव क्षायिकदृक् चलेत् ॥२२३

समय—अमितगति ने अपना पंचसंग्रह वि० सं० १०७३ में बनाकर समाप्त किया है, अतः डड्ढा की रचना उससे पूर्ववर्ती है। डड्ढा ने अमृतचन्द्र के तत्त्वार्थसार का उद्धरण दिया है। आचार्य अमृतचन्द्र का समय विक्रम की दशवीं शताब्दी है। अतः डढ्ढा अमृतचन्द्र के बाद के विद्वान् हैं। चूंकि डड्ढा के पंचसंग्रह का एक पद्य[२] जयसेन के धर्मरत्नाकर में उध्दृत पाया जाता है। धर्मरत्नाकर का रचना काल सं० १०५५ हैं। अतः डड्ढा का पंचसंग्रह १०५५ से पहले बना है। इससे वह विक्रम की ११ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध की रचना है। ब्रह्मदेव की द्रव्य संग्रह की गाथा ४२ की टीका पृ० १७७ में डड्ढा के पंचसंग्रह के २२९ और २३० नम्बर के पद्य पाये जाते हैं। इससे पंचसंग्रह में द्रव्य संग्रह की टीका से पहले बन चुका था।

पंडित प्रवचनसेन

पंडित प्रवचनसेन—इनका उल्लेख लाडबागडगण और बलात्कारगण के विद्वान् श्रीनन्द्याचार्य सत्कवि के शिष्य थे श्रीचन्द्र मुनि ने पंडित प्रवचनसेन से पद्मचरित सुनकर उसका टिप्पण धारा नगरी में सं० १०८७ में बनाया था। इससे स्पष्ट है कि पंडित प्रवचनसेन उस समय धारा में ही निवास करते थे। इनका समय विक्रम की ११वीं शताब्दी है। इन्होंने किन ग्रन्थों की रचना की यह कुछ ज्ञात नहीं हो सका।

शान्तिनाथ

शान्तिनाथ—इसके पिता गोविन्दराज, भाईकन्नपार्य और गुरु वर्धमान व्रती थे। जिनमताम्भोजिनी राजहंस, सरस्वती मुख मुकर, सहज कवि, चतुर कवि, निस्सहाय कवि आदि इनके विरुद हैं। शक सं० ९९० के गिरिपुर के १३६ वें शिलालेख से ज्ञात होता है कि यह भुवनैकमल्ल (१०६८-१०७६ तक) पराजित लक्ष्म नृपति का मंत्री था। इसके उपदेश से लक्ष्य नृपति ने बलिग्राम में शान्तिनाथ भगवान का मन्दिर बनवाया था। इस लेख में कवि के 'सुकुमार चरित' ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है। कवि का समय भी सन् १०६८ से १०७६ तक सुनिश्चित है।

इन्द्रकीर्ति

इन्द्रकीर्ति—कौण्डकुन्दान्वय देशी गण के आचार्य थे। इनकी अनेक उपाधियाँ थीं। को गलिवंजिवेल्लारी के शक सं० ९७७ सन् १०५५ (वि० सं० १११२) के लेख में, जो चालुक्य सम्राट त्रैलोक्य मल्ल के राज्य काल का है। इस मन्दिर का निर्माण गंगवंश के राजा दुर्विनीत ने किया था। लेख के समय आचार्य इन्द्रकीर्ति ने मन्दिर को कुछ दान दिया था। (—**इण्डियन एण्टीक्वेरी ५५ सन् १९२६ पृ० ७४**)

गुणसेन पंडितदेव

प्रस्तुत गुणसेन पंडित द्रविल गण के नन्दिसंघ तथा महाअरुङ्गलाम्नाय के गुरु पुष्पसेन व्रतीन्द्र के शिष्य थे। आगम रूपी अमृत के गहरे समुद्र थे। व्याकरण आगम और तर्क में निपुण थे। यह मुल्लूर के निवासी थे। और पोय्सल के गुरु थे। पोय्सलाचारि के पुत्र माणिक-पोय्सलाचारि ने यह वसदि बनवाई। और शक वर्ष ९८४ शुभकृत संवत्सर में फाल्गुन शुद्ध पंचमी बुधवार रोहिणी नक्षत्र में भगवान की प्रतिष्ठा की। तथा तिरुनन्दीवर के काल में दान देकर गुणसेन पंडितदेव को सौंप दिया। लेख चूंकि शक सं० ९८४ सन् १०६२ ई० का है। इन्होंने सन् १०५० के लगभग धर्म के तौर पर 'नागकूप' नाम का एक कुवा मुल्लूर ग्राम के वास्ते खुदवाया था (एपि.ग्रा० इंडिका कुर्ग इनक्रुप्सन्स नं० ४२) (लेख नं० २०२ पृष्ठ २८४)

शक सं० ९८० (१०५८ ई०) में मुल्लूर का यह शिलालेख लिखा गया। इसमें लिखा है कि राजेन्द्र गाल्व ने उस वस्ति के लिये दान दिया जो उसके पिता ने बनवाई थी। राजाधिराज की माता पोच्चरसि ने गुणसेन को दान दिया। (कुर्गइन्स्क्रप्सन्स १९१४ नं० ३५)

शक सं० ९८६ (१०६४ ई०) में मुल्लूर का यह शिला लेख उत्कीर्ण हुआ, जिसमें गुणसेन की मृत्यु का

उल्लेख है। (कुर्ग इनक्रप्सन्स सन् १९१४ नं० ३४

गोपनन्दी

गोपनन्दि—यह मूलसंघ, देशिय गण और वक्रगच्छ के देवेन्द्र सिद्धान्त देव के समकालीन शिष्य थे। यह चतुर्मुखदेव इसलिये कहलाये, क्योंकि इन्होंने चारों दिशाओं की ओर मुख करके आठ-आठ दिन के उपवास किये थे। प्रस्तुत गोपनन्दी अद्वितीय कवि और नैयायिक थे, इनके सम्मुख कोई वादी नहीं ठहर सकता था। इन्होंने धूर्जटि जैसे विद्वान् की जिह्वा को भी बन्द कर दिया था। परम तपस्वी, वसुधैव कुटुम्ब, जैन-शासनाम्बर के पूर्णचन्द्र, सकलागम-वेदी और गुणरत्न विभूपित थे[1]। देशीय गण के अग्रणी थे और व्रतीन्द्र थे। इनके सधर्मा धाराधिप भोजराज द्वारा पूजित प्रभाचन्द्र थे। होयसल नरेश एरेयंग ने शक स० १०१५ सन् १०९३ (वि० सं० ११५०) में उक्त गोपनन्दी को जीर्णोद्धार आदि कार्यों के लिये दो ग्राम दान में दिये थे[2]।—

(वृषभनन्दी—जीतसार समुच्चय के कर्ता)

यह नन्दनन्दी के वत्स और श्रीनन्दी के चरण कमलों के भ्रमर थे। गुरुदास भी उन्ही के शिष्य थे। जिन्हें तीक्ष्णमति और 'सरस्वतीसुनु' प्रकट किया है। जैसा कि ग्रन्थ प्रशस्ति के निम्न पद्य से प्रकट है।

श्रीनन्दि नन्दिवत्सः श्रीनन्दी गुरुपदाब्ज षट्चरणः।
श्रीगुरुदासो नंद्यात्तीक्ष्णमतिः श्री सरस्वतीसूनुः ।।५।।

वृषभनन्दी ने उक्त नंद नंदी मुनिराज को शास्त्रार्थज्ञ, पंक धारी, तपांक सिद्धांतज्ञ, सेव्य ओर गणेश जैसे विशेषणों के साथ स्मृत किया है। इनके चार शिष्यों का उल्लेख मिलता है, परन्तु उनके एक प्रमुख शिष्य गुरुदासाचार्य भी थे। नन्दनन्दी के शिष्यों में अपने से पूर्ववर्ती दो गुरुभाइयों श्री कीर्ति और श्री नन्दी का नामोल्लेख किया है। और अपने उत्तरवर्ती एक गुरु भाई हर्षनन्दी का अनुजरूप में उल्लेख किया है। जिसने ग्रन्थ की सुन्दर प्रतिलिपि तैयार की थी[3]। वृषभनन्दी ने कौण्डकुन्दाचार्य के जीतसार का सम्यक् प्रकार अवधारण किया था, इसी कारण उन्होंने अपने को 'जीतसाराम्बुपायी' (जीतसार रूप अमृत का पान करने वाला) प्रकट किया है। कुन्द कुन्दाचार्य का यह ग्रन्थ जीर्ण-शीर्ण रूप में मान्यखेट में सिद्धान्तभूषण नाम के सैद्धान्तिक मुनिराज ने एक मंजूषा में देखा था। और प्रार्थना करके प्राप्त किया था, और उसे पाकर वे सभरी स्थान को चले गए थे। उन्होंने वृषभनन्दी के हितार्थ उसकी व्याख्या की थी, जिसका जीतसार समुच्चय में अनुसरण किया गया है।

आ० अभयनन्दी

अभयनन्दी विबुधगुणनन्दी के शिष्य थे। यह अपने समय के समस्त मुनियों के द्वारा मान्य विद्वान् थे। इन्होंने जैनधर्म के विषय में परम्परागत अवर्णवादों—मिथ्या प्रवादों—को दूर किया था। इनके द्वारा जैन धर्म की बड़ी प्रभावना हुई थी। ये समुद्र की भांति गंभीर एवं सूर्य की तरह तेजस्वी थे। अत्यन्त गुणी और मेधावी थे। वे भव्य जीवों के एक मात्र बन्धु तथा उद्बोधक थे। जैसा कि चन्द्रप्रभचरित प्रशस्ति के निम्न पद्य से प्रकट है :—

"मुनिजननुतपादः प्रास्तमिथ्याप्रवादः, सकलगुणसमृद्धस्तस्य शिष्यः प्रसिद्धः।
अभवद् अभयनन्दी जैनधर्माभिनन्दी, स्वमहिमजितसिन्धुर्भव्यलोकैकबन्धुः ।।"

---

१. जैन शिला लेख सं० भाग १ पृ० ११७

२. (एपि ग्राफिया कर्णाटिका जि० ५,

३. अनुज श्री हर्ष नंदिना सुलिख्य जीत—
सार शास्त्रचमुज्वलोदधृ तं ध्वाजापते (जीत ममुच्चयसार अजमेर भंडार प्रति)

इनके शिष्य वीर नन्दी थे, जो चन्द्रप्रभचरित के कर्ता हैं। इनके दूसरे शिष्य इन्द्रनन्दी भी थे। गोम्मटसार के कर्ता नेमिचचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने भी अभयनन्दी को अपना गुरु माना है और उन्हें नमस्कार किया है, णमिऊण अभयणंदि' 'अभयणंदि वच्छेण' जैसे वाक्यों द्वारा अभयनन्दि का स्पष्ट उल्लेख किया है। इनका समय विक्रम की दशवीं शताब्दी का उपान्त्य और ११वीं शताब्दी का प्रथम चरण है।

वीरनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती

वीरनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती—नन्दिसंघ और देशीय गण के आचार्य थे। यह मुनि विबुध गुणनन्दि के प्रशिष्य[1] और अभयनन्दि के शिष्य थे। जो मुनियों के द्वारा बन्दनीय थे। और जिन्होंने मिथ्याप्रवाद को विनष्ट किया था। सम्पूर्ण गुणों में समृद्ध थे, और भव्य लोगों के अद्वितीय बन्धु थे। इनके शिष्य वीरनन्दी भव्य जन रूपी कमलों को विकसित करने वाले, सूर्य के समान तेजस्वीं, गुणों के धारक थे और जिन्होंने सम्पूर्ण वाङ्मय को अधीन कर लिया था। वे कुतर्कों को नाश करने वाले प्रख्यात कीर्ति थे।

भव्याम्भोज विबोधनोद्यतमते भास्वत्समानत्विषः,
शिष्यस्तस्य गुणाकरस्य सुधियः श्रीवीरनन्दीत्यभूत।
स्वाधीनाखिल वाङ्मयस्य भुवनप्रख्यात कीर्तेः सता,
संसत्सु व्यजयन्त यस्य जयिनो वाचः कुतर्काङ्कुशा ।।४

एक गाथा में बतलाया गया है कि जिनके चरण प्रसाद से वीरनन्दी इन्द्रनन्दी शिष्य अनन्त संसार से पार हो गए उन अभयनन्दी गुरु को नमस्कार है[2]। गोम्मटसार के कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चन्द्रवर्ती ने भी इन्द्रनन्दि को अभयनन्दि और वीरनन्दी को अपना गुरु बतलाया है। अभयनन्दी के चार शिष्य थे। वीरनन्दी, इन्द्रनन्दि, कनकनन्दी और नेमिचन्द्र। नेमिचन्द्र ने अपने को स्वयं अभयनन्दि का शिष्य सूचित किया है[3]। नेमिचन्द्र ने अभयनन्दी के साथ इन्द्रनन्दि गुरु को भी नमस्कार किया है और श्रुतसागर का पार करने वाला विद्वान् सूचित किया है[4]।

वीरनन्दी विशिष्ट दार्शनिक और प्रतिभा सम्पन्न कवि थे। आपकी एकमात्र कृति चन्द्रप्रभचरित काव्य है। इस ग्रन्थ की कथा वस्तु का आधार उत्तर पुराण है। वीर नन्दी ने उत्तर पुराण के अनुसार ही आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ के चरित्र का चित्रण किया है। यह ग्रन्थ १८ सर्गों में विभक्त है। जिसकी श्लोक संख्या १६६१ है। अन्तिम प्रशस्ति के ६ श्लोक उससे भिन्न हैं।

यह काव्य शृंगार, वीर, बीभत्स, भयानक और शान्तादि रसों तथा उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अर्थान्तर न्यास और अतिशयोक्ति आदि अलंकारों से अनुस्यूत है। रचना सरस और प्रसाद गुण से भरपूर है।

कृति में कवि ने उसके रचना काल आदि का कोई उल्लेख नहीं किया, इस कारण ग्रन्थ के रचना काल का निश्चित उल्लेख तो नहीं किया जा सकता। किन्तु आचार्य वादिराज ने अपने पार्श्वनाथ चरित में (शक सं० ९४७ सन् १०२५) में चन्द्रप्रभचरित और उसके रचयिता वीरनन्दी का स्मरण किया है[5]। इससे स्पष्ट है कि सन् १०२५ (वि० सं० १०८२) से पूर्व चन्द्रप्रभचरित की रचना हो चुकी थी। अब यह विचारणीय है कि वह कितने पहले हुई होगी। वह वि० सं० १०२५ के लगभग की रचना जान पड़ती है। अर्थात् वे ११वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के विद्वान् हैं।

---

१. स तच्छिष्योज्येष्ठः शिशिर कर सोम्यः समभवत्।
प्रविख्यानो नाम्ना विबुधगुण नन्दीति भुवने ।। —चन्द्र प्रभचरित प्रशस्ति

२. जस्सय पाय पसाएण णंतसंसार जलहि मुत्तिण्णो। वीरिदंणंदि वच्छो णमामि तं अभयणंदि गुरुं ।। —गो० क० ४३६

३. इदिणेमिचंद मुणिणा अप्पसुदेण भयणंदि वच्छेण। रइयो तिलोयसारो खमंतु तं बहु सुदायरिया ।। —त्रिलोकसार

४. णमिऊण अभयणंदि सुदसायर पारगिंदं णंदि गुरु।
वरवीरनंदिणाहं पयडीणं पच्चयं बोच्छं ।।७८५

५. चन्द्र प्रभासि सम्बद्धा रस पुष्ट मनः प्रिया। कुमद्वतीव नो धत्ते भारती वीरनन्दिनः ।।३०
—पार्श्वनाथ चरिते वादिराजः

नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती

प्रस्तुत नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती मूलसंघ देशीयगण के विद्वान अभयनन्दी के शिष्य थे। इन्होंने स्वयं अपने को अभयनन्दी का शिष्य सूचित किया है[१] अभयनन्दी उस समय के बड़े सैद्धान्तिक विद्वान् थे। उनके वीरनन्दी, और इन्द्रनन्दी भी शिष्य थे। ये दोनों नेमिचन्द्र के ज्येष्ठ गुरुभाई थे। इस कारण उन्होंने उनको भी गुरु तुल्य मानकर नमस्कार किया है और उनका अपने को शिष्य भी बतलाया है[२]। नेमिचन्द्र ने अपने एक गुरु कनकनंदी का उल्लेख किया है। और लिखा है कि उन्होंने इन्द्रनन्दी के पास से सकल सिद्धान्त को सुनकर 'सत्वस्थान' की रचना की है।[३] इस सत्वस्थान प्रकरण को उन्होंने गोम्मटसार कर्मकाण्ड के तीसरे सत्वस्थान अधिकार में प्रायः ज्यों का त्यों अपनाया है। यह ग्रन्थ 'विस्तरसत्वत्रिभंगी' नाम से जैन सिद्धान्त भवन आरा में विद्यमान है। मेरे संग्रह की तीन पत्रात्मक प्रति में इसका नाम 'विशेषसत्ता त्रिभंगी' दिया है। नेमिचन्द्र गंगवंशीय राजा राचमल्ल के प्रधान मन्त्री और सेनापति चामुण्डराय के समकालीन थे। यह अत्यन्त प्रभावशाली और सिद्धान्त-शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् थे। इन्होंने गोम्मटसार की ३६७ गाथा में लिखा है कि जिस प्रकार चक्रवर्ती षट् खण्ड पृथ्वी को अपने चक्र द्वारा आधीन करता है, उसी प्रकार मैंने अपने मति चक्र से षट् खण्डागम को सिद्ध कर अपनी इस कृति में भर दिया है[४]। संभवतः इसी सफलता के कारण उन्हें सिद्धान्त चक्रवर्ती की उपाधि प्राप्त हुई हो। चामुण्डराय अजित-सेनाचार्य के शिष्य थे। चामुण्डराय ने नेमिन्द्र का भी शिष्यत्व ग्रहण किया था। चामुण्डराय की प्रेरणा से नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार की रचना की थी। गोम्मट चामुण्डराय का घरुनाम था। जो मराठी तथा कन्नड़ी भाषा में प्रायः उत्तम, सुन्दर, आकर्षक, एवं प्रसन्न करने वाला जैसे अर्थों में व्यवहृत होता है[५]। और राय उनकी उपाधि थी। चामुण्डराय के इस 'गोम्मट' नाम के कारण ही उनके द्वारा बनवाई हुई बाहुबली की मूर्ति 'गोम्मटेश्वर' तथा 'गोम्मटदेव' जैसे नामों से प्रसिद्धि को प्राप्त हुई है। उन्हीं के नाम की प्रधानता को लेकर ग्रन्थ का नाम 'गोम्मटसार' दिया गया है। जिनका अर्थ गोम्मट के लिये खीचा गया पूर्व के (षट् खण्डागम तथा धवलादि) ग्रन्थों का सार। इसी आशय को लेकर ग्रन्थ का 'गोम्मटसंग्रह सूत्र' नाम दिया गया है। जैसा कि कर्मकाण्ड की निम्न गाथा से प्रकट है—

गोम्मट-संग्रहसुत्तं गोम्मट सिहरूवरि गोम्मट जिणो य।
गोम्मटरायविणिम्मिय-दक्खिण कुक्कुडजिणो जयउ॥ ९६८

इस गाथा में तीन कार्यों का उल्लेख करते हुए उन्हीं का जयघोषण किया गया है। इन्हीं तीन कार्यों में चाण्मुडराय की ख्याति है और वे हैं—१ गोम्मट संग्रह सूत्र २ गोम्मट जिन और दक्षिण कुक्कुटजिन। गोम्मटसंग्रह सूत्र का अर्थ गोम्मट के लिये किया गया सार रूप संग्रह ग्रंथ गोम्मटसार। गोम्मट जिन पद का अभिप्राय नेमिनाथ भगवान की उस एक हाथ प्रमाण इन्द्रनीलमणि की प्रतिमा से है जिसे गोम्मटराय ने बनवाकर गोम्मट-शिखर—चन्द्रगिरि पर स्थित अपने मंदिर (वस्ति) में स्थापित किया था। और जिसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वह

---

१. इदि णेमिचंद मुणिणाणप्पसु देणभयणंदि वच्छेण।
रइयो तिलोयसागे खमंतु बहु सुदाइग्यिा॥

२. णमिऊण अभयणंदि सुद-सायर पारगिंदणदिगुरु। वरवीरणंदिणाहं पयडीणं पच्चय वोच्छं॥७८५-गो० क०
णमह गुणरयणभूसण सिद्धंतामिय महद्धि भवभावं। वर वीरणंदिचंदं णिम्मलगुण मिदणंदि गुरुं॥८७६ गो० क०
वीरिंदणंदि वच्छेण प्पसुदेणभयणंदि सिस्सेण।
दंसणचरित्तलद्धी सु सूयिया णेमिचदेण॥६४८ लब्धिसार

३. वर इदणंदि गुरुणो पासे सोऊण सयल सिद्धंतं।
सिरिकणयणंदि गुरुणा सत्तट्ठाढं समुद्दिट्ठं॥३९६ गो० क०

४. जह चक्केणय चक्की छक्खंड साहियं अविग्घेण।
तह मइचक्केण मया छक्खंडं साहियं सम्मं॥३९७ गो० क०

१. देखो, अनेकान्त वर्ष ४ किरण ३-४ में डा० ए० एन० उपाध्ये का 'गोम्पट' नामक लेख

पहले चामुण्डराय -वस्ति में मौजूद थी। परन्तु बाद को मालूम नहीं कहां चली गई। उसके स्थान पर नेमिनाथ की एक-दूसरी पांच फुट की उन्नत प्रतिमा अन्यत्र से लाकर विराजमान कर दी गई है, जो अपने लेख पर से एचन के बनवाए हुए मन्दिर की मालूम होती है। और 'दक्षिण कुक्कुटजिन' बाहुबली की प्रसिद्ध एवं विशाल उस मूर्ति का ही नामान्तर है। यह नाम अनुश्रुति अथवा कथानक को लिये हुए है। उसका तात्पर्य इतना ही है कि पोदनपुर में भरत चक्रवर्ती ने बाहुबली की उन्हीं की शरीराकृति जैसी मूर्ति बनवाई थी, जो कुक्कुट सर्पों से व्याप्त हो जाने के कारण उसका दर्शन दुर्लभ हो गया था। उसी के अनुरूप यह मूर्ति दक्षिण में विन्ध्यगिरि पर स्थापित की गई है और उत्तर की उस मूर्ति से भिन्नता बतलाने के लिये ही इसे दक्षिण विशेषण दिया गया है। इससे यह बात स्पष्ट हो गई कि गोम्मट बाहुबली का नाम न होकर चामुण्डराय का घरु नाम था। और उनके द्वारा निर्मित होने के कारण मूर्ति का नाम भी 'गोम्मटेश्वर या गोम्मट देव' प्रसिद्ध हो गया। आचार्य नेमिचन्द्र ने चामुण्डराय द्वारा निर्मापित श्रवण वेलगोला में स्थित गोम्मट स्वामी बाहुबली की अद्‍भुत विशाल मूर्ति की प्रतिष्ठा चैत्र शुक्ला पंचमी रविवार २२ मार्च सन् १०२८ में की थी। यह मूर्ति अपनी कलात्मकता और विशालता में विश्व में अतुलनीय है। उसके दर्शन मात्र से आत्मा अपूर्व आनन्द को पाता है। मूर्ति अत्यन्त दर्शनीय है।

रचना

आचार्य नेमिचन्द्र सि० चक्रवर्ती की निम्न कृतियां प्रकाशित हैं। गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार त्रिलोकसार।

गोम्मटसार—एक सैद्धान्तिक ग्रन्थ है, जिसमें जीवस्थान, क्षुद्रबन्ध, बन्धस्वामित्व, वेदनाखण्ड, और वर्गणाखण्ड, इन पाँच विषयों का वर्णन है। इस कारण इसका अपर नाम पंचसग्रह भी है। गोम्मटसार ग्रन्थ दो भागों में विभक्त है। जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड।

जीवकाण्ड—में ७३३ गाथाएँ है जिसमें गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह्मार्गणा और उपयोग[1]। इन बीस प्ररूपणाओं द्वारा जीव की अनेक अवस्थाओं और भावों का वर्णन किया गया है। अभेदविवक्षा से इन बीस प्ररूपणाओं का अन्तर्भाव गुणस्थान और मार्गणा इन दो प्ररूपणाओं में हो जाता है क्योंकि मार्गणाओं में ही जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण संज्ञा और उपयोग इनका अन्तर्भाव हो सकता है। इसलिये दो प्ररूपणाएं कही हैं। किन्तु भेदविवक्षा से २० प्ररूपणाएं कही गई हैं।

कर्मकाण्ड—में ९७२ गाथाएं हैं, जिनमें प्रकृति समुत्कीर्तन, बन्धोदय, सत्वाधिकार, सत्वस्थानभंग, त्रिचूलिका स्थान समुत्कीर्तन, प्रत्ययाधिकार, भावचूलिका और कर्म स्थिति रचना नामक नौ अधिकारों में कर्म की विभिन्न अवस्थाओं का निरूपण किया गया है।

टीकाएं—गोम्मटसार ग्रन्थ पर छह टीकाएं उपलब्ध हैं। एक अभयचन्द्राचार्य की संस्कृतटीका 'मन्द-प्रबोधिका' जो जीवकाण्ड की ३८३ नं० की गाथा तक ही पाई जाती है, शेष भाग पर बनी या नहीं; इसका कोई निश्चय नहीं। दूसरी, केशववर्णी की, जो संस्कृत मिश्रित कनडी टीका जीवतत्त्व प्रबोधिका, जो दोनों काण्डों पर विस्तार को लिये हुए है। इसमें मन्दप्रबोधिका का पूरा अनुसरण किया गया है। तीसरी, नेमिचन्द्राचार्य की संस्कृत टीका जीवतत्त्व प्रदीपिका है, जो पिछली दोनों टीकाओं का गाढ़ अनुसरण करती है। चौथी, टीका प्राकृतभाषा की है जो अपूर्ण है और अजमेर के भट्टारकीय भण्डार में अवस्थित है। पाँचवी पंजिका टीका है जिसका उल्लेख अभयचन्द्र की मन्द प्रबोधिका में निहित है[2]। इस पंजिका की एक मात्र उपलब्ध प्रति मेरे संग्रह में है, जो सं० १५६० की

---

१. गुण जीवा पज्जत्ती पाणा सण्णाय मग्गणाओ य।
उवओगो वि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिदा ॥२॥

२. 'अथवा सम्मूर्छन गर्भोपपादानाश्रित जन्म भवतीति गोम्मट पंचिका कारादीनामभिप्रायः।' गो० जी० मन्द्रप्रबोधिका टीका, गा० ८३।

लिखी हुई है। और जिसका प्रमाण पांच हजार श्लोक जितना है, जिसकी भाषा प्राकृत और संस्कृत मिश्रित है।[3] उसका मंगल और प्रतिज्ञा वाक्य इस प्रकार है--

पणमिय जिणिंदचंदं गोमम्मट संगह समग्ग सुत्ताणं।
केसिंपि भणिस्सामो विवरणमण्णे समासिज्ज ॥

तत्थ तावतेसिं सुत्ताणमादिए मंगलट्ठंभणिस्स माणट्ठविसय पइण्णा करणट्ठं च कमस्स सिद्धिमि— च्चाइ गाहा सुत्तस्सत्थो उच्चणेणट्ठ विवरणं कहिस्सामो ॥

इस पंजिका के रचयिता गिरिकीर्ति है। कर्ता ने अपनी गुरु परम्परा इस प्रकार दी है श्रुतिकीर्ति, मेघचन्द्र, चन्द्रकीर्ति और गिरिकीर्ति जैसा कि उसके पद्यों से प्रकट है:—

सो जयउ वासपुज्जो सिवासु पुज्जासु पुज्ज-पय पउमो।
पविमल वसु पुज्ज सूदो सुदकित्ति पिये-पियं वादि ॥ १
समुदिय वि मेघचदप्पसाव खुद कित्तियरो।
जो सो कित्ति भणिज्जइ परिपुज्जिय चंदकित्ति त्ति ॥२
जेणासेस वसंतिया सरमई ठाणंत रागोहणी।
ज गाढं परिरु'भिऊण मुहया सोजंत मुद्दासई।
जस्सापुव्वगुणप्पभूदरयणा लंकारसोहग्गिणा।
जातासिरिगिरिकित्तिदेव जदिणा तेजसि गंथो कओ ॥३॥

इस पंजिका प्रमाण पांच हजार श्लोक जितना बतलाया है। यह पंजिका प्रकाशन के योग्य है। और ६ठी टीका सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका है, जिसके कर्ता पण्डित प्रवर टोडरमल हैं यह टीका विशाल है, और ढुढारी भाषा हिन्दी में लिखी गई है।

लब्धिसार क्षपणासार—इसमें बतलाया गया है कि कर्मों को काटकर जीव कैसे मुक्ति प्राप्त कर सकता अथवा अपने शुद्ध स्वरूप में स्थिति हो सकता है। इसका प्रधान आधार कसाय पाहुड और उसकी जयधवला टीका है। इसमें तीन अधिकार हैं—दर्शनलब्धि, चारित्रलब्धि, और क्षायिक चारित्र। प्रथम अधिकार में पांचलब्धियों के स्वरूप आदि का वर्णन है, जिनके नाम है—क्षयोपशम, विशुद्धि देशना, प्रायोग्य और करण। इनमें से प्रथम चार लब्धियां सामान्य है, जो भव्य और अभव्य दोनों ही प्रकार के जीवों के होती हैं। पाचवी करणलब्धि सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की योग्यता रखने वाले भव्यजीवों के ही होती है। उसके तीन भेद हैं—अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। दूसरे अधिकार में चारित्रलब्धि का स्वरूप और चारित्र के भेदो उपभेदों आदि का संक्षिप्त कथन है। साथ ही उपशमश्रेणी पर चढ़ाने का विधान है। तीसरे अधिकार में चारित्र मोह की क्षपणा का संक्षिप्त विधान है, जिसका अन्तिम परिणाम मुक्ति या शुद्ध आत्मस्वरूप की उपलब्धि है। इस तरह यह ग्रंथ सक्षेप में आत्मविकास की कुंजी अथवा साधन-सामग्री को लिये हुए है। लब्धिसार की संस्कृत टीका नेमिचन्द्राचार्य की है। पं० टोडरमल्ल जी ने इसके दो अधिकारों की हिन्दी टीका उक्त संस्कृत टीका के अनुसार की है। तीसरे "क्षपण' अधिकार की गद्य संस्कृत टीका माधवचन्द्र त्रैविद्य देव की है, जिसे उन्होंने बाहुबली मत्री के लिये क्षुल्लकपुर में शक स०

---

३. पयडी सीलसहावो—प्रकृतिः शीलं स्वभावइत्येकार्थः स्वभावश्चस्वभाववंतमपेक्षते।
तदविनाभावित्वात्तस्य। अतः कस्यायं स्वभावः कथ्यत इत्याह जीवगाणं, जीवकर्मणोः।
कहमेत्थ अंगमद्देण कम्मग्गहणं। कम्मण मगीरमेतव अंग सद्देण विवक्खिदत्तादो।
कठ्ठ कम्म कलावस्सेव कम्मण सरीरत्तादो य। अहवा अंग सद्देण कम्माकम्म सरीराण गहणं। कम्मेणोकम्मेहिं पयोजगादो। जीवंगाणमिदि किमट्ठं बुच्चदे। भावकम्म दव्वकम्म णोकम्माणं पयडि परूपणट्ठं।

—गो० क० पंजिका

११२५ (सन् १२०३, वि० सं० १२६०) में बनाकर समाप्त की है[1]। पं० टोडरमल्ल जी ने इसी के अनुसार क्षपणासार की टीका की है। इसी से उन्होंने अपनी सम्यक्ज्ञान चन्द्रिका टीका को लब्धिसार क्षपणासार सहित गोम्मटसार की टीका बतलाई है।

त्रिलोकसार—यह करणानुयोग का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी गाथा संख्या १०१८ है। जिनमें कुछ गाथाएँ माधवचन्द्र त्रैविद्य की भी हैं। जो नेमिचन्द्राचार्य की सम्मति से शामिल की गई हैं। यह ग्रन्थ आचार्य यतिवृषभ की तिलोयपण्णत्ती से अनुप्राणित है। इसमें सामान्यलोक, भवन, व्यन्तर, ज्योतिप, वैमानिक, और नरक-तिर्यक, लोक ये अधिकार हैं। जम्बूदीप, लवणसमुद्र, मानुषक्षेत्र, भवनवासियों के रहने के स्थान, आवासभवन, आयु परिवार आदि का विस्तृत वर्णन है। ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्णक, तारा एवं सूर्य चन्द्र के आयु, विमान, गति, परिवार आदि का सांगोपांग वर्णन दिया है। त्रिलोक की रचना सम्वन्धी सभी जानकारी इससे प्राप्त की जा सकती है। इस पर नेमिचन्द्राचार्य के प्रधान शिष्य माधवचन्द्र त्रैविद्य की संस्कृत टीका है। गोम्मटसार की तरह इस ग्रंथ का निर्माण भी प्रधानतः चामुंडराय को लक्ष्य करके—उनके प्रति बोधनार्थ हुआ है ऐसा टीकाकार माधवचन्द्र ने टीका के प्रारम्भ में व्यक्त किया है। संस्कृत टीका सहित यह ग्रन्थ मणिकचन्द्र ग्रन्थ माला से प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ की हिन्दी टीका पंडित टोडरमल्ल जी ने की है, जिसमें उसके गणित विषय को अच्छी तरह से उद्घाटित किया है।

आर्यसेन

आर्यसेन—मूलसंघ वरसेनगण और पोगरीगच्छ के आचार्य ब्रह्मसेन व्रतिप के शिष्य थे। जो अनेक राजाओं से सेवित थे। इनके शिष्य महासेन थे। जैसा कि शिलालेख के निम्न वाक्यों से प्रकट है:—

श्रीमूलसंघे जिनधर्ममूले, गणाभिधाने वरसेन नाम्नि।
गच्छेसु तुच्छेऽपि पोगर्य्यमिक्ले, संस्तूयमानो मुनिरार्य्यसेनः ॥
तस्यार्यसेनस्य मुनीश्वरस्य शिष्यो महासेन महामुनीन्द्रः।
सम्यक्त्वरत्नोज्वलितान्तरंगः संसारनीराकर सेतुभूत [:] ॥

इस शिलालेख में महासेन मुनीन्द्र के छात्र चांदिराज ने, जो वाणसवंश के तथा केतल देवी के ऑफिसर थे। उन्होंने पोन्नवाड (वर्तमान होन्वाड) में त्रिभुवन तिलक नाम का चैत्यालय बनवाया, और उसमें तीन वेदियों में शान्तिनाथ, पार्श्वनाथ और सुपार्श्वनाथ की तीन मूर्तियां बनवाकर प्रतिष्ठित की, और उसके लिये कुछ जमीन तथा मकानात् शक सं० ६७६ (सन् १०५४) जयसंवत्सर में वैशाख महीने की अमावस्या सोमवार के दिन दान दिया। इससे आर्यसेन का समय सन् १०५४ (वि० सं० ११११) सुनिश्चित[2] है।

महासेन

महासेन—मूलसंघ वरसेनगण और पोगरिगच्छ के आचार्य आर्यसेन के शिष्य थे। इनके गृहस्थ शिष्य चांदिराज ने, जो वाणसवंश में उत्पन्न हुआ था। उक्त चांदिराज ने त्रिभुवन तिलक नाम का चैत्यालय बनवाया, और उसमें शान्तिनाथ और पार्श्व-सुपार्श्व की मूर्तियां बनवाकर प्रतिष्ठित कीं, और उनकी पूजादि के लिये महासेन को दान दिया। यह लेख शक सं० ६७६ सन् १०५४ का है[3]। अतः महासेन का समय विक्रम की ११वीं शताब्दी का मध्यकाल होना चाहिये।

---

१. अमुना माधवचन्द्र दिव्य गणिना त्रैविद्य चक्रेशिना,
क्षपणासार मकारि बाहुबलि सन्मंत्रीश संज्ञप्तये।
शककाले शरसूर्यचन्द्र गणिते (११२५) जाते पुरे क्षुल्लके
शुभदे दुंदुभिवत्सरे विजयतामाचंन्द्रतारं भुवि ॥१६ —क्षपणासार गद्य प्रशस्ति

२. जैन लेख सं० भा०२ पृ० २२७-२८)

३. जैन लेख संग्रह अ-२ पृ० २२७-२८)

चामुण्डराय

चामुण्डराय—ब्रह्म-क्षत्रिय वंश के वैश्य कुल में उत्पन्न हुए थे। शिलालेख में इन्हें 'ब्रह्मक्षत्रकुलोदयाचल शिरोभूषामणि' कहा गया है [1]। यह गंगवशी राजा राचमल्ल के प्रधान मंत्री और सेनापति थे। राचमल्ल चतुर्थ का राज्यकाल शक सं० ८९६ से ९०६ (वि० सं० १०३१ से १०४१) तक सुनिश्चित है। ये गगवज्रमारसिंह के उत्तराधिकारी थे। चामुण्डराय इनके समय भी सेनापति रहे हैं। इनका घरु नाम 'गोम्मट' था और 'राय' राजा राचमल्ल द्वारा प्रदत्त पदवी थी। इस कारण इनका नाम गोम्मटराय भी था। बाहुबलि की मूर्ति का नाम 'गोम्मट-जिन' और पंच संग्रह का नाम 'गोम्मट-संग्रह सूत्र' इन्हीं के नाम के कारण हुआ है क्योंकि चामुण्डराय के प्रश्न के अनुसार ही धवलादि सिद्धान्तों पर से नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोम्मट सार की रचना की है।

मारसिंह और इनके उत्तराधिकारी पुत्र राचमल्ल का समय गंगवंश के लिए भयावह था; क्योंकि पश्चिमी चालुक्य, नोलम्ब तथा पल्लव आदि गंग वश के शत्रु थे। चालुक्यों के खतरे के विनाश का श्रेय चामुण्डराय को है। श्रवणवेल्गोल के कूगे ब्रह्मदेव स्तम्भ पर उत्कीर्णलेख (९७४ ई०) में लिखा है कि इस प्रसिद्ध दुर्गपर हुए आक्रमण ने विश्व को आश्चर्य मे डाल दिया। चामुण्डराय ने अपने पुराण में इस बात को स्वीकार किया है कि इस विजय में ही उन्हें 'रणरंग सिह' की उपाधि प्राप्त हुई थी।

चामुण्डराय केवल महामात्य ही नही थे किन्तु वीर सेनानायक भी थे। इनके समान शूरवीर और दृढ़ स्वामी भक्त मत्री कर्नाटक के इतिहास मे अन्य नही हुआ। इन्होंने अपने स्वामी के लिए अनेक युद्ध जीते थे। गोविन्दराज, वेकाङ्गराज आदि अनेक राजाओं को परास्त किया था। इसके उपलक्ष्य में उन्हें समरधुरन्धर, वीरमार्तण्ड, रणरंगसिह, वैरिकुल-काल दण्ड, असहाय पराक्रम, प्रतिपक्ष राक्षस, भुज विक्रम और समर-परशुराम आदि विरुद प्राप्त हुए थे। और कौनसी उपाधि किस युद्ध के जीतने पर मिली, इसका उल्लेख निम्न प्रकार है :—

खडग युद्ध में वज्वलदेव को हराने पर उन्हें 'समरधुरंधर उपाधि प्राप्त हुई थी। नोलम्ब युद्ध में गोनूर के मैदान में उन्होंने जो वीरता दिखलाई उसके उपलक्ष में 'वीर मार्तण्ड' की उपाधि मिली। उक्कांगी के किले में राजादित्य से वीरता पूर्वक लड़ने के उपलक्ष में 'रणरंग सिह' उपाधि प्राप्त हुई। और वागेयूर वा (वामीकूर) के किले में त्रिभुवन वीर को मारने और गोविन्दराज को उसमें न घुमने देने के उपलक्ष में वैरीकुल-कालदण्ड' उपाधि प्राप्त हुई। राजा काम के किले में राज वास, सिवर, कुणांमिक आदि योद्धाओं को परास्त करने के कारण उन्हें 'भुज विक्रम' उपाधि से अलंकृत किया गया। अपने छोटे भाई नागवर्मा के घातक मुदुराचय को, जो चलदंक गंग और गंगर भट्ट के नाम से प्रसिद्ध था, मार डालने के उपलक्ष में 'समरपरशुराम' पद से विभूषित किया गया। एक कबीले के मुखिया को पराजित करने के उपलक्ष में 'प्रतिपक्ष-राक्षस' उपाधि मिली। और अनेक योद्धाओं को मारने के कारण उन्हें 'भट्टमारि' उपाधि प्राप्त हुई। धार्मिकता और नैतिकता की दृष्टि से भी उन्हें 'सम्यक्त्व रत्नाकर, सत्य युधिष्ठिर, और सुभट चूडामणि आदि उपाधियां प्राप्त हुई।[2]

इन सब उपाधियों से ऐसा लगता है कि चामुण्डराय अपने समय का कितना प्रतापी और वीर सेनापति था। यह केवल वीर सेनापति ही नहीं था किन्तु अच्छा विद्वान् और कवि भी था। उनकी उपलब्धियां उनकी महत्ता और गौरव की संद्योतक हैं।

---

१. शिलालेख नं० १६५ जैन लेख सं० प्रथम भाग लेख नं० १०९।

२. श्रीमदप्रतिहतप्रभावस्याद्वादशासनगुहाभ्यन्तर निवासिप्रवादि मदांधसिंधुर सिंहायमान सिंहनन्दि मुनीन्द्राभिनन्दित गंगवंशललाम राज सर्वज्ञाद्यनेक गुणनामधेय भागधेय श्रीमद राजमल्ल देव महीवल्लभ महामात्यपदविराजमान रणरंग मल्लासहायपराक्रमगुणरत्नभूषण सम्यक्त्वरत्न निलयादिविविध गुणनामसमासादित कीर्तिकान्त श्रीमच्चामुंडराय भव्य पुण्डरीक···।

—मंद प्रबोधिकाटीका उत्थानिका वाक्य

उपलब्धियां

गोम्मट- संग्रह सुत्तं गोम्मट सिहरुवरि गोम्मट जिणो य।
गोम्मटराय-विणिम्मिय-दक्खिण कुक्कुड जिणो जयउ ॥९६८

इस गाथा में तीन कार्यो का उल्लेख है और उन्ही का जयघोष किया गया है। गोम्मट संग्रह सूत्र गोम्मट जिन और दक्षिण कुक्कुड जिन। गोम्मट जिन से भगवान नेमिनाथ की उस एक हाथ प्रमाण इन्द्रनील मणि की प्रतिमा से है, जिसे गोम्मटराय ने बनवा कर चन्द्रगिरि पर स्थित अपने मन्दिर में स्थापित किया था और दक्षिण कुक्कुड जिन से अभिप्राय बाहुबली की उस विशाल मूर्ति से है जो पोदनपुर में भरत चक्रवर्ती ने बाहुबली की उन्हीं के शरीराकृति जैसी मूर्ति बनवाई थी, जो कुक्कुटसर्पो से व्याप्त होने के कारण दुर्लभ दर्शन हो गई थी। उसी के अनुरूप यह मूर्ति विन्ध्यगिरि पर विराजमान की गई है। दक्षिण विशेषण उसकी भिन्नता का द्योतक है।

चामुण्डराय की अमर कीर्ति का महत्व पूर्ण प्रतीक श्रवणबेलगोल में प्रतिष्ठापित जगद्विख्यात बाहुबलि की मूर्ति है, जो ५७ फीट उन्नत और विशाल है। और जिसका निर्माण चामुण्डराय ने कराया था। और जो धूप, वर्षा सर्दी गर्मी और आंधी की बाधाओं को सहते हुए भी अविचल स्थित है। मूर्ति शिल्पी की कल्पना का साकार रूप है। मूर्ति के नख आदि वैसे ही अंकित है जैसे उनका आज ही निर्माण हुआ है। चामुण्डराय ने बाहुबली की मूर्ति की प्रतिष्ठा ई० ९८१ में कराई थी। लगभग एक हजार वर्ष का समय व्यतीत हो जाने पर भी वह वैसी ही सुन्दर प्रतीत होती है वह दशवें आश्चर्य के रूप में उल्लिखित की जाती है। दर्शक की आंखें उसे देखते ही प्रसन्नता से भर जाती है। बाहुबली की यह मूर्ति ध्यानावस्था की है, वे केवल ज्ञान होने से पूर्व जिस रूप में स्थित थे, वही लता बेलें जो बाहुओं तक उत्कीर्णित है और नीचे सर्पो की बामियां भी बनी हुई है। उसी रूप को कलाकार ने अंकित किया है। दर्शक मूर्ति को देखकर तृप्त नहीं होता। उसकी भावना उसे बार-बार देखने की होती है। मूर्ति दर्शन से जो आत्म लाभ होता है वह उसे शब्दों द्वारा व्यक्त नही कर सकता। उसके अवलोकन से यह भावना अभिव्यक्त होती है कि अन्तिम समय में इस मूर्ति का दर्शन हो। चामुण्डराय की यह ऐतिहासिक देन महान् और अमर है। शिलालेख में चामुण्डराय द्वारा बनवाये जाने का उल्लेख है। और गोम्मट सग्रह सुत्त से अभिप्राय गोम्मटसार से है।

दूसरी उपलब्धि 'त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित' है। जिसे चामुण्डराय ने शक सं ९०० ईस्वी सन् ९७८ (वि० सं० १०३५) में बनाकर समाप्त किया था। इसमें चौबीस तीर्थंकरों के चरित्र के साथ चक्रवर्ती आदि महा-पुरुषों का पावन जीवन अंकित किया गया है। इसके प्रारम्भ में लिखा है कि इस चरित्र को पहले कूचि भट्टारक तदनन्तर नन्दि मुनीश्वर, तत्पश्चात् कवि परमेश्वर और तत्पश्चात् जिनसेन गुणभद्र स्वामी इस प्रकार परम्परा से कहते आये है, और उन्ही के अनुसार मैं भी कहता हूं। मंगलाचरण में गृद्धपिच्छाचार्य से लेकर अजितसेन पर्यन्त आचार्यो की स्तुति की है और अन्त में श्रुत केवली दशपूर्वधर, एकादशांगधर, आचारांगधर, पूर्वांग देशधर के नाम कह कर अर्हद्‌बली, माघनन्दि, भूतबलि पुष्पदन्त गुणधर शाम कुण्डाचार्य, तम्बू लूराचार्य, समन्तभद्र, शुभनन्दि रविनन्दि, एलाचार्य, नागसेन, वीरसेन जिनसेन आदि का उल्लेख किया है। फिर अपने गुरु की स्तुति की है। यह पुराण प्रायः गद्यमय है, पद्य बहुत ही कम है। कनड़ी भाषा के उपलब्ध ग्रंथों में चामुण्डराय पुराण ही सबसे प्राचीन माना जाता है। चामुण्डराय के गुरु का नाम अजितसेनाचार्य है, जो उस समय के बड़े भारी विद्वान् थे। तपस्वी और क्षमाशील थे। उनके अनेक शिष्य थे। वंकापुर में उन्होंने अनेक शिष्यों को शिक्षा दी। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती पर भी उनका स्नेह था। चामुण्डराय के प्रश्नानुसार ही उन्होंने पंचसंग्रह (गोम्मटसार का रचना की थी। चामुण्डराय वीर और दानी थे।) जैनधर्म के लिए उन्होंने जो कुछ किया, उससे भारतीय इतिहास में उन्हें अमर बना दिया है।

तीसरी उपलब्धि चारित्रसार या भावनासार है। जिसकी उन्होंने तत्त्वार्थ वार्तिक, राद्धांत सूत्र, महापुराण और आचार ग्रन्थों से सार लेकर रचना की है, जैसा कि उसके अन्तिम निम्न पद्य मे प्रकट है :—

तत्त्वार्थराद्धांत महापुराणे स्वाचारशास्त्रेषु च विस्तरोक्तम्
आख्यात्समासादनुयोगवेदी चारित्रसारं रणरंगसिंहः ॥

इसमें गृहस्थ और मुनियों के आचार का व्यवस्थित वर्णन है। उसका सकलन सम्बद्ध और सुन्दर है। कथन की सम्बद्धता ही उसकी प्रमाणिकता का मापदण्ड है, यह ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित हो चुका है।

गोम्मटसार की देशी कर्णाटक वृत्ति भी इनकी बनाई हुई कही जाती है पर वह अभी तक उपलब्ध नही हुई।

चिक्कवेट्ट पर इनके द्वारा एक बसदि बनाये जाने का उल्लेख मिलता है। इनके पुत्र का नाम जिनदेवण था, जो अजितसेनाचार्य का शिष्य था। जिनदेवण ने श्रवणबेल्गोल में जिन मन्दिर का निर्माण कराया था[1]। यह लेख शक स० ९६२ (सन् १०४०) में उत्कीर्ण किया गया है।

महाकवि वीर

कवि वीर लाडवागड वश के गृहस्थ विद्वान् थे। इनके पिता का नाम देवदत्त था, जो अच्छे विद्वान् कवि थे। इनके पुत्र वीर कवि ने अपने पिता की चार कृतियों का उल्लेख किया है। पद्धडिया छन्द में वरागचरित, सरस चर्च्चरिया बध मे शान्तिनाथ का महान् यशोगान (शान्तिनाथ रास) विद्वत्सभा का मनोरजन करने वाली सुद्धय वीर कथा, और अम्बादेवी का रास। खेद है कि कवि देवदत्त की ये चारों रचनाएं उपलब्ध नही है। कवि मालवा के गुडखेड ग्राम के निवासी थे। गुडखेड नाम का यह गाव मालवा में सिन्धुवर्षी नगरी के सन्निकट कही बसा हुआ था। पूर्व मालवा में जमुना से निकलने वाली एक छोटी नदी का नाम काली सिन्धु या सिन्धु नदी है। यह नदी प्राचीन दशार्ण क्षेत्र में जिसकी प्राचीन राजधानी विदिशा थी, से बहती हुई पद्मावती नामक स्थान पर आकर चर्मण्वती (चबल) नदी से भोपाल के निकट निकलने वाली पारा नदी में मिल जाती है। और आगे जाकर दोनों नदिया वेतवा में गिर जाती है। इसी सिन्धु नदी के किनारे पर भोपाल के पूर्व और विदिशा से उत्तर में सिन्धुवर्षी नगरी रही होगी। इस नगरी के समीप ही कहीं गुडखेड ग्राम बसा हुआ होगा। कवि देवदत्त का समय स० १०५० है। कवि का अम्बादेवी रास ताल और लय के साथ गाया जाता था। और जिन चरणों के समीप नृत्य किया जाता था, यह सम्यक्त्वरूपी महाभार की धुरा के धारक थे।

कवि देवदत्त की सतुवा भार्या से विनय सम्पन्न वीर नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ था। कवि के बुद्धिमान तीन छोटे सहोदर भाई और भी थे। जो सीहल्ल, लक्षणाक और जसई नामों से विख्यात थे। वीर कवि ने कहा और किससे शिक्षा पाई, इसका कोई उल्लेख नही किया। कवि ने शब्द शास्त्र, छन्द शास्त्र, निघटु, तर्क शास्त्र तथा प्राकृत काव्य सेतुबंध का अध्ययन किया था, सिद्धान्त शात्रों के अध्ययन के साथ लौकिक शिक्षा में भी निपुणता प्राप्त की थी। केवल काव्य रचना उनके जीवन का व्यापार नही था किन्तु वह राज्य कार्य, अर्थ और काम की चर्चाओं में भी सलग्न रहता था। व्यस्त जीवन रहने से ही उसे जबूस्वामी चरित की रचना में एक वर्ष का समय लगा था। कवि की चार स्त्रियाँ थी। जिनवती, पोमावती, लीलावती और जयादेवी। पहली पत्नी से नेमचन्द्र नाम का एक पुत्र भी

---

१ जिन ग्रहर्म बेलगोळदोल जनमेल्ल पोगळे मन्त्रि-चामुण्डन नन्दनोलवि माडिसिद जिन देवणनजितसेन-मुनिवर गुड्डं ॥१

—जैनलेख सं० भा० १ पृ० १४९

१. इह अत्थि परम जिण पयसरणु, गुलखेड विणिग्गउ सुहचरणु।
सिरिलाडवग्गु तहि विमलजसु, कइ देवयत्तु निव्वूढ कसु।
बहु भावहि जे वरगचरिउ, पद्धडियाबंधे उद्धरिउ।
कविगुणरस रजियविउसह, वित्थरिय सुद्दय वीर कह।
चच्चरियबंधि विरइउ सरसु, गाइज्जइ संतिउ तारजसु।
नच्चिज्जइ जिणपय सेवयहि, किउ रासउ अंबादेवयहि।
सम्मत्तमहाभरधुरधरहो, तहो सरसइदेवि लद्धवरहो।

—जबू सामिचरिउ १—४

था।[1] जो विनय गुण से सम्पन्न था। वीर कवि विद्वान् और कवि होने के साथ-साथ गुण-ग्राही, न्यायप्रिय और समुदार व्यक्ति था। वह साधुचरित पुरुषों के प्रति विनयी, अनुकम्पावान और धर्मनिष्ठ श्रावक होते हुए भी वह सच्चा वीर पुरुष था। कवि को समाज के विभिन्न वर्गों में जीवन-यापन करने के विविध साधनों का साक्षात अनुभव था। प्राचीन कवियों के प्रसिद्ध ग्रन्थों, अलंकार और काव्य लक्षणों का कवि को तल स्पर्शी ज्ञान था वह कालिदास और बाण की रचनाओं से प्रभावित था। उनकी गुण ग्राहकता का स्पष्ट उल्लेख ग्रन्थ की चतुर्थ सन्धि के अन्त में पाये जाने वाले निम्न पद्य से मिलता है :—

अगुणा ण मुणंति गुणं गुणिणो न सहंति परगुणे दट्ठुं।
वल्लहगुणा वि गणिणो विरला कइवीर-सारिच्छा॥

अगुण अथवा निर्गुण पुरुष गुणों को नहीं जानता और गुणीजन दूसरे के गुणों को भी नहीं देखते—उन्हें सह भी नही सकते, परन्तु वीर कवि के सदृश कवि विरले हैं, जो दूसरे के गुणों को समादर की दृष्टि से देखते हैं।

वीर केवल कवि ही नही थे, किन्तु भक्ति रस के भी प्रेमी थे। उन्होंने मेघवन में पाषाण का एक विशाल जिन मन्दिर बनवाया था और उसी मेघवन पट्टण में वर्द्धमान जिनकी विशाल प्रतिमा की प्रतिष्ठा की थी।[2] ग्रन्थ प्रशस्ति में कवि ने मन्दिर निर्माण और प्रतिमा प्रतिष्ठा के संवतादि का कोई उल्लेख नही किया। किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि जबूसामिचरिउ की रचना से पूर्व मन्दिर निर्माण और प्रतिमा प्रतिष्ठादि का कार्य सम्पन्न हुआ है।

रचना

कवि की एक मात्र रचना 'जंबूसामिचरिउ' है। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'शृंगारवीर महाकाव्य' है। इसमें अन्तिम केवली जंबू स्वामी के चरित्र का चित्रण किया गया है। इस ग्रन्थ की रचना में कवि को एक वर्ष का समय लग गया था, क्योंकि कवि को राज्यादि कार्य के साथ धर्म, अर्थ और काम की गोष्ठी में भी समय लगाना पड़ता था, अतएव ग्रन्थ रचना के लिये अल्प समय मिल पाता था। ग्रन्थ ११ सन्धियों में विभाजित है। चरित्र चित्रण करते हुए कवि ने महाकाव्यों में रस और अलंकारों का सरस वर्णन करके ग्रन्थ को अत्यन्त आकर्षक और पठनीय बना दिया है। कथा पात्र भी उत्तम हैं जिनके जीवन-परिचय से ग्रन्थ की उपयोगिता की अभिवृद्धि हुई है। शृंगार रस, वीर रस, और शान्त रस, का यत्र-तत्र विवेचन दिया हुआ है। कहीं-कही शृंगार मूलक वीररस है। ग्रन्थ में

---

१. 'सुह सील सुद्धवसो जगणी सिरि संतुआ भणिया॥६॥
जस्स य पमण्ण वयणा लहुणो सुमइ सहोयरा तिण्णि।
सीहल्ल लक्खणंका जसइ नामेत्ति विक्खाया॥७॥
जाया जस्स मणिट्ठा जिणवइ पोमावइ पुणो बीया।
लीलावइत्ति तइया पच्छिम भज्जा जयादेवी॥८॥
पढमकलत्तं गरुहो सताण कयत्त विडवि पारोहो।
विणयगुणमणि णिहाणो तणओ तह णेमिचंदो त्ति॥९॥
—जबू सामि च० अन्तिम प्रशस्ति

२. सो जयउ कई वीरो वीरजिणदस्स कारिय जेण।
पाहाणमय भवणं विहरुद्देसेण मेहवणे॥१०॥
इत्थेवदिणे मेहवण पट्टणे वड्ढमाण जिणपडिमा।
तेण वि महाकइणा वीरेण पयट्ठिया पवरा॥ ४
— जंबू स्वामि च० प्रशस्ति

प्रयत्न करने पर भी 'मेघवन' का कोई विशेष परिचय उपलब्ध नही हुआ, परन्तु 'मेहवन' नाम का कोई स्थान विशेष रहा है जो उस समय धन-धान्यादि से सम्पन्न था।

अलंकारों का चयन दो प्रकार का पाया जाता है, एक चमत्कारिक और दूसरा स्वाभाविक। प्रथम का उदाहरण निम्न प्रकार है :—

भारह-रण-भूमिव स-रहभीस हरि अज्जुण णउल सिहंडिदीस।
गुरु आसत्थाम कलिंग चार गय गज्जिर ससर-महीससार।
लंका नयरी व सरावणीय चंदणहि चार कलहावणीय।
सपलास-सकंचण अक्ख अड्ढ सविहीसण—कइकुल फल रसड्ढ।

इन पद्यों में विन्ध्यावटी का वर्णन करते हुए श्लेष प्रयोग से दो अर्थ ध्वनित होते हैं—स रह—रथ सहित और एक भयानक जीवन हरि-कृष्ण और सिंह, अर्जुन और वृक्ष नहुल और नकुल जीव, शिखंडि और मयूर आदि।[1]

स्वाभाविक विवेचन के लिये पांचवीं सन्धि में शृंगार मूलक वीर रस का उदाहरण निम्न प्रकार है—केरल नरेश मृगांक की पुत्री विलासवती को रत्नशेखर विद्याधर से संरक्षित करने के लिये जंबू कुमार **ध**केले ही युद्ध करने जाते हैं। पीछे मगध के शासक श्रेणिक या बिम्बसार की सेना भी सजधज के साथ युद्धस्थल में पहुंच जाती है, किन्तु जंबूकुमार अपनी निर्भय प्रकृति और असाधारण धैर्य के साथ युद्ध करने को प्रोत्तेजन देने वाली वीरोक्तियाँ भी कहते हैं तथा अनेक उदात्त भावनाओं के साथ सैनिकों की पत्नियां भी युद्ध में जाने के लिये उन्हें प्रेरित करती हैं। युद्ध का वर्णन भी कवि के शब्दों में पढ़िये।

अक्क मियंक सक्क कंपावणु, हा मुय सीयहे कारणे रावणु।
दलिय दप्प दप्पिय मइ मोहणु, कवणु अणत्थु पत्तु दोज्जोहणु।
तुज्झु ण दोसु वइव किउ धावइ, अणउ करंतु महावइ पावइ।
जिह जिह दड करंविउ जंपइ, तिह तिह खेयरु रोसहि कंपइ।
घट्ट कंठ सिरजालु पलित्तउ, चंडगंड पासेय पसित्तउ।
दट्ठा हरु गुंजज्जलु लोयणु, पुरु दुरंत णासउ भयावणु।
पेक्खे वि पहु सरोसु सण्णामहि, वुत्तु वओहरु मंतिहि तामहि।
अहो अहा हय हय सासस गिर, जंपइ चावि उद्दण्ड गब्भिउ किर।
अण्णहो जीह एह कहो वग्गए, खयर वि सरिस णरेस हो अग्गए।
भणइ कुमारु एहु रइ लुद्धउ, वसण महण्णवि तुम्महि छुद्धउ।
रोसन्ते रिउहियच्छु विणा सुणइ, कज्जाकज्ज बलाबलु ण मुणइ।

प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा प्रांजल, सुबोध, सरस और गम्भीर अर्थ की प्रतिपादक है, और इसमें पुष्पदन्तादि महाकवियों के काव्य-ग्रन्थों की भाषा के समान ही प्रौढ़ता और अर्थ गौरव की छटा यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती है।

जम्बूस्वामी अन्तिम केवली हैं। इसे दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय निर्विवाद रूप से मानते हैं और भगवान महावीर के निर्वाण से जम्बू स्वामी के निर्माण तक की परम्परा भी उभय सम्प्रदायों में प्राय एक-सी है, किन्तु उसके बाद दोनों में मतभेद पाया जाता है।[2] जम्बू स्वामी अपने समय के ऐतिहासिक महापुरुष हुए हैं। वे काम के असाधारण विजेता थे। उनके लोकोत्तर जीवन की झांकी ही चरित्रनिष्ठा का एक महान् आदर्श रूप जगत को प्रदान करती है। उनके पवित्रतम उपदेश को पाकर ही विद्युच्चर जैसा महान चोर भी अपने चौर कर्मादि दुष्कर्मों का परित्याग कर अपने पांच सौ योद्धाओं के साथ महान तपस्वियों में अग्रणीय तपस्वी हो जाता है और व्यंतरादि कृत महान् उपसर्गों को ससघ साम्यभाव से सहकर सहिष्णुता का एक महान आदर्श उपस्थित करता है।

उस समय मगध देश का राजा बिम्बसार या श्रेणिक था, उसकी राजधानी राजगृह थी, जिसे वर्तमान में

---

१. देखो जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भा० २ का ५४ पृष्ठ का टिप्पण।

२. दिगम्बर जैन परम्परा में जम्बू स्वामी के पश्चात् विष्णु नन्दि, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पांच श्रुतकेवली माने जाते हैं। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा में प्रभव, शय्यभव, यशोभद्र, आर्यसभूतिविजय और भद्रबाहु इन पांच श्रुत-केवलियो का नामोल्लेख पाया जाता है। इनमें भद्रबाहु को छोड़कर चार नाम एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न है।

लोग राजगिर के नाम से पुकारते हैं। ग्रन्थकर्ता ने मगधदेश और राजगृह का वर्णन करते हुए वहाँ के राजा श्रेणिक बिम्बसार के प्रतापादि का जो संक्षिप्त परिचय दिया है वह इस प्रकार है :—

चंड भुजदंड खडिय मंडलिय मंडली विसड्ढ।
धारा खंडण भीयव्व जयसिरी वसइ जस्स खग्गंके ॥१॥
रे रे पलाह कायर मुहइं पेक्खइ न संगरे सामी।
इय जस्स पयावग्घोसणाए विहडंति वइरिणो दूरे ॥२॥
जस्स रक्खिय गोमंडलस्स पुरुसुत्तमस्स पद्धाए।
के केसवा न जाया समरे गय पहरणा रिउणो ॥३॥

अर्थात् जिनके प्रचंड भुजदंड के द्वारा प्रचंड माडलिक राजाओं का समूह खंडित हो गया है। जिसने अपनी भुजाओं के बल से मांडलिक राजाओं को जीत लिया है। और धारा खंडन के भय से ही मानो जयश्री जिसके खड्गाङ्क में बसती है।

राजा श्रेणिक संग्राम में युद्ध से संत्रस्त कायर पुरुषों का मुख नहीं देखते। रे, रे कायर पुरुषो! भाग जाओ—इस प्रकार जिसके प्रताप वर्णन से ही शत्रु दूर भाग जाते है। गो मण्डल (गायों का समूह) जिस तरह पुरुषोत्तम विष्णु के द्वारा रक्षित रहता है। उसी तरह वह पृथ्वीमण्डल भी पुरुषों में उत्तम राजा श्रेणिक के द्वारा रक्षित रहता है, राजा श्रेणिक के समक्ष युद्ध में ऐसे कौन शत्रु सुभट है, जो मृत्यु को प्राप्त नहीं हुए, अथवा जिन्होंने केशव (विष्णु) के आगे आयुधरहित होकर आत्म-समर्पण नहीं किया।

इस ग्रन्थ का कथा भाग बहुत ही सुन्दर, सरस तथा मनोरंजक है, और कवि ने काव्योचित सभी गुणों का ध्यान रखते हुए उसे पठनीय बनाने का यत्न किया है। कथा का संक्षिप्त सार इस प्रकार है :--

कथासार

जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र में मगध नाम का देश है, उसमें श्रेणिक (बिम्बसार) नामका राजा राज्य करता था। एक दिन राजा श्रेणिक अपनी सभा में बैठे हुए थे कि वनमाली ने विपुलाचलपर महावीर स्वामी के समवसरण आने की सूचना दी। श्रेणिक सुनकर हर्षित हुआ और उसने सेना आदि वैभवके साथ भगवान का दर्शन करने के लिए प्रयाण किया। श्रेणिक ने समवसरण में पहुंचने से पूर्व ही अपने समस्त वैभव को छोड़कर पैदल समवसरण में प्रवेश किया और वर्द्धमान भगवान को प्रणाम कर धर्मोपदेश सुना। इसी समय एक तेजस्वी देव आकाश मार्ग से आता हुआ दिखाई दिया। राजा श्रेणिक द्वारा इस देव के विषय में पूछे जाने पर गौतम स्वामी ने बतलाया कि इसका नाम विद्युन्माली है और यह अपनी चार देवांगनाओं के साथ यहां वन्दना करने के लिये आया है। यह आज से ७वें दिन स्वर्ग से चयकर मध्यलोक में उत्पन्न होकर उसी मनुष्यभव से मोक्ष प्राप्त करेगा। राजा श्रेणिक ने इस देव के विषय में विशेष जानने की इच्छा व्यक्त की, तब गौतम स्वामी ने कहा कि--इस देश में वर्द्धमान नामका एक नगर है। उसमें वेद घोष करने वाले, यज्ञ में पशुबलि देनेवाले, सोम पान करने वाले, परस्पर कटु वचनों का व्यवहार करने वाले, अनेक ब्राह्मण रहते थे। उनमें अत्यन्त गुणज्ञ एक ब्राह्मण दम्पति श्रुतकण्ठ आर्य वसु रहता था। उसकी पत्नी का नाम सोमशर्मा था। उससे दो पुत्र हुए थे। भवदत्त और भवदेव। जब दोनों की आयु क्रमश: १८ और १२ वर्ष हुई, तब आर्य वसु पूर्वोपार्जित पापकर्म के फल स्वरूप कुष्ट रोग से पीड़ित हो गया और जीवन से निराश होकर चिता बनाकर अग्नि में जलमरा। सोमशर्मा भी अपने प्रिय विरह से दुःखित होकर चिता में प्रवेशकर परलोक वासिनी हो गई। कुछ दिन बीतने के पश्चात् उस नगर में 'सुधर्म' नाम के मुनि का आगमन हुआ। मुनि ने धर्म का उपदेश दिया, भवदत्त ने धर्म का स्वरूप शान्त भाव से सुना, भवदत्त का मन संसार में अनुरक्त नहीं होता था। अतः उसने आरम्भ परिग्रह से रहित दिगम्बर मुनि बनने की अपनी अभिलाषा व्यक्त की और वह दिगम्बर मुनि हो गया। और द्वादशवर्ष तपश्चरण करने के बाद भवदत्त एक बार संघ के साथ अपने ग्राम के समीप पहुंचा। और अपने कनिष्ठ भ्राता भवदेव को संघ में दीक्षित करने के लिए उक्त वर्धमान ग्राम में

आया। उस समय भवदेव का दुर्मर्षण और नाग देवी की पुत्री नागवसु से विवाह हो गया था। भाई के आगमन का समाचार पाकर भवदेव उससे मिलने आया, और स्नेहपूर्ण मिलने के पश्चात् उसे भोजन के लिये अपने घर मे ले जाना चाहता था, परन्तु भवदत्त भवदेव को अपने संघ में ले गया और वहां मुनिवर से साधु दीक्षा देने को कहा भवदेव असमंजस में पड़ गया, क्योंकि उसे घर में रहते हुए विषय-सुखों का आकर्षण जो था, किन्तु भाई का उस सदिच्छा का अपमान करने का उसे साहस न हुआ। और उपायान्तर न देख प्रवृज्या (दीक्षा) लेकर भाई के मनोरथ को पूर्ण किया, और मुनि होने के पश्चात १२ वर्ष तक संघ के साथ देश-विदेशों में भ्रमण करता रहा। किन्तु उसके मन में नागवसु के प्रतिरागभाव बना रहा। एक दिन अपने ग्राम के पास से निकला। उसे विषय-चाह ने आकर्षित किया और वह अपनी स्त्री का स्मरण करता हुआ एक जिनालय में पहुंचा, वहां उसने एक अजिका को देखा, व्रतों के पालने से अतिकृशगात्र, अस्थि पंजर मात्र शेष रहने से भवदेव उसे पहचान न सका। अतः उससे उसने अपनी स्त्री के विषय में कुशल वार्ता पूछी। अजिका ने मुनि के चित्त को चलायमान देखकर उन्हें धर्म में स्थिर किया और कहा कि वह आपकी पत्नी मैं ही हूं। आपके दीक्षा का समाचार मिलने पर मैं भी दीक्षित हो गई थी। भवदेव पुनः छेदोपस्थापना पूर्वक संयम का अनुष्ठान करने लगा। अन्त में दोनों भाई मरकर सनत्कुमार नामक स्वर्ग में देव हुए और सात सागर की आयु तक वहां वास किया।

भवदत्त का जीव स्वर्ग से चयकर पुण्डरीकिनी नगरी में वज्रदत्त राजा के घर सागरचन्द नाम का और भवदेव का जीव वीतशोका नगरी के राजा महापद्म चक्रवर्ती का वनमाला रानी के शिव कुमार नाम का पुत्र हुआ। शिवकुमार का १०५ कन्याओं से विवाह हुआ, करोड़ों उनके अंग रक्षक थे, जो उन्हें बाहर नहीं जाने देते थे। पुडरीकिनी नगरी में चारण मुनियों से अपने पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुनकर सागर चन्द्र ने देह-भोगों से विरक्त हो मुनि दीक्षा लेली। त्रयोदश प्रकार के चारित्र का अनुष्ठान करते हुए भाई को सम्बोधित करने वीतशोका नगरी में पधारे। शिवकुमार ने अपने महलों के ऊपर से मुनियों को देखा, उसे पूर्व जन्म का स्मरण हो आया, उसके मन में देह-भोगों से विरक्तता का भाव उत्पन्न हुआ, उससे राज प्रासाद में कोलाहल मच गया। और उसने अपने माता-पिता से दीक्षा लेने की अनुमति मांगी। पिता ने बहुत समझाया और कहा कि घर में ही तप और व्रतों का अनुष्ठान हो सकता है। दीक्षा लेने की आवश्यकता नहीं, पिता के अनुरोध वश कुमार ने तरुणीजनों के मध्य में रहते हुए भी विरक्त भाव से नव प्रकार से ब्रह्मचर्य व्रत का अनुष्ठान किया। और दूसरों से भिक्षा लेकर तप का आचरण किया। और आयु के अन्त में वह विद्युन्माली नाम का देव हुआ। वहां दश सागर की आयु तक चार देवांगनाओं के साथ सुख भोगता रहा। अब वही विद्युन्माली देव यहां आया था, जो मानव दिन मनुष्यरूप में अवतरित होगा। राजा श्रेणिक ने विद्युन्माली की उन चार देवांगनाओं के विषय में पूछा। तब गौतम स्वामी ने बताया कि चम्पानगरी में सूरसेन नाम के सेठ की चार स्त्रियां थीं जिनके नाम जयभद्रा, सुभद्रा, धारिणी और यशोमती। वह सेठ पूर्व संचित पाप के उदय से कुष्ट रोग से पीड़ित होकर मर गया, उसकी चारों स्त्रियां अजिकाएं हो गई और तप के प्रभाव से वे स्वर्ग में विद्युन्माली की चार देवियां हुईं।

पश्चात् राजा श्रेणिक ने विद्युच्चर के विषय में जानने की इच्छा व्यक्त की। तब गौतम स्वामी ने कहा कि मगध देश में हस्तिनापुर नामक नगर के राजा विसन्धर और श्रीसेना रानी का पुत्र विद्युच्चर नाम का था। वह सब विद्याओं और कलाओं में पारंगत था, एक चोर विद्या ही ऐसी रह गई थी जिसे उसने न सीखा था। राजा ने विद्युच्चर को बहुत समझाया, पर उसने चोरी करना न छोड़ा। वह अपने पिता के घर में ही पहुंच कर चोरी कर लेता था और राजा को सुगुप्त करके उसके कटिहार आदि आभूषण उतार लेता था। और विद्या बल से चोरी किया करता था। अब वह अपने राज्य को छोड़कर राजगृह नगर में आ गया, और वहां कामलता नामक वेश्या के साथ रमण करता हुआ समय व्यतीत करने लगा। गौतम गणधर ने बताया कि उक्त विद्युन्माली देव राजगृह नगर में अर्हद्दास नाम के श्रेष्ठि का पुत्र होगा, और उसी भव में मोक्ष प्राप्त करेगा।

पद्मनन्दी (जम्बूद्वीपपण्णत्ती के कर्ता)

पद्मनन्दी नाम के अनेक विद्वान हो गए हैं। उनमें प्रस्तुत पद्मनन्दि उनसे भिन्न जान पड़ते हैं। क्योंकि

उन्होंने जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में जो प्रशस्ति दी है, उसमे उनकी गुरुपरम्परा निम्न प्रकार है :—अतः पद्मनन्दी वीरनंदि के प्रशिष्य और बलनन्दि के शिष्य थे। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति की प्रशस्ति में उन्होंने अपने को गुण गणकलित त्रिदण्ड रहित, त्रिशल्य परिशुद्ध, त्रिगारव रहित, सिद्धान्त पारगत, तप नियम योगयुक्त, ज्ञानदर्शन चरित्तोद्युक्त और आरम्भ रहित बतलाया है[1] अपने गुरु बलनन्दि को सूत्रार्थ विचक्षण, मति प्रगल्भ, परपरिवाद निवृत्त, सर्वसंग निःसंग (परिग्रहरहित) दर्शनज्ञान चारित्र मे सम्यक् अधिगत मन, पर तृप्ति निवृत्त मन, और विख्यात सूचित किया है[2]। और अपने दादा गुरु वीरनन्दि को पंच महाव्रत शुद्ध, दर्शन शुद्ध, ज्ञान संयुक्त, संयम तप गुण सहित, रागादि विवर्जित, धीर, पंचाचर समग्र, षट् जीव दयातत्पर, विगत मोह और हर्ष विषाद विहीन विशेषणो के साथ उल्लेखित किया है[3]। और अपने शास्त्र गुरु श्री विजय को नाना नरपति पूजित, विगतभय, संग भंग उन्मुक्त, सम्यग्दर्शन शुद्ध संयम तप-शील सम्पूर्ण, जिनवरवचन विनिर्गत, परमागम देशक, महासत्व, श्रीनिलय, गुणसहित और विख्यात विशेषणों से प्रकट किया है[4]। पद्मनन्दि ने श्री विजय गुरु के प्रसाद से जम्बूद्वीपपण्णत्ती की रचना माघनंदि के शिष्य सकलचन्द और उनके शिष्य श्रीनन्दी के लिये की है।

इस ग्रन्थ में १३ अधिकार है जिनकी गाथा संख्या २४२७ पाई जाती है। ग्रन्थ का विषय मध्यलोक के मध्यवर्ती जम्बूद्वीप का कालादि विभाग के साथ मुख्यता से वर्णन है। और वह वर्णन प्रायः जम्बूद्वीप के भरत, ऐरावत महाविदेह क्षेत्रों, हिमवान आदि पर्वतों, गंगा सिन्ध्वादि नदियों, पद्म महापद्मादि द्रहों, लवणादि समुद्रों तथा अन्य बाह्य प्रदेशों, काल के उत्सर्पिणी अवसर्पिणी आदि भेद-प्रभेदों, उनमें होने वाले परिवर्तनों और ज्योतिष पटलादि से सम्बन्ध रखता है। साथ ही लौकिक-अलौकिक गणित, क्षेत्रादि की पैमाइश और प्रमाणादि के कथनों को भी साथ में लिये हुए है। यह ग्रंथ पुरातन भूगोल- खगोल का संक्षिप्त वर्णन करता है।

ग्रन्थ मे रचनाकाल का कोई उल्लेख नही है, इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि सं० १५१८ से पूर्व की अभी तक उपलब्ध नहीं हुई। इससे इतना सुनिश्चत है कि ग्रन्थ उक्त सं० १५१८ से पूर्व का बना हुआ है। जम्बूद्वीपपण्णत्ती

१ तम्स य गुण गण-कलिदो तिदंड रहियो तिसल्ल-परिसुद्धो।
तिण्णिवि गारव रहिदो सिस्सो सिद्धंत-गय-पारो ॥१६२
तव णियम जोग-जुत्तो उवजुत्तो णाण-दसण-चरित्ते।
आरंभ करण-रहिदो णामेण पउमणंदित्ती ॥१६३

२. तस्सेवय वर-सिस्सो सुत्तत्थ-वियक्खणो मइ-पगब्भो।
पर-परिवाद-णियत्तो णिस्संगो सव्वसंगसु ॥१६०
सम्मत्त-अभिगद-मणो णाणे तह दंसणे चरित्ते य।
पर तंति-णियत्तमणो बलणंदि गुरुत्ति विक्खाओ ॥१६१

३ पंच महव्वय-सुद्धो दसण-सुद्धो य णाण-संजुत्तो।
संजम-तव-गुण-सहिदो रागादि-विवज्जिदो धीरो ॥१५८
पंचाचार-समग्गो छज्जीव-दयावरो विगद-मोहो।
हरिस-विसाय विहूणो णामेण वीरणदि त्ति ॥१५९
—जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति प्रशस्ति

४. णाणा-णरवइ-महिदो विगयभओ संगभंगउम्मुक्को।
सम्मद्दसणसुद्धो संजम-तव-सीलसंपुण्णो ॥१४३
जिणवर-वयण विणिग्गय-परमागमदेसओ महासत्तो।
सिरिणिलओ गुणसहिओ सिरिविजयगुरु त्ति विक्खाओ ॥१४४

और त्रिलोकसार की कुछ गाथाओं में सादृश्य पाया जाता है। उससे एक दूसरे के आदान-प्रदान की आशंका होती है। त्रिलोकसार की रचना विक्रम की ११वी शताब्दी के पूर्वार्ध की है। प्रशस्ति में वारा नगर का वर्णन करते हुए उसे पारियात्र देश में स्थित बतलाया है हेमचन्द्र के अनुसार 'उत्तरोविन्ध्यात्, पारियात्रः' वाक्य से पारियात्र देश विन्ध्याचल के उत्तर में है। वह उस समय पुष्करणी वावडी, सुन्दर भवनों, नानाजनों से संकीर्ण और धन-धान्य से समाकुल, जिन भवनों से विभूषित, सम्यग्दृष्टि जनों और मुनि गणों के समूहों से मंडित था। उसमें वारा नगर का प्रभु शक्ति भूपाल राज्य करता था, जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध, कृत-व्रत कर्म, शील सम्पन्न, अनवरत दान शील, शासन वत्सल, धीर, नाना गुण कलित, नरपति सपूजित कलाकुशल और नरोत्तम था[1]। नन्दि संघ की पट्टावली में वारा नगर के भट्टारकों की गद्दी का उल्लेख है। जिसमें वि० सं० ११४४ से १२०६ तक के १२ भट्टारकों के नाम दिये हैं। पद्मनन्दि की गुरु परम्परा उससे सम्बद्ध जान पड़ती है। राजपूताने के इतिहास में गुहिलोत वंशी राजा नरवाहन के पुत्र शालिवाहन के उत्तराधिकारी शक्ति कुमार का उल्लेख मिलता है। ग्रन्थ में उल्लिखित शक्ति कुमार वही जान पड़ता है। आटपुर (आहाड़) के शिलालेख में गुहदत्त (गुहिल) से लेकर शक्ति कुमार तक की पूरी वंशावली दी है। यह लेख वि० सं० १०३४ वैशाख शुक्ला १ का लिखा हुआ है। अतः यही समय जम्बूद्वीपपण्णत्ती की रचना का निश्चित है[2]। यह पद्मनन्दि विक्रम की ११वी शताब्दी के विद्वान् हैं।

इनकी दूसरी रचना 'धम्मरसायण' है। यह ग्रन्थ भी इन्हीं का बतलाया जाता है। जो १९३ गाथाओं का ग्रन्थ है जो सरल एवं सुबोध है। और माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला में सिद्धान्तसार के अन्तर्गत प्रकाशित हो चुका है। इसमें धर्म की महिमा, धर्म-अधर्म के विवेक प्रेरणा। परीक्षा करके धर्म ग्रहण करने की आवश्यकता, अधर्म का फल नरकादिके के दुःख सर्वज्ञ प्रणीत धर्म की उपलब्धि न होने पर चतुर्गतिरूप संसार परिभ्रमण, सर्वज्ञों की परीक्षा और सागार अनगार धर्म का संक्षिप्त परिचय वर्णित है।

कविधवल

इनका जन्म विप्रकुल में हुआ था। इनके पिता का नाम सूर या सूरदेव था और माता का नाम केसुल्ल देवी था, कवि धवल जिन चरणों में अनुरक्त और निर्ग्रन्थ ऋषियों का भक्त था। कुतीर्थ और कुधर्म से विरक्त था[3]। इनके गुरु अंबसेण थे, जो अच्छे विद्वान और वक्ता थे। उन्होंने हरिवंश पुराण का जिस तरह व्याख्यान किया कवि ने उसको उसी तरह से निबद्ध किया। कवि ने ग्रन्थ में रचना काल नहीं दिया, अतएव रचना काल के निश्चय करने में कठिनाई प्रतीत हो रही है। कवि ने अपनी रचना में अपने से पूर्ववर्ती अनेक कवियों का और उनकी रचनाओं का उल्लेख किया है।

कवि चक्रवर्ती धीरसेन सम्यक्त्व युक्त प्रमाण ग्रन्थ विशेष के कर्ता, देवनन्दी (जैनेन्द्र व्याकरण के कर्ता) वज्रसूरि प्रमाण ग्रन्थ के कर्ता, महासेन का सुलोचना चरित, रविषेण का पद्म चरित, जिनसेन का हरिवंश पुराण जटिल मुनि का वरांगचरित, दिनकरसेन का अनगचरित, पद्मसेन का पार्श्वनाथ चरित, अंबसेन की अमृताराधना धनदत्त का चन्द्रप्रभचरित, अनेक चरितग्रन्थों के रचयिता विष्णुसेन, सिंहनन्दि की अनुप्रेक्षा, नरदेव का णमोकार मंत्र सिद्धसेन का भविक विनोद, रामनन्दी के अनेक कथानक, जिनरक्षित (जिनपालित) धवलादि ग्रन्थ प्रख्यापक, असग का वीर चरित, गोविन्द कवि (श्वे०) का सनत्कुमार चरित, शालिभद्र का जीवउद्योत, चतुर्मुख, द्रोण, सेढु महा-कवि का पउम चरिउ आदि विद्वानों और उनकी कृतियों का उल्लेख है[4]। इन कवियों में असग और पद्मसेन ने अपने ग्रन्थों में रचना काल का उल्लेख किया है। आसग कवि का समय सं० ९१० है, और पद्मसेन का समय वि०

१ देखो जम्बूद्वीपपण्णत्ती की प्रशस्ति की १६५ से १६८ तक की गाथाएं।

२. देखो जैन साहित्य और इतिहास (बम्बई १९५६ पृ० २५६—२६५)

३. सइ विप्पहो सूरहो णंदणेण, केसुल्लय उवरि तह संभवेण।
जिणवरहो चरण अनुरत्तएण, णिग्गंथहं रिसियहं भत्तएण।
कुतित्थ कुधम्म विरत्तएण, णामुज्जलु पयडु वहंतएण॥

४. जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भा० २ पृ० ११

६६६ है। इससे स्पष्ट है कि धवल कवि का समय विक्रम की ११वीं सदी है अर्थात् असग कवि १०वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के विद्वान जान पड़ते हैं।

रचना

कवि की एक मात्र कृति हरिवंश पुराण है, जिसमें १२२ सन्धियां हैं, जिनमें २२वे तीर्थंकर यदुवंशी भगवान नेमिनाथ की जीवन-गाथा अंकित की गई है, साथ ही, महाभारत के पात्र कौरव और पाण्डव एव श्रीकृष्ण आदि महापुरुषों का जीवन चरित भी दिया हुआ है। जिससे महाभारत का ऐतिहासिक परिचय सहज ही मिल जाता है। ग्रन्थ की रचना प्रधानतः अपभ्रंश भाषा के 'पज्झटिका और अलिल्लह' छन्द में हुई है। तथापि उसमें पद्धडिया सोरठा, घत्ता, जाति नागिनी, विलासिनी और सोमराजी आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। काव्य की दृष्टि से ग्रन्थ के कितने ही वर्णन सजीव हैं। रसों में शृंगार, वीर, करुण और शान्त रसों के अभिव्यजक अनेक स्थल दिये हुए हैं। श्री कृष्ण और कंस के युद्ध का वर्णन भी सजीव हुआ है।

'महाचंडचित्ता भडाछिण्णगत्ता, धनुबाण हत्था सकुंता समत्था।
पहारंति सूराण भज्जंति धीरा, सरोसा सतोसा सहासा सग्रामा ॥—हरिवंश पृ० संधि ९०, ४

प्रचण्ड योद्धाओं के गात्र टूक-टूक हो रहे हैं, और धनुष बाण हाथ में लिये हुए भाला चलाने में समर्थ सूर प्रहार कर रहे हैं, परन्तु क्रोध, सन्तोष, हास्य और आशा से युक्त धीरवीर योद्धा विचलित नहीं हो रहे हैं। युद्ध की भीषणता से युद्ध स्थल विषम हो रहा है, सैनिकों की मारो-मारो की ध्वनि से अबर गूज रहा है—रथवाला रथवाले की ओर, अश्ववाला अश्ववाले की ओर, और गज, गज की ओर दोड़ रहा है, धानुष्क वाला धानुष्क की ओर झपट रहा है, वाद्य जोर से शब्द कर रहे हैं। घोड़े हिन हिना रहे हैं, और हाथी चिंघाड़ रहे है[1]। इस तरह युद्ध का सारा ही वर्णन सजीव है।

शरीर की नश्वरता का वर्णन भी दृष्टव्य है :—

सबल राज्य भी तत्क्षण नष्ट हो जाता है। अत्यधिक धन से क्या किया जाय? राज्य भी धनादिक से हीन और बचे खुचे जन समूह अत्यधिक दीनता पूर्ण वर्तन करते हुए देखे जाते है। सुखी बान्धव, पुत्र, कलत्र मित्र सदा किसके बने रहते हैं, जैसे उत्पन्न होते हैं वैसे ही मेघवर्षा में जल के बुलबुलों के समान विनष्ट हो जाते हैं। और फिर चारों दिशाओं में अपने निवास स्थान को चले जाते हैं, जिस तरह पक्षी रात्रि में एक जगह इकट्ठे हो जाते हैं और फिर चारों दिशाओं में अपने अपने निवास स्थान को चले जाते है, अथवा जिस प्रकार बहुत से पथिक (नदी पार करते हुए) नौका पर मिल जाते है फिर सब अपने अपने अभीष्ट स्थान को चले जाते है।

इसी तरह इष्ट प्रिय जनों का समागम थोड़े समय के लिये होता है। कभी धन आता है और कभी दारिद्र स्वप्न समान भोग आते और नष्ट हो जाते हैं, फिर भी अज्ञानी जन इनका गर्व करते हैं। जिस योवन के साथ जरा (बुढ़ापे) का सम्बन्ध है उससे किसको सन्तोष हो सकता है।

बलु रज्जु वि णासइ तक्खणेण किं किज्जइ बहुएण वि धणेण।
रज्जु वि धणेण परिहीणु होइ, णिविसेण वि दीसइ पयडुलोउ।

१. ....हणु हणु मारु मारु पभणनहि।
दलिय धरत्ति रेणु णहि धायउ, पिसलुद्धउ लुद्धउ आयउ।
× × × ×
रहवउ रहहु गयहु गय धाविउ, धाणुक्कहु धाणुक्कु पराग्रउ।
तुरउ तुरग कुंखग्ग विहत्थउ, असिवक्खरहु लग्गु भयचत्तउ।
वज्जहिं गहिरतूर हयहिसहि गुलु गुलतु गयवरबहुदीसहि ॥
—संधि ८९—१०

सुहिबंधव-पुत्त-कलत्त-मित्त, णवि कासुवि दीसहि णिच्चहुंत।
जिम हुति भरंति असेस तेम, बुब्बुव जलि घणि वरिसंति जेम।
जिम सउणि मिलि वि तरुवर वसति, चाउद्दिसिणिय वसाणि जंति।
जिम बहु पंथिय णावइं चडंति, पुणि णिय णिय वासहु ते वलंति।
तिम इठ्ठ समागमु णिव्वडणु, धणुहोइ होइ दालिद्दु पुणु।
घत्ता—सुविणासउ भोउ लहो वि पुणु, गव्वु करंति अयाण णर।
संतोसु कवणु जोव्वण सियइ, जहिं अत्थइ अणुलग्गजरा।

· संधि—९१-७

ग्रन्थकार का जहां लौकिक वर्णन सजीव है, वहां वीर रस का शान्त रस में परिणत हो जाना भी चित्ता-कर्षक है। ग्रन्थ पठनीय और प्रकाशन के योग्य है। इसकी प्रतियां कारंजा, बडा तेरापंथी मन्दिर जयपुर और दिल्ली के पंचायती मन्दिर में है, परन्तु दिल्ली की प्रति अपूर्ण है।

जयकीर्ति

मूल संघ देशीयगण होत्तगे गच्छ के विद्वान थे। जो पुस्तकान्वयरूपी कमल के लिये सूर्य के समान थे। और अनेक उपवास और चान्द्रायण व्रत करने में प्रसिद्ध थे। रामस्वामी प्रदत्तदान के अधिकारी थ। चिक्कहनसोगे का यह लेख यद्यपि काल निर्देश रहित है। और शान्तीश्वर वसदि के बाहर दरवाजे पर उत्कीर्णित है। सम्भवतः इनका आनुमानिक समय ११०० ई० के लगभग हो सकता है। —(जैन लेख स० भा० २ पृ० ३५७)

ब्रह्मसेन व्रतिप

ब्रह्मसेन व्रतिप—मूल संघ, वरसेनगण और पोगरिगच्छ के विद्वान थे। इनके शिष्य आर्यसेन और प्रशिष्य महासेन थे। ब्रह्मसेन बड़े विद्वान तपस्वी थ। अनेक राजा उनके चरणों की पूजा करते थे। महासेन के शिष्य चाङ्कि राजने जो वाणसवंश के थे, और केतल देवी के ऑफिसर थे। उन्होंने शांतिनाथ, पार्श्वनाथ और सुपार्श्व तीर्थकर की वेदियों को पौन्नवाडं में त्रिभुवन तिलक नाम के चैत्यालय में बनवाया। उनके लिये शक सं ९७६ (सन् १०५४ ई०) में जमीन और मकान दान किये[1]। इनका समय ईसा की ११वी शताब्दी है।

मुनिश्रीचन्द्र—

लाल बागड संघ और बलात्कारगण के आचार्य श्रीनन्दी के शिष्य थे। और धारा के निवासी थे। उन्होंने अपना पुराणसार वि० स० १०८० (सन् १०२३) में बनाकर समाप्त किया है[2]। रविषेण के पद्मचरित को टीका को भी उन्होंने वि० स० १०८७ में धारा नगरी में राजा भोजदेव के राज्यकाल में बनाकर समाप्त किया है[3]। तीसरी कृति महाकवि पुष्पदन्त के उत्तरपुराण का टिप्पण है, जिसे उन्होंने, सागरसेन नाम के सैद्धान्तिक विद्वान से महापुराण के विषम-पदों का विवरण जानकर और मूल टिप्पण का अवलोकन कर, वि०सं०

१. जैन लेख सं० भा०२पृ० २२७

२. धारायापुरि भोजदेव नृपते राज्ये जयात्युच्चकैः।
श्री मत्सागरसेनतो यतिपते ज्ञात्वा पुराणं महत्।
मुक्त्यर्थं भवभीतिभीतजगतां श्रीनन्दि शिष्यो बुधः।
कुर्वे चारुपुराणसारममलं श्रीचन्द्रनामामुनिः॥
श्रीविक्रमादित्य संवत्सरे (अशीत्यधिकवर्षसहस्रे पुराणसाराभिधानं समाप्तं। —देखो पुराणसार प्रशस्ति

३. लालबागड श्री प्रवचनसेन पण्डितात्पद्मचरितस्मकर्णो (समाकर्ण्य ?) बलात्कारगण श्रीनन्द्याचार्यसत्कविशिष्येण श्री चन्द्रमुनिना श्रीमद्विक्रमादित्य सवत्सरे समाशीत्यधिक वर्ष सहस्रे श्रीमद्धारायां श्रीमतो राज्ये भोजदेवस्य······। एवमिदं पद्मचरित टिप्पणं श्रीचन्द्रमुनिकृतं समाप्तमिति।

१०८० में राजा भोज के राज्यकाल में रचा है।[1] चौथी कृति 'शिवकोटि' की भगवती आराधना का वह टिप्पण है जिसका उल्लेख प० आशाधर जी ने अपने 'मूलाराधना दर्पण' में न० ५८९ गाथा की टीका करते हुए किया है। मुनि श्रीचन्द्र की ये सभी कृतियाँ धारा में ही रची गई हैं। उक्त टीका प्रशस्तियों में मुनि श्रीचन्द्र ने सागरसेन और प्रवचनसेन नाम के दो सैद्धान्तिक विद्वानों का उल्लेख किया है जो धारा निवासी थे। इससे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि उस समय धारा में अनेक जैन विद्वान और मुनि निवास करते थे।

केशिवराज—

यह सूक्ति सुधार्णव के कर्ता मल्लिकार्जुन का पुत्र और होयसालवंशी राजा नरसिंह के कटकोपाध्याय सुमनोबाण का दौहित्र और जन्न कवि का भानजा है। इसके बनाये हुए चोलपालक चरित्र सुभद्राहरण, प्रबोधचन्द्र, किरात और शब्दमणि दर्पण ये पांच ग्रन्थ हैं। परन्तु इनमें से केवल शब्दमणि दर्पण उपलब्ध है। यह कर्नाटक भाषा का सुप्रसिद्ध व्याकरण है। इसकी जोड़ का विस्तृत और स्पष्ट व्याकरण कनड़ी में दूसरा नहीं। इसकी रचना पद्यमयी है। और इस कारण कवि ने स्वयं ही इसकी वृत्ति लिख दी है। ग्रन्थ सन्धि, नाम, समास, तद्धित, आख्यान, धातु, अपभ्रंश, अव्यय और प्रयोगसार इन आठ अध्यायों में विभक्त है। कवि का समय ई० सन् १०६० है।

पद्मसेनाचार्य—

यह किस गण-गच्छ के आचार्य थे। यह कुछ ज्ञात नहीं हुआ। संवत् १०७६ में पूष सुदी द्वादशी के दिन देवलोक को प्राप्त हुए। इनकी यह निषधिका रूप नगर (किशनगढ़ से) डेढ़ मील दूर राजस्थान में चित्रनन्दी द्वारा प्रतिष्ठित हुई थी[2]। इनका समय ईसा की दशवीं और विक्रम ११वीं शताब्दी है।

विमलसेन पण्डित—

इनका गण-गच्छ और परिचय अप्राप्त है। यह मेघसेनाचार्य के शिष्य थे। इनका स० १०७९ ज्येष्ठ सुदी १२ को स्वर्गवास हुआ था। इनकी स्मृति में निषीधिका बनाई गई। जिन्होंने आराधना की भावना द्वारा देवलोक प्राप्त हुआ था। यह निषिधिका राजस्थान के रूप नगर (किशनगढ़ से ड़ेढ़ मील दूर) में बनी हुई है उसमें देवली के ऊपर एक तीर्थंकर मूर्ति प्रतिष्ठित है। इनका समय विक्रम की ११वीं शताब्दी है[3]।

सागरसेन सैद्धान्तिक—

यह प्राकृत संस्कृत भाषा और सिद्धान्त के विद्वान थे। और धारा नगरी में निवास करते थे। बलात्कार गण के विद्वान मुनि श्री नन्दि के शिष्य मुनि श्री चन्द्र ने आपसे महाकवि पुष्पदन्त के महापुराण के विषम-पदों को जानकर और मूल टिप्पण का अवलोकन कर राजा भोज देव के राजकाल में (स० १०८० में) महापुराण का टिप्पण बनाया था[4]। इनकी गुरु परम्परा क्या है और उन्होंने क्या रचनाएं रची। इसके जानने का कोई साधन नहीं है। पर इनका समय विक्रम की ११वीं शताब्दी का अन्तिम चरण है।

---

१. श्री विक्रमादित्य.संवत्सरे वर्षाणामशीत्यधिक् सहस्रे महापुराण विषम पद विवरण सागरसेन सैद्धान्तात् परिज्ञाय मूल टिप्पणिका चालोक्य कृत मिद समुच्चय टिप्पण अज्ञपातभीतेन श्रीमद्ब लात्कारगण श्री नन्द्याचार्य सत्कविशिष्येण श्री चन्द्र मुनिना निजदोर्दण्डाभिभूतरिपुराज विजयन. श्री भोजदेवस्य। —उत्तर पुराणटिप्पण प्रशस्ति।

२. "स० १०७६ पौष सुदी १२ श्री पद्मसेनाचार्य देवलोक गतः,। चित्रनन्दिना प्रतिष्ठेय।
"१०३६ (७६) श्री पद्मसेनाचार्य देवलोक गतः देवनन्दिना प्रतिष्ठेय।

३. स० १०७९ ज्येष्ठ सुदी १२ मेघसेनाचार्यस्य तस्य शिष्य विमलसेन पंडितेन (आ) राधना '(भावना)' भावयित्वा दिवंगतः (तस्यय निषिधिका)

४. 'श्री विक्रमादित्य-संवत्सर वर्षाणाशीत्यधिक सहस्रे महापुराण-विषम पद विवरण सागरसेन सैद्धान्तान् परिज्ञाय मूल टिप्पणिका चालोक्य कृतमिद समुच्चय टिप्पण अज्ञ पातभीतेन श्री मद्बलात्कारण श्री नद्याचार्य सत्कविशिष्येण श्री चन्द्र मुनिना निजदोर्दण्डाभिभूत रिपुराज्य विजयिनः श्री भोजदेवस्य।"

इन्द्रसेन भट्टारक—

द्रविल (ड) संघ, सेनगण, मालनूर अन्वय के भट्टारक मल्लिसेन के प्रधान शिष्य थे इन्हें चालुक्य कुलभूषण राजा त्रिभुवनमल्ल देव की रानी जाकल देवी ने, जो जैन धर्मपरायणा और जिन पूजा में निरत रहती थी और इगुणिगे ग्राम का शासन करती थी। वह जैन धर्मपरायणा राना तिक्क की पुत्री थी। उसके पति चालुक्य कुलभूषण त्रिभुवनमल्लदेव थे। जो कल्याणपुर के शासक थे। उन्होंने रानी को जैन धर्म से पराङ्मुख करने की प्रतिज्ञा ले रक्खी थी। परन्तु वह अपने उस कार्य में सफल न हो सका।

एक दिन रानी के सौभाग्य से एक व्यापारी महुमाणिक्य देव की प्रतिमा लेकर आया, और रानी के सामने वह अपना विनयभाव दिखला रहा था कि उसी समय राजा त्रिभुवनमल्लदेव आ गया। उसने रानी से कहा कि यह जिनमूर्ति अनुपम सुन्दर है, इसे अपने आधीन ग्राम में प्रतिष्ठित करो, तुम्हारे धर्मानुयायियों के लिये प्रेरणाप्रद होगी तब राजा की आज्ञा से रानी ने मूर्ति की प्रतिष्ठा भी करा दी और सुन्दर मन्दिर भी बनवा दिया। और उसकी व्यवस्था उक्त इन्द्रसेन भट्टारक को सौंपी। यह दान चालुक्य विक्रम के १८वें राज्यवर्ष में सन् १०५४ में श्रीमुख संवत्सर के फाल्गुण सुदी १०मी सोमवार के दिन समारोह पूर्वक् भट्टारक जी के चरणों की पूजा करके सौंपा गया था।[1] दान में २१ बृहत् मत्तर, प्रमाण कृष्य भूमि, १ बगीचा और जैन मन्दिर के समीप का एक घर दिया।

माणिक्यनन्दी

माणिक्यनन्दी नन्दि संघ के प्रमुख आचार्य थे। और धारा नगरी के निवासी थे। वे व्याकरण और सिद्धान्त के ज्ञाता होने के साथ दर्शन शास्त्र के तलदृष्टा विद्वान् थे। उस समय धारा नगरी विद्या का केन्द्र बनी हुई थी। बाहर के अनेक विद्वान् वहां आकर अपनी विद्या का विकास करते थे। वहां अनेक विद्यापीठ थे जिनमें छात्र रहकर विद्याध्ययन करके विद्वान बनते थे। अनेक सारस्वत विद्वान् आचार्य जैन धर्म का विकास और प्रचार कार्य में संलग्न रहते थे। उस समय धारा नगरी का प्रभु भोज देव था, जो राज्य कार्य का संचालन करते हुए भी विद्या व्यसनी, कवि और शास्त्र कर्ता था। वह विद्वानों का बड़ा आदर करता था। वहां के विद्या पीठ में सिद्धान्त, दर्शन, व्याकरण, छन्द, अलंकार और काव्यादि विविध विषयों के ग्रन्थों का पठन-पाठन होता था। सुदर्शन चरित के कर्ता नयनन्दी ने वहां की आचार्य परम्परा का उल्लेख किया है। मुनक्षत्र, पद्मनन्दी, विष्णुनन्दी, नन्दनन्दी, विश्वनन्दी, विशाखनन्दी, गणीरामनन्दी, माणिक्यनन्दी नयनन्दी, हरिसिंह, श्रीकुमार, जिन्हें सरस्वती कुमार भी कहा जाता था, प्रभाचन्द्र, और बालचन्द्र। दूसरी परम्परा लाड बागड गण के बलात्कारगण की थी। जिसमें सागरसेन, प्रवचनसेन, और श्रीचन्द्रादि विद्वानों का उल्लेख पाया जाता है।[2]

माणिक्यनन्दी गणीरामनन्दी के शिष्य थे। जो भारतीय दर्शन के साथ जैन दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित थे। इनके अनेक विद्या शिष्य थे। उनमें नयनन्दी प्रथम विद्या शिष्य थे। जिन्होंने सं० ११०० में धारा नरेश भोज के

---

१. (देखो, गुलबर्गा जिले का दान-पत्र) Jainism in South India P 406-407

२. जिणिदस्स वीरस्स तित्थे महंते महाकुंदकुंदण्णए एतसंते।
सुणक्खाहिहाणो तहा पोमणंदी, पुणो विण्हुणंदी तओ णंदिणंदी।
जिणुदिट्ठ धम्मं सुरासी विसुद्धा, कयाणेय गंथा जयंते पसिद्धा।
भवबोहिपोओ महा विस्सणंदी, खमाजुत्तु सिद्धंतिओ विसहणंदी।
जिणिंदागमाहासणे एयचित्तो, तवायार णिट्ठाए लद्धाए जुत्तो।
णरिंदा मरिंदहिं सो णंदवंदी, हुओ तस्स सीसो गणी रामणंदी।
असेसाण गंथाण पारम्मि पत्तो, तवे अंग वीभव्वराईव मित्तो।
गुणावासभूओ सुतिल्लोकणंदी महापंडिओ तस्स माणिक्कणंदी।
भुजंगप्पयाओ इमोणाम छंदी। —(सुदंसणचरिउ प्रशस्ति)

३. जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भाग २ पृ २५

राज्य काल में 'सुदसणचरिउ' और सकल विधिविधान काव्य की रचना की थी। उन्होंने अपने विद्यागुरु माणिक्यनन्दी को महापण्डित और त्रैविद्य बतलाते हुए, उन्हें प्रत्यक्ष परोक्षरूप जल से भरे और नयरूप चंचल तरग समूह से गभीर उत्तम सप्तभगरूप कल्लोल माला से भूषित, जिनशासनरूप निर्मल सरोवर से युक्त और पण्डितों का चूडामणि प्रकट किया है। और 'सुदसण चरिउ' की पुष्पिका में माणिक्य नन्दी का त्रैविद्यरूप से उल्लेख किया है जैसा कि उसके निम्न पुष्पिका वाक्य से प्रकट है:—"एत्थ सुदसण चरिए पचणमोक्कारफल पायसयरे माणिक्यनदी तइविज्जसीस णयणदिणा रइए असेससुर मथुअ णवेविवड्ढमाण जिण तओ विमओ पट्टणं णयरपत्थिओ पव्वयं समोसरण संगयं महापुराण आउच्छण इमाण कयवण्णणो णाम पढमो सधि समत्तो ॥"

माणिक्यनदी ने भारतीय दर्शन शास्त्र और अकलक देव के ग्रथों का दोहनकर जो नवनीतामृत निकाला, वह उनकी दार्शनिक प्रतिभा का सद्योतक है। वे जैन न्यायके आद्य सूत्रकार है। उनकी एक मात्र कृति 'परीक्षा मुख, सूत्र है, जो न्यायसूत्र ग्रथों में अपना असाधारण स्थान और महत्व रखता है।

परीक्षा मुख—यह जैन न्याय का आद्यसूत्र ग्रन्थ है जो छह अध्यायो विभक्त है और जिसके सूत्रों की कुल सख्या २०७ है। ये सब सूत्र सरस, गभीर और अर्थ गौरव को लिए हुए है। भारतीय वाङ्मय में साख्य सूत्र, योगसूत्र, न्यायसूत्र, वैशेषिकसूत्र, मीमासकसूत्र और ब्रह्मसूत्र आदि दार्शनिकसूत्र ग्रन्थ प्राचीन है। किन्तु जैन न्याय को सूत्र बद्ध करने वाला कोई ग्रन्थ उस समय तक नही था। अत: आचार्य माणिक्यनन्दी ने उस कमी को दूर कर इस सूत्र ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ में प्रमाण और प्रमाणाभास का कथन किया गया है। अत: उनकी यह कृति असाधारण और अपूर्व है, और न्यायसूत्र ग्रथो मे अपना खास महत्व रखती है। किसी विषय में नाना युक्तियों की प्रबलता और दुर्बलता का निश्चय करने के लिये जो विचार किया जाता है उसे परीक्षा कहते है[1] इस परीक्षामुख के सूत्रों का आधार न्यायसूत्र आदि के साथ अकलक देव के लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय और प्रमाणसग्रह आदि हैं। इस सूत्र ग्रन्थ पर दिग्नाग के न्यायप्रवेश' और धर्म कीर्ति के 'न्याय बिन्दु का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उत्तरवर्ती आचार्यो मे वादिदेव सूरि के प्रमाण नय तत्त्वालोक और हेमचन्द्र की प्रमाण मीमासापर परीक्षामुख अपना अमिट प्रभाव रखता है[2]। जो अल्पाक्षरो वाला है, असदिग्ध, सारवान, गूढ़ अर्थ का निर्णायक, निर्दोष तथा तथ्य रूप हो वह सूत्र कहलाता है[3]। परीक्षामुख मे सूत्र का उक्त लक्षण भलीभांति सघटित है इस ग्रन्थ पर अनेक टीका ग्रन्थ लिखे गए है। उनमे इसकी महत्ता का स्पष्ट बोध होता है।

इस सूत्र ग्रन्थ पर माणिक्यनदी के शिष्य प्रभाचन्द्र ने १२ हजार श्लोक प्रमाण 'प्रमेय कमल मार्तण्ड' नाम की एक बृहत् टीका लिखी है। यह जैन न्याय शास्त्र का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसका नाम ही इस बात का समूचक है कि यह ग्रन्थ प्रमेय रूपी कमलो के लिये मार्तण्ड (सूर्य) के समान है। प्रभाचन्द्र ने यह टीका भोजदेव के ही राज्य में बनाकर समाप्त की थी।

दूसरी टीका प्रमेयरत्नमाला अनन्तवीर्य की कृति है, जिसे उन्होंने उदार चन्द्रिका (चादनी) की उपमा दी है और अपनी रचना प्रमेय रत्नमाला को प्रमेय कमल मार्तण्ड के सामने खद्योत (जुगनू) के समान बतलाया है[4]। यह लघु टीका संक्षिप्त और प्रसन्न रचना शैली मे है। इस पर सागर में गागर वाली कहावत चरितार्थ होती है।

तीसरी टीका 'प्रमेयरत्नालकार' है,[5] जो भट्टारक चारुकीर्ति द्वारा परीक्षामुख के सूत्रों पर लिखी गई है। भट्टारक चारु कीर्ति श्रवण बेलगोला के निवासी थे। देशीगण में अग्रणी थे। ग्रन्थ की पुष्पिका में इन्होंने अपने

१. विरुद्ध नाना युक्ति प्राबल्य दौरबल्यावधारणाय प्रवर्तमाना विचार. परीक्षा। —(न्यायदीपिका)
लक्षितस्य लक्षण मुपपद्यते न वेति विचार. परीक्षा। —तर्कसंग्रह पदकृत्य।

२. देखो, अनेकान्त।

३. अल्पाक्षर मसदिग्ध सारवद् गूढनिर्णयम्। निर्दोष हेतुमत्तथ्य सूत्रं सूत्रविदो विदुः।
—प्रमेय रत्नमाला टिप्पण पृ० ५

४. प्रभेन्दुवचनोदारचन्द्रिका प्रसरर्सति। मादृशाः क्वनु गण्यन्त ज्योतिरिङ्गण सन्निभा.—प्रमेय रत्नमाला।

५. श्री चारुकीर्तिधुर्यस्सन्तनुते पण्डितार्यमुनिवर्य.।
व्याख्या प्रमेयरत्नालकाराख्या मुनीन्द्रसूत्राणाम्।

को चारुकीर्ति पण्डिताचार्य सूचित किया है। और ग्रन्थ के तीसरे श्लोक में गुरुमाणिक्य नन्दी मेरे हृदय में निरन्तर "हर्ष करे ऐसी आकाक्षा व्यक्त की है "**हर्ष वर्षतु सन्तत हृदि गुरुमाणिक्यनन्दी मम**।।" परीक्षा मुख के समान इसमें भी छह परिच्छेद है। यह टीका प्रमेय रत्नमाला से आकार मे बड़ी है। और इसमे कुछ ऐसे विषयों का भी प्रतिपादन है जो प्रमेयरत्न माला में नही मिलते। यह रचना प्रमेय कमल मार्तण्ड और प्रमेय रत्नमाला के मध्य को कड़ी या सोपान है जिसके द्वारा न्यायशास्त्र के जिज्ञासु उस भवन पर आसानी से आरोहण कर सकते है। यह ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है, इसकी प्रति जैन सिद्धान्त भवन आरा मे उपलब्ध है।

परीक्षा मुख के 'स्वापूर्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण' सूत्र पर लिखी गई शान्ति वर्णी की स्वतंत्र कृति प्रमेय कठिका है[1]। यह ग्रन्थ पाच स्तवकों मे विभक्त है। इसमें प्रमेय रत्नमालान्तर्गत कुछ विशिष्ट विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इस कारण इसे परीक्षा मुख की टीका नहीं कहा जा सकता। ग्रथ अभी अप्रकाशित है। यह प्रति भी जैन सिद्धान्त भवन आरा में मोजूद है। माणिक्य नन्दी वि० की ११वीं सदी के विद्वान है।

नयनन्दी

यह आचार्य कुन्दकुन्द की परम्परा में होने वाले त्रैलोक्यनन्दी के प्रशिष्य और माणिक्यनन्दी के प्रथम विद्या शिष्य थे। इन्होंने अपनी कृति सुदर्शन चरित की प्रशस्ति मे जो गुरु परम्परा दी है वह महत्वपूर्ण है। प्रस्तुत नयनन्दी राजा भोज के राज्यकाल में हुए है। इन्होंने वहीं पर विद्याध्ययन कर ग्रन्थ रचना की है। इनके दीक्षा गुरु कौन थे, और यह कहा के निवासी थे, उनका जीवन-परिचय क्या है? यह कुछ ज्ञात नही होता। कवि काव्य शास्त्र में निष्णात थे, साथ ही प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषा के विशिष्ट विद्वान थे। छन्द शास्त्र के परिज्ञानी थे। कवि ने धारा नगरी के एक जैन मंदिर के महा विहार में बैठकर अपना 'सुदंसण चरिउ' परमारवंशी राजा भोज देव, त्रिभुवन नारायण के राज्य में वि० स० ११०० में बनाकर समाप्त किया था[2]। उसके राज्यकाल के शिलालेख स० १०७७ से ११०४ तक के पाये जाते है। जिसका राज्य राजस्थान में चित्तोड़ से लेकर दक्षिण में कोकण व गोदावरी तक विस्तृत था।

सुदंसणचरिउ' अपभ्रंशभाषा का एक खण्ड काव्य है, जो महाकाव्यों की श्रेणी में रखने योग्य है। जहा ग्रन्थका चरित भाग रोचक और आकर्षक है वहाँ वह सालकार काव्य-कला की दृष्टि से उच्चकोटि का है। कवि ने उसे निर्दोष और सरस बनाने का पूरा प्रयत्न किया है। ग्रन्थकार ने स्वय लिखा है कि रामायण में राम और सीता का वियोग तथा शोक जन्य व्याकुलता के दर्शन होते है, और महा भारत में पाण्डव तथा धृतराष्ट्रादि कौरवों के परस्पर कलह एव मारकाट के दृश्य अकित मिलते है। तथा लोक शास्त्र में भी कौलिक, चोर, व्याध आदि की कहानियाँ सुनने में आती है, किन्तु इस सुदर्शन चरित में ऐसा एक भी दोष नही है, जैसा कि उसके निम्न वाक्य से प्रकट है:—

रामो सीय-विओय-सोय-विहुरं संपत्तु रामायणे,
जादं पाण्डव-धायरट्ठ सददं गोत्त कली-भारहे।
डेडा-कोलिय-चोर-रज्जु-णिरदा आहासिदा सुद्दये,
णो एक्कं पि सुदंसणस्स चरिदे दोसं समुब्भासिदं।।

कवि ने काव्य के आदर्श को व्यक्त करते हुए लिखा है कि रस और अलकार से युक्त कवि की कविता में जो रस मिलता है वह न तरुणिजनों के विद्रुम समान रक्त अधरों में, न आम्रफल में, न ईख में, न अमृत में, न हाला (मदिरा) में, न चन्दन में न चन्द्रमा में ही मिलता है।[3]

---

१. परीक्षामुखसूत्रस्यार्थं विवृण्महे।
इति श्री शान्तिवर्णि विरचिताया प्रमेय कण्ठिकाया ·· ·· स्तवक

२. णिव विक्कम काल हो ववगएसु एयारह सवच्छर-सएसु, तहि केवलीचरिउ अमयच्छोग। णयनदी विरयउ वित्थरेण।
—सुदसणचरिउ

३. णो संजाद तरुणि अहरे विद्दुमारत्तसोहे, णो साहारे भमियभमरे णेव पुण्डिच्छु डडे।
णो पीयूसे हलेखिहिणे चन्दणे णेवचन्दे, सालकारे सुकइभणिदे ज रस होदि कव्वे।।

प्रस्तुत ग्रन्थ में सुदर्शन के निष्कलंक चरित की गरिमा ने उसे और भी पावन एवं पठनीय बना दिया है। ग्रन्थ में १२ सन्धियाँ और २०७ कडवक हैं जिनमें सुदर्शन के जीवन परिचय को अंकित किया गया है। परन्तु कथा काव्य में कवि की कथन शैली, रस और अलंकारों की पुट, सरस कविता, शान्ति और वैराग्यरस तथा प्रसंगवश कला का अभिव्यंजन, नायिका के भेद, ऋतुओं का वर्णन और उनके वेष-भूषा आदि का चित्रण, विविध छन्दों की भरमार, है वे ग्रन्थ में मात्रिक विषम मात्रिक लगभग १२ छन्दों का उल्लेख मय उदाहरणों के दिये गए हैं। इससे नयनन्दी छन्द शास्त्र के विशेष ज्ञाता जान पड़ते हैं। लोकोपयोगी सुभाषित, और यथा स्थान धर्मोपदेशादि का विवेचन इस काव्य ग्रन्थ की अपनी विशेषता के निदर्शक हैं और कवि की आन्तरिक भद्रता के द्योतक हैं। ग्रन्थ में पंच नमस्कार मंत्र का फल प्राप्त करने वाले सेठ सुदर्शन के चरित्र का चित्रण किया गया है।

कथावस्तु

चरित्र नायक यद्यपि वणिक श्रेष्ठी है तो भी उसका चरित्र अत्यन्त निर्मल तथा मेरुवत् निश्चल है। उसका रूप-लावण्य इतना चित्ताकर्षक था कि उसके बाहर निकलते ही युवतिजनों का समूह उसे देखने के लिये उत्कंठित होकर मकानों की छतों द्वारा तथा झरोखों में इकट्ठा हो जाता था, वह कामदेव का कमनीय रूप जो था। साथ ही वह गुणज्ञ और अपनी प्रतिज्ञा के सम्यक्पालन में अत्यन्त दृढ़ था। धर्माचरण करने में तत्पर, सबसे मिष्ठभाषी और मानव जीवन की महत्ता से परिचित था और था विषय विकारों से विहीन। ग्रन्थ का कथा भाग सुन्दर और आकर्षक है। :—

अंग देश के चंपापुर नगर में, जहां राजा धाड़ीवाहन राज्य करता था। वहां वैभव सम्पन्न ऋषभदास सेठ का एक गोपालक (ग्वाला) था, जो गगा में गायों को पार कराते समय पानी के वेग से डूब कर मर गया था और मरते समय पंच नमस्कार, मंत्र की आराधना के फलस्वरूप उसी सेठ के यहां पुत्र हुआ था। उसका नाम सुदर्शन रक्खा गया। सुदर्शन को उसके पिता ने सब प्रकार से सुशिक्षित एवं चतुर बना दिया, और उसका विवाह सागरदत्त सेठ की पुत्री मनोरमा से कर दिया। अपने पिता की मृत्यु के बाद वह अपने कार्य का विधिवत् संचालन करने लगा। सुदर्शन के रूप की चारों ओर चर्चा थी, उसके रूपवान शरीर को देखकर उस नगर के राजा धाड़ी वाहन की रानी अभया उस पर आसक्त हो जाती है और उसे प्राप्त करने की अभिलाषा से अपनी चतुर पंडिता दासी को सेठ सुदर्शन के यहां भेजती है, पंडिता दासी रानी की प्रतिज्ञा सुनकर रानी को पतिव्रत धर्म का अच्छा उपदेश करती है और सुदर्शन की चरित्र-निष्ठा की ओर भी संकेत करती है, किन्तु अभया अपने विचारों में निश्चल रहती है और पंडिता दासी को उक्त कार्य की पूर्ति के लिये खास तौर से प्रेरित करती है। पंडिता सुदर्शन के पास कई बार जाती है और निराश होकर लौट आती है, पर एक बार वह दासी किसी कपट-कला द्वारा सुदर्शन को राज महलमें पहुंचा देती है। सुदर्शन के राज महल में पहुंच जाने पर भी अभया अपने कार्य में असफल रह जाती है—उसकी मनोकामना पूरी नहीं हो पाती। इससे उसके चित्त में असह्य वेदना होती है और वह उससे अपने अपमान का बदला लेने पर उतारू हो जाती है, वह अपनी कुटिलता का माया जाल फैला कर अपना सुकोमल शरीर अपने ही नखों से रुधिर-प्लावित कर डालती है और चिल्लाने लगती है कि दौड़ो लोगों मुझे बचाओ, सुदर्शन ने मेरे सतीत्व का अप हरण किया है, राजकर्मचारी सुदर्शन को पकड़ लेते हैं और राजा अज्ञानता वश क्रोधित हो रानी के कहे अनुसार सुदर्शन को सूली पर चढ़ाने का आदेश दे देता है। पर सुदर्शन अपने शीलव्रत की निष्ठा से विजयी होता है—एक देव प्रकट होकर उसकी रक्षा करता है। राजा धाड़ीवाहन का उस व्यन्तर से युद्ध होता है और राजा पराजित होकर सुदर्शन की शरण में पहुंचता है, राजा घटना के रहस्य का ठीक हाल जान कर अपने कृत्य पर पश्चाताप करता है और सुदर्शन को राज्य देकर विरक्त होना चाहता है, परन्तु सुदर्शन संसार-भोगों से स्वयं ही विरक्त है, वह दिगम्बर दीक्षा लेकर तपश्चरण करता है राजा के लौटने से पूर्व ही अभया रानी ने आत्म घात कर लिया और मर कर पाटलिपुत्र नगर में व्यन्तरी हुई। पंडिता भी पाटलिपुत्र भाग गई और वहां देवदत्ता गणिका के यहां रहने लगी।

मुनि सुदर्शन कठोरता से चारित्र का अनुष्ठान करने लगे। वे विहार करते हुए पाटलिपुत्र पहुँचे। उन्हें देख

पंडिता ने देवदत्ता गणिका को उनका परिचय कराया। गणिका ने छल से उन्हें अपने गृह में प्रवेश कराकर कपाट बन्द कर दिये, गणिका ने मुनि को प्रलाभित करने की अनेक चेष्टाएँ की। अन्त में निराश हो उसने उन्हे श्मशान में जा डाला। वहां जब वे ध्यानस्थ थे, तभी एक देवांगना का विमान उनके ऊपर आकर रुक गया। देवांगना रुष्ट हुई। और मुनि को देख कर उसे अपने अभया रानी वाले पूर्व जन्म का स्मरण हो आया। उसने विक्रिया ऋद्धि से मुनि के चारों ओर घोर उपसर्ग किया, तो भी सुदर्शन मुनि ध्यान में स्थिर रहे। इसी बीच एक व्यन्तर ने आकर उस व्यन्तरी को ललकारा, उसे पराजित कर भगा दिया।

कुछ समय पश्चात् सुदर्शन मुनि के चार घातिया कर्मो का नाश हो गया और उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। देवादिक इन्द्रों ने उनकी स्तुति की, कुबेर ने समोसरण की रचना की। केवली के उपदेश को सुनकर व्यन्तरी को वैराग्य हो गया, उसने तथा नर-नारियों ने सम्यक्त्व को धारण किया। अवशिष्ट अघाति कर्मो का नाश कर सुदर्शन ने मुक्ति पद प्राप्त किया।

कवि की दूसरी कृति 'सयल विहिविहाणकव्व' है, जो एक विशाल काव्य है जिसमें ५८ संधियाँ प्रसिद्ध हैं, परन्तु बीच की १६ सधियां उपलब्ध नही है। ग्रन्थ के त्रुटित होने के कारण जानने का कोई साधन नही है। प्रारम्भ की दो-तीन सधियों में ग्रन्थ के अवतरण आदि पर प्रकाश डालते हुए १२ वी से १५ वी सधि तक मिथ्यात्व के काल मिथ्यात्व और लोक मिथ्यात्व आदि अनेक मिथ्यात्वों का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए क्रिया वादि और अक्रियावादि भेदों का विवेचन किया है। परन्तु खेद है कि १५ वी सन्धि के पश्चात् ३२ वी सन्धि तक १६ सन्धियाँ आमेर भण्डार की प्रति में नही है। हो सकता है कि वे लिपि कर्ता को न मिली हों।

ग्रन्थ की भाषा प्रौढ है और वह कवि के अपभ्रंश भाषा के साधिकारित्व को सूचित करती है। ग्रन्थान्त में सन्धिवाक्य पद्य में निबद्ध किये हैं।

मुणिवरणयणंदि सण्णिद्धे पसिबद्धे, सयलविहि विहाणे एत्थ कव्वे सुभव्वे,
समवसरणसंसि सेणिए संपवेसो, भणिउ जण मणुज्जो एम संधी तिइज्जो ॥३॥

ग्रन्थ की ३२वी सन्धि में मद्य-मांस-मधु के दोष और उदंबरादि पंच फलों के त्याग का विधान और फल बतलाया गया है। ३३ वी संधि में पच अणुव्रतों का कथन दिया हुआ है और ३६ वी संधि में अणुव्रतों की विशेषताएँ बतलाई गई हैं। और उनमें प्रसिद्ध पुरुषों के आख्यान भी यथा स्थान दिये हुए हैं। ५६ वी संधि के अन्त में सल्लेखना (समाधिमरण) का स्पष्ट विवेचन किया गया है और विधि में आचार्य समन्तभद्र की सल्लेखना विधि के कथन-क्रम को अपनाया गया है। इसमे यह काव्य ग्रन्थ गृहस्थोपयोगी व्रतों का भी विधान करता है। इस दृष्टि से भी इस ग्रन्थ की उपयोगिता कम नही है।

छन्द शास्त्र की दृष्टि से इस ग्रन्थ का अध्ययन और प्रकाशन आवश्यक है। क्योंकि ग्रन्थ में ३०-३५ छन्दों का उल्लेख किया गया है जिनके नामों का उल्लेख प्रशस्ति संग्रह की प्रस्तावना में किया गया है[1]।

ग्रन्थ की आद्य प्रशस्ति इतिहास की महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती है। उसमें कवि ने ग्रन्थ बनाने में प्रेरक हरिसिंह मुनि का उल्लेख करते हुए अपने से पूर्ववर्ती जैन जैनेतर और कुछ सम सामयिक विद्वानों का भी उल्लेख किया है। जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। सम-सामयिक विद्वानों में, श्री चन्द्र, प्रभाचन्द्र और श्री कुमार का, जिन्हें सरस्वती कुमार भी कहते थे, नाम दिये हैं।

कविवर नयनन्दी ने राजा भोज, हरिसिंह, आदि के नामोल्लेख के साथ-साथ वच्छराज, और प्रभु ईश्वर का उल्लेख किया है और उन्हें विक्रमादित्य का मांडलिक प्रकट किया है। यथा—

जहिं वच्छराउ पुण पुहइ वच्छु, हुतउ पुह ईसरु सूववत्थु।
हो एप्पिणु पत्थए हरियराउ, मंडलिउ विक्कमाइच्च जाउ॥ **संधि २ पत्र ८**

इसी संधि में चलकर अंबाइय और कांचीपुर का उल्लेख किया है, कवि इस स्थान पर गये थे। इसके अनन्तर ही वल्लभराज का उल्लेख किया है, जिसने दुर्लभ जिन प्रतिमाओं का निर्माण कराया था, और जहां पर रामनन्दी, जयकीर्ति और महाकीर्ति प्रधान थे। जैसा कि ग्रन्थ की निम्न पक्तियों से प्रकट है :—

१. जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भा० २ प्रस्तावना पृ० ५०

'अंबाइय कंचीपुर विरत्त, जहिं भमइं भव्व भत्तिहिं पसत्त।
जहिं बल्लहराएं वल्लहेण, काराविउ कित्तणु दुल्लहेण।
जिण पडिमा लंकिउ गच्छ माणु, णं केण वियंभिउ सुरविमाणु।
जहिं रामणंदि गुणमणि णिहाणु जयकित्ति महाकित्ति वि पहाणु।
इय तिण्णि वि परमय-मइं-मयंद-मिच्छत्त-विडविमोडण गइंद।'

उक्त पद्यों में उल्लिखित रामनन्दी कौन है, और उनकी गुरु परम्परा क्या है और जयकीर्ति महाकीर्ति से से इनका क्या सम्बन्ध है? यह अज्ञात है। ये तीनों विद्वान भी नयनन्दी के समकालीन हैं। रामनन्दी आचार्य थे। इनके शिष्य बालचन्द ने कवि से सकलविधि-विधान बनाने का संकेत किया था। ऐतिहासिक दृष्टि से इन विद्वानों के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है। प्राकृत श्रुतस्कन्ध के कर्ता ब्रह्म हेमचन्द्र के गुरु भी रामनन्दी हैं। और माणिक्य नन्दी के गुरु भी रामनन्दी हैं। ये दोनों भिन्न-भिन्न विद्वान हैं या अभिन्न हैं, यह विचारणीय है।

प्रभाचन्द्र

माणिक्यनन्दी के अन्य विद्या शिष्यों में प्रभाचन्द्र प्रमुख रहे हैं। वे उनके 'परीक्षामुख' नामक सूत्र-ग्रन्थ के कुशल टीकाकार भी हैं। दर्शन शास्त्र के अतिरिक्त वे सिद्धान्त के भी विद्वान थे। आचार्य प्रभाचन्द्र ने उक्तधारा नगरी में रहते हुए केवल दर्शन शास्त्र का अध्ययन ही नहीं किया; प्रत्युत धाराधिपभोज के द्वारा प्रतिष्ठा पाकर अपनी विद्वत्ता का विकास भी किया। साथ ही विशाल दार्शनिक ग्रन्थों के निर्माण के साथ अनेक ग्रन्थों की रचना की है। 'प्रमेय कमल मार्तण्ड' (परीक्षामुख टीका) नामक विशाल दार्शनिक ग्रन्थ सुप्रसिद्ध राजा भोज के राज्यकाल में ही रचा गया है। और 'न्याय कुमुदचन्द्र' (लघीयस्त्रय टीका) आराधना-गद्य कथाकोश पुष्पदन्त के महापुराण (आदिपुराण-उत्तरपुराण) पर टिप्पण-ग्रन्थ तत्त्वार्थ वृत्ति पद टिप्पण, शब्दाम्भोज भास्कर समाधि तंत्र टीका ये सब ग्रन्थ राजा जयसिंह देव के राज्य काल में रचे गये हैं। शेष ग्रन्थ प्रवचन सरोज भास्कर, पंचास्तिकाय-प्रदीप, आत्मानुशासन तिलक, क्रियाकलाप टीका, रत्नकरण्ड श्रावकाचार टीका, वृहत्स्वयंभूस्तोत्र टीका, तथा प्रतिक्रमणपाठ टीका, ये सब ग्रन्थ कब और किसके राज्यकाल में रचे गए हैं ये इन्हीं प्रभाचन्द्र की कृति है या अन्य की यह विचारणीय है। इनमें प्रवचन सरोजभास्कर और पंचास्तिकाय प्रदीप तो इन्हीं प्रभाचन्द्र की कृति हैं। शेष के सम्बन्ध में सप्रमाण निर्णय करने की जरूरत है कि वे इन्हीं की कृति हैं। या किसी अन्य प्रभाचन्द्र की।

ये प्रभाचंद्र वही ज्ञात होते हैं जिनका श्रवण वेल्गोल के शिलालेख नं० ४० के अनुसार मूलसंघान्तर्गत नन्दीगण के भेदरूप देशीयगण के गोल्लाचार्य के शिष्य एक अविद्धकर्ण कौमारव्रती पद्मनन्दी सैद्धांतिक का उल्लेख है जो कर्णवेधसंस्कार होने से पूर्व ही दीक्षित हो गए थे। उनके शिष्य और कुलभूषण के सधर्मा एक प्रभाचन्द्र का उल्लेख पाया जाता है जिसमें कुलभूषण को चारित्रसागर और सिद्धान्त के पारगामी बतलाया गया है। और प्रभाचन्द्र को शब्दाम्भोरुह भास्कर तथा प्रथित तर्क-ग्रन्थकार प्रकट किया है। इस शिलालेख में मुनि कुलभूषण की शिष्य परम्परा का भी उल्लेख निहित है।

अविद्ध कर्णादिक पद्मनन्दी सैद्धान्तिकाख्योऽजनि यस्य लोके।
कौमारदेवव्रतिता प्रसिद्धिर्जीयात्तु सज्ज्ञाननिधिः सधीरः॥
तच्छिष्यः कुलभूषणाख्या यतिपश्चारित्रवारां निधिः—
सिद्धान्ताम्बुधि पारगो नतविनेयस्तत्सधर्मो महान्।
शब्दाम्भोरुह भास्करः प्रथित तर्क ग्रन्थकारः प्रभा—
चन्द्राख्या मुनिराज पंडितवरःश्रीकुन्दकुन्दान्वयः॥
तस्य श्री कुलभूषणाख्य सुमुनेश्शिष्यो विनेयस्तुतः—
सद्वृत्तः कुलचन्द्रदेव मुनिपस्सिद्धान्तविद्यानिधिः॥

श्रवण वेल्गोल के ५५ वें शिलालेख में मूलसंघ देशीयगण के देवेन्द्रसैद्धान्तिक के शिष्य, चतुर्मुख देव के शिष्य गोपनन्दी और इन्हीं गोपनन्दी के सधर्मा एक प्रभाचन्द्र का उल्लेख भी किया गया है, जो प्रभाचन्द्र धारा-

धीश्वर राजा भोज द्वारा पूजित थे और न्याय रूप कमल समूह को विकसित करने वाले दिनमणि, और शब्द रूप अब्ज को प्रफुल्लित करने वाले रोदोमणि (भास्कर) सदृश थे। और पण्डित रूपी कमलों को विकसित करने वाले सूर्य तथा रुद्रवादि दिग्गज विद्वानों को वश करने के लिये अंकुश के समान थे तथा चतुर्मुख देव के शिष्य थे[1]।

दोनों ही शिलालेखों में उल्लिखित प्रभाचन्द्र एक ही विद्वान जान पड़ते है। हां, द्वितीय लेख (५५) में चतुर्मुखदेव का नाम नया जरूर है, पर यह संभव प्रतीत होता है कि प्रभाचन्द्र के दक्षिण देश से धारा में आने के पश्चात् देशीयगण के विद्वान चतुर्मुखदेव भी उनके गुरु रहे हों तो कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि गुरु भी तो कई प्रकार के होते हैं--दीक्षा गुरु विद्या गुरु आदि। एक-एक विद्वान के कई-कई गुरु और कई-कई शिष्य होते थे। अतएव चतुर्मुखदेव भी प्रभाचन्द्र के किसी विषय में गुरु रहे हों, और इसलिये वे उन्हें समादर की दृष्टि से देखते हों, तो कोई आपत्ति की बात नहीं, अपने से बड़ों को आज भी पूज्य और आदरणीय माना जाता है।

अब रही समय की बात, सो ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि प्रभाचन्द्र ने प्रमेय कमलमार्तण्ड को राजा भोज के राज्य काल मे रचा है। जिसका राज्य काल संवत १०७० मे १११० तक का बतलाया जाता है। उसके राज्य काल के दो दान पत्र संवत् १०७६ और १०७९ के मिले है।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने देवनदी की तत्त्वार्थ वृत्ति के विषम-पदों का एक विवरणात्मक टिप्पण लिखा है। उसके प्रारम्भ में अमितगति के संस्कृत पंचसंग्रह का निम्न पद्य उद्धृत किया है—

वर्गः शक्ति समूहोऽणोरणूनां वर्गणोदिता।
वर्गणानां समूहस्तु स्पर्धकं स्पर्धकापहैः॥

अमितगति ने अपना यह पंच संग्रह मसूतिकापुर में, जो वर्तमान में 'मसीद विलौदा' ग्राम के नाम से प्रसिद्ध है, वि० सं १०७३ में बनाकर समाप्त किया है[2]। अमितगति धाराधिप मुंज की सभा रत्न भी थे। इससे स्पष्ट है कि प्रभाचन्द्र ने अपना उक्त टिप्पण वि० संवत् १०७३ के बाद बनाया है। कितने दिन बाद बनाया है। यह बात अभी विचारणीय है।

न्याय विनिश्चय विवरण के कर्ता आचार्य वादिराज ने अपना पार्श्वनाथ चरित शक सं० ९४७ (वि० सं० १०८२) में बनाकर समाप्त किया है। यदि राजा भोज के प्रारम्भिक राज्यकाल में प्रभाचन्द्र ने प्रमेय कमलमार्तण्ड बनाया होता, तो वादिराज उसका उल्लेख अवश्य ही करते। पर नहीं किया, इससे यह ज्ञात होता है कि उस समय तक प्रमेय कमलमार्तण्ड की रचना नहीं हुई थी। हाँ, सुदर्शन चरित के कर्ता मुनि नयनन्दी ने, जो माणिक्य नन्दी के प्रथम विद्याशिष्य थे और प्रभाचन्द्र के समकालीन गुरुभाई भी थे, अपना 'सुदर्शनचरित' वि० स० ११०० में बनाकर समाप्त किया था। उसके बाद 'सकल विधि विधान' नाम का काव्यग्रन्थ बनाया, जिसमें पूर्ववर्ती और समकालीन अनेक विद्वानों का उल्लेख करते हुए प्रभाचन्द्र का नामोल्लेख किया है परन्तु उसमें उनकी रचनाओं का कोई उल्लेख नहीं है। इससे स्पष्ट है कि प्रमेय कमल मार्तण्ड की रचना सं० ११०० के बाद किसी समय हुई है और न्याय कुमुदचन्द्र स० १११२ के बाद की रचना है, क्योंकि जयसिंह राजा भोज (स० १११०) के बाद किसी समय उत्तराधिकारी हुआ है। न्याय कुमुदचन्द्र जयसिंह के राज्य में रचा गया है। इससे प्रभाचन्द्र का समय विक्रम की ११ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध और १२ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध होना चाहिये।

---

१ श्री धाराधिप-भोजराजमुकुट-प्रोतास्म-रश्मिच्छटा
च्छाया कुंकुम-पंक-लिप्त चरणाम्भो जात लक्ष्मीधवः
न्यायाब्जाकरमण्डने दिनमणिश्शब्दाब्ज-रोदोमणिः
स्थेयात्पण्डित-पुण्डरीक-तरणि श्रीमान् प्रभाचन्द्रमा ॥१७॥
श्रीचतुर्मुखदेवाना शिष्योऽधृष्यः प्रवादिभिः।
पण्डित श्रीप्रभाचन्द्रो रुद्रवादि-गंजांकुशः ॥१८॥ —जैन शिलालेख संग्रह भा० १ पृ० ११८।

२ त्रिसप्त्यधिकेऽब्दानां सहस्रे शकविद्विष.।
मसूतिका पुरे जात मिद शास्त्रं मनोरमम् ॥ पचसंह—६

ईसा की १२वीं शताब्दी के विद्वान आ० मलयगिरि ने आवश्यक निर्युक्ति टीका (पृ० ३७१A) में लघीयस्त्रय की एक कारिका का व्याख्यान करते हुए 'टीका कारके' नाम से न्याय कुमुद चन्द्र में किया गया उक्त कारिका का व्याख्यान भी उद्धृत किया है। १२वीं शताब्दी के विद्वान देवभद्र ने न्यायावतार टीका टिप्पण (पृ० २१,७६) में प्रभाचन्द्र और उनके न्याय कुमुदचन्द्र का नामोल्लेख किया है। अतः १२ वीं शताब्दी के इन विद्वानों के उल्लेख से स्पष्ट होता है कि प्रभाचन्द्र १२ वी शताब्दी के पूर्वार्ध से आगे के विद्वान नहीं हो सकते।

रचनाएं

आचार्य प्रभाचन्द्र की निम्न कृतियां प्रसिद्ध हैं—१ तत्त्वार्थ वृत्ति पद विवरण (सर्वार्थ सिद्धि के विषमपदों का टिप्पण। २ प्रवचन सरोज भास्कर (प्रवचनसार टीका) ३ प्रमेय कमलमार्तण्ड (परीक्षामुख व्याख्या) ४ न्याय कुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रय व्याख्या) ५ शब्दाम्भोज भास्कर ६ महापुराण टिप्पण ७ गद्य कथा कोश (आराधना कथा प्रबन्ध) ८ पंचास्तिकाय प्रदीप (पंचास्तिकाय टीका) ९ क्रिया कलाप टीका १० रत्नकरण्ड श्रावकाचार टीका ११ समाधितंत्र टीका १२।

तत्त्वार्थ वृत्तिपद विवरण—यह तत्त्वार्थ वृत्ति (सर्वार्थसिद्धि) के अप्रकट-विषमपदों का विवरण है। प्रभाचन्द्र ने इस विवरण में वृत्ति के कथन को पुष्ट करने के लिए अनेक ग्रन्थों के वाक्यों को उद्धृत किया है। उन ग्रन्थों में अनेक ग्रन्थ प्राचीन और पूर्ववर्ती हैं। और कुछ समसामयिक तथा उनसे कुछ वर्ष पहले के हैं। मूलाचार, भाव पाहुड, पंच संग्रह, सिद्धभक्ति, युक्त्यनु शासन, भगवती आराधना अष्टशती, गोम्मटसार जीव कांड, संस्कृत पंच-संग्रह और वसुनन्दि श्रावकाचार। इनमें संस्कृत पंच संग्रह के कर्ता अमितगति (द्वितीय) वि० सं० १०५० से १०७३ के विद्वान हैं। उनका पंच संग्रह १०७३ की रचना है। और वसुनन्दि का समय १२ वीं शताब्दी बतलाया जाता है। यदि 'पडिगहमुच्चठ्ठाणं' गाथा वसुनन्दि की है, पूर्ववर्ती अन्य की नहीं है तब यह विचारणीय है कि उक्त गाथा के रहते हुए उक्त विवरण भी १२ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में रचा गया है।

प्रवचन सरोज भास्कर—आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार की टीका है। प्रभाचन्द्र की इस टीका का नाम 'प्रवचन सरोज भास्कर' है। ऐ० पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन बम्बई की यह ५३ पत्रात्मक प्रति सं० १५५५ की लिखी हुई है, और जो गिरिपुर में लिखी गई थी। इस प्रति में आचार्य अमृतचन्द्र के द्वारा प्रवचनसार टीका में अव्याख्यात ३६ गाथाएं भी प्रवचन सरोजभास्कर में यथा स्थान व्याख्यात हैं। जयसेनीय टीका में प्रवचन सरोजभास्कर का अनुकरण किया गया है। प्रभाचन्द्र ने जब अवसर देखा तभी उन्होंने संक्षेप से दार्शनिक मुद्दों की चर्चा की है। टीका अति संक्षिप्त होते हुए भी विशद है। इसका पुष्पिका वाक्य निम्न प्रकार है:—"इति श्री प्रभाचन्द्र विरचिते प्रवचन सरोज भास्करे शुभोपयोगाधिकार समाप्त :।"

प्रमेय कमल मार्तण्ड—यह माणिक्यनन्दी आचार्य के 'परीक्षामुख' नामक सूत्र ग्रन्थ की विस्तृत व्याख्या है। चूँ कि परीक्षामुख सूत्र शुद्ध न्याय का ग्रन्थ है। अतः प्रमेयकमलमार्तण्ड का प्रतिपाद्य विषय भी न्यायशास्त्र से सम्बन्धित है। सन्मति टीकाकार अभयदेव सूरि और स्याद्वाद रत्नाकर के रचयिता वादिदेव सूरि ने इस ग्रथ का विशेष अनुसरण किया है। स्याद्वाद रत्नाकर में तो प्रमेयकमलमार्तन्ड के कर्ता का नाम निर्देश भी किया है। और स्त्रीमुक्ति तथा केवलभुक्ति के समर्थन में उसकी युक्तियों का खण्डन भी किया है। वादिदेव का जन्म वि० सं० ११४३ में और स्वर्गवास सं० १२२२ में हुआ था। वे सं० ११७४ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए थे। इसके बाद उन्होंने सं० ११७५ (सन् १११८) लगभग स्याद्वाद रत्नाकर की रचना की होगी। स्याद्वाद रत्नाकर में प्रमेय कमल मार्तण्ड और न्याय कुमुदचन्द्र का न केवल शब्दार्थानुसरण ही किया गया है किन्तु कवलाहार समर्थन प्रकरण तथा प्रतिबिम्ब चर्चा में प्रभाचन्द्र और उनके प्रमेयकमलमार्तण्ड का नामोल्लेख करके खंडन किया है। प्रभाचन्द्र इनसे बहुत पूर्ववर्ती हैं। उनकी उत्तरावधि सन् ११०० ई० है प्रभाचन्द्र की यह टीका प्रमेय बहुल है। प्रमेय कमल मार्तण्ड की यह रचना धाराधीश भोज के राज्य काल में हुई है।

न्याय कुमुदचन्द्र—अकलंक देव के लघीयस्त्रयकी टीका है। मूल लघीयस्त्रय में ७८ कारिकाएं और तीन प्रवेश हैं—प्रमाण प्रवेश नयप्रवेश और प्रवचनप्रवेश। प्रथम प्रवेश में ४ परिच्छेद हैं, दूसरे में एक और तीसरे में दो

परिच्छेद हैं। इस तरह न्याय कुमुद में ७ परिच्छेद हैं। जिनमें प्रमाण नय, निक्षेप और प्रवचन प्रवेशरूप प्रति पाद्य विषय का ऊहापोह के साथ विवेचन किया गया है। इन के अतिरिक्त तत्सम्बन्धि अवान्तर अनेक विषयों की पूर्व उत्तर पक्ष के रूप में चर्चा की गई है। न्याय कुमुद की भाषा ललित और प्रवाह निर्बाध है। दार्शनिक शैली और भाषा सौष्ठव, सुखद है तथा साहित्य के मर्मज्ञ व्याख्याकार अनन्तवीर्य और विद्यानन्दी का अनुसरण करने का प्रयत्न किया गया है। इतने महान् टीका ग्रन्थ का निर्माण करने पर भी प्रभाचन्द्र ने निम्न पद्य में अपनी लघुता ही प्रकट की है। और लिखा है कि न मुझमें वैसा ज्ञान ही है और न सरस्वती ने ही कोई वर प्रदान किया है। तथा इस ग्रन्थ के निर्माण में किसी से वाचनिक सहायता भी नहीं मिल सकी है।

बोधो मे न तथा विधोऽस्ति न सरस्वत्या प्रदत्तो वरः ।
साहायञ्च न कस्यचिद्वचनतोऽप्यस्ति प्रबन्धोदये ॥

प्रमेय कमलमार्तण्ड की रचना के बाद टीकाकार प्रभाचन्द्र के मानस में जो नवीन नवीन युक्तियां अवतरित हुई उनका इसमें निर्देश किया गया है। जहां द्विरुक्ति की संभावना हुई, वहां उनका निरूपण नहीं किया किन्तु प्रमेयकमलमार्तण्ड के अवलोकन करने का निर्देश कर दिया है। प्रभाचन्द्र ने अपने स्वतंत्र प्रबन्धों में बहुतसी मौलिक बातें बतलाई हैं, जैसे वैभाषिक सम्मत प्रतीत्य समुत्पाद का खंडन, प्रतिबिम्ब विचार तम और छाया द्रव्यत्व आदि अनेक प्रकरणों के नाम उल्लेखनीय हैं। न्याय कुमुद की रचना शैली प्रसन्न और मनोमुग्धकर है। प्रभाचन्द्र ने न्याय कुमुद की रचना धारा के जयसिंह देव के राज्य में की है। (न्याय कु० प्रस्तावना)

शब्दाम्भोजभास्कर—श्रवणबेल्गोल के शिला लेख नं० ४० (६४) में प्रभाचन्द्र के लिये शब्दाम्भोजभास्कर विशेषण दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि प्रमेय कमलमार्तण्ड और न्याय कुमुद जैसे प्रथित तर्क ग्रन्थों के कर्ता प्रभाचन्द्र ही शब्दाम्भोजभास्कर नामक जैनेन्द्र व्याकरण महान्यास के कर्ता हैं। यह न्यास जैनेन्द्र महावृत्ति के बहुत बाद बनाया गया है।

नमः श्री वर्धमानाय महते देवनन्दिने ।
प्रभाचन्द्राय गुरवे तस्मै चाभयनन्दिने ॥

इस पद्य में अभयनन्दि को नमस्कार किया गया है। शब्दाम्भोजभास्कर का पुष्पिका वाक्य इस प्रकार है:

इति प्रभाचन्द्र विरचिते शब्दाम्भोजभास्करे जैनेन्द्र व्याकरण महान्यासे तृतीयस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ।

क्योंकि इसमें महावृत्ति के शब्दों को आनुपूर्वी से लिया गया है। विशेष परिचय के लिये प्रमेय कमल मार्तण्ड की प्रस्तावना देखें।

गद्य कथा कोश—यह कथा प्रबन्ध संस्कृत गद्य में रचा गया है, जिसमें ८९ कथाएं हैं। उसके बाद समाप्ति सूचक पुष्पिका पायी जाती है। प्रभाचन्द्र ने ८९ कथाएं बनाई हैं या और अधिक यह अभी निर्णय नहीं हुआ। हो सकता है कि लिपि कर्ता से गल्ती में पुष्पिका वाक्य लिखा गया हो, और बाद में कुछ कथाएं और लिखकर पुष्पिका वाक्य लिखा गया हो। ग्रन्थ सामने न होने से उसके सम्बन्ध में विशेष कुछ कहना संभव नहीं।

महापुराणटिप्पण- प्रभाचन्द्र ने पुष्पदन्त के अपभ्रंश भाषा के महापुराण (आदि पुराण-उत्तर पुराण) पर एक टिप्पण लिखा है। यह टिप्पण धारा के राजा जयसिंह के राज्य काल में लिखा गया है। पुष्पदन्त ने अपना महापुराण सन् ९६५ ई० में समाप्त किया था[1]। प्रभाचन्द्र ने उसके बाद उस पर टिप्पण लिखा है। आदि पुराण टिप्पण में धारा और जयसिंह नरेश का कोई उल्लेख नहीं है। महापुराण के इस टिप्पण की श्लोक संख्या ३३०० बतलाई गई है। आदि पुराण की १९५०, और उत्तर पुराण की १३५०। आदि पुराण टिप्पण का आदि अन्त मंगल निम्न प्रकार है :—

आदि मंगल—प्रणम्यवीरं विबुधेन्द्र संस्तुतं निरस्तदोषं वृषभं महोदयम् ।
पदार्थ संदिग्धजन प्रबोधकम्, महापुराणस्य करोमि टिप्पणम् ॥

१ पुष्पदन्त ने महापुराण सिद्धार्थ संवत्सर ८८१ में महापुराण शुरू किया और ८८७ सन् ९६५ में समाप्त किया था।

अन्त— समस्त सन्देहहरं मनोहरं प्रकृष्टपुण्यप्रभवम् जिनेश्वम् ।
कृतं पुराणे प्रथमे सुटिप्पणं सुखावबोधं निखिलार्थ दर्पणम् ।।

इति **श्रीप्रभाचन्द्र विरचितमादिपुराणटिप्पणकम् पंचासश्लोक हीनं सहस्रद्वयपरिमाणं परिसमाप्ता ।।**

उत्तर पुराण टिप्पण का अन्तिम पुष्पिका वाक्य निम्न प्रकार है :—

श्री जयसिंह देव राज्ये श्रीमद्धारानिवासिनः परापरपरमेष्ठि प्रणामोपा र्जितामल पुण्य निराकृता खिल कलंकेन श्री प्रभाचन्द पंडितेन महापुराण टिप्पणके शतत्र्यधिक सहस्रत्रय परिमाणं कृति मिति ।

पाटोदी मन्दिर जयपुर प्रति

क्रियाकलाप टीका—श्री पंडित प्रभाचन्द्र के द्वारा रची गई है । जैसा कि ऐ० पन्ना लाल सरस्वति भवन बम्बई की हस्त लिखित प्रति की अन्तिम प्रशस्ति से स्पष्ट है :—

वन्दे मोहतमो विनाशनपटुस्त्रैलोक्य दीप प्रभुः ।
संसृद्वति समन्वितस्य निखिल स्नेहस्य संशोषकः ।
सिद्धान्तादिसमस्तशास्त्रकिरणः श्री पद्मनन्दि प्रभुः ।
तच्छिष्यात्प्रकटार्थतां स्तुति पदं प्राप्तं प्रभाचन्द्रतः ।।

इस प्रशस्ति पद्य से स्पष्ट है कि क्रियाकलाप के टीकाकार पद्मनन्दि सैद्धान्तिक के शिष्य थे ।

इनके अतिरिक्त समाधितंत्र टीका, रत्नकरण्ड टीका, आत्मानुशासन तिलक टीका, स्वयंभूस्तोत्र टीका पंचास्तिकाय प्रदीप, प्रवचनसार टीका को प्रति टोडा रायसिंह के नेमिनाथ मन्दिर में सं० १६०५ की लिखी हुई मौजूद है इसकी यह जाँच करना आवश्यक है यह टीका प्रवचन सरोज भास्कर से भिन्न है या वही है और समयसार वृत्ति की प्रति ६५ पत्रात्मक भट्टारकीय भंडार अजमेर में उपलब्ध है इन टीका ग्रन्थों में समाधितत्र टीका, रत्न करण्ड टीका, और स्वयंभूस्तोत्र टीका, तो इन्हीं प्रभाचन्द्र की मानी ही जाती है । किन्तु शेष टीकाओं के सम्बन्ध में अन्वेषण कर यह निश्चय करना शेष है कि ये टीकाएं भी उन्हीं प्रभाचन्द्र की है । या अन्य किसी प्रभाचन्द्र की हैं ।

वीरसेन

यह माथुर संघ के आचार्य थे, जो सिद्धान्त शास्त्रों के पारगामी विद्वान थे । आचार्यों में श्रेष्ठ थे । और माथुर संघ के व्रतियों में वरिष्ठ थे । कषाय के विनाश करने में प्रवीण थे । जैसा कि धर्मपरीक्षा प्रशस्ति के निम्न पद्य से स्पष्ट है:—

सिद्धान्त पाथोनिधि पारगामी श्री वीरसेनोऽजनिसूरिवर्यः ।
श्री माथुराणां यमिनां वरिष्ठः कषाय विध्वंसविधौ पटिष्टः ।।

वीरसेनाचार्य से ५वीं पीढ़ी में अमितगति द्वितीय हुए । इनका समय सं०१०५० से १०७३ है । प्रत्येक का काल २०-२० वर्ष माना जाय तो वीरसेन का समय अमितगति द्वितीय से १०० वर्ष पूर्व ठहरता है और वीरसेन के शिष्य देवसेन का समय दशवीं शताब्दी है । अतः वीरसेन का समय भी १०वीं शताब्दी होना चाहिये ।

देवसेन

प्रस्तुत देवसेन सिद्धान्त समुद्र के पारगामी विद्वान वीरसेन के शिष्य थे । जो उदयाचल रूप सूर्य के समान अंधकार की प्रवृत्ति को नष्ट करने वाले, लोक में ज्ञान के प्रकाशक, सत्पुरुषों के प्रिय, तथा धीरतासे जिन्होंने दोषों को नष्ट कर दिया है, ऐसे देवसेन नाम के आचार्य हुए[1] ।

१ ध्वस्ता शेष ध्वान्त वृत्तिर्मनस्वी तस्मात्सूरिर्देवसेनो ऽजनिष्ट ।
लोकोद्योती पूर्व शैलादिवार्कः शिष्टा भीष्टः स्थेयसोऽपास्तदोषः ।। —धर्म परीक्षा प्र०

यह देवसेन माथुरसंघ के यतियों में अग्रणी थे। जिस प्रकार सूर्य पदार्थों को प्रकाशित करता है और प्रदोषा (रात्रि) को नष्ट करता है, कमलों को विकसित करता है, उसी प्रकार आचार्य देवसेन वस्तु स्वरूप को प्रकाशित करने और प्रकृष्ट दोषों से रहित हुए भव्य रूप कमलों को प्रमुदित करते थे। जैसा कि निम्न पद्य से स्पष्ट है :—

श्री देवसेनोऽजनि माथुराणां गणी यतीनां विहित प्रमोदः।
तत्त्वावभासी निहतप्रदोषः सरोरुहाणामिव तिग्मरश्मिः॥

इससे यह देवसेन माथुरसंघ के प्रभावशाली विद्वान थे। इनके शिष्य अमितगति प्रथम थे। जिन्होंने योगसार की रचना की है। इनका समय वि० की दशवी शताब्दी है। क्योंकि इनमें ५वी पीढ़ी में अमितगति द्वितीय हुए हैं, जिनका रचना काल सं० १०५० से १०७३ है। इसमें से चार पीढ़ी का ८० वर्ष समय कम करने से सं० ९९३ आता है। यही देवसेनका समय है।

नेमिषेण

यह माथुरसंघ के विद्वान अमितगति प्रथम के शिष्य थे। समस्त शास्त्रों के जानकार और शिष्यों में अग्रणी थे, तथा माथुरसंघ के तिलक स्वरूप थे। जैसा कि सुभाषितरत्नसन्दोह की प्रशस्ति के निम्न पद्य से प्रकट है :—

तस्य ज्ञात समस्त शास्त्र समयः शिष्यः सतामग्रणीः।
श्रीमन्माथुरसंघसाधुतिलकः श्रीनेमिषेणो भवत्ः॥

उक्त नेमिषेणाचार्य माथुरसम्प्रदाय रूप आकाश में प्रकाश करने वाले चन्द्रमा के समान, तथा अर्हन्त भाषित तत्वों में शंका के विनाशक और विद्वत्समूह रूप शिष्यों मे पूजित थे। जैसा कि श्रावकाचार के निम्न पद्य से स्पष्ट है—

विद्वत्समूहार्चित चित्र शिष्यः श्री नेमिषेणोऽजनि तस्य शिष्यः।
श्री माथुरानूक नभः शशांकः सदा विधूताऽर्हत तत्त्व शंकः॥

आराधना प्रशस्ति में भी इन्हें सर्व शास्त्ररूपी जलराशिके पारको प्राप्त होने वाले, लोकके, अंधकार के विनाशक और शीतरश्मि के समान जनप्रिय बतलाया है।

सर्वशास्त्रजलराशिपारगो नेमिषेण मुनि नायकस्ततः।
सोऽजनिष्ट भुवने तमोपहः शीतरश्मिरिव यो जन प्रियः॥

इनके शिष्य माधवसेन थे, जो अमितगति द्वितीय के गुरु थे। चूंकि अमितगति द्वितीय का समय सं० १०५० सं १०७३ तक सुनिश्चत है। इनका समय सं १०११ के लगभग होना चाहिये।

माधवसेन

माधवसेन नामके अनेक विद्वान हो गए हैं[१]। उनमें प्रस्तुत माधवसेन माथुरसंघ के आचार्य नेमिषेण के शिष्य थे। मुनियों के स्वामी, माया के विनाशक और मदन को नष्ट करने वाले ब्रह्मचारी थे। और वृहस्पति के

---

१ एक माधवसेन भट्टारक मूलसंघ सेनगण और पोगरिगच्छ के चन्द्रप्रभ सिद्धान्त देव के शिष्य थे। इन्होंने सन् ११२४ ई० में पंच परमेष्ठी का स्मरण कर समाधि मरण द्वारा शरीर का परित्याग किया था। (जैन लेख स० भा० २ पृ० ४३७)

दूसरे माधवसेन प्रतापसेन के पट्टधर थे। इनका समय विक्रम की १३ वी १४ वी शताब्दी है।

तीसरे माधवसेन वे हैं जिन्हें लोक्कियवसदि के लिये, देकररसने जम्बहल्लि को प्रदान किया था। यह लेख शक वर्ष ९८४ (सन् १०६२ ई०) का है।

चौथे माधवसेन सूरि वे हैं जिनका स्मरण पद्मप्रभमलधारिदेव ने निम्न पद्य द्वारा किया है :—

नमोऽस्तु ते संयमबोधमूर्तये, स्मरेभकुंभस्थलभेदनाय वै।
विनेय पंकेरुहविकासभानवे, विराजते माधवसेनसूरये॥

—(नियमसार टी० पृ० ६३)

समान चतुर थे। और इनकी बुद्धि तत्त्व विचार में प्रवीण थी। जैसाकि निम्न पद्य से स्पष्ट है:—

माधवसेनोऽजनि मुनिनाथो ध्वसितमाया मदनकदर्थः।
तस्य गरिष्ठो गुरुरिव शिष्यस्तत्त्वविचार प्रवणमनीषः ॥

इन्हीं माधवसेन के शिष्य अमितगति द्वितीय हुए जिन्होंने सं० १०५० से १०७३ तक अनेक ग्रन्थों की रचना की है। इनका समय विक्रम की ११वीं शताब्दी का मध्य है।

शान्तिदेव

इनका उल्लेख मल्लिषेण प्रशस्ति में दयापाल के बाद ५१वें पद्य में किया गया है। यह बड़े तपस्वी और अपने समय के विशिष्ट विद्वान थे। मल्लिषेण प्रशस्ति के उक्त पद्य से ज्ञात होता है कि इनके पवित्र चरण कमलों की पूजा होयसल नरेश विनयादित्य द्वितीय (सन् १०४७ से ११००ई०) करता था[1]। लेख नं० २०० से भी इसका समर्थन होता है। यह विनयादित्य द्वितीय के गुरु थे। इस शिलालेख में जो शक सं० ९८४ (सन् १०६२ ई०) में १०४७ से सन् उत्कीर्ण किया गया है, उनके समाधिमरण द्वारा दिवंगत होने का उल्लेख है[2]। इससे शान्ति देव का समय सन् १०६२ ई० तक है। अर्थात् यह ईसा की ११वी शताब्दी के विद्वान थे। नगर के व्यापारी संघ के लोगों ने अपने गुरु की स्मृति में यह स्मारक बनवाया है।

अमितगति (द्वितीय)

अमितगति (द्वितीय)—यह माथुर संघ के विद्वान नेमिषेण के प्रशिष्य और माधवसेन के शिष्य थे। यह ग्यारहवीं शताब्दी के अच्छे विद्वान और कवि थे। आपकी कविता सरल और वस्तुतत्त्व की विवेचक है।

कवि ने अपनी गुरु परम्परा निम्न प्रकार बतलाई है[3]। वीरसेन शिष्य देवसेन, अमितगति प्रथम, नेमिषेण और माधवसेन। यह अपने समय के विशिष्ट विद्वान थे। और वाक्यतिराज मुंज की सभा के एक रत्न थे[4]।

मुञ्ज का एक दान पत्र वि० सं० १०३६ का प्राप्त हुआ है जिसे उनके प्रधान मंत्री रुद्रादित्य ने लिखा था। वि० सं० १०७८ में तैलंग देश के राजा तैलिप द्वारा मुंज की मृत्यु हुई थी। और उनकी मृत्यु के बाद भोज का राज्याभिषेक हुआ[5]।

अमितगति की निम्नकृतियाँ उपलब्ध हैं—सुभाषितरत्न सन्दोह, धर्मपरीक्षा, उपासकाचार (अमितगति श्रावकाचार) पंचसंग्रह, आराधना, तत्त्वभावना (सामायिक पाठ) और भावना द्वात्रिंशतिका। जिन्हें कवि ने वि० सं० १०५० से १०७३ के मध्य रचा था।

सुभाषितरत्न सन्दोह—यह स्वोपज्ञ सुभाषित ग्रन्थ है। इसमें सांसारिक विषय निराकरण, कोप-लोभ-निराकरण, माया-अहंकार निराकरण, इन्द्रिय निग्रहोपदेश, स्त्री गुण-दोष विचार, सदसत्स्वरूप निरूपण, ज्ञान निरूपण, चारित्र निरूपण, जाति निरूपण, जरा निरूपण, मृत्यु—सामान्य नित्यता। दैवजरा-जीव-सम्बोधन, दुर्जन-सज्जन-दान,-मद्य-निषेध, मांसनिषेध, मधुनिषेध, कामनिषेध, वेश्यासंगनिषेध, द्यूतनिषेध, आप्तविवेचन, गुरु स्वरूप, धर्मनिरूपण, शोकनिरूपण, शौच, श्रावक धर्म और द्वादश तपश्चरण, ये बत्तीस प्रकरण है। श्रावक धर्मका निरूपण

---

१ देखो मल्लिषेण प्रशस्ति का ५१ वा पद्य

२ सककालंगति-नाग-रन्ध्र-शुभकृत् संवत्सरा षाढदोल्।
सुकरं पौर्णमि-भौमवार मीसं दिलदा श्रवण''''''।
'''कदिन्दं वरे शान्तिदेवरमलर सन्यासनं गेटदु भक्।
ति करं कै-वशमागे गेय्दु पडेदर निर्व्वाण-साम्राज्यम्॥ जैन लेख सं० भा० २ पृ० २४५

३ देखो, सुभाषितरत्न संदोह ग्रन्थ की प्रशस्ति।

४ देखो, विश्वेश्वरनाथ रेउ का 'राजा भोज।

५ विक्रमावासरादष्ट मुनि व्योमेन्दु (१०७८) संमिते।
वर्षे मुञ्जपदे भोज भूपः पट्टे निवेशितः॥

२१७ पद्यों में किया है। पूरे ग्रन्थ में ६२२ पद्य हैं यह ग्रन्थ वि० सं० १०५० में पौष सुदी पंचमी को समाप्त हुआ है[1]। जब यह ग्रन्थ समाप्त हुआ उस समय मुंज राज्य करता था।

कवि ने अपने सुभाषितों का उद्देश्य बतलाते हुए लिखा है कि—

जनयति मुदमन्तर्भव्यपाथो रुहाणां, हरति तिमिरराशिं या प्रभा भावनीव।
कृत निखिल पदार्थ द्योतना भारतीद्धा, वितरतु धुत दोषा संहितां भारती वः॥

जिस तरह सूर्य की किरणें अन्धकार का विनाशकर समस्त पदार्थो को प्रकाशित करती हैं और कमलों को विकसित करती है। उसी प्रकार ये सुभाषित चेतन-अचेतन-विषयक अज्ञान को दूर कर भव्यजनों के चित्त को प्रसन्न करते है।

कवि ने ज्ञान का महत्व बतलाते हुए लिखा है कि—

ज्ञानं बिना नास्त्य हितान्निवृत्तिस्ततः प्रवृत्ति र्न हिते जनानाम्।
ततो न पूर्वाजितकर्मनाशस्ततो न सौख्यं लभतेऽप्यभीष्टम्॥

ज्ञान के बिना मानव की अहित से निवृत्ति नहीं होती, अहित की निवृत्ति न होने से हितकार्य में प्रवृत्ति नही होती। हित कार्य मे प्रवृत्ति न होने से पूर्वोपार्जित कर्म का विनाश नही होता और पूर्वोपार्जित कर्मका विनाश न होने से अभीष्ट मोक्ष सुख की प्राप्ति नहीं होती।

इसी तरह वृद्धावस्था का चित्रण करते हुए लिखा है कि जब मनुष्य जरा (बुढ़ापा) से ग्रस्त हो जाता है तब उसका सम्पूर्ण रूप नष्ट भ्रष्ट होने लगता है। बोलने में थूक गिरता है, चलने में पैर टेढ़े हो जाते हैं। बुद्धि अपना काम नही करती। पत्नी भी सेवा-शूश्रूषा करना छोड़ देती है। और पुत्र भी आज्ञा नही मानता[2]।

इस तरह यह ग्रथ सुन्दर सूक्तियों से विभूषित है। और कण्ठ करने योग्य है।

धर्म परीक्षा—संस्कृत साहित्य में अपने ढंग की कृति है। इसमें पुराणों की ऊट-पटांग कथाओं और मान्यताओं का मनोरंजक रूप में मजाक करते हुए उन्हे अविश्वासनीय बतलाया है। समूचा ग्रन्थ १९४५ श्लोकों में सुन्दर कथा के रूप में निबद्ध है। जिसे कवि ने दो महीने में बनाया था[3]। हरिषेण की 'धर्म परीक्षा' विक्रम संवत् १०४४ में बनी है। हरिषेण ने लिखा है कि उससे पहले जयराम की गाथाबद्ध धर्म परीक्षा थी। उसे मैंने पद्धड़िया छन्द में किया है। बहुत सभव है कि इस पर हरिषेण की धर्म परीक्षा और हरिभद्र के धूर्ताख्यान का प्रभाव पड़ा हो। क्योंकि पात्रों के नामादि 'धर्मपरीक्षा' के समान हैं। इस कारण वह इसका आधार रही हो। तो कोई आश्चर्य की बात नही है। यह ग्रन्थ विक्रम स० १०७० में बनाकर समाप्त किया है[4]।

पंचसंग्रह—यह प्राकृत पंचसंग्रह का अनुवाद है। इस पर डड्ढा के पचसग्रह का प्रभाव है, वह अमितगति के सामने मौजूद था। इसमें कर्मबन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता आदि का वर्णन है। इसकी रचना कवि ने

१ समारूढे पूत त्रिदशवसति विक्रमनृपे,
सहस्रे वर्षाणा प्रभवतिहि पचाशदधिके।
समाप्ते पचम्यामवनि धरिणी मुंजनृपतौ।
सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम् सुभाषित रत्न सन्दोह प्रशस्ति॥

२ गलति सकलरूपं लाला विमुञ्चति जल्पनं,
स्खलति गमनं दन्तानाशं श्रयन्ति शरीरिणः।
विरमति मतिर्नो शुश्रूषां करोति च गेहिनी।
वपुषि जरसा ग्रस्ते वाक्यं तनोति न देहजः॥२७६॥

३ अमितगतिरिवेदं स्वस्थ मास द्वयेन।
प्रथित विशदकीर्त्तिः काव्य मुद्भूत दोषम्॥

४ संवत्सराणां विगते सहस्त्रे स सप्ततौ विक्रमपार्थिवस्य।
इदं निषिध्यान्यमतं समाप्तं जैनेन्द्रधर्मामृतयुक्तिशास्त्रम्॥

मसूतिकापुर में वि० सं० १०७३ में समाप्त की है[1] ।

उपाकासचार—आचार्य अमितगति द्वारा विरचित होने से इसका नाम अमितगति श्रावकाचार कहा जाने लगा है। कर्ताने स्वयं—'उपासकाचार विचारसारं संक्षेपतः शास्त्रमहं करिष्ये।' वाक्य द्वारा इसे उपासकाचार शास्त्र बतलाया है। उपलब्ध श्रावकाचारों में यह विशद, सुगम और विस्तृत है। इसकी श्लोक संख्या १३५२ है। इस श्रावकाचार की यह विशेषता है कि कवि ने प्रत्येक सर्ग या अध्याय के अन्तिम पद्य में अपना नाम दिया है। ग्रन्थ १५ परिच्छेदों मे विभाजित है।

प्रथम परिच्छेद में संसार का स्वरूप बतलाते हुए धर्म की महत्ता को प्रकट किया है और बतलाया है कि इस लोक में जीवका साथी धर्म ही है, अन्य गृह, पुत्री, स्त्री, मित्र, धन, स्वामी और सेवक, ये जीव के साथ नहीं जाते, कर्मोदय से इनका संयोग मिलता है। धर्म ही एक ऐसा पदार्थ है जो जीव के साथ परलोक में भी जाता है, अतः वही हितकारी है।

गृहांगजा पुत्रकलत्रमित्र स्वस्वामि भृत्यादि पदार्थ वर्गे।
विहाय धर्मं न शरीर भाजा मिहास्ति किंचित्सहगामि पथ्यम् ॥६०

धर्म से ही मानव जीवन की शोभा है, धर्म के प्रताप से इन्द्र, धरणेन्द्र चक्रवर्त्यादिकी विभूति प्राप्त होती है। तीर्थंकर पद भी धर्म से ही मिलता है। धर्म से ही आपदाओं का विनाश होता है। अतः धर्माचरण करना श्रेयस्कर है।

दूसरे परिच्छेद में मिथ्यात्व को हेय बतलाते हुए सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने की प्रेरणा की है और उसकी महत्ता का विवेचन किया है।

तीसरे परिच्छेद में सम्यग्दर्शन के विषय भूत जीवादिक पदार्थों का वर्णन किया है।

चौथे परिच्छेद में ७४ पद्यों द्वारा चार्वाक, विज्ञानाद्वैतवादी, ब्रह्माद्वैतवादी, सांख्य, नैयायिक, असर्वज्ञतावादी, मीमांसक और बौद्ध आदि अन्यमतों के अभिप्राय को दिखलाकर उनका निराकरण किया है।

पांचवें परिच्छेद में ७४ पद्यों द्वारा मद्य, मांस, मधु, रात्रिभोजन और पंच उदंबर फलों के खाने के त्याग का वर्णन है। यथा—

मद्य मांस-मधुरात्रिभोजनं क्षीरवृक्षफलवर्जनं त्रिधा।
कुर्वते व्रत जिघृक्षया बुधास्तत्र पुष्यति निषेविते व्रतम्।

इस पद्य में रात्रि भोजन के साथ पांच उदुम्बर और तीन मकार का त्याग अवश्यक बतलाया है, क्योंकि उनके त्याग से व्रत पुष्ट होते हैं। किन्तु इन्हें मूलगुण नहीं बतलाया।

छठे परिच्छेद में १०० श्लोकों द्वारा श्रावक के बारह व्रतोंका—पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षा व्रतों का सुन्दर वर्णन किया है। अहिंसा अणुव्रत का कथन करते हुए हिंसा के दो भेद किये हैं, एक आरम्भी हिंसा और दूसरी अनारम्भी हिंसा। और लिखा है कि जो गृह त्यागी मुनि हैं वे तो दोनों प्रकार की हिंसा नहीं करते। किन्तु जो गृहस्थी है वह अनारम्भी हिंसा का तो परित्याग कर देता है, किन्तु आरम्भी हिंसा का त्याग नहीं कर सकता।

"हिंसा द्वेधा प्रोक्ताऽऽरम्भानारम्भभेदतो दक्षैः।
गृहवासतो निवृत्तो द्वेधाऽपि त्रायते तांच ॥६
गृहवाससेवनरतो मन्दकषायः प्रवर्तितारम्भः।
आरम्भजां स हिंसां शक्नोति न रक्षितुं नियतम् ॥७

जो इन व्रतों को सम्यक्त्व सहित धारण करता है वह अमर सम्पदा का उपोभग करता हुआ अन्त में अविनाशी सुख प्राप्त करता है।

१ त्रिसप्तत्यधिकेऽब्दानां सहस्त्रे शक विद्विषः।
मसूतिका पुरे जात मिदं शास्त्रं मनोहरम्॥

सातवें परिच्छेद में ७६ श्लोकों में व्रतोंके अतिचारों के वर्णन के साथ श्रावक की ११ प्रतिमाओंका—दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्य त्याग, रात्रिभोजन त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग रूप एकादश स्थानों का—कथन किया गया है।

आठवें परिच्छेद में सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कोयोत्सर्ग रूप छह आवश्यकों का स्वरूप और उनके भेद-प्रभेदों का विस्तृत वर्णन किया गया है।

६वें परिच्छेद में दान, पूजा, शील, उपवास, इन चारोंका स्वरूप बतलाते हुए इन्हें संसारवन को भस्म करने के लिये अग्नि के समान बतलाया है[1]।

दशवें परिच्छेद में पात्र कुपात्र और अपात्र का कथन किया है। और कुपात्र-अपात्र को त्याग कर दान देने की प्रेरणा की है।

ग्यारहवें परिच्छेद में अभयदान, उसका फल और महत्ता का वर्णन निर्दिष्ट है।

बारहवें परिच्छेद में जिन पूजा का वर्णन किया है और पूर्वाचार्यों के अनुसार वचन और शरीर की क्रिया को रोकने का नाम द्रव्य पूजा और मन को रोककर जिन भक्ति में लगाने का नाम भाव पूजा कहा है। यथा—

वचो विग्रहसंकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते।
तत्र मानससंकोचो भावपूजा पुरातनैः॥१२

किन्तु अमितगति ने अपने मत से गन्ध पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और अक्षत से पूजा करने का नाम द्रव्य पूजा और जिनेन्द्र गुणों का चिन्तन करने का नाम भाव पूजा बतलाया है।

गन्धप्रसून सान्नाह्य दीपधूपाक्षतादिभिः।
क्रियमाणाथवा ज्ञेया द्रव्यपूजा विधानतः॥१३
व्यापकानां विशुद्धानां जिनानामनुरागतः।
गुणानां यदनुध्यानं भावपूजेयमुच्यते॥१४॥

१३वें परिच्छेद में रत्नत्रय के धारक संयमीन की विनय का वर्णन है। और उनकी वैयावृत्य करने का विधान किया है।

चौदहवें परिच्छेद में बारह भावनाओं का वर्णन है।

पन्द्रहवें परिच्छेद में ११४ श्लोकों द्वारा ध्यान का और उसके भेद-प्रभेदों का वर्णन किया है। इस तरह यह ग्रन्थ श्रावक धर्म का अच्छा वर्णन करता है।

आराधना—यह शिवार्य की प्राकृत आराधना का पद्यबद्ध संस्कृत अनुवाद है जिसे कर्ताने चार महीने में पूरा किया था। प्रशस्ति में कवि ने देवसेन से लेकर अपने तक की गुरु परम्परा दी है, परन्तु समय और स्थान का कोई उल्लेख नहीं किया।

ग्रन्थ कर्ता ने भगवती आराधना में आराधना की स्तुति करते हुए एक वसुनन्दि योगी का उल्लेख किया है, जो उनसे पूर्ववर्ती ज्ञात होते हैं:—

यः निःशेष परिग्रहेभदलने दुर्वारसिंहायते।
या कुज्ञानतमो घटाविघटने चन्द्रांशु रोचीयते।
या चिन्तामणिरेव चिन्तितफलैः संयोजयंती जनान्।
सा वः श्री वसुनन्दियोगि महिता पायात्सदाराधना।

इससे वे एक योगी और महान् विद्वान ज्ञात होते हैं।

तत्त्वभावना—यह १२० पद्योंका छोटा सा प्रकरण है, इसे सामायिक पाठ भी कहा जाता है। यह प्रकरण ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी के अनुवाद के साथ सूरत से प्रकाशित हो चुका है। इसके अन्तमें कवि ने लिखा है—

---

१ दानं पूजा जिनैं शीलमुपवासश्चतुर्विधः।
श्रावकाणां मतो धर्मः संसारारण्य पावकः॥१॥

वृत्यवंश शतेनेति कुर्वता तत्वभावना।
सद्योऽमितगतेरिष्टा निवृत्तिः क्रियते करे ॥

'इति द्वितीय भावना समाप्ता'

इससे यह कोई बड़ा ग्रन्थ होना चाहिये जिसका यह दूसरा अध्याय है।

भावना द्वात्रिंशतिका—यह ३२ पद्यों का एक छोटा-सा प्रकरण है। इसकी कविता बड़ी सुन्दर और कोमल है। इसे पढ़ने से बड़ी शांति मिलती है। इसका हिन्दी अंग्रेजी भाषा में अनुवाद हो चुका है। बहुत से लोग इसे सामायिक के समय इसका पाठ करते हैं।

ब्रह्म हेमचन्द्र

हेमचन्द्र ने अपनी गुरु परम्परा और गण गच्छादिक का उल्लेख नही किया। उन्होंने प्राकृत भाषा में 'श्रुतस्कन्ध' की ६४ गाथाओं में रचना की है। जिसे उन्होंने तिलग देश के कुंडनगर के चन्द्रप्रभ जिन मन्दिर में रामनन्दी सैद्धान्तिक के प्रसाद से देशयती हेमचन्द्रने बनाकर समाप्त किया था। ग्रन्थ में कोई रचना काल नही दिया। इस कारण ब्रह्म हेमचन्द्र कब हुए यह विचारणीय है।

एक रामनन्दी का उल्लेख नयनन्दी (वि० सं० ११००) के सुदर्शन चरित की प्रशस्तिमें पाया जाता है जिसमें वृषभ नन्दी के बाद रामनन्दी का उल्लेख किया है। और सकल विधि विधान की प्रशस्ति में अंबाइय और कंचीपुर का उल्लेख करते हुए बल्लभराय द्वारा निर्मापित प्रतिमा का उल्लेख किया है और बताया है कि वहां गुणमणि निधान[1] रामनन्दी और जयकीर्ति मौजूद थे। और आचार्य रामनन्दी के शिष्य बालचन्द ने सकल विधि विधान ग्रन्थ बनाने की प्रेरणा की थी[2]। इस कारण ये रामनन्दी विक्रमकी ११वीं शताब्दी के आचार्य हैं।

दूसरे रामनन्दी का उल्लेख अग्गलदेव के चन्द्रप्रभ पुराण में आया है और उन्हें नमस्कार किया गया है। अग्गलदेवने उक्त पुराण शक सं० ११११ (वि० सं० १२४६) में बनाकर समाप्त किया है। अतः रामनन्दी सं० १२४६ से पूर्व वर्ती हैं। जहां तक संभव है प्रथम रामनन्दी के प्रसाद से ही हेमचन्द्र ने श्रुतस्कंध बनाया हो। यदि यह ठीक हो तो ब्रह्म हेमचन्द्र ११वीं शताब्दी के विद्वान हो सकते हैं।

श्रुतस्कन्ध में श्रुत का स्वरूप और अंग-पूर्वोंके पदों का प्रमाण बतलाते हुए भगवान महावीर के बाद श्रुत परम्परा किस तरह चली इसका विवरण दिया गया है। परम्परा वही है जिसका उल्लेख तिलोयपण्णत्ती धवला, जयधवला, इन्द्र नन्दि श्रुतावतार, और हरिवंश पुराण आदि में पाई जाती है।

पद्मनन्दी

पद्मनन्दी—मूलसंघ काणूरगण तिन्त्रिणी गच्छ के सिद्धान्त चक्रेश्वर पद्मनन्दी थे। उन्हें कदम्ब कुल के कीर्ति देव की पट्ट महिषी माललदेवी ने ब्रह्म जिनालय की दैनिक पूजा और मुनियों के आहार के लिये पद्मनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती के लिये पाद प्रक्षालन पूर्वक 'सिड्डुणिवल्लिन' को प्राप्त कर दान दिया। यह लेख शक सं० ९९७ सन् १०७५ का उत्कीर्ण किया हुआ है[3]। इससे इन पद्मनन्दि का समय ईसाकी ११वी सदी का अन्तिम पाद है।

कनकसेन (द्वितीय)

प्रस्तुत कनकसेन चन्द्रिकावाट सेनान्वय के विद्वान आचार्य अजितसेन के दीक्षित शिष्य थे। जो मान-मद

१ 'जहि रमणंदि गुण-मणि-णिहाणु। जयकित्ति महाकित्ति वि पहाणु।'
जैन ग्रंथ प्रशस्ति सं० भा० २ पृ० २७

२ तहि णिए वि भव्वाहिणंदिणा, सूरिणा महागमणंदिणा, बालइंदु-सीसेण जंपियं;
सयलविहि णिहाणं मणप्पियं। जैन ग्रंथ प्रशस्ति सं० भा० २ पृ० २७

३ जैन लेख सं० भा० २ पृ० २६६-२७०

से रहित, पापों के नाशक, महाव्रतके पालक ग्रार मुनियोंमें श्रेष्ठ थे। जैसा कि नागकुमार चरित के निम्न पद्य से स्पष्ट है :—

अजनि तस्य मुनेर्वर दीक्षितो, विगतमानमदो दुरितान्तकः।
कनकसेनमुनि मुनिपुंगवो, वरचरित्रमहाव्रतपालकः॥

वे जिनागम के वेदी, ससार रूप वन का उच्छेद करने वाले और कर्मेन्धन के जलाने मे पटु थे। जैसा कि भैरव पद्मावती कल्पकी प्रशस्ति के निम्न पद्य मे प्रकट है :—

जिन समयागमवेदी गुरुतर संसारकाननोच्छेदी।
कर्मेन्धनदहनपटुस्तच्छिष्यः कनकसेनगणि: ॥५६

इन कनकसेन के शिष्य जिनसेन थे और सतीर्थ थे नरेन्द्रसेन। मल्लिषेण इन्ही जिन सेन के शिष्य थे। सतीर्थ होने के कारण मल्लिषेण ने नरेन्द्रसेन का गुरु रूप मे स्मरण किया है। चूंकि मल्लिषेण ने अपना महापुराण शक् स० ९६९ (सन् १०४७ ई०) मे समाप्त किया है। अत. कनकसेन का समय दशवी शताब्दी का उपान्त्य है।

नरेन्द्रसेन (प्रथम)

नरेन्द्रसेन नाम के अनेक विद्वान हो गए है। एक नरेन्द्रसेन अजितसेन के शिष्य कनकसेन द्वितीय (सन् ९९० ई०) के शिष्य और जिनसेन के सधर्मा थे। वादिराज ने शक वर्ष ९४४ (सन् १०२५) मे इन्ही नरेन्द्रसेन का स्मरण किया है। क्योंकि उसमे कनकसेन के साथ नरेन्द्रसेन का भी उल्लेख है। देखो (न्याय विनिश्चय विवरण प्रशस्ति)

मल्लिषेण सूरिने जो जिनसेन के शिष्य थे। अपने गुरु भाई नरेन्द्र सेन को नागकुमार चरित की प्रशस्ति में उज्ज्वल चरित्रवान, प्रख्यातकीर्ति, पुण्य मूर्ति, तत्त्वज्ञ और कामविजयी बतलाया है जैसाकि नागकुमार चरित की प्रशस्ति के निम्न पद्य मे प्रकट है :—

तस्यानुजाश्चारु चरित्र वृत्तिः प्रख्यातकीर्ति भुविपुण्यमूर्तिः।
नरेन्द्रसेनो जितवादिसेनो विज्ञानतत्त्वो जितकामसूत्रः॥४

जिनसेन के सधर्मा होने से मल्लिषेण ने इन्हे भी अपना गुरु माना है।

तच्छिष्यो विभुदाग्रणीर्गुणनिधिः श्रीमल्लिषेणाह्वयः।
संजातः सकलागमेषु निपुणो वाग्देवतालकृतिः॥

इन नरेन्द्रसेन का समय पी० बी० देसाई ने सन् १०२० ई० बतलाया है[1]। इनके शिष्य नयसेन प्रथम थे। जिनका समय पी० बी० देसाई ने सन् १०५० ई० बतलाया है।

चालुक्य चक्रवर्ति त्रैलोक्यमल्ल सोमेश्वर (सन् १०५३—१०६७) के शासन काल मे उसके सन्धि विग्रहाधिकारी बेलदेव की प्रार्थनानुसार सिन्दकचरम ने मूलगुन्द के जिन मन्दिर को भूमिदान देने का प्रस्ताव किया है। उसमें मुख्यतः बेलदेव क गुरु नयसेन और नयसेन के गुरु नरेन्द्रसेन का वर्णन दिया है[2]।

नरेन्द्रसेनद्वितीय-त्रैविद्यचक्रेश्वर

प्रस्तुत नरेन्द्रसेन मूल सघ सेनान्वय चन्द्रकवाट अन्वय के इन्ही नयसेन के शिष्य थे। और व्याकरण शास्त्र के महान् पडित थे। चालुक्य चक्रवर्ती भुवनेकमल्ल सोमेश्वर द्वितीय (सन् १०६८) से पूजित गुणचन्द्र देव ने नरेन्द्रसेन मुनि को 'त्रैविद्य' बतलाया है मूलगुन्द के सन् १०५३ के शिलालेख मे नरेन्द्रसेन को व्याकरण का पडित बतलाते हुए लिखा है कि—'चन्द्र, कातन्त्र, जैनेन्द्र शब्दानुशासन, पाणिनी, इन्द्र आदि व्याकरण ग्रथ नरेन्द्रसेन के लिये एक अक्षर के समान है[3]। यथा—

१ Jainism in South India p 139
२ जैन लेख स० भा० ४ पृ० ११५ मे लक्ष्मेश्वर (मैसूर) का लेख १६५
३ जैन लेख सग्रह भाग ४ पृ० ९० मे मूल गुन्दका सन्० १०५३ का लेख

चान्द्रं कातंत्रजैनेन्द्रं शब्दानुशासनं पाणिनीय
मत्तेन्द्रं नरेन्द्रसेन मुनीन्द्रंगेऽकाक्षर पेरंगिषु मोगो।

यह नरेन्द्रसेन व्याकरण शास्त्र के साथ न्याय (दर्शन) शास्त्र और काव्य शास्त्र के भी विद्वान थे। इसी से इनके शिष्य नयसेन ने अपने कन्नड़ ग्रन्थ धर्मामृत में अपने गुरु नरेन्द्रसेन का गुणगान करते हुए शास्त्रज्ञान के समुद्र और त्रैविद्य चक्रेश्वर बतलाया है। यथा—

'श्रुतवाराशि नरेन्द्रसेनमुनिपं त्रैविद्यचक्रेश्वरम्।

नरेन्द्रसेन ने अपने शिष्य नयसेन को व्याकरण और न्याय शास्त्र में निष्णात बनाया था। न्याय व्याकरण और काव्य शास्त्र में निपुण विद्वानों को 'त्रैविद्य' की उपाधि से अलंकृत किया जाता था।

नयसेन ने अपने धर्मामृत का समाप्तिकाल अक्षर संख्या में प्रकट किया है—**"गिरी शिखीं मार्ग शशी संख्ययोलावगमोदि र्वात सुत्तिरे शक काल मुन्नतिय नन्दन वत्सरदोल"**। यहां गिरि शब्द का संकेतार्थ सात होने से शक वर्ष १०३७ होने पर भी नन्दन संवत्सर शक वर्ष १०३४ में आने से गिरि शब्द का संकेतार्थ[1] ग्रहण किया गया है। इससे धर्मामृत का रचनाकाल शक वर्ष १०३४ सन् १११२ निश्चित है। इससे नरेन्द्रसेनका समय २५ वर्ष पूर्व सन् १०८७ होना चाहिये। पी० बी० देसाई ने भी इन नरेन्द्रसेन द्वितीय का समय सन् १०८० बतलाया है[2]।

नरेन्द्रसेन की एकमात्रकृति 'प्रमाण प्रमेय कलिका' है। यह न्याय विषयक एक लघु सुन्दर कृति है। जो न्याय के अभ्यासियों के लिये बहुत उपयोगी है। इसमें प्रमाण और प्रमेय इन दो विषयों पर सरल संक्षिप्त और विशद रूप से चिन्तन किया गया है। भाषा शैली सरल एवं प्रवाह पूर्ण है। रचना में कहीं कहीं मुहावरों, न्याय वाक्यों और विशेष पदों का प्रयोग किया गया है। आचार्य नरेन्द्रसेन ने इस ग्रन्थ में प्रभाचन्द्र की पद्धतिका अनुसरण किया है। ग्रन्थ में रचना काल नहीं है, और न उनके शिष्य नयसेन ने ही उनकी कृति का उल्लेख ही किया है। उनकी अन्य कृतियां भी अन्वेषणीय हैं। इनका समय सन् १०६० से सन् १०८७ ई० होना संभव है।

जिनसेन

जिनसेन मूलसंघ सेनगण के विद्वान थे और कनकसेन द्वितीयके जो जिनागम के वेदी और गुरुतर संसार कानन के उच्छेदक और कर्मेन्धन-दहन में पटु शिष्य थे। जिनसेन मुनीन्द्र, मद रहित सकल शिष्यों में प्रधान, काम के विनाशक और संसार समुद्र से तारने के लिये नौका के समान थे। जैसाकि नागकुमार चरित्र प्रशस्ति के निम्न पद्य से प्रकट है—

गतमयोऽजनिऽतस्य महामुनेः प्रथितवान जिनसेन मुनीश्वरः।
सकल शिष्यवरो हतमन्मथो भवमहोदधितारतरंडकः॥

जिनका शरीर चारित्र से भूषित था। परिग्रह रहित—निसंग, दुष्ट कामदेव के विनाशक और भव्यरूप कमलों को विकसित करने के लिये सूर्य के समान थे। जैसा कि भैरव पद्मवती कल्प की प्रशस्ति से स्पष्ट है—

चारित्र भूषिताङ्गो निःसंगो मथित दुर्जयानंगः।
तच्छिष्यो जिनसेनो बभूव भव्याब्जधर्मांशुः ५६

कनकसेन द्वितीय का समय ६६० ईस्वी है। और जिनसेन का समय ईस्वी सन् १०२० है।

नयसेन

नयसेन—मूलसंघ-सेनान्वय-चन्द्रकवाट अन्वय के विद्वान थे और त्रैविद्यचक्रवर्ती नरेन्द्र सूरि के शिष्य थे। नरेन्द्रसेन अपने समय के बहुत प्रभावशाली विद्वान हुए हैं। चालुक्य वंशीय भुवनैकमल्ल (सन् १०६६ से १०७६)

१ अनेकान्त वर्ष २३ किरण १ पृ० ४१
२ जनिज्य इन साउथ इंडिया पृ० १३६

तक उनकी सेवा करते थे। नरेन्द्रसेन व्याकरण और न्यायशास्त्र के बड़े विद्वान थे। और विविध उपाधियों से अलंकृत थे। ये मल्लिषेण के गुरु जिनसेन के सधर्मा थे इन्होंने नयसेन को पढ़ाकर अच्छा विद्वान बनाया था। इसी से नयसेन ने उनका बड़े आदर के साथ स्मरण किया है। मूलगुंद के शिलालेख (सन् १०५३) में नरेन्द्र सेन के शिष्य नयसेन को सभी व्याकरण ग्रन्थोंका ज्ञाता विद्वान बतलाया है—

निनगेनें बे नो शाकटाइन, मुनीश ताने शब्दानु—
शासन दोल पाणिनी, पाणिनीय दोल चन्द्र चान्द्रादोलतज्जिनें ॥
द्रन जैनेन्द्र दोला कुमार ने गंड कौमार बोलान्वररें—
तेने पोन्नर्तन्नयसेन पंडितं रोलन्यव्वाधिवितोर्वीयोल ॥
वचनः—इतु समस्त शब्द शास्त्र पारगन्नय सेन पंडित देवर

नयसेन को बनाई हुई दो रचनाएं उपलब्ध हैं। कर्णाट भाषा का व्याकरण और दूसरा ग्रन्थ धर्मामृत। इसमें १४ आश्वास हैं। इन आश्वासों में कवि ने सम्यग्दर्शन और उसके आठ अंग और पांच व्रतों की कथाओं के माध्यम से श्रावकाचार का विस्तृत कथन किया है। इस ग्रन्थ की भाषा कनड़ी है, जो बहुत ही सुन्दर, ललित और शुद्ध है। इसी से कवि की गणना कन्नड़ साहित्य के आकाश में देदीप्यमान ग्रन्थकारों में की गई है, और सौभाग्य से प्रायः वे सब कवि जैन है। पम्प, रन्न, पोन्न, साल्व, रत्नाकर, अग्गल और बन्धुवर्गी आदि सब कवि जैनधर्म के प्रेमी और श्रद्धालु थे। कन्नड साहित्य के भण्डार को इन्होंने समृद्ध किया है। इस समृद्धि में नयसेन का बहुत बड़ा भाग रहा है। इनके ग्रन्थ में भाषा का सौष्ठव और उपमादि अलंकारों की छटा पद-पदपर देखने को मिलती है। भाषा में प्रवाह और ओज है। कथानक की शैली सरल और सजीव तथा रोचक है। यह सजीवता ही लेखक की अपनी विशेषता है।

ग्रन्थ में कर्ता ने धर्मामृत के आदि में अपने से पूर्ववर्ती निम्न विद्वानों का उल्लेख किया है जिनकी संख्या पचपन (५५) है—"अर्हद्बली, गुणधर, आर्यमंक्षु नागहस्ति, यतिवृषभ, धरसेनाचार्य, भूतबली, पुष्पदन्त, कुन्द-कुन्दाचार्य, जटासिंहनन्दि, कूचि भट्टारक, स्वामि समन्तभद्र, कवि परमेष्ठी, पूज्यपाद, विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, सिद्धसेन श्रुतकीर्ति, प्रभाचन्द्र, बप्पदेव एलाचार्य, वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र, अजितसेनमुनि, सोमदेव पण्डित, त्रिभुवनदेव, नरेन्द्रसेन, नयसेन, शुभचन्द्र, सिद्धान्तदेव, रामनन्दि[1] सैद्धान्तिक (माघनन्दी) गुणचन्द्र पण्डित, त्रैविद्य नरेन्द्रसेन, वासुपूज्य सिद्धान्ती, पद्मनन्दी सैद्धान्तिक, मेघचन्द्र सैद्धान्तिक, माघनन्दी सैद्धान्तिक, प्रभाचन्द्र सैद्धान्तिक, अर्हनन्दी भट्टारक, श्रुतकीर्ति, रामसिंह, वासुपूज्य भट्टारक, चारुसेन, कुक्कुटासन मलधारि, मेघचन्द्र त्रैविद्य रामसेनव्रती, कनकनन्दी मुनीन्द्र, अकलंक, असगकवि, पोन्नकवि, पम्पकवि, गजांकुशकवि, गुणवर्मा, रन्नकवि, ।

कवि नयसेन ने साधारण कथा को इतने सुन्दर ढंग से चित्रित किया है कि वह पढ़ते समय पाठक के मानस पर अपना प्रभाव अंकित किये बिना नहीं रहती। यही कारण है कि पश्चाद्वर्ती कवियों ने इसे सुकवि निकर पिक माकन्द, सुकवि जनमनः सरोराजहंस' आदि विशेषणों से भूषित किया है। ग्रन्थकर्ता ने अपने को 'मूलगुन्द' का निवासी बतलाया है[2]। जो एक तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध है। मूलगुन्द धारवाड जिले की गदग तहसील से १२ मील दक्षिण पश्चिम की ओर है। यहीं के जैन मन्दिर में बैठकर कवि ने कनड़ी भाषा में धर्मामृत की रचना की है। जो २४ अधिकारों में विभक्त है। यहाँ इस समय चार जैन मन्दिर हैं। यहां के मन्दिर में रहते हुए मल्लिषेणाचार्य ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। और मैं जगत पूज्य-सुकवि-निकर-पिकमाकन्द हो गया हूँ लिखा है। कवि ने ग्रंथ की रचना का समय अक्षरों में दिया है। उसमें 'गिरी'[3] शब्द का संकेतार्थ सात होते हुए भी 'नन्दन संवत्सर शक वर्ष १०३४ में

१ मूल ग्रंथ के टिप्पण में रामनन्दि का नाम माघनन्दि दिया है।

२ मूल गुंददोलिदु महोज्ज्वल धर्मामृत मनतिमिद भव्या ।
बलिगिरि पदं धरित्री-तल पूज्यं सुकवि निकर पिकमाकन्दं ॥ —धर्मामृत १४-१६८

३ 'गिरि शिखी वायु मार्गशशी संग्य योला वगमोदिर्वात सुत्तिरे शक काल मुन्नतिय नन्दन वत्सर दोल"
—धर्मामृत प्रशस्ति

आने से शक वर्ष १०३४ ग्रहण किया गया है। अर्थात् धर्मामृत की रचना ई० सन् १११२ के लग भग हुई है। इस ग्रन्थ की हिन्दीटीका आचार्य देशभूषण ने की है ग्रंथ मूल और हिन्दी टीका सहित दो खण्डों में प्रकाशित हो चुका है। नयसेनके लिये शक संवत् ९७५ के विजय संवत्सर में सन् १०५३ में बेलदेव की प्रेरणा से सिन्दकुल के सरदार कचसर ने कुछ भूमि दान में दी थी।[1] इससे ज्ञात होता है कि नयसेन दीर्घ जीवी थे। उसके बाद वे अपने जीवन से भूमंडल को कितने वर्ष और अलंकृत करते रहे, यह अन्वेषणीय है।

मल्लिषेण

मल्लिषेण—अजितसेन की शिष्य परम्परा में हुए हैं। अजितसेन के शिष्य कनकसेन[1] और कनकसेन के शिष्य जिनसेन और जिनसेन के शिष्य मल्लिषेण थे। इन्होंने जिनसेन के अनुज या सतीर्थ नरेन्द्रसेन का भी गुरु रूप से उल्लेख किया है[2] वादिराज ने भी न्यायविनिश्चय को प्रशस्ति में कनकसेन और नरेन्द्रसेन का स्मरण किया है[3] इससे वादिराज भी मल्लिषेण के समकालीन जान पड़ते हैं। और उनके द्वारा स्मृत कनकसेन और नरेन्द्रसेन भी वही ज्ञात होते हैं।

मल्लिषेण वादिराज के समान मठपति ज्ञात होते हैं। क्योंकि इनके रचित मंत्र-तंत्र विषयक ग्रंथों में स्तम्भन, मारण, मोहन, वशीकरण और अंगनाकर्षण आदि के प्रयोग पाये जाते हैं। ये उभय भाषा कवि चक्रवर्ती[4] (प्राकृत और संस्कृत भाषा के विद्वान) कविशेखर, गारुड़ मंत्रवादवेदी आदि पदवियों से अलंकृत थे। उन्होंने अपने को सकलागम में निपुण, लक्षणवेदी, और तर्कवेदी तथा मंत्रवाद में कुशल सूचित किया है[5]। वे गृहस्थ शिष्यों के कल्याण के लिये मंत्र-तंत्र और रोगोपचार की प्रवृत्ति भी करते थे। वे उच्च श्रेणी के कवि थे। भैरव पद्मावती कल्प के अनुसार उनके सामने संस्कृत प्राकृत का कोई कवि अपनी कविता का अभिमान नहीं कर सकता था[6]। यद्यपि वे विविध विषयों के विद्वान होते हुए भी मंत्रवादी के रूप में ही उनकी विशेष ख्याति थी।

यह विक्रम की ११ वीं शताब्दी के अन्त और १२ वीं शताब्दी के प्रारम्भ के विद्वान थे। क्योंकि इन्होंने अपना 'महापुराण' शक सं० ९६९ सन् १०४७ (वि० सं० ११०४) में ज्येष्ठ सुदी पंचमी के दिन मूलगुन्द नामक नगर के जैन मन्दिर में रह कर पूरा किया था[7]। यह मूल गुन्द नगर धारवाड जिले की गदग तहसील में गदग

---

१ जैन लेख सं० भाग चार पृ० ६०

१ यह कनकसेन उन अजितसेनाचार्य के शिष्य थे जो गंगवंशीय नरेश राचमल्ल और उनके मंत्री एवं सेनापति चामुण्डराय के गुरु थे। गोम्मटसार के कर्ता आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने उनका 'भुवनगुरु' नाम से उल्लेख किया है।

२ तस्यानुजश्चारु चरित्र वृत्तिः प्रख्यात कीर्तिर्भुवि पुण्यमूर्तिः।
नरेन्द्रसेनो जिनवादिसेनो विज्ञाततत्त्वो जितकामसूत्रः॥ —नागकुमार चरित्र प्र०

३ न्याय विनिश्चय प्रशस्ति श्लोक २। जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सं० भा० १ पृ० २

४ 'प्राकृत संस्कृतोभय कवित्वधृता कविचक्रवर्तिना' —महापुराण प्रशस्ति

५ 'गारुड मंत्रवाद सकलागम लक्षण तर्क वेदिना।' —महापुराण प्रशस्ति ४

६ "भाषाद्वय कवितायां कवयो दर्पं वहन्ति तावदिह।
ना लोकयन्ति यावत्कविशेखर मल्लिषेण मुनिम्॥"
भैरव पद्मावती कल्प

७ तीर्थे श्री मूलगुन्द नाम्नि नगरे श्री जैनधर्मालये
स्थित्वा श्री कविचक्रवर्तियतिपः श्री मल्लिषेणाह्वयः।
संक्षेपात्प्रथमानुयोग कथनं व्याख्यान्वितं शृण्वतो।
भव्यानां दुरितापहं रचितवान्निःशेषविद्याम्बुधिः॥१
वर्षैक त्रिंशताहीने सहस्रे शक भूभुजः।
सर्वजिद्वत्सरे ज्येष्ठे सशुक्ले पंचमी दिने॥ २ ॥

से १२ मील दक्षिण-पश्चिम की ओर है। यहां के जैन मन्दिर में रहते हुए इन्होंने महापुराण की रचना की थी। उसका कवि ने तीर्थरूप में उल्लेख किया है। इस समय भी वहां चार जैन मन्दिर हैं। इन मन्दिरों में शक सं० ८२४, ८२५, ९७५, ११९७, १२७५ और १५९७ के शिलालेख अंकित हैं[1]।

मूलगुण्ड के एक शिलालेख में आचार्य द्वारा सेनवंश के कनकसेन मुनिको नगर के व्यापारियों की सम्मति से एक हजार पान के वृक्षों का एक खेत मन्दिरों की सेवार्थ देने का उल्लेख है[2]।

एक मन्दिर के पीछे पहाड़ी चट्टान पर २५ फुट ऊँची एक जैन मूर्ति उत्कीर्ण की हुई है[3]। संभव है मल्लिषेण मठ भी इसी स्थान पर रहा हो। मल्लिषेण के एक शिष्य इन्द्रसेन[4] का समय सन् १०९४ है। मल्लिषेण का समय उससे एक पीढ़ी पूर्व है

आपकी निम्नलिखित छह रचनाएं उपलब्ध हैं, जिनका परिचय निम्न प्रकार हैं—महापुराण, नागकुमार, काव्य, भैरव पद्मावती कल्प, सरस्वती मंत्र कल्प, ज्वालिनी कल्प और काम चण्डाली कल्प।

१. **महापुराण**—यह संस्कृत के दो हजार श्लोकों का ग्रन्थ है। इसमें त्रेसठ शलाका पुरुषों की संक्षिप्त कथा दी है। रचना सुन्दर और प्रसादगुण से युक्त है। इस ग्रन्थ की एक प्रति कनड़ी लिपि में कोल्हापुर के लक्ष्मीसेन भट्टारक के मठ में मौजूद है। यह ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है।

२. **नागकुमार काव्य**—यह पांच सर्गों का छोटा-सा खण्ड काव्य है, जो ५०७ श्लोकों में पूर्ण हुआ है। इसके प्रारम्भ में लिखा है, कि जयदेवादि कवियों ने जो गद्य-पद्यमय कथा लिखी है, वह मन्दबुद्धियों के लिये विषम है। मैं मल्लिषेण विद्वज्जनों के मन को हरण करने वाली उसी कथा को प्रसिद्ध संस्कृत वाक्यों में पद्यबद्ध रचना करता हूं[1]। यह काव्य बहुत ही सरल और सुन्दर है।

३. **भैरवपद्मावती कल्प**—यह चार सौ श्लोकों का मंत्र शास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ है इसमें दश अधिकार हैं। यह बंधुषेण की संस्कृत टीका के साथ प्रकाशित हो चुका है।

४. **सरस्वती पल्प**—यह मंत्र शास्त्र का छोटा-सा ग्रन्थ है। इसके पद्यों की संख्या ७५ है यह भैरव पद्मावती कल्प के साथ प्रकाशित हो चुका है।

५. **ज्वालामालिनी कल्प**—इसकी सं० १५६२ की लिखी हुई एक १४ पत्रात्मक प्रति स्व० सेठ माणिकचन्द्र जी के ग्रन्थ भण्डार में मौजूद है।

६. **कामचण्डाली कल्प**—इसकी प्रति ऐ० प० दि० जैन सरस्वती भवन ब्यावर में मौजूद है।

७. **सज्जन चित्तवल्लभ**—नाम का एक २५ पद्यात्मक संस्कृत ग्रन्थ है, जो हिन्दी पद्यानुवाद और हिन्दी टीका के साथ प्रकाशित हो चुका है, वह इन्हीं मल्लिषेण की रचना है या अन्य की है। यह विचारणीय है।

श्री कुमार कवि

श्री कुमार कवि ने अपना कोई परिचय नहीं दिया। और न अपने गुरु का ही नामोल्लेख किया है। कवि की एक मात्र कृति 'आत्म प्रबोध' है। जो अपने विषय का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। और जिसे कवि ने अपने आत्मप्रबोधनार्थ रचा है, जैसा कि ग्रंथ के अन्तिम वाक्यों से प्रकट है :—

"श्रीमत्कुमार कविनात्मविबोधनार्थमात्मप्रबोध इति शास्त्रमिदं व्यधायि"

---

१ देखो, बम्बई प्रान्त के प्राचीन जैन स्मारक पृ० १२०

२ देखो, जैन शिलालेख सं० भाग २ पृ० १५९

३ देखो, बम्बई प्रान्त के प्राचीन जैन स्मारक पृ० १२०

४ "अंतु माडिसी श्रीमद्द्रमिलसंघवन वसंत समयहं सेनगण, मगणं नायकरू मालनूरान्वय शिरशेखरमेनिसिद श्रीमन मल्लिषेण भट्टारकर प्रियाग्रशिष्यरूं तन्नन्वयद गुरुगलु मेनिसिद श्री मदीन्द्रसेन भट्टारकर्गें-विनयदिंकर कमललंगलं मुगिदु।

—देखो सन् १०९४ कालेख

कवि ने लिखा है कि यह मेरी प्रथम रचना है जैसाकि 'आत्म प्रबोधमधुना प्रथमं करोमि' वाक्यों से स्पष्ट है।

श्री कुमार नामके दो विद्वानों का उल्लेख मिलता है । एक श्रीकुमार वे हैं जिनका उल्लेख नयनन्दि (११००)ने सकल विधि विधान काव्य के निम्न वाक्यों में किया है—"श्रीकुमार सरसइ कुमरु, कित्ति विलासिणि सेहरु।" और जिन्हें सरस्वती कुमार भी कहते थे। दूसरे श्री कुमार कवि वे हैं, जो कवि हस्ति मल्ल (१४ वीं सदी) के चार ज्येष्ठ भ्राताओंमें से एक थे। इनमें नयनन्दि के समकालीन श्री कुमार आत्मप्रबोधके कर्ता जान पड़ते हैं।

इस ग्रंथकी दो हस्तलिखित प्रतियां १६ वीं शताब्दी की उपलब्ध हैं। सं० १५७२ की लिखी हुई एक प्रति १४ पत्रात्मक जैन मन्दिर लश्कर जयपुरके भंडार में और दूसरी कामा मे दीवान जी के मन्दिर के भंडार में सं० १५४७ की लिखी हुई उपलब्ध है।[1]

ग्रन्थ परिचय—

प्रस्तुत ग्रंथमें संस्कृत के १४६ श्लोक हैं। ग्रंथ का विषय उसके नाम मे स्पष्ट है। कवि ने आत्मा का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि संसार के प्रायः सभी जीव आत्मविमुख हैं, आत्मज्ञ पुरुष तो विरले होते हैं। जिन्हें आत्मा का बोध नहीं है उन्हें दूसरों को आत्मबोध कराने का अधिकार नही है, जिनमें तैरकर नदी को पार करने की क्षमता नहीं है, वह दूसरों को तरने का उपदेश कैसे दे सकता है ? उसका उपदेश तो वंचक ही समझा जावेगा।

आत्मप्रबोध विरहादविशुद्धबुद्धेरन्यप्रबोधनविधि प्रतिकोऽधिकारः ।
सामर्थ्यमस्ति तरितुं सरितो न यस्य, तस्य प्रतारणपरा परतारणोक्तिः ॥ ४

यदि दूसरों को प्रतिबोधन करने की इच्छा है, तो पहले स्वयं अपनी आत्मा को प्रबुद्ध कर। क्योंकि चाक्षुष मनुष्य ही अन्धे को सुरक्षित मार्ग में ले जा सकता है, अन्धे को अन्धा नहीं। कवि यह भी कहता है कि जिनका मानस मिथ्यात्व से मूढ है, जो मोह निद्रा मे सदा सुप्त हैं, उनके लिये भी मेरा यह श्रम नहीं है; किन्तु जिनकी मोह निद्रा शीघ्र नष्ट होने वाली है वही आत्मप्रबोध के अधिकारी हैं। उन्हीं के लिये यह ग्रन्थ रचा जाता है। यथा—

मिथ्यात्व मूढ मनसः सततं सुषुप्ता, ये जंतवो जगति तान्प्रति न श्र मो नः ।
येषां यियासु रचिरादिव मोहनिद्रा, ते योग्यतां दधति निश्चितमात्मबोधे ॥६

जिसके रहते हुए शरीर पदार्थों के ग्रहण करने दान देने, आने-जाने सुनने-सुनाने, स्मरण करने तथा सुख-दुःखादि के अनुभव करने में प्रवृत्त होता है, वही आत्मा है, आत्मा चेतन है, ज्ञाता दृष्टा है, और स्पर्शनादि इन्द्रियों के अगोचर है क्योंकि वह अतीन्द्रिय है अतएव उनसे आत्मा का ज्ञान नहीं होता। आत्मा नित्य है, अविनाशी गुणों का पिण्ड है, परिणमनशील है विद्वान लोगों द्वारा जाना और अनुभव किया जाता है, ज्ञान दर्शन स्वरूप उपयोगमय है, शरीर प्रमाण है, स्वपर का ज्ञाता है, कर्ता है, कर्म फल का भोक्ता और अनंत सुखों का भंडार है[2]। उस आत्मा को सिद्ध करने वाले तीन प्रमाण हैं[3] प्रत्यक्ष आगम और अनुमान। आत्मा इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। क्योंकि वह अतीन्द्रिय है हां सकल प्रत्यक्ष द्वारा आत्मा जाना जा सकता है। या आप्त वचन रूप आगम से, और अनुमान से जाना जाता है। शरीर में जब तक आत्मा रहती है शरीर उस समय तक काम करता है हेयोपादेय कार्यों में प्रवृत्त होता है, सुख दुःखादि की अनुभूति करता है, किन्तु जब शरीर से आत्मा निकल जाता है तब वह निश्चेष्ट पड़ा रह जाता है। अतः यह अनुमान ज्ञान भी उसके जानने में साधक है। भगवान जिनेन्द्र ने आत्मा को ज्ञाता दृष्टा बतलाया है। आत्मा के चैतन्य स्वरूप को छोड़कर अन्य चेतन अचेतन पदार्थ आत्मा के नहीं है वे सब आत्मा से भिन्न हैं।

---

१ देखो, राजस्थान जैन ग्रंथ भंडार सूची भाग ५ पृ० १८३

२ नित्यो निरत्ययगुणः परिणामधाम, बुद्धो बुधैर्द गवबोधमयोपयोगः।
आत्मा वपुः प्रमितिरात्म परप्रमाता कर्ता स्वनोऽनुभविताऽय मनंतसौख्यः ॥६

३ त्रेधा प्रमाण मिह साधकमस्ति यस्मात् प्रत्यक्ष माप्तवचनं च तथानुमानं ॥१३

विद्या के दो प्रकार है अविद्या और अध्यात्म विद्या। अविद्या संसार का कारण है, दु.खोत्पादिका है, मिथ्यादर्शन अज्ञान और असंयम से युक्त है। राग-द्वेष, ईर्षा, अहकार ममकार सुख दुख आदि उसी अविद्या का परिवार है। अविद्या हेय है और विद्या उपादेय है। जो विद्या सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र मे भूपित है वह अध्यात्म विद्या है। उसके दो प्रकार हैं, स्वाध्याय और ध्यान। अपने आत्मस्वरूप का चिन्तवन करना अथवा आत्म सम्बन्धि ज्ञान का नाम स्वाध्याय है। तथा इन्द्रिय व्यापार से रहित होकर केवल मन से आत्मा के स्वरूप का चिन्तवन करना अध्यात्म विद्या है।

स्वाध्याय— मोक्षमार्ग में उपयुक्त आगमज्ञान का अभ्यास करना और आगम में विहित आत्म स्वरूप का बार-बार चिन्तवन करना स्वाध्याय है। इससे आत्मा विशिष्ट ज्ञानी होता है, और उसकी दृष्टि जैन वचन में ही रमती है, क्योंकि वे वचन वीतराग सर्वज्ञ रूप हिमाचल से विनिर्गत है, कर्म क्षय में कारण हैं। अतएव जो साधु विधि पूर्वक आगमका अभ्यासी है उसके मन-वचन-काय रूप गुप्ति त्रयका पालन होता है, माया मिथ्या निदान रूप शल्य त्रय का विनाश होता है, और समितियों का भले प्रकार पालन होता है। स्वाध्याय से आत्म-बोध होता है। और उसी से जगत्रय का बोध कराने वाले केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है। जब साधु का मन स्वाध्याय से थक जाता है, और आगमाभ्यास में मन नहीं रमता तब उसे आत्म ध्यान में प्रवृत्त होना चाहिये। एकाग्र चिन्ता निरोध का नाम ध्यान हैं। ध्यान कर्म निर्जरा का कारण है। उससे आत्मशक्ति में स्फूर्ति उत्पन्न होती है। जब आत्मा अन्तर्बाह्य जल्पों से रहित होकर वस्तु स्वरूप के चिन्तन में निष्ठ होता है, तब वह अपने स्वकीय वैभव का प्राप्त करता है, उसमें उपसर्ग और परिपहो के सहने की सामर्थ्य अथवा जाग्रति होती है। कपायों की कलमपता विनष्ट हो जाती है वे क्षीण शक्ति हो जाती है उनका रस शुष्क हो जाता है। और वे अपने कार्य करने में असमर्थ हो जाती है। आत्म परिणति निर्मल होती है, आन्तरिक विशुद्धि बढ़ती है। ध्यान और समाधि से आत्म-शक्ति का सचय होता है, और वह कर्म के संक्षय में कारण होती है। अतएव जो साधु आर्तरौद्रादि कुध्यानों का परित्याग कर धर्म और शुक्ल ध्यान का आचरण करता है। उस समय उसका धर्म ध्यान ही शुक्ल ध्यान रूप परिणमन करने लगता है। और आत्मा अपने अनन्त गुणों के तेज से कर्मों के सुदृढ़ बन्धनों को तड़ा तड़ तोड़ता हुआ स्वात्मोपलब्धि का पात्र बन जाता है। इस तरह यह ग्रंथ अध्यात्म विपय का महत्वपूर्ण है।

समय

कवि श्रीकुमार ने ग्रन्थ में रचना काल नहीं दिया। और न अपने गुरु का नामोल्लेख ही किया है। अतएव यह निश्चय करना बड़ा कठिन है कि वे कब हुए हैं। ऊपर श्रीकुमार नाम के दो विद्वानों का उल्लेख किया गया है। उनमें से प्रथम श्रीकुमार कवि ही इस ग्रन्थ के कर्ता हैं, क्योंकि स० १३०० में समाप्त होने वाली अनगार धर्मामृत की टीका के ९वे अध्याय के ४३वे श्लोक की टीका करते हुए निम्न पद्य उद्धृत किया गया है, जो आत्म-प्रबोध में ५१ नम्बर पर पाया जाता है :—

> **मनोबोधाधीनं विनय विनियुक्तं निजवपु—**
> **र्वच: पाठायत्तं करणगण माधाय नियतम्।**
> **दधानः स्वाध्यायं कृत परिणति जैन वचने,**
> **करोत्यात्मा कर्म क्षयमिति समाध्यन्तरमिदं ॥५१॥**

इसमें बतलाया है कि— जिस स्वाध्याय में मन ज्ञान के ग्रहण-धारण में लीन रहता है, शरीर विनय संयुक्त रहता है, वचन पाठ के उच्चारण में लगा रहता है, और इन्द्रिय समूह नियंत्रित रहता है इस प्रकार सारी परिणति जिसमें जिनवाणी की ओर रहती है ऐसे स्वाध्याय को धारण करने वाला निश्चय ही कर्मो का क्षय करता है, अतएव स्वाध्याय भी समाधि का रूपान्तर है।

इससे स्पष्ट है कि श्रीकुमार कवि स० १३०० से पूर्ववर्ती हैं, वे बाद के विद्वान नहीं हो सकते। और नयनन्दि का समय सं० ११०० है, उन्होंने अपने समकालीन विद्वानों में श्री कुमार कवि का उल्लेख करते हुए उन्हें सरस्वती कुमार भी बतलाया है। अतः श्री कुमार ११वीं शताब्दी के विद्वान हैं। वे उस समय सरस्वती कुमार

नाम से ख्यात थे। यह उनकी प्रथम रचना है। उनकी अन्य रचनाओं का अन्वेषण होना आवश्यक है।

अङ्कदेव भट्टारक

अङ्कदेव भट्टारक—देवगण और पाषाणान्वय के विद्वान् थे। इनके शिष्य महीदेव भट्टारक थे। इन महीदेव के गृहस्थ शिष्य महेन्द्र वोललुक ने मेलस चट्टान पर 'निरवद्य जिनालय' बनवाया था, और सन् १०६० ईस्वी के लगभग खचर कन्दर्पसेन मारकी कृपा को प्राप्त कर निरवद्य को 'मान्य' प्राप्त हुआ था। जिसे उसने जक्कि मान्य का नाम देकर उक्त जिनालय को दे दिया। और एडे मले हजार ने अपने धान्य के खेतों की फसल में से कुछ धान्य या चावल उक्त जिनालय को हमेशा के लिए दिया। और भी जिन लोगों ने दान दिया उनके नाम भी लेख में दिए गये हैं। इससे अंकदेव का समय ईसा की ११ वीं सदी है। जैन लेख सं० भा० २ पृ०१६३।

गुणकीर्ति सिद्धान्त देव

गुणकीर्ति सिद्धान्तदेव अनन्तवीर्य के शिष्य थे। यह यापनीय संघ और सूरस्थ गण और चित्रकूट अन्वय के विद्वान् थे। इनका समय ईसा की ११वीं शताब्दी है।

—(जैनिज्म इन साउथ इंडिया पृ० १०५)

देवकीर्ति पण्डित

पण्डित देव कीर्ति भी अनन्तवीर्य के शिष्य थे। यह भी यापनीय संघ सूरस्थगण और चित्रकूट अन्वय के विद्वान् थे। इनका समय भी ईसा की ११वीं शताब्दी है। संभवतः ये दोनों सधर्मा हों।

—(जैनिज्म इन साउथ इंडिया पृ० १०५)

गोवर्द्धन देव

गोवर्द्धन देव यापनीय संघ कुमुदगण के ज्येष्ठ धर्मगुरु थे। इन्हीं गोवर्द्धन देव को सम्यक्त्वरत्नाकर चैत्यालय के लिए दिये गए दान का उल्लेख है। गोवर्द्धन के साथ ही अनन्तवीर्य का उल्लेख है। पर यह स्पष्ट नहीं है कि इनका गोवर्द्धन के साथ क्या सम्बन्ध था।

—जैनिज्म इन साउथ इंडिया पृ०१४२

दामनन्दि

दामनन्दि कुमार कीर्ति के शिष्य थे। ये दामनन्दि वे हो सकते हैं जिनका उल्लेख जैन शिलालेख संग्रह भाग १ पृ० ५५ में चतुर्मुखदेव के शिष्यों में है। धाराधिपति भोजराज की सभा के रत्न आचार्य प्रभाचन्द्र के ये सधर्मा थे और इन्होंने महावादि विष्णुभट्ट को हराया था[1]। यह दामनन्दी प्रभाचन्द्राचार्य के सधर्मा गुरुभाई जान पड़ते हैं।

धाराधिप भोज का राज्यकाल सन् १०१८ से १०५३ माना जाता है। जबकि दामनन्दि का सन्१०४५ के शिलालेख में उल्लेख है। इस कारण वे भोज के राज्यकाल में रहने वाले प्रभाचन्द्र के सधर्मा दामनन्दि से अभिन्न हो सकते हैं। अतः दामनन्दि के गुरु कुमारकीर्ति के सहाध्यापक अनन्त वीर्य की स्थिति सन् १०४५ तक पहुंच जाती है। संभवतः यह दामनन्दी भट्टवोसरि के गुरु हों।

दामनन्दि भट्टारक

दामनन्दि देशीगण पुस्तक गच्छ के विद्वान श्रीधरदेव के प्रशिष्य और एलाचार्य के शिष्य थे। चिक्क हनसोगे का यह कन्नड़ लेख यद्यपि काल निर्देश से रहित है। संभवतः यह लेख सन् ११०० ईस्वी का है।

जैन लेख सं० भा० २ पृ० ३५८ लेख नं० २४१।

दामनन्दी

पनसोगे निवासी मुनियों में पूर्णचन्द्र मुनि के शिष्य दामनन्दि थे। यह लेख शक सं० १०२१ सन् १०९९ का है, इनके शिष्य श्रीधराचार्य थे। इनका समय ईसा को ११वी सदी है। --जैन लेख स० भा० २ पृ० ३५६

भूपाल कवि

कवि ने अपने नामोल्लेख के सिवाय अपना कोई परिचय प्रस्तुत कवि भूपाल नही किया। और न उन्होंने यही सूचित किया कि यह जिन चतुर्विंशतिका' स्तोत्र कहाँ और कब बनाया है?

प्रस्तुत स्तोत्र में २६ पद्य है। जिनमें जिन दर्शन की महत्ता ख्यापित करते हुए जिन प्रतिमादर्शन को लौकिक और पारलौकिक अभ्युदयों का कारण बतलाया है :—

श्री लीला यतनं महीकुलगृहं कीर्ति प्रमोदास्पदं,
वाग्देवी रति केतनं जयरमा क्रीडानिधानं महत् ।
स स्यात्सर्व महोत्सवैक भवनं यः प्रार्थितार्थ प्रदं,
प्रातः पश्यति कल्पपादपदलच्छायं जिनांङ्घ्रिद्वयम् ॥१॥

जो मनुष्य प्रतिदिन प्रातःकाल के समय जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करता है, वह बहुत ही सम्पत्तिशाली होता है। पृथ्वी उसके वश में रहती है, उसकी कीर्ति सब ओर फैल जाती है, वह सदा प्रसन्न रहता है। उसे अनेक विद्याएँ प्राप्त हो जाती हैं, युद्ध में उसको विजय होती है, अधिक क्या उसे सब उत्सव प्राप्त होते हैं।

स्वामिन्नद्य विनिर्गतोऽस्मि जननी गर्भान्ध कूपोदरा—
दद्योद्घाटित दृष्टिरस्मि फलवज्जन्मास्मि चाद्य स्फुटम् ।
त्वमद्राक्षमहं यदक्षयपदानन्दाय लोकत्रयी
नेत्रेन्दीवरकाननेन्दु ममृतस्यन्दि प्रभाचन्द्रिकम् ॥३

हे भगवन्! आज आपके दर्शन करने से मैं कृतार्थ हो गया और मैं ऐसा समझता हूं कि आज ही मेरे आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ हो रहा है। मेरे ज्ञान नेत्र खुल गए है और में यह अनुभव कर रहा हूं कि विषय कषाय और अज्ञान के कारण अब तक मेरी शक्ति कुंठित हो रही थी। मिथ्यात्व ने मेरी ज्ञान दृष्टि को अवरुद्ध कर दिया था। पर आज मेरा जन्म सफल हुआ है। जो व्यक्ति मंगलमय वस्तु का दर्शन करना चाहता है उसके लिये जिनदर्शन से बढ़कर अन्य कोई मांगलिक वस्तु नही हो सकती। प्रातःकाल मंगलमय वस्तु का अवलोकन करने से मन प्रसन्न रहता है, और उसमें कार्य करने की क्षमता बढ़ती है। क्योंकि देव दर्शन समस्त पापों का नाश करने वाला, स्वर्ग सुख को देने वाला और मोक्ष सुख की प्राप्ति में सहायक है। ध्यानस्थ वीतरागी की प्रतिमा के अवलोकन मात्रसे काम क्रोधादि विकार और हिंसादि पाप नष्ट हो जाते हैं, और आत्मोत्थान की प्रेरणा मिलती है। जिस प्रकार सछिद्र हाथ में रक्खा गया जल शनैः शनैः हाथ मे गिर जाता है, उसी प्रकार वीतराग प्रभु के दर्शन मात्र से राग-द्वेष-मोह की परिणति क्षीण होने लगती है।[1] आचार्य पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धि में सम्यक्त्व की उत्पत्ति के बाह्य साधनों में जिन प्रतिमादर्शन की गणना की है।[2] भूपाल कवि ने वीतराग के मुख को त्रैलोक्य मगलनिकेतन बतलाया है।[3]

इस स्तवन पर सबसे पुरानी टीका पं० आशाधर की है जिसे उन्होंने सागरचन्द के शिष्य विनयचन्द्र मुनि

१ दर्शन देवदेवस्य दर्शनं पापनाशनम्। दर्शन स्वर्गसोपान दर्शन मोक्ष साधनम् ॥
दर्शनेन जिनेन्द्राणां साधूनां वन्दनेन च। न चिरं तिष्ठते पाप छिद्रहस्ते यथोदकम् ॥ दर्शन पाठ

२ सर्वार्थ सिद्धि १-७, पृ० १२ शोलापुर एडीसन

३ अन्येन किं तदिह नाथ तवैव वक्त्रं
त्रैलोक्य मङ्गलनिकेतनमीक्षणीयम् ॥१९
—जिन चतुर्विंशतिका

के अनुरोध से बनाया था।[१] टीका सुन्दर है और पद्यों के अर्थ को प्रकट करने वाली है। भ० श्रीचन्द्र और नागचन्द्र सूरि की भी इस पर टीका बतलाई जाती है। पर वे इतनी विशद नही हैं, केवल शब्दार्थ प्रकट करने वाली है। प० आशाधर जी की इस टीका से स्पष्ट है कि भूपाल कवि की यह रचना उनसे पूर्व हो चुकी थी।

चतुर्विंशति का दूसरा पद्य आचार्य गुणभद्र के उत्तरपुराण के पुष्पदन्त चरित्र में दिये हुए पद्य के साथ बहुत साम्य रखता है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि भूपाल कवि ने उसे उत्तर पुराण से लिया हो। दोनों के पद्य नीचे दिये जाते है :—

शान्तं वपुः श्रवणहारिवचश्चरित्रं सर्वोपकारि तव देव ततो भवन्तम्।
संसारमारवमहास्थल रुन्द्रसान्द्र च्छायामहीरुहमिमे सुविधिं श्रयामः ॥६१

उत्तर पु० ५५ पृ० ७०

शान्तं वपुः श्रवणहारिवचश्चरित्रं सर्वोपकारि तव देव ततः श्रुतज्ञाः।
ससारमारवमहास्थल रुन्द्रसान्द्रच्छायामहीरुह भवन्तमुपाश्रयन्ते ॥

—जिन चतुर्विंशति का २

इस पद्य में द्वितीय और चतुर्थ चरण बदले हुए हैं। बाकी पद्य ज्यों का त्यों मिलता है इससे स्पष्ट है कि भूपाल कवि के सामने उत्तर पुराण रहा है। सुलोचना चरित्र के कर्त्ता कवि देवसेन ने अपने से पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख करते हुए पुष्पदन्त के नामोल्लेख के साथ भूपाल का भी नाम दिया है। **पुप्फयंत भूपाल-पहाणहि।** इससे यह ज्ञात होता है कि भूपाल कवि ९ वीं शताब्दी के बाद और १३ वीं शताब्दी से पूर्व हुए हैं। सम्भव है कवि ११ वी या १२ वी शताव्दी के पूवार्ध के विद्वान हों। इस सम्बन्ध में और विशेष अनुसन्धान की आवश्यकता है।

दामराज कवि

दामराज—सार्वभौमत्रिभुवनमल्ल नरेश (राज्यकाल ई० सन् १०७६ से ११२६) का गंगपेरमानडीदेव नामक सामन्तराजा था। और उसका नोक्कय हेग्गडे नाम का मन्त्री था। पहले यह कवि इसी मन्त्री का आश्रित था। परंतु शिवमोग्ग तहसील में जो दशवां शिलालेख है, उसमें इसने अपने को 'सन्धि वैग्रहिक' मन्त्री लिखा है। इससे मालूम होता है कि पीछे से इसने उक्त पद प्राप्त कर लिया होगा। गगपेरमानडी देव ने बहुत से जिन मन्दिरों को ग्रामादि दान किये थे, और उनके शासन कवि दामराज से लिखवाये थे। उक्त शासन लेखों के पद्यों से यह बात निःसंकोच कही जा सकती है कि वह उच्च श्रेणी का कवि था। यह ज्ञात नहीं हुआ कि इसने किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की है या नही। इसका समय सन् १०८५ के लगभग जान पड़ता है।

कन्ति

कन्ति—यह स्त्री कवि थी। इसकी कविता बहुत ही मनोहारिणी होती थी। देवचन्द कवि के एक लेख से मालूम होता है कि यह छन्द, अलंकार, काव्य, कोश व्याकरणादि नाना ग्रन्थों में कुशल थी बाहुबल नामक कवि ने अपने नागकुमार चरित के एक पद्य में इसकी बहुत प्रशसा की है और इसे 'अभिनव वाग्देवी' विशेषण दिया है। द्वार समुद्र के बल्लाल राजा विष्णु वर्धन की सभा मे अभिनवपप और कन्ति से विवाद हुआ था। अभिनवपप को दी हुई समस्या की पूर्ति की थी। अभिनवपप चाहता था कि कन्ति मेरी प्रशसा करे—उसको की हुई प्रशसा को वह अपने गोरव का कारण समझता था। परन्तु वह पप की प्रशसा नही करती थी। कहा जाता है कि अन्त में कन्ति ने पप की कविता की प्रशंसा करके उसे सन्तुष्ट कर दिया था।

---

१ 'उपशमइव मूर्ति पूतकीर्ति स तस्मात
जयति विनयचन्द्रः सच्चकोरैक चन्द्रः।
जगदमृतसगर्भाः शास्त्र सन्दर्भ गर्भाः
शुचि चरित महिष्णोर्यस्य धिन्वन्ति वाचः।"

—जिन चतुर्विंशति का टीका प्रशस्ति

आचार्य शुभचंद्र

शुभचन्द्र नामक के अनेक विद्वान् हो गए है। प्रस्तुत शुभचन्द्र ने अपनी कोई गुरु परम्परा नही दी, और न ग्रन्थ का रचनाकाल ही दिया है। ग्रन्थ में समन्तभद्र, देवनन्दी (पूज्यपाद) अकलंकदेव और जिनसेनाचार्य का स्मरण किया है। जिनसेन की स्तुति करते हुए उनके वचनों को 'त्रैविद्य वन्दित' बतलाया है।[1] त्रैविद्य एक उपाधि है जो सिद्धान्त चक्रवर्ती के समान सिद्धान्त शास्त्र के ज्ञाता विद्वानों को दी जाती थी। सिद्धान्त (आगम) व्याकरण और न्याय शास्त्र के ज्ञाता विद्वानों को त्रैविद्य उपाधि मे विभूषित किया जाता रहा है। शुभचन्द्र ने जिनसेन के बाद अन्य किसी बाद के विद्वान का स्मरण नही किया। ग्रन्थ में आदिपुराण का पद्य भी दिया हुआ है[2]।

कवि ने ग्रन्थ रचना का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए लिखा है कि संसार में जन्म ग्रहण करने से उत्पन्न हुए दुर्निवार क्लेशों के सन्ताप से पीड़ित मैं अपनी आत्मा को योगीश्वरों से सेवित ध्यानरूपी मार्ग में जोड़ता हूं। कवि ने अपना प्रयोजन संसार के दुखों को दूर करना बतलाया है :—

भवप्रभवदर्वार क्लेशसन्ताप पीड़ितम् ।
योजयाम्यहमात्मानं पथियोगीन्द्रसेविते ॥ १८ ॥

कविने लिखा है कि यह ग्रन्थ मैंने कविता के अभिमान से या जगत में कीर्ति विस्तार की इच्छा से नही बनाया किन्तु अपने ज्ञान की वृद्धि के लिए बनाया है : --

न कवित्वाभिमानेन न कीर्ति प्रसरेच्छया ।
कृतिः किन्तु मदीयेयं स्वा बोधायैव केवलम् ॥ १९ ॥

ज्ञानार्णव में ४२ प्रकरण है, जिनमें १२ भावना, पच महाव्रत और ध्यानादि का विस्तृत कथन किया गया है। मुद्रित ग्रन्थ वहुत कुछ अशुद्ध छपा है। ग्रन्थ में रचनाकाल न होने से ग्रन्थ के रचनाकाल के सम्बन्ध में अन्य साधनों से विचार किया जाता है। आचार्य शुभचन्द्र के इस ग्रन्थ पर पूज्यपाद के समाधितन्त्र और इष्टोपदेश का प्रभाव है। उनके अनेक पद्य ज्यों-के-त्यों रूप में और कुछ परिवर्तित रूप में पाये जाते हैं। ग्रन्थ अपने विषय का सम्बद्ध और वस्तु तत्त्व का विवेचक है। स्वाध्याय प्रेमियों के लिये उपयोगी है। इसपर आचार्य अमृतचन्द्र अमित गति प्रथम और तत्त्वानुशासन तथा जिनसेन के आदि पुराण का प्रभाव परिलक्षित है। जैसा कि निम्न विचारणा से स्पष्ट है :—

विचारणा

ज्ञानार्णव के १६वें प्रकरण के छठवे पद्य के बाद उक्तं च रूप से निम्न पद्य पाया जाता है :—

मिथ्यात्ववेदरागादोषादयोऽपि षट् चैव ।
चत्वारश्चकषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः ॥

यह पद्य आचार्य अमृतचन्द्र के पुरुषार्थ सिद्धचुपाय का ११६वां पद्य है। इससे स्पष्ट है कि शुभचन्द्र अमृतचन्द्र के बाद हुए है। अमृतचन्द्र का समय दशवी शताब्दी है।

ज्ञानार्णव मुद्रित प्रति के पृष्ठ ४३१वें पाचवें पद्य के नीचे एक आर्या निम्न प्रकार दिया है—वह मूल में शामिल हो गया है। किन्तु उसपर मूल के क्रम का नम्बर नहीं है। परन्तु सं० १६६९ को हस्त लिखित प्रति के पत्र ८९ पर इसे 'उक्तं च' वाक्य के साथ दिया हुआ है।

---

१ जयन्ति जिनसेनस्य वाचास्त्रैविद्यवन्दिता.'
योगिभिर्यत्समासाद्य सवलितं नात्म निश्चये ॥१६

२ उक्तं च—अकारादि हकारान्तं रेफमध्यं सबिन्दुकम् ।
तदेव परमं तत्त्वं यो जानाति स तत्त्व वित् ॥
आदि पुराण २१—२३१

शुचि गुणयोगाच्छुद्धं कषायरजः क्षयादुपशमाद्वा।
वैडूर्यमणिशिखाइव सुनिर्मलं निष्प्रकम्पं च॥

यह पद्य रामसेन के तत्त्वानुशासन में निम्न रूप में उपलब्ध होता है—

शुचि गुण योगाच्छुक्लं कषायरजः क्षयादुपशमाद्वा॥
माणिक्यशिखा-वदिदं सुनिर्मलं निष्प्रकम्पंच॥२२२

इस पद्य में कोई अर्थ भेद नही है, थोड़ा सा शब्द भेद अवश्य है।

तत्वानुशासन के ४८वें पद्य का पूर्वार्ध भी ज्ञानार्णव के २६वें प्रकरण के २६वें श्लोक के पूर्वार्ध से ज्यों के त्यों रूप में मिलता है यथा—

"ध्यातारस्त्रिविधा ज्ञेयास्तेषां ध्यानान्यपि त्रिधा"। ज्ञाना०
"ध्यातारस्त्रिविधास्तस्मात्तेषां ध्यानान्यपि त्रिधा"। तत्त्वानु

रामसेन का समय मुख्तार श्री जुगल किशोर जी ने १० वीं शताब्दी का चतुर्थचरण निश्चित किया है। अतः शुभचन्द्र उनके बाद के विद्वान हैं।

योगसार के कर्ता अमित गति प्रथम, जो आचार्य नेमिषेण के शिष्य थे। उनके योगसार के नौ वें अधिकार का एक पद्य ज्ञानार्णव के ३९ वें प्रकरण के ४३ वें पद्य के बाद उक्तं च रूप से पाया जाता है:—

येन येन हि भावेन युज्यते यंत्रवाहकः।
तेन्तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा॥ ३९ ज्ञानार्णव
येन ये नैव भावेन युज्यते यंत्रवाहकः।
तन्मयस्तत्र तत्रापि विश्वरूपो मणिर्यथां।
योगसार ९—५१

अमितगति प्रथम के योगसार का यह पद्य हेमचन्द्र के योग शास्त्र में भी ज्यों के त्यों रूप में पाया जाता है। यह ज्ञानार्णव में उक्तं च रूप में दिया है। किन्तु योग शास्त्र में वह मूल में शामिल कर लिया गया है। इसी तरह ज्ञानार्णव का यह पद्य—सोऽयं समरसी भावस्तदेकी करणं मतं। आत्मा यदपृथक्त्वेन लीयते परमात्मनि॥ योग शास्त्र में पाया जाता है। इसका पूर्वार्ध—तत्त्वा नुशासन१३७ में पाया जाता है। चूंकि ज्ञानार्णव का मूल पद्य है, वह तत्त्वानुशासन के साहित्यिक अनुसरण एवं प्रभाव से परिलक्षित है।

अमितगति द्वितीय ने अपना सुभाषितरत्न सन्दोह वि० सं० १०५० और संस्कृत पंच संग्रह १०७३ में बनाकर समाप्त किया है। इनसे दो पीढ़ी पूर्व अमितगति प्रथम हुए है, जिनका समय ११ वीं शताब्दी का प्रथम चरण हैं। इससे स्पष्ट है कि ज्ञानार्णव के कर्ता शुभचन्द्र का समय सं० ११२५ से ११३० के मध्यवर्ती है। अर्थात् वे विक्रम की १२ वीं शताब्दी के प्रथम चरण और ईसा की ११ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण के विद्वान थे।

नियमसार की पद्मप्रभमलधारी देव की वृत्ति में पृष्ठ ७२ पर ज्ञानार्णव के ४२ वें प्रकरण का चौथा पद्य उद्धृत है, जो शुक्लध्यान के स्वरूप का निर्देशक है:—

निष्क्रियं करणातीतं ध्यानधारणवर्जितम्।
अन्तर्मुखं च यच्चित्त तच्छुक्लमिति पठ्यते॥४

पद्म प्रभमलधारि देव का स्वर्गवास शक सं० ११०७ सन् ११८५ के २४ फरवरी सोमवार के दिन हुआ है। नियमसार की वृत्ति उससे पूर्व बन चुकी थी। नियमसार की यह वृत्ति सन् ११८५ से पूर्व बनी है यदि उसका समय शक सं० ११०० मान लिया जाय तो सन् ११७८ में ज्ञानार्णव उनके सामने था। ज्ञानार्णव की रचना के बाद कम से कम १५-२० वर्ष उसके प्रचार-प्रसार में भी लगे हैं। ऐसी स्थिति में शुभचन्द्र के समय की उत्तरावधि पद्मप्रभ मलधारि देव का समय है।

यद्यपि १३ वीं शताब्दी के विद्वान पं० आशाधर जी ने सं० १२८५ से पूर्व निर्मित इष्टोपदेश की टीका में ज्ञानार्णव के पद्य उक्तं च रूप से उद्धृत किये हैं। और मूलाराधना (भगवती आ० की टीका) में गाथा १८८७ की टीका में ४२ वें प्रकरण के ४३ वें पद्य से लेकर ५१ तक के पद्य 'उक्तं च ज्ञानार्णव' विस्तेरण' वाक्य के साथ उद्धृत

किये हैं, इससे इतना तो स्पष्ट है कि ईसा की १२वी और वि० को १३वीं शताब्दी में ज्ञानार्णव का खूब प्रचार हो गया था।

हेमचन्द्राचार्य ने अपना योग शास्त्र सं० १२०७ में बनाया है। उससे पूर्व नही। जब कि ज्ञानार्णव उससे बहुत पहले बन चुका था। ऐसी स्थिति में योगशास्त्र के पद्यो का ज्ञानार्णवकार द्वारा उद्धृत करने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। यद्यपि दोनों के पद्यों में बहुत कुछ साम्य है, उस साम्यता का कारण हेमचन्द्र के सामने योग विषयक अनेक ग्रन्थ बन चुके थे। वे उनके सामने थे ज्ञानार्णव भी उनमें था। हेमचन्द्र को उनसे अवश्य साहाय्य मिला है। ज्ञानार्णव हेमचंद्रके सामने रहा है। ज्ञानार्णव में जैनेतर ग्रन्थों से योग-विषयक जो पद्य लिये गये हैं। सभव है वे ग्रन्थ हेमचन्द्र को भी प्राप्त हुए हों, और ज्ञानार्णव से हेमचन्द्र ने भी सहयोग लिया हो तो क्या आश्चर्य ?

पाटन के भंडार में ज्ञानार्णव की एक प्रति सं० १२८४ की लिखी हुई प्रति मौजूद है। जिसे जाहिणी आर्यिका ने किसी शुभचन्द्र योगी को प्रदान की थी। वह प्रति अन्य किसी प्रति से प्रतिलिपि की हुई है। क्योंकि ज्ञानार्णव उससे पूर्व बना हुआ था। और उससे बहुत पहले प्रचार में आ गया था। ऐसी स्थिति में उस प्रति को ग्रन्थ रचना के आस-पास समय की प्रति नहीं कहा जा सकता। और न उस पर से कोई निर्णय हो किया जा सकता है। हेमचन्द्र के ग्रन्थों पर अन्य साहित्यकारों के साहित्य का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित है। इससे इंकार नहीं किया जा सकता। दार्शनिक ग्रन्थों में प्रमाण मीमांसा के निग्रह स्थान के निरूपण और खण्डन के समूचे प्रकरण में और अनेकान्त में दिये आठ दोषों के परिहार प्रसंग में प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड का शब्दश: अनुसरण किया गया है। प्रमाण मीमांसा के प्राय: प्रत्येक प्रकरण पर प्रमेयरत्नमाला की शब्द रचना ने अपनी स्पष्ट छाप लगाई है। ऐसी स्थिति में यह कहना किसी तरह भी शक्य नहीं है कि हेमचन्द्र ने ज्ञानार्णव से कुछ नही लिया।

इन्द्रकीर्ति

कुन्दकुन्दान्वय समूह मुखमंडन देशीयगण के विद्वान थे। इनकी अनेक उपाधियां थीं—श्री मदरुहच्चरण, सरसिहभृंग, कोण्डकुन्दान्वय समूह मुखमंडन, देशीयगण कुमुदवन, को कलिपुरेन्द्र, त्रैलोक्य मल्ल, सदासरसिकलहस, कविजनाचार्य, पण्डित मुखाम्बुरुह चण्डमातण्ड सर्वशास्त्रज्ञ, कविकुमुदराज त्रैलोक्य मल्लेन्द्र कीर्तिहरि मूर्ति। इन विशेषणों से इन्द्र कीर्ति की महत्ता का स्पष्ट बोध होता है। गगराजा दुर्विनीत द्वारा निर्मापित मन्दिर को इन्द्र कीर्ति ने कुछ दान दिया था।

यह शिलालेख कागलि जिला बेल्लारी मेसूर का है जिसका समय शक सं० ९७७ सन् १०५५ (वि० सं० १११२) है। (इ० ए० ५५, १९२६ पृ० ७४, इ० म० वेल्ला० १९६)

केशवनन्दि

बलगारगण मेघनन्दि भट्टारक के शिष्य थे। उस समय समस्त भुवनाश्रय, श्री पृथ्वी वल्लभ, महा-राजाधिराज परमेश्वर, परम भट्टारक और सत्याश्रय कुल तिलक आदि अनेक उपाधियों के धारक त्रैलोक्यमल्ल के प्रवर्द्धमान राज्य में वनवासीपुर में महामण्डलेश्वर चामुण्डरायरस वनवासी १२००० पर शासन कर रहा था, तब बलिलगावे राजधानी में शक सं० ९७० (सन् १०४८) सर्वधारी सम्वतसर ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी आदित्य-वार के दिन अष्टोपवासि भट्टारक की वसदि में पूजा करने के लिये, 'भेरुण्ड' दण्ड (माप) जिड्डु लिंगे-सत्तर में प्राप्त धान (चावल) के क्षेत्र का दान केशवनन्दि को दिया। —जैन लेख सं०भा० २ पृ० २२१

कुलचन्द्रमुनि

मूलसंघान्वय क्राणूरगण के परमानन्द सिद्धान्तदेव के शिष्य थे। भुवनैकमल्ल के सुपुत्र ने जिस समय उनका राज्य प्रवर्धमान था। और जो बंकापुर में निवास करते थे और उन पादपद्मोपजीवी चालुक्य पेर्म्माडे भुवनैक वीर उदयादित्य शासन कर रहे थे। तब भुवनैक मल्ल ने शान्ति नाथ मन्दिर के लिये उक्त कुलचन्द्र मुनि को नागर खण्ड में भूमिदान दिया। चूँकि यह शिलालेख शक स० ९९६ सन् १०७४ (वि० सं० ११३१) का है। अत: उक्त मुनि ईसा की ११वीं और विक्रम की १२वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के विद्वान हैं।[1]

१. जैन लेख सं० भा० २ पृ० २६४-६५।

कीर्तिवर्मा

यह मुनि देवचन्द का शिष्य था। यह देव चन्द संभवतः वह हैं जो राघवपाण्डवीय काव्य के कर्ता श्रुतकीर्ति त्रैविद्य देव के सम सामयिक थे (श्रव० लेख नं० ४०)। यह चालुक्य वंशीय (सोलंकी) त्रैलोक्य मल्ल का पुत्र था, इसने सन् १०४४ से १०६८ तक राज्य किया है। इसके चार पुत्र थे, जयसिंह, विष्णु वर्द्धन, विजयादित्य और कीर्तिवर्मा। इनकी माता का नाम केतलदेवी था, जो जैन धर्म निष्ठा थी, वह जिन भक्ति से ओत-प्रोत थी, उसने भक्तिवश सैकड़ों जिन मन्दिर बनवाए थे। तथा जैनधर्म की प्रभावना के अनेक कार्य किये थे। उसके बनवाए हुए जिन मन्दिरों के खण्डहर और उनमें प्राप्त शिलालेख उसकी कीर्ति का स्मरण कराते हैं। कीर्तिवर्मा के ग्रन्थों में से इस समय केवल एक ही 'गोवैद्य' नाम का ग्रन्थ प्राप्त है, जिसमें पशुओं के विविध रोगों और उनकी चिकित्सा का वर्णन है। इस ग्रन्थ के एक पद्य में कवि ने अपने आपको कीर्तिचन्द्र, वैरिकरिहरिकन्दर्पमूर्ति, सम्यक्त्वरत्नाकर, बुधभव्य बान्धव, कविताब्धिचन्द्र और कीर्तिविलास आदि विशेषणों से उल्लेखित किया है 'वैरिकरिहरि' विशेषण से ज्ञात होता है कि वह एक वीर योद्धा था।

मुनि पद्मसिंह

इन्होंने अपना कोई परिचय नहीं दिया। किन्तु अपने ग्रन्थ 'णाणसार' (ज्ञानसार) की अन्तिम गाथा में बताया है कि अपने मन के प्रतिबोधनार्थ और परमात्म स्वरूप की भावना के निमित्त श्रावणशुक्ला नवमी वि० सं० १०८६ सन् १०२९ में अंबक नगर (अंबड नगर) में ग्रन्थ की रचना की है[1]।

ग्रन्थ की गाथा संख्या ६३ है और उसे ७४ श्लोक परिमाण बतलाया गया है[2]। ग्रन्थ में ध्यान विषय का कितना ही उपयोगी वर्णन है। ३६ वीं गाथा में बतलाया है कि जिस प्रकार पाषाण में सुवर्ण और काष्ठ में अग्नि दोनों बिना प्रयोग के दिखाई नहीं पड़ते उसी प्रकार ध्यान के बिना आत्मा का दर्शन नहीं होता और इससे ध्यान का महात्म्य, एवं लक्षण स्पष्ट जान पड़ता है। ग्रन्थ स्वपर-सम्बोधक है। ७ वें पद्य में बतलाया है कि जिस तरह दाढ और नखरहित सिंह गजेन्द्रों का हनन करने में समर्थ नहीं होता। उसी तरह ध्यान के बिना योगी कर्म के क्षपण में समर्थ नहीं होता। अतः कर्मवन को दग्ध करने के लिए ध्यान की अत्यन्त आवश्यकता है, ध्यान एकान्त स्थान में ही संभव है, मन की चंचलता ध्यान में बाधक है। मुनि पद्मसिंह विक्रम की ११ वीं शताब्दी के विद्वान हैं।

पद्मनन्दि मलधारि

मूलसंघ, देशीयगण, पुस्तगच्छ और कौण्डकुन्दान्वय के विद्वान थे। उन्होंने पार्श्वनाथ की मूर्ति की स्थापना की थी। सन् १०८७ में जब चालुक्य सम्राट् त्रिभुवनमल्ल कल्याण मे राज्य कर रहे थे। उस समय चालुक्य विक्रम वर्ष प्रभव संवत्सर की पुण्य अमावस्या रविवार को उत्तरायण संक्रान्ति के अवसर पर पुण्डूर के महामण्डलेश्वर अत्तरस ने तिकप्प दण्ड नायक को पार्श्वनाथ की पूजा के लिये भूमि, उद्यान और कुछ अन्य आय के साधनों का दान दिया था। अतः पद्मनन्दि मलधारि का समय सन् १०८७ (वि० सं० ११५४) है।[3]

चन्द्रप्रभाचार्य—शक सं० ९९५ सन् १०७२ के एक स्तम्भ लेख में भाद्रपद कृष्णा ८ शनिवार के दिन चन्द्रप्रभाचार्य के स्वर्गवास का वर्णन है। —जैन लेख सं० भा० ५ पृ० ३२

श्रुतकीर्ति—कुन्दकुन्दान्वय देशीगण के विद्वान आचार्य श्री कीर्ति के शिष्य थे। यह अपने समय के बड़े विद्वान, शास्त्रार्थ विचारज्ञ, व्याख्यातृत्व, और कवित्वादि गुणों में प्रसिद्ध थे। इनकी कीर्ति जगत्त्रय में व्याप्त थी।

---

१. णियमण पडिवोहत्थं परमसरुवस्स भावण णिमितं।
सिरि पउमसिंह मुणिणा णिम्मवियं णाणसारमिणं ॥६१
सिरिविक्कमस्स काले दशसम छासी जुयंमि वहमाणे।
सावण सिय णवमीए अंवय णयरम्मि कयमेयं ॥ ६२

२. परिमाणं च सिलोमा चउहत्तरि हुंति णाणसारस्स।
गाहाणं च तिसट्ठी सुललिय बंधेण रइयाणं ॥६३

३. रि० इ० ए० १९६०-६१ जैनलेख सं० भा० ५ पृ० ३४

वे सर्वज्ञशासन रूपी आकाश के शरत्कालीन पूर्णमासी के चन्द्रमा थे। और वे तत्कालीन गांगेय और भोज देवादि समस्त नृप पुंगवों मे पूजित थे। इनमें गंगेय देव तो कलचूरि नरेश ज्ञात होते है जो कोक्कल (द्वितीय) के पश्चात् सन् १०१९ के लगभग सिंहासनारूढ हुए। और सन् १०३८ तक राज्य करते रहे है और भोज देव वही धारा के परमारवंशी राजा है, जिन्होंने सन् १००० से सन् १०५५ (वि० स० १११२) तक मालवा का राज्य किया है। और जिनका गुजरात के सोलंकी राजाओं मे अनेक बार संघर्ष हुआ। इससे श्रुतकीर्ति का समय सन् १०८० से १०९५ तक हो सकता है।[1]

कवि धनपाल

कवि धनपाल 'धर्कट वंश' नामक वैश्य कुल मे उत्पन्न हुआ था। इसके पिता का नाम माएसर और माता का नाम धनसिरि (धनश्री) देवी था[2]। प्रस्तुत धर्कट या धक्कड वंश प्राचीन है। यह वंश १०वी शताब्दी से १३वी शताब्दी तक बहुत प्रसिद्ध रहा है। और इस वंश मे अनेक प्रतिष्ठित श्री सम्पन्न पुरुष और अनेक कवि हुए है। भविष्य दत्त कथा का कर्ता प्रस्तुत धनपाल पावन वंश में उत्पन्न हुआ था। जिसका समय १०वी शताब्दी है। धर्म परीक्षा (स० १०४४) के कर्ता हरिषेण इसी वंश मे उत्पन्न हुए थे। जम्बूस्वामी चरित्र के कर्ता वीर कवि (स० १०७६) के समय मालव देश में धक्कडवंश के मधुसूदन के पुत्र तक्खड श्रेष्ठी का उल्लेख मिलता है जिनकी प्रेरणा से जम्बू स्वामी चरित्र रचा गया है[3]। स० १२८७ के देलवाडा के तेजपाल वाले शिला लेख में 'धर्कट' जाति का उल्लेख है। इससे इस वंश की महत्ता और प्रसिद्धि का सहज ही बोध हो जाता है। धनपाल अपभ्रंश भाषा के अच्छे कवि थे और उन्हे सरस्वति का वर प्राप्त था जैसा कि कवि के निम्न वाक्यों से—**"चिंतिय धणवालि वणिवरेण, सरसइ बहुलद्ध महावरेण।"**—प्रकट है। कविका सम्प्रदाय दिगम्बर था। यह उनके—'**भजि विजेण यिंदवरि लायउ।**' (संधि ५-२०) के वाक्य से प्रकट है। इतना ही नहीं किन्तु उन्होंने १६वे स्वर्ग के रूप मे अच्युत स्वर्ग का नामोल्लेख किया है। यह दिगम्बर मान्यता है। आचार्य कुन्दकुन्द की मान्यतानुसार सल्लेखना को चतुर्थ शिक्षाव्रत स्वीकार किया है[4]। कवि के अष्ट मूल गुणो का कथन १०वी शताब्दी के आचार्य अमृतचन्द्र के पुरुषार्थ सिद्धयुपाय के निम्नपद्य से प्रभावित है :—

मद्यं मांस क्षौद्रं पञ्चोदुम्बर फलानि यत्नेन।
हिंसा व्युपरति कामै मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥(३—६१)
'महु मज्ज मंसु पंचुवराइ, खज्जंति ण जम्मंतर सयाइ॥

१. विद्वान्समस्तशास्त्रार्थविचारचतुराननः।
शरच्चन्द्र कराकार कीर्तिव्याप्त जगत्रयः ॥१३
व्याख्यातृ त्व-कवित्वादि-गुणहंसैकमानसः।
सर्वज्ञशासनाकाश शरत्पार्वण चन्द्रमा ॥१४
गांगेय भोजदेवादि समस्त नृपपुङ्गवै।
पूजितोत्कृष्टपादारविन्दो विध्वस्तकल्मषः ॥१५ —श्रीचन्द्र कथाकोष प्रशस्ति-जैनग्रंथ—प्रशस्ति स० भा० २ पृ० ७

२. धक्कड वणिवंसि माएसर हो समुब्भविण।
धणसिरि देवि सुएण विरइउ सरसइ सभविण॥ (अन्तिम प्रशस्ति)

३ अह मालवम्मि धण-कण दरसी, नयरी नामेण सिंधु-वरिसी।
तहिं धक्कड-वंसे वंश तिलउ, महसूयण णंदणु गुणगणिलउ॥
णामेण सेट्ठि तक्खडु वसई, जस पडहु जासु तिहुयणि रसई॥ (जबू० प्रशस्ति)

४. मद्य मास मधुत्यागै महोदुम्बर पञ्चकै.। अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुतौ॥ —(उपासका० २१, २७०)
महु मज्जु मंस विरई चत्ता से पुण उंबराण पचण्ह। अट्ठेदे मूलगुणाहवंति फुड, देसविरयम्मि। (—गा० ३५६)
तत्रादौ श्रद्दधज्जैनी माज्ञा हिसामपासितुम्। मद्य मांस-मधु त्युज्झेत् पचक्षीरी फलानि च॥ —सा० २—२

आचार्य अमृतचन्द्र की इस मान्यता को उत्तरवर्ती विद्वान आचार्यों ने (सोमदेव, देवसेन, पं० आशाधर ने) अपने ग्रन्थों में अपनाया है। इन सब प्रमाणों से ज्ञात होता है कि कवि धनपाल दिगम्बर सम्प्रदाय के विद्वान थे।

भविष्यदत्त कथा

प्रस्तुत कथा अपभ्रंश भाषा की रचना है। प्रस्तुत कृति में ३४४ कडवक हैं। जिनमें श्रुत पंचमी के व्रत का महात्म्य बतलाते हुए उनके अनुष्ठान करने का निर्देश किया गया है। साथ ही भविष्यदत्त और कमलश्री के चरित्र-चित्रण द्वारा उस ओर भी स्पष्ट किया गया है। ग्रन्थ का कथा भाग तीन भागों में बाटा जा सकता है। चरित्र घटना बाहुल्ल होते हुए भी कथानक सुन्दर बन पड़े हैं। उनमें साधु-असाधु जीवन वाले व्यक्तियों का परिचय स्वाभाविक बन पड़ा है। कथानक म अलौकिक घटनाओं का समीकरण हुआ है, परन्तु वस्तु वर्णन में कवि के हृदय ने साथ दिया है। अतएव नगर, देशादिक और प्राकृतिक वर्णन सरस हो सके है। ग्रन्थ मे रस और अलंकारों के पुट ने उसे सुन्दर और सरस बना दिया है। ग्रन्थ में जहा शृंगार, वीर और शान्तरस का वर्णन है वहाँ उपमा, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति और विरोधाभास आदि अलकारों का प्रयोग भी दिखाई देता है। भाषा मे लोकोक्तियां और वाग्धाराओं का प्रयोग भी मिलता है।

यथा—**किं घिउ होइ विरोलिए पाणिए**— पानी के विलौने से क्या घी हो सकता है।

अण इच्छियइहोंति जिय दुक्खइ सहसा परिणवंति तिह सोक्खइ—

(३-१०-८) जैसे यदृच्छया दुख आते है वैसे ही सहसा सुख भी आ जाते हैं।

जोव्वण वियारसवस पसरि सो सूरउ सो पंडियउ।

चल मम्मण वयणुल्लावएहि जो परतियहि न खंडियउ। (३—१८—६)

वही शूर वीर है और वही पंडित है, जो यौवन के विषय-विकारों के बढ़ने पर स्त्रियों के चंचल कामोद्दीपक वचनों से प्रभावित नहीं होता।

जहां जेणदत्तं तहातेण पत्तं इमं सुच्चए सिट्ठ लोएण वुत्तं।

सुपायन्नवा कोद्दवा जत्त माली कहं सो नरो पावए तत्थसाली।

जो जैसा देता हैं, वैसा ही पाता है। यह शिष्ट लोगों ने सच कहा है। जो माली कोदों बोवेगा वह शाली कहां से प्राप्त कर सकता है

इन सुभाषितों और लोकोक्तियों से ग्रन्थ और भी सरस बन गया है।

ग्रन्थ का कथा भाग तीन भागों में बांटा जा सकता है। यथा—

१. व्यापारी पुत्र भविष्यदत्त की संपत्ति का वर्णन, भविष्यदत्त, अपने सौतेले भाई बन्धुदत्त से दो बार धोखा खाकर अनेक कष्ट सहता है, किन्तु अन्त में उसे सफलता मिलती है।

२ कुरूराज और तक्षशिला नरेशों में युद्ध होता है, भविष्य दत्त उसमें प्रमुख भाग लेता है, और उसमें विजयी होता है।

३. भविष्यदत्त तथा उसके साथियों का पूर्व जन्म वर्णन।

कथा का संक्षिप्त सार

भरत क्षेत्र के कुरुजांगल देश में गजपुर नाम का एक सुन्दर और समृद्ध नगर था। उस नगर का शासक भूपाल नाम का राजा था। उसी नगर में धनपाल नाम का नगर सेठ रहता था। वह अपने गुणों के कारण लोक में प्रसिद्ध था। उसका विवाह हरिबल नाम के सेठ को सुन्दर पुत्री कमलश्री से हुआ था। वह अत्यन्त रूपवती और गुणवती थी। बहुत दिनों तक उसके कोई सन्तान न हुई, अतएव वह चिन्तित रहती थी। एक दिन उसने अपनी चिन्ता का कारण मुनिवर से निवेदन किया। मुनिवर ने उत्तर में कहा, तेरे कुछ दिनों में विनयी, पराक्रमी और गुणवान पुत्र होगा। और कुछ समय बाद उसके भविष्यदत्त नाम का पुत्र हुआ। वह पढ़ लिखकर सब कलाओं में निष्णात हो गया।

धनपाल सुरूपा नाम की पुत्री से अपना दूसरा विवाह कर लेता है। उसके बन्धुदत्त नाम का पुत्र हुआ।

जब वह युवा हुआ तब बहुत उत्पाद मचाने लगा। नगर के सेठों ने मिलकर विचार किया कि यह युवतियों से छेड़ खानी करता है, अतः उसे कंचनपुर जाने के लिए तैयार करना चाहिए। मन्त्रीजन व्यवसाय के निमित्त बन्धुदत्त को भेजने के लिये तैयार हो गये। और बन्धुदत्त को अपने साथियों के साथ कंचनद्वीप जाते हुए देखकर भविष्यदत्त भी अपनी माता के बार-बार रोके जाने पर भी उनके साथ हो लिया। जब सरूपा को पता चला तो बन्धुदत्त को शिखा कर कहा कि तुम भविष्यदत्त को किसी तरह समुद्र में छोड़ देना। जिससे बन्धु-बान्धवों से उसका मिलाप न हो सके। परन्तु भविष्यदत्त की माता उसे उपदेश देती हुई कि परधन और परनारी को स्पर्श न करने की शिक्षा देती है। पांचसौ वणिकों के साथ दोनों भाई जहाज में बैठकर चले। कई द्वीपान्तरों को पारकर उनका जहाज मदनाग द्वीपके समुद्र तट पर जा लगा। प्रमुख लोग जहाज से उतर कर मदनाग पर्वत की शोभा देखने लगे। बन्धुदत्त धोखे से भविष्यदत्त को वहीं एक जगल में छोड़कर अपने साथियों के साथ-साथ आगे चला जाता है। बेचारा भविष्यदत्त इधर-उधर भटकता हुआ उजड़ हुए एक समृद्ध नगर में पहुंचता है। और वहां के जिनमन्दिर में चन्द्रप्रभ जिनकी पूजा करता है। उसी उजड़े नगर में वह एक सुन्दर युवती को देखता है। उससे भविष्यदत्त को पता चलता है कि वह समृद्ध नगर असुरों द्वारा उजाड़ा गया है। कुछ समय बाद वह असुर वहां आता है और भविष्यदत्त का उस सुन्दरी से विवाह कर देता है।

इधर पुत्र के चिरकाल तक न लौटने से कमल श्री सुव्रता नामकी आर्यिका से उसके कल्याणार्थ श्रुतपंचमी व्रत' का अनुष्ठान करती है। उधर भविष्यदत्त भी मां का स्मरण होने से सपत्नीक और प्रचुर सम्पत्ति के साथ घर लौटता है। लौटते हुए उनकी बन्धुदत्त से भेंट हो जाती है, जो अपने साथियों के साथ यात्रा में असफल हो विपत्ति दशा में था। भविष्यदत्त उनका सहर्ष स्वागत करता है, किन्तु बन्धुदत्त को धोखे से वहीं छोड़कर उसकी पत्नी और प्रभूत धन राशिलेकर साथियों के साथ नौका में सवार हो वहां से चल देता है। मार्ग में उनकी नौका पुनः पथ भ्रष्ट हो जाती है। और वे जैसे तैसे गजपुर पहुंचते है। घर पहुंचकर बन्धुदत्त भविष्यदत्त की पत्नी को अपनी भावी पत्नी घोषित करता है उनका विवाह निश्चित हो जाता है। कमलश्री लोगों से भविष्यदत्त के विषय में पूछती है, परन्तु कोई उसे स्पष्ट नहीं बतलाता। कमलश्री मुनिराज से पुत्र के सम्बन्ध में पूछती है। मुनिराज ने कहा तुम्हारा पुत्र जीवित है, वह यहां आकर आधा राज्य प्राप्त करेगा। एक महीने बाद भविष्यदत्त भी एक यक्ष की सहायता से गजपुर पहुंचता है। और अपनी माता से सब वृत्तान्त कहता है, माता को वह नागमुद्रिका देकर उसे भविष्यानुरूपा के पास भेजता है। तथा स्वयं अनेक प्रकार के रत्नादि लेकर राजा के पास जाता है, और उन्हें राजा को भेंट करता है। भविष्यदत्त राजा को सब वृत्तान्त सुनाता है, परिजनों के साथ वह राजसभा में जाता है और बन्धुदत्त के विवाह पर आपत्ति प्रकट करता है। राजा धनवइ को बुलाता है। और बन्धुदत्त का रहस्य खुलने पर राजा क्रोधवश दोनों को कारावास का दण्ड देता है। पर भविष्यदत्त धनवइ को छुड़वा देता है। राजा जय लक्ष्मी और चन्द्रलेखा नाम की दो दासियों को भविष्यानुरूपा के पास भेजता है वे जा कर भविष्यानुरूपा से कहती है। राजा ने भविष्यदत्त को देश से निकालने का आदेश दिया है और बन्धुदत्त को सम्मान। अतः अब तुम बन्धुदत्त के साथ रहो। किन्तु वह भविष्यदत्त में अपनी अनुरक्ति प्रकट करती है। धनवइ नव दम्पति को लेकर घर आता है। कमल श्री व्रत का उद्यापन करती है, वह जैन संघ को जेवनार देती है, वह पिता के घर जाने को तैयार होती है। पर कंचन माला दासी के कहने पर सेठ कमलश्री से क्षमा मांगता है। राजा सुमित्रा के साथ भविष्यदत्त का विवाह करने का प्रस्ताव करता है।

कुछ समय के बाद पांचाल नरेश चित्रांग का दूत राजा भूपाल के पास आता है, और कर तथा अपनी कन्या सुमित्रा को देने का प्रस्ताव करता है। राजा असमन्जस में पड़ जाता है, भविष्यदत्त युद्ध के लिये तैयार होता है। और साहस तथा धैर्य के साथ पांचाल नरेश को बन्दी बना लेता है, राजा सुमित्रा का विवाह भविष्यदत्त के साथ करता है और राज्य भी सौंप देता है।

कुछ दिनों बाद भविष्यानुरूपा के दोहला उत्पन्न होता है और वह तिलक द्वीप जाने की इच्छा करती है, भविष्यदत्त सपरिवार विमान में बैठ कर तिलक द्वीप पहुंचता है और वहां जिनमन्दिर में चन्द्रप्रभ जिनकी सोत्साह पूजन करता है और चारण मुनि के दर्शन कर श्रावक धर्म का स्वरूप सुनता है। अपने मित्र मनोवेग के

पूर्व भव की कथा पूछता है, और सभी सकुशल गजपुर लौट आते हैं। भविष्यदत्त बहुत दिनों तक राज्य करता है भविष्यानुरूपा के चार पुत्र उत्पन्न होते है—सुप्रभ, कनकप्रभ, सूर्यप्रभ और सोमप्रभ, तथा तारा सुतारा नाम की दो पुत्रियां उत्पन्न होती है। सुमित्रा से धरणेन्द्र नाम का पुत्र और तारा नाम की पुत्री उत्पन्न होती है।

कुछ समय बाद विमल बुद्धि मुनिराज गजपुर आते हैं। भविष्यदत्त सपरिवार उनकी वन्दना के लिए जाता है, और उनसे अपने पूर्वभव जानकर देह भोगों से विरक्त हो, सुप्रभ को राज्य देकर दीक्षा ले लेता है। और तपश्चरण द्वारा वैमानिक देव होता है और अन्त में मुक्ति का पात्र बनता है।

रचना काल

कवि धनपाल ने भविष्यदत्त कथा में रचना काल नही दिया, और न अपनी गुरु परम्परा ही दी है। इससे रचना काल के निर्णय करने में बड़ी कठिनाई हो रही है। ग्रन्थ की सबसे प्राचीन प्रतिलिपि स० १३९३ की उपलब्ध है, जैसा कि लिपि प्रशस्ति की निम्न पक्तियों मे प्रकट है :—

संवच्छरे अविकरा विक्कमेणं, अही एहि तेणवदि तेरहसएणं।
वरिस्सेय पूसेण सेयम्मि पक्खे: तिही वारसी सोमि रोहिणी रिक्खे।
सुहज्जोइमय रंगओ बुद्धु पत्तो इमो सुन्दरो सत्थु सुहदिणि समत्तो ॥'

यह शास्त्र सुसम्वतसर विक्रम तेरहसौ तेरानवे में पोस मास शुक्ल पक्ष द्वादशी सोमवार के दिन रोहिणी नक्षत्र में शुभ घड़ी शुभ दिन में लिख कर समाप्त हुआ। उस समय दिल्ली में मुहम्मदशाह बिन तुगलक का राज्य था। इस ग्रन्थ प्रतिको लिखाकर देने वाले दिल्ली निवासी हिमपाल के पुत्र वाधू साहू थे। जिन्होंने अपनी कीर्ति के लिये अन्य अनेक शास्त्र उपशास्त्र लिखवाए थे। यह भविष्यदत्त कथा उन्होंने अपने लिये लिखवाई।[1] इससे यह ग्रन्थ सं० १३९३ (सन् १३३६ ई०) मे बाद का नही हो सकता, किन्तु उससे पूर्व रचा गया है।

डा० देवेन्द्र कुमार ने भूल से इस लिपि प्रशस्ति को जो अग्रवाल वंशी साहु वाधू ने लिखवाई थी। मूल-ग्रंथ कर्त्ता धनपाल की प्रशस्ति समझकर उसका रचना काल स० १३९३ (सन् १३३६ ई०) निश्चिय कर दिया। यह एक महान् भूल है, जिसे उन्होंने सुधारने का प्रयत्न नही किया।

जबकि डा० हर्मन जैकोबी ने इस ग्रथ का रचना काल दशवीं शताब्दी से पूर्व माना जा सकता लिखा है, श्री दलाल और गुणे ने भविसयत्त कहा की भूमिका में बतलाया है कि धनपाल की भविसयत्त कहा कि भाषा हेमचन्द से अधिक प्राचीन है।[2] इसमें स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ वि० १२ वीं शताब्दी से पूर्व की रचना है। फिर भी डा० देवेन्द्र कुमार ने विक्रम सं० १२३० में रची जाने वाली विबुध श्रीधर की भविसयत्त कहा से तुलना कर धनपाल की कथा को अर्वाचीन बतलाने का दुस्साहस किया है। जबकि स्वयं उसके भाषा साहित्य को शिथिल घटिया दर्जे का माना है, और लिखा है कि—"इन वर्णनों को देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि काव्य कतित्व शक्ति से भरपूर है। पर कल्पनात्मक, बिम्बार्थ योजना और अलंकरणता तथा सौन्दर्यानुभूति की जो झलक हमें धनपाल की भविष्यदत्त कथा में लक्षित होती है, वह इस काव्य (विबुध श्रीधर की कथा) में नही है।"—

"विबुध श्रीधरकी भविष्यदत्त कथा की भाषा चलती हुई प्रसाद गुण युक्त है।" (देखो भविसयत्त कहा तथा अपभ्रंश कथा काव्य पृ० १५८) जबकि धनपाल की भविसयत्त कहा की भाषा प्रौढ, अलंकरण और बिम्बार्थ योजना आदि को लिये हुए है। भाषा प्रांजल और प्रसाद गुण से युक्त है।

कवि धनपाल ने ग्रन्थ में अष्ट मूल गुणों को बतलाते हुए मद्य मांस और मधु के साथ पंच उदंबर फलोंके त्याग को अष्ट मूल गुण बतलाया है। यथा—महुमज्जु मंसु पंचुबराइं खज्जंति ण जम्मंतरसयाइं।

(भविसयत्त कहा १६-८)

दशवीं शताब्दी से पूर्व अष्टमूल गुणों में पंच उदम्बर फलों का त्याग शामिल नहीं था, किन्तु पंचाणुव्रत

१ इहत्ते परत्ते सुहायार हेउ, निणे लिहिय सुअपंचमी णियहं हेउ। अनेकान्त वर्ष २२ किरण १

२ श्री दलाल और गुणे द्वारा सम्पादित गायकवाड ओरियन्टल सीरीज ग्रंथाक नं० २०, १९२३ ई० में प्रकाशित।

के साथ तीन मकार का त्याग परिगणित था, जैसा कि आचार्य समन्तभद्र के निम्न पद्य से प्रकट है :—

मद्य मांस मधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम् ।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ।।

—(रत्न करण्ड श्रावकाचार—४-६६)

आचार्य जिनसेन के बाद अष्टमूल गुणों में पांच अणुव्रतों के स्थान पर पंच उदम्बर फलों के त्याग को शामिल किया गया है। दशवी शताब्दी के अमृतचन्द्राचार्य के पुरुषार्थ सिद्धचुपाय के निम्न पद्य में अष्टमूल गुणों में पंच उदम्बर फलों का त्याग बतलाया है :—

मद्य मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बर फलानि यत्नेन ।
हिंसा व्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथम मेव ।।

—पुरुषार्थसिद्धचुपाय ३-६१

सोमदेवाचार्य (१०१६) के उपासकाध्ययन में अष्टमूल गुणों में तीन मकारों (मद्य मांस मधु) के त्याग के साथ पंच उदम्बर फलों का त्याग भी बतलाया[1] है और इनके उत्तरवर्ती विद्वान् अमितगति देवसेन पद्मनन्दि आशाधर आदि ने भी स्वीकृत किया है। कवि धनपाल ने आचार्य अमृतचन्द्र म अष्टमूल गुणों को ग्रहण किया है यदि यह मान लिया जाय तो धनपाल का समय दशवी शताब्दी का अन्तिम चरण अथवा ग्यारहवीं शताब्दी प्रथम चरण हो सकता है। वे उसके बाद के ग्रन्थकार नहीं हैं।

जयसेन

यह लाड बागड संघ के पूर्णचन्द्र थे। शास्त्र समुद्र के पारगामी और तप के निवास थे। तथा स्त्री को कला रूपी बाणों से नहीं भिदे थे—पूर्ण ब्रह्मचर्य से प्रतिष्ठित थे। जैसा कि महासेनाचार्य के निम्न पद्य से प्रकट है

श्री लाट् वर्गटनभस्तलपूर्णचन्द्रः, शास्त्रार्णवान्तग सुधीस्तपसां निवासः ।
कान्ता कलावपि न यस्य शरैर्विभिन्न, स्वान्त बभूव स मुनिर्जयसेन नामा ।।

इनके शिष्य गुणाकरसेन सूरि और प्रशिष्य महासेन थे। महासेन की कृति प्रद्युम्नचरित्र प्रसिद्ध है। महासेन मुंज द्वारा पूजित थे। मुंज का समय विक्रम की ११वी शताब्दी का मध्यकाल है। इनके समय के दो दान-पत्र सं० १०३१ और १०३६ के मिले हैं। सं० १०५० और १०५४ के मध्य किसी समय तैलदेव ने मुंज का वध किया था। गुणाकर सेन और महासेन के ५० वर्ष कम कर दिये जांय तो जयसेन का समय १०वीं शताब्दी हो सकता है।

वाग्भट (नेमिनिर्वाणकाव्य कर्ता)—

वाग्भट नामके अनेक विद्वान हो गये हैं[2]। उनमें प्रस्तुत वाग्भट उनसे प्राचीन और भिन्न हैं। इन्होंने अपना परिचय 'नेमिनिर्वाण' काव्य के अन्तिम पद्य में दिया है।

---

१ मद्यमांस मधुत्यागैः सहोदुम्बरपञ्चकैः ।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुतेः ।। —उपासकाध्ययन २७० पृ० १२६

२ भारतीय साहित्य में वाग्भट नाम के अनेक विद्वानों के नाम मिलते है। एक 'वाग्भट अष्टाग हृदय' नामक वैद्य ग्रन्थ के कर्ता, जो सिन्धु देश के निवासी और सिंह गुप्त के पुत्र थे। जैसा कि अष्टाँग हृदय की कनड़ी लिपी की अन्त प्रशस्ति के निम्न पद्य से प्रकट है :—यजन्मनः सुकृतिनः खलु सिन्धुदेशे यः पुत्रवन्त मकरोद भुवि सिंह गुप्तम्। तेनोक्त मेतदुभयज्ञभिषग्वरेण स्थानं समाप्तमिति···।।१।। (देखो, मैसूर के पण्डित पद्मराज के पुस्तकालय की कनडी प्रति।)

दूसरे वाग्भट नेमिनिर्वाण काव्य के कर्ता जिनका परिचय ऊपर दिया गया है। तीसरे वाग्भट (श्वे०) वाग्भट्टालंकार के कर्ता सोमश्रेष्ठी के पुत्र थे, और सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंह के सम कालीन और उनके महामात्य (मंत्री) थे। जय सिंह का काल वि० सं० ११५० से ११९९ निश्चित हुआ है। गुजरातनो मध्यकालीन राजपूत इतिहास, दुर्गाशंकर शास्त्री वा पृ० २२५। चौथे वाग्भट नेमिकुमार के पुत्र थे, जिनका परिचय आगे दिया गया है।

अहिच्छत्र पुरोत्पन्नः प्राग्वाटकुलशालिनः ।
छाहडस्य सुतश्चके प्रबन्धं वाग्भटः कविः ॥

इससे स्पष्ट है कि कवि का जन्म अहिच्छत्रपुर में हुआ था। उनके पिता का नाम छाहड़ और कुल प्राग्वाट (पोरवाड) था। अहिच्छत्रपुर नाम के दो नगरों का उल्लेख मिलता है[1]। उनमें एक अहिच्छत्रपुर उत्तरी पचाल की राजधानी था, जो एक पुरातन ऐतिहासिक नगर है। विविध तीर्थ कल्प (पृष्ठ १४) में इसका प्राचीन नाम 'सखावती' दिया है। अहिच्छत्र का नाम तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ के उपसर्ग के जीतने और कैवल्य प्राप्त करने के कारण लोक में प्रसिद्ध हुआ है[2]। सोलह जनपदों में पचाल का नाम आया है। उसमें पचाल जनपद के दो भाग बतलाये है; उत्तर और दक्षिण। उत्तर पचाल की राजधानी अहिच्छत्र और दक्षिण की राजधानी काम्पिल्य। सातवीं शताब्दी के प्रसिद्ध आचार्य पात्र केसरी ने अहिच्छत्रके राजा की सेवा का परित्याग करके जैन दीक्षा ले ली थी[3]। और बौद्धों के त्रिलक्षण हेतु का निरसन करने के लिये 'त्रिलक्षणकदर्थन' नाम का एक विशाल दार्शनिक ग्रन्थ बनाया था। जो इस समय अनुपलब्ध है। दूसरे अहिच्छत्रके राजा दुर्मुख की कथा जगत प्रसिद्ध है[4]। वहा राजा वसुपाल ने पार्श्वनाथ का एक विशाल मन्दिर बनवाया था[5] और उसमें कलात्मक सुन्दर पार्श्वनाथ की मूर्ति का निर्माण कराकर उसे वहा प्रतिष्ठित किया था और कलाकार को प्रचुर द्रव्य प्रदान किया था। नागौर को नागपुर और अहिच्छत्रपुर कहा जाता था। पर उसकी इतनी प्रसिद्धि नही थी। और न वह तीर्थ ही कहलाता था। अस्तु यह निर्णय करना यहा शक्य नही है, किस अहिच्छत्रपुर में वाग्भट का जन्म हुआ था। उसके लिये प्राचीन प्रमाणों के अन्वेषण की आवश्यकता है। तभी इसका निर्णय हो सकेगा।

रचना

कवि की एक मात्रकृति **'नेमिनिर्वाण'** काव्य है, जो १५ सर्गो में विभाजित है। और जिसकी श्लोक सख्या ६५६ है। इस काव्य में भगवान नेमिनाथ का जीवन वृत्त अकित है।

प्रथम सर्ग में चतुर्विशति तीर्थंकरों का सुन्दर स्तवन दिया हुआ है। महाराज समुद्र विजय पुत्र के अभाव मे चिन्तित रहते थे। उन्होंने पुत्र प्राप्ति के लिये अनेक व्रतों का अनुष्ठान किया था।

दूसरे सर्ग मे रानी ने रात्रि के पिछले भाग मे सोलह स्वप्न देखे, महारानी शिवा की सेवा के लिये देवागनाएं आई और अनेक तरह से माता की सेवा करने लगी

तीसरे सर्ग मे रानी ने राजा से स्वप्नों का फल पूछा, राजा ने बतलाया कि तुम्हे लोकमान्य पुत्र रत्न की प्राप्ति होगी, जो लोक का कल्याण कर मुक्ति को प्राप्त करेगा।

चौथे सर्ग मे तीर्थंकर के गर्भ में आने से रानी के सौन्दर्य की अभिवृद्धि होना और श्रावण शुक्ला षष्ठी के दिन पुत्र का जन्म हुआ, तीर्थंकर के जन्माभिषेक की सूचना चारों निकायों के देवों को घण्टा, और शखध्वनि आदि से प्राप्त हुई और वे सपरिकर द्वारावती में आये।

१ स्व० म० म० ओझा जी के अनुसार 'नागौर का पुराना नाम नागपुर या अहिच्छत्र पुर था।
—देखो, नागरी प्रचारिणी पत्रिका भा० २ पृ० ३२६

२ देखो, अनेकान्त वर्ष २४ किरण ६ पृ० २६५ मे प्रकाशित लेखक का उत्तर पचाल की राजधानी अहिच्छत्र नाम का लेख।

३ भूभृत्पदानुवर्ती सन राज सेवा पराँगमुखः।
सयतोऽपि च मोक्षार्थी भात्यसौ पात्रकेशरी ॥
देखो,—नगरतालुक शिलालेख

४ हरिषेण कथा कोश की १२ वी कथा पृ० २२

५ हरिषेण कथा कोशकी २०वी कथा।

पांचवें सर्ग में भगवान का देवों ने जन्माभिषेक धूम-धाम से सम्पन्न किया। इन्द्रने उसका नाम अरिष्ट-नेमि रक्खा। जन्माभिषेक सम्पन्न कर देव स्वर्ग लोक चले गए।

छठे सर्ग में अरिष्टनेमि की नवोदित चन्द्रमा के समान शरीर की अभिवृद्धि होने लगी। वे तीन ज्ञान के धारक थे। उनसे पुरजन परिजन सभी आनन्दित थे। युवा होने पर भी उनमें विषय-वासना नही थी। उनका सौन्दर्य अनुपम था। यादव लोग रैवतक पर वसन्त का अवलोकन करने गए। अरिष्टनेमि से भी सारथी ने रैवतक पर चलने के लिये निवेदन किया। सारथीकी प्रेरणा से नेमिनाथ भी पर्वत की शोभा देखने गये।

सातवें सर्ग में कवि ने रैवतक पर्वत का बड़ा सुन्दर वर्णन ५५ पद्यों में किया है। जिनमें लगभग ४४ छन्द प्रयुक्त हुए हैं। वर्णन की छटा अनूठी है। जलपूर्ण सरोवरों में हंस क्रीड़ा कर रहे थे। चम्पा और सहकार की छटा इस पर्वत की भूमि को सुवर्णमय बना रही थी। कुरवक, अशोक, तिलक आदि वृक्ष अपनी शोभा से नन्दन वन को भी तिरस्कृत कर रहे थे। सारथि की प्रेरणा से पर्वतराज की शोभा देखने वाले नेमिनाथ ने सघन छायामें निर्मित पट मन्दिर में निवास किया। पर्वत कितना श्री सम्पन्न था। उस पर तपस्विनी गणिनी आर्यिका विराजमान हैं। जो मुनि समूह से शोभित हैं, गुरुओं से सहित है[1] यदुवंश भूषण नेमिजिनेन्द्र के विराजमान होने पर उस पर्वत की शोभा का क्या कहना। ऊर्जयन्तगिरी का इतना सुन्दर वर्णन मुझे अन्यत्र देखने में नही आया।

आठवें सर्ग में यादवों की जल क्रीड़ा का सुन्दर वर्णन है, नवमें सर्गमें सूर्यास्त, सन्ध्या, तथा चन्द्रोदय का सुन्दर सजीव वर्णन निहित है। सूर्यास्त होने पर अन्धकार ने प्रवेश किया। रात्रिके सघन अन्धकार को छिन्न-भिन्न करने के लिये ही मानों औषधिपति (चन्द्रमा) का उदय हुआ।

दशवें सर्ग में-मधुपान का वर्णन है, युवक और युवतियां मधुपान में आसक्त थीं, मधु का मादक नशा उन्हें आनन्द विभोर बना रहा था। यादव लोग मधुपान से उन्मत्त हो विविध प्रकार की सुरत क्रीड़ाओं में अनुरक्त थे।

ग्यारहवें सर्ग में राजा उग्रसेन की सुपुत्री राजीमती वसन्त में जल क्रीड़ा के लिये अपनी माताओं के साथ रवतक पर आई थी। अरिष्ट नेमि के अवलोकनसे वह काम बाण से विध गई। शारीरिक सन्ताप मेटने के लिये सखियों ने चन्दनादि का उपयोग किया, किन्तु सन्ताप अधिक बढ़ गया। यादवेश समुद्रविजय ने नेमिके लिये राजीमती की याचना के लिए श्रीकृष्ण को भेजा। उग्रसेन ने सहर्ष स्वीकृति प्रदान की। अरिष्ट नेमि के विवाह का शुभ मुहूर्त निश्चय किया गया। विवाहोत्सवकी तैयारियां होने लगी।

बारहवें सर्ग में नेमि की वर यात्रा सजने लगी, शृंगार वेत्ताओं ने उनका शृंगार किया, शुद्ध वस्त्र धारण किये आभूषण पहने, इससे नेमिके शरीर की आभा शरत्कालीन मेघ के समान प्रतीत होती थी। वे महान वैभव और सम्पत्ति से युक्त थे। स्वर्ण निर्मित तोरण युक्त राजमार्ग से नेमि धीरे-धीरे जा रहे थे। उधर राजीमती का भी सुन्दर शृगार किया गया था। वर के सौन्दर्य का अवलोकन के लिये नारियाँ गवाक्षों में स्थित होगई। सभी लोग राजीमती के भाग्य की सराहना कर रहे थे। दूर्वा अक्षत, और कुंकुम तथा दधिसे पूर्ण स्वर्ण पात्र को लिये राजीमती वर के स्वागतार्थ द्वार पर प्रस्तुत हुई।

तेरहवें सर्गमें रथ से उतरने के लिये प्रस्तुत अरिष्टनेमि ने पशुओं का करुण 'क्रन्दन' सुना। नेमि ने सारथी से पूछा कि पशुओं की यह आर्तध्वनि क्यों सुनाई पड़ रही है? सारथी ने उत्तर दिया—विवाह में समिलित अतिथियों को इन पशुओं का मांस खिलाया जायगा। सारथी के उत्तर से नेमि को अत्यधिक वेदना हुई। और उन्हें पूर्व जन्म का स्मरण हो आया। वे रथ से उतर पड़े और समस्त वैवाहिक चिन्हों को शरीर से अलग कर दिया। उग्रसैन आदि ने तथा कुटुम्बी जनों ने अरिष्टनेमि को समझाने का प्रयत्न किया, पर सब निष्फल रहा, उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया कि मैं विवाह नही करूंगा। जैसा कि ग्रन्थ के निम्न पद्यों से प्रकट है:—

१ मुनिगण सेव्या गुरुणा युक्तार्या जयति सामुत्र।
चरणगत मखिलमेव स्फुरतितरां लक्षणं यस्याः॥ ७—२

श्रुत्वा तमार्तध्वनिमेकवीरः स्फारं दिगन्तेषु स दत्त दृष्टि ।
ददर्शवाटं निकरे निषण्णः खिन्नाखिलखापद वर्ग गर्भम् ।।
तं वीक्ष पप्रच्छ कृती कुमारः स्व सारथिं मन्मथसार मूर्तिः ।
किमर्थ मेते युगपन्निबद्धाः पाशैः प्रभूताः पशवो रटन्तः ।।३
श्रीमन्विवाहे भवतः समन्तादभ्यागतस्य स्वजनस्य भुक्त्यै ।
करिष्यते पाक विधेर्विशेष वाग्गिभिः तमित्युवाच ।।४
श्रुत्वा वचस्तस्य सवश्यवृत्तिः स्फुरत्कृपान्तः करणः कुमारः ।
निवारयामास विवाह कर्माण्य धर्मभीरुः स्मृत पूर्वजन्मा ।।५
अनुत्तरत्यत्ररथान्निषिद्ध निः शेषवैवाहिक संविधान ।।
स विस्मयः किं किमति ब्रुवाणः समाकुलोऽभूदथ बन्धुवर्गः ।।६

उन्होंने अपने शिकारी जीवन से जयन्त विमान में उत्पन्न होने तक की पूर्व भवावली भी सुनाई, और समस्त पुरजनों और परिजनों को समझा कर वन का मार्ग ग्रहण किया, और रैवतगिरि पर दीक्षा लेकर तप का अनुष्ठान करने लगे।

कवि ने तीर्थंकर नेमिनाथ की विरक्ति के प्रसग में शान्तरस को सयोजित किया है। पशुओं के चीत्कारने उनके हृदय को द्रवित कर दिया है, और वे विवाह के समस्त वस्त्राभूषणों का परित्याग कर तपश्चरण के लिये वन में चले जाते है। इस सन्दर्भ को कवि वाग्भट ने अत्यन्त सुन्दर और मार्मिक बनाया है । भगवान नेमिनाथ विचार करते हैं:—

परिग्रहं नाहमिमं करिष्ये सत्यं यतिष्ये परमार्थसिद्धयै ।
विभोग लीलामृगतृष्णिकासु प्रवर्तके कः खलु सद्विवेकः ।।
विभोग सारङ्गहतो हि जन्तुः परां भुवं कामपि गाहमानः ।
हिंसानृतस्तेयमहावनान्तर्वम्भ्रम्यते रेचित साधुमार्गः ।।
आत्मा प्रकृत्या परमोत्तमोऽयं हिंसां भजन्कोपि निषादकान्ताम् ।
धिक्कार भागनो लभते कदाचिद संशयं दिव्यपुरप्रवेशम् ।।
दानं तपोववृष वृक्षमूलं श्रद्धानतो येन विवर्ध्य दूरम् ।
स्वनन्ति मूढाः स्वयमेवहिंसा कुशीलता स्वीकरणेन सद्यः ।।

मैं विवाह नही करूंगा, किन्तु परमार्थ सिद्धि के लिये समीचीन रूप से प्रयत्न करूंगा। ऐसा कौन सद्विवेकी पुरुष होगा, जो भोगरूपी मृगतृष्णा में प्रवृत्ति करेगा। भोगरूपी सारंग पक्षी से हत प्राणी हिंसा, झूठ, चोरी कुशील और परिग्रह को करता हुआ अपने साधु कर्म का भी परित्याग कर देता है । यद्यपि यह आत्मा प्रकृति से उत्तम है तो भी वह पर क्रोधोत्पादक हिंसा का सेवन करता हुआ धिक्कार का भागी बनता है; किन्तु स्वर्ग और निर्वाण आदि को प्राप्त नहीं करता है। जो दान और तप रूपी धर्म वृक्ष पर श्रद्धान करते हुए उन्हें दूर तक नहीं बढ़ाते हैं, वे मूर्ख हैं और हिंसा कुशीलादि का सेवन कर धर्म वृक्ष की जड़ को उखाड़ डालते हैं । अर्थात् जो व्यक्ति द्रव्य या भावरूप हिंसा में प्रवृत्त होता है वह दुर्गति का पात्र बनता है। अतएव विवेकी पुरुष को जाग्रत होकर धर्म सेवन करना चाहिये।

चौदहवें सर्ग में नेमि ने दुर्धर एवं कठोर तपश्चरण किया। वर्षा ग्रीष्म और शरत ऋतु के उन्मुक्त वातावरण में कायोत्सर्ग में स्थित हुए और शुक्लध्यान द्वारा घाति-कर्म कालिमा को विनष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त किया। जिस तरह अन्धकार रहित दीपक की प्रभा द्वारा रात्रि में अपने भवनों को देखा जाता है उसी प्रकार वे भगवान नेमिनाथ समुत्पन्न हुए केवलज्ञान द्वारा तीनों लोकों को देखने जानने लगे। यथा—

"स ददर्श जगन्नाथं ततो विलसन्केवल-बोध-सम्पदा।
अवलुप्त तमः प्रदीप प्रभया ननक्तमिवात्ममन्दिरम् ॥१४-४८

अन्तिम १५ वें सर्ग में केवलज्ञान प्राप्त होते ही देवों ने नेमि तीर्थंकर की स्तुति की और समवसरण की रचना की। भगवान नेमिनाथ ने सप्ततत्त्व और कर्मबन्धादि विषयों का मार्मिक उपदेश दिया। और विविध देशों में विहार कर जन-कल्याण के आदर्श मार्ग को बतलाया। उससे जगत में अहिंसा और सुख-शान्ति का प्रसार हुआ। अन्त में योग निरोधकर अवशिष्ट अघाति कर्म का विनाशकर अविनाशी स्वात्मोपलब्धि को प्राप्त किया।

इस तरह यह काव्य बड़ा ही सुन्दर सरल और रस अलंकारों से युक्त है। सुराष्ट्र देश में पृथ्वी का सुन्दर वर्णन करते हुए समुद्र के मध्य में बसी द्वारावती का वर्णन अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। उसमें श्लिष्टोपमा का उदाहरण बहुत ही सुन्दर हुआ है।

परिस्फुरन्मण्डलपुण्डरीकच्छायापनीतातपसंप्रयोगैः।
या राजहंसैरुपसेव्यमाना, राजीविनीवाम्बुनिधौ रराजे ॥३७

जो नगरी समुद्र के मध्य में कमलिनी के समान शोभायमान होती है। जिस प्रकार कमलिनी विकसित पुण्डरीकों—कमलों—की छाया से जिनकी आताप व्यथा शान्त हो गई है ऐसे राजहंसों[1] हंसविशेषों से सेवित होती है। उसी प्रकार वह नगरी भी तने हुए विस्तृत पुण्डरीकों—छत्रों—की छाया से आतप व्यथा दूर हो गई है ऐसे राज-हंसों—बड़े बड़े श्रेष्ठ राजाओं से सेवित थी—उसमें अनेक राजा महाराजा निवास करते थे।

कवि का सम्प्रदाय दि० जैन था, क्योंकि उन्होंने मल्लिनाथ तीर्थंकर को कुरुराज का पुत्र माना है, पुत्री नहीं, जैसा कि श्वेताम्बर लोग मानते है। विरोधाभास अलकार के निम्न उदाहरण से स्पष्ट है :—

तपः कुठार-क्षत कर्मबल्लि-मल्लिर्जिनोवः श्रियमातनोतु।
कुरोः सुतस्यापि न यस्य जातं, दुःशासनत्वं भुवनेश्वरस्य ॥१९॥

इसमें बतलाया है कि- 'तपरूप कुठार के द्वारा कर्मरूप वेल को काटने वाले वे मल्लिनाथ भगवान तुम सबकी लक्ष्मी को विस्तृत करे, जो कुरु के पुत्र होकर भी दुःशासन नहीं थे, पक्षमें दुष्ट शासन वाले नहीं थे।

मल्लिनाथ भगवान कुरुराज के पुत्र तो थे, किन्तु दुःशासन नहीं थे यह विरोध है, उसका परिहार ऐसे हो जाता है, कि मल्लिनाथ के पिता का नाम कुरुराज था, इसका कारण वे कुरुराज पुत्र कहलाये, किन्तु वे दुःशासन नहीं थे- उनका शासन दुष्ट नहीं था—उनके शासन के सभी जीव सुख-शांति से रहते थे। इस पद्य में तप और कुठार, कर्म और बल्लि का रूपक तथा बल्लि और मल्लि का अनुप्रास भी दृष्टव्य है।

वास्तव में अलंकार भावाभिव्यक्ति के विशेष साधन है। प्रत्येक कवि रचना में सौन्दर्य और चमत्कार लाने के लिये अलंकारों की योजना करता है। कवि वाग्भट ने भी अपनी रचना में सौन्दर्य विधान के लिये अलंकारों को नियोजित किया है। अलंकारों के साथ रसों के सन्दर्भ की संयोजना उसे और भी सरस बना देती है। इससे पाठकों का केवल मनोरंजन ही नही होता किन्तु उन पर काव्य और कवि के श्रम का प्रभाव भी अंकित होता है।

रचनाकाल

कवि वाग्भट ने अपनी गुरुपरम्परा और रचनाकाल का ग्रन्थ में कोई उल्लेख नहीं किया। किन्तु वाग्भट्टा-लंकार के कवि वाग्भट (सं० ११७९) ने अपने ग्रन्थ में नेमिनिर्माण काव्य के अनेक पद्य उद्धृत किये हैं। नेमि-निर्वाण काव्य के छठे सर्ग के ३ पद्य—'कान्तारभूमौ' 'जुहुर्वसन्ते' और नेमिविशाल नयनों आदि ४६, ४७ और ५१ नं० के पद्य वाग्भट्टालंकार के चतुर्थ परिच्छेद के ३५, ३९ और ३२ नं० पर पाये जाते हैं। और सातवें सर्ग का—'वरणा प्रसून निकरा' आदि २६ नं० का पद्य चौथे परिच्छेद के ४० नं० पर उपलब्ध होता है। इससे स्पष्ट है कि नेमिनिर्वाण काव्य के कर्त्ता कवि वाग्भट वाग्भट्टालंकार के कर्त्ता से पूर्ववर्ती हैं। उनका समय संभवतः वि० की ११वीं शताब्दी होना चाहिए। यहां यह विचारणीय है कि धर्मशर्माभ्युदय और नेमिनिर्वाण काव्य का तुलना-त्मक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि दोनो का एक दूसरे पर प्रभाव रहा है। दोनों की कहीं-कहीं शब्दावली

भी मिलती है। सम्भव है दोनों १०-२० वर्ष के अन्तराल को लिये हुए सम सामयिक हों। इस सम्बन्ध में अभी अन्य प्रमाणों के अन्वेषण की आवश्यकता है।

नेमिनिर्वाण काव्य पर एक पंजिका उपलब्ध है। जिसके कर्त्ता भट्टारक ज्ञान भूषण हैं। पुष्पिका वाक्य में उसे नेमि निर्वाण महाकाव्य की पंजिका लिखा है। 'इति श्री भट्टारक ज्ञान भूषण विरचितायां श्री नेमिनिर्वाण महाकाव्य पंजिकायां प्रथम सर्गः'। पंजिका की प्रतिलिपि नयामन्दिर धर्मपुरा दिल्ली के शास्त्र भण्डार में सुरक्षित है।

हरिसिंह मुनि

मुनि हरिसिंह का उल्लेख सुदर्शन चरित्र के कर्त्ता नयनन्दी ने सकल विधि विधान की प्रशस्ति में किया है। नयनन्दी इनके समीप ही रहते थे। इनकी प्रेरणा से उन्होंने 'सयल विहि विहाण काव्य' की रचना की है। हरि सिंह मुनि भी धारा नगरी के निवासी थे। चूंकि नयनन्दी ने सं० ११०० में सुदर्शन चरित्र समाप्त किया है। अतः इनका समय भी विक्रम की ११ वीं शताब्दी है।

हंससिद्धान्त देव

प्रस्तुत आचार्य हंससिद्धान्त देव सोमदेवाचार्य के नीतिवाक्यामृत की रचना के समय लोक में प्रसिद्ध थे। और जैन सिद्धान्त के निरूपण में प्रमाण माने जाते थे। जैसा कि नीति वाक्यामृत की प्रशस्ति के निम्न वाक्य से "न भवसि समयोक्तौ हंस सिद्धान्त देवः।" जाना जाता है। इनका समय सोमदेव की तरह विक्रम की १०वीं या ११वीं शताब्दी का पूर्वार्ध जान पड़ता है।

हर्षनन्दी

यह रामनन्दी की गुरु परम्परा के विद्वान् नन्दनन्दी के शिष्य थे। और जीतसार समुच्च के कर्ता वृषभ नन्दी के गुरु भाई थे। अत एव उन्होंने अपने ग्रन्थ प्रशस्ति के 'अनुज हर्षनन्दिना सुलिख्य जीतसार शास्त्रमुज्वलोद्-धृतं ध्वजायते'[1] निम्न वाक्यों में उनका अनुजरूप से उल्लेख किया है। हर्षनन्दी ने जीतसार समुच्च की सुन्दर प्रति लिखकर दी थी। इनका समय विक्रम की दशवीं या ग्यारहवीं शताब्दी का प्रारम्भिक भाग होगा।

महामुनि हेमसेन

यह द्रविड संघस्थ नन्दिसंघ, अरुंगलान्वय के विद्वान् थे जो शास्त्र रूपी समुद्र के पारगामी थे। जिनके वचन रूप वज्राभिघात से प्रवादियों के मदरूपी भूभृत खण्डित हो जाते थे। जैसा कि निम्न पद्यों से जाना जाता है:—

श्रीमद्द्रविल-संघेऽस्मिन् नन्दिसंघेऽस्त्यरुङ्गलः।
अन्वयो भाति योऽशेषः-शास्त्र-वाराशि-पारगः॥
यद्-वाग-वज्राभिघातेन प्रवादि-मद-भूभृतः।
सच्चूर्ण्णितास्तु भातिस्म हेमसेनो महामुनिः॥

ऐसे महामुनि हेमसेन थे। हुम्मच का यह लेख काल निर्देश से रहित है, फिर भी इसे सन् १०७० ई० का कहा जाता है। अतः हेमसेन का समय ईसा की ११वीं शताब्दी का उपान्त्य भाग जान पड़ता है।

भावसेन

यह काष्ठा संघ लाडवागड गच्छ के आचार्य थे। गोपसेन के शिष्य और जयसेन (१०५५) के गुरु थे, जिन्हों

---

१ देखो अनेकान्त वर्ष १४ किरण, १ प० २७ पुराने साहित्य की खोज नाम का लेख

ने सकली करहाटक में धर्मरत्नाकर की रचना की थी । प्रस्तुत भावसेन ११वी शताब्दी के पूर्वार्ध के विद्वान् थे । इनकी कोई कृति प्राप्त नहीं है ।

महाकवि हरिचन्द्र

हरिचन्द्र नाम के अनेक विद्वान हो गए है । एक हरिचन्द्र का उल्लेख चरकसंहिता के टीकाकार के रूप में मिलता है । इनका आनुमानिक समय ईसाकी प्रथम शताब्दी है । कवि बाणभट्ट ने हर्षचरित के प्रारम्भ में भट्टारक हरिचन्द्र का उल्लेख किया है[1] । राजशेखर की काव्य मीमांसा में भी हरिचन्द्र का उल्लेख मिलता है ।[2] गउडवहो में भास, कालिदास और सुबन्धुके साथ हरिचन्द्र का नामोल्लेख आता है[3]। किन्तु प्रस्तुत हरिचन्द्र उक्तकवियों से भिन्न हैं । इन महाकवि हरिचन्द्र का जन्म सम्पन्न परिवार के नोमक वंश में हुआ था । इनके पिता का नाम आर्द्रदेव और माता का नाम रथ्यादेवी था । इनकी जाति कायस्थ थी, परन्तु ये जैनधर्मावलम्बी थे । कवि ने स्वय अपने को अरहन्तभगवान के चरण कमलों का भ्रमर लिखा है । इनके छोटे भाई का नाम लक्ष्मण था । जो इनका आज्ञाकारी भक्त और गृहस्थी का भार वहन करने में समर्थ था । धमशर्माभ्युदय की प्रशस्ति पद्यों से प्रकट है :—

मुक्ताफल स्थिति रलंकृतिषु प्रसिद्धस्तत्रार्द्रदेव इति निर्मल मूर्तिरासीत् ।
कायस्थ एव निरवद्य गुणग्रहः सन्नेकोऽपि यः कलाकुलमशेषमलंचकार ॥२
लावण्याम्बुनिधिः कलाकुलग्रहं सौभाग्य सद्भाग्ययोः, ।
क्रीड़ावेश्मविलासवासवलभी भूषास्पदं संपदाम् ।
शौचाचारविवेकविस्मयमही प्राणप्रिया शूलिनः,
शर्वाणीव पतिव्रता प्रणयिनी रथ्येति तस्याभवत् ॥३
अर्हत्पदाम्भोरुहचञ्चरीकस्तयोः सुतः श्रीहरिचन्द आसीत् ।
गुरुप्रसादामला बभवुः सारस्वते स्रोतसि यस्य वाचः ॥४
भक्तेन शक्तेन च लक्ष्मणेन निर्व्याकुलो राम इवानुजेन ।
याः पारमासादित बुद्धिसेतुः शास्त्राम्बुराशेः परमाससाद ॥५

महाकवि हरिचन्द्र काव्यशास्त्र के निष्णात विद्वान थे । उन्होंने कालिदास के रघुवंश, कुमारसंभव, किरात तथा शिशुपाल वध के साथ चन्द्रप्रभचरित, तत्वार्थ सूत्र, और उत्तर पुराण आदि जैन ग्रन्थों का अध्ययन किया था । यद्यपि उन्होंने अपने से पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं का अवलोकन किया था और उनसे कुछ प्रेरणा भी ग्रहण की है, किन्तु उनके पद वाक्यादि का कोई उपयोग नही किया । क्योंकि कवि की सभी सन्दर्भों में मौलिकता व्याप्त है । सिद्धान्त शास्त्री पं० कैलाशचन्द्र जो ने महाकवि हरिचन्द्र के समय-सम्बन्धि लेखमें धर्मशर्माभ्युदय की वीरनन्दी के चन्द्रप्रभचरित के साथ तुलना करके लिखा है कि दोनों ग्रन्थों में अत्यधिक समानता है तो भी काव्य की दृष्टि से हमें चन्द्रप्रभका धर्मशर्माभ्युदय पर कोई ऋण प्रतीत नही होता । क्योकि महाकवि हरिचन्द्र माघ आदि की टक्कर के कवि हैं[4] ।

महाकवि ने इस महाकाव्य में उन समस्त गुणों का वर्णन किया है जिनका उल्लेख कवि दण्डी ने किया

---

१ पदबन्धो ज्ज्वलोहारी रम्य वर्णपदस्थितिः ।
भट्टारक हरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते ॥ हर्षचरित १—१३ पृ० १०

२ हरिचन्द्र चन्द्रगुप्तौ परीक्षिता विह विशालायाम् ।
—का० मी० अ० १० पृ० १३५
(विहार राष्ट्रभाषा संस्करण, १९५४ ई०)

३ भासम्मि जलणमित्ते कत्ती देवे अजस्स रहुआरे ।
सो बन्धवे अ बंधम्मि हरिचंदे अ आणंदो ॥८००
—गउडवहो भाण्डार कर ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट पूना १९२७ ई० ।

४ देखो, अनेकान्त वर्ष ८ किरण १७-१० पृ० ३७६

है। महाकाव्य में नायक के चरित के प्रसंगानुसार नगर, राजा, उपवन, पर्वत, ऋतुओं, जलक्रीड़ा, सन्ध्या, प्रभात, चन्द्रोदय और रतिविलास आदि प्रकृति की विचित्रताओं और जीवन की अनुभूतियों का वर्णन समाविष्ट करना आवश्यक है। पंडितराज जगन्नाथ ने काव्य के प्राचीन लक्षणों का समन्वय करते हुए काव्य का लक्षण—'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'—रमणीय अर्थ के प्रतिपादन करने वाले शब्द समूह को काव्य-बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि काव्य में रमणीयता केवल अलंकारों से ही नही आती, किन्तु उसके लिए सुन्दर अर्थवाले शब्दों का चयन भी जरूरी है। महाकवि हरिचन्द्र ने इस काव्य में शब्द और अर्थ दोनों को बड़ी सुन्दरता के साथ सजोया है। कवि ने स्वयं लिखा है कि—कवि के हृदय में भले ही सुन्दर अर्थ विद्यमान रहे, परन्तु योग्य शब्दों के बिना वह रचना में चतुर नही हो सकता। जैसे कुत्ता को गहरे पानी में भी खड़ा कर दिया जाय तो भी वह जब पानी पीयेगा तब जीभ से ही चाट-चाट कर पीयेगा। अन्य प्रकार से उसे पीना नही आता। यथा—

अर्थेहृदि स्थेऽपिकवि न कश्चिन्नि ग्रन्थिगीगुम्फविचक्षणः स्यात्।
जिह्वाञ्चलस्पर्शमपास्य पातु श्वा नान्यथाम्भो घनमप्यवैति ॥१४

सुन्दर शब्द से रहित शब्दावली भी विद्वानों के मन को आनन्दित नहीं कर सकती। जिस प्रकार थूवरसे झरती हुई दुग्ध की धारा नयनाभिराम होने पर भी मनुष्यों के लिये रुचिकर नही होती।

हृद्यार्थवन्ध्या पर बन्धुरापि वाणीबुधानां न मनो धिनोति ॥
न रोचते लोचन वल्लभापि स्नुही, क्षरत्क्षीरसरिन्नरेभ्यः ॥१५

कवि कहता है कि शब्द और अर्थ से परिपूर्ण वाणी ही वास्तवमें वाणी है, और वह बड़े पुण्य से किसी विरले कवि को ही प्राप्त होती है। चन्द्रमा को छोड़ कर अन्य किसी की किरण अन्धकार की विनाशक और अमृत झराने वाली नही है। सूर्यकी किरणे केवल अन्धकार की नाशक है, किन्तु भीषण आताप को भी कारण है। यद्यपि मणि किरणे आतापजनक नही है, किन्तु उनमें सर्वत्र व्याप्त अन्धकार को दूर करने की क्षमता नही है। यह उभय क्षमता विधिचन्द्र किरण में ही उपलब्ध होती है।

वाणी भवेत्कस्यचिदेव पुण्यैः शब्दार्थसन्दर्भविशेषगर्भा।
इन्दुं विना न्यस्य न दृश्यते द्युत्तमोधुनाना च सुधाधुनीव ॥१६

महाकवि हरिचन्द्र के इस महाकाव्य में वे समस्त लक्षण पाये जाते है जिन गुणों की शास्त्रकार काव्य में स्थिति आवश्यक बतलाते हैं। इस चरित ग्रन्थ में महनीयता के साथ चमत्कारों का वर्णन पूर्णतया समाविष्ट हुआ है।

मंगल स्तवन के पश्चात् सज्जन-दुर्जन वर्णन, जम्बूद्वीप, सुमेरु पर्वत, भारतवर्ष, आर्यावर्त, रत्नपुरनगर, राजा, मुनि वर्णन, उपदेश, श्रवण, दाम्पत्यसुख, पुत्र प्राप्ति, बाल्य जीवन, युवराज अवस्था, विन्ध्याचल, षट्ऋतु, पुष्पावचय, जलक्रीड़ा, सन्ध्या, अन्धकार, चन्द्रोदय, नायिका प्रसाधन, पानगोष्ठी, रतिक्रीड़ा, प्रभात, स्वयंवर, विवाह, युद्ध, और वैराग्य आदि का विविध उपमानों द्वारा सरस और सालंकार कथन दिया है।

कवि ने धर्मनाथ तीर्थंकर के चरित्र को साहित्यिक दृष्टि से गौरवशाली बनाया है। कवि ने धर्मनाथ का जीवन-परिचय गुणभद्राचार्य के उत्तर पुराण से लिया है। कवि ने स्वयं लिखा है कि जो रसरूप और ध्वनि के मार्ग का मुख्य सार्थवाह था, ऐसे महाकवि ने विद्वानों के लिये अमृतरसके प्रवाह के समान यह धर्मशर्माभ्युदय नामका महा काव्य बनाया है:—

सकर्ण पीयूषरसप्रवाहं रसध्वनेरध्वनि सार्थवाहः।
श्री धर्मशर्माभ्युदया विधानं महाकविः काव्यमिदं व्यधत्त ॥ —प्रशस्ति पद्य ७

धर्मशर्माभ्युदय में २१ सर्ग और १८६५ श्लोक है जिनमें कवि ने १५वें तीर्थंकर धर्मनाथ का पावन चरित काव्य दृष्टि से अंकित किया है। काव्य में लिखा है कि धर्मनाथ महासेन और सुव्रता रानी के पुत्र थे[1]। उनका

१. तिलोय पण्णत्ती मे धर्मनाथतीर्थंकर को भानु नरेन्द्र और सुव्रतारानी का पुत्र बतलाया है :—
रयणपुरे धम्मजिणो भाणुणरिंदेण सुव्वदाएण ॥

जन्म माघ शुक्ला त्रयोदशी के दिन पुष्य नक्षत्र में हुआ था। वे जन्म से ही तीन ज्ञान के धारक थे। वे बड़े भाग्यशाली और पुण्यात्मा थे। एक हजार आठ लक्षणों के धारक थे। उनके गर्भ में आने से पूर्व ही जन्म समयतक कुबेर ने १५ मास तक रत्नवृष्टि की, उससे नगर जन-धन से सम्पन्न हो गया था। उसकी समृद्धि और शोभा द्विगुणित हो गई थी। इन्द्रादिक देवों ने उनका जन्मोत्सव मनाया। बालक का शरीर दिन पर दिन वृद्धि करता हुआ युवावस्था को प्राप्त हुआ। उन्होंने पांच लाख वर्ष तक सांसारिक सुखों का उपभोग किया।

एक दिन उल्कापात को देख कर उन्हें देह-भोगों से विरक्ति हो गई। उन्होंने संसार की असारता का अनुभव किया और निश्चय किया कि यह जीवन बिजली की चंचल तरंगों के समान अस्थिर है, विनाशीक है। यह शरीर चर्मरूपी चादर के द्वारा ढका हुआ होने से सुन्दर प्रतीत होता है। परन्तु यह मलमूत्र से भरा हुआ है, दुर्गन्धित एवं अपवित्र है। चर्बी मज्जा और रुधिर से पंकिल है। यह कर्मरूपी चाण्डाल के रहने का घर है, जिससे दुर्गन्ध निकलती रहती है। ऐसे घृणित शरीर से कौन बुद्धिमान राग करेगा? मैं तपश्चरण द्वारा कर्म रूपी समस्त पापों को नष्ट करने का प्रयत्न करूंगा। भगवान ऐसा चिन्तवन कर ही रहे थे कि लौकान्तिक देव आगये। और उन्होंने भगवान के वैराग्य को पुष्ट किया, और कहा कि जो आपने विचार किया है वह श्रेष्ठ है। उन्होंने पुत्र को राज्य भार देकर इन्द्रों द्वारा उठाई गई शिविका में आरूढ़ हो सालवन की ओर प्रस्थान किया, और वहाँ बेला का नियम लेकर पंच मुट्ठियों से केशों का लोच कर डाला। और माघ शुक्ला त्रयोदशी को पुष्य नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ वस्त्राभूषणों का परित्याग कर दिगम्बर मुद्रा धारण की[1]।

भगवान धर्मनाथ ने पाटलिपुत्र के राजा धन्यसेन के घर हस्तपात्र में क्षीरान्न की पारणा की तब देवों ने पंचाश्चर्य की वृष्टि की। और फिर वन में नासाग्र दृष्टि हो कायोत्सर्ग में स्थित हो गए। उन्होंने कठोर तपश्चरण द्वारा तेरह प्रकार के चारित्र का अनुष्ठान किया और मन-वचन कायरूप गुप्तियों का पालन करते हुए उन्होंने समितिरूपी अर्गलाओं से अपने को संरक्षित किया। उनकी दृष्टि निन्दा प्रशंसा में, शत्रु-मित्र में और तृण काञ्चन में समान थी। उन्होंने बड़ी कठिनाई से पकने योग्य कर्मरूपी लताओं के फलों को अन्तर्वाह्य रूप तपश्चरणों की ज्वाला से पकाया और वे प्रशंसनीय तपस्वी हो गए। वे व्यामोह रहित थे, निर्मद निष्परिग्रह, निर्भय और निर्मम थे। इस तरह वे छद्मस्थ अवस्था में एक वर्ष तक घोर तप का आचरण करते हुए दीक्षा वन में पहुँचे, और सप्तपर्ण वृक्ष के नीचे स्थित हो शुक्ल ध्यान का अवलम्बनकर स्थित हुए। उन्होंने माघ मास की पूर्णिमा के दिन घाति कर्म का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया[2]। इन्द्रादिक देवोंने आकर उनके केवल ज्ञान कल्याणक की पूजा की। भगवान धर्मनाथ ने दिव्य ध्वनि द्वारा जगत का कल्याण करने वाला उपदेश दिया। और विविध देशों, नगरों में विहार कर लोक कल्याण कारी धर्म का प्रसार किया—जनता को सन्मार्ग में लगाया। अन्त में संघ सहित सम्मेदाचल पर पहुँचे, वहाँ चैत्र शुक्ला चतुर्थी को ८०९ मुनियों के साथ साढ़े बारह लाख वर्ष प्रमाण आयु का और अवशिष्ट अघाति कर्मों का विनाशकर सिद्ध पद को प्राप्त किया। यथा—

तत्रासाद्य सितांशुभोगसुभगां चैत्रे चतुर्थीं तिथिं,
यामिन्यां स नवोत्तरैर्यमवतां साकं शतैरष्टभिः।
सार्धं द्वादशवर्षलक्षपरमा रम्यायुषः प्रक्षये,
ध्यानध्वस्त समस्तकर्म निगलो जातस्तदानीं क्षणात्॥१८४

इस तरह यह काव्य ग्रन्थ अपनी सानी नहीं रखता, बड़ा ही महत्वपूर्ण मनोहर और हृदयाग्रही काव्य है।

---

१ प्रालेयांशौ पुष्य मैत्री प्रयाते माघे शुक्ला या त्रयोदश्यनिन्द्या।
धर्मस्तस्यामात्तदीक्षोऽपराह्णे जातः क्षोणीभृत्सहस्रेण सार्धम्॥ ३१ —धर्मशर्माभ्युदय २०-३१

२ छद्मस्थोऽसौ वर्षमेकं विहृत्य प्राप्तो दीक्षाकाननं शालरम्यम्।
देवो मूले सप्तपर्णद्रुमस्य ध्यानं शुक्लं सम्यगालम्ब तस्थौ॥ ५६
माघे मासे पूर्णमास्यां स पुष्ये कृत्वा धर्मो घाति कर्मव्यपायम्।
उत्पादान्तध्रौव्यवस्तुस्वभावोद्भासिज्ञानं केवलं स प्रपेदे॥ ५७

रचनाकाल

महाकवि हरिचन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदाय में उसका रचनाकाल नहीं दिया। इससे उसके रचनाकाल के निश्चित करने में बड़ी कठिनाई हो रही है। धर्मशर्माभ्युदय की सबसे पुरातन प्रतिलिपि सं० १२८७ सन् १२३० ई०) की संघवी पाड़ा पुस्तक भण्डार पाटण में उपलब्ध है। उस प्रति के अन्त में लिखा है कि—"१२८७ वर्षे हरिचन्द्र कवि विरचित धर्मशर्माभ्युदयकाव्य पुस्तिकाश्रीरत्नाकरसूरिआदेशेनकीतिचंद्रगणिना लिखित मिति भद्रम्।।" इससे इतना तो स्पष्ट है कि धर्मशर्माभ्युदय सन् १२३० के पूर्व की रचना है, उसके बाद की नहीं।

पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने अनेकान्त वर्ष ८ किरण १०-११ में वीरनन्दी आचार्य के चन्द्रप्रभ चरित के साथ धर्मशर्माभ्युदय की तुलना द्वारा दोनों की अत्यधिक समानता बतलाई थी, पर उनमें साहित्यिक ऋण नहीं है। किन्तु हरिचन्द्र के सामने चन्द्रप्रभ जरूर रहा है। चन्द्रप्रभ चरित की रचना सं० १०१६ के लगभग हुई है। क्योंकि वीरनन्दी अभयनन्दी के शिष्य थे। और गोम्मटसार के कर्त्ता नेमिचन्द्र सि० चक्रवर्ती भी अभयनन्दी के शिष्य थे। किन्तु वीरनन्दी और इन्द्रनन्दी नेमिचन्द्र के ज्येष्ठ गुरु भाई थे। चामुण्डराय उस समय विद्यमान थे और गोम्टसार की रचना उनके प्रश्नानुसार हुई थी। चामुण्डराय ने अपना पुराण शक सं० ९०० (वि०सं० १०३५) में बनाकर समाप्त किया था। अतः प्रस्तुत धर्मशर्माभ्युदय ११वीं शताब्दी की रचना है। वहां यह भी विचराणीय है कि नेमि-निर्वाण काव्य और धर्मशर्माभ्युदय दोनों में एक दूसरे का प्रभाव परिलक्षित है। और नेमिनिर्वाण काव्य के अनेक पद्यकवि वाग्भट ने वाग्भट्टालंकार में उद्धृत किये है। वाग्भट्टालंकार का रचना काल वि० स० ११५५ से ११९७ के मध्य का है। अतः नेमिनिर्वाण काव्य की रचना वाग्भट्टालंकार से पूर्ववर्ती है। अर्थात् वह विक्रम की ११ शताब्दी के मध्यकाल की रचना है।

कवि की दूसरी कृति **जीवंधरचम्पू** है। यह गद्य-पद्यमय चम्पू काव्य है इसमें भगवान महावीर के समकालीन होने वाले राजा जीवंधर का पावन चरित अंकित किया गया है। जीवंधर चम्पू के इस कथानक का आधार वादीभ सिंह की क्षत्रचूड़ामणि और गद्यचित्तार्माण है। यह चम्पू काव्य सरस और सुन्दर है। रचना प्रौढ और सालंकार है। क्षत्र चूड़ामणि के समान ही इसमें ११ लम्ब हैं। कवि ग्रन्थ रचना में अत्यन्त कुशल है उसकी कोमल कान्त पदावली रस और अलंकार की पुटने उसे अत्यन्त आर्कषक बना दिया है। इसमें कवि की नैसर्गिक प्रतिभा का अलौकिक चत्मकार दृष्टिगत होने लगता है। रचना सौष्ठव तो देखते ही बनता है। इसकी रचना कब हुई इसका निश्चय करना सहज नही है। ग्रन्थ महत्वपूर्ण है। यह ग्रन्थ पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य की संस्कृत और हिन्दी टीका के साथ भारतीयज्ञान पीठ से प्रकाशित हो चुका है।

ब्रह्मदेव

ब्रह्मदेव ने अपना कोई परिचय नही दिया, और न अपनी टीकाओं में अपनी गुरु परम्परा का ही उल्लेख किया है। इससे उनकी जीवन-घटनाओं का परिचय देना शक्य नहीं है। ब्रह्मदेव की दो टीकाएं उपलब्ध हैं। वृह द्रव्य संग्रह टीका और परमात्म प्रकाश टीका।

वृहद्द्रव्य संग्रह वृत्ति का उत्थानिका वाक्य इस प्रकार है—

"अथ मालवदेशे धारा नाम नगराधिपति राजाभोजदेवाभिधानकलिकालचक्रवर्तो सम्बन्धिनः श्रीपाल महामण्डलेश्वरस्य सम्बन्धिन्याश्रमनामनगरे श्री मुनिव्रत तीर्थकर चैत्यालये शुद्धात्म द्रव्य संवित्ति समुत्पन्न सुखामृत-रसास्वादविपरीतनारकादि दुःख भयभीतस्य परमात्मभावनोत्पन्न सुखसुधारस पियासितस्य भेदाभेद रत्नत्रय भावना प्रियस्य भव्यवरपुण्डरीकस्य भाण्डागाराद्यनेकनियोगधिकारिसोमाभिधान राजश्रेष्ठिनो निमित्तं श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त देवैः पूर्व षड्विंशति गाथा भिर्लघु द्रव्यसंग्रहं कृत्वा पश्चाद्विशेषतत्वपरिज्ञानार्थं विरचितस्य द्रव्य संग्रहस्याधिकार शुद्धि पूर्वकत्वेन व्याख्यावृत्तिः प्रारम्यते।"

उत्थानिका की इन पंक्तियों में बतलाया गया है कि द्रव्य संग्रह ग्रन्थ पहले २६ गाथा के लघुरूप में नेमि-चन्द्र सिद्धान्त देव के द्वारा 'सोम' नामक राजश्रेष्ठि के निमित्त आश्रम नामक नगर के मुनि सुव्रत चैत्यालय में रचा

गया था। पश्चात् विशेष तत्त्व के परिज्ञानार्थ उन्हीं नेमिचन्द्र के द्वारा द्रव्य संग्रह की रचना हुई है। उसकी अधिकारों के विभाजन पूर्वक यह व्याख्या या वृत्ति प्रारम्भ की जाती है। साथ में यह भी सूचित किया है कि उस समय आश्रम नामका यह नगर श्रीपाल महामण्डलेश्वर (प्रान्तीय शासक) के अधिकार में था। और सोम नाम का राजश्रेष्ठी भाण्डागार (कोष) आदि अनेक नियोगों का अधिकारी होने के साथ-साथ तत्त्वज्ञान रूप सुधारस का पिपासु था। वृत्तिकार ने उसे 'भव्यवरपुण्डरीक' विशेषण से उल्लेखित किया है, जिससे वह उस समय के भव्य पुरुषों में श्रेष्ठ था।

ब्रह्मदेव आश्रम नाम के नगर में निवास करते थे। जिसे वर्तमान में केशोराय पाटन के नाम से पुकारते हैं। यह स्थान मालव देश में चम्बल नदी के किनारे कोटा से ६ मील दूर और बूंदी से तीन मील दूर अवस्थित है। जो अस्सारम्म पट्टण [1] आश्रम पत्तन, पत्तन, पुट भेदन, केशोराय पाटन और पाटन नाम से प्रसिद्ध है। यह स्थान परमारवंशी राजाओं के राज्यकाल में रहा है। चर्मणवती (चम्बल) नदी कोटा और बूंदी की सीमा का विभाजन करती है। इस चम्बल नदी के किनारे बने हुए मुनिसुव्रतनाथ के चैत्यालय में जो, उस समय एक तीर्थ स्थान के रूप में प्रसिद्ध था। और वहां अनेक देशों के यात्रीगण धर्मलाभार्थ पहुँचते थे। 'सोमराजश्रेष्ठी भी वहां आकर तत्त्वचर्चा का रस लेता था। वह स्थान उस समय पठन-पाठन और तत्त्वचर्चा का केन्द्र बना हुआ था। उस चैत्यालय में बीसवें तीर्थंकर मुनि सुव्रतनाथ की श्यामवर्ण की मानव के आदमकद से कुछ ऊंची सातिशय मूर्ति विराजमान है। यह मन्दिर आज भी उसी अवस्था में मौजूद है। इसमें श्यामवर्ण की दो मूर्तियाँ और भी विराजमान हैं। सरकारी रिपोर्ट में इसे 'भुई-देवरा' के नाम से उल्लेखित किया गया है।

विक्रम की १३ वी शताब्दी के विद्वान मुनि मदनकीर्ति ने अपनी शासन चतुस्त्रिंशतिका के २८वें पद्य में आश्रम नगर की मुनिसुव्रत-सम्बन्धि ऐतिहासिक घटना का उल्लेख किया है—

पूर्व याऽऽश्रममाजगाम सरिता नाथास्तुदिव्या शिला।
तस्यां देवागणान् द्विजस्य दधतस्तस्थौ जिनेशः स्वयं।
कोपात् विप्रजनावरोधनकरै दैवैः प्रपूज्याम्बरे।
दध्रे यो मुनिसुव्रतः स जयतात् दिग्वाससां शासनम्॥२८॥

इसमें बतलाया गया है कि जो दिव्य शिला सरिता से पहले आश्रम को प्राप्त हुई। उस पर देवगणों को धारण करने वाले विप्रों के द्वारा क्रोध वश अवरोध होने पर भी मुनिसुव्रत जिन स्वयं उस पर स्थित हुए—वहां से फिर नहीं हटे। और देवों द्वारा आकाश में पूजित हुए वे मुनिसुव्रत जिन! दिगम्बरों के शासन की जय करें।

आश्रम नगर की यह ऐतिहासिक घटना उसके तीर्थ भूमि होने का स्पष्ट प्रमाण है। इसीसे निर्वाण काण्ड की गाथा में उसका उल्लेख हुआ है। यह घटना १३वीं शताब्दी से बहुत पूर्व घटित हुई है। और ब्रह्मदेव जैसे टीकाकार, सोमराज श्रेष्ठी और मुनि नेमिचन्द्र जैसे सैद्धान्तिक विद्वान वहाँ तत्त्वचर्चा गोष्ठी में शामिल रहे हैं। द्रव्य संग्रह की वृत्ति में ब्रह्मदेव ने **'अत्राह-सोमाभिधान राजश्रेष्ठी'** जैसे वाक्यों द्वारा टीकागत प्रश्नोत्तरों का सम्बन्ध व्यक्त किया है। क्योंकि नामोल्लेखपूर्वक प्रश्नोत्तर बिना समक्षता के नहीं हो सकते। सुन सुनाकर ऐसा प्रश्नोत्तर लिखने का रिवाज मेरे अवलोकन में नहीं आया। ब्रह्मदेव का उक्त घटना निर्देश और लेखन शैली घटना की साक्षी को प्रकट करती है। और उक्त तीनों व्यक्तियों की सानिध्यता का स्पष्ट उद्घोष करती है।

वृत्तिकार ब्रह्मदेव ने उसी आश्रम पत्तन के मुनिसुव्रत चैत्यालय में अध्यात्मरस गर्भित द्रव्य संग्रह की महत्वपूर्ण व्याख्या की है। ब्रह्मदेव अध्यात्मरस के ज्ञाता थे। और प्राकृत संस्कृत तथा अपभ्रंश भाषा के विद्वान थे। सोम नाम के राजश्रेष्ठी, जिसके लिये मूल ग्रन्थ और वृत्ति लिखी गई, अध्यात्मरस का रसिक था। क्योंकि वह शुद्धात्मद्रव्य की संवित्ति से उत्पन्न होने वाले सुखामृत के स्वाद से विपरीत नारकादि दुःखों से भयभीत, तथा परमात्मा की भावना से उत्पन्न होने वाले सुधारस का पिपासु था, और भेदाभेदरूप रत्नत्रय (व्यवहार तथा

१. अस्सारम्मे पट्टणि मुणिसुव्वयजिणं च वंदामि। निर्वाण काण्ड, मुणिसुव्व उजिण तह आसरम्मि। निर्वाण भक्ति

निश्चय रत्नत्रय) की भावना का प्रेमी था। ये तीनों ही विवेकी जन समकालीन और उस आश्रम स्थान में बैठकर तत्त्वचर्चा में रस लेने वाले थे। उपरोक्त घटना-क्रम धाराधिपति राजा भोज के राज्यकाल में घटित हुआ है। भोजदेव का राज्यकाल सं० १०७० से ११११० तक रहा है। द्रव्यसंग्रह और उसकी वृत्ति उसके राज्यकाल में रची गई है।

मूल द्रव्य संग्रह ५८ गाथात्मक है। उसमें जीव अजीव, धर्म, अधर्म आकाश और काल इन छः द्रव्यों का समूह निर्दिष्ट है। इस कृति का निर्माण आचार्य कुन्दकुन्द के पचास्तिकाय प्राभृत से अनुप्राणित है उसी का दोहन रूप सार उसमें संक्षिप्त रूप में अंकित है। वृत्तिकार ने मूल ग्रन्थ के भावों का उदघाटन करते हुए जो विशेष कथन दिया है और उसे ग्रन्थान्तरों के प्रमाणों के उद्धरणों से द्वारा पुष्ट किया है। टीका में अध्यात्म की जोरदार पुट अंकित है। उससे टीका केवल पठनीय ही नहीं किन्तु मननीय भी हो गई है। ओर स्वाध्याय प्रेमियों के लिये अत्यन्त उपयोगी है।

वृत्ति में सोमराज श्रेष्ठी के दो प्रश्नों का उत्तर नामोल्लेख के साथ दिया गया है। यदि टीकाकार के समक्ष सोमराज श्रेष्ठी न होते तो उनका नाम लिये बिना ही प्रश्नों का उत्तर दिया जाता। चूंकि वे उस समय विद्यमान थे, इसी से उनका नाम लेकर शंका समाधान किया गया है। पाठकों की जानकारी के लिये उसका एक नमूना नीचे दिया जाता है :—

सोमराज श्रेष्ठी प्रश्न करता है कि हे भगवन्! केवलज्ञान के अनन्त वे भाग प्रमाण आकाश द्रव्य है और उस आकाश के अनन्तवे भागमें सबके बीच में लोक है, वह लोक काल की दृष्टि से आदि अन्त रहित है, वह किसी का बनाया हुआ नही है। ओर न कभी किसी ने नष्ट किया है, किसी ने उसे न धारण किया है, और न कोई उसका रक्षक ही है। लोक असंख्यात प्रदेशी है। उस असंख्यात प्रदेशी लोक में अनन्त जीव ओर उनसे अनन्तगुणे पुद्गल परमाणु, लोकाकाश प्रमाण कालाणु, धर्म तथा अधर्म द्रव्य कैसे रहते हैं?

इस शंका का समाधान करते हुए ब्रह्म देव ने कहा है कि जिस तरह एक दीपक के प्रकाश में अनेक दीपकों का प्रकाश समा जाता है, अथवा एक गूढ रस भरे हुए शीशे के बर्तन में बहुत सा सुवर्ण समा जाता है। अथवा भस्म से भरे हुए घट में सुई और ऊटनी का दूध समा जाता है। उसी तरह विशिष्ट अवगाहन शक्ति के कारण असंख्यात प्रदेश वाले लोक में जीव पुद्गलादिक समा जाते हैं। इसमें कोई विरोध नहीं आता। यह प्रश्नोत्तर उनके साक्षात्-कारित्व का संसूचक है ही।

ब्रह्मदेव की वृत्ति के कारण द्रव्य संग्रह की महत्ता बढ़ गई, उन्होंने उसकी विशद व्याख्या द्वारा चार चांद लगा दिये। अतः द्रव्यसंग्रह की यह टीका महत्व पूर्ण है।

परमात्म प्रकाश टीका—परमात्म प्रकाश की ब्रह्मदेव की यह टीका जहां दोहों का सामान्य अर्थ प्रकट करती है, वहां वह दोहों का केवल अर्थ ही प्रकट नहीं करती बल्कि उनके अन्तः रहस्य का भी उद्भावन करती है। ब्रह्मदेव ने योगीन्द्रदेव की अध्यात्मिक कृति का निश्चय की दृष्टि से कथन किया है। किन्तु परमात्म प्रकाश की यह टीका द्रव्यसंग्रह की टीका के समान कठिन नहीं है। टीकाकार सरल शब्दों में उसका रोचक वर्णन करते हैं, और उसे ग्रन्थान्तरों के उदाहरणों से पुष्ट भी करते हैं। यह सच है कि यदि परमात्म प्रकाश पर ब्रह्मदेव की यह वृत्ति न होती तो वह इतना प्रसिद्ध नही हो सकता था। ब्रह्मदेव की यह टीका उसको विशेष ख्याति का कारण है। टीका के अन्त में टीकाकार ने लिखा है कि इस टीका का अध्ययन कर भव्य जीवों को विचार करना चाहिये कि मैं शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव निर्विकल्प हूं, उदासीन हूं, निजानन्द निरंजन शुद्धात्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप निश्चय रत्नत्रयमयी निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न वीतराग सहजानन्दरूप आत्मानुभूति मात्र स्वसंवेदन ज्ञान से गम्य हूं। अन्य उपायों से नहीं। और निर्विकल्प निरंजन ज्ञान द्वारा ही मेरी प्राप्ति है, राग, द्वेष, मोह क्रोध मान, माया, लोभ, पंचेन्द्रियों के विषय, द्रव्य कर्म, नो कर्म, भाव कर्म, ख्याति लाभ पूजा, देखे सुने और अनुभव किये भोगों की वांछा रूप निदानादि शल्यत्रय के प्रपंचोंसे रहित हूं तीन लोक तीन काल में मन वचन काय, कृत, कारित अनुमोदनाकर शुद्ध निश्चय से मैं ऐसा आत्माराम हूं। यह भावना मुमुक्षु जीवों के लिये बहुत उपयोगी है। इसका निरन्तर मनन करना आवश्यक है।

रचना काल

ब्रह्मदेव ने अपनी टीकाओं मे उनका रचना काल नही दिया, और न अपनी गुरुपरम्परा का ही उल्लेख किया है। इससे टीकाओं के रचना काल के निर्णय करने मे कठिनाई हो रही है।

द्रव्यसंग्रह की सबसे पुरातन प्रतिलिपि स० १४१६ की लिखी हुई जयपुर के ठोलियो के मन्दिर के शास्त्र-भंडार में उपलब्ध है, जो योगिनीपुर दिल्ली मे फीरोजशाह तुगलक के राज्य काल मे अग्रवाल वंशी भरहपाल ने लिखवाई थी।[1] इससे इतना तो स्पष्ट है कि उक्त टीका स० १४१६ से बाद की नही है किन्तु पूर्ववर्ती है। क्योंकि इसका निर्माण धारा नगरी के राजा भोज के राज्यकाल मे हुआ है। राजा भोज का राज्य काल स० १०७० से ११११ तक रहा है। स० १०७६ और १०७९ के उसके दो दान पत्र भी मिले है। इससे द्रव्य संग्रह की टीका विक्रम की ११ वी शताब्दी के उपान्त्य और १२ वी के प्रारम्भ मे रची गई है। यही निष्कर्ष टीका में उद्धृत ग्रन्थान्तरो के अवतरणो से भी स्पष्ट होता है। दोनों टीकाओं मे अमतचन्द्र, रामसिंह, अमितगति प्रथम चामुण्डराय, इड्ढा और प्रभाचन्द्र आदि के ग्रथो के अवतरण मिलते है, जो विक्रम की १० वी और ग्यारहवी शताब्दी के विद्वान् है। इससे भी ब्रह्मदेव की टीकाओं का वही समय निश्चित होता है, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। अतः ब्रह्मदेव का समय ११ वी शताब्दी का उपान्त्य और १२ वो का प्रारम्भिक भाग है।

त्रिभुवनचन्द्र

मूलसघ नन्दिसघ बलात्कार गण के विद्वान थे गुरु परम्परा मे वर्धमान, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि, गुणकीर्ति, विमलचन्द्र, गुणचन्द्र, अभय नन्दि, सकलचन्द्र, गण्डविमुक्त और त्रिभुवनचन्द्र के नाम दिये है।

धारवाड जिले के अण्णिगेर और गावरवाड ग्रामों मे प्राप्त दो विस्तृत शिलालेख मिले है। इनमे कल्याणी के चालुक्य राजा सोमेश्वर (द्वितीय) के समय मे सन० १०७०-७१ में मूलसघ नन्दिसघ बलात्कार गण के आचार्य त्रिभुवनचन्द्र को दान दिये जाने का वर्णन है। यह दान गग राजा बूतुग (द्वितीय) द्वारा अण्णिगेरे मे निर्मित गग-पेर्माडि जिनालय के लिये दिया गया था। चोल राजाओ के आक्रमण मे प्राप्त क्षति को दूर कर राजा सोमेश्वर ने पुनः यह दान दिया था। अतएव त्रिभुवन चन्द्र का समय ईसा की ११ वी शताब्दी का उत्तरार्ध है।

एपिग्राफिया इंडिका भा० १५ पृ० ३३७

रामसेन

प्रस्तुत रामसेन मूलसघ, सेनगण ओर पोगरिगच्छ के विद्वान् गुणभद्र व्रतीन्द्र के शिष्य थे। इन्हे प्रतिकण्ठ सिगय्यने अपने शासक वम्मदेव का प्रार्थना पत्र देकर त्रिभुवन मल्ल देव से चालुक्य विक्रम वर्ष २ सन् १०७७ ई० में चालुक्य गग पेर्म्मानडि जिनालय की, जिन पूजा अभिषेक और ऋषि आहारदानादि के लिये गाव का दान दिया गया था। अतः इन रामसेन का समय ईसा की ११ वी शताब्दी है।

दयापाल मुनि

मुनिदयापाल २ द्रविड सघस्थ नन्दि सघ अरुङ्गलान्वय के विद्वान थे। इनके गुरुका नाम मतिसागर था।

---

१ सवत १४१६ वर्षे भाद्रवासुदी १३ गरौ दिने श्रीमद्योगिनी पुरे सकल राज्य शिरोमुकुट माणिक्य मरीचिकृत चरणकमल पादपीठस्य श्रीपत् पेरोजसाहे सकलसाम्राज्यधुराविभ्राणस्य समये वर्तमाने श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये मूलसघ सरस्वती गच्छे बलात्कार गणे भट्टारक रत्नकीर्ति तरुण तरुणित्वमुर्वीमुर्वीण श्री प्रभाचन्द्राणा तस्य शिष्य ब्रह्मनाथू पठनार्थं अग्रोत्कान्वये गोइल गोत्रे भरथल वास्तव्य परम श्रावक साधु साउ भार्या वीरो तयो पुत्र साधु ऊधस भार्या बालही तस्य पुत्र कुलधर भार्या पारागरहि तस्य पुत्र भरहपाल भार्या लोवाही श्री भरहपाल लिखापित कर्मक्षयार्थं। कनकदेव पडित लिखतम् शुभं भवतु।

२. हितैषिणा यस्य नृणामुदात्तवाचा निवद्धाहित-रूपसिद्धिः।
वद्यो दयापाल मुनिः सवाचा सिद्धस्सतामूर्द्धनि यः प्रभावैः।

—श्रवणवेलगोल ५४ वा शिला लेख

यह कनकसेनके शिष्य और वादिराजके सधर्मा गुरुभाई थे। इनकी रूप सिद्धि नामकी एक छोटी-सी रचना है।[1] चूंकि वादिराज ने पार्श्वनाथ चरित्र की रचना शक सं० ९४७ (वि० सं० १०८०) में की है। अतः यही समय दयापाल मुनि का है। यह रचना प्रकाशित हो चुकी है।

जयसेन

प्रस्तुत जयसेन लाड बागडसंघ के विद्वान थे। यह गुणी, धर्मात्मा शमी भावसेनसूरि के शिष्य थे। जो समस्त जनता के लिये आनन्द जनक थे। जैसा कि उनके सकल जनानन्द जनकः' वाक्य से प्रकट है। इसी लाड बागड संघ के विद्वान नरेन्द्रसेन ने सिद्धान्तसार की प्रशस्ति में भावसेन के शिष्य जयसेन को तपरूपी लक्ष्मी के द्वारा पाप-समूह का नाशक, सत्तर्क विद्यार्णव के पारदर्शी और दयालुओं के विश्वास पात्र बतलाया है, जैसा कि सिद्धान्तसार प्रशस्ति के निम्न पद्य से स्पष्ट है :

ख्यातस्ततः श्रीजयसेननामा जातस्तपः श्रीक्षतदुःकृतौघः ।
यः सत्तर्कविद्यार्णवपारदृश्वा विश्वासगेहं करुणास्पदानां ॥

इन्हों ने धर्मरत्नाकर' नाम के ग्रन्थ की रचना की है, जो एक सग्रह ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का प्रति पाद्य विषय गृहस्थ धर्म है, जो प्रत्येक गृहस्थ द्वारा आचरण करने योग्य है। ग्रन्थ में गृहस्थों के अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत रूप द्वादशव्रतों के अनुष्ठानका विस्तृत विवेचन दिया हुआ है। ग्रन्थ मे बीस प्रकरण या अध्याय हैं। जिनमें विवेचित वस्तु को देखने और मनन करने मे उसे धर्म का सद् रत्ना कर अथवा धर्मरत्ना कर कहने में कोई अत्युक्ति मालूम नहीं होती। वह उसका सार्थक नाम जान पड़ता है। ग्रन्थ मे कवि ने अमृतचन्द्राचार्य के पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, गुण-भद्रा चार्य के आत्मानुशासन और यशस्तिलक चम्पू आदि ग्रन्थों के पद्यों को संकलित किया है। इससे यह एक संग्रह ग्रन्थ मालूम होता है। जिसे ग्रन्थ कारने अपने और दूसरे ग्रन्थों के पद्य-वाक्य-रूप कुसुनों का संग्रह करके माला की तरह रचा है। ग्रन्थ कर्ता ने स्वयं इस की सूचना ग्रन्थ के अन्तिम पद्य ६० में—"**इत्येतैरुपनीत विचित्र रचनैः स्वैरन्यदीयै रपि। भूतोद्य गुणैस्तथापि रचिता मालेव सेयं कृतिः**"। वाक्य द्वारा की है।

जयसेन ने अपनी गुरुपरम्परा का निम्न रूप में उल्लेख किया है। धर्मसेन, शान्तिषेण, गोपसेन, भावसेन और जयसेन। ये सब मुनि उक्त लाडवागड सघ के थे। जयसेन ने धर्मरत्नाकर की रचना का उल्लेख निम्न प्रकार किया है :—

वाणेन्द्रिय-व्योम-सोम-मिते संवत्सरे शुभे ।
ग्रन्थोऽयं सिद्धतां यात सकली करहाटके ॥

इससे प्रस्तुत जयसेन का समय विक्रम की ११ वीं शताब्दी का मध्य काल है।

बाहुबलि आचार्य

यह मूलसंघ, देशीयगण, पुस्तकगच्छ कुन्दकुन्दान्वय के विद्वान इन्द्रनन्दि के शिष्य थे। हुन गुन्द (बीजापुर मैसूर) के ११ वी शताब्दी के उत्तरार्ध के शिलालेख में इनके द्वारा एक जैनमन्दिर बनवाने और उसमंदिर के लिये कुछ भूमि दान देने का उल्लेख है इनका समय विक्रम की ११वीं सदी का उत्तरार्ध है।

---

१. ...... कनकसेन भट्टारकवरशिष्यर शब्दानुशासनक्के प्रक्रियेयेन्दु
रूपसिद्धिय माडिद दयापालदेवरू पुष्पषेण सिद्धान्तदेवरूम्
—जैनलेखसं०भा० २ पृ० २९५

शब्दानुशासनस्योच्चैररूपसिद्धिर्म्महात्मना ।
कृता येन स बाभाति दयापालो मुनीश्वरः ।
—जैन लेखसं० भा० २ पृ० ३०८

माधवचन्द्र त्रैविद्य

प्रस्तुत माधवचन्द्र नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के प्रधान शिष्य थे। प्राकृत संस्कृत भाषा के साथ सिद्धान्त व्याकरण और न्याय शास्त्र के विद्वान् थे। इसी से त्रैविद्य कहलाते थे। इन्होंने अपने गुरु नेमिचन्द्र की सम्मति से त्रिलोकसार में कुछ गाथाएं यत्र-तत्र निविष्ट की हैं जैसा कि उनको निम्न गाथा से स्पष्ट है :—

गुरुणेमिचन्दसम्मद कदिवयगाहा तहि तहि रइया ॥
माहवचन्दतिविज्जेणिय मणुसदणिज्ज मज्जेहिं ॥

त्रिलोकसार की गाथा संख्या १०१८ है। माधवचन्द्र त्रैविद्य ने उस पर संस्कृत टीका लिखी है। यह ग्रन्थ संस्कृत टीका के साथ माणिक चन्द्र ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो चुका है, परन्तु बहुत दिनों से अप्राप्य है। टीकाकार ने लिखा है कि गोम्मटसार की तरह इस ग्रन्थ का निर्माण भी प्रधानतः चामुण्डराय को लक्ष्य करके—उनके प्रबोधार्थ रचा है। और इस बात को माधवचन्द्र जी ने अपनी टीका के प्रारम्भ में व्यक्त किया है। 'श्रीमद प्रतिहता प्रतिम निःप्रतिपक्षनिष्करण भगवन्नेमिचन्द्र सैद्धान्तदेवश्चतुरनुयोगचतुरुदधिपारगश्चामुण्डराय प्रतिबोधनव्याजेन अशेषविनेयजनप्रतिबोधनार्थं त्रिलोकसारनामानं ग्रन्थमारचयन्" वाक्यों द्वारा स्पष्ट किया है। टीकाकार ने टीका का रचना समय नहीं दिया। फिर भी चामुण्डराय के समय के कारण इनका समय सन् ९७८ वि० सं० १०३५ निश्चित है।

इस त्रिलोकसार ग्रन्थ की पं० टोडर मल जी ने स १८१८ में हिन्दी टीका बनाई हैं जिसमें उन्होंने गणित की संदृष्टियों का भी अच्छा परिचय दिया है, जिसका उन्होंने बाद में संशोधन भी किया है। माधव चन्द्र त्रैविद्य चामुण्डराय के समकालीन है। अतः इनका समय विक्रम की ११ वीं शताब्दी का मध्यभाग है।

पद्मनन्दी

प्रस्तुत पद्मनन्दि वीरनन्दी के शिष्य थे। जो मूलसंघ देशीय गण के विद्वान् थे। पद्मनन्दी ने अपने गुरु का नाम 'दान पञ्चाशत्' के निम्न पद्य में व्यक्त किया है, और बतलाया है कि रत्नत्रयरूप आभरण से विभूषित श्री वीरनन्दी मुनिराज के उभय चरण कमलों के स्मरण से उत्पन्न हुए प्रभाव को धारण करने वाले श्री पद्मनन्दी मुनि ने ललित वर्णों के समूह से संयुक्त बावन पद्यों का यह दान प्रकरण रचा है :—

रत्नत्रयाभरणवीरमुनीन्द्रपाद पद्मद्वयस्मरणसंजनितप्रभावः।
श्री पद्मनन्दिमुनिराश्रितयुग्मदान पञ्चाशतं ललितवर्ण चयं चकार ॥

ग्रन्थ कर्ता ने और भी दो प्रकरणों में वीरनन्दी का स्मरण किया है।

यह वीरनन्दी वे ज्ञात होते हैं। जो मेघचन्द्र त्रैविद्य के शिष्य थे। मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव के दो शिष्य थे, प्रभाचन्द्र और वीरनन्दी। उनमें प्रभाचन्द्र आगम के अच्छे ज्ञाता थे और वीरनन्दी सैद्धान्तिक विद्वान् थे। वीरनन्दी ने आचार सार और उसकी कनड़ी टीका शक स० १०७६ (वि० सं० १२४१) में बनाई थी। इनके गुरु मेघचन्द्र त्रैविद्य का स्वर्गवास शक सं० १०३७ (वि० सं० ११७२) में हुआ था। अतएव इन वीरनन्दी का समय सं० ११७२ से १२१२ तक है। सं० १२११ के बाद ही उनका स्वर्गवास हुआ होगा।

समय

पद्मनन्दि ने अपनी रचनाओं में समय का उल्लेख नहीं किया है, इससे रचनाकाल के निश्चित करने में बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। पद्मनन्दि पंच विंशति प्रकरणों पर आचार्य अमृतचन्द्र, सोमदेव और अमितगति के ग्रंथों का प्रभाव और अनुशरण परिलक्षित होता है। इससे पद्मनन्दि बाद के विद्वान जान पड़ते हैं। इनमें अमित गति द्वितीय विक्रमकी ११वीं शताब्दी के विद्वान् हैं उनका समय सं० १०५० से १०७३ का निश्चित है। प्रस्तुत पद्मनन्दि इनसे बहुत बाद में हुए हैं।

यहां पर यह भी ज्ञातव्य हैं कि पद्मनन्दि के चतुर्थ प्रकरणगत एकत्व सप्तति पर एक कन्नड़ टीका उपलब्ध है।

जिसके कर्त्ता पद्मनन्दि व्रती है, उन्होंने अपने गुरु का नाम राद्धान्त शुभचन्द्र देव बतलाया है, वे उनके अग्रशिष्य थे। उन्होंने यह टीका निम्बराज के प्रबोधनार्थ बनाई थी, जो शिलाहार नरेश गण्डरादित्य के सामन्त थे। निम्बराज ने कोल्हापुर मे शक स० १०५८ (वि० स० ११९३) में रूप नारायण वसदि (मन्दिर) का निर्माण कराया था और उसके लिए कोल्हापुर तथा मिरज के आस-पास के ग्रामो का दान भी दिया था।[1] एकत्व सप्तति की यह टीका स० ११९३ के लगभग की रचना है, इससे स्पष्ट है कि एकत्व सप्तति उससे पूर्व बन चुकी थी। अर्थात् एकत्व सप्तति स० ११८०-८५ की रचना है।

उक्त पद्मनन्दि की निम्न रचनाए उपलब्ध है, जिनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है। यहा यह बात भी सुनिश्चित है कि पद्मनन्दि के ये सभी प्रकरण एक साथ नही बने, भिन्न-भिन्न समयो मे उनका निर्माण हुआ है इसी दृष्टि को लक्ष्य मे रखकर रचना काल मे भी परिवर्तन अनिवार्य है।

रचनाओं का नाम

१ धर्मोपदेशामृत, २ दानोपदेशन, ३ अनित्य पञ्चाशत्, ४ एकत्व सप्तति, ५ यतिभावनाष्टक, ६ उपासक सस्कार, ७ देशव्रतोद्योतन, ८ सिद्धस्तुति, ९ आलोचना, १० सद्बोध चन्द्रोदय, ११ निश्चय पञ्चाशत, १२ ब्रह्मचर्य रक्षा वर्ति, १३ ऋषभ स्तोत्र, १४ जिन दर्शन स्तवन, १५ श्रुत देवता स्तुति, १६ स्वयभू स्तुति, १७ सुप्रभाताष्टक १८ शान्ति नाथ स्तोत्र, १९ जिन पूजाष्टक, २० करुणाष्टक, २१ क्रियाकाण्डचूलिका, २२ एकत्व भावना दशक, २३ परमार्थ विंशति, २४ शरीराष्टक, २५ स्नानाष्टक, २६ ब्रह्मचर्याष्टक।

धर्मोपदेशामृत— यह अधिकार सबसे बडा है, इसमे १९८ श्लोक है। पहले धर्मोपदेश के अधिकारो का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए, धर्म का स्वरूप व्यवहार और निश्चय दृष्टि से बतलाया है। व्यवहार के आश्रय मे जीव-दया को—अशरण को शरण देने और उसके दु.ख मे स्वय दु.ख का अनुभव करने को—धर्म कहा है। वह दो प्रकार का है गृहस्थ धर्म और मुनि धर्म। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र की अपेक्षा तीन भेद, और उत्तम क्षमादि की अपेक्षा दश भेद बतलाये है। इस व्यवहार धर्म को शुभ उपयोग बतलाया है, यह जीव को नरक तिर्यचादि दुर्गतियो से बचाकर मनुष्य और देवगति के सुख प्राप्त कराता है। इस दृष्टि से यह उपादेय है। किन्तु सर्वथा उपादेय तो वह धर्म है जो जीव को चतुर्गति के दुःखो से छुड़ा कर अविनाशी सुख का पात्र बना देता है। इस धर्म को शुद्धोपयोग या निश्चय धर्म कहते है।

गृहि धर्म में श्रावक के दर्शन, व्रत प्रतिमा आदि ग्यारह भेदो का कथन किया है। इनके पूर्व मे जुआदि सात व्यसनो का परित्याग अनिवार्य बतलाया है, क्योंकि उनके बिना त्यागे व्रत आदि प्रतिष्ठित नही रह सकते। क्योंकि व्यसन जीवो को कल्याणमार्ग से हटाकर अकल्याण मे प्रवृत्ति कराते है। उन द्यूतादि व्यसनो के कारण युधिष्ठिर आदि को कष्ट भोगना पडा है। गृहि धर्म मे हिसादि पच पापो का एक देश त्याग किया जाता है। इसी से गृहि धर्म को देश चारित्र और मुनि धर्म को सकल चारित्र कहा जाता है। सकल चारित्र के धारक मुनि रत्नत्रय में निष्ठ होकर मूल गुण, उत्तर गुण, पच आचार और दश धर्मो का पालन करते है। मुनियो के मूल गुण २८ होते है—पाच महाव्रत, पाच समिति, पाचो इन्द्रियों का निरोध, समता, आदि छह आवश्यक लोच, वस्त्र का परित्याग, स्नान का त्याग भू शयन, दन्तघर्षण का त्याग, स्थिति भोजन, और एक भक्त भोजन।

साधु स्वरूप के अतिरिक्त आचार्य और उपाध्याय का स्वरूप भी निर्दिष्ट किया है। मानव पर्याय का मिलना दुर्लभ है, अत: इससे आत्महित के कार्यो में संलग्न रहना चाहिए। क्योंकि मृत्यु का काल अनियत है—वह

---

१ श्री पद्मनन्दि व्रति निर्मितेयम् एकत्व सप्तत्यखिलार्थ पूर्तिः।
वृत्तिश्चिर निम्बनृप प्रबोध लब्धात्मवृत्ति जयता जगत्याम्॥

स्वस्ति श्री शुभचन्द्रराद्धान्तदेवाग्रशिष्येण कनकनन्दिपण्डित वाग्रश्मिविकसितहृत्कुमुदानन्द श्रीमद् अमृतचन्द्र चन्द्रि• कोन्मीलित नेत्रोत्पलावलोकिताशेषाध्यात्मतत्त्ववेदिना पद्मनन्दिमुनिना श्रीमज्जैनसुधाब्धिवर्धनकरापूर्णेन्दु दुरागतिवीर श्री पति निम्बराजावबोधनाय कृतैकत्व सप्ततेर्वृत्तिरियम्।

—पद्मनन्दि पचविंशति की अग्रेजी प्रस्तावना से उद्धृत पृ० १७

कब आधमकेगी यह निश्चित नहीं है, अतएव बुद्धिमान मनुष्य वे हैं, जो मानव जीवन और उत्तम कुलादि की साधन सामग्री को पाकर भी विषय तृष्णा से पराङ्मुख होकर अपने आत्मा का हित करते हैं। अन्त में धर्म का महत्व बतलाकर प्रकरण समाप्त किया है।

२ दानोपदेशन—इस अधिकार में ५४ श्लोक हैं, जिनमें दान की आवश्यकता और महत्ता पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। और दानतीर्थ के प्रवर्तक राजा श्रेयांस का पहले ही स्मरण किया है। जिस प्रकार पानी वस्त्रादि में लगे हुये रुधिर को धोकर स्वच्छ बना देता है उसी प्रकार सत्पात्र दान भी वाणिज्यादि से समुत्पन्न पाप-मल को धोकर निष्पाप बना देता है।

३ अनित्य पञ्चाशत्—इस अधिकार में ५५ श्लोक हैं। इस प्रकरण में शरीर, स्त्री पुत्र, एवं धनआदि की स्वाभाविक अस्थिरता बतलाते हुए उसके संयोग-वियोग में हर्ष और विषाद के परित्याग की प्रेरणा की गई है। मरण आयुकर्म के क्षीण होने पर होता है, अतः उसके होने पर शोक करना व्यर्थ है,

४ एकत्व सप्तति—इस प्रकरण में ८० श्लोक दिये हैं। जिनमें बतलाया है कि चेतनत्व प्रत्येक प्राणी के भीतर अवस्थित है, तो भी जीव अज्ञान वश उसे जान नहीं पाता। जैसे लकड़ी में अव्यक्त रूपसे अग्नि होते हुए भी नहीं जान पाते, उसी तरह आत्मतत्व का बोध भी अज्ञान के कारण नहीं होता। जिनेन्द्र देव ने उस परम आत्म तत्त्व की उपासना का उपाय एक मात्र साम्यभाव को बतलाया है। स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्तनिरोध और शुद्धोपयोग ये सब उसी साम्य के नामान्तर हैं। कर्म और रागादि हेय हैं, उन्हें छोड़ देना चाहिये। ज्ञान दर्शनादि उपयोग रूप परम ज्योति को उपादेय समझना चाहिए। अन्त में आत्मतत्त्व के अभ्यास का फल मोक्ष की प्राप्ति बतलाया है।

५ यतिभावनाष्टक— इस प्रकरण में ९ पद्य हैं जिनमें उन मुनियों का स्तवन किया गया है, जो भयानक उपसर्ग होने पर अपने स्वरूप से विचलित नहीं होते, प्रत्युत कष्ट सहिष्णु बनकर उन पर विजय प्राप्त करते हैं।

६ उपासक संस्कार—इसमें ६२ पद्य है, दान के आदि प्रवर्तक राजा श्रेयांस का उल्लेख करते हुए, देव पूजादि षट आवश्यकों का कथन किया गया है। सामयिक व्रत का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए सप्त व्यसनों का परित्याग अनिवार्य बतलाया है।

७. देशव्रतो द्योतन—इसमें २७ श्लोक हैं जिन में देव दर्शन 'पूजन रात्रिभोजन त्याग' चैत्यालय निर्माण, छह आवश्यक, आठ मूलगुणों और पांच अणुव्रतादि रूप उत्तर गुणों को धारण करने का उल्लेख किया है। और गृहस्थों को पाप से उन्मुक्त होने के लिए चार दान की प्रेरणा की है।

८. सिद्ध स्तुति—२९ श्लोकों में सिद्धों की स्तुति करते हुए अष्टकर्मो के अभाव से कौन-कौन से गुण प्रादुर्भूत होते हैं, इसका निर्देश किया है।

९. **आलोचना**—अज्ञान या प्रमाद से उत्पन्न हुए पाप को निष्कपट भाव से जिनेन्द्र व गुरु के सामने प्रकट करना आलोचना है। आत्मशुद्धि के लिए दोषों की आलोचना आवश्यक है। आत्म निरीक्षण, निन्दा और गर्हा करना उचित है, आत्मनिन्दा करते हुए यह मेरा पाप मिथ्या हो ऐसा विचार करना चाहिए। कृत, कारित, अनुमोदना और मन वचन काय से संगुणित नौ स्थानों से पाप उत्पन्न होता है, उनका परिमार्जन करने के लिए आलोचना करनी चाहिए।

१०. सद्बोध चन्द्रोदय—यह ५० पद्यों की रचना है। इसमें परमात्म स्वरूप का महत्व दिखलाकर बतलाया है कि जिसका चित्त उस चितस्वरूप में लीन हो जाता है वह योगियों में श्रेष्ठ हो जाता है। उस योगी को समस्त जीव राशि अपने समान दिखाई देती है, उसे कर्म कृत विकारों से भी क्षोभ नही होता। यह जीव मोह रूपी निद्रा में चिरकाल से सोया है, अब उसे इस ग्रन्थ को पढ़ कर जागृत हो जाना चाहिए।

११. निश्चय पञ्चाशत—६२ पद्यात्मक इस प्रकरण में आत्मा के जानने में कारणभूत शुद्ध नय और व्यवहार नय है। इनमें व्यवहार नय अज्ञानी जनों के बोध करने के लिये है। और शुद्धनय कर्म क्षय मे कारण है। इस कारण उसे भूतार्थ और व्यवहार नय को अभूतार्थ बत लाया है। वस्तु का यथार्थस्वरूप अनिर्वचनीय है, उसका कथन व्यहारनय से वचनों द्वारा किया जाता है। शुद्धनय के आश्रय से रत्नत्रय को पाकर अपना विकास करता है।

१२. **ब्रह्मचर्य रक्षावर्ति**—यह २२ पद्यों का लघु प्रकरण है, इसमें काम सुभट को जीतने वाले मुनियों को नमस्कार कर ब्रह्मचर्य का स्वरूप निर्दिष्ट किया है। अपने स्वरूप में रमण करने का नाम ब्रह्मचर्य है। जितेन्द्रिय तपस्वियों की दृष्टि निर्मल होती है, राग उनके स्वरूप को विकृत करने में समर्थ नहीं होता, ऐसे योगी वन्दनीय होते हैं। राग को जीतने के लिए रहन-सहन सादा और सादा भोजन होना चाहिए।

१३. **ऋषभ स्तोत्र**—इस ६० गाथात्मक प्रकरण में प्रथम जिनकी स्तुति की गई है, जिनमें उनके जीवन की झांकी का भी दिग्दर्शन निहित है। उन्होंने सांसारिक वैभव का परित्याग कर किस तरह स्वात्मलब्धि प्राप्त की, उसका सुन्दर वर्णन किया गया है। तीर्थंकर प्रकृति के महत्व का भी दिग्दर्शन कराया गया है।

१४. **जिन दर्शन स्तवन**—यह प्रकरण भी प्राकृत की ३४ गाथाओं को लिये हुए है। इसमें जिनदर्शन की महिमा का वर्णन है।

१५. **श्रुत देवता स्तुति** इसमें ३१ श्लोकों द्वारा जिनवाणी का स्तवन किया गया है।

१६. **स्वयंभू स्तुति** इसमें २४ श्लोकों द्वारा चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की गयी है।

१७. **सुप्रभाताष्टक** - यह अष्ट पद्यात्मक स्तुति है—जिस तरह प्रातः काल होने पर रात्रि का अन्धकार मिट जाता है और सूर्य का प्रकाश फैल जाता है। उस समय जन समुदाय की नींद भंग होकर नेत्र खुल जाते हैं। उसी प्रकार मोह कर्म का क्षय हो जाने पर मोह निद्रा नष्ट हो जाती है, और ज्ञान दर्शन का विमल प्रकाश फैल जाता है।

१८. **शान्तिनाथ स्तोत्र**—इसमें ९ श्लोकों द्वारा तीन छत्र और आठ प्रातिहार्यों सहित भगवान शान्तिनाथ का स्तवन किया गया है।

१९. **जिन पूजाष्टक**—१० पद्यात्मक इस प्रकरण में जल चन्दनादि द्रव्यों द्वारा जिन पूजा का वर्णन है।

२०. **करुणाष्टक**—इसमें अपनी दीनता दिखला कर जिनेन्द्र से दया की याचना करते हुए संसार से अपने उद्धार की प्रार्थना की गई है।

२१. **क्रियाकाण्ड चूलिका**—इसमें जिन भगवान से प्रार्थना की गयी है कि रत्नत्रय-मूल व उत्तर गुणों के सम्बन्ध में अभिमान और प्रमाद के वश मुझसे जो अपराध हुआ है, मन, वचन, काय और कृत, कारित अनुमोदना से मैंने जो प्राणि पीडन किया है, उससे जो कर्म संचित हुआ हो वह आप के चरण-कमल स्मरण से मिथ्या हो।

२२. **एकत्व भावना दशक**—इसमें ११ पद्यों द्वारा परम ज्योतिस्वरूप तथा एकत्वरूप अद्वितीय पद को प्राप्त आत्मतत्त्व का विवेचन किया गया है। उस आत्मतत्त्व को जो जानता है वह स्वयं दूसरों के द्वारा पूजा जाता है।

२३. **परमार्थ विंशति**—इसमें बतलाया है कि सुख और दुःख जिस कर्म के फल हैं वह कर्म आत्मा से पृथक् है—भिन्न है। यह विवेक बुद्धि जिसे प्राप्त हो चुकी है, 'उसके मैं सुखी हूं अथवा दुखी हूं' ऐसा विकल्प ही उत्पन्न नहीं होता। ऐसा योगी ऋतु आदि के कष्ट को कष्ट नहीं मानता।

२४. **शरीराष्टक**—इसमें शरीर की स्वाभाविक अपवित्रता और अस्थिरता को दिखलाते हुए उसे नाडीव्रण के समान भयानक और कड़वी तूबड़ी के समान उपभोग के अयोग्य बतलाया है। अनेक तरह से उसका संरक्षण करने पर भी अन्त में जर्जरित होकर नष्ट हो जाता है।

२५. **स्नानाष्टक**—मल से परिपूर्ण घड़े के समान मल-मूत्रादि से परिपूर्ण रहने वाला यह शरीर जल स्नान से पवित्र नहीं हो सकता। उसका यथार्थ स्नान तो विवेक है जो जीव के चिर संचित मिथ्यात्वादि आन्तरिक मल को धो देता है। जल स्नान से प्राणि हिंसा जनित केवल पाप का ही संचय होता है। स्नान करने और सुगन्धित द्रव्यों का लेप करने पर भी उसकी दुर्गन्धि नहीं जाती।

२६. **ब्रह्मचर्याष्टक**—विषय भोग एक प्रकार का तीक्ष्ण कुठार है जो संयम रूप वृक्ष को निर्मूल कर देता है। विषय सेवन जब अपनी स्त्री के साथ भी निन्द्य माना जाता है। तब भला पर स्त्री और वेश्या के सम्बन्ध को अच्छा कैसे कहा जा सकता है।

पद्मप्रभ मलधारीदेव

पद्मप्रभ मलधारीदेव—मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वय पुस्तकगच्छ और देशीगण के विद्वान वीरनन्दी व्रतीन्द्र के शिष्य थे[1]। इनकी उपाधि मलधारी थी, यह उपाधि अनेक विद्वान आचार्यो के साथ लगी देखी जाती है[2]। इनकी बनाई हुई आचार्य कुन्दकुन्द के नियमसार की एक संस्कृत टीका है जिसका नाम 'तात्पर्यवृत्ति' है, वृत्तिकार ने वृत्ति की पुष्पिका[3] में अपने लिये तीन विशेषणों का प्रयोग किया है—'सुकविजनपयोजमित्र' 'पंचेन्द्रियप्रसारवर्जित' और 'गात्रमात्रपरिग्रह'। इन तीन विशेषणों से ज्ञात होता है कि पद्मप्रभ सुकविजन रूप कमलों को विकसित करने वाले मित्र (सूर्य) थे। और पंचेन्द्रियों के प्रसार से रहित थे—जितेन्द्रिय थे। तथा शरीरमात्र परिग्रह के धारी थे—नग्न दिगम्बर थे। अच्छे विद्वान और कवि थे। इन्होंने समयसार के टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र की तरह नियमसार की तात्पर्यवृत्ति में भी अनेक सुन्दर पद्य बनाकर उपसंहार रूप में यत्र-तत्र दिये हैं।

पद्मप्रभ ने वृत्ति में यथा स्थान अनेक विद्वानों और उनके ग्रन्थों के पद्यों को ग्रन्थ कर्त्ता का नाम लेकर या विना किसी नामोल्लेख के उद्धृत किये है। उनमें समन्तभद्र, सिद्धसेन, पूज्यपाद, अमृतचन्द्र, सोमदेव, गुणभद्र, वादिराज, योगीन्द्रदेव और चन्द्रकीर्ति तथा महासेन का नामोल्लेख किया है। समयसार कलश, मार्गप्रकाश, अमृताशीति एकत्व सप्तति, और श्रुतविन्दु नामक ग्रन्थों का उल्लेख किया है।

इनके अतिरिक्त वृत्तिकार ने 'तथा चोक्तम् महासेन पंडितदेवैः' वाक्य के साथ निम्न पद्य उद्धृत किया है।

ज्ञानाद्भिन्नो न चाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथंचन।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं सोऽयमात्मेति कीर्तितः॥

इसके पश्चात् उक्त च षण्णवतिपाषंडिविजयोपार्जितविशालकीर्ति महासेन पंडित देवैः वाक्य के साथ उद्धृत किया है :

यथावद्वस्तुनिर्णीतिः सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत्।
तत्स्वार्थव्यवसायात्मा कथंचित् प्रमितेः पृथक्॥"

ये दोनों ही पद्य 'स्वरूप सम्बोधन' नामक ग्रथ के हैं, जिसके कर्ता आचार्य महासेन हैं। टीकाकार के उल्लेखानुसार वे छयानवे वादियों के विजेता थे। और लोक में उनकी विशाल कीर्ति फैल रही थी। इनकी गुरु परम्परा और गण-गच्छादि क्या है, यह कुछ ज्ञात नहीं होता। डा० ए० एन० उपाध्ये ने स्वरूप सम्बोधन के कर्ता के सम्बध में लिखा है कि वे नयसेन के शिष्य थे।

श्रियः पति केवल बोधलोचनं, प्रणम्य प्रद्यप्रभ बोध कारणं।
करोमि कर्णाटगिरा प्रकाशनं, स्वरूपसंबोधन पंचविंशते॥

"श्रीमन्नयसेनपंडित देवरं शिष्यरप्पश्रीमन्महासेनदेवरुभव्यसार्थसंबोधनार्थं मार्ग स्वरूप संबोधन पंच विंशति व ग्रंथमं माडुत्तमा ग्रन्थद मादेलोल् इष्ट देवता नमस्कार मं स्यडिद पर"। महासेन नामके और भी विद्वान हुए है। एक तो लाड बागड गण के महासेन जो प्रद्युम्नचरित के कर्त्ता हैं। जो संवत् १०५० के लगभग हुए हैं। जो

१· तद्विद्याढ्यं वीरनन्दि व्रतीन्द्रम्

२· मलधारी विशेषण दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों के मुनियों के साथ संलग्न देखा जाता हैं। वह शरीर के स्वच्छता के विपरीत मल परीषह की सहन-शीलता का द्योतक है। मलधारी गण्डविमुक्त देव, मलधारी माधवचन्द्र मलधारी बालचन्द्र, मलधारि मल्लिषेण, मलधारिदेव, आदि दिगम्बर, मलधारी हेमचन्द्र, मलधारि अभयदेव, मलधारि जिनभद्र आदि श्वेताम्बर।

३. 'इति सुकविजनपयोजमित्र पंचेन्द्रियप्रसरवर्जित गात्रमात्रपरिग्रह श्री पद्मप्रभमलधारि देव विरचितायां नियमसार व्याख्यायां तात्पर्यवत्तौ शुद्ध निश्चयप्रायश्चित्ताधिकारोऽष्टमः श्रुतस्कन्धः ?

मालवपति मुंज नरेश द्वारा पूजित थे और जो गुणाकरसेनसूरि के शिष्य थे[१]। दूसरे महासेन 'सुलोचना चरित' के कर्त्ता हैं जिनका उल्लेख 'हरिवंश पुराण' में पाया जाता है[२]। प्रस्तुत महासेन इनसे भिन्न जान पड़ते हैं। यह कोई तीसरे ही महासेन हैं।

वृत्तिकार ने जहाँ वीरनन्दि को नित्य नमस्कार करने की बात लिखी है, और बतलाया है कि जिस मुमुक्षु मुनि के सदा व्यवहार और निश्चय प्रतिक्रमण विद्यमान हैं। और जिसके रंच मात्र भी अप्रतिक्रमण नहीं हैं ऐसे संयम रूपी आभूषण के धारक मुनि को मैं (पद्मप्रभ) सदा नमस्कार करता हूं[३]।

वृत्तिकार ने अपने समय में विद्यमान 'माधवसेनाचार्य' को नमस्कार करते हुए उन्हें संयम और ज्ञान की मूर्ति, कामदेवरूप हस्ति के कुंभस्थल के भेदक और शिष्य रूप कमलों का विकास करने वाले सूर्य बतलाया है। पद्म में प्रयुक्त 'विराजते' क्रिया उनकी वर्तमान मौजूदगी की द्योतक है वह पद्म इस प्रकार है।

"नोमस्तु ते संयमबोधमूर्त्तये, स्मरेभकुंभस्थल भेदनायवै,
विनेयपंकेरुहविकासभानवे विराजते माधवसेनसूरये ॥"

माधवसेन नाम के अनेक विद्वान हो गए हैं। परन्तु ये माधवसेन उनसे भिन्न जान पड़ते हैं।

एक माधवसेन काष्ठासंघ के विद्वान नेमिषेण के शिष्य थे, और अमितगति द्वितीय के गुरु थे। इनका समय सं० १०२५ से १०५० के लगभग होना चाहिये।

दूसरे माधवसेन प्रतापसेन के पट्टधर थे। इनका समय विक्रम की १३ वीं १४ वीं शताब्दी होना संभव है।

तीसरे माधवसेन मूलसंघ, सेनगण पोगरिगच्छ के चन्द्रप्रभ सिद्धान्त देव के शिष्य थे। इन्होंने जिन चरणों का मनन करके और पंच परमेष्ठीं का स्मरण कर के समाधि मरण द्वारा शरीर का परित्याग किया था। इनका समय ई० सन् ११२४ (वि०सं० ११८१) है।

चौथे माधवसेन को लोक्किय वसदि के लिये देकररस ने जम्बहलि प्रदान की। इस का दान माधवसेन को दिया था। यह शिलालेख शक संवत ७८५—सन् १०६२ ई० का है। अतः इन माधवसेन का समय ईसा की ११वीं शताब्दी का तृतीय चरण है।

इन चारों माधवसेनों में से वृत्तिकार द्वारा उल्लिखित माधवसेन का समीकरण नहीं होता। अतः वे इनसे भिन्न ही कोई माधवसेन नाम के विद्वान होंगे। उनके गण-गच्छादि और समय का उल्लेख मेरे देखने में नहीं आया।

पद्मप्रभ मलधारिदेव ने वृत्ति के पृ० ६१ पर चन्द्रकीर्तिमुनि के मन की वन्दना की है[४]। और पृष्ठ १४२ में उन्हों ने श्रुत विन्दु' नाम के ग्रन्थ का 'तथा चोक्तं श्रुत बिन्दौ, वाक्य के साथ निम्न पद्य उद्धृत किया है :—

जयति विजयदोषोऽमर्त्यमर्त्येन्द्रमौलि—
प्रविलसदरुमा लाभ्यर्चितांघ्रि जिनेन्द्रः।
त्रिजगदजगती यस्ये दृशौ व्यश्नुवाते
सममिव विषयेष्वन्योन्य वृत्ति निषेद्धुम् ॥

१. तच्छिष्यो विदिता खिलोरु समयो वादी च वाग्मी कविः।
शब्दब्रह्मविचित्रधामयशसां मान्यां सतामग्रणीः।
आसीत् श्रीमहासेन सूरिरनघः श्री मुंजराजार्चितः।
सीमा दर्शन बोध वृत्तपसां भव्याब्जिनी बान्धवः ॥ —प्रद्युम्न चरित प्रशस्ति ३

२. महासेनस्य मधुरा शीलालंकार धारिणी।
कथा न वर्णिता केन वनितेव सुलोचना ॥—हरिवंश पुराण १—३३

३. यस्य प्रतिक्रमणमेव सदा मुमुक्षो—र्नास्त्य प्रतिक्रमण मप्यणुमात्र मुच्चैः।
तस्मै नमः सकलसंयमभूषणाय, श्री वीरनन्दि मुनि नामधराय नित्यम् ॥ —नियमसार वृत्ति

४. निरुपम मिदं वन्द्यं श्रीचन्द्रकीर्ति मुने मनः ॥
—नियमसार वृत्ति पृ० १५२

श्रवण बेलगोल के शिलालेख नं० ५४ पृ० १०६ में इन्हीं चन्द्रकीर्ति मुनि का स्मरण किया गया है और उन्हें श्रुतविन्दु का कर्त्ता भी बतलाया है :—

विश्वं यश्श्रुतविन्दुनावरुरुधे भावं कुशाग्रीयया,
बुध्येवाति - महीयसाप्रवचसाबद्धं गणाधीश्वरैः।
शिष्यान्प्रत्यनुकम्पया कृशमतीनेदं युगीनात्सुगी—
स्तं वाचार्च्चत चन्द्रकीर्ति गणिनं चन्द्राभकीर्ति बुधाः ॥ ३२

मैसूर स्टेट के तुंकूर जिले में दो अभिलेख मिले हैं, वे पद्मप्रभ के प्रभाव क्षेत्र की अच्छी सूचना देते हैं। एक तो कुप्पी ताल्लुके के निट्टूरु में प्राप्त हुआ है जिसमें एक प्रसिद्ध धर्मात्मा महिला जैनाम्बिका का उल्लेख है जो इनकी एक शिष्या थी। दूसरा अभिलेख पावुगड ताल्लुक के निडुगल्लु में पहाड़ी पर के एक जैन मन्दिर में मिला है—(एपिग्राफिया कर्नाटिका जि० १२ पावूगड ५२) इसमें एक मुखिया गाँगेयन मारेय के द्वारा एक जैन मन्दिर के निर्माण कराये जाने का उल्लेख है। इस अभिलेख से यह भी ज्ञात होता है कि यह मन्दिर निर्माता नेमि पंडित के द्वारा जैनधर्म में प्रविष्ट किया गया था। एपिग्राफिया कर्नाटिका जि० १२ Guvvi)। यह नेमि पंडित पद्मप्रभ मलधारी के शिष्य थे।

जब इरुङ्गोल देव राज्य कर रहा था—तत्पादपद्मोपजीवी गङ्गयनमारेय गङ्गय नायक और चामासे से उत्पन्न हुआ था। इसने नेमि पण्डित से व्रत लिये थे। नेमि पण्डित को पद्मप्रभ मलधारी देव से मनोभिलषित अर्थ की प्राप्ति हुई थी। प० म० देव श्री मूलसंघ, देशीयगण, कोण्डकुन्दान्वय, पुस्तक गच्छ तथा वाणद बलिय के वीरनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती के शिष्य थे[1]।

कालाञ्जन (निडुगल) पर्वत के बदर तालाब के दक्षिण की तरफ एक चट्टान के सिरे पर गङ्गयन मारने पार्श्व जिन की बसति खड़ी की थी। इसी को 'जोगवट्टिगे बसदि' भी कहते थे। पार्श्वनाथ-जिनेश की दैनिक पूजा, महाभिषेक करने के लिए, तथा चतुवर्ण्ण को आहार दान देने के लिए गङ्गयन मारेय तथा उसकी स्त्री वाचले ने इरुङ्गुल देव से आचन्द्र-सूर्य-स्थायी दान करने के लिये प्रार्थना की तब उसने भूमियों का दान किया, तथा गङ्गेयमारेनहल्लि के कुछ किसानों ने मिलकर बहुत से अखरोट और पान प्रति बोझ पर दिये। पैलिके किसानों ने भी कोल्हुओं से तेल दिया।

पद्मप्रभ मलधारी देव की दूसरी कृति 'लक्ष्मी स्तोत्र' है जो संस्कृत टीका के साथ मुद्रित हो चुका है। इनकी अन्य क्या रचनाएं हैं यह कुछ ज्ञात नहीं हुआ।

मद्रास प्रान्त के 'पाटशिवरम्' नामक ग्राम के दक्षिण प्रवेश द्वार पर स्थित एक स्तम्भ के खंडित शिलालेख में वीरनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती के शिष्य पद्मप्रभ मलधारी देव के सम्बन्ध में निम्न श्लोक अंकित है, जिसमें उनके देहोत्सर्ग की तिथि का उल्लेख है:—

सक वर्ष सप्त खेंदु क्षिति ११०७ परिमितिविश्वावसु प्रान्तफाल्गुण्यकनच्छुद्वा
चतुर्थीतिथियुतभरणी सोमवाराद्ध रात्रा
धिकनाड्येकात्यदोल्लु निर्म्मलमति मल्लरुटं नामपद्मप्रभं।
पुस्तक गच्छं मूलसंघं यतिपतिनुतदेसोगणं मुक्तनादं ॥

शक संवत् ११०७ विश्वावसु, फाल्गुण शुक्ला ४ भरणी, सोमवार को—२४ फर्वरी सन् ११८५ ई० (वि० सं० १२४२) को सोमवार के दिन पद्मप्रभ मलधारी देव का स्वर्गवास हुआ। यह लेख पश्चिमीय चालुक्य नरेश सोमेश्वर चतुर्थ के राज्यकाल का है। (Jainism in South India P. 159)

---

१. निरुङ्गोल-देवं राज्यं गेय्युत्तमिरे तत्पादपद्मोपजीवियप्प गङ्गयनायकङ्गं चामाङ्ग नेगवुद्भविसि गङ्गयन मारेयं श्री मूल-संघद देशिय-गणद कोण्डकुन्दान्वय पुस्तक गच्छद वाणद-बलिय श्री वीरनन्दि-सिद्धान्त-चक्रवर्तिगल शिष्यराद् मेदिनीसिद्धर पद्मप्रभ-मलधारि देवर चरण-परिचर्येयिं पर्य्याप्ति-कामिदराद नेमि-पण्डित रिनङ्गीकृत-व्रत नादम्।

—जैनलेख सं० भा० ३ पृ० ३३२

दामनन्दि त्रैविद्य

दामनन्दि मूलसंघ, देशियगण, पुस्तकगच्छ और कुन्दकुन्दान्वय में प्रसिद्ध गुणचन्द्र देव के प्रशिष्य और नयकीर्ति सिद्धान्तदेव के शिष्य थे। इनके छोटे भाई बालचन्द्र मुनीन्द्र थे। सोम सेट्टि ने पार्श्वजिन की अष्ट विध पूजन और मन्दिर की मरम्मत और मुनियों के आहारदान के लिए दान दिया था और कुछभूमि बालचन्द्र मुनि के पाद प्रक्षालन पूर्वक दी गयी थी। यह लेख शक स० ११०० सन् ११७८ ईसवी का है। अतः इन दामनन्दि का समय १२वी शताब्दी है। जैनलेख स० भ० ३ ले० न० ३६४ पृ० १७७

कुलचन्द्र मुनीन्द्र

कुलचन्द्र सिद्धान्त मुनीन्द्र—यह कुलभूषण सिद्धान्त मुनीन्द्र के शिष्य थे। धवला की हस्तलिखित प्रतियों में सत्प्ररूपणा विवरण के अन्त में कनाड़ी प्रशस्ति पाई जाती है। उसमें तीन आचार्यों की प्रशंसा की गई है। पद्मनन्दि सिद्धान्त मुनीन्द्र, कुलभूषण सिद्धान्त मुनीन्द्र और कुलचन्द्र सिद्धान्त मुनीन्द्र।

ऊर्जितयश से उज्वल कुलचन्द्र सिद्धान्त मुनीन्द्र का उद्भव जंगमतीर्थ के समान था। वे सदा काय और मन से सच्चारित्रवान् दिनो दिन शक्तिमान् और नियमवान होते हुए उन्होंने विवेक बुद्धि द्वारा ज्ञान दोहन कर कामदेव को दूर रखा। सच्चारित्रवान् होना ही कामदेव के क्रोध से बचने का एक मात्र मार्ग है[1]। इससे उनकी चारित्र निष्ठता का पता चलता है।

यह वही कुलचन्द्र ज्ञात होते हैं जिनका उल्लेख श्रवण वेलगोल के ४०वे (६४) लेख में पाया जाता है।

> **अविद्धकर्णादिक पद्मनन्दी सैद्धान्तिकाख्योऽजनि यस्य लोके।**
> **कौमारदेव व्रतिताप्रसिद्धि र्जीयात्तु सोज्ञाननिधिः सधीरः॥**
> **तच्छिष्यः कुलभूषणाख्ययतिपश्चारित्रवारांनिधि—**
> **स्सिद्धान्ताम्बुधिपारगो नतविनेयस्तत्सधर्मो महान्।**
> **शब्दाम्भोरुहभास्करः प्रथितर्कग्रन्थकारः प्रभा—**
> **चन्द्राख्यो मुनिराज पंडितवरः श्रीकुण्डकुन्दान्वयः॥**
> **तस्य श्रीकुलभूषणाख्य सुमुनेश्शिष्यो विनेयस्तुत—**
> **स्सद्वृत्तः कुलचन्द्रदेव मुनिपस्सिद्धान्तविद्यानिधिः॥**

इन पद्यों में पद्मनन्दि, कुलभूषण और कुलचन्द्र मुनियों के बीच गुरु-शिष्य परम्परा का स्पष्ट उल्लेख है। इनमें पद्मनन्दि सैद्धान्तिक को, ज्ञानि निधि, सधीर, अविद्धकर्ण और कौमारदेव व्रती बतलाया है। वे कर्ण छेदन संस्कार से पहले ही दीक्षित हो गए थे। अतएव वे कौमारदेव व्रती भी कहलाते थे। अर्थात् वे बाल ब्रह्मचारी थे। इनके एक शिष्य प्रभाचन्द्र थे, जो शब्दाम्भोज भास्कर और प्रथित तर्क ग्रन्थकार थे। कुलभूषण को चारित्र वारांनिधि और सिद्धान्ताम्बुधि पारग बतलाया है। और कुलचन्द्र को विनय, सद्वृत्त और सिद्धान्त विद्यानिधि कहा है। इनका समय सन् ११२३ के लगभग होना चाहिए। कुलचन्द्र के शिष्य माघनन्दि सैद्धान्तिक थे, जो कोल्हापुर की रूपनारायण वसदि के प्रधानाचार्य थे। इनका परिचय आगे दिया गया है।

कुलचन्द्रमुनि—मूलसंघान्वय क्राणूरगण के विद्वान परमानन्द सिद्धान्त देव के शिष्य थे। इन्हें भुवनैक मल्ल के सुपुत्र ने, जिस समय उनका राज्य प्रवर्धमान था, और जो बंकापुर में निवास करते थे। उनके पाद पद्मोप-

१. सतत कान्त कायमति सच्चरित दिनदिद दिनक्के वी—
र्य नलेददु मिक्क नियमगल नातु विवेकबोध दो—
हं तवे कतु मन्युगिदे सच्चरित कुलचन्द्र देव सै—
द्धात मुनीन्द्र रूर्जितयशोज्वल जगमतीर्थरुद्भवम्॥

—धवला पु० २ प्रस्तावना पृ० ३

जीवी पेर्म्मांडि भुवनैकवीर उदयादित्य शासन कर रहे थे । तब भुवनैकमल्ल ने 'शान्तिनाथ मन्दिर' के लिये उक्त कुलचन्द्र मुनि को नागर खण्ड में भूमि दान दिया । चूंकि यह शिलालेख शक सं० ९९६ (वि० सं० ११३१ सन् १०७५ है । अतः उक्त मुनि विक्रम की १२वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के विद्वान थे । जैनलेख सं० भा० २ पृ ०, २६४-६५

आचाण्ण

इनके पिता का नाम केशवराज और माता का नाम मल्लाम्बिका था। कवि का गोत्र भारद्वाज था। यह जैन ब्राह्मण थे। गुरु का नाम नन्दियोगीश्वर[1] और ग्राम का नाम पुरीकर नगर (पुलगिर) था। इनके पिता केशवराज और रेचण नाम के सेनापति ने, जो वसुधैक बान्धव के नाम से प्रसिद्ध था। वर्धमान नामक एक पुराण ग्रंथ के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया था, किन्तु दुर्दैव से उनका बीच में ही शरीरान्त हो गया, तब उस ग्रन्थ को आचाण्ण ने समाप्त किया। इस कवि की पार्श्वनाथ पुराण में, जो कविपार्श्व द्वारा सन् १२०५ में रचा गया है—प्रशंसा की है। इससे स्पष्ट है कि कवि आचण्ण सन् १२०५ से पहले हुआ है। कवि ने अपने से पूर्ववर्ती कवियों की स्तुति करते हुए अग्गल कवि की (११८९) की भी प्रशंसा की है। इसमें कवि ११८९ के बाद हुआ है। रेचण चमूपति कलचुरि राजा का मंत्री था। शिलालेखों से ज्ञात होता है कि आहवमल्ल (११८१-११८३) के और नवीन हयशालवंश के वीर बल्लाल (११७२-१२१९) के समय में भी वह जीवित था। इसमें कवि का समय ११७५ के लगभग जान पड़ता है। प्रस्तुत वर्धमान पुराण में महावीर तीर्थंकर का चरित वर्णित है। ग्रन्थ में १६ आश्वास हैं। इसकी रचना अनुप्रास यमक आदि शब्दालंकारों से युक्त और प्रौढ़ है। कवि की अन्य किसी कृति का उल्लेख नहीं मिलता।

ब्रह्मशिव

यह वत्सगोत्री ब्राह्मण था। इसके पिता का नाम अग्गल देव था। यह कीर्तिवर्मा और आहव-मल्ल नरेश का समकालीन था। पहले यह वैदिक मतानुयायी था। पश्चात् उसे निःसार समझकर लिंगायत मत का उपासक हो गया था। उस समय तक वह वेद, स्मृति और पुराण आदि ग्रन्थों का अध्ययन कर चुका था। परन्तु उसे इन ग्रन्थों में सन्तोष नहीं हुआ। लिंगायत मत को भी उसने यथार्थ नही समझा और पश्चात् उसने स्याद्वादमय जैनधर्म को ग्रहण कर सन्तुष्ट हो गया। इसका बनाया हुआ एक 'समय परीक्षा' नामक ग्रंथ है जिसमें शैव, वैष्णवादि मतों के पुराण ग्रन्थों तथा आचारों में दोष बतला कर जैनधर्म की प्रशंसा की है। इस ग्रंथ की कविता बहुत ही सरल और ललित है। यह कनड़ी भाषा का कवि है। समय परीक्षा से ज्ञात होता है कि यह संस्कृत का भी अच्छा विद्वान था। ग्रन्थ के पुष्पिका वाक्य से इसके गुरु का नाम वीरनन्दी मुनि जान पड़ता है —"**इति भगवदर्हत परमेश्वर चरण स्मरण परिणतान्तःकरण वीरनन्दि मुनिन्द्र चरण सरसीरुह-षट् चरण-मिथ्या समय तीव्र तिमिर चण्डकिरण—सकलागम निपुण– महाकवि ब्रह्मशिव विरचित समय परीक्षायां—**"

ये वीरनन्दी मेघचन्द्र त्रैविद्य के शिष्य जान पड़ते है। जो सन् १११५ में दिवंगत हुए थे। यदि ये वीरनन्दि वही हैं। तो कवि का समय सन् ११२०—११२५ होना चाहिये।

बालचन्द अध्यात्मी

यह मूलसंघ, देशीयगण पुस्तकगच्छ और कुन्दकुन्द अन्वय के विद्वान थे। इनके गुरु नयकीर्ति थे जो गुणचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के शिष्य थे और जिनका स्वर्गवास शक सं० १०९९ सन् ११७७ में वैशाख शुक्ला चतुर्दशी को हुआ था[2]। इनके भाई का नाम दामनन्दी था। अनेक शिलालेखों में इनको स्तुति के

---

१. मद्रास के प्राच्य कोशालय के एक शिलालेख से मालूम होता है कि नन्दियोगीश्वर सन् ११८९ में मौजूद थे।

२. शाके रन्ध्रनवद्युचन्द्रमसि दुर्म्मुख्या च (ख्य) संवत्सरे।
वैशाखे धवले चतुर्दशदिने वारे च सूर्य्यात्मजे।
पूर्वाह्णे प्रहरे गतेऽर्द्धं सहिते स्वर्ग्गं जगामात्मवान्।
विख्यातो नयकीर्ति-देव मुनिपो राद्धान्त-चक्राधिपः ॥२३ —जैन शिलालेख संग्रह भाग १ पृ० ३०

पद्य मिलते हैं। इनकी बनाई हुई ५ टीकाएं उपलब्ध हैं। सारत्रय—प्रवचनसार, समयसार और पंचास्तिकय, परमात्मप्रकाश, और तत्वरत्न प्रदीपिका (तत्त्वार्थसूत्रटीका) ये टीकाएं बड़ी सुन्दर और अध्यात्म विषय पर विस्तृत प्रकाश डालती है। प्राभृतत्रय की टीका के अन्त में निम्न गद्य पक्ति दी है—**इति समस्त सैद्धान्धिक चक्रवर्ती श्रीनय कीतिनन्दन – विनेयजनानन्दन—निजरुचि सागरनन्दि – परमात्मदेवसेवासादितात्मस्वभावनित्यानंद—बालचंद्र देव विरचिता समय प्राभृत सूत्रानुगत तात्पर्य वृत्तिः**। कवि ने तत्त्वार्थसूत्र की 'तत्त्वरत्न प्रदीपिका' टीका कुमुद चंद्र भट्टारक के प्रतिबोध के लिये बनाई थी, ऐसा टीका में उल्लेख मिलता है। इनका समय सन् ११७० ईस्वी है।

राजादित्य

पद्यविद्याधर इनका उपनाम था। इसके पिता का नाम श्रीपति और माता का नाम वसन्ता था। कोडिमडल के पूर्वन बाग' में इसका जन्म हुआ था। यह विष्णुवर्धन राजा की सभा का प्रधान पंडित था। विष्णुवर्धन ने ईस्वी सन् ११०४ से ११४१ तक राज्य किया है। कवि के समक्ष उसका राज्यअभिषेक हुआ था। अपने आश्रय दाता राजा की इसने एक पद्य में बहुत प्रशसा की है। और उसको सत्यवक्ता, परहित चरित, सुस्थिर, भोगी, गभीर, उदार, सच्चरित्र अखिल विद्यावित और भव्य सेव्य बतलाया है। यह कवि गणित शास्त्र का बड़ा भारी विद्वान हुआ है। कर्णाटक कवि चरित के लेखक के अनुसार कनड़ी साहित्य में गणित का ग्रथ लिखने वाला यह सबसे पहला विद्वान था। इसके बनाये हुए व्यवहार गणित, क्षेत्रगणित, व्यवहाररत्न, जैनगणित सूत्रटीका उदाहरण, चित्रह सुगे और लीलावती ये गणित ग्रन्थ प्राप्य है। ये सब ग्रन्थ प्रायः गद्य-पद्यमय है। इसका व्यवहार गणित नाम का ग्रन्थ बहुत अच्छा है। इसमे गणित के त्रैराशिक, पचराशिक, सप्तराशिक, नवराशिक, चक्रवृद्धि आदि सम्पूर्ण विषय है और वे इतनी सुगम पद्धति से बतलाये गये है कि गणित जैसा कठिन और नीरस विषय भी सरस हो गया है। कवि ने अपनी विलक्षण प्रतिभा से इसे पांच दिन में बनाकर समाप्त किया था।

कवि के गुरु का नाम शुभचद्र देव था[1]। संभवतः ये शुभचद्र वही है। जिनका उल्लेख श्रवणबेलगोल के शिलालेख न० ४३ में किया है और जिनकी मृत्यु ईस्वी सन् ११२३ में बतलाई गई है। इससे कवि का समय सन् १११५ से ११२० तक जान पड़ता है।

कीर्तिवर्मा

यह चालुक्य वंशीय (सोलकी) महाराज त्रैलोक्य मल्ल का पुत्र था। त्रैलोक्यमल्ल ने सन् १०४४ से १०६८ तक राज्य किया है। इस के चार पुत्र थे विक्रमाकदेव (१०७६ से ११२६), जयसिह, विष्णुवर्धन, विजयादित्य और कीर्तिवर्मा। कीर्तिवर्मा त्रैलोक्यमल्ल की जैनधर्म धारण करनेवाली केतलदेवी रानी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। केतलदेवी ने सैकड़ों जैनमन्दिर बनवाये थे। उसके बनवाए हुए मन्दिरो के खडहर और उनके शिलालेख अब भी कर्नाटक प्रान्तमें उसके नामका स्मरण कराते हैं। कीर्तिवर्मा के बनाये हुए ग्रन्थों में से इस समय केवल एक 'गोवैद्य' ग्रन्थ प्राप्त है। इसमें पशुओं के विविध रोगों का और उनकी चिकित्सा का विस्तारपूर्वक वर्णन है। इससे जान पड़ता है कि वह केवल कवि ही नहीं वैद्य भी था। गोवैद्य के एक पद्य में उसने अपने लिये कीर्तिचन्द्र, वैरिकरिहरि, कन्दर्प मूर्ति, सम्यक्त्व रत्नाकर, बुधभव्य बान्धव, वैद्य रत्नपाल, कविताब्धिचन्द्र कीर्तिविलास आदि विशेषण दिये हैं। 'वैरिकरिहरि' विशेषण उसके बडा वीर तथा योद्धा होने को सूचित करता है। उसने अपने गुरू का नाम देवचन्द मुनि बतलाया है। श्रवण बेलगोल के ४० वे शिलालेख में राघव पाण्डवीय काव्य के कर्ता श्रुतकीर्ति त्रैविद्य के समकालीन जिन देवचन्द की स्तुति की है संभवतः वे ही कीर्तिवर्मा के गुरु हों अथवा अन्य कोई देवचन्द। इनका समय सन् ११२५ ई० है।

---

१. व्यवहार गणित के प्रत्येक पुष्पिका गद्य वाक्य से कवि के गुरु के नाम का पता चलता है—इति शुभचन्द्रदेव योग पादारविन्दमत्तमधुकरायमानमानसानन्दित सकलगणित तत्वविलासे विनेयजन नुते श्री राज्यादित्य विरचिते व्यवहार गणिते—इत्यादि।

पण्डित बोप्पण

बोप्पण पण्डित—सुजनोत्तंस इसका उपनाम था। आच्चण्ण, पार्श्व, केशिराज आदि कवियों ने इसकी बहुत प्रशंसा की है। केशिराजने इसका 'सुकविममाजनुन, कह कर उल्लेख किया है और इसकी ग्रन्थ पद्धति को लक्ष्यभूत मान कर अपनी रचना की है। इससे जान पड़ता है कि यह अनेक ग्रन्थों का रचयिता होगा। परन्तु इस समय उसकी केवल दो छोटी-छोटी रचनाएँ ही मिलती हैं। जिनमें से एक तो 'गोम्मटेश्वर, की स्तुति है और दूसरी 'निर्वाणलक्ष्मी पति नक्षत्रमालिका, नाम की कविता है। गोम्मटेश्वर की स्तुति में कनड़ी के २७ पद्य हैं जो श्रवणबेलगुलके ८५ (२३४) वे शिलालेख में अकित है। 'निर्वाणलक्ष्मीपति नक्षत्रमालिका में भी २७ कनड़ी पद्य हैं। कवि ने गोम्मटेश्वर की स्तुति सैद्धान्तिक चक्रेश्वर नयकीर्ति के शिष्य आध्यात्मिक बालचन्द्र की प्रेरणा से रची थी। इससे स्पष्ट है कि कवि बालचन्द्र के समकालीन था। श्रवण बेलगुल का ८५ वां शिलालेख शक संवत् ११०२ सन् ११८० का लिखा हुआ है। अतः कवि का समय १२वी शताब्दी है। जैन लेख सं० भा० १ पृ० १६९

वीरनन्दी

मूलसंघ देशीयगण के आचार्य मेघचन्द्र त्रैविद्य देव के आत्मज और शिष्य थे, जिनकी तार्किक चक्रवर्ती, सिद्धान्तेश्वर-शिखामणि त्रैविद्य देव उपाधियां थी[1]। जैसा कि आचारसार के निम्न प्रशस्ति वाक्य से प्रकट है:—

वैदग्धश्री वधूटी पतिरतुलगुणालंकृतिमेघचन्द्र—
स्त्रैविद्यस्यात्मजातो मदनमहिभृतो भेदने वज्रपातः ॥
सैद्धान्तिव्यूहचड़ामणिरत्नुफलचिन्तामणिर्भूजनामा ।
योऽभूत सोजन्यरुन्द्रश्रियमवति महावीरनन्दी मुनीन्द्रः ॥

—आचारसार १२, ४२

आचार्य वीरनन्दी चतुरता रूपी लक्ष्मी के स्वामी हैं, अनुपम गुणों से अलंकृत हैं। मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव के आत्मज-पुत्र हैं, और कामदेव रूपी पर्वत को भेदन करने लिये वज्र के समान हैं, सिद्धान्त शास्त्रज्ञों के समूह में चूड़ामणि हैं, और पृथ्वी-मडल के लोगों को इच्छित फल देने वाले उत्तम चिन्तामणि हैं। ऐसे श्री वीरनन्दी मुनि सज्जनता रूप सघन लक्ष्मी की सदा रक्षा किया करते हैं।

प्रस्तुत वीरनन्दी अपने समय के अच्छे विद्वान थे। उन्होंने अपने आचारसार में अपने गुरु मेघचन्द्र की बड़ी प्रशंसा की है।

चूंकि मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव का स्वर्गवास शक स० १०३७ (वि० संवत् ११७२) में मगसिरसुदी चतुर्दशी वृहस्पतिवार के दिन धनुर्लग्न में हुआ था। जैसा कि श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं० ४७ के निम्न वाक्य से प्रकट है:—

"सकवर्ष १०३७ नेय मन्मथसंवत्सरद मार्ग्गसिर सुद्ध १४ वृहवार धनुलग्नद पूर्वाण्हदारुघलिगेयप्पागलु श्रीमूलसङ्घद देसियगणद पुस्तक गच्छ श्री मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव र्त्तम्मवशान कालमनरिदु पल्यंकाशन दोलिद्दु आत्म-भावनेयं भाविसुत्तं देवलोकक्के सन्दराभावनेयेन्तप्पुदेन्दोडे।"

अनन्तबोधात्मकमात्मतत्त्वं निधायचेतस्यपहाय हेयं।
त्रैविद्य ना मा मुनि मेघचन्द्रो दिवंगतो बोधनिधि र्व्विशिष्टाम् ॥

इनके प्रमुख शिष्य प्रभाचन्द्र नाम के थे। इन्हीं प्रभाचन्द्र सिद्धान्त देवने महा प्रधान दण्ड नायक गंगराज द्वारा मेघचन्द्र की निषद्या का निर्माण कराया था।

प्रवचनसारादि ग्रन्थों के टीकाकार आचार्य जयसेन ने पंचास्ति काय की दूसरी गाथा की टीका में आचार्य

---

१. मूलसघ कृत पुस्तक गच्छ देशीयोद्यङ्गणाधिपसुतार्किक चक्रवर्ती।
सैद्धान्तिकेश्वरशिखामणिर्मेघचन्द्रस्त्रैविद्य देव इति सद्विबुधाः स्तुवन्ति ॥२९॥
श्रवण० जैन ले० सं० भा० १ ले० नं० ४७ पृ० ५८

वीरनन्दी के 'आचारसार' के चतुर्थ अधिकार के ९५, ९६ नं० के दो श्लोक उद्धृत किये हैं। और डा० ए० एन० उपाध्ये ने अपनी प्रवचनसार की प्रस्तावना में आचार्य जयसेन का समय ११५० ई० के बाद विक्रम की १२वीं शताब्दी का उत्तरार्ध निश्चित किया है। इससे स्पष्ट है कि आचार्य जयसेन वीरनन्दी के ही समकालीन थे; क्योंकि आचारसार के मूल रचे जाने के कुछ समय बाद आचार्य वीरनन्दी ने ११५३ A.D. (वि० सं० १२१०) में उस पर एक कनड़ी टीका बनाई। इससे आचार्य वीरनन्दी का समय वि० की १२वीं शताब्दी का उत्तरार्ध और १३वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। वे १३वीं शताब्दी में १०वर्ष जीवित रहे हैं। क्योंकि कन्नड टीका उस समय रची गई है। इनके शिष्य नेमिनाथ ने आचार्य सोमदेव के 'नीतिवाक्यामृत' की कनड़ टीका बनाई है।

'आचारसार' संस्कृत भाषा का अपूर्व ग्रन्थ है। इसमें श्रवणों – मुनियों की क्रियाओं का— उनके आचार-विचार का—वर्णन किया गया है। साथ ही अन्य आवश्यक विषयों का भी समावेश किया गया है। इस ग्रन्थ में 'मूलाचार' के समान १२ अधिकार दिये हैं, मूलाचार और आचारसार का तुलनात्मक अध्ययन करने से पता चलता है कि वीरनन्दी ने मूलाचार को सामने रखकर इसकी रचना की है। आदि अन्त मंगल और प्रशस्ति को छोड़कर शेष सब श्लोकों का मूलाचार के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध जान पड़ता है। हां, विषय वर्णन की क्रमबद्धता तो नहीं है। मूलाचार के १२वें पर्याप्ति अधिकार का वर्णन आचारसार के तीसरे चौथे सर्ग में पाया जाता है। इसकी तुलना मैंने जैन सि० भा० भाग ६ की प्रथम किरण में दी हुई है। ग्रन्थ पर वीरनन्दी की कन्नड़ टीका भी है, जो अभी प्रकाशित नहीं हुई।

गणधर कीर्ति

यह मुनि गुजरात के निवासी थे। इन्होंने अपनी गुरु परम्परा प्रशस्ति में निम्न प्रकार दी है सागर नन्दी, स्वर्णनन्दी, पद्मनन्दी, पुष्पदन्त कुवलयचन्द्र और गणधर कीर्ति। यह आचार्य पुष्पदन्त के प्रशिष्य और कुवलयचन्द्र के शिष्य थे। इन्होंने किन्ही सोमदेव के प्रतिबोधनार्थ, गूढ अर्थ और संकेत को दूरने वाली सोमदेवाचार्य की 'ध्यान विधि' नामक ४० पद्यात्मक ध्यान ग्रन्थ पर टीका लिखी है[1]। टीका का नाम अध्यात्म तरंगिणी है। इसमें भगवान आदिनाथ की ध्यानावस्था का वर्णन करते हुए ध्यानों का स्वरूप और विधि का विधान किया है। इस टीका का नाम अध्यात्मतरंगिणी है। लेखकों की कृपा से मूलग्रन्थ का नाम भी अध्यात्म तरंगिणी हो गया है।

गणधर कीर्ति ने वाट ग्राम (वटपद्र) जहां वीरसेनाचार्य ने धवला टीका लिखी थी। वहां शुभतुंग देव क वसति' नाम का जैनमन्दिर था। वहीं पर गणधर कीर्ति ने यह टीका विक्रमसंवत ११८९ सन् ११३२ में चैत्र शुक्ल पंचमी रविवार के दिन गुजरात के चालुक्य वंशीय राजा जयसिंह या सिद्धराज जयसिंह के राज्य काल में बनाकर समाप्त की है—जैसा उसके निम्न पद्य से प्रकट है :—

एकादश शताकीर्णे नवाशीत्युत्तरे परे।
संवत्सरे शुभे योगे पुष्यनक्षत्रसंज्ञके ॥१७
चैत्रमासे सिते पक्षेऽथ पंचम्यां रवौ दिने।
सिद्धा सिद्धिप्रदा टीका गणभृत्कीर्ति विपश्चितः ॥१८
निस्त्रिंशत जितारात‍ि विजयश्री विराजनि।
जयसिंहदेव सौराज्ये सज्जनानन्द दायनि ॥१९

भट्टवोसरि

यह दिगम्बराचार्य दामनन्दी के शिष्य थे। इन्होंने दामनन्दी के पास से आयों के गुह्य रहस्य

१. श्री सोमसेन प्रतिबोधनार्थ धर्माभिधानोच्चयशः स्थिरार्थाः।
गूढार्थसन्देहहरा प्रशस्ता टीका कृताध्यात्म तरंङ्गिणी यम्।

को जानकर 'आयज्ञानतिलक' की रचना की है[1]। यह प्रश्न विद्या से सम्बन्ध रखने वाला महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें प्रश्नों के शुभाशुभ फल को जानने और बतलाने की कला का निर्देश है। ग्रन्थ की गाथा संख्या ४१५ है। और निम्न २५ प्रकरण हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—१ आयस्वरूप, २ पातविभाग, ३ आयावस्था, ४ ग्रहयोग, ५ पृच्छा कार्यज्ञान, ६ शुभाऽशुभ, ७ लाभाऽलाभ, ८ रोगनिर्देश, ९ कन्या परीक्षण १० भूलक्षण, ११ गर्भपरिज्ञान, १२ विवाह, १३ गमनागमन, १४ परिचयज्ञान, १५ जय-पराजय, १६ वर्षालक्षण, १७ अर्धकाण्ड, १८ नष्ट परिज्ञान, १९ तपोनिर्वाह परिज्ञान, २० जीवितमान, २१ नामाक्षरोद्देश, २२ प्रश्नाक्षर-सख्या, २३ संकीर्ण, २४ काल, २५ और चक्रपूजा।

ग्रन्थ पर ग्रन्थकार की बनाई हुई स्वोपज्ञ एक संस्कृत टीका है, उसमें ही ग्रन्थ के विषय की जानकारी होती है। संभवतः ग्रन्थकार पहले अजैन रहे हों, बाद में जैन संस्कारों से संस्कृत होकर जैन धर्म में दीक्षित हुए हों और दिगम्बराचार्य दामनन्दी के शिष्य हुए हों।

जिन दामनन्दी का उन्होंने अपने को शिष्य बतलाया है वे वही जान पड़ते हैं जिनका श्रवण बेलगोल के लेख नं ५५ (६९) में उल्लेख है, जिन्होंने महावादी विष्णु भट्टको वाद में पराजित किया था—पीस डाला था, इसी से उसे 'विष्णुभट्ट-घरट्ट' लिखा है। ये दामनन्दी शिलालेखानुसार उन प्रभाचन्द्राचार्य के सधर्मा (साथी अथवा गुरुभाई) थे जिनके चरण धाराधिपति भोज द्वारा पूजित थे। और जिन्हें महाप्रभावक उन गोपनन्दी आचार्य का सधर्मा लिखा है जिन्होंने कुवादि दैत्य धूर्जटि को वाद में पराजित किया था। यदि यह कल्पना सही है तो उनके शिष्य का समय १२वीं शताब्दी हो सकता है।[2]

नाग चन्द्र

नाग चन्द्र—इनका दूसरा नाव अभिनव पम्प है। भारती कर्णपूर, कविता मनोहर, साहित्य विद्याधर, साहित्य सर्वज्ञ, और सूक्ति मुक्तवतंस आदि अनेक कवि के नाम अथवा विरुद थे। यह विद्वान होने के साथ धनवान भी था। इसने विपुल धन लगाकर 'मल्लिनाथ' का एक विशाल जिनमन्दिर बीजापुर में बनवाया था। जो इसका निवास स्थान था। उसी समय नागचन्द्र ने 'मल्लिनाथ पुराण' की रचना की थी। जो १४ आश्वासों में वर्णित है। ग्रन्थ गद्य-पद्य मय चम्पू शैली में लिखा गया है। कथन शैली मनमोहक है और सरस है।

इनके गुरु वक्र गच्छ के विद्वान मेघचन्द्र के सहाध्यायी बालचन्द्र थे। बालचन्द्र नाम के कई मुनि हो गए हैं जिनमें एक पुस्तक गच्छ भुक्त नयकीर्ति के शिष्य थे। और प्राकृत ग्रन्थों के कनडी टीकाकार होने से आध्यात्मिक बालचन्द्र कहलाते हैं। ये सन् ११९२ तक जीवित थे। दूसरे बालचन्द्र वक्र गच्छ के थे और वीरनन्दी सिद्धान्त चक्रवर्ती के गुरु मेघचन्द्र (पूज्यपाद कृत समाधि शतक या समाधितत्र के टीकाकार) के सहाध्यायी थे। यही दूसरे बालचन्द्र के गुरु थे।

कवि की दूसरी कृति रामायण अथवा पम्प रामायण है। यह बहुत ही सुन्दर एवं सरस ग्रन्थ है। इसका सभी अध्ययन करते हैं। कर्नाटक देश में इसका बड़ा प्रचार है। यह ग्रन्थ भी गद्य-पद्य मय है। जिन मुनि तनय और जिनाक्षर माला ये दो ग्रन्थ भी इनके बनाये हुए कहे जाते हैं परन्तु उनकी रचना साधारण और महत्वहीन होने के कारण उक्त कवि की कृति नहीं मालूम पड़ती। संभव है उनके रचयिता कोई दूसरे ही कवि हों। इनका समय सन् ११०५ (वि० सं० १२४०) के लगभग है।

१. जं दामनन्दि गुरुणोऽमणयं अयाए जाणियं गुज्झं।
तं आयणाणतिलए वोसरिणा भन्नए पयडं ॥२॥"

२. "श (स) वीयशास्त्रसारेण यत्कृतं जनमंडनं।
तदाय ज्ञान तिलकं स्वयं विवियते मया॥" आयज्ञान तिलक

गुणभद्र

गुणभद्र— मूलसंघ, देशीयगण, पुस्तकगच्छ और कोण्ड कुन्दान्वय के दिवाकर थे। इनके शिष्य नयकीर्ति-सिद्धान्तदेव थे और प्रशिष्य भानुकीर्ति, जिन्हें शक सं० १०६५ के विजय संवत् में होयसल वंश के बल्लाल नरेश ने पार्श्व व्रतीन्द्र को चौबीसवें तीर्थंकरों की पूजन हेतु 'मारुहल्लि' नाम का एक गाँव दान में दिया था। अतएव इनका समय वि० संम्वत् १२३० है। और गुणभद्र का समय इससे ३० वर्ष पहले माना जाय तो भी विक्रम की १२ वीं शताब्दी का अन्तिम चरण हो सकता है।'

(देखो, जैनलेख सं० भा० १ पृ० ३८५)

कर्णपार्य—के कण्णय, कर्णय, और कण्णमय आदि नामान्तर हैं। ये नाम इसके ग्रन्थों में जगह-जगह पाये जाते हैं। किन्ने कल दुर्ग के स्वामी गोवर्धन या गोपन राजा के विजयादित्य, लक्ष्मण या लक्ष्मी धर वर्धमान और शान्ति नाम के चार पुत्र थे। इनमें से कवि लक्ष्मीधर का आश्रित था। इस कवि के बनाये हुए नेमिनाथ पुराण, वीरेश चरित और मालती माधव ये तीन ग्रन्थ बताये जाते हैं। परन्तु इस समय केवल नेमिनाथ पुराण ही उपलब्ध है। इसमें २२ वे तीर्थंकर नेमिनाथ का चरित वर्णित है। ग्रन्थ में १४ आश्वास हैं और वह चम्पू रूप है। प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उसे कवि ने लक्ष्मीधर की प्रेरणा से बनाया है। इसमें लक्ष्मीधर राजा की और कृष्ण की समता बतला कर स्तुति की है। लक्ष्मीधर के गुरु नेमिचन्द्र मुनि थे, और कवि के गुरु कल्याण कीर्ति थे। कल्याण कीर्ति मलधारि गुणचन्द्र के शिष्य और मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव के—जो सन् १११५ में मृत्यु को प्राप्त हुए हैं। सतीर्थ या सहपाठी थे। गुणचन्द्र भुवनैकमल्ल राजा (११६६ से १०९७ तक) के समय में उनके गुरु थे। कविता सुगम और ललित है। रुद्रभट्ट (१२८० अण्डय्य (१२३५) मंगरस १५०६) और दोड्डय्य आदि कवियों ने इसकी प्रशंसा की है। (कर्नाटक जैनकवि)

श्रुतकीर्ति—(पंचवस्तु व्याकरण ग्रन्थ के कर्त्ता)—

नन्दि संघ की गुर्वावली में श्रुतकीर्ति को वैयाकरण भास्कर लिखा है।[1] श्रुतकीर्ति की गुरु परम्परा ज्ञात नहीं है। और उक्त व्याकरण ग्रंथ में कर्त्ता का नाम नहीं है। ग्रन्थ के पांचवे पत्र में श्रुतकीर्ति नाम आया है। जिससे मालूम होता है कि वे व्याकरण ग्रंथ के रचयिता हैं:—

"याम-वैर-वर्ण-कर-चरणादीनां संधीनां बहूनां संभवत्वात् सशयानः शिष्यः स प्रच्छतिस्म—कस्सन्धिरिति। संज्ञास्वर प्रकृति हल्ज विसर्ग जन्मा सन्धिस्तु इतीत्थ मिहाहुरन्ये। तत्र स्वर प्रकृति हल्ज विकल्पतोऽस्मिन् संधि त्रिधा कथयति श्रुतकीर्तिरार्यः।"

कनड़ी भाषा के 'चन्द्रप्रभ चरित' नामक ग्रंथ के कर्ता अग्गल कवि ने श्रुतकीर्ति को अपना गुरु बतलाया है। "इदु परमपुरुनाथकुलभूभृत समुद्भूत प्रवचन सरित्सरिन्नाथ-श्रुतकीर्ति त्रैविद्य चक्रवर्ति पद पद्मनिधान दीपवर्ति श्रीमदग्गल देव विरचिते चन्द्रप्रभचरिते—" इत्यादि।

यह चन्द्रप्रभ चरित शक सं० १०११ (वि० सं० ११४६) में बन कर समाप्त हुआ है। अतएव यह श्रुत-कीर्ति त्रैविद्य चक्रवर्ती विक्रम की १२ वीं शताब्दी के विद्वान हैं।

वृत्ति विलास

वृत्ति विलास—यह अमरकीर्ति के शिष्य थे। इसके दो ग्रंथों का—धर्म परीक्षा और शास्त्र सार का—पता चलता है। धर्म परीक्षा, अमितगतिकृत संस्कृत धर्म परीक्षा के आधार से बनाई है। इसकी रचना बहुत ही सरल और सुन्दर है। इसके गद्य-पद्य मय दश आश्वास हैं। प्रारम्भ में वर्धमान स्वामी की स्तुति की है, फिर सिद्धपरमेष्ठी, यक्ष यक्षिणी और सरस्वती को नमस्कार कर केवलियों से लेकर द्वितीय हेमदेव तक गुरुओं का स्मरण किया है। ग्रंथ के अन्त में—निम्न पुष्पिका वाक्य दिया है:—विनमदमरमुकुटतटघटितमणिगणमरीचि मञ्जरी पुञ्जरञ्जित

---

१ त्रैविद्य० श्रुतकीर्त्याख्यो वैयाकरण भास्करः।

पादरविन्दभगवदर्हत्परमेश्वरवदनविनिर्गत श्रुताम्भोधिवर्द्धन सुधाकरे श्रीमदमरकीर्तिरावुल्लव्रतीश्वरचरण सरसीरुह षट्पदवृत्तिविलासविरचिते धर्मपरीक्षा ग्रंथे—' आदि गद्य दिया है।

दूसरे ग्रंथ शास्त्रसार का कुछ भाग 'प्राक् काव्यमाला' नाम की कनड़ी-ग्रंथमाला में प्रकाशित हुआ है। परंतु पूरा ग्रंथ इस समय प्राप्य नहीं है। कवि ने अपने ग्रंथ में अपने समय आदि का कुछ भी परिचय नहीं दिया है। परंतु कवि ने जिन शुभकीर्ति व्रती, सैद्धान्तिक माघनन्दि यति, भानु कीर्तियति, धर्मभूषण, अमर कीर्ति (कवि का गुरु), अभयसूरी, वादीश्वर आदि जैनाचार्यों का स्तवन किया है। उनके समय का विचार करने से इसका समय ११६० के लगभग निश्चित होता है। उक्त आचार्यों में से शुभकीर्ति ११९५ में दिवगत होने वाले मेघचन्द्र के समकालीन थे। माघनन्दि सैद्धान्तिका समय ११६० है भानुकीर्ति ११६३ में समाधिस्थ होने वाले देवकीर्ति के सहपाठी थे। अभयसूरि, बल्लाल नरेश और चारुकीर्ति पण्डित के समकालीन थे। क्योंकि ऐसा उल्लेख मिलता है कि अभयसूरि ने इन दोनों को एक बड़ी भारी व्याधि से मुक्त करके श्रवण बेलगोल में निवास कराया था। बल्लाल विष्णुवर्धन राजा का भाई था और चारुकीर्ति श्रुतकीर्ति का पुत्र था। श्रवणबेलगुल के जैन गुरुओं ने 'चारुकीर्ति पण्डिताचार्य' का पद १११७ के अनंतर धारण किया था। इससे मालूम होता है कि यह चारुकीर्ति श्रवण बेलगोल का प्रथम चारुकीर्ति पण्डित होगा। श्रवण बेलगोल के १११ वें शिलालेख में विशालकीर्ति के शिष्य शुभकीर्ति, शुभकीर्ति के शिष्य धर्मभूषण और धर्मभूषण के शिष्य अमरकीर्ति बतलाये गये हैं। और शुभ कीर्ति १११५ में दिवगत होने वाले मेघचन्द्र के समकालीन हैं। इसलिये शुभकीर्ति के शिष्य धर्मभूषण और प्रशिष्य अमरकीर्ति का समय ११५० के लगभग होना चाहिये। शिलालेख की यह गुरु परम्परा धर्मपरीक्षोल्लिखित गुरुपरम्परा से बराबर मिलती है। किन्तु यह शिला लेख शक १२६५ परिधाविसंवत्सर का है। अतः समय विचारणीय है।

देखो, कर्नाटक जैन कवि

छत्रसेन—काष्ठासंघ माथुरान्वय के विद्वान आचार्य थे। जो उच्छूण नगर में अपने व्याख्यानों से समस्त सभाजनों को सन्तुष्ट किया करते थे[1]। उच्छूण नगर में उस समय परमारवंशीय मण्डलीक (मदनदेव) नाम के राजा का पौत्र चामुण्डराज का विजयराज पुत्र स्थलिदेश का शासक था। उक्त नगर में उस समय भूषण नामक एक जैन श्रावक ने आदिनाथ का एक मनोहर जिन मन्दिर बनवाकर उसमें वृषभनाथ (आदिनाथ) की प्रतिमा की वि० सं० ११६६ वैशाख सुदी तीज सोमवार सन् ११०९ई० को प्रतिष्ठा सम्पन्न कराई थी[2]। अतः प्रस्तुत छत्रसेनाचार्य का समय ईसा की ११वी शताब्दी का अन्तिम चरण और १२वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है।

सागरनन्दी सिद्धान्तदेव

सागरनन्दी सिद्धान्त देव—मूलसंघ देशीयगण पुस्तक गच्छ कोण्डकुन्दान्वय कोल्हापुर सामन्त वसदि से प्रतिबद्ध माघनन्दि के प्रशिष्य और शुभचन्द्रत्रैविद्यदेव के शिष्य थे। रेचिरस सेनापतिने १२०० ईस्वी के लगभग श्रवण बेलगोल में शान्तिनाथ का मन्दिर बनवाया था। कलचुरि कुल के सचिवोत्तम रेचरस ने बल्लालदेव के चरणों में आश्रय पाकर आरसिय केरे में सहस्त्रकूट जिनालय की स्थापना की। भगवान की अष्टविधपूजा, पुजारी और सेवको की आजीविका तथा मन्दिर की मरम्मत के लिए राजा बल्लाल ने 'हन्दर हल्लु' ग्राम प्राप्त करके उक्त सागर नन्दि को प्रदान किया। रेचस द्वारा स्थापित इस सहस्त्रकूट जिनालय के लिए जैनों द्वारा एक करोड़ रुपया इकठा

---

१. यो माथुरान्वय नभस्थलतिग्मभानोर्व्याख्यानरंजितसमस्तसभाजनस्य।
श्रीच्छत्रसेन सुगुरोश्चरणारविंद सेवापरोभवदन्यमनाः सदैव ॥११
—अथू णा शिलालेख अजमेर म्यूजियम्

२. विक्रम संवत् ११६६ वैशाख सुदी ३ सोमे वृषभनाथस्य प्रतिष्ठा।
श्रीवृषभनाथ धाम्नः प्रतिष्ठिते भूषणेन बिम्बमिदं उच्छूणक नगरेस्मिन्निह जगतौ वृषभनाथस्य ॥२६ अथूणालेख
वर्ष सहस्रे याते षट् षष्ठयुत्तर शतेन संयुक्ते।
विक्रम भानोः काले स्थलि विषय भवति सति विजय राज्ये

किया गया, उससे मन्दिर तथा उसकी चहार दीवार बनवाई गई। इस जिनालय के निर्माण में ७ करोड़ लोगों की सहायता होने से इसका नाम 'एल्कोटि जिनालय' रक्खा गया। आरसिय केरे के लोगों ने शान्तिनाथ का एक मन्दिर और बनवाया था। उसके प्रबन्ध के लिये दान दिया था। जैन लेख सं० भा० ३ पृ० ३११

अर्हनन्दि

अर्हनन्दि—मूलसंघ देशीगण और पुस्तक गच्छ के आचार्य माघनन्दि सिद्धान्त देव के शिष्य थे। जो रूप नारायण वसदि के आचार्य थे। शक सं० १०७३ (सन् ११५१) में कामगाबुण्ड के द्वारा बनवाए हुए मन्दिर के, जो क्षुल्लकपुर (कोल्हापुर) में रूपनारायण वसदिके नाम से प्रसिद्ध है। पार्श्वनाथ भगवान की अष्ट प्रकारी पूजा के लिये, मन्दिर की मरम्मत तथा मुनिजनों के आहारार्थ विजयादित्यदेव ने अपने मामा सामन्त लक्ष्मण की प्रेरणा से भूमिका दान दिया। इस कारण अर्हनन्दि का समय ईसा की १२वीं शताब्दी का मध्यकाल है।

—जैनलेख सं० भा० २ पृ०९६

माइल्ल धवल

यह द्रव्य स्वभाव नयचक्र के कर्त्ता माइल्ल धवल हैं। जो देवसेन के शिष्य थे। उन्होंने नयचक्र के कर्त्ता देवसेन गुरु को नमस्कार किया है और उन्हें स्यात् शब्द से युक्त सुनय के द्वारा दुर्नय रूपी दैत्य के शरीर का विदारण करने में श्रेष्ठ वीर बतलाया है। यथा—

सियसद्दसुणयदुण्णयदणुदेह-विदारणेक्कवरवीरं।
तं देवसेणदेवं णयचक्कयरं गुरुं णमह ॥ ४२३

ग्रंथ कर्त्ता ने कुन्द कुन्दाचार्य के शास्त्र से सार ग्रहण करके अपने और दूसरों के उपकार के लिए द्रव्य स्वभाव नयचक्र की रचना की है। इस ग्रन्थ में ४२५ गाथाएँ है। ग्रन्थ निम्न १२ अधिकारों में विभाजित है। जैसा कि उसकी निम्न दो गाथाओं से स्पष्ट है :—

गुणपज्जाया दवियं काया पंचत्थि सत्त तच्चाणि।
अण्णे वि णव पयत्था पमाण-णय तह य णिक्खेवं ॥८
दंसणणाणचरित्ते कमसो उवयारभेदइदरेहिं।
दव्वासहावपयासे अहियारा बारसवियप्पा ॥९

गुण, पर्याय, द्रव्य, पचास्तिकाय, साततत्त्व, नौ पदार्थ, प्रमाण, नय, निक्षेप और उपचार तथा निश्चय नय के भेद से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र। इन बारह अधिकारों में द्रव्यानुयोग का कथन समाविष्ट हो जाता है। क्योंकि जैन सिद्धान्त में छह द्रव्य पांच अस्तिकाय, सप्ततत्त्व, और नौ पदार्थ हैं। गुण और पर्यायों का आधार द्रव्य है और प्रमाण नय निक्षेप ज्ञेयों के जानने के साधन हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र मोक्ष के मार्ग हैं। इस तरह इस नयचक्र में सभी ज्ञेयों का कथन किया गया है।

माइल्ल धवल ने ४२०वीं गाथा में लिखा है कि दोहों में रचित शास्त्र को सुनते ही शुभंकरने हंस दिया और बोला—इस रूप में यह ग्रन्थ शोभा नहीं देता, गाथाओं में इसकी रचना करो।

सुणिऊण दोहसत्थं सिग्धं हसिऊण सुहंकरो भणइ।
एत्थ ण सोहइ अत्थो गाहाबंधेण तं भणह ॥४२०

ग्रन्थ कर्ता ने इस दोहा बद्ध द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र को कब किसने और कहां बनाया, इसका कोई उल्लेख नहीं किया। द्रव्य स्वभाव प्रकाश को दोहाओं में रचा हुआ देखा, और उसे माइल्ल धवल ने गाथा बद्ध किया।

दव्वसहावपयासं दोहयबंधेण आसि जं दिट्ठं।
तं गाहाबंधेण रइयं माइल्ल धवलेण ॥४२४

समय

ग्रन्थ में रचनाकाल दिया हुआ नहीं है। अतः यह निश्चय करने में कठिनाई होती है कि यह ग्रन्थ कब और कहाँ रचा गया। पुरातात्त्विक, व लेखादि सामग्री भी उपलब्ध नहीं है। अतः ग्रन्थ के अन्तः परीक्षण द्वारा इस समस्या को सुलझाने का यत्न किया जाता है। द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र में अनेक ग्रन्थकारों के पद्यों को उक्त च वाक्य के साथ उद्धृत किया गया है। और विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के विद्वान पं० आशाधर जी द्वारा इष्टोपदेश टीका का निर्माण सं० १२८५ से पूर्व हो गया था, क्योंकि सं० १२८५ में रचे जाने वाले जिन यज्ञकल्प की प्रशस्ति में इष्टोपदेश टीका का उल्लेख है। इष्टोपदेश के २२वें पद्य की टीका के अन्तर्गत द्रव्य स्वभाव प्रकाश नयचक्र की ३४९ वीं गाथा उद्धृत है :—

गहियं तं सुअणाणा पच्छा संवेयणेण भाविज्जा।
जो णहु सुय मवलंबइ सो मुज्भइ अप्पसब्भावे ।।३४६।।

चूंकि आशाधर १३वी शताब्दी के विद्वान हैं। अतः द्रव्य स्वभावप्रकाश की रचना सं० १२८५ से पूर्व हुई है। वह उसके बाद की रचना नहीं है।

एकत्व सप्तति के आदि प्रकरणों के कर्त्ता मुनि पद्मनन्दि हैं। उनकी एकत्व सप्तति के पद्य अनेक विद्वानों ने उद्धृत किये हैं। एकत्व सप्तति के दो पद्यों को पद्मप्रभ मलधारी देव ने नियमसार की टीका में (गाथा ५१—५५में) तथा चोक्तमेकत्वसप्ततौ नामोल्लेख के साथ एकत्व सप्तति का ७९ वा पद्य, और १००वीं गाथा की टीका में (३९—४१) पद्यों को उद्धृत किया है। पद्मप्रभ मलधारी देव का स्वर्गवास वि स० १२४२ में हुआ था। अतः पद्मनन्दि की एकत्व सप्तति स०१२४२ से पूर्व बनकर प्रचार में आ चुकी थी।

इस एकत्व सप्तति की एक कनड़ी टीका है जिसके कर्ता पद्मनन्दिव्रती हैं जिनकी ३ उपाधियां पाई जाती हैं। पंडित देव, व्रती और मुनि। यह शुभचन्द्र राद्धान्त देव के अग्र शिष्य थे और उनके विद्या गुरु थे कनकनन्दि पण्डित। पद्मनन्दि मुनि ने अमृतचन्द्र की वचन चन्द्रिका से आध्यात्मिक विकास प्राप्त किया था और निम्बराज नृपति के सम्बोधनार्थ एकत्व सप्तति की कनड़ी वृत्ति रची थी।[1]

प्रस्तुत निम्बराज शिलाहार वंशीय गण्डरादित्य नरेश के सामन्त थे। उन्होंने कोल्हापुर में अपने अधिपति के नाम से 'रूपनारायण वसदि, नामक जैन मन्दिर का निर्माण कराया था। तथा कार्तिक वदि ५ शक सं० १०५८ (वि० सं० ११९३) में कोल्हापुर में मिरज के आस-पास के ग्रामों का आपने दान दिया था।

एकत्व सप्तति के कर्त्ता पद्मनन्दि और कनड़ी वृत्ति के कर्त्ता पद्मनन्दि व्रती दोनों भिन्न भिन्न विद्वान हैं। पद्मनन्दि पंचविंशतिका के कर्त्ता पद्मनन्दि विक्रम की १२वीं के पूर्वार्ध के विद्वान जान पड़ते हैं। अतः द्रव्यस्वभाव प्रकाश नयचक्र के कर्त्ता माइल्ल धवल १२वी शताब्दी के मध्यकाल के विद्वान होना चाहिये।

कुमुदचन्द्र

कुमुदचन्द्र नाम के अनेक विद्वान आचार्य हो गए हैं। उनमें कल्याण मन्दिर स्तोत्र के रचयिता भिन्न कवि हैं।

१. श्रीपद्मनन्दि वृत्ति निर्मिते यम् एकत्वसप्तत्यखिलार्थ पूर्तिः ।।
वृत्तिश्चिर निम्बनृप प्रबोधलब्धात्मवृत्ति र्जयतां जगत्याम्।
स्वस्ति श्रीशुभचन्द्रराद्धान्तदेवाग्रशिष्येण कनकनन्दिपण्डितवाग्रस्मिविकसितहृत्कुमुदानन्द श्रीमद् - अमृतचन्द्र चन्द्रिकोन्मीलितनेत्रोत्पलावलोकिताशेषाध्यात्मतत्ववेदिना पद्मनन्दिमुनिना श्रीमज्जैनसुधाब्धिवर्धनकरा पूर्णेन्दुरागाति वीर श्रीपतिनिम्बराजावबोधनाय कृतैकत्वसप्ततेर्वृत्तिरियम्—तज्ज्ञाः संप्रवदन्ति सततमिह श्रीपद्मनन्दि व्रती, कामध्वंसक इत्यलं तदमृत तेषां वचस्सर्वथा अंग्रेजी प्रस्तावना पद्मनन्दि पंचविंशति पृ० १७

कल्याण मन्दिर स्तोत्र पार्श्वनाथ का स्तवन है। इस का आदिवाक्य 'कल्याण मन्दिर' से शुरु होने के कारण यह स्तोत्र कल्याणमन्दिर के नाम से प्रसिद्ध हो गया है। प्रस्तुत स्तवन मे ४४ पद्य है। उन में ४३ पद्य वसन्ततिलका छन्द मे और अन्तिम पद्य आर्यावृत्त में है। इसमें तेवीसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का स्तवन किया गया है। यह स्तवन दिगम्बर श्वेताम्बर दोनो ही सम्प्रदायों में माना जाता है। यद्यपि दिगम्बरो मे इस स्तोत्र की बड़ी भारी मान्यता है। सभी स्त्री पुरुष बालक बालिकाएं इसका नित्य पाठ करते देखे जाते हे। अनेकों को यह स्तवन कण्ठस्थ है। और अनेकों को प० बनारसीदास कृत हिन्दी पद्यानुवाद कण्ठस्थ हे।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे कल्याणमन्दिर स्तोत्र का कर्ता सिद्धसेन दिवाकर को बतलाया गया है और उनका अपर नाम कुमुदचन्द्र माना गया है[1]। सिद्धसेन दिवाकर का दूसरा नाम कुमुदचन्द्र प्राचीन इतिहास से सिद्ध नही होता और न उन्होने कही अपने इस द्वितीयनाम का कोई उल्लेख ही किया है। परन्तु अर्वाचीन कुछ ग्रन्थकारो ने उनका अपर नाम कुमुद चन्द्र गढ लिया है। जिसका इतिहास से कोई समर्थन नही होता किन्तु कल्याण मन्दिर स्तोत्र के विषयवर्णन से कई बाते श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रतिकूल पाई जाती हैं।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में तीर्थंकर के अशोक वृक्ष, सिंहासन, चमर और छत्र त्रय ये चार प्रातिहार्य माने गए है। उनके भक्तामर स्तोत्र पाठ मे भी चार ही प्रातिहार्य स्वीकार किये गये हे। शेष दुन्दुभि, पुष्पवृष्टि, भामडल और दिव्य-ध्वनि छोड़ दिये गये है। इन आठ प्रातिहार्यो का पाया जाना उक्त सम्प्रदाय के विपरीत है।

दूसरे स्तोत्र मे भगवान पार्श्वनाथ के वैरी कमठ के जीव शम्बर यक्षेन्द्र द्वारा किये गये भयकर उपसर्गो का 'प्राग्भारसम्भृत' नभांसि रजांसि रोषात् नामक ३१ व पद्य मे ३३ वे पद्य तक वर्णन है, जो दिगम्बर परम्परा के अनुकुल और श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता के प्रतिकूल हे। क्योकि दिगम्बराचार्य यतिवृषभ की 'तिलोय पण्णत्ति' की १६२० न० की गाथा मे 'सत्तम तेवीसतिम तित्थयराणं च उवसग्गो' वाक्य मे सातवें, तेवीसवें और अन्तिम तीर्थंकर के सोपसर्ग होने का उल्लेख है। किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे अन्तिम तीर्थंकर महावीर को छोड़कर शेष तेईस तीर्थंकरो को निरुपसर्ग माना गया है जैसा कि आचाराग निर्युक्ति की निम्न गाथा मे स्पष्ट है:—

सव्वेसिं तवो कम्मं निरुवसग्गं तु वण्णियं जिणाण।
नवरं तु वड्ढमाणस्स सोवसग्गं मुणेयव्वं ।।२७६

इससे स्पष्ट है कि पार्श्वनाथ का सोपसर्गी होना श्वेताम्बर मान्यता के विरुद्ध ह। ऐसी स्थिति मे सिद्धसेन दिवाकर को इस स्तोत्र का रचयिता मानना किसी तरह भी सगत नही ह। चित्तोड़ के दि० जैन कीर्तिस्तभ को श्वेताम्बर बनाने के अनेक प्रयत्न किये गये। सभवत. श्वेताम्बर परम्परा के साधुओं द्वारा इस तरह की इतिहास विरुद्ध अनेक घटनाए गढ़ी गई है। जो अप्रमाणिक ह।

प्रस्तुत कुमुदचन्द्र वे ह जिनका गुजरात के जयसिंह सिद्धराज की सभा मे वि० स० ११८१ में श्वेताम्बरीय विद्वान वादिसूरि देव के साथ वाद हुआ था। उस समय से ही सभवतः श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे उसका प्रचार हुआ जान पड़ता ह।

संभवतः इस स्तोत्र की रचना १२वी शताब्दी मे हुई हो, क्योकि वादिदेव सूरि से कुमुदचन्द्र का वाद इसी शताब्दी मे हुआ था। यह तो प्रायः निश्चित है कि कल्याणमन्दिर भक्तामर स्तोत्र के बाद की रचना है।

१ सिद्धसेनस्य दीक्षा काले 'कुमुदचन्द्र' इति नामासीन्। सूरिपदे पुनः 'सिद्धसेन दिवाकर इति नाम प्रपद्ये। तदा दिवाकर इति सूरिः सञ्ज्ञा।

—प्रबन्ध कोश—सिंघी जैन ज्ञानपीठ शान्ति निकेतन सन् १९३५ ई०, वृद्धवादि सिद्धसेन दिवाकर प्रबन्ध पृ० १६

देखो, अनेकान्त वर्ष ९ किरण ११ पृ० ४१५

२. जन्मान्तरेऽपि तव पाद युग न देव ! मन्ये मया महित मीहितदानदक्षम्।
तेनह जन्मनि मुनीश ! पराभवाना, जातो निकेतनमहं मथिताशयानाम् ।।३६

—कल्याण मन्दिर स्तोत्र

स्तवन कितना भावपूर्ण एवं सरस है इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं है पाठकगण उसकी महत्ता से स्वयं परिचित ही है।

जिनेन्द्र के गुणों में अनुराग होना भक्ति है—'गुणेषु अनुरागो भक्ति' । हां भक्ति के अनेक प्रकार हैं। वे सब प्रकार सकामा निष्कामा भक्ति में समाविष्ट हो जाते हैं। भक्त जब वीतराग के गुणों का अनुरागी होता है। तब उसका हृदय भगवत् गुणानुराग में सराबोर रहता है, उस समय उसे किसी भी वस्तु की चाह नहीं होती, वह तो केवल वीतराग भाव में संलग्न रहता है। वह उसकी निष्कामा भक्ति है, जो कर्म क्षय में साधक होती है। भक्त जब किसी वांछा से भगवान के गुण गान करता है तब उसकी अभिलाषा इच्छित पदार्थ की प्राप्ति की ओर होती है, वह बाह्य में स्तवन करता है, हाथ जोड़ता है, विनय करता है किन्तु आन्तरिक भावना ऐहिक इच्छा की पूर्ति की ओर रहती है। इसी का नाम सकामा भक्ति है, आजकल उसके रूप में भी परिवर्तन हो गया है। उस भक्ति में जितने अंश में विशुद्धि होती है उतने अंश में कर्म निर्जरा और पुण्यका बंध होता है।

कवि कहता है कि हे देव ! मुझे ऐसा लग रहा है कि जन्मान्तर में मैंने मनवांछित फल देने वाले आप के चरण कमलों की पूजा नहीं की, इसी से हे मुनीश ! मैं इस भव में हृदय भेदी तिरस्कारों का निकेतन हुआ हूं। यदि मैंने जन्मान्तर में आपके चरणों की पूजा की होती तो मुझे विश्वास है कि मेरी आपदा अवश्य टल जाती।

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि, नूनं न चेतसि मया विधृतोसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जन बान्धव दुःखपात्रं यस्मात्क्रिया प्रतिफलन्ति न भाव शून्याः ॥३८

हे नाथ ! मैंने आपका चरित्र सुना, आपके चरणों की पूजा भी की, आपके दर्शन भी किये, किन्तु निश्चय से मैंने भक्ति से आपका हृदय में धारण नहीं किया है, उसीसे मैं दुःख का पात्र हुआ हूं, क्योंकि भाव शून्य क्रियाएं फलवती नहीं होती।

कवि भगवान की भक्ति को समस्त दुःखों का नाशक मानता है:—

त्वं नाथ ! दुःख जन-वत्सल हे शरण्य, कारुण्य-पुण्य-वशते वंशिनां वरेण्य।
भक्त्या नते मयि महेश ! दयां विधाय, दुःखाङ्कुरोद्दलनतत्परतां विधेहि।

हे नाथ ! आप दीन दयाल, शरणागत प्रतिपाल, करुणानिधान योगीन्द्र और महेश्वर हैं। अतः भक्ति से नम्रीभूत मुझ पर दया करके मेरे दुःखांकुरों को नाश करने में तत्परता कीजिए।

कवि अपने आराध्य के शील पर मुग्ध है उसका विश्वास है कि भगवान की भक्ति विपत्तियों का दूर करने वाली है।

हृद्वर्तिनि त्वयि विभो ! शिथिलीभवन्ति
जन्तोः क्षणेन निबिडा अपि कर्म-बन्धाः।
सद्यो भुजंगममया इव मध्य-भाग—
मभ्यागते वन-शिखण्डिनि चन्दनस्य ॥

हे प्रभो ! आपके हृदय वर्ती होने पर कर्मों के बन्धन उसी तरह शिथिल पड़ जाते हैं जिस तरह चन्दन के वृक्ष पर मयूर के आने पर सर्पों के बन्धन ढीले पड़कर नीचे खिसकने लगते हैं। इस पद्य में कवि ने उपमालंकार द्वारा आराध्य के प्रभाव को व्यक्त किया है। पं० बनारसीदास कृत इसका पद्यानुवाद भी दृष्टव्य है:—

तुम आवत भविजन मन मांहि, कर्मनिबंध शिथिल हो जांहि।
ज्यों चन्दनतरुबोलहिंमोर, डरहिंभुजंगलखें चहुंओर ॥

इस तरह यह स्तवन अतिशय सुन्दर भावपूर्ण और सरस है। कुमुदचन्द्र की यह कृति महत्वपूर्ण है।

श्रीचन्द्र

यह कुन्दकुन्दान्वय देशीगण के आचार्य सहस्त्र कीर्ति के प्रशिष्य और वीरचन्द्र के शिष्य थे। सहस्रकीर्ति के गुरु श्रुतकीर्ति और प्रगुरु श्रीकीर्ति थे। सहस्रकीर्ति के (देवचन्द, वासवमुनि, उदयकीर्ति, शुभचन्द्र,

और वीरचन्द्र) पांच शिष्य थे। इनका समय विक्रम की ११वीं शताब्दी के मध्य भाग से लेकर १२वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक है। कवि श्रीचन्द्र ने अपने को मुनि पंडित और कवि विशेषणों के साथ उल्लेखित किया है।

कवि की दो रचनाएं उपलब्ध है। कथाकोष और रत्नकरण्ड श्रावकाचार।

कथाकोष—कवि की प्रथम कृति जान पड़ती है। कथाकोश में त्रेपन सन्धियां हैं, जिनमें विविध व्रतों के अनुष्ठान द्वारा फल प्राप्त करने वालों की कथाओं का रोचक ढंग से सकलन किया गया है। कथाएं सुन्दर और सुखद है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में मगल और प्रतिज्ञा वाक्य के अनन्तर ग्रन्थकार कहते हैं कि मैंने इस ग्रन्थ में वही कहा है जिसे गणधर ने राजा श्रेणिक या बिम्बसार से कहा था, अथवा शिवकोटि मुनीन्द्र ने भगवती आराधना में जिस तरह उदाहरणस्वरूप अनेक कथाओं के संक्षिप्त रूप प्रस्तुत किये हैं। उसी तरह गुरु क्रम मे और सरस्वती के प्रसाद से मैं भी अपनी बुद्धि के अनुसार कहता हूं। मूलाराधना में स्वर्ग और अपवर्ग के सुख साधन का—अथवा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय का—गाथाओं में जो अर्थ प्रूपित किया गया है उसी अर्थ को मैं कथाओं द्वारा व्यक्त करूंगा, क्योंकि सम्बन्ध विहीन कथन गुणवानों को रस प्रदान नहीं करता, अतएव गाथाओं का प्रकट अर्थ कहता हूं तुम सुनो[1]।

ग्रन्थकार ने देह-भोगों की असारता को व्यक्त करते हुए ऐन्द्रिक सुखों को सुखाभास बतलाया है। साथ ही धन-यौवन और शारीरिक सौन्दर्य वगैरह को अनित्य बतलाकर मन को विषय-वासना के आकर्षण से हटने का सुन्दर एवं शिक्षाप्रद उपदेश दिया है और जिन्होंने उनको जीत कर आत्म-साधना की है उनकी कथा वस्तु ही प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय है। इन कथाओं द्वारा कवि ने मानव हृदय में निर्वेदभाव उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है। प्रस्तुत कथाकोश और हरिषेण की कथाओं में अत्यधिक समानता है, श्रीचन्द्र ने उससे पर्याप्त सहयोग लिया है।

कवि ने ग्रन्थ में वंशस्थ, समानिका, पद्धड़िया, दुहडउ, (दोहा) मालिनी, अलिल्लह आदि छन्दों का प्रयोग किया है। इन छन्दों में संस्कृत के वर्णवृत्तों का प्रयोग हुआ है। जैसा कि निम्न उदाहरण से स्पष्ट है:—

"विविह रसरसाले, णेयकोऊहलाले।
ललियवयणमाले, अत्थसंदोहसाले।
भुवण-विदिद-णामे, सव्वदोसो वसामे
इह खलु कहकोसे, सुन्दरे दिण्णतोसे॥"

यह सस्कृत का मालिनी छन्द है। इसमें प्रत्येक पंक्ति में ८ और ७ अक्षरों के बाद यति क्रम से १५ अक्षर होते हैं। कवि ने प्रत्येक पक्ति को दो भागों में विभक्तकर यति के स्थान पर और पंक्ति की समाप्ति पर अन्त्यानुप्रास का प्रयोग कर छन्द को नवीन रूप दिया है।

सौराष्ट्रदेश अणहिलपुर में प्रसिद्ध प्राग्वाट वश के नीनान्वय कुल में समुत्पन्न सज्जनोत्तम सज्जन नाम का एक श्रावक था, जो धर्मात्मा था और मूलराज नृपेन्द्र की गोष्ठी में बैठता था। अपने समय में वह धर्म का एक आधार था उसका कृष्ण नाम का एक पुत्र था और जयन्ती नाम की एक पुत्री थी। जो धर्म कर्म में निरत, जनशिरो-

१. गणहर हो पयासिउ जिणवइणा, संणिय हो आसि गणवइणा॥
सिवकोडि मुणिंद जेमजए, कह कोसु कहिउ पंचम समए।
तिह गुरु कमेण अह मवि कहमि, नियबुद्धि विसेसु नेव रहमि।
मह देवि सरासइ सम्मुहिया, संभवउ समत्थु लोय महिया।
आभण्णहो मूलाराहणहें, सग्गापवग्ग सुसाहणहें।
गाहं सरियाउ सुमोहरणउ, बहु कहउ अत्थि रंजिय जणउ।
धम्मत्थ काम मोक्खावासयउ, गाहासु जासु संठियउ तउ।
ताणत्थं भणिऊण पुरउ, पुणु कहमि कहाउ कयायरउ।
घत्ता—संबंध विहूणु सव्वु वि जाणरसु न देइ गुणवन्तहं।
तेणिय गाहाउ पयडि वि ताउ कहमि कहाउ सुणंतहं॥

मणी और दानादि द्वारा चतुर्विध संघका संयोपक था। उसकी 'राणू' नामक साध्वी पत्नी से तीन पुत्र और चार पुत्रियाँ उत्पन्न हुई थीं। वीजा, साहनपाल और साढदेव। श्री, शृंगारदेवी, सुन्दु और सोखू,। इनमें से सुन्दु या सुन्दिका विशेषरूप से जैन धर्म के प्रचार और उद्धार में रुचि रखती थी। कृष्ण की सन्तान ने अपने कर्म क्षय के हेतु कथाकोश की व्याख्या कराई। कर्ता ने भव्यों की प्रार्थना से पूर्व आचार्य की कृति की रचना को श्रीचन्द्र के सम्मुख की। इसी कृष्ण श्रावक की प्रेरणा से कवि ने उक्त कथाकोश को बनाया था। प्रस्तुत ग्रन्थ विक्रम की ११वीं शताब्दी की रचना है।

रचना काल—

कवि श्रीचन्द्र ने अपना यह कथा ग्रन्थ मूलराज नरेश के राज्यकाल में अणहिलपुर पाटन में समाप्त किया था। इतिहास से ज्ञात होता है कि मूलराज सोलंकी ने सं० ६६८ में चावडा वंशीय अपने मामा सामन्तसिंह (भूयड़) को मार कर राज्य छीन लिया था[१]। और स्वयं गुजरात की राजधानी पाटन (अणहिलवाड़े) की गद्दी पर बैठ गया। इसने वि० सं० १०१७ से १०५२ तक राज्य किया है[२]। मध्य में इसने धरणी वराह पर भी चढ़ाई की थी, तब उसने राष्ट्रकूट राजा धवल की शरण ली, ऐसा धवल के वि० स० १०५३ के शिलालेख से स्पष्ट है[३]। मूलराज सोलंकी चालुक्य राजा भीमदेव का पुत्र था, उसके तीन पुत्र थे मूलराज, क्षमराज, और कर्ण। इनमें मूलराज का देहान्त अपने पिता भीमदेव के जीवन काल में ही हो गया था और अन्तिम समय में क्षेमराज को राज्य देना चाहा; परन्तु उसने स्वीकार नहीं किया, तब उसने लघुपुत्र कर्ण को राज्य देकर सरस्वती नदी के तट पर स्थित मंडूकेश्वर में तपश्चरण करने लगा। अतः श्रीचन्द्र ने अपना यह कथाकोश सन् ६६५ वि० स० १०५२ में या उसके एक दो वर्ष पूर्व ही सन् ६६३ में बनाया होगा।

रत्नकरण्डश्रावकाचार—प्रस्तुत ग्रन्थ स्वामी समन्तभद्र के रत्नकरण्ड नामक उपासकाध्ययन रूप गंभीर कृति का व्याख्यानमात्र है। कवि ने इस आधार ग्रन्थ को २१ संधियों में विभक्त किया है। जिसकी आनुमानिक श्लोक संख्या चार हजार चार सौ अट्ठाईस बतलाई गई है। कथन को पुष्ट करने के लिये अनेक उदाहरण और व्रताचरण करने वालों की कथाओं को प्रस्तुत किया गया है। गृहस्थों के आचार विषय का कथाओं के माध्यम से विशद किया गया है जिससे जन साधारण उसको समझ सके। अनेक संस्कृत पद्य भी उद्धृत किये हैं।

कवि ने ग्रन्थ में एक स्थल पर अपभ्रंश के कुछ छन्दों का भी उल्लेख किया है। अरणाल, आवलिया, चच्चरि, रासक, वत्थु, अडिल, पद्धडिया, दोहा, उपदोहा, दुवई, हेला, गाथा, उपगाथा, ध्रुवक, खंडक उवखंडक और घत्ता आदि के नाम दिये हैं यथा—

छंदणियारणाल आवलियहिं, चच्चरि रासय रासहिं ललियहि।
वत्थु अवत्थु जाइ विसेसहिं, अडिल मडिल पद्धडिया अंसहिं।
दोहय उवदोहय अवभंसहिं, दुवई हेला गाहुवगाहहिं।
धुवय खंड उवखंड य घत्तहिं, समविसमद्धसमेहिं विचित्तहिं।

प्रशस्ति में हरिनन्दि मुनीन्द्र, समन्तभद्र, अकलंक, कुलभूषण, पादपूज्य (पूज्यपाद) विद्यानन्दि, अनन्त

१. यं मूलादुदमूलपद गुरुबलः श्री मूलराज नृपो,
दर्पान्धो धरणीवराह नृपतिं यद्वद् द्विपः पादपम्।
आयातं भुविकांदि शीक मभिको यस्तं शरण्यो दधौ।
दंष्ट्रायामिवरूढमहिमा कोलो मही मण्डलम्॥
—एपि ग्राफिया इंडिका जि० १ पृ० २१

२. देखो, राजपूतानेका इतिहास दूसरा संस्करण भा० १ पृ० २४१

३. देखो, राजपूताने का इतिहास प्रथम जिल्द दूसरा सं० पृ० १६२

वीर्य, वरषेण, महामति वीरसेन, जिनसेन, विहंगसेन, गुणभद्र, सोमराज चतुर्मुख, स्वयंभू, पुष्पदन्त, श्रीहर्ष और कालिदास नाम के पूर्ववर्ती विद्वानों का उल्लेख किया गया है।

कविने स्वयं अपनी रचना में आरणाल, दुवई (१२-३) जंभिदिया उवखंडयं, गाथा और मदनावतार छंदों का प्रयोग किया है, किन्तु ग्रंथ में प्रधानता पद्धडिया की है।

कवि ने रयणकरंडसावयायार की रचना सं० ११२३ में कर्ण नरेन्द्र के राज्यकाल में श्रीवालपुर में समाप्त की थी[1]। यह कर्ण देव वही कर्ण देव ज्ञात होते हैं जो राजा भीमदेव के लघु पुत्र थे। और जिनका राज्यकाल प्रबन्ध चिन्तामणि के कर्त्ता मेरु तुंग के अनुसार सं० ११२० से ११३९ तक उन्नीस वर्ष आठ महीना और इक्कीस दिन माना जाता है। इन दोनों रचनाओं के अतिरिक्त कवि की अन्य रचनाएं अन्वेषणीय हैं, ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है।

चन्द्रकीर्ति–श्रुतबिन्दु के कर्ता)—

चन्द्रकीर्ति और उनके ग्रन्थ 'श्रुतबिन्दु' का उल्लेख मल्लिषेण प्रशस्ति में पाया जाता है। यह प्रशस्तिलेख (५४) है जो शक सं० १०५० (सन् ११२८ ई०) और वि० सं० ११८५ की फाल्गुण वदी तीज को उत्कीर्ण हुआ है, जिस दिन मुनि मल्लिषेण ने आराधना पूर्वक अपने शरीर का परित्याग किया था। चन्द्रकीर्ति का समय मल्लिषेण से सभवतः २५ वर्ष पूर्व मान लिया जाय, तो उनका समय वि० सं० ११६० के लगभग होना चाहिये।

पद्मप्रभ मलधारी देव ने अपनी नियमसार की टीका में चन्द्रकीर्ति के दो पद्यों को उद्धृत किया है। एक पद्य पृ० ६१ में चन्द्रकीर्ति के नामोल्लेख के साथ दिया है—

सकल करणग्रामालंबाद्विमुक्तमनाकुलं।
स्वहितनिरतं शुद्धं निर्व्वाणकारणकारणम्।
शम-दममावासं मैत्रीदयादममंदिरम्।
निरुपममिदं वन्द्यं श्रीचन्द्रकीर्तिमुनेर्मनः॥

दूसरा पद्य पृ० १४२ में 'तथा चोक्तं श्रुतवन्दौ' (विन्दौ)[2] वाक्यों के साथ उद्धृत किया है ?

जयतिविजयदोषोऽमर्त्यमर्त्येन्द्रमौलि-प्रविलसदुरुमालाभ्यर्चितांघ्रिर्जिनेन्द्रः।
त्रिजगदजगती यस्ये दृशौ व्यश्नुवाते सममिव विषमेष्वन्योन्यवृत्तिं निषेद्धुम्॥

इससे स्पष्ट है कि चन्द्रकीर्ति का 'श्रुतबिन्दु नामका यह ग्रन्थ मल्लिषेण और पद्मप्रभ मलाधारी देव के सामने मौजूद था। उसके बाद वह विनष्ट हो गया। ग्रन्थ भण्डारों में उसका अन्वेषण होना चाहिए।

इस पद्य में बतलाया है कि जिनका मन सम्पूर्ण इन्द्रियों के ग्रामों रहित है, जो आकुलता रहित अपने आत्मकल्याण में तत्पर है। निर्वाण के कारणभूत शुक्लध्यान की प्राप्ति का कारण हैं। समता और इन्द्रिय दमनता का मन्दिर है। दया और जितेन्द्रियता का घर है, उपमा रहित ऐसे चन्द्रकीर्ति गुरु का मन मेरे द्वारा वन्दनीय है।

चन्द्रकीर्ति नाम के दूसरे विद्वान

यह माथुर संघ के विद्वान श्रीषेणसूरि के दीक्षित शिष्य थे। जो पण्डितों में प्रधान और वादिरूपी वन के लिये कृशानु (अग्नि) थे[3]। 'चन्द्रकीर्ति तपरूपी लक्ष्मी के निवास, अर्थिजन समूह की आशा पूरी करने वाले तथा

१. रायारह तेवीमा वाससया विक्कमस्स महि वइणो।
जइया गयाहु तइया समाणिए सुंदरं रइयं॥
कण्णणरिन्द हो रज्जसुहि सिरि सिरिबालपुरम्मि वुहदें।
—बालपुर महि सिरियं रव दे एउ णंदउ कव्वु जयंणिदं

२. चन्द्रकीर्ति ने अपने शिष्यों पर अनुकम्पा करके श्रुतविन्दु ग्रन्थ की रचना की थी। देखो, शिलालेख का ३२ वां पद्य)

३. सिरि सेणसूरि पंडिय पहाणु, तहो सीसुवाइ-काणण-किसाणु।
—षट्कर्मोपदेश प्रशस्ति, जैन ग्रन्थ प्र० सं० भा० २ पृ० १४

दूसरे परवादिरूप हाथियों के लिये मृगेन्द्र (सिंह) थे। जैसा कि 'षट् कर्मोपदेश' के निम्न पद्य से प्रकट है—

पुणु दिक्खउ तहो तवसिरि-णिवास अत्थियण-संघ-वुह-पूरियासु।
परवाइ-कुंभि-दारण-मइंदु, सिरिचन्दकित्ति जायउमुणिंदु ॥

इन्हीं के छोटे सहोदर गणि अमरकीर्ति उनके शिष्य हुए थे। अमरकीर्ति ने अपना षट्कर्मोप देश और नेमिनाथ चरित सं० १२४७, और १२४४ में बना कर समाप्त किया था। अतः इनका समय भी विक्रम की १३वीं शताब्दी का द्वितीय चरण होना चाहिये, यह ईसा की १२वीं शताब्दी के विद्वान थे।

चन्द्रकीर्ति

तीसरे चन्द्रकीर्ति मूल संघ देशियगण के विद्वान राउलत्रिभुवन कीर्ति के शिष्य कल्युगिगणधर मलधारी बालचद्र राउल के पुत्र चन्द्रकीर्ति न सन् १२६८ ईसवी में स्वर्गलाभ किया। हेगोरे के भव्य लोगों के अग्रणियों ने उक्त मुनि की स्वर्ग प्राप्ति के उपलक्ष में स्मारक बनाया।

(EC. XII chik Nayakan Hallite No 24 जैन लेख सं० भाग ३ लेख नं० ५४५ पृ० ३८३

चन्द्रकीर्ति

चौथे चन्द्रकीर्ति—काष्टा संघ नन्दि तट गच्छ और विद्यागण के भट्टारक थे। यह ईडर गद्दी के पट्टधर भ० विद्याभूपण के प्रशिष्य और भ०श्रीभूपण के शिष्य थे। ईडर की गद्दी के पट्ट स्थान सूरत डूंगरपुर, सोजित्रा और कल्लोल आदि प्रधान प्रधान नगरों में थे। उनमें से भ० चन्द्रकीर्ति किस स्थान के पट्टधर थे। यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वे ईडर के आस-पास के स्थान के भट्टारक रहे हैं। यह विद्वान होने के साथ कवि भी थे, और प्रतिष्ठादि कार्यों में दक्ष थे। इन्होंने अनेक मन्दिर ओर मूर्तियों की प्रतिष्ठा करवाई थी। इनकी अनेक कृतियां उपलब्ध हैं। संस्कृत के अतिरिक्त हिन्दी में भी अनेक रचानएं पाई जाती है। यह १७ वीं शताब्दी के विद्वान हैं। इन्होंने पार्श्व पुराण की रचना स० १६५४ में की है। ऋषभदेव पुराण पद्म पुराण, पंचमेरू पूजा आदि रचनाएं इनकी कही जाती है।

माघनन्दि सिद्धान्त देव

प्रस्तुत माघ नन्दि सिद्धान्तदेव मूल संघ कुन्दकुन्दान्वय देसियगण और पुस्तक गच्छ के सिद्धान्त विद्या निधि कुलचन्द्र देव के शिष्य थे, जो पण्डितजनों के द्वारा सेव्य और चारित्र चक्रेश्वर थे।[1] यह कोल्लापुर तीर्थ क्षेत्र के कर्त्ता थे। अतएव कोल्हापुरीय कहलाते थे। यह कोल्लापुर[2] (क्षुल्लकपुर) के निवासी थे। यह माघनन्दि

---

१. सद्वृत्तः कुलचन्द्रदेव मुनिप स्सिद्धान्त विद्यानिधिः।
तच्छिष्योऽजनि माघनन्दि मुनिपः कोल्लापुरे तीर्थकृ—
द्राद्धान्ताण्र्णव पारगोऽचलघृतिश्चारित्र चक्रेश्वरः ॥

—जैन लेख सं० भा० १ ले० नं० ४०पृ० २४

२. कोल्हापुर दक्षिण महाराष्ट्र का एक शक्तिशाली नगर है। शिलालेखों और ग्रन्थ प्रशस्तियों में इसका नाम 'क्षुल्लकपुर, मिलता है। यह जैनधर्म का केन्द्र रहा है। कोल्हापुर और उसके आस-पास के अनेक दि० जैन मन्दिर बनाये गये हैं। अनेक जैन मन्दिर इस समय वैष्णव सम्प्रदाय के अधिकार में हैं। यह दिगम्बर समाज का महान् विद्यापीठ था। इसमें त्यागीव्रती मुनियों के अतिरिक्त सामन्त और राजपुरुष भी शिक्षा प्राप्त करते थे। इस पर अश्वभृत्य, कदम्ब, राष्ट्रकूट, चालुक्य और शिलाहार राजाओं ने राज्य किया है। १३वीं शताब्दी में चालुक्यों से शिलाहारों ने राज्य छीन लिया था। शिलाहार नरेश जैनधर्म के उपासक थे। इनमें मारसिंह गूवलगङ्गदेव, भोज, बल्लाल, गण्डारादित्य, विजयादित्य और द्वितीय भोज नाम के प्रतापी शासक हुए हैं। इनका राज्य सन् १०७५ से ११२६ ई० तक रहा है। इस समय भी यहाँ पर भट्टारकीय मठ मौजूद है। इन राजाओं से जैनमन्दिरों को अनेक दानप्राप्त हुए हैं।

कोल्हापुर की रूपनारायण वसति (मन्दिर) के प्रधानाचार्य थे[3]। ३३४ नं० के शिलालेख में इन माघनन्दि सिद्धांत देव को कुन्दकुन्दान्वय का सूर्य बतलाया है । इनके अनेक शिष्य थे। अपने समय के बड़े ही प्रभावशाली विद्वान थे। रूपनारायण वसदि क अतिरिक्त अन्य अनेक जिनालयों के भी प्रबंधक थे।

रूपनारायण वसदि का निर्माण सामन्त निम्बदेव ने कराया था। निम्बदेव जैन धर्म का पक्का अनुयायी था। उसने रूपनारायण वसदि का निर्माण कराकर अपना धर्म प्रेम प्रकट किया था। माघनन्दि सैद्धान्तिक इनके चारित्र गुरु थे। सन् ११३५ ई० में भगवान पार्श्वनाथ का मंदिर भी बनवाया था। इनके सामन्त केदारनाकरस, सामन्त कामदेव[4] और चमूपति भरत भी शिष्य थे[5] इनकी शिष्य परम्परा में अनेक विद्वान् हुए हैं। माघनन्दि सैद्धान्तिक के पट्ट शिष्य गण्डविमुक्त देव सिद्धान्त देव थे। अन्य शिष्य कनकनन्दि, चन्द्रकीर्ति, प्रभाचन्द्र अर्हनन्दि और माणिक्यनदि थे। ये सभी शिष्य अच्छे विद्वान् थे।

माण्डलिक गोंक—जैन धर्म का पक्का श्रद्धानी और अनुयायी था। तेरदाल के जैन मंदिर में प्राप्त शिला लेख से गोंककी जैन धर्म की दृढ़ प्रतीति का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। लेख में बतलाया है कि पंचपरमेष्ठी के स्मरण मात्र से गोंक का विषदूर होगया था। गोंक ने तेरदाल में नेमिनाथ का मदिर बनवाया था और उसके प्रबन्ध के लिये तथा जैन साधुओं को आहारदान देने के लिये भूमिदान दिया था यह दान रट्ट नरेश कार्तवीर्य (द्वितीय) के शासन काल में अपनी रानी वाचलदेवी, जो इन्ही माघनन्दि की शिष्या थी, द्वारा निर्मापित गोंक जिनालय के नेमिनाथ के लिये शक स० १०४५ (सन् ११२३ ई०) को माघनन्दि सैद्धान्तिक को दिया था।[7]

गण्ड विमुक्त देव के एक छात्र सेनापति भरत और दूसरे शिष्य भानुकीर्ति और देवकीर्ति थे। गण्डविमुक्त देव के सधर्मा श्रुतकीर्ति त्रैविद्य मुनि थे, जिन्होंने विद्वानो को भी चकित करने वाले अनुलोम-प्रतिलोमकाव्य राघव-पाण्डवीय काव्य की रचनाकर निर्मलकीर्ति प्राप्त की थी और देवेन्द्र जैसे विपक्ष वादियों को परास्त किया था।[8] इनका समय शक स० १०४५ (सन् ११२३ ई०) से १०६५ (सन् ११४३ ई०) है यह वारहवी शताब्दी के विद्वान् हैं।

देवकीर्ति

देवकीर्ति मूलसघ कुन्दकुन्दान्वय देशीय गण और पुस्तक गच्छ के विद्वान माघनन्दि सैद्धान्तिक के प्रशिष्य और गण्ड विमुक्तदेव के शिष्य थे। अद्वितीय कवि 'तार्किक, वक्ता और मण्डलाचार्य थे। इनके सन्मुख सांख्य, चार्वाक, नैयायिक, वेदान्ती और बौद्ध आदि जैनेतर दार्शनिक विद्वान अपनी हार मानते थे। इनके अनेक शिष्य थे। किन्तु पट्टधरशिष्य देवचन्द पण्डित देव थे। इनके सधर्मा माघनन्दि त्रैविद्य, शुभचन्द्र त्रैविद्य, गण्डविमुक्त चतुर्मुख और रामचन्द्र त्रैविद्य थे। देव कीर्ति के पट्टधर शिष्य देवचन्द्र पडित देव को, जो कोल्लापुरीय वसदि के थे, शक स० ११०६ सन् ११८४ ई० को भरतियय्य दण्डनाथ और बाहु बली दण्डनाथ ने दान दिया था[9]।

---

३. श्री मूलसघ देशीयगण पुस्तक गच्छ अधिपतेः क्षुल्लकपुर श्री रूपनारायण जिनालयाचार्यस्य श्रीमान् माघनन्दि सिद्धान्त देवस्य........।।"

—एपि ग्राफिका इंडिका भा० ३ पृ० २०८

४. श्री मूलसघ देशीगण-पुस्तकगच्छ क्षुल्लकपुर श्री रूपनारायण—चैत्यालयस्याचार्यः।
श्री माघनन्दि सिद्धात देवो विश्व मही स्तुतः।
कुलचन्द्र मुनेः शिष्यः कुन्दकुन्दान्वयांशुमान् ।।

—जैन लेख सं० भा० ३ ले० न० ३३४ पृ० ६५

५. देखो, जैन लेख स० भा० १ ले० न ४० पृ० २७
६. देखो, जैन लेख स० भा० २ लेख नं० २८०
७. जैन लेख स० भा० ३ लेख न० ४१४
८. जैन लेख स० भा० १ पृ० २६
९. जैन लेख स० भा० ३ ले० न० ४११

देवकीर्ति का स्वर्गवास शक स० १०८५ सन् ११६३ सुभानुसवत्सर आषाढ शुक्ला नवमी बुधवार को सूर्योदय के समय हुआ था[10]। इनका समय सन् १०४० से ११६३ ई० है। अर्थात् यह ईसा की १२वी शताब्दी के विद्वान है। यादव वशी नरेश नरसिह प्रथम के मंत्री हुल्लप ने निषद्या बनवाई, और देवकीर्ति के शिष्य लक्खनन्दि और माधवचन्द्र ने प्रतिष्ठित की।

गण्ड विमुक्त सिद्धान्तदेव

यह मूलसघ कुन्दकुन्दान्वय देशीगण पुस्तक गच्छ के कोल्हापुरीय माघनन्दि सैद्धान्तिक के शिष्य थे। बड़े विद्वान थे। शक स० १०५२ (सन् ११३० ई०) में माघनन्दि के शिष्य गण्ड विमुक्त सिद्धान्तदेव को होयसल नरेश विष्णुवर्द्धन की पुत्री एव बल्लाल देव की बडी बहिन राजकुमारी हरियब्बरसि ने एक रत्न जटित जिनालय बनवाकर स्वगुरु को प्रदान किया था[11]। और सन् ११३८ मे इन्ही गण्ड विमुक्तदेव व्रतीश को दान दिये जाने का उल्लेख है[12]। इनके पट्टधर शिष्य देवकीर्ति थे, और अन्य शिष्य शुभनन्दी थे। देवकीर्ति का समाधिमरण सन् ११६३ ई० में हुआ था[13]। इनका समय सन् ११३५ से ११४५ ई० तक है।

माणिक्यनन्दी

यह मूलसघ कुन्दकुन्दान्वय देशी गण पुस्तक गच्छ के विद्वान माघनन्दि सैद्धान्तिक के शिष्य थे।

क्षुल्लकपुर (कोल्हापुर)के शिलाहार नरेश विजयादित्य ने सन् ११४३ मे माघनन्दि के गृहस्थ शिष्य द्वारा निर्मापित जिनालय के लिये उनके शिष्य माणिक्यनन्दी को दान दिया था[14]। यह भी बडे विद्वान और तपस्वी थे। इनका समय ईसा की १२वी शताब्दी का मध्यभाग है।

माधवचन्द्र मलधारी

यह भट्टारक अमृत चन्द्र के गुरु थे। और जो प्रत्यक्ष में धर्म, उपशम, दम, क्षमा के धारक, तथा इन्द्रिय और कषायो के विजेता थे[1]। इनकी प्रसिद्धि 'मलधारी' नाम से थी। मलधारी एक उपाधि थी जो उस समय किसी किसी साधु सम्प्रदाय मे प्रचलित थी। यह उपाधि दुर्धर परीषहो, विविध उपसर्गो, और शीतउष्ण तथा वर्षा की बाधा सहते हुए भी कष्ट का अनुभव नही करते थे। पसीने सेतर बतर शरीर होने पर धूलि के कणो के ससर्ग से मलिन शरीर को पानी से धोने या नहाने जैसी घोर बाधा को भी हसते हसते सह लेते थे। ऐसे ऋषि पुगव ही उक्त उपाधि से अलकृत किये जाते थे।

इनका समय विक्रम की १२वी शताब्दी का उत्तरार्ध जान पडता है। क्योकि इनके शिष्य अमृतचन्द्र कवि सिह के गुरु थे। कवि सिह ने सिद्ध कवि के अपूर्ण खण्ड काव्य पज्जुण चरिउ को प्रशस्ति मे बम्हणवाड नगर का वर्णन किया है। उस समय वहा रणधोरी या रणधीर का पुत्र बल्लाल था जोअर्णोराज का क्षय करने के लिए काल स्वरूप था क्योकि वह उसका वेरी था। जिसका माडलिक भृत्य या सामन्त गुहिल वशीय क्षत्रीय भुल्लण बम्हणवाड का शासक था।

१० जैन लेख स०भा० १ ले० नं० ३९ (६३) पृ०

११ जैन लेख स० भाग २ ले० नं० २९३ पृ० ४४५

१२ जैन लेख स० भा० ३ ले० न० ३०७ पृ० २१

१३ जैन लेख स० भा० १ ले० न० ३९ पृ० २१

१४ जैन लेख स०भा० ३ ले० न० ३२० पृ० ५३

१ ता मलधारि देव मुणि पु गमु, ण पच्चक्ख धामु उवसमु दमु।
माहवचद आसि सुपसिद्धउ, जो खम, दम गम-णियम समिद्धउ। —पज्जुण्ण चरिउ प्रशस्ति

गुणभद्र

प्रस्तुत गुणभद्र संभवतः माथुर संघ के विद्वान थे। यह मुनि माणिक्यसेन के प्रशिष्य और नेमिसेन के शिष्य थे। इन्होंने अपने को सैद्धान्तज्ञ मिथ्यात्व कामान्त कृत, स्याद्वादामल रत्नभूषण धर, तथा मिथ्यानय ध्वंसक लिखा है, जिससे वे बड़े विद्वान तपस्वी मिथ्यात्व और काम का अन्त करने वाले, सैद्धान्तिक विद्वान थे। स्याद्वादरूप निर्मल रत्नभूषण के धारक तथा मिथ्या नयों के विनाशक थे[1]।

इनकी एक मात्र कृति 'धन्यकुमार चरित्र' है जिसमें धन्यकुमार का जीवन-परिचय अंकित किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ उन्होंने लम्ब कचुक गोत्री साहु शुभचन्द्र जो सुशील एवं शान्त और धर्म वत्सल श्रावक थे। साहु शुभचन्द्र के पुत्र वल्हण नामका था 'जो दानवान' परोपकार कर्ता, तथा न्यायपूर्वक धन का अर्जन करने वाला था, उसी धर्मानुरागी वल्हण के कल्याणार्थ धन्यकुमार चरित्र रच गया है। इसी से उसे वल्हण के नामांकित किया गया है

ग्रन्थ में कवि ने रचनाकाल नहीं दिया किन्तु उन्होंने धन्यकुमार चरित्र को विलास पुर के जिनमन्दिर में बैठकर परमर्दि के राज्य काल में बनाया था। जैसा कि प्रशस्ति के निम्न पद्य से प्रकट है:—

शास्त्र मिदं कृतं राज्ये राज्ञो श्री परमर्दिनः।
पुरे विलासपूर्वे च जिनालयैर्विराजते ॥५

इस पद्य में उल्लिखित विलास पुर झांसी जिला उत्तर प्रदेश का मोठ परगना में पचार या पछार में सन् १८७० में इस ग्राम के निवासी वृन्दावन नामक व्यक्ति को अपने मकान की नींव खोदते समय एक ताम्र शासन मिला जिसे उसने सन् १९०८ में सरकार को भेंट किया। इस अभिलेखानुसार कालिंजर नरेश परमर्दिदेव (चन्देल परमाल) ने केशव शर्मा नाम के ब्राह्मण को करिग्राम पहल के अन्तर्गत विलासपुर नामक ग्राम में कर विमुक्त भूमिदान की थी[2]। इस करिग्राम को झांसी जिले के परगना मोठ में करगेवा नामक स्थान से पहिचाना गया है—चन्देलों के समय में यह स्थान विलासपुर के नाम से प्रसिद्ध था[3]।

प्रशस्ति पद्य में उल्लिखित परिमार्दिदेव चन्देल वंशी नरेश परमाल हैं, जिनका पृथ्वीराज चौहान से सिरसा गढ़ में, जालोन जिले के उरई नामक स्थान के निकट युद्ध हुआ था। उसमें परमाल को पराजय हुई थी, फलतः झांसी का उक्त प्रदेश चौहानों के आधीन हो गया था। इस युद्ध का उल्लेख मदन पुर के सं० १२२९ सन् ११८२ ई० के लेख में पाया जाता है[4]। बाद में कुछ प्रदेश उसने वापस ले लिया था, पर झांसी जिले का उत्तरी भाग प्राप्त नही कर सका।

धन्य कुमार चरित की प्रशस्ति के ५वें पद्य में उक्त विलासपुर को 'जिनालयैर्विराजते' वाक्य द्वारा जिनलयों से शोभित लिखा है। इससे वहाँ कई जैनमन्दिर रहे होंगे। पुरातत्त्वावशेषों से ज्ञात होता है कि वहां एक छोटा सा पाषाण का मन्दिर मोजूद है, किन्तु काल के प्रभाव से आस-पास की भूमि ऊंची हो गई है और मन्दिर की छत भूमितल से ६ फुट नीचे हो गई है। अन्वेषण करने पर वहां जैन मन्दिरों का पता चल सकता है। चूंकि परमाल का राज काल ११७० से ११८२ तक तो सुनिश्चित है। उसके बाद भी रहा है। धन्य कुमार चरित्र उक्त समय के मध्य ही रचा गया जान पड़ता है।

---

१. आचार समिती दंधौ दश विधे धर्म तपः संयमम्।
सिद्धान्तस्थ गणाधिपस्य गुणिनः शिष्यो हि मान्योऽभवत्।
सैद्धान्तो गुणभद्र नाम मुनिपो मिथ्यात्व-कामान्तकृत्।
स्याद्वादामलरत्नभूषणधरो मिथ्यानयध्वंसकः ॥३   —धन्य कुमार चरित प्रशस्ति

१. यू. पी. डिस्टिक्ट गजेट्रिटियर्स, बी. वाल्यूम (१९१६, पृ० ३९, ६५—६६ तथा डी. वाल्यूम १९३४ पृ० २१

२. एपीग्राफिया इण्डिका, X, पृ० ४४—४६।

३. जैनसन्देश शोधाङ्क १७, १० अक्टूबर १९६३ का शोधकण नामका डा० ज्योतिप्रसाद का लेख।

४. देखो कनिधंम रिपोर्ट १० पृ० ९८, तथा अनेकान्त वर्ष १९ कि० १—२ में मध्यभारत का जैन पुरातत्व पृ० ५४

माधव चन्द्रव्रती

प्रस्तुत माधवचन्द्रव्रती मुनि देवकीर्ति के शिष्य थे। जो अद्वितीय तार्किक, कवि वक्ता और मण्डलाचार्य थे। इनकी कोई रचना उपलब्ध नहीं है। इनका स्वर्गवास शक सं० १०८५ (वि० स०१२२०) सुभानु संवत्सर आषाढ़ शुक्ला ६वीं बुधवार को सूर्योदय के समय हुआ था तब उनके शिष्य लक्खनन्दी, माधवचन्द्र और त्रिभुवन मल्लने इनकी निषद्या को प्रतिष्ठित किया था। अतः इनका समय सन् ११६३ (वि० सं० १२२०) सुनिश्चित है। यह ईसाकी १२वीं शताब्दी के विद्वान थे।

माधवचन्द्र

यह मूल संघ देशीयगण पुस्तक गच्छ हनसोगे बलि के आचार्य थे और शुभचन्द्र सिद्धान्त देव के शिष्य थे। होयसल नरेश विष्णु वर्द्धन ने अपने पुत्र के जन्मोपलक्ष्य में इन्हें दोरघरट्ट जिनालय (उस समय जिसका नाम पार्श्वनाथ जिनालय कर दिया गया था) के लिए ग्रामादि दान दिये थे। यह लेख नय कीर्ति सिद्धान्त चक्रव्रती के शिष्य नेमिचन्द्र पंडित देव को उसी जिनालय के लिए दिया था, जो वर्ष प्रमादिन के दान शासन में है। (एपिग्राफिया क०५ वेलूर पृ० १२४) मि० लूइराइसने इस लेख का समय सन् ११३३ ई० अनुमानित किया है। अतः यह माधवचन्द्र ईसा की १२वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के विद्वान हैं।

इन्हीं माधवमंन को शक स० १०५७ (सन् ११३५ ई०) के लगभग विष्णुवर्धन के प्रसिद्ध दण्डनायक गंगराज के पुत्र बोप्पदेव दण्ड नायक ने अपने ताऊ बम्मदेव के पुत्र तथा अनेक वस्तियों के निर्माता एचिराज की मृत्यु पर उनकी निषद्या बनवाकर उन्हीं द्वारा निर्मापित वस्तियों के लिए स्वयं एचिराज की पत्नी की प्रेरणा पर इन माधवचन्द्र को धारापूर्वक दान दिया था। (देखो, जैनलेख सं० भा० १ पृ० २६८)

चूंकि इस लेख का समय लगभग सन् १०५७ है। अतः प्रस्तुत माधवचन्द्र ईसा की ११वीं शताब्दी के विद्वान हैं।

वसुनन्दी सैद्धान्तिक

वसुनन्दी नाम के अनेक विद्वान हो गए हैं। उनमें एक वसुनन्दी योगी का उल्लेख ग्याहरवीं सदी के विद्वान अमितगति द्वितीय ने भगवती आराधना के अन्त में आराधना की स्तुति करते हुए 'वसुनन्दि योगिमहिता' पद द्वारा किया है। जिससे वे कोई प्रसिद्ध विद्वान हुए हैं। प्रस्तुत वसुनन्दी उनसे भिन्न और पश्चाद्वर्ती विद्वान हैं। किन्तु श्री कुन्दकुन्दाचार्य की वंशपरम्परा में श्रीनन्दी नामके बहुत ही यशस्वी गुणी एवं सिद्धान्त शास्त्र के पारगामी आचार्य हुए हैं। उनके शिष्य नयनन्दी भी वैसे ही प्रख्यातकीर्ति, गुणशाली सिद्धान्त शास्त्र के पारगामी और भव्य सयानन्दी थे। इन्हीं नयनन्दी के शिष्य नेमिचन्द्र थे। जो जिनागम समुद्र की वेला तरंगों से धूयमान और सकल जगत में विख्यात थे। उन्हीं नेमिचन्द्र के शिष्य वसुनन्दी थे। जिन्होंने अपने गुरु के प्रसाद से, आचार्य परम्परा से चले आये हुए श्रावकाचार को निबद्ध किया है[1]।

वसुनन्दी के नाम से प्रकाश में आने वाली रचनाओं में उपास का ध्ययन,—आप्तमीमांसा वृत्ति, जिनशतक टीका, मूलाचार वृत्ति और प्रतिष्ठा सार संग्रह ये पांच रचनाएं प्रसिद्ध हैं। इनमें उपासकाध्ययन (वसुनन्दी श्रावकाचार) और प्रतिष्ठासार संग्रह के कर्ता तो एक व्यक्ति नहीं हैं। प्रतिष्ठा पाठ के कर्ता वसुनन्दी आशाधर के बाद के विद्वान है। क्योंकि प्रतिष्ठापाठ के समान उपासकाध्ययन में जिनबिम्ब प्रतिष्ठा का खूब विस्तार के साथ वर्णन करते हुए अनेक स्थलों पर प्रतिष्ठा शास्त्र के अनुसार विधि-विधान करने की प्रेरणा की गई है[2]। इसमें प्रतिष्ठा सम्बन्धी प्रकरण है, उसमें लगभग ६० गाथाओं में कारापक, इन्द्र, प्रतिमा, प्रतिष्ठाविधि, और प्रतिष्ठा

---

१. देखो, वसुनन्दि श्रावकाचार की अन्तिम प्रशस्ति

२. उपास का ध्ययन गाथा ३९६—४१०

फल इन पाँच अधिकारों में प्रतिष्ठा-सम्बन्धी कथन दिया हुआ है। आकर शुद्धि, गुणारोपण, मन्त्रन्यास, तिलक-दान, मुख वस्त्र और नेत्रोन्मीलन आदि मुख्य-मुख्य विषयों पर विवेचना की है। इसकी यह विशेषता है कि शासन-देवी-देवता की उपासना का कोई उल्लेख नहीं है। द्रव्य पूजा, क्षेत्र पूजा, काल पूजा और भाव पूजा का वर्णन है। इस वसुनन्दि श्रावकाचार (उपास का ध्ययन) में ५४८ गाथाएं हैं, जिनमें श्रावकाचार का सुन्दर वर्णन किया गया है। ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ में अन्य श्रावकाचारों से वैशिष्ट लाने का प्रयत्न किया है। रचना पर कुन्दकुन्दाचार्य स्वामिकार्तिकेय के ग्रन्थों का और अमितगति के श्रावकाचार का प्रभाव रहा है। श्रावकाचार के कथन में कहीं-कहीं विशेष वर्णन भी दिया है उदाहरण स्वरूप। कूट तुला और हीनाधिक मानोन्मान आदि को अतिचार न मान कर अनाचार माना है। और भोगोपभोग परिमाण शिक्षाव्रत के भोगविरति, परिभोगविरति ये दो भेद बतलाये है[३]। जिनका कही दिगम्बर—श्वेताम्बर श्रावकाचारों में उल्लेख नही मिलता और सल्लेखना को कुन्दकुन्दचार्य के समान चतुर्थ शिक्षाव्रत माना है[४]।

आप्तमीमांसा वृत्ति

आचार्य समन्त भद्र के देवागम या आप्तमीमांसा में ११४ कारिकाए है। जिन पर वसुनन्दी ने अपनी वृत्ति लिखी है। कारिकाओं की यह वृत्ति अत्यन्त संक्षिप्त है जो केवल उनका अर्थ उद्घाटित करता है। वृत्ति मे कारिकाओं का सामान्यार्थ दिया है। उनका विशद विवेचन नही दिया। कही-कही फलितार्थ भी संक्षिप्त में प्रस्तुत किया है। जो कारिकाओ के अर्थ समझने में उपयोगी है। वृत्तिकार ने अपने को जडमति और विस्मरणशील बतलाते हुए अपनी लघुता व्यक्त की है। उन्होंने यह वृत्ति अपने उपकार के लिये बनाई है। इससे वृत्ति बनाने का प्रयोजन स्पष्ट हो जाता है वृत्तिकार ने ११५ व पद्य की टीका भी की है। किन्तु उन्होंने उसका कोई कारण नहीं बतलाया, सम्भवतः उन्होंने उसे मूल का पद्य समझकर उसकी व्याख्या की है। पर वह मूलकार का पद्य नहीं है।

जिनशतकटीका

यह आचार्य समन्तभद्र कृत ११६ पद्यात्मक चतुर्विंशति तीर्थकर स्तवन ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का मूलनाम 'स्तुति विद्या' है, जैसा कि उसके प्रथम मगल पद्य में प्रयुक्त हुए **'स्तुति विद्यां प्रसाधये'** प्रतिज्ञा वाक्य से ज्ञात होता है। ग्रथकार ने उसे स्वय 'आगसां जये'—पापों कोजीतने का हेतु बतलाया है। यह शब्दालकार प्रधान ग्रथ है। इसमें चित्रालकार के अनेक रूपों को दिया गया है। उनमे आचार्य महोदय के अगाध काव्य कौशल का सहज ही पता चल जाता है। इस ग्रन्थ के अन्तिम ११६ व **'गत्वैक स्तुतमेव'** पद्य के सातवे वलय मे **'शान्तिवर्मकृत'** और चौथे वलय म **जिन स्तुतिशत** पदो की उपलब्धि होती है, जो कवि और काव्य नाम को लिये हुए है। ग्रन्थ में कई तरह के चक्रवृत्त है। इसी मे टीकाकार वसुनन्दी ने टीकाकी उत्थानि का में इस ग्रथ को **'समस्त गुणगणोपेता' 'सर्वालकार भूषिता'** विशेषणो के साथ उल्लेखित किया है। ग्रंथ कितना महत्वपूर्ण है यह टीकाकार के—**'धन-कठिन-घाति कर्मन्धन दहन समर्था'** वाक्य मे जाना जाता है। जिसमें घने एवं कठोर घातिया कर्म रूपी ईंधन को भस्म करने वाली अग्नि बतलाया है। यह ग्रंथ इतना गूढ है कि बिना संस्कृत टीका के लगाना प्रायः असंभव है। अतएव टीका कार ने **'योगिना मपि दुष्करा'** विशेषण द्वारा योगियों के लिये भी दुर्गम बतलाया है। इसमें वर्तमान चौबीस तीर्थकरों का अलकृत भाषा मे कलात्मक स्तुति की गई है। इसका शब्द विन्याश अलंकार की विशेषता को लिये हुए है। कहीं श्लोक के एक चरण को उल्टा रख देने से दूसरा चरण बन जाता है, और पूर्वार्ध को उलटकर रख देने से उत्तरार्ध और समूचे श्लोक को उलट कर रख देने से दूसरा श्लोक बन जाता है। ऐसा होने पर भी अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। इस ग्रन्थ के अनेक पद्य ऐसे है जो एक से अधिक अलंकारों को लिये हुए हैं। मूल पद्य अत्यन्त क्लिष्ट और गंभीर अर्थ के द्योतक है। टीकाकार ने उन सब पदों की अच्छी व्याख्या की है और प्रत्येक पद्य के रहस्य को सरल भाषा में उद्-घाटित किया है। मूल ग्रन्थ में प्रवेश पाने के लिये विद्यार्थियों के लिये बड़े काम की चीज है। इस टीका के सहारे ग्रन्थ में सन्निहित विशेष अर्थ को जानने में सहायता मिलती है। ग्रंथ हिन्दी टीका के साथ सेवा मन्दिर से प्रकाशित

३. देखो, २१७, २१८, नं० की गाथाएं, वसनन्दि श्रा० प्र० ६६, १००।

४. देखो, उक्त श्राव का चार गाथा नं० २७१, २७२, पृ० १०६।

हो चुका है।

आचार वृत्ति

मूलाचार मूलसंघ के आचार विषय का वर्णन करने वाला प्राचीन मौलिक ग्रन्थ है। जिसका उल्लेख ५वीं शताब्दी के आचार्य यति वृषभ ने तिलोय पण्णत्ति के आठवे अधिकार की ५३२वीं गाथा में 'मूलाइरिया' वाक्य के साथ किया है। और नवमी शताब्दी के विद्वान आचार्य वीरसेन ने अपनी धवला टीका में 'तह आयारंगे वि वुत्तं' वाक्य के साथ उसकी 'पंचत्थिकाया' नाम की गाथा उद्धृत की है जो उक्त आचारांग में ४०० नम्बर पर पाई जाती है। १२वीं शताब्दी के आचार्य वीरनन्दी ने आचारसार में मूलाचार की गाथाओं का अर्थशः अनुवाद किया है। १३वीं शताब्दी के विद्वान पं० आशाधर जी ने 'उक्तं च मूलाचारे' वाक्य के साथ अनगार धर्मामृत की टीका के पृ० ५५४ में 'सम्मत्तणाण संजम' नाम की गाथा उद्धृत की है जो मूलाचार में ५१६ नम्बर पर पाई जाती है। १५वी शताब्दी के भट्टारक सकलकीर्ति ने 'मूलाचार प्रदीप' नाम के ग्रथ में मूलाचार की गाथाओं का सार दिया है। इससे उसके परम्परा प्रचार का इतिवृत्त पाया जाता है। ग्रन्थ में १२४६ गाथाए है जो १२ अधिकारों में विभक्त हैं।

इस ग्रन्थ की टीका का नाम आचारवृत्ति है, इसके कर्ता आचार्य वसुनन्दी हैं। टीकाकार ने टीका की उत्थानिका में वट्टकेराचार्य का नामोल्लेख किया है, परन्तु उनका कोई परिचय नहीं दिया, शिलालेखादि में भी वट्टकेर का नाम उपलब्ध नही होता, और न उनकी गुरु परम्परा ही मिलती है। टीका गाथाओं के सामान्यार्थ की बोधक है। यद्यपि उनकी विशेष व्याख्या नही है, किन्तु कही-कही गाथाओं की अच्छी व्याख्या लिखी है। और उनके विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। टीकाकार ने षडावश्यक अधिकार की १७६वी गाथा की टीका में अमितगति उपासकाचार के—'त्यागी देह ममत्वस्य तनूत्सृतिरुदाहृता' आदि पंच श्लोक उद्धृत किये हैं। टीका में वसुनन्दी ने उसकी रचना का समय नहीं किया। डा० ए० एन० उपाध्ये ने इस वृत्ति का समय १२वीं शताब्दी बतलाया है[1]।

समय

आचार्य वसुनन्दी ने अपने उपासकाचार में और टीका ग्रन्थों में उनका रचनाकाल नहीं दिया। इस लिये निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि उक्त रचनाएं कब-बनी। विक्रम की १३ वीं शताब्दी के विद्वान पं० आशाधर जी ने सं० १२९६ में समाप्त हुए सागारधर्मामृत की टीका में वसुनन्दी का आदरणीय शब्दों में उल्लेख किया है:—

> **यस्तु—पंचुंबरसहियाइं सत्त वि वसणाइं जो विवज्जेइ।**
> **सम्मत्तविसुद्धमई सो दंसणसावओ भणिओ ॥२०५॥**

इति वसुनन्दी सैद्धान्त मतेन दर्शन प्रतिमायां प्रतिपन्नस्तस्येदं। तन्मते नैव व्रत प्रतिमायां विभ्रतो ब्रह्माणु व्रतं स्यात् तद्यथा—'पव्वेसु इत्थिसेवा अणंगकीडा सया विवज्जेइ। थूलयड बंभयारी जिणेहिं भणिदो पवयणम्मि। इस उल्लेख से वसुनन्दी १३वीं शताब्दी से पूर्ववर्ती है। चूंकि उन्होंने ११वीं शताब्दी के आचार्य अमितगति के उपासकाचार के ५ पद्य आचार वृत्ति में उद्धृत किये हैं। अतः वसुनन्दी का समय ११वीं शताब्दी का उपान्त्य और १२वीं शताब्दी का पूर्वार्ध हो सकता है।

नरेन्द्रकीर्ति त्रैविद्य

मूलसंघ कोण्ड कुन्दान्वय देशियगण पुस्तक गच्छ की गुरु परम्परा में सागरनन्दी सिद्धान्तदेव के प्रशिष्य और अर्हनन्दि मुनि के शिष्य नरेन्द्रकीर्ति त्रैविद्य देव थे, जो न्याय व्याकरण और जैन सिद्धान्त के कमल वन थे। इनके साथी ३६ गुण पालक मुनिचन्द्र भट्टारक थे। कौशिक मुनिकी परम्परा में होने वाला देवराज था, उसका पुत्र उदयादित्य था, उसके तीन पुत्र थे, देवराज, सोमनाथ, और श्रीधर। इनमें देवराज कडुचरिते का प्रधान था। उसे देवराज होयसलने सूरनहल्लि ग्राम दान में दिया, वहां उसने एक जिनमन्दिर बनवाया, उसकी अष्ट विधपूजा और आहार दान के निमित्त उक्त ग्राम सन् ११५४ ई० में मुनिचन्द्र को प्रदान किया। और उसका नाम पार्श्वपुर

रक्खा। इससे प्रस्तुत नरेन्द्र कीर्ति ईसा की १२वीं शताब्दी के विद्वान हैं। (जैन लेख सं० भा० ३ पृ० ६०)

त्रिभुवन मल्ल

त्रिभुवन मल्ल तर्काचार्य देवकीर्ति के शिष्य थे। इनके दो शिष्य और भी थे। लक्खनन्दि और माधवचन्द्र व्रती। देवकीर्ति का स्वर्गवास शक सं० १०८५ सन् ११६३ (वि० सं० १२२०) में सुभानु संवत्सर में आषाढ़ शुक्ला ९वीं बुधवार को हुआ था। अतः त्रिभुवन मल्ल का समय ईसा की १२वीं शताब्दी का उत्तरार्ध और विक्रम की १३वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। जैन लेख सं० भा० १ पृ० २२,२३

मुनिकनकामर

मुनि कनकामर चन्द्रऋषि गोत्र में उत्पन्न हुए थे। उनका कुल ब्राह्मण था। किन्तु देह भोगों से वैराग्य होने के कारण वे दिगम्बर मुनि हो गये थे। कवि के गुरु बुध मंगलदेव थे। कवि भ्रमण करते हुए आसाइ (आशापुरी) नगरी में पहुंचे थे। वे जिन चरण कमलों के भक्त थे। कवि ने वहां के भव्य जनों के विनय पूर्वक व स्नेह वश करकण्डु चरित की रचना की। जिनके अनुराग वश इस ग्रन्थ की रचना की, उनकी प्रशंसा करते हुए भी कवि ने उनका नामोल्लेख नहीं किया। किन्तु वह कनक वर्ण और मनोहर शरीर का धारक था, विजय पाल नरेश का स्नेह पात्र, धर्म रूपी वृक्ष का सींचने वाला, दुस्सह वैरियों का विनाशक, तथा बान्धवों, इष्टों और मित्र जनों का उपकारी था। भूपाल राजा का मनमोहक, अनाथों का दुःख भंजक और कर्ण नरेन्द्र का हृदय रंजक था, बड़ा दानी, धैर्यशाली, और जिन चरण कमलों का मधुकर था। उसके तीन पुत्र थे आहुल, रल्हु और राहुल। जो कनकामर के चरण कमलों के भ्रमर थे।

कवि ने ग्रंथ में सिद्धसेन, समन्तभद्र, अकलंक देव, जयदेव, स्वयंभू और पुष्पदन्त का उल्लेख किया है। इन में कवि पुष्पदन्त ने अपना महापुराण सन् ९६५ ई० में समाप्त किया था। अतः करकण्डु चरित उसके बाद की रचना है। कवि द्वारा उल्लिखित राजा गण यदि चन्देलवंशी हैं जिनका डा० हीरालाल जी ने उल्लेख किया है। तो ग्रंथ का रचना समय विक्रम की ११ वीं शताब्दी हो सकता है। डा० हीरालाल जी ने विजयपाल कीर्तिवर्मा (भुवनपाल) और कर्ण इन तीनों राजाओं का अस्तित्व समय सन् १०४० और १०५१ के आस-पास का बतलाया है।[1] अतः मुनि कनकामर का समय विक्रम की ११ वीं शताब्दी का मध्यकाल हो सकता है। ग्रंथ कर्त्ता के गुरु बुध मंगल देव हैं, पर उनका भी कहीं से कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है।

प्रस्तुत ग्रंथ एक खण्ड काव्य है इस में पार्श्वनाथ की परम्परा में होने वाले राजा करकण्डु का जीवन परिचय अंकित किया गया है। ग्रंथ दश संधियों में विभक्त है, जिनमें २०१ कडवक दिये हुये हैं। कवि ने ग्रंथ को रोचक बनाने के लिए अनेक अावान्तर कथाएं दी हैं। जो लोक कथाओं को लिये हुए है। उनमें मंत्र शक्ति का प्रभाव, अज्ञान से आपत्ति, नीच संगति का बुरा परिणाम और सत्संगति का अच्छा परिणाम दिखाया गया है। पांचवी कथा एक विद्याधर ने मदनावलि के विरह से व्याकुल करकंडु के वियोग को संयोग में बदल जाने के लिए सुनाई। सातवीं कथा शुभ शकुन-परिणाम सूचिका है। आठवीं कथा पद्मावती ने विद्याधरी द्वारा करकंडु के हरण किये जाने पर शोकाकुल रतिवेगा को सुनाई। नोमीकथा भवान्तर में नारी को नारीत्व का परित्याग करने की सूचिका है। ग्रन्थ में देशी शब्दों का प्रचुर व्यवहार है, जो हिन्दी भाषा के अधिक नजदीक है। रस अलंकार, श्लेष और प्राकृतिक दृश्यों से ग्रन्थ सरस बन पड़ा है। ग्रन्थ में तेरापुर की ऐतिहासिक गुफाओं का परिचय भी अंकित है, जो स्थान धाराशिव जिले में तेर पुर के नाम से प्रसिद्ध है। डा० हीरालाल जी ने इस कंकण्डुचरित का सानुवाद सम्पादन किया है जो भारतोय ज्ञान पीठ से प्रकाशित हो चुका है।

कवि श्रीधर

प्रस्तुत कवि हरियानादेश का निवासी था। और अग्रवाल कुल में उत्पन्न हुआ था। इनके पिता का

१. विशेष परिचय के लिये करकण्डु चरित की प्रस्तावना देखें।

नाम बुध 'गोल्ह' था[1] और माता का नाम था वील्हा देवी, जो सति साध्वी और धर्म परायणा थी। कवि ने इसके अतिरिक्त अपनी जीवन घटनाओं और गृहस्थ जीवन का कोई परिचय नहीं दिया। कवि की इस समय दो रचनाए उपलब्ध है। पासणाह चरिउ और वड्ढमाण चरिउ। कवि ने ग्रन्थ में चन्द्रप्रभ चरित का उल्लेख किया है।

पासणाह चरिउ

प्रस्तुत ग्रंथ एक खण्ड काव्य है। जिसमें १२ सन्धियां है जिनकी श्लोक सख्या ढाई हजार से ऊपर है। ग्रन्थ में जैनियों के तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ का जीवन परिचय अंकित किया गया है। कथानक वही है जो अन्य प्राकृत-संस्कृत ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में कवि ने दिल्ली नगर का अलंकृत भाषा में अच्छा परिचय दिया है। उस समय दिल्ली जोयणिपुर (योगिनीपुर) के नाम से विख्यात था, जन-धन से सम्पन्न, उत्तुगसाल (कोट) गोपुर, विशाल परिखा (खाई) रणमडपों, सुन्दर मदिरों, समद गजघटाओं, गतिशील तुरंगों, और ध्वजाओं से अलकृत थी। स्त्रियों के पदनूपुर ध्वनि को सुनकर नाचते हुए मयूरों और विशाल हट्ट मार्गों का निर्देश किया गया है।

उस समय दिल्ली में तोमर वशी क्षत्रिय अनगपाल तृतीय का राज्य था।[2] यह अनगपाल अपने दो पूर्वज अनंगपालों से भिन्न अर्थात तृतीय अनगपाल नाम से ख्यात था। यह बड़ा प्रतापी और वीर था, इसने हम्मीर वीर की सहायता की थी। ये हम्मीर वीर अन्य कोई नहीं, प्रतिहार वश की द्वितीय शाखा के हम्मीर देव जान पड़ते हैं, जिन्होंने सवत् १२१२ से १२२४ तक ग्वालियर मे राज्य किया है। अनगपाल का इनसे क्या सम्बंध था, यह कुछ ज्ञात नहीं हो सका। उस समय दिल्ली वैभव सम्पन्न थी, और उसमे विविध जाति और धर्म वाले लोग रहते थे।

ग्रन्थ रचना में प्रेरक

पार्श्वनाथ चरित की रचना के प्रेरक साहू नट्टल था, जिसका पारिवारिक परिचय कवि ने निम्न प्रकार दिया है। साहु नट्टल के पिता का नाम 'जल्हण' था। इनका वश अग्रवाल था, वह सदा धर्म कर्म में सावधान रहते थे। माता का नाम मेमडिय था, जो शील रूपी सत् आभूषणो से अलकृत थी और बांधव जनों को सुख प्रदान करती थी। साहु नट्टल के दो ज्येष्ठ भ्राता थे, राघव और सोढल। इनमें राघव बड़ा ही सुन्दर एवं रूपवान था। उसे देखकर कामनियां व्यामोहित हो जाती थी। और सोढल विद्वानों को आनंद दायक, गुरु भक्त और अरहंत देव की स्तुति करने वाला था, जिसका शरीर विनय रूपी आभूषणो से अलकृत था, तथा बड़ा बुद्धिवान और धीर-वीर था। नट्टल साहु इन सब में लघु, पुण्यात्मा, सुन्दर और जनवल्लभ था। कुल रूपी कमलो का आकर और पाप रूपी पासु (रज) का नाशक, तीर्थंकर का प्रतिष्ठापक, वन्दी जनों को दान देने वाला, पर दोषों के प्रकाशन से विरक्त रत्नत्रय से विभूषित और चतुर्विध सघ को दान देने में सदा तत्पर रहता था। उस समय वह दिल्ली के जैनियों में प्रमुख था। व्यसनादि से रहित श्रावक के व्रतों का अनुष्ठान करता था। साहूनट्टल केवल धर्मात्मा ही नही था, किन्तु उच्चकोटि का कुशल व्यापारी भी था। उस समय उसका व्यापार अग, बग, कलिंग, कर्नाटक, नेपाल, भोट पांचाल, चेदि, गौड़, ठक्क (पजाब) केरल, मरहट्ठ, भादानक, मगध, गुर्जर, सोरठ और हरियाना आदि नगरों और देशों में चल रहा था। वह राजनीति का चतुर पंडित भी था, कुटुम्बी जन तो नगर सेठ थे और आप स्वय तोमरवंशी अनंगपाल तृतीय का आमात्य था। साहु नट्टल ने कवि श्रीधर से, जो हरियाना देश से यमुना नदी पार कर दिल्ली में आये थे, पार्श्वनाथ चरित बनाने की प्रेरणा की। तब कवि श्रीधर ने इस सरस खण्ड काव्य की रचना वि०

१ सिरि अयरवाल कुल सभवेण, जगणी-वील्हा-गब्भुब्भवेण।
अणवरय विणय-पणयारुहेण, कइणा बुह गोल्ह-तणुरुहेण ॥—पार्श्वनाथ च० प्र०

२ जहिं असि-वरतोडिय रिउ-कवाल, णरणाहु प्रसिद्ध अणगवाल ॥

—पा० च० प्र०

सं० ११८९ अगहन वदी अष्टमी रविवार के दिन पूर्ण की थी ।[1]

उस समय नट्टल साहु ने दिल्ली में आदिनाथ का एक प्रसिद्ध जिनमन्दिर बनवाया था, जो अत्यन्त सुन्दर था, जैसा कि ग्रंथ के निम्न वाक्यों से प्रकट है :—

कारावेवि णाहेयहो णिकेउ, पविइण्ण पंचवण्णं सुकेउ ।
पइं पुणु पइट्ठ पविरइयम, पास हो चरितु जइ पुणवि तेम ।।

उस आदिनाथ मन्दिर की उन्होंने प्रतिष्ठा विधि भी सम्पन्न की थी, उस प्रतिष्ठोत्सव का उल्लेख ग्रन्थ की पांचवीं सन्धिके बाद दिये हुए निम्न पद्य से स्पष्ट है :—

येनाराध्य विबुध्य धीरमतिना देवाधिदेवं जिनं ।
सत्पुण्यं समुपार्जितं निजगुणैः संतोषिता बांधवाः ।
जैनं चैत्यमकारिसुन्दरतरं जैनी प्रतिष्ठां तथा ।
स श्रीमान्विदितः सदैव जयतात्पृथ्वी तले नट्टलः ।।
इयं सिरि पास चरित्तं रइय बुह सिरिहरेण गुणभरियं ।
अणुमण्णिय मणोज्जं णट्टल णामेण भव्वेण ।।

कवि की दूसरी कृति 'वड्ढमाणचरिउ' है । इसमें १० संधियाँ और २३१ कडवक हैं। जिनमें अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर की जीवन गाथा दी हुई है । जिसकी श्लोक सख्या कवि ने ढाई हजार के लगभग बतलाई है। चरित वही है, जो अन्य ग्रन्थों में चर्चित है, किन्तु कवि ने उसे विविध वर्णनों से संजोकर सरस और मनहर बनाया है। ग्रन्थ सामने न होने से उसका यहां विशेष परिचय देना संभव नहीं है ।

कवि श्रीधर ने ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति में अपना वही परिचय देते हुए ग्रन्थ रचना में प्रेरक जैसवालवंशी नेमिचन्द का परिचय कराया है, और लिखा है कि मैंने यह ग्रन्थ साहु नेमिचन्द्र के अनुरोध से बनाया है, 'नेमिचन्द्र वोदाउ नगर के निवासी थे, जायस कुल कमल दिवाकर थे। इनके पिता का नाम साहु नरवर और माता का नाम सोमादेवी था, जो जैनधर्म को पालन करने में तात्पर थे । साहु नेमिचन्द्र की धर्मपत्नी का नाम 'वीवादेवी था। संभवतः इनके तीन पुत्र थे—रामचन्द्र, श्रीचन्द्र और विमलचन्द्र ।

एक दिन साहु नेमिचन्द्र ने कवि श्रीधर से निवेदन किया कि जिस तरह आपने चन्द्रप्रभचरित्र और शान्तिनाथ चरित्र बनाये हैं उसी तरह मेरे लिये अन्तिम तीर्थंकर का चरित्र बनाइये । तब कवि ने उक्त चरित्र का निर्माण किया है । इसीसे कवि ने प्रत्येक सन्धि पुष्पिका में उसे नेमिचन्द्रानुमत लिखा है, जैसा कि उसके निम्न पुष्पिका वाक्य से प्रकट है :—

"इय सिरि वड्ढमाण तित्थयरदेवचरिए पवरगुणरयणगुणभरिए विबुह सिरि सुकइसिरिहरविरइए सिरि णेमचंद अणुमण्णिए वीरणाह णिव्वाणगमणवण्णणो णाम दहमो परिच्छेओ सम्मत्तो ।"

कवि ने प्रत्येक सन्धि के प्रारम्भ में जो संस्कृत पद्य दिये हैं उनमें नेमिचन्द्र को सम्यग्दष्टि, धीर, बुद्धिमान, लक्ष्मीपति, न्यायवान, और भव-भोगों से विरक्त बतलाते हुए उनके कल्याण की कामना की गई है । जैसा कि उसकी आठवीं सन्धि के प्रारंभ के निम्न श्लोक से प्रकट है :—

यः सदृष्टि रुदारधीरधिषणो लक्ष्मीमता संमतो ।
न्यायान्वेषणतत्परः परमतप्रोक्तागमासंगतः
जैनेकाभव-भोग-भंगुरवपुः वैराग्यभावान्वितो,
नन्दत्वात्सहि नित्यमेवभुवने श्रीनेमिचन्द्रश्चिरम् ।।

---

१ विक्कम णरिदं सुप्रसिद्ध कालि; ढिल्ली पट्टणि धण-कण विसालि ।
स णवासि एयारह सएहिं, परिवाडिए वरिसहं परिगएहिं ।
कसणट्ठमीहिं आगहण मासि; रविवार समाणिउं सिसिर भासि ।। १२—१८

कवि ने इस ग्रन्थ को विक्रम संवत् ११९० में ज्येष्ठ कृष्णा पंचमी शनिवार के दिन बनाकर समाप्त किया है [1]। इस से एक वर्ष पहले सं० ११८९ में पार्श्वनाथ चरित नट्टल साहुकी प्रेरणा से बनाया। चन्द्रप्रभचरित सं० ११८९ से पूर्व बन चुका था, संवत् ११८७ या ११८८ में बनाया हो। और संभवतः ११८९ में ही शान्तिनाथ चरित की रचना की है, इसी से उसका उल्लेख सं० ११९० के वर्धमान चरित में किया है। कवि ने अन्य किन ग्रन्थों की रचना की, यह अभी अन्वेषणीय है। ये दोनों चरित ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं।

अमृतचन्द्र (द्वितीय)

यह महामुनि माधवचन्द्र मलधारी के शिष्य थे, जो प्रत्यक्ष धर्म, उपशम, दम, क्षमा के धारक और इन्द्रिय तथा कषायों के विजेता थे, और उस समय 'मलधारि देव' के नाम से प्रसिद्ध थे। अमृत चन्द्र इन्हीं माधव चन्द्र के शिष्य थे। यह महामुनि अमृत तप तेज रूपी दिवाकर, व्रत नियम तथा शील के रत्नाकर थे। तर्क रूपी लहरों से जिन्होंने परमत को झकोलित कर दिया था—डगमगा दिया था, जो उत्तम व्याकरण रूप पदों के प्रसारक थे। जिनके ब्रह्मचर्य के तेज के आगे कामदेव भी छिप गया था—वह उनके समीप नहीं आ सकता था। इसमें उनके पूर्ण ब्रह्मचर्य निष्ठ होने का उल्लेख मिलता है। इनके शिष्य सिंह कवि ने, जब अमृत चन्द्र विहार करते हुए बह्मणवाड नगर (सिरोही) में आये तब सिद्ध कवि के अपूर्ण एवं खण्डित 'प्रद्युम्न चरित' का उद्धार किया था। इनका समय विक्रम की १२वीं शताब्दी है।

ता मलधारी देउ मुणि-पुंगमु, णं पच्चक्ख धम्मु उवसमु दमु।
माहवचंद आसि सुपसिद्धउ, जो खम-दम-जम-णियम-समिद्धउ।
तासु सीसु तव-तेय-दिवायरु, वय-तव-णियम-सील-रयणायरु।
तक्क-लहरि-झंकोलिय परमउ, वर-वायरण-पवर पसरिय पउ।
जासु भुवणदूरंतरु वंकिवि, ठिउ पच्छण्णु मयणु आसंकिवि।
अमियचंदु णामेण भडारउ, सोविहरंतु पत्तु बुह-सारउ।
सरिसर-णंदण-वण-संछण्णउ, मठ-विहार-जिणभवण - रवण्णउ।
वम्हण वाडउ णामें पट्टणु। जैनग्रन्थ प्र० सं० भा० २ पृ० २१

मल्लिषेणमलधारी

यह द्रमिलसंघ नन्दिगण अरुङ्गलान्वय के वादीभसिंह अजितसेन पंडित देव और कुमारसेन के शिष्य थे। तथा श्रीपाल त्रैविद्य के गुरु थे। मल्लिषेण बड़े तपस्वी थे। उनका शरीर बारह प्रकार के प्रचण्ड तपश्चरण का धाम था। और वह धूल धूसरित रहता था, उसका वे कभी प्रक्षालन नहीं करते थे। उन्होंने आगमोक्त रत्नत्रय का आचरण किया था और निःशल्य होकर अशेष प्राणियों को क्षमाकर जिनपाद मूल में देह का परित्याग किया था—सन्यास विधि द्वारा शक सं० १०५० के कीलक संवत्सर में (सन् ११२८ ई०) में श्रवण बेलगोल में तीन दिन के अनशन से मध्याह्न में शरीर का परित्याग किया था। जैसा कि मल्लिषेण प्रशस्ति के अन्तिम पद्यों से स्पष्ट है:—

आराध्यरत्न-त्रयमागमोक्तं विधायनिश्शल्यमशेष जन्तोः।
क्षमां कृत्वा जिनपादमूले देहं परित्यज्य दिवं विशामः ॥७१॥
शाके शून्यशराबरावनिमिते संवत्सरेकीलके,
मासे फाल्गुण के तृतीय दिवसे वासं सितेभास्करे।

१ णिव विक्कमाइच्च हो कालए, णिव्वुच्छववर तूर खालए।
एयारह सएहिं परि विगयहिं, संवच्छर सय णवहि समेयहि।
जेट्ठ पढम पक्खइं पंचमिदिणे सूरुवारे गयणं गणि ठिइमणे॥ —जैन ग्रंथ प्र० सं० भा० २ पृ० १७८

स्वातौ श्वेत-सरोवरे सुरपुरं यातो यतीनां पति—
र्म्मध्याह्ने दिवसत्रयानशनतः श्रीमल्लिषेणो मुनिः ।।

लक्ष्मण देव

कवि लक्ष्मण देव का वंश पुरवाड था। पिता का नाम रयण देव या रत्न देव था। इनकी जन्मभूमि मालव देशान्तर्गत गोनन्द[1] नामक नगर में थी। यह नगर उस समय जैन धर्म और विद्या का केन्द्र था। वहां अनेक उत्तुंग जिन मन्दिर तथा मेरु जिनालय भी था। कवि अत्यन्त धार्मिक धन सम्पन्न और रूपवान था। और निरन्तर जिनवाणी के अध्ययन में लीन रहता था। वहां पहले पतंज्जलिने व्याकरण महाभाष्य की रचना की थी। जो विद्वानों के कण्ठ का आभारण रूप था। इससे गोनद नगर की महत्ता का आभास मिलता है। यह नगर मालवदेश में था। और उज्जैन तथा भेलसा (विदिशा) के मध्यवर्ती किसी स्थान पर था। वहा के निवासी कवि जिनवाणी के रस का पान किया करते थे। इनके भाई का नाम अम्बदेव था, जो कवि थे, उन्होंने भी किसी ग्रन्थ की रचना की थी। पर वह अनुपलब्ध है। मालव प्रान्त के किसी शास्त्र भण्डार में उसकी तलाश होनी चाहिये।

कवि ने ग्रन्थ में रचना काल नहीं दिया, जिससे यह निश्चित करना कठिन है कि ग्रन्थ कब रचा गया। कवि ने गुरु परम्परा और पूर्ववर्ती कवियों का कोई उल्लेख नहीं किया। ग्रन्थ की प्रति लिपि संवत् १५१० की प्राप्त हुई है। उससे इतना ही कहा जा सकता है कि ग्रन्थ सं० १५१० से पूर्व रचा गया है। कितने पूर्व रचा गया, यह विचारणीय है। ग्रन्थ सभवतः ११वी शताब्दी में रचा गया है।

ग्रन्थ परिचय

प्रस्तुत णेमिणाह चरिउ' में चार संधियां और ८३ कडवक है जिनकी आनुमानिक श्लोक संख्या १३५० के लगभग है। ग्रन्थ में चरित और धार्मिक उपदेश की प्रधानता होते हुए भी वह अनेक सुन्दर स्थलों से अलंकृत है ग्रन्थ की प्रथम संधि में जिन और सरस्वती के स्तवन के साथ मानव जन्म की दुर्लभता का निर्देश करते हुए सज्जन-दुर्जन का स्मरण किया है और फिर कवि ने अपनी अल्पज्ञता को प्रदर्शित किया है। (मगध देश और राजगृह नगर के कथन के पश्चात् राजा श्रेणिक (बिम्बसार) अपनी ज्ञान पिपासा को शांत करने के लिये गणधर से नेमिनाथ का चरित वर्णन करने के लिये कहता है। वराडक देश में स्थित वारावती या द्वारावती नगरी में जर्नादन नाम का राजा राज्य करता था, वहीं शौरीपुर नरेश समुद्रविजय अपनी शिव देवी के साथ रहते थे। जरासन्ध के भय से यादव गण शौरीपुर छोड़कर द्वारिका में रहने लगे। वहीं उनके तीर्थकर नेमिनाथ का जन्म हुआ था। यह कृष्ण के चचेरे भाई थे। बालक का जन्मादि संस्कार इन्द्रादि देवों ने किया था। दूसरी संधि में नेमिनाथ की युवावस्था, वसंत वर्णन और जल क्रीड़ा आदि के प्रसंगों का कथन दिया हुआ है। कृष्ण को नेमिनाथ के पराक्रम से ईर्षा हो होने लगती है और वह उन्हें विरक्त करना चाहते हैं। जूनागढ़ के राजा की पुत्री राजमती से नेमिनाथ का विवाह

१. प्रस्तुत 'गोणंद' नगर जिसे गोदर्न, या गोनद्ध कहा जाता था, मालव देश में अवस्थित था। डा० दशरथ शर्मा एम०ए० डी० लिट् के अनुसार गोनर्द या गोनद्ध नगर पतञ्जलि की जन्म भूमि था। पतञ्जलि गोनर्दीय के नाम से प्रसिद्ध थे। पतञ्जलि ने पुष्प मित्र शुङ्ग से यज्ञ करवाया था। उन्होंने व्याकरण महाभाष्य की रचना इसी नगर में की थी। पतञ्जलि की गोनर्दीय संज्ञा भी उनके महाभाष्य की रचना का संकेत करती है। इसी से कवि लक्ष्मण ने भी नेमिनाथ चरित की प्रशस्ति में वहाँ प्रथम व्याकरण सार के रचे जाने का उल्लेख किया है।

सुत्त नियात की बुद्ध घोषीय टीका 'परमत्थज्योतिका' के अनुसार भी गोनद्ध या गोनर्द की स्थिति मालवदेश में थी। बुद्धघोष ने उज्जयिनी गोनद्ध वैदिश और वनसाह्वय (तुम्बवन) का एक साथ वर्णन किया है। इसमें गोणंद नगर की स्थिति का स्पष्ट प्रतिभाष हो जाता है।

See Studies in the Geographyof Ancient and Medieval India p. 206—218)

निश्चित होता है। बारात सज-धज कर जूनागढ़ के सन्निकट पहुंचती है, नेमिनाथ बहुत से राज पुत्रों के साथ रथ में बैठे हुए आस-पास की प्राकृतिक सुषमा का निरीक्षण करते हुए जा रहे थे। उस समय उनकी दृष्टि एक ओर गई तो उन्होंने देखा कि बहुत से पशु एक बाड़े में बन्द हैं। वे वहां से निकलना चाहते हैं किन्तु वहां से निकलने का कोई मार्ग नही है। नेमिनाथ ने सारथि से रथ रोकने को कहा और पूछा कि ये पशु यहां क्यों रोके गए हैं। नेमिनाथ को सारथि से यह जान कर बड़ा खेद हुआ कि बरात में आने वाले राजाओं के आतिथ्य के लिये इन पशुओं का वध किया जायगा। इससे उनके दयालु हृदय को बड़ी ठेस लगी, वे बोले यदि मेरे विवाह के निमित्त इतने पशुओं का जीवन संकट में है, तो धिक्कार है मेरे इस विवाह को, अब मैं विवाह नही करूंगा। पशुओं को छुड़वाकर तुरन्त ही रथ से उतर कर मुकुट और कंकण को फेंक वन की ओर चल दिये। इस समाचार से बरात में कोहराम मच गया। उधर जूनागढ़ के अन्तःपुर में जब राजकुमारी को यह ज्ञात हुआ, तो वह मूर्छा खाकर गिर पड़ी। बहुत से लोगों ने नेमिनाथ को लौटाने का प्रयत्न किया, किन्तु सब व्यर्थ। नेमिनाथ पास में स्थित ऊर्जयन्त गिरि पर चढ़ गए और सहसाम्र वन में वस्त्रालकार आदि परधान का परित्याग कर दिगम्बर मुद्रा धर आत्मध्यान में लीन हो गए। राजमती अतिदुःखित होती है तीसरी सधि में इसके वियोग का वर्णन है। राजीमती ने भी तपश्चरण द्वारा आत्म-साधना की। अन्तिम सन्धि में नेमिनाथ का पूर्ण ज्ञानी हो धर्मोपदेश और निर्वाण प्राप्ति का कथन दिया हुआ है। इस तरह ग्रन्थ का चरित विभाग बड़ा ही सुन्दर तथा सक्षिप्त है, और कवि ने उक्त घटना को सजीव रूप में चित्रित करने का उपक्रम किया है।

कवि ने संसार की विवशता का सुन्दर अकन करते हुए कहा है—जिस मनुष्य के घर में अन्न भरा हुआ है। उसे भोजन के प्रति अरुचि है। जिसमें भोजन करने की शक्ति है, उसके पास शस्य (धान्य) नही। जिसमें दान का उत्साह है उसके पास धन नहीं, जिसके पास धन है, उसे अति लोभ है। जिसमें काम का प्रभुत्व है उसके भार्या नही जिसके पास स्त्री है उसका काम शान्त है। जैसा को ग्रन्थ की निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है—

जसु गेहि अण्णु तसु अरुइ होइ, जसु भोज सत्ति तसु ससु ण होइ।
जसु दाण चाहु तसु दविणु णत्थि, जसु दविणु तासु उइलोहु अत्थि।
जसु मयणुराउ तसि णत्थि भाम, जसु भाम तासु उच्छवण काम।

—णेमिणाहचरिउ ३—२

कवि ने ग्रथ में कडवकों के प्रारम्भ में हेला, दुवई और वस्तु बंध आदि छन्दों का प्रयोग किया है। किंतु ग्रन्थ में छन्दों की बहुलता नही है।

ग्रथकर्ता ने स्थान-स्थान पर अनेक सुन्दर सुभाषितों और सूक्तियों का प्रयोग किया है। वे इस प्रकार हे—

कि जीवइ धम्म विवज्जिएण— धर्म रहित जीने से क्या प्रयोजन है
कि सुहडइ संगरि कायरेण —युद्ध में कायर सुभटों से क्या ?
कि वयण असच्चा भासणेण,—झूठ वचन बोलने से क्या प्रयोजन
कि पुत्तइ गोत्त विणासणेण,—कुल का नाश करने वाले हैं पुत्र से क्या ?
कि फुल्लइ गंध विवज्जिएण— गंध रहित फूल से क्या ?

ग्रथ की पुष्पिका में कवि ने अपने पिता का उल्लेख किया है—

इति णेमिणाह चरिए अवुहकइ-रयणसुअ-लक्खणेण विरइए भव्वयणमणाणंदे णेमिकुमार संभवोणाम पढमो परिच्छेओ समत्तो।

लघु अनन्तवीर्य (प्रमेयरत्नमाला के कर्ता)

लघु अनन्त वीर्य ने अपनी गुरु परम्परा का और रचना काल का कोई उल्लेख नहीं किया। इस कारण उनके रचना काल के निश्चय करने में कठिनाई हो रही है। इन लघु अनन्तवीर्य की एक मात्र कृति परिक्षामुख पंजि-

का है, जिसका नाम उसकी पुष्पिका वाक्यों में 'लघुवृत्ति' दिया हुआ है [१]। यह ग्रन्थ प्रमेय बहुल होने के कारण बाद को इसका नाम प्रमेय 'रत्न माला' हो गया है। कर्ता ने इसके विषय का संक्षेप में इतने सुन्दर ढंग से प्रतिपादन किया है कि न्याय के जिज्ञासुओं का चित्त उसकी ओर आकर्षित होता है। इसमें समस्त दर्शनों के प्रमेयों का इतने सुन्दर एवं व्यवस्थित ढंग से प्रतिपादन किया गया है। यदि प्रमेयों का विशद वर्णन न किया जाता तो प्रमाण की चर्चा अधूरी ही रहती। माणिक्यनन्दी के परीक्षामुखकी विशाल टीका प्रमेयकमल मार्त्तण्ड इन अनन्तवीर्य के सामने था, उसमें दार्शनिक विषयों का प्रतिपादन विस्तार से किया गया है। पंजिकाकार ने प्रभाचन्द्र के वचनों को उदार चन्द्रिका की उपमा दी है और अपनी रचना पंजिका को खद्योत (जुगनू) के समान प्रकट किया है, जैसा कि उसके निम्न पद्य से प्रकट है:—

"प्रभेन्दुवचनोदार चन्द्रिकाप्रसरे सति।
मादृशाक्वनु गण्यन्ते ज्योतिरिंगण सन्निभा॥"

फिर भी लघु अनन्तवीर्य की यह कृति अपने विषय की मौलिक है, यह उसकी विशेषता है। अनन्तवीर्य ने इसकी रचना वैजेय के प्रिय पुत्र हीरप के अनुरोध से शान्तिषेण के लिये बनाई है [२]।

परीक्षामुख सूत्र ग्रन्थ छह अध्यायों में विभक्त है। उसी के अनुसार पंजिका भी छह अध्यायों में विभाजित है, जिन में प्रमाण, प्रमाण के भेदों का कथन, प्रमाण में प्रामाण्य स्वतः और अप्रमाण्य परतः होता है, मीमांसको की इस मान्यता का निराकरण करते हुए अभ्यासदशा में स्वतः और अनभ्यासदशा में परतः प्रामाण्य सिद्ध किया गया है। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के वर्णन में मति ज्ञान के ३३६ भेदों का प्रतिपादन सर्वज्ञ की सिद्धि और सृष्टि कर्तृत्व का निराकरण किया गया है। परोक्ष प्रमाण के स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदि भेदों का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए वेदों का पोरुषेय सिद्ध किया है। चार्वाक, बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक और मीमांसकों के मतों की आलोचना की गई है। प्रमाण का फल और प्रामणाभासों के भेद प्रभेदों का सुन्दर विवेचन किया है। इससे ग्रन्थ की महत्ता और गौरव बढ़ गया है।

आचार्य प्रभाचन्द्र द्वारा स्मृत अकलंक के सिद्धि विनिश्चय के व्याख्याकार अनन्तवीर्य इनसे भिन्न और पूर्ववर्ती हैं। पंडित प्रवर आशाधर जी ने अनगार धर्मामृत की स्वोपज्ञ टीका (पृ० ५२८) में प्रमेयरत्नमाला का मंगल श्लोक उद्धृत किया है [३]। इन्होंने अनगार धर्मामृत को टीका को वि० सं०१३०० (सन् १२४३) में समाप्त किया था [४]। इससे प्रमेयरत्नमालाकार लघु अनन्तवीर्य का समय ई० सन् १०६५ और ई० सन् १२४३ के मध्य आजाता है। अनन्तवीर्य की इस प्रमेय रत्नमाला का प्रभाव हेमचन्द्र की 'प्रमाण मीमांसा' पर यत्र तत्र पाया जाता है। हेमचन्द्र का समय ई० सन् १०८८ से ११७३ है [५]। अतः अनन्तवीर्य ईसा की ११वीं शताब्दी के अन्तिम चरण के विद्वान प्रमाणित होते हैं।

बालचन्द्र सिद्धान्तदेव

मूलसंघ देशीयगण और वक्र गच्छ के विद्वान थे। इनके शिष्य रामचन्द्रदेव थे। जिन्हें यादव नारायण वीरवल्लाल देव के राज्य काल में नल संवत्सर १११८ (सन्११९६) में पुराने व्यापारी कवडमय्य और देव सेट्ठि ने शान्तिनाथदेव की वसदि के लिये दान दिया था। इससे बालचन्द्र सिद्धान्तदेव का समय ईसा की १२वीं शताब्दी है।

—जैन लेख सं० भा० ३ पृ० २३०

१ इति परीक्षा मुखस्य लघुवृत्तौ द्वितीयः समुद्देशः ॥२॥

२ वैजेयप्रियपुत्रस्य हीरपस्योपरोधतः।
शान्तिषेणार्थमारब्धा परीक्षामुखपञ्जिका ॥

३ नतामरशिरोरत्न प्रभाप्रोतनखत्विषे।
नमो जिनाय दुर्वार मारवीरमदच्छिदे ॥—प्रमेय रत्नमाला

४ नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत्।
विक्रमाब्दशतेष्वेषा त्रयोदशसु कार्तिके ॥३१॥ अनगार धर्मामृत प्रशस्ति

५ प्रमाण मीमांसा प्रस्तावना पृ० ४३

प्रभाचन्द्र

प्रभाचन्द्र—मेघचन्द्र त्रैविद्य देव के प्रधान शिष्य थे। और वर्द्धन राजा की पट्टरानी शांतलदेवी के गुरु थे। शक सं० १०६८ सन् ११४६ (वि० सं० १२०३) में जिनके स्वर्गारोहण का उल्लेख श्रवणबेल्गोल के शिलालेख नं० ५० में पाया जाता है। इनके गुरु मेघचन्द्र का स्वर्गवास शक स० १०३७ (वि० स० ११७२) में हुआ था। इससे इन प्रभाचन्द्र का समय विक्रम की १२वी शताब्दी है।

देखो जैन लेख संग्रह ४८

माधवसेन नाम के अन्य विद्वान

माधवसेन मूलसंघ सेनगण और पोगरिगच्छ के चन्द्रप्रभ सिद्धान्तदेव के शिष्य थे। इन माधवसेन भट्टारकदेव ने जिन चरणों का मनन करके पंचपरमेष्ठी का स्मरण करते हुए समाधिमरण द्वारा स्वर्ग प्राप्त किया। यह लेख संभवतः सन् ११२५ ई० का है। अतः इनका समय ईसा की १२वी शताब्दी है।

(जैन लेख सं० भा० २ पृ० ४३७)

यह माधवसेन प्रतापसेन के पट्टधर थे, जिन्होंने पंचेन्द्रियों को जीत लिया था, जिससे यह महान तपस्वी जान पड़ते हैं। ये विद्वान होने के साथ-साथ मंत्रवादी भी थे। इन्होंने बादशाह अलाउद्दीन खिलजी द्वारा आयोजित वाद-विवाद में विजय प्राप्त कर जैनधर्म का उद्योत किया था, और दिल्ली के जैनियों का धर्मसंकट दूर किया था।

(देखो, जैन सि० भा०, भा० १ किरण ४ में प्रकाशित काष्ठासंघ पट्टावली का फुटनोट)

वीरसेन पंडितदेव—मूलसंघ, सेनगण और पोगरिगच्छ के विद्वान थे। इनके सहधर्मी पंडित माणिक्यसेन थे। जिन्हें सन् ११४२-४३ में दुन्दुभिवर्ष पुष्य शुद्ध सोमवार को उत्तरायण संक्रान्ति के समय, पश्चिमी चालुक्य राजा जगदेकमल्ल द्वितीय के १२००० प्रदेश पर शासन करनेवाले योगेश्वर दण्डनायक सेनाध्यक्ष ने पेर्गडे मय्दुन मल्लिदेव सेनाध्यक्ष की अनुमति से भूमि दानदिया था। (जैन लेख सं० भा० ३ पृ ५६)

नरेन्द्र सेन

लाड वागड संघ के विद्वान वीरसेन के प्रशिष्य और गुणसेन के शिष्य थे। इन वीरसेन के तीन शिष्य थे—गुणसेन, उदयसेन और जयसेन। इनमें गुणसेन सूरि अनेक कलाओं के धारक थे। इन्हीं के शिष्य नरेन्द्र सेन ने 'सिद्धान्तसार संग्रह' की रचना की है। नरेन्द्रसेन ने ग्रन्थ के पुष्पिका वाक्य में अपने को पंडिताचार्य विशेषण के साथ उल्लेखित किया है :—

"इति श्रीसिद्धान्तसारसंग्रहे पण्डिताचार्य नरेन्द्रसेनविरचित सम्यग्ज्ञाननिरूपणो द्वितीयः परिच्छेदः।"

जिस समय नरेन्द्रसेन ने सिद्धान्तसारसंग्रह की रचना की, उस समय उनके गुरु और प्रगुरु दोनों ही मौजूद थे। क्योंकि कवि ने ग्रन्थ के नवमें परिच्छेद में दोनों को नमस्कार किया है, और लिखा है कि वीरसेन के प्रसाद से मेरी बुद्धि निर्मल हुई है और गुणसेनाचार्य की भक्ति करने से उनके प्रसाद से मैं साधु संपूजित देवसेन के पट्ट पर प्रतिष्ठित हुआ हूं[1]।

जिन देवसेन के पट्ट पर नरेन्द्रसेन प्रतिष्ठित हुए वे देवसेन कौन है? यह विचारणीय है। नरेन्द्रसेन के समय की संगति को देखते हुए मुझे तो यह संभव प्रतीत होता है कि दूबकुण्ड के स्तम्भ लेख में, जो संवत् ११५२ में

---

१. योऽभूच्छ्री वीरसेनो विबुधजन कृताराधनोऽगाधवृत्तिः।
तस्माल्लब्धि प्रसादे मयि भवतु च मे बुद्धि वृद्धौ विशुद्धिः ॥२२४
सोऽयं श्री गुणसेन संयमधर प्रव्यक्तभक्तिः सदा,
सत्प्रीतिं तनुते जिनेश्वरमहासिद्धान्तमार्गे गिरः।
भूत्वा सोऽपि नरेन्द्रसेन इति वा यास्यत्यवश्यं पदम्,
श्री देवस्य समस्तसाधुमहितं तस्य प्रसादान्ततः ॥२२५

उत्कीर्ण हुआ है।[1] जिसमें—**सं० ११५२ वैशाखसुदि पञ्चम्यां श्री काष्ठासंघ महाचार्यवर्य श्रीदेवसेन पादुका युगलम्"** लेख अंकित है उसके भाग में एक खण्डित मूर्ति अंकित है जिसपर श्री देव (सेन) लिखा है। इस समय के साथ प्रस्तुत नरेन्द्रसेन का समय ठीक बैठ जाता है। अर्थात् प्रस्तुत नरेन्द्रसेन विक्रम की १२वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के विद्वान हैं। क्योंकि लाडवागड गण के जयसेन ने अपना 'धर्मरत्नाकर' सं० १०५५ में बनाकर समाप्त किया है। उनसे चौथी पीढी में प्रस्तुत नरेन्द्रसेन हुए हैं। यदि एक पीढ़ी का समय कम से कम २० वर्ष माना जाय तो तीन पीढियों का समय ६० वर्ष होता है, उसे १०५५ में जोड़ने पर सं० १११५ होता है। इसके बाद नरेन्द्रसेन का समय शुरु होता है। अर्थात् नरेन्द्रसेन सं० ११२० से ११६० के विद्वान ठहरते हैं।

ग्रन्थ रचना

इस समय इनकी दो कृतियां प्रसिद्ध हैं। एक सिद्धान्तसारसंग्रह और दूसरी कृति प्रतिष्ठादीपक है। सिद्धान्तसार संग्रह में १२ परिच्छेद या अधिकार हैं, जिनकी श्लोक संख्या १९२४ है। इस ग्रन्थ में गृद्धपिच्छाचार्य के तत्त्वार्थ सूत्र का एक प्रकार से प्रकटीकरण है। इसके साथ ही अन्य अनेक बातों का संकलन किया गया है।

प्रथम परिच्छेद में सम्यग्दर्शन का वर्णन है, और द्वितीय परिच्छेद में सम्यग्ज्ञान का निरूपण है। तीसरे परिच्छेद में सम्यक् चारित्र का तथा अहिंसादि पंचव्रतों का कथन किया गया है। चौथे परिच्छेद में अन्य मतान्तरों का वर्णन किया है। पांचवें परिच्छेद में जीव तत्त्व का कथन किया है। और छठे परिच्छेद में नरक गति का वर्णन है।

सातवे परिच्छेद के २३४ पद्यों में मध्यलोक का कथन किया है। और आठवें परिच्छेद में १४६ पद्यों द्वारा गत्यनुवाद द्वार से जीवतत्त्व का निरूपण किया गया है। नौवें परिच्छेद के २२५ पद्यों में अजीव आस्रव और बंध तत्व का वर्णन किया गया है। १० वें परिच्छेद के १६६ पद्यां द्वारा निर्जरा और प्रायश्चित्त का निरूपण किया गया है। ११ वें परिच्छेद के १०१ पद्यों में मोक्ष तत्व का वर्णन किया है और अन्तिम १२ वें परिच्छेद के ६१ पद्यों में केवलज्ञान की प्राप्ति के लिये आराधना का कथन किया है।

इनकी दूसरी कृति प्रतिष्ठा दीपक है जिसे उन्होंने पूर्वाचार्यानुसार रचा है, और जो अभी अप्रकाशित है। ग्रन्थ के अन्त में प्रशस्ति नहीं है। इसमें जिनमन्दिर, जिनमूर्ति आदि के निर्माण में तिथि, नक्षत्र, योग आदि का वर्णन, तथा स्थाप्य, स्थापक और स्थापना का कथन किया है। उसके प्रारंभ के मंगल पद्य इस प्रकार हैं:—

विश्वविश्वम्भराभारधारि धर्मधुरन्धरः। देयाद्वो मङ्गलं देवो दिव्यं श्रीमुनिसुव्रतः॥
नमस्कृत्य जिनाधीशं प्रतिष्ठासारदीपकम्। वक्ष्ये बुद्धयनुसारेण पूर्वसूरिमतानुगम्॥

अन्त में लिखा है—

सर्वग्रन्थानुसारेण संक्षेपाद्रचितं मया।
प्रतिष्ठादीपकं शास्त्रं शोधयन्तु विचक्षणाः॥

कवि सिद्ध और सिंह

कवि सिद्ध पंपाइय और देवण का पुत्र था[2]। उसने अपभ्रंश भाषा में पज्जुण्ण चरिउ (प्रद्युम्नचरित) की रचना की थी, किन्तु वह ग्रन्थ किसी तरह खण्डित हो गया था और उसी अवस्था में वह सिंह कवि को प्राप्त हुआ। कवि सिंह ने उसका समुद्धार किया था, जैसा कि निम्न वाक्य से प्रकट है:—

१. See Archeological Survey of India VoL २० P. 102

२. "पुण पंपाइय देवण णंदणु भवियण णयणाणंदणु।
बुहयणजण पय पंकय छप्पउ, भणइ सिद्ध पणमिय परमप्पउ॥"

'कइ सिद्ध हो विरयंत हो विणासु, संपत्तउ कम्मवसेण तासु।'
पर कज्जं पर कव्वं विहडंतं जेहि उद्धरियं" (पज्जुण्णच० प्र०)

कवि सिद्ध ने इसे कब बनाया, इसका कोई उल्लेख नही मिलता।

कवि सिंह गुर्जर कुल में उत्पन्न हुआ था, जो एक प्रतिष्ठित कुल था। उसमें अनेक धर्मनिष्ठ व्यक्ति हो चुके हैं। कवि के पिता का नाम 'बुध रल्हण' था, जो विद्वान थे। माता का नाम जिनमती था, जो शीलादि सद्-गुणों से विभूषित थी। कवि के तीन भाई और थे, जिनका नाम शुभंकर, गुणप्रवर और साधारण था। ये तीनों भाई धर्मात्मा और सुन्दर शरीर वाले थे। कवि सिंह स्वयं प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और देशी इन चार भाषाओं में निपुण था[१]।

कवि ने पज्जुण्ण चरिउ की रचना बिना किसी की सहायता के की थी। उसने अपने को भव-भेदन में समर्थ, शमी तथा कवित्व के गर्व सहित प्रकट किया है। कवि ने अपने को, कविता करने में जिसकी कोई समानता न कर सके ऐसा असाधारण काव्य-प्रतिभा वाला विद्वान बतलाया है। साथ ही वह वस्तु के सार-असार के विचार करने मे सुन्दर बुद्धिवाला समीचीन, विद्वानों में अग्रणी, सर्व विद्वानों की विद्वत्ता का सम्पादक, सत्कवि था।[२] उसी ने इस काव्य-ग्रन्थ का निर्माण किया है।

साथ ही कवि ने अपनी लघुता व्यक्त करते हुए अपने को छन्द अलंकार और व्याकरण से अनभिज्ञ, तर्क शास्त्र को नहीं जानने वाला और साहित्य का नाम भी जिसके कर्णगोचर नही हुआ, ऐसा कवि सिंह सरस्वती देवी के प्रसाद को प्राप्तकर सत्कवियों में अग्रणी मान्य तथा मनस्वी प्रिय हुआ है[३]।

१. जातः श्री निजधर्मकर्म निरतः शास्त्रार्थसर्वप्रियो,
भाषाभिः प्रवणश्चतुर्भिरभवच्छ्री सिंहनामा कविः।
पुत्रो रल्हण पंडितस्य मतिमान् श्रीगूर्जरांगो सिंह।
दृष्टि-ज्ञात-चरित्र भूषिततनुर्वंशे विशालेऽवनौ॥

—पज्जुण्ण चरिउ की १३वीं संधि के प्रारभ का पद्य

२. "साहाय्यं समवाप्य नात्र सुकवेः प्रद्युम्न काव्यस्य यः।
कर्ताऽभूद् भव-भेदनैकचतुरः श्री सिंह नामा शमी।
साम्यं तस्य कवित्व गर्व सहितः को नाम जातोऽवनौ,
श्रीमज्जैनमत प्रणीत सुपथे सार्थः प्रवृत्तेः क्षमा॥"

——चौदहवी संधि के अन्त में

सारासार विचार चारु धिषणः सद्धीमतामग्रणी।
जातः सत्कविरत्नसर्वविदुषां वैदुष्य संपादकः।
येनेदं चरितं प्रगल्भमनसा शातः प्रमोदास्पदं।
प्रद्युम्नस्य कृतं कृतविता जीयात् स सिंहः क्षितौ॥

——६वी संधि के अन्त में

३. छन्दोऽलंकृति-लक्षणं न पठितं नाऽश्रावि तर्कागमो;
जातं हंत न कर्णगोचरचरं साहित्य नामाऽपि च।
सिंहः सत्कविरग्रणी समभवत् प्राप्य प्रसादं पर,
वाग्देव्याः सुकवित्व जातयशसा मान्यो मनस्विप्रियः॥

गुरुपरम्परा

कविवर सिंह के गुरु मुनि पुङ्गव भट्टारक अमृतचन्द्र थे, जो तप-तेज के दिवाकर, और व्रत नियम तथा शील के रत्नाकर (समुद्र) थे। तर्क रूपी लहरों से जिन्होंने परमत को झंकोलित कर दिया था—डगमगा दिया था—जो उत्तम व्याकरण रूप पदों के प्रसारक थे, जिनके ब्रह्मचर्य के तेज के आगे कामदेव दूर से ही बकित (खंडित) होने की आशंका से मानो छिप गया था—वह उनके समीप नहीं आसकता था—इससे उनके पूर्ण ब्रह्मचर्य निष्ठ होने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है[1]।

कवि ने अन्तिम प्रशस्ति में अमृतचन्द्र को परवादियों को वाद में हराने में समर्थ और श्रुत केवली के समान धर्म का व्याख्याता बतलाया है।

प्रस्तुत भट्टारक अमृतचन्द्र उन आचार्य अमृत चन्द्र से भिन्न है, जो आचार्य कुन्दकुन्द के समयसारादि प्राभृतत्रय के टीकाकार और पुरुषार्थ सिद्धयुपाय आदि ग्रन्थों के रचयिता है। वे लोक में 'ठक्कुर' उपनाम से भी प्रसिद्ध है। उनकी समस्त रचनाओं का जैन समाज में बड़ा समादर है। वे विक्रम की दशवी शताब्दी के विद्वान हैं। उनका समय पट्टावली में सं० ९६२ दिया हुआ है जो ठीक जान पड़ता है[2]।

किन्तु उक्त भट्टारक अमृतचन्द्र के गुरु माधवचन्द्र थे, जो प्रत्यक्ष धर्म उपशम, दम, क्षमा के धारक और इन्द्रिय तथा कषायों के विजेता थे, और जो उस समय 'मलधारी देव' के नाम से प्रसिद्ध थे, और यम तथा नियम से सम्बद्ध थे। 'मलधारी' एक उपाधि थी, जो उस समय के किसी-किसी साधु सम्प्रदाय में प्रचलित थी। इस उपाधि के धारक अनेक विद्वान आचार्य हो गये है। वस्तुतः यह उपाधि उन मुनि पुंगवों को प्राप्त होती थी, जो दुर्धर परीषहों, विविध घोर उपसर्गों और शीत-उष्ण तथा वर्षा की बाधा सहते हुए भी कभी कष्ट का अनुभव नही करते थे। और पसीने से तर बतर शरीर होने पर धूलि के कणों के संसर्ग से मलिन शरीर को साफ न करने तथा पानी से धोने या नहाने जैसी घोर बाधा को भी सह लेते थे। ऐसे मुनि पुंगव ही उक्त उपाधि से अलंकृत किये जाते थे। अमृतचन्द्र भ्रमण करते हुए बम्हणवाड नगर में आये थे। इन्हीं अमृतचन्द्र गुरु के आदेश से पज्जुण्ण चरिउ की रचना कवि ने की है[3]।

रचना काल

कवि ने ग्रन्थ में रचना काल नही दिया, जिससे उसके निश्चय करने में बड़ी कठिनाई उपस्थित हो रही है। ग्रन्थ प्रशस्ति में 'बम्हणवाड' नगर का वर्णन करते हुए मात्र इतना ही उल्लेख किया गया है कि उस समय वहां रणधोरी या रणधीर का पुत्र बल्लाल था, जो अर्णोराज का क्षय करने के लिये कालस्वरूप था। और जिसका मांडलिक भृत्य अथवा सामन्त गुहिल वंशीय क्षत्री भुल्लण उस समय बम्हणवाड का शासक था[4] इससे उक्त राजाओं के राज्य काल का परिज्ञान नही होता।

आचार्य सोमप्रभ, आचार्य हेमचन्द्र और सोमतिलक सूरि के कुमारपाल चरित सम्बन्धी ग्रन्थों में

१. जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भा० २ पृ० २०

२. देखो, 'अमृतचन्द्र का समय' शीर्षक लेख, अनेकान्त वर्ष ८ कि० ४-५।

३. अमिय मयंद गुरूणं आएसं लहेवि भत्ति इय कव्वं।

प्रद्युम्न चरित की अंतिम प्रशस्ति

४. सस्सिर-णंदण-वण-संछण्णउ, मठ-विहार-जिण-भवण वण्णउ।
बम्हणवाड णामें पट्टणु, अरिणरणाह-सेणदल वट्टणु।
जो भुंजइ अरिणयय काल हो, रणधोरिय हो सुअहो बल्लाल हो।
जासु भिच्चुदुज्जण-मणमल्लणु, खत्तिउ गुहिल उत्तु जहिं भुल्लणु॥

—प्रद्युम्न चरित की प्रशस्ति

बल्लाल को मालवराज लिखा है, और यह भी लिखा है कि बल्लाल पर चढ़ाई करने वाले सेनापति ने शत्रु का शिर छेद करके कुमारपाल की विजय पताका उज्जयिनी के राजमहल पर फहरा दी। उदयगिरि (भेलसा) में कुमारपाल के दो लेख सं० १२२० और १२२२ के मिले हैं, जिनमें कुमारपाल को अवन्तिनाथ कहा गया है। मालवराज बल्लाल को मार कर कुमारपाल अवन्तिनाथ कहलाया।

मंत्री तेजपाल के आबू के लूण वसति गत सं० १२८७ के लेख में मालवा के राजा बल्लाल को यशोधवल द्वारा मारे जाने का उल्लेख है[१]।

यह यशोधवल विक्रमसिंह का भतीजा था। विक्रमसिंह के कैद हो जाने पर गद्दी पर बैठा था। यह कुमार पाल का मांडलिक सामन्त अथवा भृत्य था, मेरे इस कथन की पुष्टि अचलेश्वर मन्दिर के शिलालेख गत निम्न पद्य से भी होती है—

"तस्मान्मही······विदितान्यकलत्रपात्र, स्पर्शो यशोधवल इत्यवलम्बते स्म।
यो गुर्जरक्षितिपतिप्रतिपक्षमाजौ, बल्लालमालभत मालव मेदिनीन्द्रम्॥"

यशोधवल का वि० सं० १२०२ (सन् ११४५) का एक शिलालेख अजरी गांव में मिला है, जिसमें—**'प्रमार वंशोद्भव महामण्डलेश्वर श्रीयशोधवल राज्ये'** वाक्य द्वारा यशोधवल को परमार वंश का मण्डलेश्वर सूचित किया है। यशोधवल रामदेव का पुत्र था, इसकी रानी का नाम सौभाग्यदेवी था। इसके दो पुत्र थे, जिनमें एक का नाम धारावर्ष और दूसरे का नाम प्रल्हाददेव था। इनमें यशोधवल के बाद राज्य का उत्तराधिकारी धारावर्ष था। वह बहुत ही वीर और प्रतापी था। इसकी प्रशंसा वस्तुपाल तेजपाल प्रशस्ति के ३६वें पद्य में पाई जाती है[२]। धारावर्ष का स० १२२० एक लेख 'कायद्रा' गांव के बाहर, काशी विश्वेश्वर के मन्दिर से प्राप्त हुआ है[३]। यद्यपि इसकी मृत्यु का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिला, फिर भी उसकी मृत्यु उक्त सं० १२२० के समय तक या उसके अन्तर्गत जाननी चाहिए।

कुमारपाल जब गुजरात की गद्दी पर बैठा, तब चौलुक्यराज के राज्य का विस्तार सुदूर प्रान्तों में था। कुमारपाल उसकी व्यवस्था में लगा हुआ था, उसका मंत्री उदयन था। उदयन का तीसरा पुत्र चाहड बड़ा साहसी और समरवीर था। उस समय चाहड किसी कारणवश कुमारपाल से असन्तुष्ट हो शाकंभरी नरेश अर्णोराज से आ मिला। उसकी कूट नीति के कारण मालवा का राजा बल्लाल और चन्द्रावती का परमार विक्रमसिंह, और सपा दलक्ष का चौहान अर्णोराज ये तीनों परस्पर में मिल गए। इन्होंने कुमारपाल के विरुद्ध जबर्दस्त प्रतिक्रिया की। परन्तु वे उसमें सफल नहीं हो सके। कुमारपाल ने अर्णोराज से युद्ध कर उसे शरणागत होने को बाध्य किया, और लौटते समय विक्रमसिंह को कैद कर पिंजड़े में बन्द कर ले आया, और उसका राज्य उसके भतीजे यशोधवल को दे दिया। फिर उसने बल्लाल को मारा और इस तरह उसने तीन राजाओं को परास्त कर मालवा को गुजरात में मिलाने का सफल प्रयत्न किया[४]।

बल्लाल की मृत्यु का उल्लेख तो अनेक प्रशस्तियों में मिलता है। बड़नगर से प्राप्त कुमारपाल की प्रशस्ति के १५ श्लोकों में बल्लाल की हार और कुमारपाल की विजय का उल्लेख किया गया है। बड़नगर की

१. रोदः कदरवर्ति कीर्ति लहरी लिप्तामृतां शुद्यते—
रप्रद्युम्नवशोयशोधवल इत्यासीत्तनूजस्ततः।
यश्चौलुक्य कुमारपाल नृपतिः प्रत्यर्थिनामागतं,
मत्वा सत्वरमेव मालवपति बल्लालमालब्धवान्॥

२. शत्रुश्रेणी गलविदलनोन्निद्र निस्त्रिंशधारो, धारावर्षः समजनि सुतस्तस्य विश्व प्रशस्यः।
क्रोधाक्रान्त प्रधनवसुधा निश्चले यत्र जाताश्चोतन्नेत्रोत्पल जलकणाः कोकणाधीशपत्न्यः।

३. देखो, भारत के प्राचीन राजवंश भा० १ पृ० ७६-७७।

४. Epigraphica Indica V.3 P.० २००

इस प्रशस्ति का काल सन् ११५१ (वि० सं० १२०८) है। अतः बल्लाल की मृत्यु सन् ११५१ (वि० सं० १२०८) से पूर्व हुई है।

पर विचारणीय यह है कि बल्लाल अवन्ति का शासक कब बना, और उसका वंश क्या था ?

ऐतिहासिक दृष्टि से सन् ११३८ तक मालवा पर जयसिंह का अधिकार रहा। उसके बाद संभवतः यशोवर्मन के पुत्र जयवर्मन ने जयसिंह चौलुक्य के अन्तिम दिनों में मालवा को स्वतन्त्र कर लिया। किन्तु वह उस पर अधिक समय तक शासन नहीं कर सका। कल्याण के चालुक्य जगदेकमल्ल और होयसल नरसिंह प्रथम ने मालवा पर आक्रमण कर दिया और उसकी शक्ति नष्ट कर दी, और उस देश की राजगद्दी पर बल्लाल नाम के व्यक्ति को बैठा दिया। इस घटना के कुछ समय पश्चात् सन् १०५० के लगभग चौलुक्य कुमारपाल ने बल्लाल का वध करा कर, भेलसा तक मालवा का सारा राज्य अपने राज्य में मिला लिया।

खेरला गांव (जि० वेतूल) से प्राप्त शिलालेख में, जो शक सं० १०७९ (सन् ११५७ ई०) का है, इस शिलालेख में राजा नरसिंह बल्लाल और जैतपाल ऐसी राज परम्परा दी हुई है। यह शिलालेख खंडित है इसलिये पूरा नहीं पढ़ा जा सकता। एक दूसरा लेख भी वहीं से प्राप्त हुआ है, जो शक सं० १०९४ (सन् ११७२ ई०) का है। इस लेख का प्रारम्भ 'जिनानुसिद्धिः' वाक्य से हुआ है। जिससे जान पड़ता है कि ये राजा जैन थे। किन्तु जैतपाल को मराठी के कवि मुकुन्दराज ने वैदिक धर्म का उपदेश देकर वेदानुयायी बना लिया था।

ये सब राजा एेलवंशी राजा श्रीपाल के वंशज थे। खेरला ग्राम श्रीपाल राजा के आधीन था। श्रीपाल के साथ महमूद गजनवी (सन् ९९९ से १०२७) के भांजे अब्दुलरहमान का युद्ध हुआ था। तवारीखए अमजदिया के अनुसार यह युद्ध सन् १००१ई० में एलिचपुर और खेरला ग्राम के निकट हुआ था। अब्दुल रहमान का विवाह हो रहा था, उसी समय लड़ाई छिड़ गई, और वह दूल्हे के वेश में ही लड़ा। इस युद्ध में दोनों मारे गए।

इस ऐतिहासिक घटना से सिद्ध है कि बल्लाल ऐलवंशी था और उसके पूर्वजों का शासन एेलिचपुर में था। कल्याण के चालुक्य जगदेक मल्ल और होयसल नरसिंह प्रथम ने परमार राजा जयवर्मन के विरुद्ध सन् ११३८ के लगभग आक्रमण करके उसे राज्यच्युत कर दिया, और अपने विश्वस्त राजा बल्लाल को एलिचपुर से बुला कर मालवा का राज्य सोंप दिया। बल्लाल वहां ५-७ वर्ष ही राज्य कर पाया था। वह वीर और पराक्रमी शासक था। उतने अल्प समय में ही उसने अपना प्रभाव जमा लिया था और अपने राज्य का विस्तार कर लिया था किन्तु सन् ११४३ में या उसके कुछ समय पश्चात् चौलुक्य कुमारपाल की आज्ञा से चन्द्रावती के राजा विक्रमसिंह के भतीजे परमार वंशी यशोधवल ने बल्लाल पर आक्रमण करके युद्ध में उसका वध कर दिया और उसका सिर कुमारपाल के महलों के द्वार पर लटका दिया। उस समय से कुमारपाल अवन्तिनाथ हो गया। अस्तु, प्रस्तुत बल्लाल ही ऊन के मन्दिरों का निर्माता है।

ऊपर के कथन से यह स्पष्ट मालूम होता है कि कुमारपाल यशोधवल, बल्लाल और अर्णोराज ये सब राजा समकालीन हैं। प्रस्तुत पज्जुण्ण चरिउ की रचना ईसा की १२वीं सदी के मध्यकाल की रचना है।

ग्रन्थ रचना

पज्जुण्ण चरिउ के कर्ता कवि सिद्ध और सिंह हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ एक खण्ड काव्य है जिसमें १५ सन्धियां हैं और जिनकी श्लोक संख्या साढ़े तीन हजार के लगभग है। इसमें यदुवंशी श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न कुमार का जीवन-परिचय गुंफित किया गया है, जो जैनियों में प्रसिद्ध २४ कामदेवों में से २१वें कामदेव थे और जिन्हें उत्पन्न होते ही पूर्व जन्म का वैरी एक राक्षस उठा कर ले जाता है और उसे एक शिला के नीचे रख देता है। पश्चात् काल संवर नाम का एक विद्याधर उसे ले जाता है, और उसे अपनी पत्नी को सोंप देता है। वहां उसका लालन-पालन होता है, तथा वहां वह अनेक प्रकार की कलाओं की शिक्षा पाता है। उसके अनेक भाई भी कल, विज्ञ बनते हैं, परन्तु उन्हें इसकी चतुरता रुचिकर नहीं होती, उनका मन भी इससे नहीं मिलता, वे उसे अपने ?

दूर करने अथवा मारने या वियुक्त करने का प्रयत्न करते हैं। पर पुण्यात्मा जीव सदा सुखी और सम्पन्न रहते हैं। अतएव वह कुमार भी उनपर सदा विजयी रहा। बारह वर्ष के बाद कुमार अनेक विद्याओं और कलाओं से संयुक्त होकर वैभवसहित अपने माता-पिता से मिलता है। उस समय पुत्र-मिलन का दृश्य बड़ा ही करुण और दृष्टव्य है। वह वैवाहिक बन्धन में बद्ध हो कर सांसारिक सुख भी भोगता है, और भगवान नेमिनाथ द्वारा यह जानकर कि १२वर्ष में द्वारावती का विनाश होगा, वह भोगों से विरक्त हो दिगम्बर साधु हो जाता है और तपश्चरण कर पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्त करता है। इसी से कवि ने ग्रन्थ की प्रत्येक सन्धि पुष्पिका में धर्म-अर्थ-काम और मोक्षरूप पुरुषार्थ चतुष्टय से भूषित बतलाया है[1]। ग्रन्थ की भाषा में स्वाभाविक माधुर्य और पद लालित्य है। रस अलंकार और अनेक छंद भी उसकी सरसता में सहायक हैं। ग्रन्थ महत्वपूर्ण और प्रकाशित होने के योग्य है। पज्जुण्ण चरिउ की फरुख नगर की ६३ पत्रात्मक प्रति में १०वीं संधि तक सिद्ध कविकृत प्रथम संधि जैसी पुष्पिका दी हुई है। और ११वीं सधि से १५वीं संधि तक दूसरी पुष्पिका है[2]। जिनसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि कविसिंह ने ११वीं संधि से १५वीं संधि तक ५ संधियों को स्वय रचा है। उससे पूर्व की सधियों के सम्बन्ध में यह कहना कठिन है कि कितनी संधि और समुद्धारित की हैं। क्योंकि ११वी संधि की पुष्पि का निम्न प्रकार है:—

"इय पज्जुण्ण कहाए पयडिय धम्मत्थकाम मोक्खाए बुहरल्हण सुअ कइ सीहविरइयाए सच्चमहादेवी माणभंगो णाम एकादशमो सधि परिच्छेयो समत्तो ॥"

पद्मनन्दि व्रती

प्रस्तुत पद्मनन्दि राद्धान्त शुभचन्द्र के शिष्य थे। इन्होंने अपने को उक्त शुभचन्द्र का अग्र शिष्य लिखा है। यह महातपस्वी और अध्यात्म शास्त्र के बड़े भारी विद्वान थे। और जैनामृतरूपी सागर के बढ़ाने वाले थे। इनके विद्यागुरु कनकनन्दी पंडित थे। इनके नाम के साथ पंडितदेव, व्रती और मुनि की उपाधियां पाई जाती हैं। इन्होंने आचार्य अमृतचन्द्र की वचन चन्द्रिका से आध्यात्मिक विकास प्राप्त किया था। इन्होंने निम्बराज के सम्बोधनार्थ पद्मनन्दि की एकत्व सप्तति की कनड़ी टीका बनाई थी। टीका की प्रशस्ति में पद्मनन्दी और निम्बराज की प्रशंसा की गई है। ये निम्बराज वे जान पड़ते हैं जो पार्श्वकवि कृत 'निम्ब सावन्त-चरिते' नाम के ५०६ षट्पदी पद्यात्मक कन्नड काव्य के नायक हैं। इस काव्य के वृत्तान्त से ज्ञात होता है कि निम्बराज शिलाहारवंशीय गण्डरादित्य राजा के सामन्त थे। इन्होंने कोल्हापुर में 'रूपनारायण' वसदि का निर्माण कराया था। और कार्तिक वदि पंचमी शक सं० १०५८ (वि० सं० ११८३) में कोल्हापुर व मिरज के आसपास के ग्रामों की आय का दान भी दिया था। इससे इन पद्मनन्दी व्रती का समय विक्रम की १२वीं शताब्दी है।

एकत्व सप्तति की कनडी टीका की अन्तिम प्रशस्ति इस प्रकार है:—

श्रीपद्मनन्दीव्रतिनिर्मितेयम् एकत्वसप्तत्यखिलार्थपूर्तिः।
वृत्तिश्चिरं निम्बनृप प्रबोधलब्धात्मवृत्ति र्जयतां जगत्याम् ॥

स्वस्ति श्री शुभचन्द्र राद्धान्तदेवाग्रशिष्येण कनकनन्दि पण्डितवाग्रश्मिविकसितहृत्कुमुदानन्द श्रीमद्-अमृतचन्द्रचन्द्रिकोन्मीलित नेत्रोत्पलावलोकिताशेषाध्यात्मतत्त्ववेदिना पद्मनन्दिमुनिना श्रीमज्जैन सुधाब्धि वर्धनकरापूर्णेन्दुराराातिवीर श्रीपतिनिम्बराजावबोधनाय कृतैकत्वसप्ततेर्वृत्तिरियम्—तज्ज्ञाः संप्रवदन्ति संततमिह श्रीपद्मनन्दि व्रती, कामध्वंसक इत्यलं तदनृतं तेषां वचस्सर्वथा।"

(—पद्मनन्दि पंच विंशतिका की अंग्रेजी प्रस्तावना पृ० १७)

---

१. इय पज्जुण्ण कहाए पयडिय-धम्मत्थ-काम-मोक्खाए कइ सिद्ध-विरइयाए पढमो संधी परि समत्तो ॥१॥

२. इय पज्जुण्ण कहाए पयडियधम्मत्थ काम मोक्खाए बुह रल्हण सुअ कइ सीह विरइयाए पज्जुण्ण-संकु-भाणु-अणिरुद्ध णिव्वाणगमणं णाम पण्णारहमो परिच्छेउ समत्तो।

गिरि कीर्ति

प्रस्तुत गिरिकीर्ति मूल संघ बलात्कार गण सरस्वतिगच्छ कुन्दकुन्दान्वय के विद्वान चन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। यह चन्द्रकीर्ति मेघचन्द्र के सधर्मा थे। गिरिकीर्ति ने प्रशस्ति में निम्न विद्वानों का उल्लेख किया है श्रुतकीर्ति मेघचन्द्र चन्द्र कीर्ति और गिरिकीर्ति[1]। यह अपने समय के अच्छे विद्वान थे। गोम्मटसार की रचना आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने चामुण्डराय के प्रश्नानुसार की है। यह चामुण्डराय गंगनरेश मारसिंह द्वितीय के अमात्य और सेनापति थे। इन्होंने अपना चामुण्डराय पुराण शक० सं० ६०० (सन् ६७८ ई०) में बनाया। अतः गोम्मटसार की रचना का भी वही समय है। गिरिकीर्ति की एकमात्र कृति गोम्मटसार की पंजिका है। इस पंजिका का उल्लेख अभयचन्द्र ने अपनी मन्द प्रबोधिका टीका में किया है[2]। जो उन्होंने गोम्मटसार की रचना के लगभग एक सौ सोलह वर्ष बाद शक सं० १०१६ सन् १०६४ (वि० सं० ११५१) में बनाकर समाप्त की थी। जैसा कि निम्न गाथा से स्पष्ट है :—

सोलह सहिय सहस्से गयसक काले पवड्ढमाणस्स।
भावसमस्ससमत्ता कत्तिय णंदीसरे एसा॥

प्रस्तुत पंजिका की प्रति ६८ पत्रात्मक है जो सं० १५६० की प्रतिलिपि की हुई है। पंजिका की भाषा प्राकृत-संस्कृत मिश्रित है। जिसमें गोम्मटसार जीवकाण्ड-कर्मकाण्ड की गाथाओं के विशिष्ट शब्दों या विषमपदों का अर्थ दिया गया है। कहीं कहीं व्याख्या भी संक्षिप्त रूप में दी गई है। सभी गाथाओं पर पंजिका नहीं है।

पंजिका की विशेषता

पंजिका का अध्ययन करने से उसकी विशिष्टता का अनुभव होता है। कहीं कहीं सैद्धान्तिक बातों का स्पष्टीकरण किया गया है, उसकी भी जानकारी होती है। जीवकाण्ड की पंजिका में वस्तुतत्त्व का विचार करते हुए उसे पुष्ट करने के लिए अन्य ग्रन्थकारों के उल्लेख भी उद्धृत किये हैं जिससे ग्रन्थ की प्रामाणिकता रहे। उसका आदि मंगल पद्य निम्न प्रकार हैं :—

पणमिय जिणिदं चंदं गोम्मट संगह समग्ग सुत्ताणं।
केसिपि भणिस्सामो विवरण मण्णेस समासिज्ज॥

तत्थ ताव तेसिं सुत्ताणमादिए मंगलट्ठं भणिस्स माणट्ठं विसय पइण्णा करणट्ठं च कयस्स सिद्ध मिच्चाइ गाहा सुत्तस्सत्थो उच्चयेणट्ठ विवरणं कहिस्सामो तंजहा वोच्छं—

चारों गुणस्थानों में भाव किस अपेक्षा से निरूपित हैं इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि मिथ्यात्वादि गुणस्थानों में भाव दर्शन मोह की अपेक्षा से कहे गये हैं, क्योंकि अविरत गुणस्थान तक चारित्र नहीं होता।

१. सो जयउ वासुपुज्जो सिवासु पुज्जासुपुज्ज-पय-पउमो।
पविमल वसुपूज्यसुदो सुदकित्ति पिये पियं वादि ॥१
ससुदिय वि मेघचन्दप्पमाद सुदकित्तियरो
जो सो कित्ति भणिज्जइ परिपुज्जिय चंदकित्ति त्ति ॥२
जेणासेस वसंतिया सग्गई ठाणंत रागो हणीं।
जं गाढं परिरंभिऊण सुहया सोजंत सुद्दासई
जस्सा पुव्व गुणप्पभूदरयणालंकार सोहग्गिरि—
······कित्तिदेव जदिणा तेणासि ग्रंथो कओ॥ ३—पंजिका प्रशस्ति

२. **अथवा सम्र्छन गर्भोपपादानाश्रित्य जन्म भवतीति गोम्मठ पंजिकाकारादीनामभिप्रायः।**
गो० जी० मन्द प्रबोधिका टीका गा० ८३

इसे स्पष्ट करते हुए उक्तं च रूप से तत्त्वार्थ सूत्र के निम्न सूत्र का उल्लेख किया है—

वुत्तं च तच्चट्ठयारेणं "मोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणमोहान्तरायक्षयाच्च केवलमिदि।"

मिथ्यात्व के भेदों का कथन करते हुए उनके नाम और लक्षण निम्न प्रकार दिये हैं—एकान्त मिथ्यात्व, विपरीत मिथ्यात्व, वैनयिक मिथ्यात्व, संशयित मिथ्यात्व, और अज्ञान मिथ्यात्व।'

एयंत मिथ्यत्वादि—अत्थि चेव, णत्थि चेव, अणिच्चमेव, एयमेव, अणेयमेव तच्चमिच्चादि सव्वहावरणरूपो अहिप्पायो एयंत मिच्छत्त णाम।

अहिंसादिलक्खण सद्धम्मफलस्स सग्गापवग्गस्स हिंसादि पावफलत्तेण परिच्छेदणाहिप्पायो विवरीय मिच्छत्तणाम।

सम्मदंसणादि णिरवेक्खेण गुरु-पाय-पूजादि लक्खणेण विणएणेव मोक्खोत्ति अहिप्पाओ वेणइयमिच्छत्त णाम।

पच्चक्खादिणा पमाणेण पडिगेज्जमाणस्स अत्थस्स देसंतरे कालंतरे च एय सरूवावहारणाणुवत्तीदो, तस्स रूव परूवयाण मत्ताहिमाणदंदज्झमाणाणं पि परप्पर विरुद्ध देसमाणामवंचयत्त णिच्छया भावादो इदमेव तच्चमिदं ण होदित्ति परिच्छेंउ ण सक्कमिदि उहय सावलंवी अहिप्पायो संसइदमिच्छत्तं णाम।

विचारिज्जमाणमठ्टाणमवठ्टिदत्ता भावादो कथ मिद मेवेरिस जेवेत्ति णिच्छियदित्ति अहिप्पायो अण्णाण मिच्छत्तं णाम।

पत्र ३३ पर सामायिक और छेदोपस्थापना संयम का वर्णन करते हुए पंजिकाकार ने दोनों की एकता का निरूपण करने के लिये भूतबलि भट्टारक का उल्लेख किया है—"**अदो जेय दोण्हमेगत्तस्स वि परूवणट्ठं भूदबलि भट्टारयेहिं दोण्हं एग जे गणसुद्धि गहणं कदं।**'

पत्र ३४ की गाथा नं० ४८१ में दर्शन का लक्षण करते हुए पंजिकाकार ने आचार्य वीरसेन द्वारा चर्चित दर्शन विषय का उल्लेख निम्न शब्दों में किया है—"**एसो वीरसेण भयवंताणस्सयलागमगहिय साराणं च वक्खाण कमो परूवदो। पुव्वाइरिय वक्खाण कमं पुण एसा गाहा परूवेदि।**"

संयमी जीवों का प्रमाण छठे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के जीवों का तीन कम नौ करोड़ बतलाया है। उन्हें मैं हाथ जोड़ कर नमस्कार करता हूँ। ये सब गाथाएं नम्बर क्रम के भेद के साथ जीवकाण्ड में पाई जाती हैं।

पंजिका का पूरा अध्ययन करने पर अनेक विशेष बातों का बोध होगा।

जीव काण्ड की पंजिका का अन्तिम मंगल इस प्रकार है :—

जे पुव्वयणत्थवंति विमुहा, साहिच्च मगच्चुदा,
दिट्ठं जेहिं णय-पमाण-गहणं जोण्हंणं सम्मं मदं।
ते णिंदंतु थुवंतु किं ममतदो, अण्णारिसा जेइधो,
ते रज्जंति जदीह साह सहलो सव्वो पयासो मम॥

कर्मकाण्ड की पंजिका का आदि मंगल निम्न प्रकार है:—

णमह जिण चलणा कमलं सुरमउलिमणिप्पहा जलुल्लसियं।
णह किरण केसरंतब्भमंत देवी कयब्भमरं,॥

अहकम्म भेदं परूवेमाणो विज्जाए अव्वुच्छित्ति णिमित्तमिदि कादूण मंगलं जिणिदं णमोक्कारं करेदि—

पणमिय सिरसा णेमिं गुण-रयण-विभूसणं महावीरं।
सम्मत्त-रयण-णिलयं पयडिसमुक्कित्तणं वोच्छं॥१

पणमिय=सम्मत्तरयणणिलयं अप्पसरूव लद्धिलक्खण समीचीणत्त मेव रयणं तस्स णिलय मासयं, कुदो गुणरयणभूसणत्तादो। पयडिसमुक्कित्तणं। पयडीणं णाणावरणादीणं सम्मविसेसेण कित्तणं कहणं जत्थ तं वोच्छमिदि संबध्यते। जीवभेदे णिरवसेसे परूविय सम्मत्ते, किमठ्टमिदं परूविज्जदे। ण, गुणादिवीस परूवणेसु परूविज्ज- माणेसु। मोह जोगभवा सकम्मभवाइच्चाइसु कम्माण महिहाणमेत्तमेव परूविदं। ण समत्त सरूवं। अदो तद परूवि-

णाए जीव भेदो चेयण सम्ममवगम्मबिदि पयडि समुक्कित्तणमारंभदे। किं तदित्याह—वाक्य के साथ उसकी पहली गाथा की पंजिका दी गई है।

अन्तिम भाग

सो जयउ वासुपुज्जो सिवासु पुज्जासु पुज्ज-पय-पउमो।
पविमल वसुपुज्ज सुदो सुदकित्ति पिये पियंवादि ॥१॥
समुदिय वि मेघचंदप्पसाद सुदकित्तियरो।
जो सो कित्ति भणिज्जइ परिगुज्जिय चंदकित्ति त्ति ॥२॥
जेणासेसवसंतिया सरसई ठाणंत रागो हणी, जं गाढं परिरंभिऊण मुहया सोजंत मुद्दासई।
जस्सापुव्वगुणप्पभूदरयणालंकार सोहग्गिरि ········ कित्तिदेवजदिणा तेणासि गंथो कओ ॥३॥
उप्पण्ण पण्णाण मिसोणमंसि, पयोजणं णत्थि तहा विहं चे—
कज्जं भवे चे विमिणा बहूणं, बालाणमिच्चत्थ कयं ममेयं ॥४॥
अण्णाणेण पमाददोवगरिमा गंथस्स होदित्ति वा, आलस्सेण व एत्थ जं ण संबन्धणिज्जं पि मे।
तं पुव्वावर साहुसोहण सुही सोहंतु सम्मं सुही, जंहा सव्वपरोवयारकरणे संतोगिही दव्वदा ॥५॥
एसो बंधदि बंधणिज्जमिदिमे वेदस्स बंधो इमो, एदं बंध णिमित्त मस्स समये भेदा इमेसिं इमे।
इच्चेदं कहिदक्कमेण इमिणा णच्चा जदी संगहं, पंचण्हं परिभावओ भवभयं णिच्चासिमं बच्चये।६।
अइ विमला गुण गुरुई बहुप्पिया भंति किय चमंकारा, पंजीरंजिय भुवणा चिट्ठउ सुदकित्ति कित्तिव्व।७।
जादं जत्थ सु लद्ध मूलमहिमे साहाहि सस्सोहियं।
सच्छायं सगुणड्ढि वुड्ढि विसयं भूदेवयाणं सया।
धम्मारामुव राहवस्स कदिणो तत्थेसगंथो कओ।
गामे पुव्वलि · ——णामसहियें कालामए ॥८॥
सोलह सहिय सहस्से गय सगकाले पवड्डमाणस्स।
भाव समस्ससमत्ता कत्तिय णंदीसरे एसा ॥९॥
इमिस्से गंथ संखाण सिलोएहिं फडीकयं।
पण्णासेहि समं बुच्छं दसयं दसहिगुणं ॥१०॥
ग्रंथ संख्या ५०००। श्रीपंचगुरुभ्यो नमः शुभमस्तु भव्यलोकाय।
गोम्मट पंजिका नाम गोम्मटसार टिप्पणं समाप्तं।

मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव

मेघचन्द्र नाम के अनेक विद्वान हो गये हैं[१]। उनमें सकलचन्द्र के शिष्य मेघचन्द्र का यहां परिचय दिया जा रहा है। यह मेघचन्द्र मूलसंघ देशीयगण और पुस्तक गच्छ के थे। न्याय, व्याकरण सिद्धान्त आदि सभी विषयों के अधिकारी विद्वान थे। इसी कारण श्रवणवेलगोल के ४७वें शिलालेख में आपकी बड़ी प्रशंसा की गई है और बतलाया है कि आचार्य मेघचन्द्र सिद्धान्त में वीरसेन, तर्क में अकलंकदेव और व्याकरण में पूज्यपाद के समान विद्वान थे। त्रैविद्य इनकी उपाधि थी और यह त्रैविद्यचक्रेश्वर कहलाते थे।

श्री मूलसंघकृत पुस्तक गच्छ देशीयोद्यद्गणाधिप सुतार्किक चक्रवर्ती।
सैद्धान्तिकेश्वर शिखामणि मेघचन्द्रस्त्रैविद्यदेव इति सद्विबुधाः स्तुवन्ति ॥

१. गुणचन्द्र के सधर्मा मेघचन्द्र। नयकीर्ति के शिष्य मेघचन्द्र, नयकीर्ति का स्वर्गवास शक सं० १०९९ (सन् ११७७) में हुआ था। बालचन्द्र के शिष्य मेघचन्द्र, माघनन्दी व्रती के शिष्य मेघचन्द्र। और सकलचन्द्र के शिष्य मेघचन्द्र, जो त्रैविद्यचक्रेश्वर नाम से प्रसिद्ध थे।

सिद्धान्ते जिन वीरसेन सदृशः शास्त्राब्जभा-भास्करः
षट्तर्केष्वकलंकदेव विबुधः सक्षादयं भूतले।
सर्व व्याकरणे विपश्चिदधिपः श्रीपूज्यपादः स्वयं।
त्रैविद्योत्तम मेघचन्द्र मुनिपो वादीभपंचाननः॥

इनके शिष्य वीरनन्दी आचार्य ने आचारसार की प्रशस्ति में उन्हें 'सिद्धान्तार्णवपूर्णतारकपति' योगीन्द्र चूड़ामणि, और त्रैविद्यविभूषण आदि विशेषणों के साथ उल्लेखित किया है। यथा—

सिद्धान्तार्णव पूर्णतारकपतिस्तर्काम्बुजार्हत्पतिः
शब्दोद्यानवनामृतोरुसरणिर्योगीन्द्रचूड़ामणिः।
त्रैविद्यापरसार्थं नाम विभवः प्रोद् धूतचेतोभवः,
स्थेयादन्यमृतावनीमृदशनिः श्रीमेघचन्द्रो मुनिः॥३०
यद्वाक्छ्री रवतंस मण्डनमणिर्वैदग्धदिग्धत्विषाम्
यच्चारित्र विचित्रता शमभृतां सूत्रं पवित्रात्मनाम्।
यत्कीर्तिर्धवलप्रसाधनधुरं धत्ते धरा योषितः,
स त्रैविद्यविभूषणं विजयते श्रीमेघचन्द्रो मुनिः॥३१

इनके अनेक शिष्य थे। वीरनन्दी, अनन्तकीर्ति, प्रभाचन्द्र और शुभकीर्ति। लेख नं० ५० में मेघचन्द्रत्रैविद्य देव के शिष्य प्रभाचन्द्र को आगम का ज्ञाता और वीरनन्दी को भारी सैद्धान्तिक बतलाया है। इन प्रभाचन्द्र का स्वर्गवास शक सं० १०६८ (सन् ११४६ई०) और वि० स० १२०३ में हुआ था। इनमें वीरनन्दी 'आचारसार के कर्त्ता हैं, और जिन्होंने उसकी स्वोपज्ञ कनड़ी टीका शक स० १०७६ (सन् ११५३ ई०) में बनाकर समाप्त की थी।

मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव का स्वर्गवास शक सं० १०३७ वि० स० ११७२) में मगशिर सुदी चतुर्दशी बृहस्पतिवार के दिन धनुर्लग्न में हुआ था। जैसा कि श्रवणबेलगोल के शिलालेख न० ४७ के निम्न वाक्यों से प्रकट है—

"**सक वर्ष १०३७ नेयमन्मथ संवत्सरद मार्ग्गसिर सुद्ध १४ बृहवार धनुर्लग्नद पूर्वाह्न दारुधलि मेयप्पगलु श्रीमूलसङ्घद देसियगणद पुस्तकगच्छद श्रीमेघचन्द्रत्रैविद्यदेवर्तम्मवसानकालमवरिदु पल्यङ्कासन दोलिददु आत्मभावनेयं भाविसुत्त देवलोकके सन्दराभाव नेयन्त प्पुदेन्दोडे।**"

अतः इन मेघचन्द्र का समय वि० की १२ वीं शताब्दी सुनिश्चित है।

शान्तिषेण

यह काष्ठासंघान्तर्गत माथुरसंघ के विद्वान अमितगति (द्वितीय) के शिष्य थे। जिन्होंने अपने चरण कमलों पर महीश को नमा दिया था[1]। चूंकि अमितगति द्वितीय का समय संवत् १०५० से १०७३ है। अतः उनके शिष्य शान्तिषेण का समय ११वी शताब्दी का अन्तिम भाग होना चाहिये।

अमरसेन

शान्तिषेण के शिष्य और माथुरसघ के अधिप अमरसेन हुए, जो पापों का नाश करने वाले थे—**माहुरसंघाहिउ अमरसेणु तहो हुउ विणेउ पुणु हय-दुरेणु**"। (षट् कर्मोपदेश प्रशस्ति)। इनका समय १२वीं शताब्दी का मध्य भाग संभव है।

श्रीषेणसूरि

यह अमरसेन सूरि के शिष्य थे। माथुरसंघ के पंडितों में प्रधान और वादिरूपी वन के लिये कृशानु(अग्नि)

१. गणि संतिसेणु तहो जाउ सीसु, णिय-चरण-कमल-णामिय महीसु—षट्कर्मोपदेश प्रशस्ति।

थे। इनका समय १२वीं शताब्दी का तृतीय चरण होना चाहिये।

"सिरिसेणु पंडित पहाणु, तहो तीसुवाइय-काणण-किसाणु।"

नेमिचन्द्र

यह कवि अपने समय में बहुत प्रसिद्ध था। वीर वल्लाल देव और लक्ष्मण देव इन दो राजाओं की सभा में इसकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। कलाकान्त, कविराज मल्ल, कवि धवल, शृङ्गारकारागृह, कविराज कुंजर, साहित्य विद्याधर, विद्यावधूवल्लभ, सुकविकण्ठाभरण, विश्वविद्या विनोद, चतुर्भाषा कवि चक्रवर्ती, सुकर कवि शेखर, आदि इसके विरुद थे। इसकी दो कृतियाँ उपलब्ध हैं—लीलावती और नेमिनाथ पुराण। इनमें लीलावती कनड़ी भाषा का चम्पू ग्रन्थ है। इसमें १४ आश्वास हैं। कवि ने इसे केवल एक वर्ष में बनाकर समाप्त किया था। यह ग्रन्थ मुख्यतः शृंगारात्मक है। कर्नाटक कवि चरित में इसकी कथा का सार निम्न प्रकार दिया है:—

कदम्बवंशीय राजाओं की राजधानी जयन्तीपुर अथवा जनवास नाम के नगर में थी। वहाँ चूडामणि नाम का राजा राज्य करता था। उसकी प्रधान रानी का नाम पद्मावती और पुत्र का नाम कन्दर्प देव था। गुणगन्ध नामक मंत्री का पुत्र मकरन्द राजकुमार का बहुत ही प्यारा मित्र था। कन्दर्प एक दिन स्वप्न में एक रूपवती स्त्री का दर्शन करके उस पर अत्यन्त आसक्त हो गया। दूसरे दिन उस स्त्री को खोज में वह अपने मित्र के साथ उस दिशा की ओर चल दिया, जिस दिशा की ओर उसने उसे स्वप्न में जाते देखा था। चलते-चलते वह कुसुमपुर नाम के नगर में पहुंचा। वहाँ के राजा शृंगारशेखर की लीलावती नाम की एक रूपवती राजकुमारी थी। इस राजकुमारी ने भी स्वप्न में एक राजकुमार को देखा था और उस पर अपना तन मन वार दिया था। स्वप्नदृष्ट राजकुमार की खोज में उसने कई दूत इधर-उधर भेजे थे। उन दूतों के द्वारा लीलावती और कन्दर्प का परिचय हो गया, और अन्त में उन दोनों का विवाह हो गया। लीलावती को प्राप्त करके कन्दर्प अपनी राजधानी को लौट आया और सुखपूर्वक राज्य-कार्य सम्पादन करने लगा।" इसका कथा भाग सुबन्धु कवि की वासवदत्ता का अनुकरण मालूम होता है।

लीलावती की रचना सरस और सुन्दर है। इसकी रचना गंभीर, शृंगाररसपूरित और हृदयहारिणी है। इससे कवि की प्रतिभा, शब्द सामग्री का चयन और वाक्यपद्धति अनन्यसाधारण प्रतीत होती है।

कवि की दूसरी कृति 'नेमिनाथ पुराण' है। इसमें बाईसवें तीर्थकर नेमिनाथ का जीवन-परिचय अंकित किया गया है। यह ग्रन्थ कवि ने वीरवल्लाल नरेश (११७१—१२१९) के पद्मनाभ नामक मंत्री की प्रेरणा से बनाया था। यह ग्रंथ अधूरा जान पड़ता है; क्योंकि इसके प्रारंभ में यह प्रतिज्ञा की गई है कि नेमिनाथ की कथा में गौणता से वासुदेव कृष्ण और कन्दर्प की कथा का भी समावेश किया जायगा, परन्तु आठवें आश्वास में कंसवध तक का कथा भाग पाया जाता है। जान पड़ता है, ग्रन्थ पूर्ण होने से पहले ही कवि दिवंगत हो गया हो। इस कारण ग्रन्थ का नाम 'अर्धनेमि' कहा जाने लगा है। इस ग्रन्थ के प्रारंभ में तीथकर, सिद्ध, यक्ष यक्षिणी और गणधर की स्तुति के बाद गृद्धपिच्छ आचार्य से लेकर पूज्यपाद पर्यन्त पूर्वाचार्यो का स्मरण किया गया है। ग्रन्थ के प्रत्येक आश्वास के अन्त में निम्नलिखित गद्य मिलता है—**"इति मृदुपद बन्ध बन्धुर सरस्वतीसौभाग्य व्यंग्य भंगी निधान दीपवर्ति-चतुर्भाषाकवि चक्रवर्ति नेमिचन्द्र कृते श्रीमत्प्रताप चक्रवर्ति श्री वीर बल्लाल प्रसादासादित—महाप्रधान पदवीविराजित—सज्जेवल्ल पद्मनाभदेवकारिते नेमिनाथ पुराणे।"**

लीलावती ग्रन्थ के अन्त में इसने एक पद्य में लिखा है कि राजा लक्ष्मणदेव समुद्र बलयांकित पृथ्वी का स्वामी है। उक्त लक्ष्मणदेव का कर्णपार्य (११४०) ने अपने नेमिनाथपुराण में उल्लेख किया है। कर्णपार्य के समय में लक्ष्मणदेव सिंहासनारूढ़ नहीं हुआ था, उसका पिता या बड़ा भाई विजयादित्य राज्य करता था। परन्तु कवि नेमिचन्द्र के समय वह राज्य का स्वामी था। इससे कवि नेमिचन्द्र का समय कर्णपार्य के बाद का निश्चित होता है। नेमिचन्द्र ने नेमि पुराण की रचना जिस वीरवल्लाल के मंत्री पद्मनाभ की प्रेरणा से की है, उसका समय ११७२ से १२१९ पर्यन्त है। इससे भी उक्त समय यथार्थ प्रतीत होता है। कवि नेमिचन्द्र ईसा की १२वीं शताब्दी के चतुर्थ चरण

और विक्रम की १३वीं शताब्दी के विद्वान हैं। कन्नड़ भाषा के जन्न, पार्श्व, कमलभव, आदि कवियों ने कवि नेमिचन्द्र की प्रशंसा की है।

श्रीधर

यह ज्योतिष शास्त्र के विशिष्ट विद्वान थे। यह कर्नाटक प्रान्त के जैन ब्राह्मण थे, और बेलबुल नाडांतर्गत नरिगुंद के निवासी थे। इनकी माता का नाम अव्वोका और पिता का नाम बलदेव शर्मा था। इन्होंने अपने पिता से ही संस्कृत और कन्नड ग्रन्थों का अध्ययन किया था। प्रारम्भ में यह शैव धर्मानुयायी थे, किन्तु बाद में जैन धर्मानुयायी हो गए थे। यह गणितशास्त्र के अच्छे विद्वान थे। इनका समय ईसा की दशवीं शताब्दी का अन्तिम भाग और संभवतः ११वीं का प्रारंभ रहा है।

इनकी गणितसार और ज्योतिर्ज्ञान निधि दो रचनाएं संस्कृत भाषा में हैं और जातक तिलक कन्नड भाषा की रचना है।

गणितसार में अभिन्न गुणक, भागहार, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल भिन्न, समच्छेद, भागजाति, प्रभागजाति, भागानुवन्ध, भागमात्र जाति, त्रैराशिक, सप्तराशिक, नवराशिक, भाण्डप्रतिभाण्ड, मिश्रक व्यवहार एक पत्रीकरण, सुवर्ण गणित, प्रक्षेपक गणित, क्रय-विक्रय, श्रेणी व्यवहार और काष्ठक व्यवहार आदि गणितों का कथन किया है।

ज्योतिर्ज्ञाननिधि—यह ज्योतिष का प्रारम्भिक ग्रन्थ है। इसके प्रारम्भ में संवत्सरों के नाम, नक्षत्रों के नाम, योग करण और उनके शुभा शुभ फल दिये हैं। इसमें व्यवहारोपयोगी ज्योतिष का वर्णन है।

जातक तिलक—कन्नड भाषा का ग्रन्थ है। यह जातक सम्बन्धी रचना है। यह कन्द वृत्तों में रचा गया है इसमें २४ अधिकार हैं। इसमें लग्न, ग्रह, ग्रहयोग और जन्मकुण्डली सम्बन्धी फलादेश का कथन किया गया है। इस ग्रन्थ को श्रीधराचार्य ने पश्चिमी चालुक्य नरेश सोमेश्वर प्रथम के राज्यकाल में बनाया था। कवि ने लिखा है कि मैंने विद्वानों की प्रेरणा से जातक तिलक की रचना की। यह ग्रन्थ मैसूर विश्वविद्यालय की ओर से प्रकाशित हो चुका है।

वासवचन्द्र मुनीन्द्र

इन्हें मूलसंघ देशीयगण के विद्वान आचार्य गोपनन्दी के सधर्मा बतलाया है। यह कर्कश तर्कशास्त्र में निपुण थे। इन्होंने चालुक्य राजधानी में अपने वाद पराक्रम से 'वाल सरस्वति' की उपाधि प्राप्त की थी। जैसा कि शिलालेख के निम्न पद्य से प्रकट है—

वासवचन्द्र-मुनीन्द्रोरुन्द्र-स्याद्वाद-तर्क्कश-कर्क्कश-धिषणः।
चालुक्य कटकमध्ये बाल-सरस्वतिरिति प्रसिद्धिप्राप्तः॥

—जैन लेख सं० भा० १ पृ० ११६

यह लेख शक सं० १०२२ (सन् ११०० ई०) में उत्कीर्ण किया गया है। अतः वासवचन्द्र का समय ईसा की ११वीं शताब्दी जान पड़ता है।

देवेन्द्रमुनि

इनकी गुरु—शिष्य परम्परा ज्ञात नहीं है। इनकी एक रचना बालग्रह चिकित्सा है। इसमें बालकों की ग्रहपीड़ा की चिकित्सा का वर्णन है। ग्रन्थ प्रायः वाक्य रूप में है। कवि का समय लगभग १२०० ईसवी है।

नयकीर्तिमुनि

मुनि नयकीर्ति मूलसंघ देशीयगण के आचार्य गुणचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के शिष्य थे। जो जैनागम के

विद्वान और सैद्धान्तिकाग्रेश्वर, चारित्र चूड़ामणी, शल्यत्रयरहित, और दण्डत्रय के ध्वंसक थे [1]। नागदेव मंत्री इनके शिष्य थे। गुणचन्द्र मुनि के पुत्र माणिक्यनन्दी इनके सधर्मा थे। इनकी शिष्य मंडली में मेघचन्द्र व्रतीन्द्र, मलधारि स्वामी, श्रीधरदेव, दामनन्दि त्रैविद्य, भानुकीर्तिमुनि, बालचन्द्र मुनि, माघनन्दिमुनि, प्रभाचन्द्र मुनि, पद्मनन्दी मुनि और नेमिचन्द्र मुनि के नाम मिलते हैं।

नयकीर्ति का स्वर्गवास शक सं० १०९९ (सन् ११७७) में वैशाख शुक्ला चतुर्दशी शनिवार को हुआ था। जैसा कि शिलालेख के निम्न पद्य से प्रकट है—

शाके रन्ध्रनवद्युचन्द्रमसिदुम्मुख्याख्य संवत्सरे
वैशाखे धवले चतुर्दशि दिने वारे च सूर्य्यात्मजे।
पूर्व्वाह्ने प्रहरे गतेऽर्द्धसहिते स्वर्गं जगामात्मवान्॥
विख्यातो नयकीर्ति-देव-मुनिपो राद्धान्तचक्राधिपः॥२३

नागदेव मंत्री ने अपने गुरु नयकीर्ति की निषद्या का निर्माण कराया था।

माणिक्यसेन पंडितदेव

यह मूलसंघ सेनगण पोगरि गच्छ के वीरसेन पंडितदेव का सधर्मा था। यह सन् ११४२-४३ ईसवी में दुन्दुभि वर्ष पुष्य शुद्ध सोमवार को उत्तरायण संक्रान्ति के समय पश्चिमी चालुक्य राजा जगदेक मल्ल द्वितीय के राज्यकाल में, उसके वनवसे १२००० के प्रदेश पर शासन करने वाले योगेश्वर सेनाध्यक्ष की प्रशंसा करता है और पेर्गडे मय्दुन मल्लिदेव सेनाध्यक्ष की अनुमति से, जो जिड्डलिगे ७० के राज्य पर शासन कर रहा था, इसने आवली के भगवान पार्श्वनाथ को एक भूमिदान दिया।

और एक दान संभवतः एक जैनमन्दिर को मुद्द गावुण्ड और दूसरे लोगों द्वारा दिया गया था। जो जैनधर्म के पक्के अनुयायी और भक्त थे। यह दान उक्त वीरसेन पण्डितदेव के सहधर्मी माणिक्यसेन पण्डितदेव के पाद प्रक्षालनपूर्वक दिया गया था। इससे पण्डित माणिक्यसेन का समय ईसा की १२वीं शताब्दी का मध्य काल है।

—(जैन लेख संग्रह भा० ३ पृ० ५९

महासेन पण्डितदेव

इनकी गुरु परम्परा और गण गच्छादि का उल्लेख मेरे देखने में नहीं आया। डा० ए० एन० उपाध्ये के अनुसार ये नयसेन पण्डितदेव के शिष्य थे। इनका उल्लेख पद्मप्रभ मलधारिदेव ने नियमसार की तात्पर्यवृत्ति में किया है और उन्हें ९६ वादियों के विजेता होने से विशालकीर्ति को उत्पन्न करने वाला सूचित किया है।[2] तथा १६१ गाथा की वृत्ति में 'तथा चोक्तम् श्री महासेन पण्डितदेवैः'—वाक्य के साथ निम्न पद्य उद्धृत किया है :—

ज्ञानाद्भिन्नो न नाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथंचनः।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं सोऽयमात्मेति कीर्तितः॥

---

१. साहित्य-प्रमदा-मुखाब्जमुकुरश्चारित्र-चूड़ामणि।
श्रीजैनागम-वार्द्धि-वर्द्धन-सुधाशोचिस्समुद्भासते।
यश्शल्यत्रय-गारव-त्रय-लसद्दण्ड-त्रय-ध्वंसक—
स्स श्रीमानन्नयकीर्ति देव मुनियस्सैद्धान्तिकाग्रेसरः॥२०

—जैन लेख सं० भा० १ पृ० ३७

२. उक्तं च षण्णवति पाषंडि विजयोपार्जित विशालकीर्तिभिः महासेन पण्डितदेवैः —
यथावद्वस्तु निर्णीतिः सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत्।
तत्स्वार्थं व्यवसायात्मा कथंचित् प्रमितेः पृथक्॥

—नियमसार तात्पर्य वृत्ति पृ० १३९

यह स्वरूप सम्बोधन का पद्य है।

इनकी दो कृतियां कही जाती हैं—एक स्वरूप सम्बोधन और दूसरा 'प्रमाण निर्णय'। स्वरूप सम्बोधन के कर्ता उक्त महासेन हैं[१]। इनमें स्वरूप सम्बोधन २५ श्लोकात्मक एक छोटी सी महत्त्वपूर्ण कृति है। उस पर केशवाचार्य और शुभचन्द्र ने वृत्तियाँ लिखी हैं। प्रमाण निर्णय ग्रन्थ मेरे अवलोकन में नही आया। संभवतः वह अप्रकाशित दशा में किसी ग्रन्थ भंडार में होगा।

नियमसार वृत्ति के कर्ता पद्मप्रभ मलधारि देव का स्वर्गवास शक सं० ११०७ सन् ११८५ ईसवी में हुआ था, यह सुनिश्चित है। अतः महासेन पण्डितदेव का समय सन् ११८५ ई० से पूर्ववर्ती है। अर्थात् वे ईसा की १२वीं शताब्दी के मध्य काल के विद्वान जान पड़ते हैं।

प्रभाचन्द्र

प्रस्तुत प्रभाचन्द्र सूरस्थगण के विद्वान थे। ये अनन्तवीर्य के प्रशिष्य और बालचन्द्र मुनि के शिष्य थे। अनन्तवीर्य की स्तुति कम्वदहल्लि के शिलालेख में की गई है। यह शिलालेख शक सं० १०४० (सन् १११८) वि० सं० ११७५ का है। अतएव इन प्रभाचन्द्र का समय विक्रम की १२वीं शताब्दी है।

(जैन लेख सं० भा० २ पृ०३९९)

प्रभाचन्द्र

ये मूलसंघ, पुस्तकगच्छ देशियगण के प्रसिद्ध तार्किक विद्वान मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव के प्रधान शिष्य थे[२]। इन मेघचन्द्र त्रैविद्य का स्वर्गवास शक वर्ष नेय मन्मथ सवत्सरद १०३७ सन् १११५ मगशिर सुदि १४ वृहस्पतिवार को हुआ था। यह मेघचन्द्र सकल चन्द्रमुनि के शिष्य थे। इन मेघचन्द्र के दूसरे शिष्य वीरनन्दी थे। प्रस्तुत प्रभाचन्द्र विष्णु वर्द्धन राजा की पट्टरानी धर्मपरायणा, पतिव्रता, सती साध्वी, जो भक्ति में रुक्मणि सत्यभामा तथा सीता जैसी देवियों के समान थी, के गुरु थे।

शक सं० १०६८ (सन् ११४६) वि० सं० १२०३ में आसोज सुदि १०मी वृहस्पतिवार को जिनके स्वर्गारोहण का उल्लेख श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं० ५० में पाया जाता है[३]। इन प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव ने अपने गुरु की निषद्या महाप्रधान दण्डनायक गंगराज द्वारा निर्माण कराई थी।[४]

मेघचन्द्र के शिष्य इन प्रभाचन्द्र ने शक सं० १०४१ (सन् १११९ ई०) में एक महापूजा प्रतिष्ठा कराई थी।[५] इससे इन प्रभाचन्द्र का समय विक्रम की १२वीं शताब्दी है।

प्रभाचन्द्र त्रैविद्य

यह मडुपगण के सूर्य, समस्त शास्त्रों के पारगामी, परवादिगज मृगराज और मंत्रवादि मकरध्वज आदि विशेषणों से युक्त थे और वीरपुर तीर्थ के अधिपति मुनि रामचन्द्र त्रैविद्य के शिष्य थे। नय-प्रमाण में निपुण एवं

१. एनाल्स ऑफ दि भाण्डारकर ओरियन्टल इन्स्टिट्यूट भा० १३
पृ० ८८ में डॉ० ए. एन. उपाध्ये का लेख।

२. श्री मूलसङ्घ कृत-पुस्तक गच्छ देशीयोद्यद्गणाधिप सुतार्किक चक्रवर्ती।
सैद्धान्तिकेश्वरशिखामणिमेघचन्द्र—स्त्रैविद्यदेव इति सद्बुधाः स्तुवन्ति।
जैन लेख सं० भा० १ पृ० ७५

३. जैन लेख सं० भा० १ लेख नं० ५० (१४०) पृ० ७१

४. जैन लेख सं० भा० १ पृ० ६४

५. जैन साहित्य और इतिहास पृ० ३२

तीक्ष्ण बुद्धि थे [1] यह भट्टारक प्रभाचन्द्र मंत्रवादी थे। इन्हें चालुक्य विक्रम राज्य संवत् ४८ (११२४ ई०) में अग्रहार ग्राम सेडिम्ब के निवासी, नारायण के भक्त, चौसठ कलाओं के जानकार, ज्वालामालिनी देवी के भक्त, तथा अपने अभिचार होम के बल से काँचीपुर के फाटकों को तोड़ने वाले तीनसौ महाजनों ने सेडिम में मन्दिर बनवाकर भगवान शान्तिनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई थी और मन्दिर पर स्वर्ण कलशारोहण किया था। मन्दिर की मरम्मत और नैमित्तिक पूजा के लिये २४ मत्तर प्रमाण भूमि, एक बगीचा और एक कोल्हू का दान दिया था। इससे इन प्रभाचन्द्र का समय विक्रम की १२वीं शताब्दी का अन्तिम चरण है।

१. जिनपति मततत्वरुचिर्नयप्रमाणप्रवीणनिशितमतिः।
परहितचरित्र पात्रो बभौ प्रभाचन्द्र यतिनाथः।
ख्यातस्त्रैविद्यापरनामा श्रीरामचन्द्रमुनि तिलकः।
प्रियशिष्यःत्रैविद्यप्रभेन्दु भट्टारको लोके॥
—जैनिज्म इन साउथ इंडिया पृ० ४११

अध्याय ५

तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी के आचार्य, विद्वान् और कवि

कनकचन्द्र मुनीन्द्र
विजयकीर्ति
देवसेनगणी
मुनि देवचन्द्र (पासनाह च०)
जयसेन
चन्द्रकीर्ति
अमरकीर्ति
अग्गलदेव
श्रीधर
मुनि विनयचन्द्र
उदयचन्द्र
पं० महावीर
कवि लक्ष्मण या लाखू
दामोदर
श्रीधर (भविसयत्तकहा कर्ता)
माधवचन्द्र त्रैविद्य (क्षपणासारगद्य)
मुनि विनयचन्द्र (सागरचन्द्र के शिष्य)
रामचन्द्र मुमुक्षु (पुण्यास्रव के कर्ता)
विमलकीर्ति
मुनि सोमदेव (शब्दार्णवचन्द्रिका)
कवि हरदेव
यशःकीर्ति (चंदप्पह चरिउ कर्ता)
मदनकीर्ति (अर्हद्दास)
भावसेन त्रैविद्य
पण्डितप्रवर आशाधर
नरेन्द्रकीर्ति (अर्हनन्दि शिष्य)
वासवसेन (यशोधर च०)
वादीन्द्र विशालकीर्ति
मुनि पूर्णभद्र (सुकुमालचरिउ)
गुणवर्म (द्वितीय)
कमलभव
अभयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती
भानुकीर्ति सिद्धान्तदेव
मुनिचन्द्र (वि० सं० १२८६)
अजितसेनाचार्य (अलंकार चिन्ता०)
श्रीधरसेन (विश्वलोचनकोश)
विजयवर्णी (श्रृंगारार्णव चन्द्रिका)
कवि वाग्भट (काव्यानुशासन)
रविचन्द्र (आराधना समुच्चय)
रट्टकवि अर्हद्दास
बालचन्द्र पण्डितदेव
इन्द्रनन्दी
विमलकीर्ति
मेघचन्द्र
कुमुदेन्द्र
गुणभद्र
प्रभाचन्द्र
अण्डय्य
शिशुमायण
पार्श्वपण्डित
कवि जन्न
श्रीकीर्ति
महाबल कवि
लघु समन्तभद्र
कुलचन्द्र उपाध्याय
सकलचन्द्र भट्टारक
सकलकीर्ति
नल्लिव गुंद मादिराज
शुभचन्द्र योगी
मल्लिषेण पण्डित

बालचन्द्र मलधारी
वादिराज द्वितीय
त्रिविक्रमदेव
भट्टारक प्रभाचन्द्र
भट्टारक इन्द्रनन्दि (योगशास्त्र टीका)
देवसेन भावसंग्रह
बाल चन्द्र कवि
विद्यानन्द
श्रुतमुनि
रत्न योगीन्द्र
कुलभद्र
कवि नागराज
प्रभाचन्द्र
मधुर कवि
पं० हरपाल (वैद्यकग्रन्थ कर्ता)
केशव वर्णी

कवि श्रीधर
वर्द्धमान भट्टारक
मंगराज द्वितीय
अभयचन्द्र
गुणभूषण
अय्यपार्य
माघनन्दि योगीन्द्र
वादिकुमुदचन्द्र
कवि मंगराज
पं० वामदेव
अमरकीर्ति
हस्तिमल्ल
पं० नरसेन
सुप्रभाचार्य
भास्कर नन्दी सुखबोधा तत्वार्थ वत्तिकर्ता

कनकचंद्र

श्री मूलसंघ क्राणूरगण मेष पाषाण गच्छद कनकचन्द्र सिद्धान्तदेवर—(सिद्धान्तदेव को) अरटाल के मन्दिर की पूजा के वास्ते दान दिया गया है। इस मन्दिर में भगवान् पार्श्वनाथ की बड़ी कायोत्सर्ग मूर्ति विराजमान है। उसके नीचे कनड़ी अक्षरों में एक शिलालेख है। इस मन्दिर को बेट्टकेर निवासी बचिमेट्टि ने बनवाया था। [सत्याश्रय कुलतिलक चालुक्यराजम् भुवनैकमल्ल विजय राज्ये शाका १०४५ (वि० सं० ११७०) अर्थात् यह विक्रम की १२ वीं शताब्दी के तृतीत चरण के विद्वान हैं।] देखो, दि० जैन डायरेक्टरी पृ० २४१)

विजयकीर्ति

प्रस्तुत विजयकीर्ति शांतिषेण गुरु के शिष्य थे। जो लाडबागड गण की आम्नाय के विद्वान देवसेन की शिष्य परम्परा के थे। ये शान्तिषेण दुर्लभसेन सूरि के शिष्य थे, जिन्होंने राजा भोजदेव की सभा में पंडित शिरोमणि अंबरसेन आदि के समक्ष सैकड़ों वादियों को हराया था। निर्मल बुद्धि और शुद्ध रत्नत्रय के धारक थे। इन्होंने दूबकुण्ड (चडोभ) ग्वालियर के मन्दिर की प्रशस्ति लिखी थी[1]। उसमें लिखा है कि विक्रम संवत् ११४५ में कच्छपवंशी महाराज विक्रमसिंह के राज्य काल में मुनि विजयकीर्ति के उपदेश से जैसवालवंशी पाहड़, कुकेक, सूर्पट देवधर और महीचन्द्रादि चतुर श्रावकों ने ७५० फीट लम्बे और चारसौ वर्ग फीट चौड़े अंडाकार क्षेत्र में इस विशाल मन्दिर का निर्माण कराया था और उसके सरक्षण, पूजन और जीर्णोद्धार के लिए उक्त कच्छपवशी विक्रमसिंह ने भूमिदान दिया था।

इस प्रशस्ति में कच्छपवंश के राजाओं की वंश परम्परा के राजाओं के नामों का—भीमसेन, अर्जुनभूपति, विद्याधर, राज्यपाल, अभिमन्यु, श्रीभोज, विजयपाल और विक्रमसिंह का काव्य दृष्टि से वर्णन किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह प्रशस्ति महत्वपूर्ण है। विजयकीर्ति विक्रम की १२वीं शताब्दी के द्वितीय तृतीय चरण के विद्वान् हैं।

देवसेनगणी (सुलोचना चरिउ के कर्त्ता)

प्रस्तुत देवसेन सेनगण के विद्वान् विमलसेन गणधर के शिष्य थे। इन्होंने अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वीरसेन जिनसेन की परम्परा में होट्टलमुक्त नाम के मुनि हुए, जो रावण की तरह अनेक शीश तथा अनेक शिष्यरूप परिग्रह के धारक थे। और जो सकलागम से युक्त अपरिग्रही थे। उनका शिष्य गण्डविमुक्त हुआ, जिनके तपस्वी जीवन का नाम रामभद्र था। इनके शिष्य संयम के धारक निबंडिदेव थे। इन्हीं निबंडिदेव के शिष्य मलधारीदेव थे, जो शील गुण रूप रत्न के धारक थे। उपशम, क्षमा और संयम रूप जल के सागर, मोहरूपी महामल्ल वृक्ष के उखाड़ने के लिए गज (हाथी) के समान थे। और भव्यजन रूप कुमुद वन के लिए शशिधर (चन्द्रमा) थे। पंचाचार रूप परिग्रह के धारक, पंचसमिति और गुप्तित्रय से समृद्ध, गुणी जन से वंदित और लोक में प्रसिद्ध थे। कामदेव के बाणों के प्रसार के निवारक और दुर्धर पंच महाव्रतों के धारक मलधारिदेव

---

१. आस्थानाधिपतौ बुधादविगुणे श्रीभोजदेवे नृपे,
सभ्येष्वंबरसेन पंडितशिरोरत्नादिषूद्यन्मदान्।
योनेकान् शतशो व्यजेष्टपटुता भीष्टोद्यमो वादिनः,
शास्त्रांभोनिधिपारगो भवदतः श्रीशांतिषेणो गुरुः॥
गुरुचरणसरोजाराधनावाप्तपुण्य,
प्रभवदमलबुद्धिः शुद्धरत्नत्रयोस्मात्।
अजनिविजयकीर्तिः सूक्तरत्नावकीर्णां
जलधिभुवमिवैतां यः प्रशस्तिं व्यधत्त। (दूबकुण्डलेख, जैन लेख सं० भा० २ पृ० ३४०)

थे, जिनका नाम विमलसेन था। इन्ही विमलसेन के शिष्य उक्त देवसेन थे जो सेनगण के विद्वान्, धर्माधर्म के विशेषज्ञ, सयम के धारक तथा भव्यरूप कमलों के अज्ञान तम के विनाशक रवि (सूर्य) थे। शास्त्रों के ग्राहक, कुशील के विनाशक धर्मकथा के प्रभावक, रत्नत्रय के धारक और जिन गुणों में अनुरक्त थे। प्रस्तुत देवसेन मम्मल-पुरी में निवास करते थे। जैसा कि निम्न प्रशस्ति वाक्य से प्रकट है :—णिव मम्मल्लपुरि हो णिवसंते, चारुट्ठाणें गुण गणवंते।'' इससे देवसेन दक्षिण देश के निवासी जान पड़ते हैं। इन्होंने राजा की मम्मलपुरी[1] में रहते हुए सुलोचना चरिउ की रचना राक्षस संवत्सर में श्रावण शुक्ला चतुर्दशी बुधवार के दिन की थी[2]। ग्रन्थ की रचना राक्षस संवत्सर में हुई है। राक्षस संवत्सर साठ सवत्सरों में से ४६ वां सवत्सर हैं। ज्योतिष की गणनानुसार एक राक्षस संवत्सर सन् १०७५ (वि० सं० ११३२) में २६ जुलाई को श्रावण शुक्ला बुधवार के दिन पड़ता है और दूसरा सन् १३१५ (वि० स० १३७२)में १६ जुलाई को उक्त चतुर्दशी बुधवार के दिन पड़ता है। इन दोनों समयों में २४० वर्ष का अन्तर है। अतः इनमें पहला सन् १०७५ (वि० सं० ११३२) इस ग्रन्थ की रचना का सूचक जान पड़ता है। मुनि देवसेन ने अपने से पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख करते हुए बाल्मीकि, व्यास, बाण, मयूर, हलिय गोविन्द, चतुर्मुख स्वयम्भू, पुष्पदन्त और भूपाल कवि का नाम दिया है। इनमें पुष्पदन्त का समय वि० स० १०३५ के लगभग है। और भूपाल कवि का समय आचार्य गुणभद्र के बाद और पं० आशाधर के पूर्ववर्ती है। अतः सभवतः ११वीं के विद्वान जान पड़ते हैं।

डा० ज्योति प्रसाद ने जैन सन्देश शोधांक १५ में देवसेन नामक विद्वानों का परिचय कराते हुए लिखा हैं—कल्याणि के चालुक्य वंश में जयसिह प्रथम (१०११-१०४२) का उत्तराधिकारी सोमेश्वर प्रथम त्रैलोक्य का नाम आहवमल्ल था जिसका शासन काल लगभग १०४२-१०६८ ई०) था, और जिसका उत्तराधिकारी सोमेश्वर द्वितीय भुवनैकमल्ल (१०६८-१०७५ ई०) था। सोमेश्वर प्रथम नाम का राजा सामान्यतया त्रैलोक्यमल्ल नाम से प्रसिद्ध था, बड़ा प्रतापी था, दक्षिण भारत का बहुभाग उसके आधीन था। मम्मल नगर भी उसके राज्य में था। अतएव गंड विमुक्त रामभद्र का समय भी लगभग सन् १०४०-१०७० ई० में होना चाहिये और उनकी तीसरी पीढ़ी में होने वाले देवसेन ५० वर्ष पीछे (११२० ई०) में होने चाहिए। उक्त डा० सा० ने लिखा है एक अन्य गणना के अनुसार राक्षस संवत १०६२-६३ ई०, ११२२-२३ ई० और ११८२-८३ ई० की तिथि में पड़ता था। इन तीनों तिथियों में से ११२२-२३ ई० की तिथि ही अधिक संगत प्रतीत होती है।

डा० ज्योति प्रसाद के द्वारा बतलाई तिथि में और ऊपर की ज्योतिष के अनुसार बतलाई तिथि में ४८ वर्ष का अन्तर पड़ता है। विद्वानों को इस सम्बन्ध में विचार कर प्रस्तुत देवसेन का समय मानना चाहिए। वे १२वी शताब्दी के विद्वान जान पडते हैं।

रचना

मुनि देवसेन की एकमात्र कृति 'सुलोयणाचरिउ' है। प्रस्तुत ग्रन्थ की २८ सन्धियों में भरत चक्रवर्ती, (जिनके नाम से इस देश का नाम 'भारतवर्ष' पड़ा है) के सेनापति जयकुमार की धर्म पत्नी सुलोचना का, जो काशी के राजा अकम्पन और सुप्रभा देवी की सुपुत्री थी, चरित अंकित किया गया है। सुलोचना अनुपम सुन्दरी थी। इसके स्वयम्बर में अनेक देशों के बड़े-बड़े राजागण आये थे। सुलोचना को देखकर वे मुग्ध हो गए। उनका हृदय क्षुब्ध हो उठा और उसकी प्राप्ति की प्रबल इच्छा करने लगे। स्वयंवर में सुलोचना ने जयकुमार को चुना, उनके गले में वरमाला डाल दी। इससे चक्रवर्ती भरत का पुत्र अर्ककीर्ति क्रुद्ध हो उठा, और उसने उसमें अपना अपमान

---

१. प्रस्तुत मम्मलपुर तमिल प्रदेश का मम्मलपुर जान पड़ता है जिसका निर्माण महामल्ल पल्लव ने किया था, जैसा कि डा० दशरथ शर्मा के निम्न वाक्य से प्रकट है। —Mammalpuram foundedby Mahamalla Pallava

जैन ग्रंथ प्र०सं० भा०२ का फुटनोट

२. रक्खस-संवच्छर बुह-दिवसए, मुक्क-चउद्दसि सावण मासए।

चरिउ सुलोयणहि णिप्पण्णउ, सद्द-अत्थ-वण्णण-संपुण्णउ॥ जैन ग्रंथ प्रशस्ति सं० भा० २ पृ २०

समझा। अपने अपमान का बदला लेने के लिये अर्ककीर्ति और जयकुमार में युद्ध होता है और अन्त में जय कुमार की विजय होती है। उस युद्ध का वर्णन कवि के शब्दों में निम्न प्रकार है :—

"भडो कोवि खग्गेण खग्गं खलंतो, रणे सम्मुहे सम्मुहो आणहंतो।
भडो कोवि बाणेण बाणा दलंतो, समुद्धाइ उद्दुद्धरो णं कयंतो।
भडो कोवि कांतेण कांतं सरंतो, करे गाढ चक्को अरी सं पहुंतो।
भडो कोवि खडहि खंडी कयंगो, लडत्त ण मुक्को सगा जो अहगा।
भडो कोवि संगाम भूमि धुलंतो, विवण्णोह गिद्धवली णाय अंतो।
भडो को कोवेण णिव्वट्टि ससो, असिवा वरेई अरीसाण सीसो।
भडो कोवि रत्तप्पवाहे तरंतो, फुरंतप्पयेणं तडि सिग्घ पत्तो।
भडो कोवि मुच्छा उहे वंत इत्ता, रहे दिण्णयाउ विवण्णोह इत्ता।
भडो कोवि दत्थी विसाणहि भिण्णो, भडो को वि कंठाट्ठ छिण्णा णिसण्णो।
घत्ता—तहिं अवसर णिय सेण्णु पेच्छिवि सरजज्जरियउ।
धायइ भुयतोलंतु जउ वकु मच्छर भरियउ॥ ६—१२

युद्ध के समय सुलोचना ने जो कुछ विचार किया था, उसे ग्रन्थकार ने गूंथने का प्रयत्न किया है। सुलोचना को जिनमन्दिर में बैठे हुए जब यह मालूम हुआ कि महतादिक पुत्र, बल और तेज सम्पन्न पांच सौ सैनिक शत्रुपक्ष ने मार डाले हैं, जो रक्षा के लिये नियुक्त किए गए थे। तब वह आत्म निन्दा करती हुई विचार करती है कि यह संग्राम मेरे कारण ही हुआ है, जो बहुत से सैनिकों का विनाशक है। अतः मुझे इस जीवन से कोई प्रयोजन नहीं। यदि युद्ध में मेघेश्वर (जयकुमार) की जय होगी और मैं उन्हें जीवित देख लूंगी तभी शरीर के निमित्त आहार करूंगी। इससे स्पष्ट है कि उस समय सुलोचना ने अपने पति की जीवन-कामना के लिये आहार का परित्याग कर दिया था। इससे उसके पातिव्रत्य का उच्चादर्श सामने आता है। यथा–

"इमं जंपिऊणं पउत्तं जयेण, तुमं एह कण्णा मणोहार वण्णा।
सुरक्खेह पूणं परेणह ऊणं, तउ जोइ लक्खा अणेया असंखा।
सुसत्था वरिण्णा महं दिक्ख दिण्णा, रहा चारु चिंधा गया जो मयधा।
महंताइ पुत्ता-बला-तेय-जुत्ता, सया पचसखा हया वेरिपक्खा।
पुरोए णिहाण वरं तुंग गेहं, फुरंतोह णील मणील कराल।
पिया तत्थ रम्मो वरे चित कम्मे, अरभीय चिंता सुउ हुल्लवत्ता।
णिय सोयवंती इणं चिंतवंती, अह पाव-यम्मा अलज्जा-अधम्मा।
मह कज्ज एयं रणं अज्ज जाय...................................।
बहूणं णराण विणासं करेण, महं जीविएण ण कज्ज अणेणं।
जया हंसताउ स-मेहेसराई, सहे मंगवाई इमो सोमराई।
घत्ता—ए सयलवि संगामि, जीवियमाण कुमार हो। पेच्छमि होई पवित्ति, तो सरीर आहार हो॥

इस तरह ग्रन्थ का विषय और कथानक सुन्दर है, भाषा सरल और प्रसाद गुणयुक्त है। प्रस्तुत ग्रन्थ एक प्रामाणिक कृति है; क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द के प्राकृतगाथाबद्ध सुलोचना चरित का पद्धडिया आदि छन्दों में अनुवाद मात्र किया है। यह कुन्दकुन्द प्रसिद्ध सारत्रय के कर्ता से भिन्न ज्ञात होते हैं[1] ग्रन्थगत चरितभाग बड़ा ही

१. जं गाहा बंधे आसि उत्त, सिरि कुन्द कुन्द-गणिणा णिरुत्त।
तं एव्वहि पद्धडियहि करेमि, परि कि पि न गूढउ अत्थु देमि॥ —जैन ग्रन्थ प्रशस्तिसंग्रह भा० २ पृ० १६
उक्त पद्य में निर्देशित कुन्दकुन्द समयसारादि ग्रन्थों के रचयिता कुन्द कुन्द प्रतीत नहीं होते हैं। कोई दूसरे ही कुन्दकुन्द नाम के विद्वान् की रचना सुलोचना चरित होगी। जिसकी देवसेन ने पद्धडिया छन्द में रचना की है।

सुन्दर है; क्योंकि जयकुमार और सुलोचना का चरित स्वयं ही पावन रहा है। १५ वीं शताब्दी के कवि रइधू ने अपने मेघेश्वर चरित में—"मेहेसरहु चरिउ सुर सेणे- वाक्य द्वारा उसका उल्लेख किया है।

मुनि देवचन्द्र

ये मूलसंघ देशीय गच्छ के विद्वान मुनि वासवचन्द्र के शिष्य थे जो रत्नत्रय के भूषण, गुणों के निधान तथा अज्ञान रूपी अंधकार के विनाशक भानु (सूर्य) थे। प्रशस्ति में उन्होंने अपनी गुरु परम्परा निम्न प्रकार दी है श्री कीर्ति, देवकीर्ति, मौनिदेव, माधवचन्द्र, अभयनंदी, वासवचन्द्र और देवचन्द्र। इस गुरु परम्परा के अतिरिक्त ग्रन्थकर्ता ने रचना समय का कोई उल्लेख नही किया, हा रचना का स्थल गुंदिज्ज नगर का पार्श्वनाथ मन्दिर बतलाया है[1] जो कहीं दक्षिण में अवस्थित होगा। वासवचन्द्र नाम के दो विद्वानो का उल्लेख मिलता है। प्रथम वासवचन्द्र का उल्लेख सं० १०११ वैशाख सुदि ७ सोमवार के दिन उत्कीर्ण किये गए खजुराहो के जिननाथ मन्दिर के लेख में हुआ है जो राजा धंग के राज्य काल में उत्कीर्ण हुआ था।

दूसरे वासवचन्द्र का उल्लेख श्रवणबेलगोल के ५५ वे शिलालेख में पाया जाता है जो शक स० १०१२ (वि० सं० ११४७) का खोदा हुआ है[2]। उसके २५ वे पद्य में वासवचन्द्र मुनि का नामोल्लेख है, जिनकी बुद्धि कर्कश तर्क करने में चलती थी, और जिन्हें चालुक्य राजा की राजधानी में बाल सरस्वति की उपाधि प्राप्त थी।[3] यदि ये देवचन्द्र वासवचन्द्र के गुरु हों तो इनका समय विक्रम की १२वी शताब्दी हो सकता है। ग्रन्थ प्रशस्ति में वासवचन्द्र सूरि को अभयनन्दी का दीक्षित शिष्य बतलाया है और लिखा है कि उन्होंने चारों कषायों को विनष्ट किया था, जो भव्यजनो को आनन्ददायक थे, और जिन्होंने जिन मन्दिरों का उद्धार किया था, जैसा कि निम्न वाक्य से प्रगट है—'उद्धरियइ जे जिणमंदिराइ।' उन्हीं के शिष्य देवचन्द्र थे। ग्रन्थ के भाषा साहित्यादि पर से वह १२वी १३वीं शताब्दी से पूर्व की रचना नहीं जान पड़ती। चरित्र भी सामान्यतया वही हे। उसमें कोई खास वैशिष्ट्य के दर्शन होते।

प्रस्तुत ग्रन्थ में ११ संन्धियाँ और २०२ कडवक हैं। जिनमें भगवान पार्श्वनाथ का चरित्र-चित्रण किया गया है। कवि ने दोधक छन्द में पार्श्वनाथ की निश्चल ध्यानमुद्रा को अंकित है, उससे पाठक ग्रन्थ की शैली से परिचित हो सकेंगे।

तत्थ सिलायले थक्कु जिणिंदो, संतु महंतु तिलोय हो वंदो,
पंचमहव्वय—उद्दय कधो, निम्ममु चत्त चउव्विह बंधो।
जीव दया वरु संग विमुक्को, णं दह लक्खणु धम्मु गुरुक्को।
जन्म-जरामरणुज्झिय दप्पो वारसभेयतवस्स महप्पो।
मोह-तमंध-पयाव-पयंगो, खंतिलयासहणे गिरितुंगो।
संजम-सील-विहूसिय देहो, कम्म-कसाय हुआसण मेहो।
पुप्फं धण वर तोमर धंसो मोक्ख-महासरि कीलण हंसो।
इन्दिय-सप्पहंविसहर यंतो, अप्पसरूव -समाहि-सरंतो
केवलनाण-पयासण-कंखू, धाण पुरम्मि निवेसिय चक्खू।
णिज्जिय सासु पलंबियवाहो, णिच्चल देह विसिज्जय-वाहो।
कंचण सेलु जहां थिरचित्तो,दोधक छंद इमो बुह वुत्तो॥"

इसमें बतलाया गया है कि भगवान पार्श्वनाथ एक शिला पर ध्यानस्थ बैठे हुए हैं। वे सन्त महन्त

१. गुंदिज्ज नयरि जिणपासहम्मि, निवसंतु संतु संजणिय-मम्मि। —जैनग्रन्थ प्रश० भा०२ पृ० २४

२. See Epigraphica Indca Vol T Page 36

३. वासवचन्द्रमुनीन्द्रोरुन्द्रस्याद्वादतर्क्क कर्कश-धिषणः।
चालुक्यकटकमध्ये बालसरस्वतिरिति प्रसिद्धिःप्राप्तः॥ जैनशिला ले० सं० भा० १ लेख २५।

त्रिलोकवर्ति जीवों के द्वारा बन्दनीय हैं, पंच महाव्रतों के धारक हैं, निर्मम हैं,और प्रकृति प्रदेश स्थिति अनुभागरूप चार प्रकार के बन्ध से रहित है दयालु और संग (परिग्रह) से मुक्त हैं, दशलक्षण धर्म के धारक हैं। जन्म, जरा और मरण के दर्प से रहित हैं। तप के द्वादश भेदों के अनुष्ठाता हैं। मोहरुपी अंधकार को दूर करने के लिये सूर्य समान हैं। क्षमारूपी लता के आरोहणार्थ वे गिरि के समान उन्नत हैं। जिनका शरीर संयम और शील से विभूषित है। जो कर्मरूप कषाय हुताशन के लिये मेघ हैं। कामदेव के उत्कृष्ट बाणों को नष्ट करने वाले तथा मोक्षरूप महा सरोवर में क्रीड़ा करने वाले हंस हैं। इन्द्रियरूपी विषधर सर्पो को रोकने के लिये मंत्र हैं। आत्म-समाधि में चलने वाले हैं। केवलज्ञान को प्रकाशित करने वाले सूर्य हैं, नासाग्र दृष्टि हैं। श्वास को जीतने वाले हैं, जिनके बाहु लम्बायमान हैं और व्याधियों से रहित जिनका निश्चल शरीर है। जो सुमेरु पर्वत के समान स्थिर चित्त हैं।"

यह सब कथन पार्श्वनाथ की उस ध्यान-समाधि का परिचायक है जो कर्मावरण की नाशक है।

ग्रन्थ की यह प्रति सं० १४९८ के दुर्मति नाम संवत्सर के पूस महीने के कृष्ण पक्ष में अलाउद्दीन के राज्य काल में भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति के पट्टाधिकारी भट्टारक प्रतापकीर्मिके समय देवगिरि के महादुर्ग में अग्रवाल श्रावक पण्डित गांगदेव के पुत्र पासराज द्वारा लिखाई गई है।

जयसेन (प्राभृतत्रयके टीकाकार)—

यह मूलसंघ के विद्वान आचार्य वीरसेन के प्रशिष्य और सोमसेन के शिष्य थे। जयसेन मालूसाहू के पौत्र और महीपतिसाधु के पुत्र थे। उनका बाल्यकाल का नाम चारुभट था, वे जिन चरणों के भक्त और आचार्यों के सेवक थे। जैसा कि उनकी प्रशस्ति के निम्न पद्यों से प्रकट है :—

सूरिः [श्री वीरसेनाख्यो मूलसंघेपि सत्तपाः।
नैर्ग्रन्थ्यं पदवीं भेजे जातरूप धरोपि यः॥
ततः श्री सोमसेनोऽभूद गणी गुणगणाश्रयः।
तद्विनेयोऽस्ति यस्तस्यै जयसेन [तपोभृते॥
शीघ्रं बभूव मालू (?) साधुः सदा धर्मरतो वदान्यः।
सूनुस्ततः साधु महीपतिर्यस्तस्मादयं चारुभटस्तनूजः॥
यः संततं सर्वविदः सपर्या मार्ग क्रमराधनया करोति।
स श्रेयसे प्राभृत नाम ग्रन्थ पुष्यत् पितुर्भक्ति विलोपभीरु।॥

चारुभट जब दिगम्बर मुनि हो गये तब उनके तपस्वी जीवन का नाम जयसेन हो गया। उन्होंने कुन्द-कुन्दाचार्य के प्राभृत ग्रन्थों का अध्ययन किया और समयसार पंचास्तिकाय और प्रवचनसार तीनों ग्रन्थों पर वृत्ति संस्कृत भाषा में बनाई, जिसका नाम तात्पर्य वृत्ति है। वृत्ति की भाषा सरल और सुगम है। इनमें पंचास्तिकाय की वृत्ति पर ब्रह्मदेव की द्रव्यसंग्रह की टीका का प्रभाव परिलक्षित है। उन्होंने सोमश्रेष्ठी के लिए द्रव्यसंग्रह के रचे जाने के निमित्त का भी 'अन्यत्र' द्रव्यसंग्रहादौ सोमश्रेष्ठयादि ज्ञातव्यं' निम्न शब्दों में उल्लेख किया है। जयसेन ने अपनी वृत्ति में रचना समय नहीं दिया, फिर भी अन्य साधनों से उनका समय डा० ए० एन० उपाध्याय ने ईसा की १२ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध और विक्रम की १३वीं शताब्दी का पूर्वार्ध निश्चित किया है[1], क्योंकि इन्होंने आचार्य वीरनन्दी के आचार सार से दो पद्य उद्धृत किये हैं[2]। आचार्य वीरनन्दी ने आचारसार की स्वोपज्ञकनड़ी टीका शक सं० १०७६ (वि० सं० १२११) में समाप्त की थी[3]। वीरनन्दी के गुरु मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव का स्वर्गवास विक्रम की १२ वीं सदी

---

१. See Introduction of the Pravacansara P. 104

२. देखो, तात्पर्यवृत्ति पृ० ८ और आचार सार ४।९५-९६ श्लोक

३. स्वस्ति श्रीमन्मेघचन्द्रत्रैविद्यदेवर श्री पादप्रसादासादितात्मप्रभाव समस्त-विद्या-प्रभाव सकल दिग्वर्ति श्री कीर्ति श्रीमद्वीरनन्दिसैद्धान्तिकचक्रवर्तिगलु [शकवर्ष १०७६ श्रीमुखनाम संवत्सरे ज्येष्ठ शुक्ल १ सोमवार दंदु तावु माडिया चार सारक्के कर्णाट वृत्ति माडिद पर"

के उपान्त्य समय में अर्थात् सन् ११७२ में हुआ है। इससे जयसेन का समय विक्रम की १३ वीं सदी का प्रारम्भ ठीक ही है।

जयसेन ने प्रशस्ति में त्रिभुवनचन्द्र नाम के गुरु को नमस्कार किया है जो कामदेव रूपी महा पर्वत के शत-खण्ड करने वाले थे। संभव है, सोमसेन इनके दीक्षा गुरु हों और त्रिभुवनचन्द्र उनके विद्यागुरु रहे हों। इनका समय भी विक्रम की १३ वीं शताब्दी का प्रारंभ है।

जयसेन ने समयसार की तात्पर्य वृत्ति के अन्त में, ब्रह्मदेव की परमात्म प्रकाश टीका की अन्तिम भावना को—जिसमें लिखा है कि परमात्मप्रकाश की टीका पढ़कर भव्य जनों को क्या करना चाहिए वाक्यों के साथ उल्लिखित है उसे, ज्यों के त्यों रूप में उद्धृत किया है।

अमरकीर्ति

प्रस्तुत अमरकीर्ति काष्टासंघान्तर्गत उत्तर माथुर संघ के विद्वान मुनि चन्द्रकीर्ति के शिष्य एवं अनुज थे। अमरकीर्ति की माता का नाम 'चचिणी' और पिता का नाम 'गुणपाल' था। इन्होंने अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख निम्न प्रकार किया है[1]—अमितगति द्वितीय (१०५० से १०७३) के उत्तरवर्ती शान्तिषेण, अमरसेन, श्रीषेण, श्रीचन्द्र और अमरकीर्ति। इन विद्वानों का और अमितगति द्वितीय से पूर्ववर्ती चार विद्वानों का—देवसेन 'अमितगति प्रथम, नेमिषेण और माधवसेन इन सब दश आचार्यों का समय दसवीं शताब्दी से सं० १२४७ तक ढाई सौ वर्ष के लगभग इस अविच्छिन्न परम्परा का बोध होता है। इन अमरकीर्ति की परम्परा के शिष्यों का कोई उल्लेख नहीं मिलता। सिर्फ एक शिष्य का उल्लेख उपलब्ध हुआ है, जिनका नाम इन्द्रनन्दी है, जिन्होंने शक संवत् ११८० (वि० सं० १३-१५) में हेमचन्द्राचार्य के योगशास्त्र पर संस्कृत टीका लिखी है। इसी परम्परा में उदय चन्द्र, बालचन्द्र और विनय-चन्द्र मुनि हुए हैं।

समय

कवि अमरकीर्ति का समय विक्रम की १३ वीं शताब्दी है। क्योंकि कवि ने अपने णेमणाहचरिउ को सं० १२४४ में भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी को समाप्त किया है[3] और छक्कम्मोवएस' (षट्कर्मोपदेश) वि० सं० १२४७ बीतने पर भाद्रपद शुक्ला १४ गुरुवार के दिन आलस को दूर कर एक महीने में बनाकर समाप्त किया है।[4] षट्कर्मो-पदेश की रचना गुजरात देश के महीयडु प्रदेश के गोध्रा नगर के आदिनाथ मन्दिर में बैठकर की है। उस समय गुजरात में चालुक्य अथवा सोलंकी वंश के कण्ह या कृष्णनरेन्द्र का राज्य था, जिसकी राजधानी अनहिलवाड़ा थी। जो वंदिग्गदेव का पुत्र था। परन्तु इतिहास में वंदिग्गदेव और उनके पुत्र कृष्णनरेन्द्र का कोई उल्लेख देखने में नहीं आया। उस समय अनहिलवाड़े के सिंहासन पर भीम द्वितीय का राज्य शासन था। इनके बाद बघेलवंश की शाखा ने अपना राज्य प्रतिष्ठित किया है। इनका राज्य सं० १२२६ से १२३६ तक बतलाया जाता है। संवत् १२२० से १२३६ तक कुमारपाल, अजयपाल और मूलराज द्वितीय वहां के शासक रहे हैं। भीम द्वितीय के शासन समय से पूर्व ही चालुक्य वंश की एक शाखा महीकांठा प्रदेश में प्रतिष्ठित हो गई, जिसकी राजधानी गोध्रा थी। इस सम्बन्ध

---

१. अनेकान्त वर्ष २० कि० ३ पृ० १०७

२. जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भा० २ पृ० ५६

३. ताहं रज्जि वट्टंतए विक्कमकालिगए, बारहसयचउ आलए सुक्ख,

जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सं० भा० २ पृ० ५६

४. बारह सयहं समत्त चयालिहिं, विक्कम संवच्छर हु विशालहिं।
गयहिंमि भद्दवयहु पक्खंतरि, गुरुवारम्मि चउद्दिसि वासरि।
इक्के मासें इहु सम्मत्तिउ सइं लिहियउ आलसु अवहत्थिउ।
—जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भा० २ पृ० १३।

में अभी अन्वेषण करने की आवश्यकता है जिससे यह ज्ञात हो सके कि इस वंश की प्रतिष्ठा कब हुई, और राज्य शासन कब तक चला।

रचनाएँ

कवि ने अपनी निम्न रचनाओं का उल्लेख किया है, जो सं० १२४७ तक रची जा चुकी थीं—(१) णेमिणाहचरिउ, (२) महावीरचरिउ (३) जसहरचरिउ, (४) धर्मचरित टिप्पण, (५) सुभाषितरत्न निधि, (६) धर्मोपदेश, (७) झाणपईव (ध्यानप्रदीप), (८) षट् कर्मोपदेश, और (९) पुरंदरविधान कथा।

इनमें केवल तीन रचनाएं ही उपलब्ध है।

इन रचनाओं में 'पुरंदर विहाण कहा' 'छक्कम्मोवएस' की दशवीं संधि में समाविष्ट है। इसके साथ ही वहाँ देव पूजा का विस्तृत कथन समाप्त होता है। इसमें पुरन्दर व्रत का विधान बतलाया गया है। यह व्रत किसी भी महीने के शुक्ल पक्ष में किया जा सकता है। शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से अष्टमी तक प्रोपधोपवास करना चाहिए। जिन पूजन और उद्यापन विधि का भी वर्णन है। कवि ने इसे अम्ब प्रसाद के निमित्त से बनाया है।

णेमिणाहचरिउ

इस ग्रन्थ में २५ सन्धियाँ हैं जिनकी श्लोक संख्या छह हजार आठ सौ पच्चाणवे है। इसमें जैनियों के बाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ की जीवनगाथा अंकित है। जो कृष्ण के चचेरे भाई थे। इस ग्रन्थ को कवि ने संवत् १२४८ भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी को समाप्त किया था। यह प्रति सं० १५१२ की लिखी हुई है, जो सोनागिरि के भट्टारकीय शास्त्रभंडार में सुरक्षित है।

छक्कम्मोवएस

प्रस्तुत षट्कर्मोपदेश में १४ सन्धियां और २१५ कडवक हैं, जिनकी श्लोक संख्या २०५० के प्रमाण को लिए हुए है। इस ग्रन्थ को कवि ने अम्बाप्रसाद के निमित्त से बनाया है। प्रसंगानुसार इस ग्रन्थ में गृहस्थों के षट्कर्मों का—देवपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय (शास्त्राभ्यास) संयम (इंद्रिय दमन) और षट्काय जीव रक्षा, इच्छा निरोध रूप तप, और दान रूप षट्कर्मों का—कथन किया है। दूसरी से ९ वीं सन्धि तक देवपूजा का विस्तृत कथन किया गया है। जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल और अर्घ, इस आठ द्रव्य प्रकारी पूजा, उसका फल, अनेक नूतन कथा रूप दृष्टान्तों के द्वारा उसे सुगम और ग्राह्य बना दिया है। दसवीं सन्धि में जिन पूजा विधि की कथा और उद्यापन की विधि वर्णित की गई है।

ग्यारहवीं संधि में दूसरे तीसरे गृहस्थ कर्म-गुरु उपासना और स्वाध्याय का सुन्दर उपदेश दिया है। स्वाध्याय के वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश आदि का भी कथन निर्दिष्ट है। गुरु का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि मन की शंकाओं का निवारण करने वाला, शीलवान, शुद्ध निष्ठावान, चारित्र भूषण, दूषणों का त्यागी ही उत्कृष्ट गुरु है। इन्द्रिय-विषय-विकारी गुरु सछिद्र नौका के समान बतलाया है। अतएव विवेकी, विद्वान, संयमी, विषय-व्यापार से रहित पुरुष को ही गुरु बनाना श्रेयस्कर है।

१२ वीं संधि में संयम का उपदेश है। संयम के दो भेद हैं—इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम। पहले इन्द्रिय संयम है। इन्द्रियों का असंयम आपत्ति का कारण है। जब एक एक इन्द्रिय के विषय प्राणघातक है तब पांचों ही इन्द्रियों के विषय किस अनर्थ को उत्पन्न नहीं करते। अतएव इन्द्रिय-विषयों का त्याग जरूरी है। मन द्वारा ही इन्द्रियां विषयों में प्रवृत्ति होती है। यदि मन वश में हो जाय, उसे विजित कर लिया जाय तो फिर इंद्रियाँ अपने विषयों में व्यापार नहीं कर सकतीं। अतः मन का जीतना जरूरी है। षट्काय के जीवों की रक्षा प्राणि संयम है। इसका पालन करना आवश्यक है।

४. See History of Gujrat in Bombay Gazeteer vol. I

१३ वीं संधि में भी संयम का उपदेश दिया गया है। और गृहस्थों के पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का कथन करते हुए रात्रि भोजन त्याग पर जोर दिया है। और अन्त में समाधिमरण का उपदेश है। उसके साथ ही सन्धि समाप्त हो जाती है।

अन्तिम १४ वीं सन्धि में दान और तप कर्म का उपदेश दिया गया है। दान की महत्ता का भी कथन किया है और उसका फल भोगभूमि का सुख बतलाया है। दान को दुर्मति नाशक और सब कल्याणों का कर्ता बतलाया है। उत्कृष्ट पात्र दान का फल उत्कृष्ट कहा है। ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है, उसका प्रकाशन होना चाहिए।

श्री चन्द्रकीर्ति

यह काष्ठा संघान्तर्गत माथुरसंघ के विद्वान श्रीषेणसूरि के दीक्षित शिष्य थे। जो तपरूपी लक्ष्मी के निवास और अर्थिजन समूह की आशा को पूरी करने वाले, तथा परवादिरूपी हाथियों के लिए मृगेन्द्र थे[1]। इनके शिष्य अमरकीर्ति थे। जिनकी दो रचनाएँ नेमिपुराण (१२४४) और पट्कर्मोपदेश (१२४७) उपलब्ध हैं। श्रीचन्द्र-कीर्ति का समय विक्रम की १३ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। अर्थात् वे सं० १२२० से १२३५ के विद्वान होने चाहिए।

कवि अग्गल

अग्गल मूलसंघ, देशीयगण पुस्तक गच्छ और कुन्दकुन्दान्वय के विद्वान श्रुतकीर्ति त्रैविद्यदेव का शिष्य था। इसके पिता का नाम शान्तीश और माता का नाम पोचाम्बिका था। कवि का जन्म इंगलेश्वर नाम के ग्राम में हुआ था। यह संभवत: किसी राज परिवार का प्रसिद्ध कवि था। जैन जैन मनोहर चरित, कवि कुल कलभ-व्रातयूथाधिनाथ, काव्य-कर्णधार, भारती-बालनेत्र, साहित्यविद्याविनोद, जिन समयसार-केलि मराल और सुललित कविता नर्तकी नृत्य-रंग आदि इनके विरुद थे।

इस कवि की एकमात्र कृति चन्द्रप्रभ पुराण है, जिसमें आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ का जीवन परिचय अंकित किया गया है। मद्रास लायब्रेरी में विलगी नाम के स्थान का शिलालेख है। उससे ज्ञात होता है कि इसने उक्त ग्रन्थ अपने गुरु श्रुतकीर्ति त्रैविद्य की आज्ञा से बनाया था। ग्रन्थ में १६ आश्वास हैं। ग्रन्थ की भाषा प्रौढ़ और संस्कृत बहुल है। ग्रन्थ के प्रत्येक आश्वास के अन्त में निम्न पुष्पिका वाक्य पाये जाते हैं—'**इति परमपुरुष नाथकृत भूभृत्समुद्भूत प्रवचनसरित्सरिन्नाथ-श्रुतकीर्ति त्रैविद्य चक्रवर्ती पदपद्मविधान दीपवर्ति श्रीमदग्गलदेव विरचिते चन्द्रप्रभ चरिते**'-दिया है। ग्रन्थ की रचना शक सं० १०११ (वि० सं० ११४६) सन् १०८९ में की गई है। अतः कवि का समय विक्रम की १२वीं शताब्दी है।

कवि श्रीधर

कवि विबुध श्रीधर ने अपनी रचना में अपना कोई परिचय और गुरु परम्परा का उल्लेख नहीं किया। किन्तु इतनी मात्र सूचना दी है कि बलडइ ग्राम के जिन मन्दिर में पोमसेण (पद्मसेन) नाम के मुनि अनेक शास्त्रों का व्याख्यान करते थे।

कवि का समय विक्रम की १३वीं शताब्दी का प्रारम्भ है।

ग्रन्थ रचना

कवि की रचना 'सुकुमाल चरिउ' है, जिसमें छह सन्धियाँ और २२४ कडवक हैं, जिनमें सुकुमाल स्वामी का जीवन-परिचय दिया हुआ है। सुकुमाल स्वामी का जीवन अत्यन्त पावन रहा है। इसी से संस्कृत अपभ्रंश और हिन्दी भाषा में लिखे गए अनेक ग्रन्थ मिलते हैं। प्रस्तुत चरित में कवि ने सुकुमाल के पूर्व जन्म का वृत्तान्त

---

१. पुणु दिक्खिउ तहो तवसिरि-णिवासु, अत्थियण-संघ-बुह-पूरियासु।
परवाइ-कुंभि-दारण-मइंदु, सिरिचन्दकित्ति जायउ मुणिंदु। —षट् कर्मोपदेश प्रशस्ति

देते हुए लिखा है कि वे पहले जन्म में कौशाम्बी के राजा के राजमंत्री के पुत्र थे और उनका नाम वायुभूति था। उन्होंने रोष में आकर अपनी भाभी के मुख में लात मारी थी, जिससे कुपित हो उसने निदान किया था कि मैं तेरी इस टाग को खाऊंगी। अनन्तर अनेक पर्यायें धारण कर जैनधर्म के प्रभाव से वे उज्जैनी में सेठ पुत्र हुए वे बाल्य अवस्था से ही अत्यन्त सुकुमार थे, अतएव उनका नाम सुकुमाल रक्खा गया। पिता पुत्र का मुख देखते ही दीक्षित हो गया और आत्म-साधना में लग गया। माता ने बड़े यत्न से पुत्र का लालन-पालन किया और उसे सुन्दर महलों में रखकर सांसारिक भोगोपभोगों में अनुरक्त किया। उसकी ३२ सुन्दर स्त्रिया थी। जब उसकी आयु अल्प रह गई, तब उसके मामा ने, जो साधु थे, महल के पीछे जिनमन्दिर में चातुर्मास किया, और अन्त में स्तोत्र पाठ को सुनते ही सुकुमाल का मन देह-भोगादि से विरक्त हो गया। वह एक रस्सो के सहारे महल से नीचे उतरा और जिन मंदिर में जाकर मुनिराज का नमस्कार कर प्रार्थना की कि हे भगवन्! आत्मकल्याण का मार्ग बताइये। उन्होंने कहा—तेरी आयु तीन दिन की शेष रह गई है। अतः शीघ्र ही आत्म-साधना में तत्पर हो। सुकुमाल ने जिन दीक्षा लेकर और प्रायोपगमन सन्यास लेकर कठोर तपश्चरण किया। वे शरीर से जितने सुकोमल थे, उपसर्ग-परिषहों के जीतने में वे उतने ही कठोर थे। वे वन में समाधिस्थ थे, तभी एक श्यालनी ने अपने बच्चे सहित आकर उनके दाहिने पैर को खाना शुरु किया और बच्चे ने बाएं पैर को उन्होंने उस अमित कष्ट को शान्ति से बारह भावनाओं का चिन्तवन करते हुए सहन किया और सर्वार्थ सिद्धि में देव हुए। ग्रन्थ का चरित भाग बड़ा ही सुन्दर है।

ग्रन्थ निर्माण में प्रेरक

कवि ने इस चरित की रचना साहु पीथे के पुत्र कुमार के अनुरोध से की है। प्रशस्ति में उनका परिचय निम्न प्रकार दिया है:—

बलडइ ग्राम के निवासी पुरवाड वशी साहु 'जग्गण' थे। उनकी भार्या का नाम 'गल्हा' देवी था। उससे आठ पुत्र उत्पन्न हुए थे। साहु पीथे, महेन्द्र, मणहर, जल्हण, सलक्खणु, सपुण्णु, समुदपाल, और नयपाल। इनमें ज्येष्ठ पुत्र साहु पीथे की पत्नी सुलक्षणा के पुत्र कुमार थे। कुमार के भी कई पुत्र थे। कुमार जैनधर्म का आराधक था, देह-भोगों से विरक्त था, उसे दान देने का ही एक व्यसन था, विजयी, और जितेन्द्रिय था[1]। कवि ने सन्धियों के प्रारंभ में संस्कृत पद्यों से कुमार की मंगल कामना की है। ग्रन्थ चूंकि कुमार की प्रेरणा से बनाया है अतएव उन्हीं के नामांकित किया है। जैसा कि उसके निम्न पुष्पिका वाक्य से प्रकट है:—

इय सिरिसुकुमालसामि मणोहरचरिए सुन्दर यरगुणरयण-णियरस भरिए विबुध सिरि सुकइ सिरिहर विरइए साहु पीथे पुत्र कुमार णामंकिए अग्गिभूइ-वाउभूइ सुमित्त मेलावयणणो णाम पढमो परिच्छेओ समत्तो ॥१॥

कवि ने इस ग्रन्थ की रचना बलडइ (अहमदाबाद) के राजा गोविन्दचन्द्र के राज्य में वि० स० १२०८ अगहन कृष्णा तृतीया सोमवार के दिन समाप्त की है[2]। पर इतिहास से अभी यह पता नहीं चला कि ये गोबिन्द राज कौन है और इनका राज्य कब से कब तक रहा है।

मुनि विनयचन्द्र

प्रस्तुत मुनि विनयचन्द्र माथुरसंघ के विद्वान बालचन्द्र मुनि के दीक्षित शिष्य थे। इनके विद्यागुरु उदयचन्द्र थे, जो पहले गृहस्थ थे और उनकी पत्नी का नाम देमति (देवमती) था। उन्होंने उस अवस्था में 'सुगंध दशमी'

---

१ भक्तिर्यस्य जिनेन्द्रपादयुगले धर्मे मतिः सर्वदा।
वैराग्यं भव-भोगबन्धविषये वाँछा जिनेशागमे।
सद्दाने व्यसनं गुरौ विनयिता प्रीतिर्बुधाः विद्यते।
स श्रीमान् जयताज्जितेन्द्रिय रिपुः श्रीमत्कुमाराभिधः॥
—सुकुमाल चरिउ ३—१

२. देखो, जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भाग २ पृ० ११

कथा का निर्माण किया था। और कुछ समय बाद वे मुनि हो गए थे। वे मथुरा के पास यमुना नदी के तट पर बसे हुए महावन मे रहते थे। मुनि विनयचन्द्र भी वहा के जिन भवन मे रहते थ। मुनि विनयचन्द्र ने महावन नगर के जिन मन्दिर मे 'नरग उतारी रास' की रचना की थी। उसे स्वर्ग बतलाया हे जिससे वह अत्यन्त सुन्दर होगा। जैसा कि उसके निम्न पद्य मे प्रकट हे :—

अमिय सरीसउ जवण जलु, णयरु महावण सग्गु।
तहि जिण भवणि वसंतइण, विरइउ रासु समग्गु॥

मुनि विनयचन्द्र अच्छे विद्वान और कवि थे। उनकी एक रचना का स्थल उक्त महावन था और दूसरी दो रचनाओं का—णिज्झरपचमी कहा (रास) और चूनडी रास का—रचना स्थल तिहुवण गिरि की तलहटी, और अजयपाल नरेन्द्र का विहार था।

कवि की इस समय पाच रचनाए उपलब्ध है। णिज्झर पचमी कहा (रास) नरग उतारी रास, चूनडी रास, कल्याणक रास और निर्दुख सप्तमी कथा।

णिज्झरपचमी कहारास—इस रास मे कवि ने निर्झरपचमी व्रत का स्वरूप और उसके पालन का निर्देश किया है और बतलाया है कि अषाढ शुक्ला पचमी के दिन जागरण करे, और उपवास करे, तथा कार्तिक के महीने मे उसका उद्यापन करे। अथवा श्रावण मास मे आरम्भ करके अगहन महीने मे उद्यापन करे। उद्यापन मे छत्र चामरादि पाच-पाच वस्तुएँ मन्दिर जी मे प्रदान करे। यदि उद्यापन की शक्ति न हो तो व्रत दुगुने दिन करे, जैसा कि उसके निम्न पद्य मे प्रकट हे :—

धवल पक्खि आसाढांह पचमि जागरणू,
सुह उपवासइ किज्जइ कातिक उज्जवणू।
अह सावण आरंभय पुज्जइ आगहणे,
इय मइ णिज्झर पचमि अक्खिय भय हरणे॥

कवि ने इस रास की रचना तिहुयणगिरि की तलहटी मे बनाकर समाप्त की हे यथा—

तिहुयण गिरि तलहट्टी इहु रासहु रयउ।
माथुरसंघहं मुणिवर विणयचदि कहिउ॥

दूसरी रचना 'नरग उतारी रास' है जिसे कवि ने यमुना नदी के किनारे बसे हुए महावन (नगर) के जिन-मन्दिर मे रहते हुए की थी।

तीसरी रचना 'चूनड़ी रास' है। इस रास मे ३२ पद्य हैं। जिसमे चूनडी नामक उत्तरीय वस्त्र को रूपक बनाकर एक गीति काव्य के रूप मे रचना की गई है। कोई मुग्धा युवती हसती हुई अपने पति से कहती है कि हे सुभग! जिन मन्दिर जाइये और मेरे ऊपर दया करते हुए एक अनुपम चूनडी शीघ्र छपवा दीजिए, जिससे मै जिनशासन मे विचक्षण हो जाऊ। वह यह भी कहती है कि आप वैसी चूनडी छपवा कर नही देंगे, तो वह छीपा मुझे तानाकशी करेगा। पति पत्नी की बात सुनकर कहता हे कि हे मुग्धे! वह छीपा मुझे जैनसिद्धान्त के रहस्य से परिपूर्ण एक सुन्दर चूनड़ी छापकर देने को कहता है।

चूनड़ी उत्तरीय वस्त्र हैं, जिसे राजस्थान की महिलाएँ विशेष रूप से ओढती थी। कवि ने भी इसे रूपक बतलाते हुए चूनड़ी रास का निर्माण किया है। जो वस्तु तत्त्व के विविध वाग्-भूषण रूप आभूषणो मे भूषित है, और जिसके अध्ययन से जैन सिद्धान्त के मार्मिक रहस्यो का उद्घाटन होता हे। वैसे ही वह शरीर को अलकृत करती हुई शरीर की अद्वितीय शोभा को बनाती है। उससे शरीर को अलकृत करती हुई बालाएं लोक मे प्रतिष्ठा को प्राप्त होगी और अपने कण्ठ को भूषित करने के साथ-साथ भेद-विज्ञान को प्राप्त करने मे समर्थ हो सकेंगी। रचना सरस और चित्ताकर्षक है। इस पर कवि की एक विस्तृत स्वोपज्ञ टीका भी उपलब्ध है, जिसमे चूनड़ी रास मे दिए सैद्धान्तिक शब्दो के रहस्य को उद्घाटित किया गया है। ऐसी सुन्दर रचना को स्वोपज्ञ सस्कृत टीका के साथ प्रकाशित करना चाहिए।

कवि ने इस रास रचना को 'त्रिभुवनगढ़' मे 'अजय नरेन्द्र' अजयपाल राजा के बनवाए हुए विहार में बैठ कर बनाया है। उस समय यह नगर यदुवंशी राजाओं की राजधानी रहा है, अत. यह तहनगढ़ जन-धन से समृद्ध था। इसी से कवि ने उसे 'सग्ग खंड ण धरियल आयउ' वाक्य द्वारा उसे स्वर्ग खण्ड के तुल्य बतलाया है। कवि को इस रचना से पूर्व इनके विद्यागुरु उदयचन्द्र मुनि हो चुके थे। इसी से इसकी प्रशस्ति में 'मथुरा सघहं उदय मुणीसरु' रूप से उल्लेखित किया है।

चौथी रचना कल्याणक रास है, जिसमें चौबीस तीर्थंकरों का गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवल ज्ञान प्राप्ति और निर्वाण रूप पंचकल्याणक की तिथियों का निर्देश किया गया है। इस रास की स० १६८५ की लिखी हुई प्रतिलिपि उपलब्ध है, जो पं० दीपचन्द्र पाण्ड्या केकड़ी के पास मौजूद है।

पांचवी कथा निर्दुख सप्तमी है। जिसे कवि ने कहां बनाया, यह उस प्रति में कोई उल्लेख नहीं है। उसका आदि मंगल पद्य इस प्रकार है:—

> स ति जिणदह-पय-कमलु, भव-सय-कलुस-कलंक-णिवारु।
> उदयचन्द्र गुरु धरे वि मणे, बालइंदु मुणि णविवि णिरंतरु॥

अन्तिम प्रशस्ति उपलब्ध नहीं है।

समय

मुनि विनयचन्द ने अपनी किसी भी रचना में उनका रचना काल नहीं दिया। किन्तु दो रचना स्थलों का उल्लेख अवश्य किया है। एक महावन का और दूसरा तिहुवण गिरि (तहनगढ) की तलहटी तथा उसके अजयपाल नरेन्द्र के विहार का। प्रस्तुत तिहुवण गिरि महावन से दक्षिण-पश्चिम की ओर लगभग साठ मील राजस्थान के पुराने करौली राज्य और भरत पुर राज्य मे पड़ता है। अतः इनका निवास और विहार क्षेत्र मथुरा जिला और भरतपुर राज्य रहा है। तिहुयण गढ़ के अजयपाल नरेश की एक प्रशस्ति महावन में सन् १०५० (वि० स० १२०७) की मिली है[1]। और दूसरा लेख अजयपाल के उत्तराधिकारी हरिपाल का उसी महावन से सन् ११७० (वि० स० १२२७) का मिला है[2]। इससे स्पष्ट है कि विनयचन्द्र ने अपनी रचना उक्त अजयपाल नरेश के विहार में बैठ कर बनाई है[3]। अतः उसका रचना काल सन् ११५० से ११७० के मध्य रहा है। अर्थात् विनयचन्द्र मुनि विक्रम की १३वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के विद्वान ठहरते है। भरतपुर राज्य के अघपुर स्थान से एक मूर्ति प्राप्त हुई है, जिस पर सन ११९२ (वि० स० १२४९) के उत्कीर्ण लेख मे सहनपाल नरेश का उल्लेख है। सहनपाल के बाद कुमारपाल तिहुवण गिरि की गद्दी पर बैठा था। वह वहा ३-४ वर्ष ही राज्य कर पाया था कि उस पर सन् ११९६ में आक्रमण कर दिया गया। मुसलमानी तवारीख 'ताजुलमआसिर' में लिखा है कि हिजरी सन् ५७२ सन् ११९६ (वि० सं०१२५३) मे मुइजुद्दीन मुहम्मद गोरी ने कुमारपाल पर हमला कर उसे परास्त कर तिहुवण गिरि का दुर्ग बहाउद्दीन तुघरिल को सौंप दिया। उस समय तिहुवण गिरि बुरी तरह तहस-नहस हो गया था। वहा के सब हिन्दू और जैन परिवार इधर उधर भाग गये थे। वह वीरान हो गया था। ऐसी स्थिति में वहां रहकर रचना करने का प्रश्न ही नहीं उठता विनयचन्द्र ने अपना चूनड़ी रास अजयपाल नरेन्द्र के विहार में बैठकर रचा था जिसे अजयपाल ने बनवाया था। अजयपाल की सन् १०५० की प्रशस्ति का ऊपर उल्लेख किया गया है। इससे विनयचन्द्र विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के विद्वान निश्चित होते है।

---

१. देखो एपिग्राफिका इंडिका जि० १ पृ० २८९

२. एपिग्राफिका इंडिका खण्ड २ पृ० २७६
तथा A. Cunningham vol x x।

३. तहिं णिवसंते मुणिवरे अजयणरिंदहो राजविहारहिं।
वेगे विरइय चूनडिय, सोहहु मुणिवर जे सुयधारहि॥

—चूनडी प्रशस्ति

उदयचन्द

कवि उदयचन्द्र ने अपनी रचना में अपना कोई खास परिचय नहीं दिया, किन्तु आत्म-निवेदन करते हुए बतलाया है कि वे अपने कुलरूपी आकाश को उद्योतित करने वाले उदयचन्द्र नामधारी गृहस्थ विद्वान थे[1] और उनकी भार्या का नाम देमति या देवमति था, जो अत्यन्त सुशीला थी[2]। वे मथुरा के पास यमुना नदी के तट पर बसे हुए महावन में रहते थे। उदयचन्द्र मुनि बालचन्द्र के दीक्षित शिष्य विनयचन्द्र के विद्यागुरु थे। विनयचन्द्र भी वहाँ रहते थे। उन्होने वहाँ के जिन मन्दिर में नरग उतारी कथा (रास) बनाया था। उसके आदि में विद्यागुरु को नमस्कार नहीं किया, क्योंकि मुनि का गृहस्थ को नमस्कार करना उचित नही है, इसलिये उन्होंने—उदयचंदु गुरु गणहर गरवउ, वाक्य द्वारा उनका स्मरण किया है। उन्होंने महावन को **"अमिय सरोसउ जवणजलु णयरु महावन सग्गु। तहिं जिण भवणि वसंत इण विरइउ रासु समग्गु ॥"** उक्त वाक्य में स्वर्ग बतलाया है। इससे महावन की सुन्दरता का आभास होता है। कवि विनयचन्द्र ने अपनी उक्त कृति का रचना स्थल महावन का जिन मंदिर बतलाया है।

कवि उदयचन्द्र ने लिखा है कि शास्त्रकारों ने सुगन्ध दशमी कथा को विस्तार के साथ कहा है। किन्तु मैंने उसे मनोहर रीति से गाकर सुनाया है। जिस तरह उन्होंने जसहर (यशोधर) और नागकुमार चरित्रों को बांचकर मनोहर भाषा में सुनाया था[3]।

सुगन्ध दशमी कथा दो सन्धियों की छोटी-सी रचना है, किन्तु रचना प्रसाद गुणयुक्त है, उसकी प्रथम सन्धि में १२ और दूसरी संधि में ६ कडवक है। इन कडवकों की रचना प्राय: पद्धड़िया और अलिल्लह छन्दों मे हुई है। इसमे दशमी के व्रत पालन की महत्ता और फल बतलाया गया है। सुगंधदशमी व्रत का पालन करने से आत्मा जहा पापो से छुटकारा पाता है वहा वह उसके प्रभाव से सुगन्धित शरीर भी पाता है, जैसा कि दुर्गन्धा ने सुगन्ध दशमी का व्रत पालकर प्राप्त किया था। कथा बड़ी रोचक है। कथानक की सुन्दरता ने ग्रन्थ की महत्ता को बढ़ावा दिया है। इसी से इस कथा की रचना प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी भाषा में विविध कवियों ने की है। कथा में दुर्गन्धा द्वारा जिनाभिषेक करने का कवि ने उल्लेख किया है, जो आम्नाय के प्रतिकूल है।

यह कथा संस्कृत भाषा के १६१ पद्यों में ब्रह्मश्रुतसागर ने बनाई है और उसी का पद्य रूप अनुवाद कवि खुशालचन्द्र ने दोहा चौपाई मे किया है, जो कई बार छप चुका है। कथानक वही है जो उदयचन्द्र की कृति में दिया है।

रचना काल

कवि ने कथा में रचना का उल्लेख नही किया और न रचनास्थल का संकेत किया है। किन्तु विनयचन्द्र मुनि ने अपने रास का रचना स्थल यमुना नदी के तट पर बसा हुआ महावन का मन्दिर बतलाया है। मथुरा के आसपास अनेक वनों का उल्लेख मिलता है, उसमें महावन भी एक है। उस महावन मे यदुवंशीय राजा अजयपाल की सन् ११५० (वि०सं० १२०७) की एक प्रशस्ति[4] उपलब्ध हुई है और सन् ११७० (वि० सं० १२२७) का एक लेख राजा अजयपाल के उत्तराधिकारी हरीपाल के राज्य का उत्कीर्ण किया हुआ उसी महावन मे मिला है[5] भरतपुर राज्य के अघपुर नामक स्थान मे भी एक मूर्ति उपलब्ध हुई है, जिस पर सन् ११९२ (वि० स० १२४६) के उत्कीर्ण लेख में सहनपाल नरेश का उल्लेख है। सहनपाल के बाद (कुवरपाल) कुमारपाल, तिहुवण गिरी की गद्दी पर बैठा था। वह ३-४ वर्ष ही राज्य कर पाया था। मुसलमानी तवारीख 'ताजुलमआसिर' मे लिखा है कि

१. णिय कुलणह-उज्जोइय-चंदइ, सज्जण-मण कय-णयणाणंदइ।'

२. अइ सुसील-देमइयहि कंतइं।'

३. इय सुअदिक्खहिं कहिय सवित्थर, मइं गावित्ति सुणाइय मणहर
भवियण-कण्णा-मणहर-भासइं, जसहर-णायकुमार हो वायइ ॥ —सुगंध दशमी कथा पृ० २८

४. देखो एपि ग्राफिका इंडिका, जिल्द १ पृ० २८९।

५. एपिग्राफिका इंडिका, खण्ड २ पृ० २७६; तथा A Cunningham VOL XX

हिजरी सन् ५७२ सन् ११९६ (वि० सं० १२५३) में मुईजुद्दीन मुहम्मद गौरी ने कुमारपाल पर आक्रमण कर उसे परास्त किया, और तिहुवनगिरी का दुर्ग वहारुद्दीन तुघरिल को सौंप दिया। उस समय तिहुवन गिरि नष्ट भ्रष्ट हो गया था और वहां से हिन्दू और जैन परिवार इधर-उधर भाग गये थे। नगर वीरान हो गया था।

मुनि विनयचन्द्र ने णिज्झर पंचमी कहारास, की रचना तिहुवण गरि की तलहटी में की थी,[1] और चूनड़ी की रचना का स्थान अजयपाल नरेन्द्रकृत विहार को बतलाया है[2] चूनड़ी की रचना से पूर्व उदयचन्द्र मुनि हो गये थे। उसका उल्लेख, माथुर संघहि उदय मुणीसरु, वाक्य में किया है। सुगंधदशमी कथा उनके गृही जीवन की रचना है।

इस सब कथन से सुनिश्चित है कि सुगन्ध दशमी की कथा का रचना काल सन् १०५० (वि० सं० १२०७) है।

पण्डित महावीर

यह वादिराज पण्डित धर्मसेन के शिष्य थे। धारा नगरी के निवासी थे। न्याय शास्त्र, व्याकरण शास्त्र और धर्मशास्त्र के विद्वान थे।

सन् ११९२ (वि०सं० १२४९) में जब शहाबुद्दीन गौरी ने पृथ्वीराज चोहान को हराकर दिल्ली और अजमेर पर अधिकार कर लिया था, तब सदाचार के विनाश के भय से आशाधर जी बहुत से परिजनों और परिवार के लोगों के साथ विन्ध्यवर्मा राजा के मालवमण्डल धारा नगरी में आ बसे थे।[3] उस समय आशाधर जी संभवत: किशोर ही होंगे। उन्होंने उक्त पण्डित महावीर से प्रमाण शास्त्र और व्याकरण का अध्ययन किया था। इससे इनका समय विक्रम की तेरहवी शताब्दी का मध्य काल है।

कवि लाखु या लक्ष्मण

कवि लक्ष्मण का कुल यादव या जायस है। जो प्रसिद्ध यदुवंश का विकृत रूप है। यह प्रसिद्ध क्षत्रिय कुल है[4]। कवि के प्रपिता का नाम कोमवाल था, जिनका यश दिक्चक्र में व्याप्त था। उनके सात पुत्र थे—अल्हण, गाहल, साहुल, सोहण, मइल्ल, रतन और मदन। ये सातों ही पुत्र कामदेव के समान सुन्दर रूप वाले और महामति थे। इन में प्रस्तुत कवि के पिता साहुल श्रेष्ठी थे। ये सातों भाई और कवि लक्ष्मण अपने परिवार के साथ पहले त्रिभुवनगिरि या तहनगढ़ के निवासी थे। उस समय त्रिभुवनगिरि जन-धन से समृद्ध तथा वैभव से युक्त था। परन्तु कुछ समय बाद त्रिभुवनगिरि की समृद्धि विनष्ट हो गई थी—उसे म्लेच्छाधिप मुइजुद्दीन मुहम्मद गोरी ने बल पूर्वक घेरा

---

१. तिहुयणगिरि तलहट्टी इहु रासउ रइउ,—माथुरसंघहं मुणिवर विणयचंदि कहिउ।

२. तिहुयणगिरि जगि विक्खायउ, सग्गखंडु णं धरयलि आयउ।
तहि णिवसंते मुनिवरे अजयणरिंदहो राजविहारहि॥
वेगे विरइय चूनडिय सोहहु मुणिवर जे सुयधारहि॥
चूनड़ी प्रशस्ति

३. म्लेच्छेशेन सपादलक्षविषये व्याप्ते सुवृत्त क्षति-
त्रासाद्विन्ध्य नरेन्द्रदो: परिमलस्फूर्जत्त्रिवर्गौजसि।
प्राप्तो मालव मण्डले बहु परीवार: पुरीमावसन्,।
यो धारामपठज्जिनप्रमितिवाक्शास्त्रे महावीरत: ॥५॥
अनगारधर्मामृत प्रशस्ति

४. यदुकुल प्रसिद्ध क्षत्रिय कुल है। यदुकुल ही यादव और बिगड़कर जायव या जायस बन गया है। इस कुल का राज्य शूरसेन देश में था। शौरीपुर, मथुरा और भरतपुर में यदुवंशियों का राज्य रहा है। श्रीकृष्ण और नेमिनाथ तीर्थंकर का जन्म इसी कुल मे हुआ था। यह क्षत्रिय वंश वर्तमान में वैश्य कुल में परिवर्तित हो गया है।

डालकर नष्ट-भ्रष्ट कर आत्मसात कर लिया था[1]। अतः कविवर लक्ष्मण त्रिभुवनगिरि से भाग कर यत्र-तत्र भ्रमण करते हुए बिलरामपुर में आये। यह नगर आज भी इसी नाम से जिला एटा में बसा हुआ है। उस समय वहां बिलरामपुर में सेठ बिल्हण के पौत्र और जिनधर के पुत्र श्रीधर निवास करते थे। इन्होंने कविवर को मकान आदि की सुविधा प्रदान की। यह कविवर के परम मित्र बन गए। साहू बिल्हण का वंश पुरवाड़ था और श्रीधर उस वंश रूपी कमलों को विकसित करने वाले सूर्य थे। इस तरह कवि उनके प्रेम और सहयोग से वहां सुखपूर्वक रहने लगे। कवि की इस समय दो रचनाएं उपलब्ध है, जिनदत्त चरित, और अणुव्रत रत्न प्रदीप।

जिनदत्त चरित—

जिनदत्त चरित्र में ११ सन्धियां है जिनके श्लोकों की संख्या चार हजार के लगभग है। प्रस्तुत ग्रन्थ में जीवदेव और जीवंयशा श्रेष्ठी के सुपुत्र जिनदत्त का चरित्र अंकित है। कवि की यह रचना एक सुन्दर काव्य है। इस में आदर्श प्रेम को व्यक्त किया गया है। कवि काव्य शास्त्र में निष्णात विद्वान् था। ग्रन्थ का यमकालकार युक्त आदि मंगल पद्य कवि के पाण्डित्य का सूचक है।

सप्पय सर कलहंस हो, हियकलहंस हो, कलहंस हो सेयंसवहा।
भणमि भवण कलहंस हो, णविवि जिण हो जिणयत्त कहा॥

अर्थात्—मोक्षरूपी सरोवर के मनोज्ञ हंस, कलह के अंश को हरने वाले, करि शावक (हाथी के बच्चे) के समान उन्नत स्कंध और भवन में मनोज्ञ हंस, आदित्य के समान जिनदेव की वन्दना कर जिनदत्त की कथा कहता हूं।

ग्रन्थकर्त्ता ने इस ग्रन्थ में विविध छन्दों का उपयोग किया है। ग्रन्थ की पहली चार सन्धियों में कवि ने मात्रिक और वर्णवृत्त दोनों प्रकार के निम्न छन्दों का प्रयोग किया है—विलासिणी, मदनावतार, चित्तंगया, मोत्तियदाम, पिंगल, विचित्तमणोहरा, आरणाल, वस्तु, खडय, जंभेट्टिया, भुजंगप्पयाउ, सामराजी, सग्गिणी, पमाणिया, पोमणी, चच्चर, पंच चामर, णराच, विभंगिणिया, रमणीलता, समाणिया, चित्तया, भमरपय, मोणय, और ललिता आदि। इन छन्दों के अवलोकन से यह स्पष्ट पता चलता है कि अपभ्रंश कवि छन्द विशेषज्ञ होते थे।

कवि ने इसमें काव्योचित अनुप्रास अलंकार और प्राकृतिक सौन्दर्य का समावेश किया है। किन्तु भौगोलिक वर्णन की विशेषता और शब्द योजना सुन्दर तथा श्रुति-सुखद है। इन सबसे रचना श्रुतिसुखद और हृदय हारिणी बन गई है। ग्रन्थ में अनेक अलंकृत काव्यमय कथन दिये हैं जिससे काव्य सरस और कवि के शब्द योजना चातुर्य से भाषा भी सरस और सरल हो गई है।

कवि ने ग्रन्थ में अपने से पूर्ववर्ती अनेक जैन-जैनेतर कवियों का आदरपूर्वक उल्लेख किया है—अकलंक,

---

१. विजयपाल के उत्तराधिकारी त्रिभुवनपाल (तिहनपाल) ने बयाना से १४ मील और करौली से उत्तर पूर्व २४ मील की दूरी पर तहनगढ़ का किला बनवाया। इसे त्रिभुवनगिरि के नाम से उल्लेखित किया जाता था। त्रिभुवनपाल के पिता विजयपाल का उल्लेख श्रीपथ (बयाना) के सन् १०४४ के उत्कीर्ण लेख में पाया जाता है। इस वंश के अजयपाल नामक राजा की एक प्रशस्ति महावन से मिली है। जिसके अनुसार सन् ११५० ई० में उसका राज्य वर्तमान था। इसके उत्तराधिकारी हरिपाल का भी सन् ११७० का उत्कीर्ण लेख महावन से मिला है। भरतपुर राज्य के अघपुर नामक स्थान से एक मूर्ति मिली है जिसके सन् ११९२ के उत्कीर्ण लेख में सहनपाल नरेश का उल्लेख है। इनके उत्तराधिकारी कुमारपाल थे। जिनका उल्लेख मुसलमानी तवारीख 'ताजुलमआसिर' में मिलता है। जिसमें कहा गया है कि हिजरी सन् ५७२ सन् ११९६ ई० में मुइजुद्दीन मुहम्मद गोरी ने तहनगढ़ पर आक्रमण कर वहाँ के राजा कुंवर पाल को पराजित किया और वह दुर्ग बहाउद्दीन तुघरिल या तुगरील को सौंप दिया। कुमारपाल वहाँ सं० १२४९ सन् ११९२ के आसपास गद्दी पर बैठा था। वह वहां ३-४ वर्ष ही राज्य कर पाया था जब गोरी ने तहनगढ़ पर अधिकार किया, तब वहाँ के सब हिन्दु परिवार नगर छोडकर यत्र-तत्र भाग गये। उनके साथ जैनी लोग भी भाग गये। लाखू या लक्ष्मण कवि का परिवार भी वहाँ से भागकर बिलराम (एटा) पहुँचा था।

चतुर्मुख, कालिदास श्रीहर्ष, व्यास, द्रोण, बाण, ईशान, पुष्पदन्त, स्वयंभू, और वाल्मीकि'।

ग्रन्थ रचना में प्रेरक श्रीधर का ऊपर उल्लेख किया गया है। एक दिन अवसर पाकर सेठ श्रीधर ने लक्ष्मण से कहा कि हे कविवर! तुम जिनदत्तचरित की रचना करो। तब कवि लक्ष्मण ने श्रीधर श्रेष्ठी की प्रेरणा एव अनुरोध से जिनदत्त चरित की रचना वि० सं० १२७५ के पूसवदी षष्ठी रविवार के दिन समाप्त की है, जैसा कि उसके निम्न पद्य से स्पष्ट है:—

> "बारहसय सत्तरयं पंचोत्तरयं, विक्कमकालिवि इत्तउ।
> पढम पक्खि रविवारइ छट्टि सहारइ पूसमासे सम्मत्तिउ ।।१ —अन्तिम प्रशस्ति

चरित सार

प्रस्तुत ग्रन्थ में मगधराज्यान्तर्गत वसन्तपुर नगर के राजा शशिशेखर और उसकी रानी नयना सुन्दरी के कथन के अनन्तर उस नगर के श्रेष्ठी जीवदेव और जीवयंशा के पुत्र जिनदत्त का चरित्र अंकित किया गया है। वह क्रमशः बाल्यावस्था से युवावस्था को प्राप्त कर अपने रूप-सौंदर्य से युवति-जनों के मनको मुग्ध करता है—और अंग देश में स्थित चम्पानगर के सेठ की सुन्दर कन्या विमलमती से उसका विवाह हो जाता है। विवाह के पश्चात् दोनों बसंतपुर आकर सुख से रहते हे।

जिनदत्त जुआरियों के चंगुल में फ़सकर ग्यारह करोड़ रुपया हार गया। इससे उसे बड़ा पश्चाताप हुआ। उसने अपनी धर्म पत्नी की हीरा-माणिक आदि जवाहरातों से अङ्कित कंचुली को नौ करोड़ रुपये में जुआरियों को बेच दिया। जिनदत्त ने धन कमाने का बहाना बना कर माता-पिता से चम्पापुर जाने की आज्ञा ले ली। और कुछ दिन बाद धर्म पत्नी को अकेली छोड़ जिनदत्त दशपुर (मन्दसौर) आ गया। वहा उसकी सागरदत्त से भेंट हुई। सागरदत्त उसी समय व्यापार के लिए विदेश जाने वाला था, अवसर देख जिनदत्त भी उसके साथ हो गया, और वह सिंहल द्वीप पहुच गया। वहा के राजा की पुत्री श्रीमती का विवाह भी उसके साथ हो गया। जिनदत्त ने उसे जैन धर्म का उपदेश दिया। जिनदत्त प्रचुर धनादि सम्पत्ति को साथ लेकर स्वदेश लौटता है, परन्तु सागरदत्त ईर्षा के कारण उसे धोखे से समुद्र में गिरा देता है और स्वयं उसकी पत्नी से राग करना चाहता है। परन्तु वह अपने शील में सुदृढ़ रहती है। वे चम्पा नगरी पहुंचते हैं और श्रीमती चम्पा के 'जिनचैत्य' में पहुंचती है। इधर जिनदत्त भी भाग्यवश बच जाता है और वह मणिद्वीप में पहुंचकर वहा के राजा अशोक की राजकुमारी शृंगारमती से विवाह करता है। और कुछ दिन बाद सपरिवार चम्पा आ जाता है। वहां उसे श्रीमती और विमलमती दोनों मिल जाती है। वहा से वह सपरिवार वसन्तपुर पहुँचकर माता-पिता से मिलता हे। वे उसे देखकर बहुत हर्षित होते हे। इस तरह जिनदत्त अपना काल सुख पूर्वक व्यतीत करता हे। अन्त में मुनि होकर तपश्चरण द्वारा कर्म, बंधन का विनाशकर पूर्ण स्वाधीन हो जाता है।

अणुवय रयण पईव (अणुव्रतरत्नप्रदीप)

कवि की दूसरी कृति अणुव्रतरत्न प्रदीप है जिसमें ८ सन्धिया और २०६ पद्धडिया छन्द हैं। जिनकी श्लोक संख्या ३४०० के लगभग है। ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन के विवेचन के साथ श्रावक के द्वादश व्रतों का कथन किया गया है। श्रावक धर्म की सरल विधि और उसके परिपालन का परिणाम भी बतलाया गया है। ग्रन्थ की रचना सरस है। कवि ने इस ग्रन्थ को ६ महीनों में बनाकर समाप्त किया है।

१. णिक्कलंकु अकलकु चउम्मुह हो, कालियासु सिरि हरिसुकइ सुहो।
वय बिलासु कइयासु असरिसो, दोण बाणु ईसाणु सहरिसो।
पुप्फयतु सुसयंभुभल्लओ, बालमीउ सम्मइं रसिल्लओ।
—जिनदत्त चरित प्रशस्ति

कवि ने प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना रायवद्दिय नगर में निवास करते हुए की थी। वहां उस समय चौहान वंश के राजा आहवमल्ल राज्य करते थे[1]। उनकी पट्टरानी का नाम ईसरदे था, आहवमल्ल ने तात्कालिक मुसलमान शासकों से लोहा लिया था और उसमें विजय प्राप्त की था। किसी हम्मीरवीर ने उनकी सहायता भी की थी।

कवि के आश्रय दाता कण्हका वंश लम्बकंचुक या लमेचू था। इसवंश में 'हल्लण' नामक श्रावक नगर श्रेष्ठी हुए, जो लोक प्रिय और राजप्रिय थे। उनके पुत्र अमृत या अमयपाल थे, जो राजा अभयपाल के प्रधानमन्त्री थे। उन्होंने एक विशाल जिनमंदिर बनवाया था और उसका शिखरपर सुवर्ण कलश चढ़ाया था। उनके पुत्र साहू सोढ़ थे,जो जाहड नरेन्द्र और उनके पश्चात् श्रीवल्लाल के मंत्री बने। इनके दो पुत्र थे रत्नपाल और कण्हड। इन की माता का नाम 'मल्हादे' था। रत्नपाल स्वतंत्र और निरर्गल प्रकृति के थे। किन्तु उनका पुत्र शिवदेव कला और विद्या में कुशल था, जो अपने पिता की मृत्यु के बाद नगर सेठ के पद पर आरूढ़ हुआ था। और राजा आहवमल्लने अपने हाथ से उसका तिलक किया था। कण्हड (कृष्णादित्य) उक्त राजा आहवमल्ल के प्रधानमंत्री थे। उनकी धर्मपत्नी का नाम 'सुलक्षणा' था। वह बड़ा उदार, धर्मात्मा, पतिभक्ता और रूपवती थी। इनके दो पुत्र हुए। हरिदेव और द्विजराज। इन्ही कण्हकी प्रार्थना से कवि ने इस ग्रन्थ को वि० सं० १३१३ कार्तिक कृष्णा ७ सप्तमी गुरुवार के दिन पुष्प नक्षत्र और साहिज्ज योग में समाप्त किया था जैसा कि उनके निम्न वाक्य से प्रकट है :—

तेरहसय तेरह उतराल परिगलिय विक्कमाइच्चकाल।
संवेय रहइ सव्वहं समक्ख, कत्तिय मासम्मि असेय-पक्ख।
सत्तमिदिण गुरुवारे समोए, अट्ठमि रिक्खे साहिज्ज-जोए।
नवमास रयते पायडत्थु, सम्मत्तउ कम कम एहु सत्थु।।

—(जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सं० भा०२ पृ० ३२)

कविदामोदर

कविदामोदर का जन्म मेडत्ताम वंश मे हुआ था। उनके पिता का नाम कवि माल्हण था जिसने दल्ह का चरित बनाया था। कवि के ज्येष्ठ भ्राता का नाम जिनदेव था। कवि गुर्जर देश से चलकर मालवदेश में आया था। और वहां के मलखणपुर को देखकर सन्तुष्ट हुआ। उसने वीर जिनके चरणों को नमस्कार किया और स्तुति की। सलखणपुर उस समय एक जन-धन सम्पन्न नगर था, और परमारवंशी नरेश देवपाल वहां का शासक था। इसी सलखणपुर में पं० आशाधरजी संवत् १२८२ में मौजूद थे, वे उस समय गृहस्थाचार्य के पद पर प्रतिष्ठित थे। इसी से उन्होंने अपने को 'गृहस्थाचार्य कुंजर, लिखा है। वे उस समय श्रावक के व्रतों का अनुष्ठान करते थे। सलखण पुर में उन्होंने परमारवंशी देवपाल के राज्य समय में मल्ह के पुत्र नागदेव की धर्मपत्नी के लिये जो उस राज्य में चुंगी व टैक्स विभाग में काम करता था उक्त संवत् १२८२ में संस्कृतगद्य में 'रत्नत्रयविधि' नाम की कथा लिखी थी।[2] यह रचना उनकी रचनाओं में सबसे पहली जान पड़ती है। उसके बाद वे नलकच्छपुर में चले गये हैं।

१. राजा आहवमल्लकी वंश की परम्परा चन्द्रवाड नगर में बतलाई गई है। चौहान वंशी राजा भरतपाल, उनके पुत्र अभयपाल, के पुत्र जाहड, उनके श्रीवल्लाल और श्रीवल्लाल के आहवमल्ल हुए। इनके समय मे राजधानी 'रायवद्दिय या रायभा हो गई थी। चन्द्रवाड और रायवद्दिय दोनों ही नगर यमुनातट पर बसे हुए थे।

२. साधो मडिनवाग्वंशसुमणेः सज्जैनचूडामणेः। मालाख्यस्य सुतः प्रतीतमहिमा श्रीनागदेवोऽभवत् १।।
यः शुल्कादिपदेषुमालवपतेः नात्रानि युक्तशिवं। श्रीमल्लक्षणयास्वमाश्रितवसः का प्रापयतः श्रिय २।।
श्री मत्केशवसेनार्यवर्यवाक्यादुपेयुषा। पाक्षिक श्रावका भाव तेन मालवमंडले।।३
सल्लक्षणपुरे तिष्ठन् गृहस्थाचार्य कुंजरः। पण्डिताशाधरो भक्त्या विज्ञाप्तः सम्यगेकदा ।।४
प्रायेण राजकार्येऽवरुद्ध धर्माश्रितस्य मे। भाद्रं किंचिदनुष्ठेयं व्रतमादिश्यतामिति ।।५
ततस्तेन समीक्षो वै परमागमविस्तर। उपविष्ट सतामिष्ट तस्याय विधिसत्तमः ।।६

उस समय सलक्षणपुर में कमलभद्र नाम के सघवी रहते थे, जो काम के बाणो को विनष्ट करने के लिये तपश्चरण करते थे, अष्टमदो के विनाश करने में वीर थे, और बाईस परिषहो के सहने में धीर थे। कर्म शत्रुओ का नाश करने वाले तथा भव्य रूप कमलो का सम्बोधन करने के लिए सूर्य के समान थे। कषायो और शल्यत्रय के विनाशक श्रीमन्त सत्त्व और सयम के निधान थे। उसी नगर में मल्ह (माल्हा) के पुत्र नागदेव रहते थे, जो निरन्तर पुण्यार्जन करते थे। वही सयमी गुणी, सुशील रामचन्द्र रहते थे। वही पर खण्डेलवाल कुलभूषण विषय विरक्त, भव्यजन बान्धव केशव के पुत्र इन्दुक या इन्द्र चन्द्र रहते थे जो जैनधर्म के धारक थे, और जिन भक्ति में तत्पर तथा ससार से उदासीन रहते थे। इससे स्पष्ट है कि उस समय सलक्षणपुर में अच्छे धर्मनिष्ठ लोगो का निवास था। उक्त इन्दुक ने नेमिजिन की स्तुति कर तीन प्रदक्षिणाए दी और भव्य नागदेव को शुभाशीर्वाद दिया। तब नागदेव ने कहा कि राज्य प्राप्त कर भी क्या, मनहारी हय, गय भी क्या, जब मैं माना पिता पुत्र कलत्र, मित्र सभी इन्द्रधनुष के समान अनित्य है। निर्मल चित्त और भव्यो के मित्र नागदेव ने कहा, हे दामोदर कवि! ऐसा काम कीजिए जिससे धर्म में हानि न हो। मुझे नेमिजिन चरित्र बनाकर दीजिए, जिससे मैं ससार भव से पार तर जाऊ और मेरा जन्म सफल हो जाय। तब कवि ने नागदेव के अनुरोध से, और पण्डित रामचन्द्र के आदेश से नेमिनाथ जिन का चरित्र बनाया। जैसा कि उसकी सधिपुष्पिका से प्रकट है —

दामोयर विरइए पडियरामयद आएसिए महाकव्वे मल्हसुअणागएवआयण्णिए णेमिणिव्वाण गमण पचमोपरिच्छेओ सम्मत्तो ॥१४५॥

प्रस्तुत चरित एक खण्ड काव्य है जिसमें पाच सन्धियो में बाईसवे तीर्थंकर नेमिनाथ की पावन जीवन-गाथा अकित है। ग्रन्थ की एक पूर्ण प्रति उपलब्ध है सम्भव है किसी शास्त्रभडार में उसकी पूर्ण प्रति उपलब्ध हो जाय। ग्रन्थ में काव्यत्व की विशेषता नही है हा चरित सुन्दर शब्दो में अकित किया है। कवि ने गणधर के पट्ट समुद्धारक कलिमल के नाशक मुनि सूरिसेन का नामोल्लेख किया है। उनके शिष्य मुनि कमलभद्र थे, जो भव्यजन आनन्ददायक थे।

रचनाकाल

कवि ने ग्रन्थ की रचना का समय दिया है। कवि ने ग्रन्थ की रचना सलक्षणपुर में वि० स० १२८७ में परमारवशी राजा देवपाल के राज्य काल में समाप्त किया है जैसा कि उसके निम्न वाक्य से स्पष्ट है —

बारहसयाइं सत्तासियाइ विक्कमरायहो कालह।
परमारह पट्ट समुद्धरण णरवइदेवपालह ॥

देवपाल मालवे का परमारवशी राजा था, और महाकुमार हरिश्चन्द्र वर्मा का, जो छोटी शाखा के वशधर थे, द्वितीय पुत्र था। क्योकि अर्जुन वर्मा के कोई सन्तान नहीं थी, अत उस गद्दी का अधिकार इन्हे हो प्राप्त हुआ था। इसका अपरनाम 'साहसमल्ल' था। इसके समय के ३ शिलालेख और एक दान पत्र मिला है। उनमे एक विक्रम सवत् १२७५ (सन् १२१८) का हरसोडा गाव में और दो लेख ग्वालियर राज्य में मिले हैं। जिनमे एक

तेनान्यैश्च यथाशक्ति भवभीतैरनुष्ठित । ग्रन्थो बुधाशाधरेण सद्धर्मार्थ मथो कृत ॥७
विक्रमार्कव्यशीतिद्वादशाब्द शतात्यये । दशम्या पश्चिम (भागे) कृष्णे प्रथता कथा ॥८
पत्नी श्री नागदेवस्य नन्द्याद्धर्मणनायिका । यासीद्रत्नत्रयविधि चरतीना पुरस्सरी ॥९
—रत्नत्रय विधि प्रशस्ति

१ तहिकमलभद्द सघाहिवई, कुसुम सर वियारण तउ तवई।
मय अट्ठ दुट्ठ णिट्ठवण वीर, बावीस परिसह सहणधीरु।
अरि कम्म किरडि छिण्णण, विवाण गईव भव्वसंबोहभाणु।
२. इन्डियन एण्टीक्वेरी जि० २० पृ० ३११

वि० सं० १२८६ और दूसरा वि० सं० १२८६ का है[1]। मांधाता से वि० स० १२६२ भादों सुदी १५, (सन १२३५,२६ अगस्त) का दान पत्र भी मिला है[2]।

दिल्ली के सुलतान शमसुद्दीन अल्लमश ने मालवा पर सन् १२३१-३२ में चढाई की थी। और एक वर्ष की लड़ाई के बाद ग्वालियर को विजित किया था, और बाद में भेलसा और उज्जैन को जीता था, तथा वहां के महाकाल मंदिर को तोड़ा था, इतना होने पर भी वहां सुलतान का कब्जा न हो सका। सुलतान जब लूट-पाट कर चला गया। तब वहां का राजा देवपाल ही रहा[3]। इसी के राज्य काल में पं० आशाधर ने वि० सं० १२८५ में नलकच्छपुर[4] में 'जिनयज्ञ कल्प' नामक ग्रन्थ की रचना की थी, उस समय देवपाल मौजूद थे। इतना ही नही किन्तु जब दामोदर कवि ने सवत् १२८७ में 'णेमिणाह चरिउ' रचा उस समय भी देवपाल जीवित था। किंतु जब सवत् १२६२ (सन् १२३५) मे 'त्रिषष्ठि स्मृति शास्त्र आशाधर ने बनाया[5]। उस समय उनके पुत्र 'जैतुगिदेव' का राज्य था। इससे स्पष्ट है कि देवपाल की मृत्यु स० १२६२ से पूर्व हो चुकी थी। वि० स० १३०० मे जब अनगार धर्मामृत की टीका बनी उस समय जैतुगिदेव का राज्य था,। यह अपने पिता के समान ही योग्य शासक था।

कवि श्रीधर

कवि श्रीधर ने अपना कोई परिचय नही दिया, और गुरु परम्परा का भी उल्लेख नही किया। अन्यत्र से भी इसका कोई समधान नही मिलता। कवि विक्रम की १३वी शताब्दी का विद्वान है। इसकी एक मात्र कृति 'भविसयत्त कहा है। ग्रन्थ मे छह संधियां और १४३ कडवक दिये हुए है, जिनकी श्लोक संख्या १५३० के लगभग है। ग्रन्थमें ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी (श्रुत पंचमी) व्रतका फल और माहात्म्य वर्णन करते हुए व्रत संपालक भविष्य दत्तके जीवन परिचय को अंकित किया है। कथन पूर्व परम्परा के अनुसार ही किया गया है। श्रीधर ने भविसयत्त चरित की रचना चन्द्रवाड़ नगर में स्थित माथुरवशीय नारायण के पुत्र सुपट्ट साहुकी प्रेरणा से की थी[6]। समूचा काव्य नारायण साहुकी भार्या रूपिणी के निमित्त लिखा गया है। सुपट्ट साहु नारायण के लघुपुत्र थे। उनके ज्येष्ठ भ्राताका नाम वासुदेव था[7]। कविने प्रत्येक सधि के प्रारम्भ में संस्कृत पद्यों में रूपिणी की मगलकामना की है, जो

---

१. इन्डियन एण्टी क्वेरी जि० २० पृ० ८३

२. एपि ग्राफिया इन्डिका जि० ६ पृ० १०८-१३।

३. व्रिग, फिरिश्ता जि० १ पृ० २१०-११

४. नलकच्छपुर ही नालछा है, यह धारा से २० मील दूर है, यह स्थान उस समय जैन संस्कृति के लिए प्रसिद्ध था।
विक्रम वर्ष सपंचाशीति द्वादशशतेष्वतीतेषु।
आश्विनसितान्यदिवसे साहसमल्लापराख्यस्य ॥
श्रीदेवपालनृपतेः प्रमारकुल शेखरस्य सौराज्ये।
नलकच्छपुरे सिद्धो ग्रन्थोयं नेमिनाथ चैत्यगृहे ॥ —जिनयज्ञ कल्प प्रशस्ति

५. प्रमारवश वार्धीन्दु देवपालनृपात्मजे।
श्रीमज्जैतुगिदेवेसिस्थाम्ना वन्तीमवन्यलम ॥१२
नलकच्छपुरे श्री मन्नेमि चैत्यालयेऽसिधत्।
ग्रन्थोऽयं द्विनवद्वयेक विक्रमार्कसमात्ययं ॥१३ —त्रिषष्ठि स्मृति शास्त्र

६. सिरिचन्दवारणयरट्ठिएण, जिणधम्म-करण उक्कठिएण।
माहुरकुल-गयण तमीहरेण, विबुहयण सुयण-मण-धण-हरेण।
+ + + +
णीसेसें सविलक्ख गुणालएण, मइवर सुपट्ट णामालएण— —भविसयत्त कहा प्रशस्ति

७. णारायण-देह समुब्भवेण, मण-वयण-काय-णिंदिय भवेण।
सिरि वासुएव गुरु भायरेण, भव-जलणिहि-णिवडण-कायरेण ॥

इन्द्र वज्रा और शार्दूल विक्रीडित आदि छन्दों में निबद्ध है जैसा कि उसके निम्न पद्यसे स्पष्ट है :—

या देव-धर्म्म-गुरुपादपयोज-भक्ता, सर्वज्ञदेव सुखदायि-मतानु-रक्ता।
संसारकारिकुकथा कथनेविरक्ता, सा रूप्पिणी बुधजनैर्न कथं प्रशस्या ।। —सन्धि २—२

यह काव्य-ग्रन्थ सीधी-सादी एवं सरल भाषा में निबद्ध है किन्तु भाषा चलती हुई प्रसाद गुण युक्त है। इसमें विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के जन सामान्य में प्रचलित भाषाके शब्द यत्र-तत्र मिलते हैं—जैसे जावहि -ज्योंही, तावहि—त्योंही, सपत्तउ (सपाटे से) विल्ल (वेल), कखंद (करोंदा) झन्ति झटसे)। भाषा में मुहावरे, लोकोक्तियों एवं सूक्तियों का प्रयोग हुआ है। बोलचाल की भाषा के प्रयोग भी देखने में आते हैं। सूक्तियां भी जन सामान्य में प्रचलित पाई जाती हैं यथा—

विणु उज्जमेण णउ किंपि होइ—विना उद्यम के कोई काम नहीं बनता।

जहिं सच्चइ तहिं फिरि-फिरि रमइं—जहाँ अच्छा लगता है वहा मनुष्य बार-बार जाता है।

ग्रन्थ का चरितभाग धनपाल की भविसयत्त कथा से समानता रखता है। परन्तु धनपाल की भविसयत्त कथा की भाषा प्रौढ है। परन्तु धनपाल की कथा के समान भाषा का प्रांजल रूप, अलंकरणता, कल्पनात्मक वैभव, और सौन्दर्यानुभूति की झलक श्रीधर की भविष्यदत्त कथा में नहीं पाई जाती। फिर भी ग्रन्थ महत्वपूर्ण है।

कविने इस ग्रन्थ की रचना वि० सं० १२३० (सन् ११७३ ई०) के फाल्गुनमास के कृष्णपक्ष की दशवीं रविवार के दिन समाप्त की है[1]।

माधवचन्द्र त्रैविद्य (क्षपणासारगद्य के कर्ता)

प्रस्तुत माधवचन्द्र मूलसंघ क्राणूरगण तिन्त्रिणी गच्छ के विद्वान मुनि चन्द्रसूरि के प्रशिष्य और सकलचन्द्र के शिष्य थे। जो तर्क सिद्धान्तादि तीन विषयों में निपुण होने के कारण त्रैविद्य कहलाते थे।

जैन शिलालेख संग्रह तृतीय भाग के लेख नं० ४३१ में, जो शक सं० ११११ (वि० सं० १२५४ का उत्कीर्ण किया हुआ है, उसमें मुनिचन्द्र और कुलभूषणव्रती के शिष्य सकलचन्द्र भट्टारक के पादों (चरणों) का प्रक्षालन करके महाप्रधान दण्डनायक ने कुछ चावलों की भूमि, दो कोल्हू और एक दुकान का 'एदग' जिनालय को दान दिया है। इन्हीं सकलचन्द्र के शिष्य उक्त माधवचन्द्र हैं, जिनकी उपाधि त्रैविद्य थी। इन्होंने क्षुल्लकपुर (वर्तमान कोल्हापुर) में क्षपणासार गद्यकी रचना की है।

क्षपणासार गद्य में कर्मो के क्षपण करने की प्रक्रिया का सुन्दर वर्णन किया गया है। माधवचन्द्र ने इस ग्रन्थ की रचना शिलाहार कुल के राजा वीर भोजदेव के प्रधान मंत्री बाहुबली के लिये की थी। और जिन्हें माधवचन्द्रने भोजराज के समुद्धरण में समर्थ, बाहुबल युक्त, दानादिगुणोत्कृष्ट, महामात्य और लक्ष्मीवल्लभ बतलाया है[2]। उन्हीं के लिये शकसं० ११२५ (सन् १२०३) वि० सं० १२६० में क्षपणासारगद्य का निर्माण किया था, जैसा कि उसके निम्न पद्य से स्पष्ट है :—

अमुना माधवचन्द्रदिव्यगणिना त्रैवद्यिचक्रेशिना,
क्षपणासारमकारि बाहुबलिसन्मंत्रीशसंज्ञप्तये।

१. णरणाहविक्कमाइच्चकाले पवहंतए सुहयारए विसाले।
बारहमय-वरिसहिं परिगएहिं फागुणमासम्मि बलक्खपक्खे।
दसमिहि दिणे तिमिरुक्कर विवक्खे, रविवार समाणिउ एउ सत्थ ।।
—जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भा० २ पृ० ५०।

२. "पंचांगमंत्रबृहस्पतिसमानबुद्धियुत-भोजराजप्राज्य साम्राज्यसमुद्धरणसमर्थ—बाहुबल युक्त—दानादि गुणोत्कृष्ट महामात्य-पदवी-लक्ष्मीवल्लभ—बाहुबलिमहाप्रधानेन वा।"
—क्षपणासार गद्य प्रशस्ति जैन ग्रन्थ प्र० सं० भा० १ पृ. १६५

शककालेशर-सूर्य-चन्द्रगणिते जाते पुरे क्षुल्लके,
शुभदे दुंदुभिवत्सरेविजयतामाचन्द्रतार भुवि ।।

इन्हीं भोजराज के राज्यकाल में कोल्हापुर देशान्तवर्ती अर्जुरिका (आजरे) नामक गाँव में क्षपणासार गद्य की रचना के दो वर्ष बाद शक स० ११२७ क्रोधन सवत्सर (वि० स० १२६२) में सोमदेव ने शब्दार्णव चन्द्रिका नाम की जैन व्याकरण की वृत्ति समाप्त की थी[१]।

मुनि विनयचन्द्र

यह मूलसघ के विद्वान सागरचन्द्र मुनीन्द्र के शिष्य थे[२]। इन्हे पडित आशाधर जी ने धर्मशास्त्र का अध्ययन कराया था। उन्हीं विनयचन्द्र मुनि के अनुरोध से आशाधर जी ने भव्यजनों के हितार्थ इष्टोपदेशटीका भूपाल कविकृत चतुर्विंशतिका टीका और देवसेन के आराधनासार की टीका बनाई थी इन मे प्रथम दो टीकाए प्रकाशित हो चुकी है। किन्तु आराधनासार की टीका उपलब्ध नहीं हुई थी। किन्तु आमेर के शास्त्र भण्डार में संवत् १५८१ की लिखी हुई आराधनासार की टीका उपलब्ध है। टीका अत्यन्त सक्षिप्त है, जो गाथाओं के गूढपदों के अर्थ का बोधकराती है, । जैसा कि उसके मगल पद्य तथा प्रतिज्ञा वाक्य मे स्पष्ट है :—

प्रणम्य परमात्मानं स्वशक्त्याशाधरः स्फुटः ।
आराधनासारगूढ पदार्थाकथयाम्यहम् ।।५१

"**विमलेत्यादि -विमलेभ्यः क्षीणकषायगुणेभ्योऽतिशयेन विमला विमलतरा शुद्धतराः गुणा परमावगाढ सम्यग्दर्शनादयः। सिद्धं जीवन मुक्त जगत्प्रतीतं वा। सुरसेन वंदियं सहइ वैः स्वामिभिर्वर्तते सेनाः स स्वामिकाः निजनिजस्वामियुक्त चतुर्निकायदेवैस्तथा देवसेननाम्ना ग्रन्थकृता नमस्कृत मत्यर्थः। आराहणासारं सम्यग्दर्शनादीमुद्योतनाद्युपाय पंचकाराधना तस्याः स सम्यग्दर्शनादि चतुष्टयं। तया तस्ये वा राधना तयोपाऽयवत्तात् ।।**"

अन्त मे लिखा है— "**विनयेन्दुमुनेर्हेतोराशाधरकवीश्वरः ।**
स्फुटमाराधनासार टिप्पनं कृतवानिदं ।।"

× × × ×

श्री विनय चन्द्रर्थमित्याशाधरविरचिताराधनासार विवृत्तिः समाप्ता।

अतः विनयचन्द्र का समय वि० स० १२७० से १२९६ तक जान पड़ता है।

—रामचन्द्रमुमुक्षु

आचार्य कुन्द-कुन्द की वशपरम्परा मे दिव्यबुद्धि के धारक केशवनन्दी नामके प्रसिद्ध यति हुए। जो भव्य जीव रूप कमलो को विकसित करने के लिए सूर्यसमान, थे, सयम के प्रतिपालक, कामदेव रूप हाथी को नष्ट करने मे सिंह के समान पराक्रमी, और अनेक दुःखोत्पादक कर्मरूपी पर्वत को भेदनेके लिये वज्र के समान थे। बड़े-बड़े योगीन्द्र और राजा महाराजा जिनके चरणों की वन्दना करते थे। और जो समस्त विद्याओं में निष्णात थे[४]। उन्हीं

१. जैन ग्रन्थप्रशस्ति स० भा० १ पृ० १९९

२. उपशम इव मूर्तं सागरेन्द्रो मुनीन्द्रादजनि विनयचन्द्रः सच्चकोरैक चन्द्रः ।
जगदमृतसगर्भा शास्त्रसदर्भगर्भाः शुचिचरितवरिष्णो यस्यधिन्वन्तिवाचः ।। —पूरी गाथा इस प्रकार है :

३. विमल यर गुणसमिद्ध, सिद्ध सुरसेण वदिय सिरसा ।
णमिऊण महावीर वोच्छं आराहणा सारं ।।१

४. "यो भव्याब्ज-दिवाकरो यमकरो मारेभ पञ्चाननो,
नानादुःखविधायिकर्म्मकुभृतो वज्रायते दिव्यधीः ।
यो योगीन्द्र-नरेन्द्र-वन्दित पदो विद्यार्णवोत्तीर्णवान्,
ख्यातः केशवनन्दिदेव-यतिपः श्रीकुंदकुंदान्वयः ।।१।।

के शिष्य रामचन्द्र मुमुक्षु था, जो समस्तजनों का हिताभिलाषी था। रामचन्द्र मुमुक्षु ने पद्मनन्दी नामके श्रेष्ठ मुनीन्द्र के पासमें व्याकरण शास्त्र का अध्ययन कर गिरि और समिति के बराबर संख्यावाले सत्तावन पद्यों द्वारा पुण्यास्रव नामक कथा ग्रन्थ की रचना की[1]।

प्रस्तुत ग्रन्थमें ५६ कथाएं हैं, जो छह अधिकारों में विभाजित हैं, जिन की श्लोक संख्या साढ़े चार हजार है। प्रथम पांच खण्ड में आठ-आठ कथाएं हैं, और अन्तिम छठे खण्ड में १६ कथाएं दी हैं।

प्रथम अष्टक की कथाओं मे देवपूजा से अर्हन्तदेव के स्वरूप की बोधक और देवपूजा के महत्व को ख्यापित करनेवाली कथाएं दी हैं, जो पुण्यफल की प्रतिपादक हैं।

दूसरे 'अष्टक मे णमो अरहंताणं' आदि पंच नमस्कार मन्त्र के उच्चारण करने वाली और उसके प्रभावको व्यक्त करने वाली आठ कथाएं दी हैं जिनसे पंच नमस्कार मन्त्रकी महत्ता का बोध होता है, और पुण्यफल की प्राप्ति रूप सद्गतिका लाभ प्रतिपादित किया है।

तृतीय अष्टकमें स्वाध्याय के पुण्य फलकी प्रतिपादक कथाएं दी हैं, जिनमें शास्त्रों के पठन-पाठन, उनके श्रवण और उच्चारण आदि का पुण्य भी निर्दिष्ट है।

चौथे अष्टक में शीलव्रत के पालकों की पुण्य कथाएं दी हैं। गृहस्थों में पुरुषों को अपनी पत्नी के प्रति और पत्नी को पति के प्रति पूर्ण शीलवान होना आवश्यक है।

पांचवें अष्टक में उपवास के पुण्यफल की प्रतिपादक कथाएं दी हैं। और छठे खण्ड में पात्रदान के महत्व की प्रतिपादक १६ कथाएं दी हैं। इन सब कथाओं के अध्ययन से जहां भावविशुद्धि होती है, वहां उनके प्रति आस्था भी उत्पन्न हो जाती है। महा कवि रइधू ने भी अपभ्रंशभाषा में पुण्यास्रव कथाकोष की रचना की है।

ग्रन्थकर्ता ने ग्रन्थ में रचनाकाल नहीं दिया, और न रचनास्थल का ही उल्लेख किया है। कर्नाटक कवि चरित से ज्ञात होता है कि नागराज ने कन्नड़ भाषा में 'पुण्यास्रव चम्पू काव्यकी रचना शकसंवत् १२५३ (सन् १३३१ में की है जो संस्कृत ग्रन्थ का कनड़ी भाषान्तर है। बहुत सम्भव है कि नागराज ने रामचन्द्र मुमुक्षु के पुण्यास्रव का आधार लिया हो। क्योंकि दोनों में अत्यधिक समानता पाई जाती है। इससे रामचन्द्र मुमुक्षु की रचना पूर्ववर्ती है। इनका समय विक्रम की १३ वीं शताब्दी जान पड़ता है। निश्चित समय तो केशवनन्दी के समय का निश्चय हो जाने पर मालूम हो सकता है।

विमलकीर्ति

प्रस्तुत विमलकीर्ति रामकीर्ति गुरु के शिष्य थे। रामकीर्ति नाम के चार विद्वानों का उल्लेख मिलता है। उनमें प्रथम रामकीर्ति के शिष्य विमल कीर्ति हैं। दूसरे रामकीर्ति मूलसंघ बलात्कारगण और सरस्वती गच्छ के विद्वान थे[2]। इनके शिष्य भ० प्रभाचन्द्र ने स० १४१३ मे वैशाख सुदि १३ बुधवार के दिन अमरावती के चोहान राजा अजयराज के राज्य में बल कंचुकान्वयी श्रावक ने एक जिनमूर्ति की प्रतिष्ठा कराई थी। जो खण्डितदशा में भौगांव के मन्दिर की छतपुर रखी हुई है।

१. "शिष्योऽभूत्तस्यभव्यः सकल जनहितो रामचन्द्रो मुमुक्षु—
ज्ञात्वा शब्दापशब्दान् सुविशद यशसः पद्मनन्द्याभिधानात् (द्वयार्द्ध)।
वन्द्याद्वादीभसिंहात्परमयतिपतेः सो व्यधाद्भव्यहेतो—
र्ग्रन्थं पुण्यास्रवाख्यं गिरिसमितिमितै दिव्यपद्यैःकथार्थैः ॥२॥ —जैनग्रन्थ प्रशस्ति सं० भा०१ पृ० १५४

२. संवत १४१३ वैशाख सुदि १३ बुधे श्रीमदमरावती नगराधीश्वर चाहुवाण कुल श्रीअजयराय देव राज्य प्रवर्तमाने मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे श्रीरामकीर्तिदेवास्तस्य शिष्य भ० प्रभाचन्द्र लंबकंचु कान्वये साधु······भार्या मोहल तयोः पुत्रः सा० जीवदेव भार्या सुरकी तयोः पुत्रः केशो प्रणमंति।
—देखो जैन सि० भा. भा. २२ अंक ३

तीसरे रामकीर्ति भट्टारक वादिभूषण के पट्टधर थे, जिनका बिम्ब प्रतिष्ठित करने का समय संवत् १६७० है। यह रामकीर्ति १७वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के विद्वान हैं। चौथे रामकीर्ति का नाम भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति के पटधर के रूप में मिलता है। इनमें से प्रथम रामकीर्ति का सम्बन्ध ही विमलकीर्ति के साथ ठीक बैठता है। यह राम कीर्ति के शिष्य थे, जिनकी लिखी हुई प्रशस्ति चित्तौड़ में संवत् १२०७ की उत्कीर्ण की हुई उपलब्ध है[१]। रामकीर्ति के शिष्य यशःकीर्ति ने 'जगत सुन्दरी प्रयोगमाला' नामके वैद्यक ग्रन्थ की रचना की है। जिनका समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी है। क्योंकि यशःकीर्ति ने जगत् सुन्दरी प्रयोगमाला में अभयदेव सूरि का शिष्य धनेश्वर सूरि का (सं० ११७१) का उल्लेख किया है[२]।

विमलकीर्ति की एक मात्रकृति सुगन्धदशमी कथा है। जिसमें अपभ्रंशभाषाके ८ कड़वकों में भाद्रपद शुक्ला दशमी के व्रत की कथा का वर्णन करते हुए उसके फल का विधान किया गया है। कविने दशवींव्रत के अनुष्ठान करने की प्रेरणा की है। ग्रंथ में रचना काल नहीं दिया। इन के गुरु रामकीर्ति का समय विक्रम की १३वीं शताब्दी का पूर्वार्ध-(सं० १२०७) है। अतः विमलकीर्ति का समय भी विक्रमकी १३वीं शताब्दी का पूर्वार्ध सुनिश्चित है।

मुनि सोमदेव

मुनि सोमदेव व्याकरण शास्त्र के अच्छे विद्वान थे। इन्होंने अपनी शब्दचन्द्रिका वृत्ति में अपनी गुरुपरम्परा और संघ-गण गच्छादिक का कोई उल्लेख नहीं किया। यह शिलाहारवंश के राजा भोजदेव (द्वितीय) के समय हुए हैं। कोल्हापुर प्रान्त के अर्जुरिका नामक ग्राम के 'त्रिभुवन तिलक' नामक जैन मन्दिर में, जो महामण्डलेश्वर गण्डरादित्य देव द्वारा निर्मापित किया गया था। उसमें भगवान नेमिनाथ जिनके चरण कमलों की आराधना के बल से और वादीभ वज्रांकुश विशालकीर्ति पण्डितदेव के वैयावृत्य से मुनि सोमदेव ने शक सं० ११२७ (वि० सं० १२६२) में वीर भोजदेव के विजयराज्य में 'शब्द चन्द्रिका' नाम की वृत्ति बनाई[३]। इस वृत्ति को मूलसंघीय मेघचन्द्र के दीक्षित शिष्य 'भुजंग सुधाकर' (नागचन्द्र) और उनके शिष्य हरिचन्द्र यति के लिये उक्त संवत में बनाकर समाप्त की थी। जैसा कि उसकी प्रशस्ति के निम्न पद्य से प्रकट है:—

'श्री मूलसंघ जलजप्रतिबोधमानोर्मेघेन्दु दीक्षितभुजंगसुधाकरस्य।
राद्धान्त तोयनिधिवृद्धि करस्यवृत्ति रेभे हरीन्दु यतये वर दीक्षिताय ॥२॥

शब्दार्णव की रचना गुणनन्दी ने की थी, क्यों कि मुनि सोमदेव ने शब्दचन्द्रिका वृत्ति को गुणनन्दी के शब्दार्णव में प्रवेश करने के लिये नौका के समान बतलाया है। तथा—

'श्री सोमदेव यति-निर्मित मादधाति, यानौः प्रतीत-गुणनन्दित-शब्दवार्धौ।
सेयं सताममलचेतसि विस्फुरन्ती, वृत्तिः सदानुतपद परिवर्तिषीष्ट ॥

प्रेमी जी ने दो नागचन्द्र नाम के विद्वानों का उल्लेख किया है। एक नागचन्द्र पम्परामायण के कर्ता हैं, जिन्हें अभिनव पम्प कहा जाता है यह गृहस्थ विद्वान् थे। दूसरे नागचन्द्र लब्धिसार के टीका कर्त्ता हैं यह मुनि थे। इन द्वितीय नागचन्द्र के शिष्य हरिचन्द्र के लिये मुनि सोमदेव ने वृत्ति बनाई है। इन हरिचन्द्रयती को 'राद्धान्त तोय

१. सएपि ग्राफिका इंडिया जि० २ पृष्ठ ४२१।
२. देखो, जगत्सुन्दरी प्रयोगमाला प्रशस्ति।
३. स्वस्ति श्री कोल्लापुरदेशान्तर्वर्त्यार्जुरिका महास्थान युधिष्ठरावतार महामण्डलेश्वर गंडरादित्य देव निर्मापित त्रिभुवन तिलक जिनालये श्रीमत्परमपरमेष्ठि श्रीनेमिनाथ श्रीपादपद्माराधनबलेन वादीभवज्रांकुश श्रीविशालकीर्ति पंडितदेव वैयावृत्यतः श्रीमच्छिलाहार कुलकमल मार्तण्डतेजः पुञ्जराजाधिराज परमेश्वरपरमभट्टारकपश्चिमचक्रवर्ति श्रीवीर भोजदेव विजयराज्ये शकवर्षैक सहस्रैक शतसप्तविंशति ११२७ तम क्रोधन सम्वत्सरे स्वस्ति समस्तानवद्यविद्याचक्रवर्ति श्री पूज्यपादानुरक्त चेतसा श्रीमत्सोमदेव मुनीश्वरेण विरचितेयं शब्दार्णव चन्द्रिका नाम वृत्तिरिति।
—जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सं० भा० १ पृ० १९९

निधिवृद्धिकरं' विशेषण दिया है, जिससे वे सिद्धान्त के विद्वान् टीकाकार जान पड़ते हैं। और मेघचन्द्र मूलसंघ देशीयगण पुस्तकगच्छ के विद्वान् थे। उनके प्रभाचन्द्र 'शुभचन्द्र, वीरनन्दी और रामचन्द्र आदि शिष्य थे। मेघचन्द्र का स्वर्गवास शक सं० १०३७ (वि० सं० ११७२) में हुआ है। इनके एक शिष्य शुभचन्द्र का स्वर्गवास शक स० १०६८ (वि० सं० १२०३) में हुआ था। और वीरनन्दी ने आचारसार की कनड़ी टीका शक सं० १०७६ (वि० सं० १२१२) में बनाई थी।

मुनि सोमदेव का समय विक्रम की १३वी शताब्दी है। और नागचन्द्र के शिष्य हरिचन्द्र का समय भी विक्रम की १३वी शताब्दी है।

कवि हरिदेव

इनके पिता का नाम चंग देव और माता का नाम चित्रा था। इनके दो जेठे भाई थे किंकर और कृष्ण। उनमें किंकर महागुणवान, और कृष्ण स्वभावतः निपुण थे। उनसे तीसरे पुत्र हरि हुए। इनसे दो कनिष्ठ भाई द्विजवर और राघव थे। जो जिनचरणों के भक्त और पापों का मान मर्दन करने वाले थे।[1]

इस कुटुम्ब के परिचय नागदेव का संस्कृत मदनपराजय से चलता —

> यः शुद्धरामकुलपद्मविकासनार्को जातोऽर्थिनां सुरतरुर्भुवि चङ्गदेवः।
> तन्नन्दनो हरिरसत्कविनागसिंहः तस्माद् भिषग्जनपतिर्भुवि नागदेवः॥२॥
> तज्जावुभौ सुभिषजाविह हेमरामौ, रामात्प्रियङ्कर इति प्रियदोऽर्थिनां यः।
> तज्जश्चिकित्सितमहाम्बुधिपारमाप्तः, श्रीमल्लुगिर्जिनपदाम्बुजमत्तभृङ्गः॥
> तज्जोऽहं नागदेवाख्यः स्तोकज्ञानेन संयुतः, छन्दोऽलङ्कारकाव्यानि नाभिधानानि वेद्म्यहम्॥
> कथाप्राकृतबन्धेन हरिदेवेन या कृता, वक्ष्ये संस्कृतबन्धेन भव्यानां धर्मवृद्धये॥५॥

अर्थात् पृथ्वी पर शुद्ध राम कुलरूपी कमल को विकसित करने के लिये सूर्यरूप याचकों के लिये कल्पवृक्ष चंगदेव हुए। उनके पुत्र हरि हुए, जो असत्कवि रूपि हस्तियों के लिये सिंह थे। उनके पुत्र हुए वैद्यराज नागदेव। नागदेव के हेम और राम नाम के दो पुत्र हुए, जो दोनों ही अच्छे वैद्य थे। राम के पुत्र हुए प्रियंकर, जो याचकों को प्रिय थे। प्रियंकर के पुत्र हुए 'मल्लुगि, जो चिकित्सा महोदधि के पारगामी विद्वान तथा जिनेन्द्र के चरण-कमलों के मत्त-भ्रमर थे। उनका पुत्र हुआ मैं नागदेव नामक, जो अल्पज्ञानी हूँ। काव्य, अलंकार, और शब्द कोष के ज्ञान से विहीन हूँ। हरिदेव ने जिस कथा को प्राकृत बन्ध में रचा था, उसे भव्यों के धर्मवृद्धि के लिये संस्कृत में रचता हूँ।

कवि की एकमात्र कृति 'मयणपराजय चरिउ' है, जो एक रूपक काव्य है। इसमें दो संधियां हैं जिनमें से प्रथम सन्धि में ३७ और दूसरी सन्धि में ८१ कुल ११८ कडवक हैं। जिनमें मदन को जीतने का सुन्दर सरस वर्णन किया गया है। इसमें पद्धडिया, गाथा और दुवई छन्द के सिवाय वस्तु (रड्ढा) छन्द का भी प्रयोग किया गया है। किंतु इन छन्दों में कवि को वस्तु या रड्ढा छन्द ही प्रिय रहा जाना पड़ता है।[2] इस छन्द के साथ ग्रन्थ में यथास्थान

१. चंगएवहुगवियीजणायडु।
तह चित्त महामइहि पढपुत्त किंकरु महागुणु।
पुणु बीयउ कण्हु हुउ 'जेण लद्धु मसहाउ णिय पुणु॥
हरि णिज्जउ करु जाणियइ दियवरु राघववेइ।
ले लहुया जिणपयथुणहि पावहमाणु मलेइ॥२॥—मयण पराजयचरिउ

२. प्राकृत पिंगल में रडढा छन्द का लक्षण इस तरह दिया है। जिसमें प्रथम चरण मे १५ मात्राएं, दितीय चरण में १२ तृतीय चरण में १५ चतुर्थ चरण मे ११ और ५वें चरण में १५ मात्राएं हों। इस तरह १५×१२×१५×११× १५ कुल ६८ मात्राओं के पश्चात् अन्त में एक दोहा होना चाहिए, तब प्रसिद्ध रडढा छन्द होता है जिसे वस्तु छन्द × भी कहा जाता है। (प्राकृत पिंगल १-१३३)

अलंकारों का भी संक्षिप्त वर्णन पाया जाना इस काव्य की अपनी विशेषता है। ग्रन्थ में अनेक सूक्तियां दी हुई हैं जिन से ग्रन्थ सरस हो गया है। उदाहरणार्थ यहां तीन सूक्तियों को उद्धृत किया जाता है—

१ असिधारा पहेण को गच्छइ—तलवार की धार पर कौन चलना चाहता है।

२ को भुयदंडहि सायरुलंघहि—भुजदंड से सागर कौन तरना चाहेगा।

३ को पंचाणणु सुत्तउ खवलइ—सोते हुए सिंह को कौन जगायगा।

इस रूपक काव्य में कामदेव राजा, मोह मन्त्री और अज्ञान आदि सेनापतियों के साथ भावनगर में राज्य करता है। चारित्रपुर के राजा जिनराज के उसके शत्रु हैं, क्योंकि वे मुक्ति रूपी लक्ष्मी (सिद्धि) के साथ अपना विवाह करना चाहते हैं। कामदेव ने राग-द्वेष नाम के दूत द्वारा जिनराज के पास यह सन्देश भेजा कि आप या तो मुक्ति-कन्या से विवाह करने का अपना विचार छोड़ दें, और अपने ज्ञान-दर्शन-चरित्र रूप सुभटों को मुझे सौंप दें, अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जायँ। जिनराज ने कामदेव से युद्ध करना स्वीकार किया और अन्त में कामदेव को पराजित कर अपना विचार पूर्ण किया।

ग्रन्थ का कथानक परम्परागत ही है, कवि ने उसे सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया है। रचना का ध्यान से समीक्षण करने पर शुभचन्द्राचार्य के ज्ञानार्णव का उस पर प्रभाव परिलक्षित हुआ जान पड़ता है। इससे इस ग्रन्थ की रचना ज्ञानार्णव के बाद हुई है। ज्ञानार्णव की रचना वि० की ११वीं शताब्दी की है। उससे लगभग दो सौ वर्ष बाद 'मयण पराजय' की रचना हुई जान पड़ती है।

इस ग्रन्थ की एक प्रति सं० १५७६ की लिखी हुई आमेर भंडार में सुरक्षित है। और दूसरी प्रति सं० १५५१ के मगशिर सुदि अष्टमी गुरुवार की प्रतिलिपि की हुई जयपुर के तेरापंथी बड़े मन्दिर के शास्त्रभण्डार में उपलब्ध है। इस कारण यह ग्रन्थ की सं० १५५१ के बाद की रचना नहीं है। पूर्व की है। अर्थात् विक्रम की १३वीं शताब्दी के द्वितीय तृतीय चरण की रचना जान पड़ती है।

यशःकीर्ति—

यशःकीर्ति नाम के अनेक विद्वान हो गए हैं[1]। प्रस्तुत यशःकीर्ति उन सबसे भिन्न जान पड़ते हैं। इन्होंने अपने को 'महाकवि' सूचित करने के अतिरिक्त अपनी गुरु परम्परा और गण-गच्छादि का कोई उल्लेख नहीं किया। इनकी एक मात्र कृति 'चंदप्पह चरिउ' है जिसमें ११ सन्धियां और २२५ कडवक है, जिनमें आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ जिनका जीवन-परिचय अंकित किया गया है। ग्रन्थ का गत चरितभाग बड़ा ही सुन्दर और प्रांजल है। इसका अध्ययन करने से जहां जैन तीर्थंकर की आत्म-साधना की रूप-रेखा का परिज्ञान होता है वहां आत्म-साधन की निर्मल झांकी का भी दिग्दर्शन होता है। कवि ने तीर्थंकर के चरित को काव्य-शैली में अंकित किया है, किंतु साध्य चरित भाग को सरल शब्दों म रखने का प्रयास किया है। और अन्तिम ११वी संधि में तीर्थंकर के उपदेश का चित्रण

१. प्रस्तुत यशःकीर्ति गोपनन्दी के शिष्य थे, जो स्याद्वादतर्क रूपी कमलों को विकसित करने वाले सूर्य थे। बौद्ध वादियों के विजेता थे। सिंहलाधीशने जिनके चरण कमलों की पूजा की थी। (जैन लेख सं० भा०१ लेख ५५)

२. दूसरे यशःकीर्ति वागड संघ के भट्टारक विमलकीर्ति के शिष्य और रामकीर्ति के प्रशिष्य थे।

३. तीसरे यशःकीर्ति मूलसंघ के भट्टारक पद्मनन्दी के प्रशिष्य, भ० सकल कीर्ति के शिष्य और शुभचन्द्र के गुरु थे।

४. चौथे यशःकीर्ति काष्ठासंघ माथुरान्वय पुष्करगण के भ० सहस्रकीर्ति के प्रशिष्य, तथा भ० गुणकीर्ति के शिष्य, लघुभ्राता एवं पट्टधर थे। यह ग्वालियर के तोमर वंशी राजा डूंगरसिंह के राज्य काल में हुए है, इनका समय सं० १४८६ से १५२० तक है। इनकी अपभ्रंश भाषा की ४ रचनाएँ उपलब्ध हैं पाण्डवपुराण (१४९७) हरिवंशपुराण (१५००) रविव्रत कथा, और जिन रात्रि कथा।

पांचवें यशःकीर्ति भ० ललितकीर्ति के शिष्य थे, धर्मशर्माभ्युदय की 'सन्देह ध्वान्त दीपिका' नाम की टीका के कर्ता हैं।

छठवें यशःकीर्ति जगत्सुंदरी प्रयोग माला के कर्ता हैं।

करते हुए धार्मिक सिद्धांतों का अच्छा कथन किया है। किंतु लगता है कि कवि ने वीरनन्दि के चन्द्रप्रभ चरित्र के धार्मिक कथन को देखा है, दोनों की तुलना करने मे कथन शैली की समानता का आभास मिलता है।

ग्रन्थ में गुरु परम्परा का उल्लेख न होने से समय निर्णय करने में बड़ी कठिनाई हो रही है। कवि ने इस ग्रन्थ को हुबड कुलभूषण कुमरसिंह के पुत्र सिद्धपाल के अनुरोध से बनाया है, और इसीलिए उसकी प्रत्येक पुष्पिका में सिद्धपाल का नामोल्लेख किया है। जैसा कि उसके निम्न पुष्पिका वाक्य से प्रकट है:—

"इयसिरि चंदप्पहचरिए महाकव्वे महाकइजसकित्तिविरइए महाभव्वसिद्धपालसवणभूसणे चंदप्पहसामिणिव्वाणगमणवण्णणो णाम एयारहमो सन्धि परिच्छेओ समत्तो।"

महाकवि ने ग्रन्थ में अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख करते हुए गौण कुन्दकुन्द, समन्तभद्र देवनन्दि (पूज्यपाद) अकलंक और जिनसेन सिद्धसेन का उल्लेख करते हुए आचार्य समन्तभद्र के मुनि जीवन के समय घटने वाली घटना द्वारा आठवें तीर्थंकर के स्तोत्र की सामर्थ्य से चन्द्रप्रभ जिनकी मूर्ति के प्रकट होने का उल्लेख निम्न वाक्यों में किया है :—

"णामें समंतभद्दवि मुणिंदु, अइणिम्मलु णं पुण्णमहिचंदु।
जिउ रजिउ राया रुद्दकोडि जिण थुत्ति मंत्ति सिवपिंडि फोडि।
णीहरिउ बिंबुचंदप्पहासु उज्जायतउ फुडु दसदिसासु।"

और अकलंक देव को तारादेवी के मान को दलित करने वाला बतलाया है।

"अकलंकुणाइ पच्चक्खुणाणु जे तारादेविहि दलिउ माणु।
उज्जालिउ सासणु जगपसिद्ध णिद्धाडिउ थल्लिय सयलबुद्धि।"

जिनसेन और सिद्धसेन को परवादियों के दर्प का भंजक बतलाया है।[1]

प्रस्तुत ग्रन्थ वीरनन्दि के चन्द्रप्रभ चरित के बाद बना है। अतः इसका रचनाकाल विक्रम की १२वीं या १३वीं शताब्दी हो सकता है।

कुछ विद्वानों ने चन्द्रप्रभ के कर्ता यशःकीर्ति और भ० गुणकीर्ति के पट्टधर यशःकीर्ति को नाम साम्य के कारण एक मान लिया है, पर उन्होंने दोनों की कृतियों का ध्यान से समीक्षण नहीं किया, और न उनके भाषा साहित्य तथा कथन शैली पर ही दृष्टि डाली है। विचार करने से दोनों यशःकीर्ति भिन्न-भिन्न है। उनमें चन्द्रप्रभ चरित के कर्ता यशःकीर्ति पूर्ववर्ती है, और पाण्डव पुराणादि के कर्ता यशःकीर्ति अर्वाचीन है। पाण्डव पुराणकी पुष्पिका वाक्य निम्न प्रकार है :—

इय पण्डव-पुराणे सयलयण-मण-सवण-सुहयरे सिरिगुणकित्ति-सिस्स-मुणि जसकित्ति विरइए साधु वील्हा पुत्त हेमराज णामंकिए णेमिणाह जुधिट्ठर-भीमाज्जु-ण णिव्वाण गमण नकुल सहदेव-सव्वट्ठसिद्धि बलहद्द-पंचम-सग्ग गमण पयासणो णाम चउतीसमो इमो सग्गो समत्तो।"

इस पुष्पिका वाक्य के साथ चंदप्पह चरिउ का निम्न पुष्पिका वाक्य की तुलना कीजिए।

"इय सिरि चंदप्पहचरिए महाकव्वे महाकइजसकित्तिविरइए महाभव्व सिद्धपाल सवणभूसणे चंदप्पह सामि णिव्वाण गमण वण्णणो णाम एयारहमो सन्धि परिच्छेओ समत्तो।"

दोनों के पुष्पिका वाक्य भिन्नता के द्योतक हैं। पाण्डव पुराण के कर्ता ने अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों का कोई उल्लेख नहीं किया। हां अपनी भट्टारक परम्परा का अवश्य किया है।

मदनकीर्ति अर्हद्दास

प्रस्तुत मदनकीर्ति वादीन्द्र विशाल कीर्ति के शिष्य थे। और बड़े भारी विद्वान थे। इनकी शासनचतुस्त्रिं

१. जिणसेण सिद्धसेण वि भयत, परवाइ-दप्प-भजण-कयत।
—चन्दप्रभ चरिउ प्रशस्ति

शतिका नामकी छोटी सी रचना है जिसकी पद्य संख्या ३५ है। जो एक प्रकार से तीर्थ क्षेत्रों का स्तवन है, उनमें पोदनपुर के बाहुबली, श्रीपुर के पार्श्वनाथ, शंखजिनेश्वर, धारा के पार्श्व जिन, दक्षिण के गोम्मट जिन, नागद्रह-जिन, मेदपाट (मेवाड़) के नागफणिग्राम के मल्लिजिनेश्वर, मालवा के मगलपुर के अभिनन्दन जिन, पुष्पपुर (पटना) के पुष्पदन्त, पश्चिम समुद्र के चन्द्रप्रभ जिन, नर्मदा नदी के जल से अभिषिक्त शान्तिजिन पावापुर के वीर जिन, गिरनार के नेमिनाथ, चम्पा के वासुपूज्य आदि तीर्थों का स्तवन किया गया है। स्तवनों में अनेक ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख अंकित है और उसके प्रत्येक पद्य के अन्तिम चरण में '**दिग्वाससां शासनम्**' वाक्य द्वारा दिगम्बर शासन का जयघोष किया गया है।

मालव देश के मगलपुर में म्लेच्छों के प्रताप का आगमन बतलाते हुए लिखा है कि वहां अभिनन्दन जिन की मूर्ति को तोड़ दिये जाने पर वह पुनः जुड़ गई। इस घटना का उल्लेख विविध तीर्थ कल्प के पृ० ५७ पर अभिनन्दन कल्प नाम से किया गया है।

श्री मन्मालवदेश मंगलपुरे म्लेच्छप्रतापागते,
भग्नामूर्तिरथोभियोजितशिराः सम्पूर्णतां यायथौ।
यस्योपद्रवनाशिनः कलयुगेऽनेक प्रभावैर्युतः,
सश्रीमानभिनन्दनः स्थिरयत दिग्वाससां शासनम् ॥३४॥

इस पद्य में जो म्लेच्छों के प्रताप के आगमन का वर्णन किया है वह सं० १२४९ के बाद की घटना है। इससे इतना और स्पष्ट है कि मदनकीर्ति विक्रम की १३वीं शताब्दी के विद्वान् आशाधर के समकालीन हैं। पं० आशाधर ने प्रशस्ति में 'मदन कीर्ति यति पति' वाक्य के साथ उनका उल्लेख भी किया है।

आश्रम पत्तन में घटित घटना का उल्लेख मुनि मदनकीर्ति ने शासन चतुस्त्रिंशिका के निम्न २८वें पद्य में किया है।

पूर्वं या ऽऽश्रमराजगामसरिता नाथाभ्युदिव्याशिला,
तस्या देवगणैः द्विजस्य दधतस्तथा जिनेशः स्वयं।
कोपाद्विप्रजनैः विधनकरः देवैः प्रपूज्याम्बरे,
दध्रे यो मुनिसुव्रतः स जयतात् दिग्वाससां शासनम् ॥२८॥

इसमें बतलाया है कि जो शिला सरिता से पहले आश्रम को प्राप्त हुई। उस पर देवगणों को धारण करने वाले विप्रों के द्वारा क्रोधवश अवरोध होने पर भी मुनिसुव्रत जिन स्वयं उस पर स्थित हुए—वहां से फिर नहीं हटे, और देवों द्वारा आकाश में पूजित हुए, वे मुनि सुव्रत जिन! दिगम्बरों के शासन की जय करें।

आश्रम पत्तन[1] नाम का यह स्थान जो वर्तमान में केशोराय पाटन के नाम से प्रसिद्ध है। कोटा से नौ मील दूर और बूंदी से तीन मील दूर चम्बल नदी के किनारे अवस्थित है। यह चम्बल नदी कोटा और बूंदी की सीमा का विभाजन करती है। इस नदी के किनारे मुनिसुव्रत नाथ का चैत्यालय है जो तीर्थ स्थान के रूप में प्रसिद्ध है। नेमिचन्द्र सिद्धान्त देव और ब्रह्मदेव यहीं रहते थे। सोमराज श्रेष्ठी भी वहां आकर तत्त्व चर्चा का रस लेता था। नेमिचन्द्र सिद्धान्त देव ने उक्त सोम राज श्रेष्ठी के लिए द्रव्य संग्रह (पदार्थ लक्षण) की रचना की थी, और ब्रह्मदेव ने उसकी वृत्ति बनाई थी[2]। इस तीर्थ की यात्रा करने लिए दूर से यात्री आते हैं।

राजशेखर सूरि (सं० १४०५) ने अपने चतुर्विंशति प्रबन्ध में लिखा है कि मदन कीर्ति ने चारों दिशाओं के वादियों को जीतकर उन्होंने 'महा प्रामाणिक चूड़ामणि' पदवी प्राप्त की थी। उन्होंने मदन कीर्ति प्रबन्ध में लिखा

---

१. 'अस्सारम्म पट्टणे मुनि सुव्वय जिणं च वंदामि'।—निर्वाणकाण्ड—
'मुणि सुव्वउ जिणु तह आसरम्मि'। मुनि उदयकीर्ति कृत निर्वाण भक्ति

२. देखिये, द्रव्य संग्रह की ब्रह्मदेव कृत वृत्ति की उत्थानिका, और द्रव्य संग्रह के कर्ता और टीकाकार के समय पर विचार नामका लेखक का लेख। —अनेकान्त वर्ष १९ कि० १-२ पृ० १४५

है कि एक बार मदन कीर्ति गुरु के निषेध करने पर भी वे दक्षिणा पथ को प्रयाण करके कर्नाटक पहुंचे। वहां विद्वत्प्रिय विजयपुर नरेश कुन्तिभोज उनके पाण्डित्य पर मोहित हो गए। और उन्होंने उनसे अपने पूर्वजों के चरित पर एक ग्रन्थ की रचना करने के लिए कहा। कुन्ती भोज की कन्या मदन मंजरी सुलेखिका थी। मदन कीर्ति पद्य रचना करते जाते थे और मदन मंजरी पर्दे की आड़ में बैठकर उसे लिखती जाती थी। कुछ समय बाद उन दोनों के मध्य प्रेम का आविर्भाव हुआ, और वे एक दूसरे को चाहने लगे। राजा को जब इसका पता चला तो उसने मदनकीर्ति के वध करने की आज्ञा दे दी। परन्तु जब तक कन्या भी उनके लिए अपनी सहेलियों के साथ मरने के लिए तैयार हो गई, तब राजा ने लाचार हो उन दोनों को विवाह सूत्र में बांध दिया। मदनकीर्ति अन्त तक गृहस्थ ही रहे, गुरु वादीन्द्र विशाल कीर्ति के पत्रों द्वारा बार-बार प्रबुद्ध किये जाने पर भी प्रबुद्ध नहीं हुए। तब विशाल कीर्ति स्वयं भी दक्षिण की ओर अपने शिष्य को प्रबुद्ध करने के लिए गए। और कोल्हापुर प्रान्त के अर्जुरिका' नामक ग्राम में गए, वहाँ मुनि सोमदेव ने वादीन्द्र विशालकीर्ति की वैयावृत्य में 'शब्दार्णव' को 'चन्द्रिका' नाम की वृत्ति शक सं० ११२७ (वि० सं० १२६२) में बनाई थी[1]।

संभवतः वे अन्त समय में पंडित आशाधर जी की सूक्तियों से प्रबुद्ध हुए हों। और मुनिसुव्रत काव्यादि प्रशस्ति पद्यों के अनुसार वे अर्हद्दास हो गए हों।

कवि अर्हद्दास

यह सुनिश्चित है कि कवि आशाधर के शिष्य नहीं थे। वे उनके समकालीन थे उनकी जिन वचन रूप सूक्तियों से प्रभावित थे। मुनि सुव्रत काव्य, पुरुदेव चम्पू और भव्यजन कण्ठाभरण के अन्तिम प्रशस्ति पद्यों से स्पष्ट प्रतीत होता है। बहुत संभव है कि कवि रागभाव के कारण श्रेष्ठ मार्ग से च्युत हो गए थे। और बहुत काल भटकने के पश्चात् काललब्धि वश वे भ्रष्टमार्ग से पुनः सन्मार्ग में लौट आये थे। यह बात यथार्थ जान पड़ती है। जैसा कि मुनि सुव्रतकाव्य की प्रशस्ति से प्रकट है :—

> "धावन्कापथ संभृते भववने सान्मार्ग मेकं परम्।
> त्यक्त्वा श्रान्ततरश्चिराय कथमप्यासाद्य कालादमुम्।
> सद्धर्मामृतमुद्धृत जिनवचः क्षीरोदधरादरात्,
> पायं पायं मितः श्रमः सुखपथ दासो भवाम्यर्हतः ॥६४॥

अर्थात्—'कुमार्ग से भरे हुए संसार रूपी वन में जो एक श्रेष्ठ मार्ग था, उसे छोड़कर मैं बहुत काल तक भटकता रहा। अन्त में बहुत थककर किसी तरह काललब्धि वश उसे फिर पाया। सो अब जिन वचनरूप क्षीरसागर से उद्धृत किये हुए धर्मामृत को सन्तोषपूर्वक पी-पीकर और विगत श्रम होकर मैं अर्हद् भगवान का दास होता हूं।'

मिथ्यात्व रूप कर्म पटल से बहुत काल तक ढकी हुई मेरी दोनों आंखें जो कुमार्ग में ही जाती थीं, आशाधर की उक्तियों के विशिष्ट अंजन से स्वच्छ हो गई और इसलिए अब मैं सत्पथ का आश्रय लेता हूं। जैसा कि निम्न पद्य से प्रकट है:—

> मिथ्यात्व कर्मपटलश्चिरमावृते मे युग्मे दृशे कुपथयाननिदानभूते।
> आशाधरोक्ति लसदंजन संप्रयोगैरच्छीकृते पृथुल सत्पथमाश्रितोऽस्मि ॥६५॥

पुरुदेव चम्पू के अन्त में कवि ने मिथ्यात्व कर्म रूप पंक से गंदले अपने मानस को आशाधर की सूक्तियों की निर्मली से स्वच्छ होने का भाव प्रकट किया है[1]।

भव्य कण्ठाभरण पंजिका में आशाधर की सूक्तियों की बड़ी प्रशंसा की गई है[2]। इससे लगता है कि मदन

१. मिथ्यात्व पंककलुषे मम मानसेऽस्मिन्नाशाधरोक्ति कतकप्रसरैः प्रसन्ने।
उल्लासितेन शरदा पुरुदेव भक्त्या तच्चम्पु दंभजलजेन समुज्जजृम्भे ॥ १

२. सूक्त्यैव तेषां भवभीरवो ये गृहाश्रमस्था श्चरितात्मधर्माः।
त एव शेषा श्रमिणां सहाय धन्याः स्युराशाधरसूरिमुख्याः ॥२३६

कीर्ति अन्त में आशाधर की सूक्तियों के प्रभाव से अर्हद्दास बन गये हों, तो कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि आँखें और मन दोनों ही राग भाव में कारण है। तो जब हृदय मन और नेत्र सभी स्वच्छ हो गये--रागरूपी अंजन ज्ञानार्जन से धुल गया और आत्मा अर्हन्त का दास बन गया। यह सब कथन कुपथ से सन्मार्ग में आने की घटना का संद्योतक है।

प्रेमी जी ने जैन साहित्य और इतिहास के पृ० ३५० में लिखा है कि—"इन पद्यों में स्पष्ट ही उनकी सूक्तियां उनके सद्ग्रन्थों का ही संकेत है जिनके द्वारा अर्हद्दास को सन्मार्ग की प्राप्ति हुई थी, गुरु-शिष्यत्व का नहीं।

हां, चतुर्विंशति-प्रबन्ध की पूर्वोक्त कथा को पढ़ने के बाद हमारा यह कल्पना करने को जी अवश्य होता है कि कहीं मदनकीर्ति ही तो कुमार्ग में ठोकरे खाते-खाते अन्त में आशाधर की सूक्तियों से अर्हद्दास न बन गये हों। पूर्वोक्त ग्रन्थों में जो भाव व्यक्त किये गए है, उनसे तो इस कल्पना को बहुत पुष्टि मिलती है।"

इनका समय विक्रम की १३वी शताब्दी है।

भावसेन त्रैविद्य

भावसेन नाम के तीन विद्वानों का उल्लेख मिलता है। उनमें एक भावसेन काष्ठासंघ लाडवागड गच्छ के विद्वान गोपसेन के शिष्य और जयसेन के गुरु थे। जयसेन ने अपना 'धर्मरत्नाकर' नामक संस्कृत ग्रन्थ विक्रम संवत् १०५५ (सन् ९९८) में समाप्त किया था[1]। अतः ये भावसेन विक्रम की ११वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के विद्वान है। दूसरे भावसेन भी काष्ठासंघ माथुरगच्छ के आचार्य थे। यह धर्मसेन के शिष्य और सहस्रकीर्ति के गुरु थे। इनका समय विक्रम की १५वीं शताब्दी है। इन दोनों भावसेनों से प्रस्तुत भावसेन त्रैविद्य भिन्न हैं। यह दक्षिण भारत के विद्वान थे।

यह मूलसघ सेन गण के विद्वान आचार्य थे। और त्रैविद्य की उपाधि से अलंकृत थे। यह उपाधि उन विद्वानों को दी जाती थी, जो शब्दागम, तर्कागम और परमागम में निपुण होते थे[2]। सेनगण की पट्टावली में इनका उल्लेख निम्न प्रकार है:—'**परम शब्द ब्रह्म स्वरूप त्रिविद्याधिप परवादि पर्वतवज्रदण्ड श्री भावसेन भट्टारकाणाम्** (जैन सि० भा० वर्ष १ पृ० ३८)

भावसेन त्रैविद्य देव अपने समय के प्रभावशाली विद्वान ज्ञात होते है। इन्होंने अपनी रचनाओं में स्वयं **त्रै विद्य** और **वादि पर्वत वज्रिणा** उपाधियों का उल्लेख किया है, जिससे यह व्याकरण के साथ दर्शनशास्त्र के विशिष्ट विद्वान जान पड़ते है। इसीलिए वे वादिरूपी पर्वतों के लिये वज्र के समान थे। इनकी रचनाएं भी व्याकरण और दर्शनशास्त्र पर उपलब्ध हैं। विश्वतत्व प्रकाश की प्रशस्ति के ५व पद्य में अपने को षट्तर्क, शब्दशास्त्र, अशेष राद्धांत, वैद्यक, कवित्व संगीत और नाटक आदि का भी विद्वान सूचित किया है।

यथा—**षट्तर्क शब्दशास्त्रं स्वपरमतगताशेषराद्धान्तपक्षः**
वैद्यं वाक्य विलेख्यं विषमसमविभद प्रयुक्तं कावित्वम्।
संगीत सर्वकाव्यं सरसकविकृतं नाटकं वेत्सि सम्यग्,
त्रैविद्यत्वे प्रवृत्तिस्तव कथमवनो भावसेनव्रतीन्द्रम् ॥५

भावसेन त्रैविद्य ने अपने व्यवहार के सम्बन्ध में विश्वतत्त्व प्रकाश के अन्त में लिखा है कि—'दुर्बलों के

१. वाणेन्द्रिय व्योम सोममिते संवत्सरे शुभे। १०५५।
ग्रन्थोऽयं सिद्धतां यात सबली कर हाट के॥ —धर्म रत्नाकर प्रशस्ति

२. श्रवण वेलगोल के सन् १११५ के शिलालेखों में मेघचन्द त्रैविद्य को, सिद्धान्त में वीरसेन षट्तर्क में अकलंक देव, और व्याकरण में पूज्यपाद के समान बतलाया हैं। और नरेन्द कीर्ति त्रैविद्य को भी—'तर्क व्याकरण-सिद्धान्ताम्बुरुहवन दिन कर मेदसिद श्रीमन् नरेन्दकीर्ति त्रैविद्य देवर,' नाम से उल्लेख किया है।
जैन लेख सं० भा० ३ पृ० ६२

प्रति मेरा अनुग्रह रहता है, समानों के प्रति सौजन्य, और श्रेष्ठों के प्रति सन्मान का व्यवहार किया जाता है किन्तु जो अपनी बुद्धि के गर्व से उद्धत होकर स्पर्धा करते हैं। उनके गर्वरूपी पर्वत के लिए मेरे वचन वज्र के समान होते हैं।'

क्षीणेऽनुग्रहकारिता समजने सौजन्यमात्माधिके,
संमानंऽनुतभावसेन मुनिपे त्रैविद्यदेवे मयि।
सिद्धान्तोऽथ मयापि यः स्वधिषणा गर्वोद्धतः केवलं,
संस्पर्धेत तदीयगर्वकुधरे वज्रापते मद्वचः ॥

इनकी कृतियों की पुष्पिकाओं और अन्तिम पद्यों में, परवादिगिरि सुरेश्वर, वादिपर्वत वज्रभृत् वाक्यों का उल्लेख मिलता है जिनमे उनके तर्कशास्त्र में निष्णात विद्वान होने की सूचना मिलती है यथा—

भावसेन त्रिविद्यार्यो वादिपर्वतवज्रभृत्
सिद्धान्तसार शास्त्रेऽस्मिन प्रमाणं प्रत्ययीपदत् ॥१०२

इति परवादिगिरि सुरेश्वर श्रीमद् भावसेन त्रैविद्य देव विरचिते सिद्धान्तसारे मोक्षशास्त्रे प्रमाणनिरूपणं नाम प्रथमः परिच्छेदः ॥

कातंत्र रूपमाला के अन्त में भी उन्होंने 'त्रैविद्य और वादिपर्वत वज्रिणा उपाधि का उल्लेख किया है:—

भावसेन त्रैविद्येन वादिपर्वत वज्रिणा।
कृतायां रूपमालायां कृदन्तः पर्यपूर्यतः ॥

समय

भावसेन त्रैविद्य का अमरापुर गांव के निकट, जो आन्ध्र प्रदेश के अनन्तपुर जिले में निम्न समाधिलेख अंकित है।

"श्री मूलसंघ सेनगणद वादिगिरि वज्रदंडमप्प।
भावसेनत्रैविद्यचक्रवर्तिय निषिधिः ॥"

इस लेख की लिपि तेरहवीं सदी के अधिक अनुकूल बतलाई जाती है। यदि यह लिपि काल ठीक है तो भावसेन का समय ईसा की १३वी शताब्दी का अन्तिम भाग होना चाहिए। डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर ने लिखा है कि वेद प्रामाण्य की चर्चा में भावसेन ने 'तुरुष्क शास्त्र' को (पृ० ८० और ६८ में) बहुजन सम्मत कहा है। दक्षिण भारत में मुस्लिम सत्ता का विस्तार अलाउद्दीन खिलजी के समय हुआ है। अलाउद्दीन ने सन् १२९६ (वि० १३५३) से १३१५ (वि० स० १३७२) तक १९ वर्ष राज्य किया है। इससे भी भावसेन ईसा की १३वी के उपान्त्य में और विक्रम की १४वीं शताब्दी के विद्वान थे। ऐसा जान पड़ता है।

रचनाएं

डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर ने 'विश्वतत्त्व प्रकाश' की प्रस्तावना में भावसेन की दश रचनाएँ बतलाई हैं—विश्वतत्त्व प्रकाश, प्रमाप्रमेय, कथा विचार, शाकटायन व्याकरण टीका, कातन्त्ररूपमाला, न्याय सूर्यावली, भुक्ति मुक्तिविचार, सिद्धान्तसार, न्यायदीपिका और सप्त पदार्थी टीका। ये रचनाएँ सामने नहीं हैं। इसलिए इन सब के सम्बन्ध में लिखना शक्य नहीं हैं। यहां उनकी तीन रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

विश्वतत्व प्रकाश—मालूम होता है यह गृद्धपिच्छाचार्य के तत्त्वार्थविषयक मंगल पद्य के 'ज्ञातारं विश्व तत्त्वानां' वाक्य पर विस्तृत विचार किया है, इसीसे पुष्पिका में 'मोक्षशास्त्रे विश्वतत्त्व प्रकाशे' रूप में उल्लेख किया है, और यह ग्रन्थ उसका प्रथम परिच्छेद है। इससे स्पष्ट जाना जाता है कि लेखक ने तत्त्वार्थ सूत्र के मंगलाचरण पर विशाल ग्रन्थ लिखने का प्रयास किया था। इसके अन्य पच्छेद लिखे गये या नहीं कुछ मालूम नहीं होता।

प्रमा प्रमेय—यह ग्रन्थ भी दार्शनिक चर्चा से ओत-प्रोत है। इसके मंगल पद्य में तो 'प्रमा प्रमेयं प्रकटं

प्रवक्ष्ये' वाक्य द्वारा प्रमाप्रमेय ग्रन्थ को बनाने की प्रतिज्ञा की गई हैं। किन्तु अन्तिम पुष्पिका वाक्य में इसे सिद्धांत-सार मोक्ष शास्त्र का पहला प्रकरण बतलाया है: -'इति परवादिगिरि सुरेश्वर श्रीमद् भावसेन त्रैविद्यदेव विरचिते सिद्धान्तसारे मोक्ष शास्त्रे प्रमाण निरूपण: प्रथम: परिच्छेद:।'' ये दोनों ग्रन्थकर्ता की दार्शनिक कृति हैं। और दोनों ही ग्रन्थ डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर द्वारा सम्पादित होकर 'जीवराज ग्रन्थमाला' शोलापुर से प्रकाशित हो चुके हैं।

कातंत्ररूपमाला—इसमें शर्ववर्माकृत कातन्त्र व्याकरण के सूत्रों के अनुसार शब्द रूपों की सिद्धि का वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ के प्रथम सन्दर्भ में ५७४ सूत्रों द्वारा सन्धि, नाम, समास और तद्धित का वर्णन है। और दूसरे सन्दर्भ में ८०६ सूत्रों द्वारा तिङन्त व कृदन्त का वर्णन है।

पंडित प्रवर आशाधर

महाकवि आशाधर विक्रम की १३वी शताब्दी के प्रतिभा सम्पन्न विद्वान थे। उनके बाद उन जैसा प्रतिभाशाली बहुश्रुत विद्वान ग्रन्थकर्ता और जैनधर्म का उद्योतक दूसरा कवि नही हुआ। न्याय, व्याकरण, काव्य, अलंकार, शब्दकोश, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र और वैद्यक आदि विविध विषयों पर उनका असाधारण अधिकार था। उनकी लेखनी अस्खलित, गम्भीर और विषय की स्पष्ट विवेचक है। उनकी प्रतिभा केवल जैन शास्त्रों तक ही सीमित नही थी, प्रत्युत अन्य भारतीय ग्रन्थों का उन्होने केवल अध्ययन ही नही किया था, किन्तु 'अष्टांग हृदय' काव्यालंकार और अमरकोश जैसे ग्रन्थों पर उन्होंने टीकाएं भी रची थी। किन्तु खेद है कि वे टीकाएं अब उपलब्ध नही हैं। मालवपति अर्जुनवर्मा के राजगुरु बालसरस्वती कवि मदन ने उनके समीप काव्यशास्त्र का अध्ययन किया था। और विन्ध्य वर्मा के सन्धि विग्रहिक मन्त्री बिल्हण कवीश ने उनकी प्रशंसा की है। उन्हें महा विद्वान यतिपति मदन कीर्तिने 'प्रज्ञापुंज' कहा है और उदयसेन मुनि ने जिनका 'नयविश्वचक्षु' 'काव्यामृतौघ रसपान सुतृप्त गात्र' तथा 'कलिकालिदास' जैसे विशेषण पदों से अभिनन्दन किया है। और विन्ध्यवर्मा राजा के महासान्धि विग्रहिक मन्त्री (परराष्ट्र सचिव) कवीश बिल्हण ने जिन की एकश्लोक द्वारा 'सरस्वती पुत्र' आदि के रूप में प्रशंसा की है[1]। यह सब सम्मान उनकी उदारता और विशाल विद्वत्ता के कारण प्राप्त हुआ है। उस समय उनके पास अनेक मुनियों विद्वानों, भट्टारकों ने अध्ययन किया है। वादीन्द्र विशालकीर्ति को उन्होंने न्यायशास्त्र का अध्ययन कराया था, और भट्टारक विनयचन्द्र को धर्मशास्त्र पढ़ाया था। और अनेक व्यक्तियों को विद्याध्ययन कराकर उनके ज्ञान का विकास किया था। उनकी कृतियों का ध्यान से समीक्षण करने पर उनके विशाल पाण्डित्य का सहज ही पता चल जाता है। उनकी अनगार धर्मामृत की टीका इस बात की प्रतीक है। उससे ज्ञात होता है कि पण्डित आशाधर जी ने उपलब्ध जैन जैनेतर साहित्य का गहरा अध्ययन किया था। वे अपने समय के उद्भट विद्वान थे, और उनका व्यक्तित्व महान था। और राज्य मान विद्वान थे।

जन्मभूमि और वंश परिचय

पं० आशाधर और उनका परिवार मूलत: मांडलगढ़ (मेवाड़) के निवासी था। आशाधर का जन्म वहीं हुआ था। अत: आशाधर की जन्मभूमि मांडलगढ़ थी। वहां वे अपने जीवन के दश-पन्द्रह वर्ष ही बिता पाये थे कि सन् ११९२ (वि० सं० १२४९) में शहाबुद्दीन गोरी ने पृथ्वीराज को कैदकर दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया, और अजमेर पर अधिकार किया। तब गोरी के आक्रमण से संत्रस्त हो और चारित्र की रक्षा के लिए वे सपरिकर बहुत लोगों के साथ मालवदेश की राजधानी धारा में आवसे थे[2]। उस समय धारा नगरी मालवराज्य

१. आशाधर त्वं मयि विद्धि सिद्धं निसर्गसौन्दर्यमजर्यमार्य।
सरस्वतीपुत्रतया यदेतदर्थे परं वाच्मयं प्रपञ्च: ॥६

२. म्लेच्छेशेन सपादलक्षविषये व्याप्ते सुवृत्तक्षति-
त्रासाद्विन्ध्यनरेन्ददो: परिमलस्फूर्जत्त्रिवर्गोजसि।
प्राप्तो मालव मण्डले बहुपरीवार: पुरीमावसन्,
यो धारामपठज्जिनप्रमितिवाक्शास्त्रे महावीरत: ॥५ —अनगारधर्मामृतप्रशस्ति

की राजधानी थी, और विद्या का केन्द्र बनी हुई थी। और मालवराज्य का शासक परमार वंशी नरेश विन्ध्य-वर्मा था। महाकवि मदन की पारिजात मजरी के अनुसार उस विशाल नगरी में चोरासी चोराहे थे[1]। वहां अनेक देशों और दिशाओं से आने वाले विद्वानों और कला-कोविदो की भीड़ लगी रहती थी। यद्यपि वहां अनेक विद्यापीठ थे, किंतु उन सब में ख्यातिप्राप्त शारदा सदन नामक विशाल विद्यापीठ था। वहां अनेक प्रतिष्ठित श्रावकों जैनविद्वानों और श्रमणों का निवास था, जो ध्यान, अध्ययन और अध्यापन में संलग्न रहते थे। इन सब से धारा नगरी उस समय सम्पन्न और समृद्धि को प्राप्त थी। आशाधर ने धारा में निवास करते हुए पण्डित श्रीधर के शिष्य पण्डित महावीर से न्याय और व्याकरण शास्त्र का अध्ययन किया था[2]।

इनकी जाति बघेरवाल थी। पिता का नाम 'मल्लखण' और माता का नाम 'श्री रत्नी' था। पत्नी का नाम सरस्वती और पुत्र का नाम छाहड था, जिसने अर्जुनभूपति को अनुरंजित किया था[3]। इसके सिवाय इनके परिवार का और कोई उल्लेख नहीं मिलता। पं० आशाधर अर्जुनवर्मा के राज्य काल में ही जैन धर्म का उद्योत करने के लिए धारा से नलकच्छपुर[4] (नालछा) में चले गये थे।

यद्यपि प० आशाधर ने अपने जीवनकाल में धारा के राज्य सिंहासन पर पांच राजाओं को बैठे हुए देखा था। किन्तु उनकी उपलब्ध रचनाएं देवपाल और उनके पुत्र जैतुगिदेव के राज्य काल में रची गई थीं। इसीसे उनकी प्रशस्तियों में उक्त दोनों राजाओं का उल्लेख मिलता है। नालछा में उस समय अनेक धर्मनिष्ठ श्रावकों का आवास था। वहां का नेमिनाथ का मन्दिर आशाधर के अध्ययन और ग्रन्थ रचना का स्थल था। वह उनका एक प्रकार का विद्यापीठ था, जहां तीस-पैंतीस वर्ष रह कर उन्होंने अनेक ग्रन्थ रचे, उनकी टीकाएं लिखी गई, और अध्यापन कार्य भी सम्पन्न किया। जैनधर्म और जैन साहित्य के अभ्युदय के लिए किया गया पण्डितप्रवर आशाधर का यह महत्वपूर्ण कार्य उनकी कीर्ति को अमर रखेगा।

संवत् १२८२ में आशाधर जी नालछा से सल्लखणपुर गये थे। उस समय वहां अनेक धार्मिक श्रावक रहते थे। मल्ह का पुत्र नागदेव भी वहां का निवासी था, जो मालव राज्य के चुंगी आदि विभाग में कार्य करता था। और यथाशक्ति धर्म का साधन भी करता था[5]। आशाधर उस समय गृहस्थाचार्य थे। नागदेव की प्रेरणा से

१. "चतुरशीति चतुष्पथ सुरसदन प्रधाने···सकलदिगन्तरोपगतानेकत्रैविद्य सहृदयकला-कोविद रसिक सुकवि संकुले···"।

२. "यो धारामाऽठज्जिन प्रमिति वाक्शास्त्रे महावीरतः॥"

३ 'यः पुत्रं छाहडं गुण्यं रञ्जितार्जुनभूपतिम्'।

४. 'श्रीमदर्जुनभूपाल राज्ये श्रावक संकुले।
जैनधर्मोदयार्थं यो नलकच्छपुरे वसत्॥
नलकच्छपुर को नालछा कहते हैं। यह स्थान धारा नगरी से १० कोसकी दूरी स्थित है। वहा अब भी जैन मन्दिर और कुछ श्रावको के घर है।

५. साधोर्मंडिलवालवंशसुमरणेः सज्जैन चूड़ामणेः।
माल्हाख्यस्य सुतः प्रतीत महिमा श्री नागदेवोऽभवत्॥१
यः शुल्कादिपदेषु मालवपतेः नात्वानि युक्तं शिवं।
श्री सल्लक्षणया स्वमाश्रितवस का प्रापयतः श्रियं॥२
श्रीमत्केशव सेनार्यवर्य वाक्यादुपेयुषा। पाक्षिक श्रावकीभावं तेनमालव मंडले॥३
सल्लक्षणपुरे तिष्ठन् गृहस्थाचार्य कुंजरः। पण्डिताशाधरो भक्त्या विज्ञप्तः सम्यगेकदा॥
प्रायेणराजकार्येऽवरुद्ध धर्माश्रितस्य मे। भाद्रंकिंचिदनुष्ठेयं व्रतमादिश्यतामिति॥५
ततस्तेन समीक्षो वै परमागमविस्तरं। उपविष्ट सतामिष्टतस्यायं विधिसत्तमः॥
तेनान्यैश्च यथा शक्तिर्भवभीतैरनुष्ठितः। ग्रंथो बुधाशाधरेण सद्धर्मार्थं मथो कृतः॥७
विक्रमार्क व्यशीत्यग्रद्वादशाब्दशतात्यये। दशम्यां पश्चिमे (भागे) कृष्णे प्रथतां कथा॥८
पत्नी श्री नागदेवस्य नंद्याद्धर्मेण नायिका। यासीद्रत्नत्रयविधिं चरंतीनां पुरस्मरी॥ —रत्नत्रय विधि प्रशस्ति

उन्होंने उसकी पत्नी के लिए 'रत्नत्रय-विधान' की रचना की थी। उसकी प्रशस्ति के चतुर्थ पद्य में उन्होंने अपने को 'गृहस्थाचार्य कुंजर' बतलाया है, जैसा कि उसके निम्न पद्य से स्पष्ट है:—

सल्लक्षणपुरे तिष्ठन् गृहस्थाचार्यकुंजरः।
पण्डिताशाधरो भक्त्या विज्ञप्तः सम्यगेकदा ॥४॥

मालवनरेश अर्जुनवर्म देव का भाद्रपद सुदी १५ बुधवार सं० १२७२ का लिखा हुआ दानपत्र मिला है। उसके अन्त में लिखा है—'रचितमिदं महासन्धि० राजा सलखण संमतेन राजगुरुणा मदनेन[५]।'' इससे स्पष्ट है कि यह दान पत्र महा सन्धि विग्रहिक मंत्री राजा सलखण की सम्मति मे राजगुरु मदन ने रचा। सम्भव है आशाधर के पिता सलखण अर्जुनवर्मा के महासन्धि विग्रहिक मंत्री बन गये हों।

पण्डित आशाधर गृहस्थ विद्वान थे और वे अन्तिम जीवन तक सम्भवतः गृहस्थ श्रावक ही रहे है। हां जिन सहस्त्र नाम की रचना करते समय वे संसार के देह-भोगों से उदासीन हो गए थे, और उनका मोहावेश शिथिल हो गया था, जैसा कि उसके निम्न वाक्यों से प्रगट है:—

प्रभो भवांगभोगेषु निर्विण्णो दुखभीरुकः।
एषविज्ञापयामि त्वां शरण्यं करुणार्णवम्।१
अद्य मोहग्रहावेशशैथिल्यात्किञ्चि दुन्मुखः

सहस्त्र नाम की रचना स० १२८५ के बाद नहीं हुई वह स० १२९६ से पूर्व हो चुकी थी, क्योंकि जिनयज्ञकल्पकी प्रशस्ति में उसका उल्लेख है। अतः वे १२९६ से कुछ पूर्व वे उदासीन श्रावक हो गये थे।

रचनाएं

आपकी २० रचनाओं का उल्लेख मिलता है। उनमें से सम्भवतः सात रचनाएं प्राप्त नही हुई। जिनकी खोज करने की आवश्यकता है। शेष १३ रचनाओं में से ५ रचनाओं में रचना काल पाया जाता है। आठ रचनाओं में रचनाकाल नही दिया।

१ प्रमेयरत्नाकर—इसे ग्रन्थकार ने स्याद्वाद विद्याका निर्मल प्रसाद बतलाया है यह गद्य-पद्यमय ग्रन्थ होगा, जो अप्राप्य है।

२ **भरतेश्वराभ्युदय**—(सिद्धयक) इसके प्रत्येक सर्ग के अन्तिम वृत्त में 'सिद्धि' शब्द आया है, स्वोपज्ञ टीका सहित है और उसमें ऋषभदेव के पुत्र भरत के अभ्युदय का वर्णन है। यह काव्य ग्रन्थ भी अप्राप्य है।

३ ज्ञानदीपिका—यह सागार अनगार धर्मामृत की स्वोपज्ञ पंजिका है, जो अब अप्राप्य हो गई है। भट्टारक यशःकीर्ति के केशरिया जी के सरस्वतीभवन की सूची में 'धर्मामृतपजिका' आशाधर की उपलब्ध है, जो सं० १५४१ की लिखा हुई है। सम्भव है यह वही हो, अन्वेषण करना चाहिए।

४ राजीमती विप्रलंभ—यह एक खण्ड काव्य है, स्वोपज्ञ टीका सहित है। इसमें राजीमती और नेमिनाथ के वियोग का कथन है, यह भी अप्राप्य है।

५ अध्यात्म रहस्य—यह ७२ श्लोकात्मकग्रन्थ है, जिसे कविने अपने पिताकी आज्ञा से बनाया था। इसकी प्रति अजमेर के शास्त्रभंडार से मुख्तार सा० को प्राप्त हुई थी, जिसे उन्होंने हिन्दी टीकाके साथ वीरसेवामन्दिर से प्रकाशित किया है। यह अध्यात्म विषयका ग्रन्थ है। इसमें आत्मा-परमात्मा और दोनों के सम्बन्ध की यथार्थ वस्तुस्थिति का रहस्य या मर्म उद्घाटित किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ये तीन भेद किये हैं पं० आशाधर जी ने स्वात्मा, शुद्धस्वात्मा और परब्रह्म ये तीन भेद किये हैं और उनके स्वरूप तथा प्राप्ति आदि का कथन किया है। ग्रन्थ मनन करने योग्य है।

६ मूलाराधना टीका—यह शिवार्य के प्राकृत भगवती आराधना की टीका है। जो अपराजित सूरि की टीका के साथ प्रकाशित हो चुकी है।

७ इष्टोपदेश टीका—यह आचार्य देवनन्दी (पूज्यपाद) के प्रसिद्ध ग्रन्थ की टीका है, जो सागरचन्द्र के शिष्य

मुनि विनयचन्द्र के अनुरोध से बनाई थी। और वह हिन्दी टीका के साथ बार सेवामन्दिर से प्रकाशित हो चुकी है।

८ **भूपाल चतुर्विंशति टीका**—यह भूपाल कवि के चतुर्विंशति स्तोत्र की टीका है, जो उक्त विनयचन्द्र मुनि के लिये बनाई गई थी, और बम्बई से प्रकाशित हो चुकी है।

९ **आराधनासार टीका**—यह देवसेन के प्राकृत आराधनासार की ७ पत्रात्मक और सं० १५८१ की लिखी हुई संक्षिप्त टीका है, जो उक्त विनयचन्द्र मुनि के उपरोधसे रची गई है और आमेर के शास्त्र भंडार में उपलब्ध है, उसका आदि-अन्त भाग इस प्रकार है :—

प्रणम्य परमात्मानं स्वशक्त्याशाधरःस्फुटः।
आराधनासारगूढ पदार्था कथयाम्यहं ॥१

विमलेत्यादि[1] **विमलेभ्यः क्षीणकषायगुणेभ्योऽतिशयेन विमला विपलतरा शुद्धतराः गणा परमावगाढ सम्यग्दर्शनादयः। सिद्धं जीवन्मुक्त जगत्प्रतीतं वा। सुरसेन वंदिय—सहइ वे स्वामिभिर्वर्तन्ते सेनाः स स्वामिकाः निजनिज स्वामियुक्त चतुर्णिकाय देवैस्तथा देवसेन नाम्ना ग्रन्थकृता नमस्कृतमित्यर्थः। आराहणासारं सम्यग्दर्शनादी मुद्योतनाद्युपाय पंचकाराधना तस्याः स सम्यग्दर्शनादि चतुष्टयं तया तस्यै वा राधना तयोपादेय वत्तात् ॥१॥**

विनयचन्द्रमुनेर्हेताराशाधरकवीश्वरः।
स्फुटमाराधनासार टिप्पनं कृतवानिदम् ॥
उपशम इव मूर्त सागरेन्द्रान्मुनीन्द्राऽदजनि विनयचन्द्रः सच्चकोरैकचन्द्रः।
जगदमृत सगर्भाः शास्त्रसंदर्भगर्भाः शुचि चरितवरिष्णो र्यस्य धिन्वतिवाचः ॥
एवमाराधनासार गूढार्थ (पद) विवृतिः।
शिष्ये तं श्रेयोर्थिनो बोधयितुं कृतामता ॥
श्री विनयचन्द्रार्थमित्याशाधर विरचिताराधनासार विवृत्तिः समाप्ता।
शुभम् स्वस्ति आदिजिन प्रणम्य, सं० १५८१ छ ॥

१० **अमरकोश टीका**—यह अमरसिंह के प्रसिद्ध कोष की टीका है जो अप्राप्य है।

११ **क्रियाकलाप**—इसकी ५२ पत्रात्मक प्रति ऐ० पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन बम्बई मे उपलब्ध है।

१२ **काव्यालंकार टीका**—यह रुद्रट के काव्यालंकार की टीका है।

१३ **सहस्र नाम स्वोप ज्ञविवृति सहित**—यह ग्रन्थ अपनी स्वोपज्ञ विवृति और श्रुतसागर सूरि की टीका तथा हिन्दी टीका के साथ भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हो चुका है। इस टीका की प्रति मुनि विनयचन्द्र ने लिखी थी।

१४ **जिनयज्ञकल्प सटीक**—यह मूल ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। परन्तु इसकी स्वोपज्ञ टीका अभी अप्राप्त है। ग्रन्थ मे प्रतिष्ठासम्बन्धि क्रियाओ का विस्तृत वर्णन है। महाकवि आशाधर ने यह ग्रन्थ वि० सं० १२८५ मे परमरवंशी राजा देवपाल के राज्य मे नल कच्छपुर के नेमिनाथ चैत्यालय मे पापा साधु[2] के अनुरोध से बनाकर समाप्त किया था। जैसा कि उसके प्रशस्ति पद्यसे प्रकट है :—

१. पूरी गाथा इस प्रकार है :—
विमलयर गुणसमिद्धं सिद्धं सुरसेण वंदियं सिरसा।
णमिऊण महावीरं वोच्छं आराहणासारं ॥१॥

२. खाडिल्यान्वय भूषणाल्हण सुतः सागारधर्मेरतो,
वास्तव्यो नलकच्छ चारुनगरे कर्त्ता परोपक्रियाम्।
सर्वज्ञार्चनपात्रदानसमयोद्योत प्रतिष्ठाग्रणी.,
पापासाधुरकायत्पुनरिमं कृत्वोपरोधं मुहुः ॥—जिन यज्ञकल्प प्र०

विक्रम वर्ष सपंचाशीति द्वादशशतेष्वतीतेषु । आश्विनसितान्त्यदिवसे साहसमल्ला पराल्यस्य ।
श्रीदेवपाल नृपते: प्रमारकुलशेखरस्य सौराज्ये, नल कच्छपुरे सिद्धो ग्रन्थोयं नेमिनाथचैत्यगृहे ।।२०।।

१५ त्रिषष्टि स्मृतिशास्त्र सटीक—इसमें तिरेसठ शलाका पुरुषों का चरित जिनसेनाचार्य के महापुराण के आधार से अत्यन्त संक्षेप में लिखा गया है । इसे पंडित जी ने नित्य स्वाध्याय के लिये, जाजाक पण्डित की प्रेरणा से रचा था[१] । इसकी आद्यप्रति खण्डेलवाल कुलोत्पन्न धीनाक नामक श्रावक ने लिखी थी । कवि ने इस ग्रन्थ की रचना वि० सं० १२९२ में समाप्त की है, जैसा कि उसकी अन्तिम प्रशस्ति के निम्न पद्यों से प्रकट है :—

प्रमारवंशवार्धीन्दुदेवपालनृपात्मजे । श्रीमज्जैतुगिदेवेऽसि स्थाम्नावन्तीमवत्यलम् ।।१२
नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत् । ग्रन्थोऽयं द्विनवद्वयेकविक्रमार्कसमात्यये ।।१३

नित्यमहोद्योत—यह जिनाभिषेक (स्नान शास्त्र) श्रुतसागर सूरिका टीका के साथ प्रकाशित हो चुका है ।

१६ रत्नत्रय विधान—यह ग्रन्थ बहुत छोटा-सा है और गद्यमें लिखा गया है, कुछ पद्य भी दिये हैं । इसे कवि ने सलखण पुर के निवासी नागदेव की प्रेरणा से, जो परमारवंशी राजा देव पाल (साहसमल्ल) के राज्य में शुल्क विभाग में (चुंगी आदि टैक्स के कार्य में) नियुक्त था, उसकी पत्नी के लिये स० १२८२ में बनाया था । जैसा कि उसकी प्रशस्ति के निम्न पद्यसे प्रकट है :—

विक्रमार्क व्यशीत्यग्रद्वादशाब्दशतात्यये । दशम्यां पश्चिमे (भागे) कृष्णे प्रथतां कथा ।।८
पत्नी श्रीनागदेवस्य नंद्याद्धर्म्मेण यायिका । तासीद्रत्नत्रयविधिचरतीनां पुरस्मरी ।।९

१७-१८ सागरधर्मामृत की भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका—

सागारधर्म का वर्णन करने वाला प्रस्तुत ग्रन्थ पंडित जी ने पौरपाटान्वयी महीचन्द साधु की प्रेरणा से रचा था और उसीने इसकी प्रथम पुस्तक लिखकर तैयार की । इसकी टीका की रचना वि० स० १२९६ में पोष-वदी ७ शुक्रवार को हुई है[१] । इसका परिमाण ४५०० श्लोक प्रमाण है ।

१९-२० अनगार धर्मामृत की भव्य कुमुद चन्द्रिका टीका—

कवि ने इस ग्रन्थ की रचना ९५४ श्लोकों में की है । धणचन्द्र और हरिदेव की प्रेरणा से इसकी टीका की रचना बारह हजार दो सौ श्लोकों में पूर्ण की है, और उसे वि० सं० १३०० में कार्तिक सुदी ५ सोमवार के दिन समाप्त की थी । टीका पंडित जी के विशाल पांडित्य की द्योतक है । इसके अध्ययन से उनके विशाल अध्ययन का पता चलता है । माणिकचन्द ग्रन्थमाला से इसका प्रकाशन सन् १९१९ में हुआ था । मूलग्रन्थ और संस्कृत टीका दोनों ही अप्राप्य हैं । भारतीय ज्ञानपीठ को इस ग्रन्थको संस्कृत हिन्दी टीका के साथ प्रकाशित करना चाहिये । ग्रन्थ प्रमेय बहुल है ।

नरेन्द्रकीर्ति त्रैविद्य—

मूलसंघ कोण्डकुन्दान्वय देशीयगण पुस्तक गच्छ के आचार्य सागर नन्दि सिद्धान्त देव के प्रशिष्य और मुनि पुङ्गव अर्हनन्दि के शिष्य थे । जो तर्क, व्याकरण और सिद्धान्त शास्त्र में निपुण होने के कारण त्रैविद्य कहलाते थे । इनके सधर्मा ३६ गुणमण्डित और पंचाचार निरत मुनिचन्द्र भट्टारक थे । इनका शिष्य देव या देवराज था । यह देवराज कौशिक मुनि की परम्परा में हुआ है । कडुचरिते के देवराज ने सूरनहल्लि में एक जिन मन्दिर बनवाया था । उसको होयसल देवराजने सूरनहल्लि' ग्रामदान में दिया था । अत: उसने सूरनहल्लि ४० होन में से १० होन इसके लिये निकाल दिये, और उसका नाम 'पार्श्वपुर' रख दिया । देवराज ने मुनिचन्द्र के पाद प्रक्षालन पूर्वक भूमि-दान दिया ।

२. संक्षिप्यतां पुराणानि नित्य स्वाध्याय सिद्धये ।
इति पंडित जाजाकाद्विज्ञप्तिः प्रेरिकात्र मे ।।—त्रिषष्ठि स्मृतिशास्त्र

लुईसराइस के अनुसार इस लेख का समय ११५४ ई० है। यही समय सन् ११५४ (वि० सं० १२११ नरेन्द्रकीर्ति त्रैविद्य और उनके सधर्मा मुनिचन्द का है।

वासवसेन

मुनि वासवसेन ने अपना कोई परिचय नहीं दिया। और न ग्रन्थ में रचना काल ही दिया। इनकी एक मात्र कृति यशोधर चरित है। उसमे इतना मात्र उल्लेख किया है कि बागडान्वय में जन्म लेने वाले वासवसेन की यह कृति है—'**कृति वासवसेनस्य वागडान्वय जन्मनः।**' ग्रंथ ८ सर्गात्मक एक खण्ड काव्य है। जिस में राजा यशोधर और चन्द्रमती का जीवन अंकित किया गया है। यशोधर का कथानक दयापूर्ण और सरस रहा है। इसी से यशोधर के संबंध में दिगम्बर-श्वेताम्बर विद्वानों और आचार्यो ने प्राकृत सस्कृत भापामें अनेक ग्रथ लिखे है। वास्तव में ये काव्य दयाधर्म के विस्तारक है। इनमें सबसे पुराना काव्य प्रभजन का यशोधर चरित है। इस चरित का उल्लेख कुवलयमाला के कर्ता उद्योतनसूरि (वि० स० ८३५ के लगभग) ने किया है[1]। कविवासवसेन ने लिखा है कि पहले प्रभंजन और हरिपेण आदि कवियों ने जो कुछ कहा है वह मुझ बालक से कैसे कहा जा सकता है[2]।

प्रेमी जी ने लिखा है कि विक्रम स० १३६५ म गंधर्व ने पुष्पदन्त के यशोधरचरित में कौल का प्रसंग, विवाह और भवांतर कथन चरित म शामिल किया है उसका उन्होंने यथायस्थान उल्लेख भी कर दिया है। कवि गधर्व ने पहली संधि के २७ व कडवक की ७६वी पक्ति म लिखा है कि—'**जं वासवसेणि पुव्वरइउ, तं पेक्खवि गंधव्वेण कहिउ**'। इससे स्पष्ट है कि वासवसेन का यशोधर चरित पहले रचा गया था, उसे देखकर ही गधर्व कवि ने लिखा है। इस उल्लेख से इतना स्पष्ट हो जाता है कि वासवसेन वि० सं० १३६५ से पूर्व वर्ती विद्वान है, उससे बाद के नही। संभवतः वे विक्रम की १३वी शताब्दी के विद्वान हों।

वादीन्द्र विशालकीर्ति

बड़े भारी वादी थे। इन्हें पण्डित आशाधर जी ने न्यायशास्त्र पढ़ाया था। वे तर्कशास्त्र में निपुण थे, और धारा या उज्जैन के निवासी थे। यह धारा या उज्जेन की गद्दी के भट्टारक थे इनके शिष्य मदनकीर्ति थे। अपने गुरु के मना करने पर भी मदनकीर्ति दक्षिण देश की ओर कर्नाटक चले गए थे। वहां पर विद्वत्प्रिय विजयपुर नरेश कुन्तिभोज उनके पाण्डित्य पर मोहित हो गए। फिर वे वहां से वापिस नही लौटे। विशालकीर्ति ने उन्हें अनेक पत्रों द्वारा प्रबुद्ध किया किन्तु वे टस से मस नही हुए। तब विशालकीर्ति जी स्वयं दक्षिण की ओर गए। वे कोल्हापुर गये हों, और सम्भवतः उन्होंने मदनकीर्ति को साक्षात्प्रेरणा की हो, और उससे सम्प्रबुद्ध हुए हों। सोमदेव मुनि कृत शब्दार्णवचन्द्रिका की प्रशस्ति[3] से ज्ञात होता है कि कोलहापुर प्रान्तान्तर्गत अर्जुरिका नाम के गांव में शक सं०११२७ (वि० सं० १२६२) में श्री नेमिनाथ भगवान के चरण कमलों की आराधना के बल से और वादीभवज्रांकुश

१. सत्तूण जो जसहरो जसहर चरिएण जणवए पयडो।
कलिमलपभंजणोच्चिय पभंजणो आसि रायरिसी ॥कुवलयमाला

२. प्रभंजनादिभिपूर्व हरिषेणसमन्वितैः।
यदुक्तं तत्कथं शक्यं मया बालेन भाषितुम् ॥ यशोधरचरित

३. स्वस्ति श्रीकोल्लापुर देशान्तर्वर्त्यार्जुरिकामहास्थानयुधिष्ठिरावतार महामण्डलेश्वर गंडरादित्यदेव निर्मापित त्रिभुवन-तिलक जिनालये श्रीमत्परमपरमेष्ठि श्री नेमिनाथ श्रीपादपद्माराधनबलेन वादीभवज्राकुश श्रीविशालकीर्ति पंण्डितदेव वैयावृत्यतः श्री मच्छिलाहारकुलकमलमार्तण्डतेजः पुञ्जराजाधिराजपरमेश्वरपरमभट्टारक पश्चिमचक्रवर्ति श्रीवीर-भोजदेव विजयराज्ये शकवर्षैकसहस्रैकशतसप्तविंशति ११२७ तम क्रोधन सम्वत्सरे स्वस्तिसमस्तानवद्य विद्याचक्रवर्ति श्री पूज्यपादानुरक्तचेतसा श्रीमत्सोमदेवमुनीश्वरेण विरचितेयं शब्दार्णवचन्द्रिका नाम वृत्तिरिति।
—जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सं० भा० १ पृ० १९९

विशालकीर्ति पण्डितदेव की वैयावृत्य से शब्दार्णवचन्द्रिका की रचना की थी। उस समय वहां शिलाहारवंशीय वीर भोजदेव का राज्य था। राजशेखर सूरि के 'चतुर्विंशति-प्रबन्ध' में वर्णित विजयपुर नरेश कुन्तिभोज और सोमदेव द्वारा वर्णित वीर भोजदेव दोनों एक ही हैं। अतः वादीन्द्र विशालकीर्ति का समय सं० १२६० से १३०० के मध्य तक जानना चाहिए। इस उल्लेख से विशालकीर्ति का कोल्हापुर के आस-पास जाना निश्चित है

मुनि पूर्णभद्र

यह मुनि गुणभद्र के शिष्य थे। इन्होंने अपनी कृति 'सुकमालचरिउ' की अन्तिम प्रशस्ति में अपनी गुरु परम्परा का तो उल्लेख किया है किन्तु संघगण-गच्छादिक का कोई उल्लेख नहीं किया। गुजरात देश के सुप्रसिद्ध नागर मंडल के निवासी वीरसूरि के विनयशील शिष्य मुनिभद्र थे। उनके शिष्य कुसुमभद्र हुए, और कुसुमभद्र के शिष्य गुणभद्र मुनि थे, और गुणभद्र के शिष्य पूर्णभद्र थे। ग्रन्थ में कवि ने रचना काल का कोई उल्लेख नहीं किया। ऐसी स्थिति में समय का निश्चित करना कठिन है।

आमेर शास्त्र भंडार की यह प्रति सं० १६३२ की प्रतिलिपि की हुई है। इससे मात्र इतना फलित होता है कि सुकमाल चरित की रचना सं० १६३२ से पूर्व हुई है।

'णमिणाह चरिउ' के कर्ता कवि दामोदर ने अपने गुरु का नाम महामुनि कमलभद्र लिखा है। जो गुणभद्र के प्रशिष्य थे। और सूरसेन मुनि के शिष्य थे। यदि दामोदर कवि द्वारा उल्लिखित गुणभद्र और मुनि पूर्णभद्र के गुरु गुणभद्र की एकता सिद्ध हो जाय तो इन पूर्णभद्र का समय विक्रम की १३ वीं शताब्दी का मध्यकाल हो सकता है; क्योंकि दामोदर ने नेमिनाथ चरित की रचना का समय सं० १२८७ दिया है, दामोदर गुजरात से सलखणपुर आये थे। और मुनिपूर्णभद्र भी गुजरात देश के निवासी थे।

प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम 'सुकमाल चरिउ' है। जिसमें छह संधियां हैं, जिनमें अवन्ति नगरी के सुकमालश्रेष्ठी का जीवन परिचय अंकित है जिससे मालूम होता है कि उनका शरीर अत्यन्त सुकोमल था। पर वे उपसर्ग और परीषहों के सहने में उतने ही कठोर थे। उनके उपसर्ग की पीड़ा का ध्यान आते ही शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। परन्तु उस साधु की निस्पृहता और सहिष्णुता पर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता, जब गीदड़ी और उसके बच्चों द्वारा उनके शरीर के खाए जाने पर भी उन्होंने पीड़ा का अनुभव नहीं किया, प्रत्युत सम परिणामों द्वारा नश्वर काया का परित्याग किया। ऐसे परीषहजयी साधु के चरणों में मस्तक अनायास झुक जाता है।

गुणवर्म (द्वितीय)

कवि का निवास कूंडि नामक स्थान में था। इसके गुरु वही मुनिचन्द्र जान पड़ते हैं जो कार्तिवीर्य नरेश के गुरु थे। कार्तिवीर्य 'अहितक्ष्मभृद्वज्र' सेनापति शान्तिवर्म कवि का पोषक था। गुणाब्जवन कलहंस, कवितिलक, और काव्यसत्कलाणव मृगलक्ष्मा आदि विरुद थे। कवि की दो रचनाएं उपलब्ध हैं, पुष्पदन्त पुराण और चन्द्र नाथाष्टक पुष्पदन्त पुराण मे ९ वें तीर्थंकर का चरित्र चित्रण किया गया है। उसमें अपने से पूर्ववर्ती कवियों का स्मरण करते हुए कवि न जन्न कवि (सन् १२३० ई०) का गुणगान किया है। इससे स्पष्ट है कि कवि जन्य के बाद हुआ है। और सन् १२४५ ई० के मल्लिकार्जुन ने अपने 'सूक्तिसुधार्णव' में पुष्पदन्त पुराण के पद्य उद्धृत किए है। इससे यह कवि मल्लिकार्जुन से पहले हुआ है। अतएव इसका समय सन् १२३५ ई० जान पड़ता है। कवि की रचना सुकर और प्रसाद गुणयुक्त है।

कमलभव

मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वय देशीगण और पुस्तक गच्छ के आचार्य माघनन्दि का शिष्य था। इसके दो विरुद थे, कवि कंजगर्भ, और सूक्तिसन्दर्भ गर्भ। कवि की एक मात्रकृति शान्तीश्वर पुराण है। इसने अपने से पूर्ववर्ती कवियों में

जन्न कवि का स्मरण किया है। और मल्लिकार्जुन ने सूक्तिसुधार्णव में शान्तीश्वर चरित के पद्य उद्धृत किए हैं। इस कारण इसका समय भी सन् १२३५ ई० के लगभग जान पड़ता है।

अभयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती

मूलसंघ, देशिय गण, पुस्तक गच्छ कुन्दकुन्दान्वय कीइंगलेश्वरीय शाखा के श्रीसमुदाय में माघनन्दि भट्टारक हुए। उनके दो शिष्य थे, नेमिचन्द्र भट्टारक और अभयचन्द्र सैद्धान्तिक। प्रस्तुत अभयचन्द्र सैद्धान्तिक बालचन्द्र पण्डित देव के श्रुत गुरु थे[1] गोम्मटसार जीवकाण्ड की मन्द प्रबोधिका टीका में अभयन्द्र ने बालचन्द्र पण्डित देव का उल्लेख। किया है[2]। अभयचन्द्र सूरि छन्द, न्याय, निघण्टु, शब्द, समय, अलंकार और प्रमाण शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान थे[3] श्रुत मुनि ने अभयचन्द्र सैद्धांतिक को भावसंग्रह में शब्दागम, परमागम, और तर्कागम, का ज्ञाता, और सब वादियों को जीतने वाला बतलाया है[4]। इन सब उल्लेखों से अभयचन्द्र के व्यक्तित्व का आभास मिलता है। प्रस्तुत अभय-चन्द्र और बालचन्द्र वही हैं जिनकी प्रशंसा बेल्लूर के शिलालेखों में की गई है[5]। इनका स्वर्गवास शक वर्ष १२०१ सं० १२७६ में हुआ है[6]। अतः अभयचन्द्र ईसा की १३वीं सदी के विद्वान हैं। गोम्मट सार की कनड़ी टीका के कर्ता के शववर्णी इन्हीं अभयचन्द्र सूरि के शिष्य थे। इन्होंने अपनी कनड़ी टीका भ० धर्मभूषण की आज्ञानुसार शक सं० १२८१ (सन् १३५६ ई०) में की है।

रचनाएँ

प्रस्तुत अभयचन्द्र दर्शन शास्त्र के विद्वान थे। इन्होंने अकलंक देव के 'लघीयस्त्रय' की '**स्याद्वाद भषण**' नामक **तात्पर्य वृत्ति** के प्रारम्भ में जिनेन्द्र के विशेषण के रूप में अकलंक और अनन्तवीर्य का नामोल्लेख किया है। प्रस्तुत अभयचन्द्र ने आचार्य प्रभाचन्द्र के न्याय कुमुदचन्द्र को देखकर उक्त वृत्ति बनाई थी। जैसा कि उनके 'अकलंक प्रभा व्यक्तम्' वाक्य से जान पड़ता है। यह प्रभाचन्द्र के बाद के विद्वान हैं।

इनकी बनाई हुई गोम्मटसार जीवकाण्ड की मन्दप्रबोधिका टीका ३८३ गाथा तक ही उपलब्ध है। इस टीका में गोम्मटसार पंजिका टीका का उल्लेख निम्न शब्दों में है :—

"**अथवा सम्मूर्छन गर्भोपपादानाश्रित्य जन्म भवतीति गोम्मट पंजिका कारादीनामभिप्रायः।**" (गो०जी० मन्द प्र० टीका गा० ८३)। इस पंजिका टीका की १ प्रति उपलब्ध है। इस पंजिका के कर्ता गिरिकीर्ति हैं। यह पंजिका गोम्मटसार की रचना से सौ वर्ष बाद बनी है। जैसा कि उसकी निम्न प्रशस्ति गाथा से स्पष्ट है :—

सोलहसहियसहस्से गयसककालेपवड्ढमाणस्स।
भावसमस्ससमत्ता कत्तियणंदीसरे एसा ॥६

---

१. जैन शिलालेख सं० भा० ३ लेख ५२४ पृ० ३७१

२. गोम्मटसार जीवकाण्ड टीका कलकत्ता संस्करण पृ० १५०

३. छन्दो-न्याय-निघण्टु-शब्द-समयालङ्कार पट्खण्डवाग्-
भूचक्रं विवृतं जिनेन्द्र हिमवजात-प्रमाणद्वयी।
गङ्गा-सिन्धु-युगेन-दुर्म्मत-खगोर्वी भृद्भिदा यत् स्वधी-
चक्राकान्त मतोऽभयेन्दु-यतिपः सिद्धान्तचक्राधिपः ॥
जैनलेख सं० भा० ३ ले० ५२४ पृ० ३७१

४. सद्दागम-परमागम-तक्कागम निरवसेस वेदी हु।
विजिद-सयलण्णवादी जयउ चिरं अभयसूरिसिद्धंती ॥ —भावसंग्रह प्रशस्ति

५. एपिग्राफिया कर्णाटिका जिल्द ५ संख्या १३१-३३

६. जैन लेख सं० भा० ३ लेख नं० ५२४ पृ०३७१

पंजिका का रचना काल शक सं० १०१६ (वि० सं० ११५१) कार्तिक शुक्ला है।

कर्म प्रकृति संस्कृत गद्य— यह भी इन्हीं की कृति है, जिसमें संक्षेप में कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। द्रव्य कर्म के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश भेदों का उल्लेख करते हुए मूल ज्ञानावरणादि आठ और उत्तर १४८ प्रकृतियों के स्वरूप और भेदों का वर्णन किया है। और अन्त में पाँच लब्धियों तथा चौदह गुणस्थानों का कथन किया है। अन्य इनकी क्या कृतियाँ है यह अन्वेषणीय है। यह ईसा की १३ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण के, और विक्रम की १४वीं शताब्दी के विद्वान हैं।

गोम्मटसार की कनड़ी टीकाकार केशववर्णी इन्हीं अभयचन्द्र के शिष्य थे। केशववर्णी ने गोम्मटसार की जीवतत्त्व प्रबोधिका कनड़ावृत्ति भट्टारक धर्मभूषण के आदेशानुसार शक स० १२८१ (सन् १३५९ ई०) में समाप्त की थी।

भानुकीर्ति सिद्धान्तदेव

यह मूल संघ कुन्दकुन्दान्वय काणूरगण तिन्त्रिणी गच्छ के विद्वान् आचार्य पद्मनन्दी के प्रशिष्य और मुनि चन्द्रदेव यमी के शिष्य थे। जो न्याय व्याकरण और काव्यादि शास्त्रों में पारगत थे। मन्त्र तंत्र मे बहुत चतुर थे। वन्दणिका तीर्थ के अधिपति थे जैसा कि तेवर तेप्प के शिलालेख के निम्न पद्य से प्रकट है :—

श्रीमन्मूलपदादि-संघ-तिलके श्रीकुन्डकुन्दान्वये,
काणूर-न्नाम-गणोत्स-गतसशुभगे-भूतिन्त्रिणी काह्वये।
शिष्यः श्री मुनिचन्द्र देव यमिनः सिद्धान्त-पारङ्गयो ,
जीयाद् वन्दणिका-पुरेश्वरतया श्री भानुकीर्तिम्मुनिः ॥

इन भानुकीर्ति सिद्धान्त देव को विज्जलदेव की पुत्री अलिया ने शक वर्ष १०८१ के प्रमाथि संवत्सर की पूष शुक्ला चतुर्दशी शुक्रवार को, सन् ११५९ वि० स० १२१३ में) होन्नेयास के साथ इस सुन्दर मन्दिर को भूमियों का दान दिया था[1]।

नागर खण्ड के सामन्त लोक गावुण्ड ने सन् ११७१ ई० (वि० सं० १२२८) में एक जैन मन्दिर का निर्माण कराया, और उसकी अष्टप्रकारी पूजा के लिये उक्त भानुकीर्ति सिद्धान्त देव को भूमि दान की थी[2]।

शक १०९९ (सन् ११७७ ई० वि० स० १२३४) में सङ्क गावुण्ड देकि सेट्टि के साथ मिलकर एलम्बलिल् में एक जिनमन्दिर बनवाया और शान्तिनाथ वसदि की मरम्मत तथा मुनियों के आहार दान के लिए उक्त भानुकीर्ति सिद्धान्त देव को भूमि दान दिया[3]।

मुनिचन्द्र सिद्धान्त देव के शिष्य भानुकीर्ति सिद्धान्त देव को राजा एक्कल ने कनकजिनालय के साथ-साथ चालुक्य चक्री जगदेव राजा के राज्य में राजा एक्कल ने सन् ११३९ (वि० सं० ११९६) में भूमिदान दिया[4]।

इन सब उल्लेखो से ज्ञात होता है कि भानुकीर्ति सिद्धान्तदेव उस समय प्रसिद्ध विद्वान् थे। यह ईसा की १२वीं और विक्रम की १३वीं शताब्दी के विद्वान् थे।

मुनिचन्द्र

मुनिचंद्र गुणवर्म द्वितीय के शिष्य थे। इन्होंने अपने पुष्पदन्त पुराण' में उभय कवि कमलगर्भ कहकर स्मरण किया है और महाबलि कवि (१२५४) ने नेमिनाथ पुराण में—'अखिल तर्क तंत्र मंत्र व्याकरण भरत काव्य नाटक प्रवीण'

१. जैन लेख संग्रह अ० ३ पृ० ११७
२. जैन लेख सं० भा० ३ पृ० १५२
३. वही भा० ३ पृ० १७०
४. जैन लेख सं० अ० ३ पृ० ३१-३२

लिखकर प्रशंसा की है। इनके उभय कवि विशेषण से मालूम होता है कि ये संस्कृत और कनडी दोनों भाषाओं के कवि और ग्रंथकर्ता होंगे, परन्तु अभी तक इनका कोई भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं है सौदंत्तिके शिलालेखों में जो शक संवत् ११५१ और सन् १२२९ के लिखे हुए हैं और जो रायल एशियाटिक सोसाइटी बाम्बे ब्रांचके जर्नल में मुद्रित हो चुके है। मालूम होता है कि ये रट्टराज कार्तवीर्य के राजगुरु थे। और गृहस्थ अवस्था में उसके पुत्र लक्ष्मीदेव को इन्होंने शस्त्र विद्या और शास्त्र विद्या दोनों को शिक्षा दी थी। लक्ष्मीदेव के समय में ये उसके सचिव या मन्त्री भी रहे हैं। यह बड़े ही वीर और पराक्रमी थे। इसलिए इन्होंने शत्रुओं को दबाकर रट्टराज की रक्षा की थी सुगन्धवर्ती १२ का शासन लक्ष्मीदेव चतुर्थ की अधीनता में रट्टों के राजगुरु मुनिचंद्र देव के द्वारा होता था। इस कारण उन्हें रट्टराज प्रतिष्ठाचार्य की उपाधि भी प्राप्त हुई थी। इनके समय में रट्टराज के शांतिनाथ, नाग और मल्लिकार्जुन भी आमात्य रहे हैं। जो मुनिचंद्र के सहायक या परामर्शदाताओं में से थे। इससे स्पष्ट है कि मुनिचंद्र का समय शक सं० १०५१ सन् १२२९ (वि० सं० १२८६) है। (जैन लेख सं० भा० ३ पृ० ३२२ से ३२९ तक)

अजितसेन

इस नाम के अनेक विद्वान हो गए हैं।[1] उन सबमें प्रस्तुत अजितसेन सेनगण के विद्वान आचार्य और तुलु देश के निवासी थे क्योंकि शृंगार मंजरी की पुष्पिका में—"श्री सेनगणाग्रगण्य तपो लक्ष्मी विराजिताजितसेन देव यतीश्वर विरचितः शृगार मंजरी नामालंकारोयम्।"—सेनगण का अग्रणी बतलाया है।

इससे अजितसेन सेनगण के विद्वान थे यह सुनिश्चित है।

आचार्य अजितसेन की दो रचनाएं उपलब्ध है। शृंगार मंजरी और अलंकार चिन्तामणि।

शृंगार मंजरी—यह छोटा-सा अलंकार ग्रन्थ है। इसमें तीन परिच्छेद है, जिनमें संक्षेप में रस-रीति और अलंकारों का वर्णन है। यह ग्रंथ अजितसेनाचार्य ने शीलविभूषणा रानी विट्ठल देवी के पुत्र, 'राय' नाम से ख्यात सोमवंशी जैन राजा कामिराय के पढ़ने के लिये बनाया था जेसा कि उसकी प्रशस्ति[2] के निम्न पद्यों से प्रकट है :—

राज्ञी विट्ठल देवीति ख्याता शीलविभूषणा।
तत्पुत्रः कामिरायाख्यो 'राय' इत्येव विश्रुतः ॥४६
तद्भूमिपालपाठार्थमुदितेयमलंक्रिया।
संक्षेपेण बुधैर्ह्येषा यद्धात्रास्ति (?) विशोध्यताम् ॥४६

प्रस्तुत कामिराय सोमवंशी कदम्बों की एक शाखा बंगवंश के नाम से विख्यात है। पं० के भुजबली शास्त्री के अनुसार दक्षिण कन्नड जिले के तुन्दिप्रदेशान्तर्गत बंगवाडि पर इस वंश का शासन रहा है। उक्त प्रदेश के

१. एक अजितसेन द्रमिल संघ में नन्दि संघ अरुङ्गलान्वय के विद्वान् मुनिप थे। जो सम्पूर्ण शास्त्रों में पारंगत थे। मूडहल्लिका का यह लेख संभवतः (लू० राइस) के अनुसार ११७० ई० का है।

दूसरे अजितसेन आर्यसेन के शिष्य थे, बड़े विद्वान्, सौम्यमूर्ति, राज्यमान्य प्रभावशाली वक्ता और बंकापुर विद्यापीठ के प्रधान आचार्य थे। गंगवंशी राजा मारसिंह के गुरु थे। मारसिंह ने बंकापुर में समाधि मरण द्वारा शरीर का परित्याग किया था। यह चामुण्ड राय के भी गुरु थे, जो मारसिंह के महामात्य और सेनापति थे। गोम्मटसार के कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने उन्हें ऋद्धि प्राप्ती गणधर के समान गुणी और भुवन गुरु बतलाया है। इनका समय विक्रम की १०वी शताब्दी का है।

तीसरे अजितसेन वे हैं जिनका उल्लेख मल्लिषेण प्रशस्ति में पाया जाता है। उक्त प्रशस्ति शक सं० १०५० मे उत्कीर्ण की गई है। उसमें अजितसेन को तार्किक और नैयायिक बतलाया है। इनकी उपाधि वादीभ सिंह थी।

चौथे अजितसेन वे हैं। जिनका सन् ११४७ के लेख में उल्लेख है जिनका शिष्य बड़ा सर्दार पर्माढी था। उसका जेष्ठ पुत्र भीमप्पा, भार्या देलब्बा से दो पुत्र हुए। मगनीसेट्ठी, मारीसेट्ठी, मारीसेट्ठी ने दोर समुद्र में एक जिन मन्दिर बनवाया था। अजितसेन नाम के और भी विद्वान हुए हैं, जिनका फिर कभी परिचय लिखा जायगा।

२. जैन ग्रंथ प्रशस्ति सं० वीर सेवामन्दिर भा० १, सन् १९५४ पृ० ९०

जैन राजवंशों में यह वंश मान्य रहा है। इस वंश के प्रसिद्ध राजा वीर नरसिंह (सन् ११५७-१२०८ ई०) के बाद चन्द्रशेखर वग सन् (१२०८-१२२४ ई०) जो वीर नरसिंह का पुत्र था। इनके छोटे भाई पाण्डय वंग ने सन् (१२२४-१२३९ ई०) तक राज्य किया। इसके अनंतर पाड्य वग की बहिन रानी बिट्ठलदेवी (१२३९-१२४४ ई०) तक राज्य का संचालन किया और उसके बाद उसका पुत्र कामिराय जो पाण्डय वग का भागनेय था सन् १२४४ में सिंहासनारूढ हुआ[1]। और उसने १२६४ ई० तक राज्य किया। इन्ही कामिराय की प्रेरणा से विजयवर्णी ने श्रृंगारर्णवचन्द्रिका का निर्माण किया।

अलंकार चिन्तामणि—यह अलंकार का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

जो अजितसेनाचार्य की काव्य लक्षणविषयक धारणा का समन्वयात्मक रूप है। उन्होंने लिखा है कि —'काव्य शब्दालंकार तथा अर्थालंकार से युक्त, नवरसों से समन्वित, रीतियों के प्रयोग से मनोरम, व्यंग्यादि अर्थों से सम्पन्न, दोष विरहित होना चाहिये। कवि के अनुसार काव्य ग्रंथ में दो बातों का होना आवश्यक है। उभयलोकोपकारी और पुण्यधर्म के प्राप्त करने का साधन। जैसा कि ग्रन्थ के निम्न पद्य से स्पष्ट हैं:—

शब्दार्थालंकृतीद्धं नवरसकलितं रीतिभावाभिरामं।
व्यंगाद्यर्थं विदोषं गुणगणकलितं नेतृ सद्वर्णनाढ्यम।
लोकोद्वन्द्वोपकारि स्फुटमिह तनुतात् काव्यमग्र् यं सुखार्थी।
नानाशास्त्रप्रवीण: कविरतुलमतिः पुण्यधर्मोरुहेतुम्।। १-७

इस ग्रन्थ मे पांच परिच्छेद है। उनमें प्रथम परिच्छेद की श्लोक संख्या १०६ है, जिनमें कविशिक्षा पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है। दूसरे परिच्छेद में शब्दालंकारों के चित्र वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमकालंकार ये चार भेद बतलाये हैं। उनमें चित्रलंकार का विशेष वर्णन किया गया है, उसके ४२ भेद बतलाये हैं। इस परिच्छेद के पद्यो की संख्या १८९ है। तीसरे परिच्छेद में चित्रालंकार के अतिरिक्त शब्दालंकार के अन्य भेद, वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक के उदाहरण के सहित विश्लेषण किया गया है। इस परिच्छेद की श्लोक संख्या ४१ है।

चौथे परिच्छेद में अर्थालंकारों के ७० भेदों का विस्तृत वर्णन ३४५ पद्यों द्वारा किया है। साथ में बीच-बीच में गद्यांश भी निहित है। इस परिच्छेद के प्रारंभ में अलंकारों की परिभाषा, गण और उनके भेदों का विस्तृत कथन दिया है।

पांचवें परिच्छेद में नौरस, चार रीति, दो पाक,—द्राक्षा और शब्द का स्वरूप और भेद, लक्षणावृत्ति तथा नाटकों के भेद-प्रभेद आदि काव्य शास्त्र-सम्बन्धि सभी आवश्यक विषयों का चर्चाओं का समाविष्ट किया गया है। इसकी पद्यसंख्या ४०६ है।

कवि ने अलंकारों के उदाहरणों में समन्तभद्र, जिनसेन हरिचंद्र, वाग्भट, अर्हद्दास और पीयूष वर्षादि अनेक आचार्यो के ग्रंथों के पद्यो को उद्धृत किया है। इन सब विद्वानो में वाग्भट ११वीं शताब्दी के है, और मुनिसुव्रत काव्य के कर्ता अर्हद्दास प० आशाधर जी के सामकालीन है। मुनि सुव्रतकाव्य की रचना सागर धर्मामृत स० १२९६ (सन् १२८८) के बाद हुई है। उन्हों ने उनके प्रति बहुत ही आदरव्यक्त किया है। इस कारण अजितसेनाचार्य का समय विक्रम की १३वी शताब्दी का उपान्त्य है।

श्रीधरसेन

यह सेनसंघ के आचार्य मुनिसेन के शिष्य थे। जो बड़े भारी कवि और नैयायिक थे। नेमिकुमार के पुत्र कवि वाग्भट ने 'काव्यानुशासन' की वृत्ति में पुष्पदन्त के साथ मुनिसेन का उल्लेख किया है और उनकी रचनाओं की ओर भी संकेत किया है—"**यत्पुष्पदन्त मुनिसेन मुनीन्द्रमुख्यैः पूर्वैः कृतं सुकविभिस्तदहं विधित्सुः।**" इससे

१. इस वंश का परिचय शृंगारार्णवचन्द्रिका के श्लोक ११ से १८ तक के पद्यों में दिया गया है। यह ग्रंथ डा० V.M कुलकर्णी द्वारा सम्पादित होकर भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हो चुका है।

स्पष्ट है कि मुनिसेन ने कोई ग्रन्थ बनाया था, जो अब उपलब्ध नही है। कवि श्रीधरसेन नानाशास्त्रो के पारगामी विद्वान थे, और बड़े-बड़े राजा लोग इन पर श्रद्धा रखते थे। वे काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान और कवि थे[1]।

इनकी एकमात्र कृति 'विश्वलोचन कोश' है, इसका दूसरा नाम मुक्तावलि कोश है जैसा कि 'मुक्तावली विरचिता' ग्रन्थ के वाक्य से स्पष्ट है। इस कोश मे २४५३ श्लोक है। स्वर वर्ण और ककारादि के वर्णक्रम से शब्दो का सकलन किया गया है। नानार्थ कोशो मे यह सबसे बडा कोश है। इस कोश की यह विशेषता है कि श्रीधरसेन ने एक शब्द के अधिक से अधिक अर्थ बतलाये है। उदाहरण के लिए 'रुचक' शब्द को लीजिये। विश्वलोचन मे इसके १२ अर्थ बतलाये है, अमरकोश के चार और मेदनी मे दश अर्थ बतलाये है।

प्रशस्ति के चौथे पद्य मे 'पदविदा च पुरे निवासी' वाक्य से श्रीधरसेन का निवासस्थान ज्ञात होता है, पर उसके सम्बन्ध मे इस समय कुछ कहना शक्य नही है। कवि ने स्वय लिखा है कि मैने इस कोश की रचना कवि नागेन्द्र और अमरसिंह आदि के कोशो का सार लेकर की है[2]। कोश महत्व पूर्ण है।

कोश मे रचनाकाल नही दिया। किन्तु इसकी रचना मेदनी और हेमचन्द्र के बाद हुई है अत श्रीधरसेन का समय विक्रम की १३वी शताब्दी का उपान्त्य जान पड़ता है।

विजयवर्णी

विजयवर्णी ने अपना कोई परिचय नही दिया। केवल गुरु[3] का और जिनकी प्रेरणा से ग्रन्थ बनाया उनका उल्लेख तो किया है किन्तु अपने सघगण-गच्छादि और समय का कोई उल्लेख नही किया। यह काव्यशास्त्र के अच्छे विद्वान थे। इन्होने बग नरेन्द्र कामिराय की प्रेरणा से 'शृगारार्णवचन्द्रिका' नाम का ग्रन्थ बनाया था जैसा कि निम्न पुष्पिका वाक्य से प्रकट है —

इतिपरमजिनेन्द्रवदनचन्द्रिरविनिर्गतस्याद्वादचन्द्रिकाचकोरविजयकीर्तिमुनीन्द्रचरणाब्जचञ्चरीकविजयवर्णि-विरचिते श्रीवीरनरसिंह कामिराज बङ्गनरेन्द्रकीशरदिन्दुसंनिभकीर्तिप्रकाशके शृंगारार्णव चन्द्रिका नाम्नि अलङ्कारसंग्रहे वर्णगणफलनिर्णय नाम प्रथमः परिच्छेदः।''

सोमवशी कदम्ब राजाओ के द्वारा सरक्षित भूमिका शासन करने वाला नरेश वीर नरसिंह हुआ। इसने सन् ११५७ ई० मे बगवाडि मे अपनी राजधानी स्थापित की थी। इसने प्रजा पर धर्म और न्यायनीति से शासन किया था। इनका पुत्र चन्द्रशेखर राजा हुआ इसने सन् १२०८ से १२२४ ई० तक, और इनके छोटे भाई पाण्डय बग शासक हुए, उन्होने सन् १२२५ से १२३६ तक राज्य किया। सन् १२३६ से १२४४ तक पाण्डयबग की बहिन विट्ठल महादेवी ने राज्य का सचालन किया। और सन १२४५ से १२६४ तक महारानी विट्ठल देवी के पुत्र कामिराय ने

१. सेनान्वये सकलसत्वसमर्पितश्री श्रीमानजायत कविर्मुनिसेन नामा।
आन्वीक्षकी सकलशास्त्रमयी च विद्या यस्या स वाद पदवी न दवीयसी स्यात ॥१
तस्मादभूदखिलवाड्मयपारदृश्वा विश्वासपात्रमवनीतलनायकानाम्।
श्री श्रीधर सकलसत्कविगुम्फितत्त्व पीयूषपानकृतनिर्जर भारतीक ॥२
तस्यातिशायिनि कवे. पथि जागरूक धीलोचनस्य गुरुशासनलोचनस्य।
नानाकवीन्द्ररचितानभिधान कोशानाकृष्यलोचनमिवाय मदीयि कोश ॥३
—विश्वलोचन कोश प्र०

२ नागेन्द्र सग्रथित कोशसमुद्रमध्ये नानाकवीन्द्रमुखशुक्ति समुद्भवेयम्।
विद्वद्गृहादमरनिर्मित पट्टसूत्रे मुक्तावली विरचिता हृदि सन्निधातुम् ॥६
— विश्वलोचन कोश प्र०

३. श्रीमद्विजयकीर्त्याख्य गुरुराजपदाम्बुजम। मदीयचित्रकासारे स्थेयात सशुद्धधीजले।

४. इत्थ नृपप्रार्थितेन मयाऽलकारसग्रह। क्रियते सूरिणा नाम्ना शृगारार्णवचन्द्रिका १—२२

शासन किया। प्रस्तुत कामिराय पाण्ड्यवंश का भागिनेय (भानजा) था[1]। और उसे राजेन्द्र पूजित बतलाया है। कवि ने कामिराय के वंश का विस्तृत परिचय दिया है[2]। ये सभी राजा जैनधर्म के पालक थे।

इस ग्रंथ का नाम शृंगारार्णव चन्द्रिका और अलकार सग्रह है। ग्रन्थ में दश परिच्छेद है। १ वर्गगणफल निर्णय २ काव्यगत शब्दार्थ निश्चय ३ रस भाव निश्चय ४ नायक भेद निश्चय ५ दश गुणनिश्चय ६ रीति निश्चय ७ वृत्ति निश्चय ८ शय्या पाक निश्चय ९ अलकार निर्णय १० दोष गुण निर्णय। इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि अलंकारों के सभी उदाहरण स्वय कवि द्वारा निर्मित है। इस ग्रन्थ का निर्माण कवि ने सन् १२५० के लगभग किया है। अतः कवि का समय तेरहवी शताब्दी है। ग्रन्थ डा० कुलकर्णी द्वारा सम्पादित होकर भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हो हो चुका है।

कवि वाग्भट

वाग्भट नाम के अनेक विद्वान हुए है। उनमें अष्टाङ्ग हृदय नामक वैद्यक ग्रन्थ के कर्ता वाग्भट सिंहगुप्त के पुत्र और सिन्धु देश के निवासी थे[3]। दूसरे वाग्भट नेमि निर्वाणकाव्य के कर्ता है, जो प्राग्वाट या पोरवाड़ वश के भूषण तथा छाहड के पुत्र थे[4]। तीसरे वाग्भट सोमश्रेष्ठी के पुत्र थे, वाग्भट्टालकार के कर्ता और गुजरात के सोलकी राजा सिद्धराज जयसिह के महामात्य थे। और यह वि० स० ११७९ म मौजूद थे। वि० स० ११७८ में मुनिचन्द्र सूरि का समाधिमरण हुआ। वाग्भट ने धवल और ऊचा जैनमन्दिर बनवाया था उसके एक वर्ष बाद देवसूरि द्वारा वर्धमान की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई थी। यह श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विद्वान थे[5]।

चौथे वाग्भट इन सबसे भिन्न थे, और महाकवि वाग्भट नाम से प्रसिद्ध थे। इनके पितामह का नाम 'मक्कलप' पितामही का नाम महादेवी था और पिता का नाम नेमिकुमार था। मक्कलप के दो पुत्र थे राहड और नेमिकुमार। उनमें राहड ज्येष्ठ और नेमिकुमार लघुपुत्र थे जो बड़े विद्वान धर्मात्मा और यशस्वी थे। और अपने ज्येष्ठ भ्राता राहड के परम भक्त थे। मेवाड़ देश में प्रतिष्ठित भगवान पार्श्वनाथ जिनके यात्रा महोत्सव से उनका अद्भुत यश अखिलविश्व में विस्तृत हो गया था। नेमिकुमार ने राहड पुर[6] में भगवान नेमिनाथ का और नलोटक पुर में बाईस देवकुलकाओ सहित भगवान आदिनाथ का विशाल मन्दिर बनवाया था। राहड ने उसी नगर में आदि नाथ मन्दिर की दक्षिण दिशा में २२ जिनमंदिर बनवाए थे[7]। जिससे उसका यशरूपी चन्द्रमा जगत में पूर्ण हो गया था—व्याप्त हो गया था।

१. तस्य श्रीपाण्ड्यचक्रस्य भागिनेयो गुणार्णवः। विट्ठलाम्बा महादेवी पुत्रो राजेन्द्रपूजितः ॥१—१६

२. देखो, शृंगारार्णव चन्द्रिका के ११ से १८ तक के पद्य।

३. यज्जन्मनः सुकृतिनः खलु सिन्धु देशे यः पुत्रवन्तमकरोद् भुवि सिंह गुप्तम्।
तेनोक्तमेतदुभयज्ञ भिषग्वरेण स्थान समाप्तमिति———————— ॥१

—पद्मराज पुस्तकालय की अष्टांग हृदय की कन्नड़ी प्रति

४. अहिच्छत्र पुरोत्पन्न-प्राग्वाट कुलशालिनः।
छाहडस्य सुतश्चक्रे प्रबन्ध वाग्भट कविः ॥८७ —नेमिनिर्वाण काव्य

५ 'सिरि वाहडत्ति तनओ आसि बुहो तस्स सोमस्स'! वाग्भटालकार
शतैकादशके साष्ट सप्ततौ विक्रमार्कतः। वत्सराणा व्यतिक्रान्ते श्री मुनिचन्द्र सूरयः।
आराधनाविधि श्रेष्ठ कृत्वा प्रायोपवेशन। शमपीयूप कल्लोलप्लुतास्ते त्रिदिव ययु. ॥
वत्सरे तत्र चैकेन पूर्णे श्री देवसूरिभिः। श्री वीरस्य प्रतिष्ठा सबाहटऽकारयन्मुदा युग्मम् ॥ —प्रभावकचरित

६. राहडपुर मेवाड़ देश मे कही था जो नेमिकुमार के ज्येष्ठ भ्राता राहड द्वारा बसाया गया था

—काव्यानुशासन की उत्थानिका

७. नाभेय चैत्य सदनं दिशि दक्षिणस्या, द्वाविंशति विदधता जिनमन्दिराणि।
मन्ये निजाग्रजवरप्रभुराहडस्य, पूर्णी कृतं जगति येन यशः शशाङ्कः ॥ —काव्यानुशासन पृ० ३४

कवि वाग्भट व्याकरण, छन्द, अलंकार, काव्य, नाटक चम्पू और साहित्य के मर्मज्ञ थे। कालिदास, दण्डी और वामन आदि विद्वानों के काव्य-ग्रन्थों से खूब परिचित थे और अपने समय के अखिल प्रज्ञालुओं में चूडामणि थे तथा नूतन काव्यरचना करने में दक्ष थे[१]। कवि ने अपने पिता नेमिकुमार की खूब प्रशंसा की है, और लिखा है वे कौन्तेय कुल रूपी कमलों को विकसित करने वाले अद्वितीय भास्कर थे, सकल शास्त्रों में पारगत तथा सम्पूर्ण लिपि भाषाओं से परिचित थे, और उनकी कीर्ति समस्त कविकुलों के मान सन्मान और दान से लोक में व्याप्त हो रही थी।

कवि वाग्भट भक्ति के अद्वितीय प्रेमी थे। स्वोपज्ञ काव्यानुशासन वृत्ति में आदिनाथ, नेमिनाथ और भगवान पार्श्वनाथ का स्तवन किया गया है। जिससे यह सम्भव है कि उन्होंने किसी स्तुति ग्रन्थ की रचना की हो; क्योंकि रसों में रति (शृंगार) का वर्णन करते हुए देव विषयक रति के उदाहरण में निम्न पद्य दिया है—

"नो मुक्त्यै स्पृहयामि विभवैः कार्यं न सांसारिकैः,
किंत्वा योज्य करौ पुनरिद स्वामी शमभ्यर्चये।
स्वप्ने जागरणे स्थितौ विचलने दुःखे सुखे मन्दिरे,
कान्तारे निशिवासरे च सततं भक्तिर्ममास्तु त्वयि।"

इस पद्य में बतलाया है 'कि हे नाथ! मैं मुक्तिपुरी की कामना नहीं करता और न सांसारिक कार्यों के लिये विभव (धनादि सम्पत्ति) की ही आकांक्षा करता हूं; किन्तु हे स्वामिन् हाथ जोड़कर मेरी यह प्रार्थना है कि स्वप्न में, जागरण में, स्थिति में, चलने में, दुःख सुख में, मन्दिर में, वन में, रात्रि और दिन में निरन्तर आपकी ही भक्ति हो।'

इसी तरह कृष्ण नील वर्णों का वर्णन करते हुए राहड के नगर और वहाँ के प्रतिष्ठित नेमि जिनका स्तवन-सूचक निम्न पद्य दिया है :—

सजलजलदनीलाभातियस्मिन्वनाली मरकत मणिकृष्णो यत्रनेमिजिनेन्द्रः।
विकचकुवलयालि श्यामलं यत्सरोम्भः प्रमुदयति न कांस्कांस्तत्पुरं राहडस्य॥

इस पद्य में बतलाया है—'कि जिसमें वन पंक्तियां सजल मेघ के समान नीलवर्ण मालूम होती है और जिस नगर में नीलमणि सदृश कृष्णवर्ण श्री नेमि जिनेन्द्र प्रतिष्ठित हैं तथा जिनमें तालाब विकसित कमल समूह से पूरित है वह राहड का नगर किन-किन को प्रमुदित नहीं करता।'

नेमिकुमार और राहड में राम लक्ष्मण के समान भारी प्रेम था। यद्यपि राहड ने विशेष अध्ययन नहीं किया था, क्योंकि उसका उपयोग व्यापार की ओर विशेष था। उसने व्यापार में विपुल द्रव्य और प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। इस कारण नेमिकुमार को अध्ययन करने का विशेष अवसर मिल गया, और सिद्धान्त, छन्द, अलंकार, काव्य और व्याकरणादि तथा भाषा और लिपि का परिज्ञान किया[२]। अध्ययन के उपरान्त नेमिकुमार भी अपने भाई के साथ व्यापार में लग गये, और दोनों से न्याय से विपुल धन अर्जित किया। राहड प्रसिद्ध व्यापारी था उसका व्यापार द्वीपान्तरों में भी होता था[३]। व्यापार में जो धन कमाया उससे उन्होंने दो नगर बसाये, राहड़पुर और नलोटकपुर राहड़पुर राहड के नाम से बसाया गया था, उसमें नेमि जिनका विशाल मन्दिर था जिसमें भगवान नेमिनाथ की मरकत मणि के समान कृष्ण वर्ण की सुन्दर मूर्ति विराजमान थी[४]।

१. नव्यानेक महाप्रबन्धरचनाचातुर्यविस्फूर्जित स्फारोदारयशः प्रचारसततव्याकीर्ण विश्वत्रयः।
श्री मन्नेमिकुमार-सूनुरखिलप्रज्ञालु चूडामणिः काव्यानामनुशासनं वरमिदं चक्रे कविर्वाग्भटः॥

२. 'दुस्तरसमस्तशास्त्रपारावारगहनमध्यावगाहनमदमन्दरस्य।' काव्यानुशासन पृ० १

३. 'आनन्दमन्दरायमाणयानमात्रसहस्रमध्यमानमहाब्धिमध्य समुल्लासलक्ष्मी लक्षितवक्षःस्थलस्य। वही पृष्ठ १

४. कारितामरपुरपरिस्पर्द्धि श्रीराहड़पुर प्रतिष्ठापित सुप्रसिद्धहिमगिरिशिखरानुकारि रमणीय शुभ्राभ्रंलिह जिनवरागारोत्तुङ्ग शृङ्गोत्सङ्गसङ्गतसौवर्णध्वजाग्र लम्बायमानरणीकिङ्किणी झणत्कारविश्रामितरविरथ तुरङ्गमस्य। वही पृ० १

नलोटकपुर में पहले राहड ने अपनी रुचि के अनुसार ऋषभदेव का विशाल मन्दिर बनवाया था। बाद में नेमिकुमार ने उसी जिनालय के आगे दक्षिण भाग मे २२ वेदियां बनवाई थी।[1] उससे राहड की प्रसिद्धि अधिक हो गई थी। मेवाड़ की जनता नेमिकुमार मे बहुत प्रभावित थी। इस जिनालय मे रात्रि के समय स्त्री पुरुष इकट्ठे होकर स्तुतिया पढ़ते थे, और नारिया मिलकर सुन्दर गीत गाती थी। नगर बाग-बगीचों और तालाबों से शोभायमान था। नेमिकुमार की कीर्ति भी कम नही थी।

रचनाएं

महाकवि वाग्भट्ट की इस समय दो कृतियां उपलब्ध हैं छन्दोऽनुशासन और काव्यानुशासन। इनमें छन्दोऽनुशासन काव्यनुशासन से पूर्व रचा गया है, क्योंकि काव्याऽनुशासन की स्वोपज्ञवृत्ति में स्वोपज्ञ छन्दोऽनुशासन का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उसमे छन्दो का कथन विस्तार से किया गया है। अतएव यहा पर नही कहा जाता[2]।

जैन साहित्य में छन्दशास्त्र पर 'छन्दोऽनुशासन'[3] स्वयम्भूछन्द[4] छन्दकोश[5] और प्राकृत पिगल[6] आदि अनेक छन्दग्रन्थ लिखे गये है। उसमें प्रस्तुत छन्दोऽनुशासन सबसे भिन्न है यह सस्कृत भाषा का छन्दग्रन्थ है और पाटन के श्वेताम्बरीयज्ञानभडार में ताड़पत्र पर लिखा हुआ विद्यमान है[7]। उसकी पत्रसख्या ४२ और श्लोक सख्या ५४० के करीब है और स्वोपज्ञवृत्ति से अलकृत है। इस ग्रन्थ का आदि मगलपद निम्न प्रकार है:—

विभुं नाभेयमानम्य छन्दसामनुशासन्। श्रीमन्नेमिकुमारस्यात्मजोऽहं वच्मि वाग्भटः॥

यही मगल पद्य काव्याऽनुशासन की स्वोपज्ञवृत्ति मे' छन्दसामनुशासन, के स्थान पर 'काव्यानुशासनम्' दिया हुआ है।

यह छन्दग्रन्थ पाँच अध्यायो मे विभक्त है, सज्ञाध्याय १ समवृत्ताख्य २ अर्धसमवृत्ताख्य ३ मात्रासमक ४ और मात्रा छन्दक ५। ग्रन्थ सामने न होने से इन छन्दो के लक्षणादि का कोई परिचय नहीं दिया जा सकता और न यही बताया जा सकता है कि ग्रन्थकार ने अपनी दूसरी किन-किन रचनाओं का उल्लेख किया है।

इस ग्रन्थ मे राहड और नेमिकुमार की कीर्ति का खुलागान किया गया है और राहड को पुरुषोत्तम तथा

---

१. निजभुजयुगलोपार्जित वित्तजात जनित नलोटकपुर प्रतिष्ठित त्रिभुवनाद् भुत श्री नाभिसम्भवजिन सदन प्राग्भाग निर्मापित द्वाविंशति देवगृहिका मण्डलस्य। (काव्यानु० पृ० १)

२. अयं च सर्व प्रपंचः श्रीवाग्भट्टाभिध स्वोपज्ञछन्दोऽनुशासने प्रपंचित इति नात्रोच्यते'।

३. यह छन्दोऽनुशासन जयकीर्ति के द्वारा रचा गया है। इसे उन्होंने माडव्व, पिंगल जनाश्रव' सेतव, पूज्यपाद (देवनन्दी) और जयदेव आदि विद्वानों के छन्द ग्रन्थो को देखकर बनाया गया है। यह जयकीर्ति अमलकीर्ति के शिष्य थे। संवत् ११९२ मे योगसार की एक प्रति अमलकीर्ति ने लिखवाई थी, इससे जयकीर्ति १२ वी शताब्दी के उत्तरार्ध और १३वी शताब्दी के पूर्वार्ध के विद्वान जान पड़ते है। यह ग्रन्थ जैसलमेर के श्वेताम्बरीय ज्ञानभण्डार में सुरक्षित है। (देखो गायकवाड सस्कृत सीरीज मे प्रकाशित जैसलमेर भाण्डागारीय ग्रन्थाना सूची।)

४ यह अपभ्रंश और प्राकृत भाषा का महत्वपूर्ण मौलिक छन्द ग्रथ है। इसका सम्पादन एच० डी० वेलंकर ने किया है। (देखो,बम्बई यूनिवर्सिटी जनरल सन् १९३३ तथा रायलएसियाटिक सोसाइटी जनरल सन्० ९३५),

५. रत्न शेखर सूरि द्वारा रचित प्राकृत भाषा का छन्दकोश है।

६. पिगला चार्य के प्राकृत पिगल को छोड़कर, प्रस्तुत पिंगलग्रन्थ अथवा छन्दोविद्या कविराजमल की कृति है। जिसे उन्होन श्रीमालकुलोत्पन्न वणिक् पति राजाभारमल्ल के लिये रचा था। इस ग्रन्थ में छन्दों का निर्देश करते हुए राजा भारमल्ल के प्रताप यश और वैभव आदि का अच्छा परिचय दिया गया है। इन छन्द ग्रन्थो के अतिरिक्त छन्दशास्त्र, वृत्तरत्नाकर और श्रुतबोध नाम के छन्द ग्रन्थ और है जो प्रकाशित हो चुके है।

७. See Patan catalague of Manucripts P. 117.

उनकी विस्तृत चैत्यपद्धति को प्रमुदित करने वाली प्रकट किया है यथा—

पुरुषोत्तम राहडप्रभो कस्य न हि प्रमदं ददाति सद्यः ।
वितता तव चैत्यपद्धतिर्वातचलध्वजमालधारणी ।।

कवि ने अपने पिता नेमिकुमार की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि घूमने वाले भ्रमर से कम्पित कमल के मकरन्द (पराग) समूह से पूरित, भडौच अथवा भृगुकच्छ नगर में नेमिकुमार की अगाध बावडी शोभित होती है। यथा—

परिभमिरभमरकंपिरसरूहमयरंदपुंजपंजरिया ।
वावी सहइ अगाहा णेमिकुमारस्स भरुग्रच्छे ।।

इस तरह यह छन्द ग्रंथ बड़ा ही महत्वपूर्ण जान पड़ता है और प्रकाशित करने योग्य है।

काव्यानुशासन

यह ग्रन्थ मुद्रित हो चुका है। इस लघुकाय ग्रन्थ में ५ अध्याय हैं जिन में क्रमशः ६२,७५,६८,२६, और ५८ कुल २८९ सूत्र हैं। जिनमें काव्य-सम्बन्धी विषयों का—रस, अलङ्कार, छन्द और गुण दोष वाक्य दोष आदि का—कथन किया गया है। इसकी स्वोपज्ञ अलंकारतिलक नामक वृत्ति[1] में उदाहरण स्वरूप विभिन्न ग्रन्थों के अनेक पद्य उद्धृत किये गये है जिनमें कितने ही पद्य ग्रन्थ कर्ता के स्वनिर्मित भी होंगे, परन्तु यह बतला सकना कठिन है कि वे पद्य इनके किस ग्रन्थ के हैं। समुद्धृत पद्यों में कितने ही पद्य बड़े सुन्दर और सरस मालूम होते हैं। पाठकों की जानकारी के लिए दो तीन पद्य नीचे दिये जाते है :—

कोऽयं नाथ ! जिनो भवेत्तववशी हुं-हुं प्रतापी प्रिये,
हुं-हुं तर्हि विमुञ्च कातरमते शौर्यावलेपक्रियां ।।
मोहोऽनेनविनिर्जितः प्रभुरसौ तर्त्किकराः के वयं,
इत्येवं रति कामल्पविषयः सोऽयंजिनः पातु वः ।।

एक समय कामदेव और रति जङ्गल में विहार कर रहे थे कि अचानक उनकी दृष्टि ध्यानस्थ जिनेन्द्र पर पड़ी, उनके रूपवान प्रशांत शरीर को देखकर कामदेव और रति का जो मनोरंजक संवाद हुआ है उसीका चित्रण इस पद्य में किया गया है। जिनेन्द्र को मेरुवत् निश्चल ध्यानस्थ देखकर रति कामदेव से पूछती है कि हे नाथ ! यह कौन है ? तब कामदेव कहता है कि यह जिन हैं-- राग-द्वेषादि कर्म शत्रुओं को जीतने वाले हैं—पुनः रति पूछती है कि यह तुम्हारे वश में हुए ? तब कामदेव उत्तर देता है कि हे प्रिये ! यह मेरे वश में नहीं हुए; क्योंकि यह प्रतापी हैं, तब वह फिर कहती है यदि यह तुम्हारे वश में नहीं हुए तो तुम्हें 'त्रिलोक विजयी' पनकी शूरवीरता का अभिमान छोड देना चाहिए। तब कामदेव रति से पुनः कहता है कि इन्होंने मोहराजा को जीत लिया है, जो हमारा प्रभु है, हमतो उसके किङ्कर हैं। इस तरह रति और कामदेव के संवाद विषयभूत यह जिन तुम्हारा कल्याण करें।

शठ कमठ विमुक्तागाव संघातघात-व्यथितमपिमनोन ध्यानतो यस्य नेतु :
अचलदचलतुल्यं विश्वविश्वैकधीरः, स दिशतुशु भमीशःपार्श्वनाथोजिनोवः ।।

इस पद्य में बतलाया है कि दुष्ट कमठ के द्वारा मुक्त मेघ समूह से पीड़ित होते हुए जिनका मन ध्यान से जरा भी विचलित नहीं हुआ वे मेरु के समान अचल और विश्व के अद्वितीयधीर, ईश पार्श्वनाथ जिन तुम्हें कल्याण प्रदान करें।

इसीतरह 'कारणमाला' के उदाहरण स्वरूप दिया हुआ निम्न पद्य भी बड़ा ही रोचक प्रतीत होता है। जिसमें जितेन्द्रियता को विनय का कारण बतलाया गया है। और विनय से गुणोत्कर्ष, गुणोत्कर्ष से लोकानुरंजन और जनानुराग से सम्पदा की अभिवृद्धि होना सूचित किया है, वह पद्य इस प्रकार है:—

१. इति महाकवि श्री वाग्भट विरचितायामलङ्कारतिलकाभिधान स्वोपज्ञ काव्यानुशासन वृत्तौ प्रथमोऽध्ययः।

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं, गुण प्रकर्षोविनयादवाप्तते।
गुणप्रकर्षेणजनोऽनुरज्यते, जनानुरागप्रभवाहि सम्पदः ॥

इस ग्रन्थ की स्वोपज्ञवृत्ति में कवि ने अपनी एक कृति ऋषभदेवकाव्य का 'स्वोपज्ञऋषभदेव महाकाव्ये' वाक्य के साथ उल्लेख किया है और उसे 'महाकाव्य' बतलाया है, जिससे वह एक महत्वपूर्ण काव्य ग्रन्थ जान पड़ता है, इतना ही नहीं किंतु उसका निम्न पद्य भी उद्धृत किया है:—

यत्पुष्पदन्त-मुनिसेन-मुनीद्रमुख्यैः पूर्वैः कृतं सु कविभिस्तदहं विधित्सुः।
हास्याय कस्यननु नास्ति तथापिसंतः, शृण्वंतुकंचन ममापि सुयुक्ति सूक्तम्।

इन के सिवाय, कवि ने भव्य नाटक और अलंकारादि काव्य बनाये थे। परन्तु वे सब अभी तक अनुपलब्ध हैं, मालूम नहीं कि वे किस शास्त्र भण्डार की कालकोठरी में अपने जीवन की सिसकियां ले रहे होंगे।

कवि का सम्प्रदाय दिगम्बर था, क्योंकि उन्होंने विक्रम की दूसरी शताब्दी के आचार्य समन्तभद्र के बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र के द्वितीय पद्य को 'आगम आप्तवचनं यथा' वाक्य के साथ उद्धृत किया है:—

प्रजापतिर्यः प्रथमंजिजीविषु शशासकृष्यादिषुकर्मसु प्रजाः
प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो ममत्त्वतो निर्विवदे विदांवरः ॥२॥

वीरनन्दी 'चन्द्रप्रभ चरित का आदि मंगल पद्य भी उद्धृत किया है। और पृ० १६१ में सज्जन दुर्जन चिन्ता में वाग्भट के 'नेमि निर्वाण काव्य' के प्रथम सर्ग का २० वां पद्य भी दिया है।:—

गुणप्रतीतिः सुजनां जनस्य, दोषेष्ववज्ञा खल जल्पितेषु।
अतो ध्रुवं नेह मम प्रबन्धे, प्रभूतदोषेऽप्यशोऽवकाशः ॥

समय विचार

कवि ने ग्रन्थ में रचना समय का कोई उल्लेख नहीं किया। किंतु वीरनन्दी और वाग्भट के ग्रन्थों के पद्य उद्धृत किये हैं। इससे कवि इन के बाद हुआ है। काव्यानुशासन के पृष्ठ १६ में उल्लिखित 'उद्यान जल केलि मधुपान वर्णन नेमिनिर्वाण राजीमती परित्यागादौ" इस वाक्य के साथ नेमिनिर्वाण और राजीमती परित्याग नामके दो ग्रन्थों का समुल्लेख किया है। उनमें से नेमिनिर्वाण के ८वें सर्ग में जल क्रीड़ा और १०वें सर्ग में मधुपान सुरत का वर्णन दिया हुआ है। हां, 'राजीमती परित्याग' नामका अन्य कोई दूसरा ही काव्य ग्रन्थ है जिसमें उक्त दोनों विषयों को देखने की प्रेरणा की गई है। यह काव्य ग्रन्थ सम्भवतः पं० आशाधर जी का राजमती विप्रलम्भ या परित्याग जान पड़ता है। क्योंकि विप्रलम्भ और परित्याग शब्द पर्याय वाची हैं। पण्डित आशाधर जी का समय विक्रम की १३वीं शताब्दी है। कवि ने काव्यानुशासन में महाकवि दण्डी वामन और वाग्भटालंकार के कर्ता वाग्भट द्वारा माने गए, दश काव्य गुणों से कवि ने सिर्फ माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीन गुण ही माने है। और शेष गुणों का उन्हीं में अन्तर्भाव किया है[1]। वाग्भट्टालंकार के कर्ता का समय १२वीं शताब्दी है। इस सर्व विवेचन से कवि वाग्भट का समय विक्रम की १३वीं शताब्दी का उपान्त्य और १४वीं का पूर्वार्ध हो सकता है।

रविचन्द्र (आराधना समुच्चय के कर्ता)

मुनि रविचन्द्र ने अपनी गुरु परम्परा संघ-गण-गच्छ और समय का कोई उल्लेख नहीं किया। इनकी एकमात्र कृति 'आराधना समुच्चय, है जो डा० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित होकर माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला से प्रकाशित हो चुका है।

१. इति दण्डि वामनवाग्भटादिप्रणीता दशकाव्यगुणाः। वयं तु माधुर्योजप्रसाद लक्षणान्त्रीनेव गुणा मन्यामहे, शेषास्तेष्वेवान्तर्भवन्ति। तद्यथा—माधुर्ये कान्तिः सौकुमार्यं च, ओजसिश्लेषः समाधिरुदारता च। प्रसादेऽर्थ व्यक्तिः समता चान्तर्भवति। (काव्यानुशासन २, ३१)

प्रस्तुत ग्रन्थ में संस्कृत के २५२ श्लोक हैं। जिनमें आराधना, आराधक, आराधनोपाय तथा आराधना का फल, इन चारों को आराधना के चार चरण बतलाये हैं। गुण-गुणी के भेदसे आराधना के दो प्रकार बतलाये हैं। साथ में सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप ये आराधना के चार गुण कहे। इन चारों आराधनाओं के स्वरूप और भेद-प्रभेदों का सुन्दर वर्णन दिया है। चारित्र आराधना का स्वरूप और भेद-प्रभेदों का उनका काल और स्वामी बतलाये हैं। सम्यक् तप आराधना के स्वरूप भेद प्रभेद वर्णन करने के पश्चात् ध्यान के भेद और स्वामी आदि का परिचय कराया गया है। द्वादश अनुप्रेक्षाओं का वर्णन सस्थान विचयधर्मध्यान में परिगणन कर दिया है।

इस ग्रन्थ के कर्ता वर्तमान मैसूर राज्यन्तर्गत पनसोगे[1] निवासी मुनिरविचन्द्र है।[2] ग्रन्थ में रचनाकाल दिया हुआ नही है।

रट्टकवि अर्हद्दास

यह जैन ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम नागकुमार था। यह कन्नड़ भाषा के प्रकाण्ड विद्वान थे। कवि का समय सन् १३०० ईस्वी के आस-पास है। यह गंग मारसिंह के चमूपति काडमरस का वशज है। काडमरस बड़ा वीर और पराक्रमी था। वारेन्दुर के जीतने वाले राजा मारसिंह का एक किला था। इस किले को किसी चक्रवर्ती की सेनाने घेर लिया था। मारसिंह की आज्ञा से काडमरस ने बड़ी बहादुरी के साथ चक्रवर्ती की सेना को भगा दी, और ध्वजा गिरादी, तथा बारह सामन्त योद्धाओं को परास्त किया। इससे राजा बहुत प्रसन्न हुआ। अतएव उसने काडमरस को २५ ग्रामों की एक जागीर पारितोषिक में दे दी। इसी काडमरस को १५वीं पीढ़ी में नागकुमार नाम का व्यक्ति हुआ। कविरट्ट या अर्हद्दास इसी नागकुमार का पुत्र था।

इसने कन्नड में अट्टमत नाम के महत्वपूर्ण ज्योतिष ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ पूरा नहीं मिलता शकसंवतकी १४वीं शताब्दी में भास्कर नाम के आन्ध्र कवि ने इस ग्रन्थ का तेलगूभाषा में अनुवाद किया था। इस ग्रन्थ के उपलब्ध भाग में वर्षा के चिन्ह, आकस्मिकलक्षण, शकुन वायुचक्र गृहप्रवेश भूकप भूजात फल, उत्पात लक्षण इन्द्र धनुर्लक्षण प्रथम गर्भलक्षण, द्रोण सख्या, विद्युतलक्षण, प्रतिसूर्यलक्षण सवत्सरफल, ग्रहद्वेष मेघों के नाम कुलवर्ण, ध्वनिविचार, देशवृष्टि, मासफल, नक्षत्रफल, और सक्रान्तिफल आदि विषयों का निरूपण किया गया है।

बालचन्द्र पण्डितदेव

बालचन्द्र नाम के अनेक विद्वान हो गए है। उनमें से एक बालचन्द्र का उल्लेख कम्बदहल्लो में कम्बदराय स्तम्भ में मिलता है। इनका समय शक सं० १०४० (वि० सं० ११५७) है। इनके गुरु का नाम राद्धान्तार्णव पारग अनन्तवीर्य और शिष्य का नाम सिद्धान्ताम्भोनिधि प्रभाचन्द्र था। (जैन लेख सं० भा० २ लेख नं० २६६ पृ० ३६६)

दूसरे बालचन्द्र वे है जिनका उल्लेख बूवनहल्लि (मैसूर) के १० वीं सदी के कन्नड़ लेख में बालचन्द्र सिद्धान्त भट्टारक के शिष्य कमलभद्र गुरुद्वारा एक मूर्ति की स्थापना की गई थी। (जैन लेख सं० भाग ४ प० ७०)।

तीसरे बालचन्द्र वे हैं जिनको शक सं ९६६ में उत्तरायण संक्रान्ति के समय यापनीय सघ पुन्नाग वृक्ष मूलगण के बालचन्द्र भट्टारक को कुछ दान दिया गया था। (जैन लेख सं० भा० ४ पृ० ८१)।

चौथे बालचन्द्र वे हैं जिनको सन् ११११२ में मूलसंघ देशीगण पुस्तक गच्छ के आचार्य वर्धमान मुनि के शिष्य

---

१. पं० के भुजबली शास्त्री के अनुसार मैसूरजिलान्तर्वर्ति कृष्णराजनगर तालुके में साले ग्राम से लगभग ५ मील की दूरी पर अवस्थित हनसोगे (पनसोगे) ही आराधना समुच्चय का रचनास्थल है। वहां एक त्रिकूट जिनालय है जिसमें आदिनाथ और नेमिनाथ की मूर्तियां विराजमान हैं। —अनेकान्त वर्ष २३ कि० ५-६ पृ० २३४

२. श्री रविचन्द्र मुनीन्द्रैः पनसोगे ग्राम वासिभिग्रन्थः।
रचितोऽय मखिलशास्त्र प्रवीण विद्वन्मनोहारी ॥ ४२

बालचन्द्र व्रती के शिष्य अर्हनन्दि वेट्टदेव को पार्श्वनाथ वसदि के लिये भूमिदान दिए जाने का उल्लेख है (जैन लेख सं० भा० ४ पृ० १३४)

पांचवें बालचन्द्र वे हैं जो मूलसंघ देशीगण पनसोगे शाखा के नयकीर्ति सिद्धान्त चक्रवर्ति के शिष्य अध्यात्मी बालचन्द्र के उपदेश से बिम्मिसेट्टि के पुत्र केसरमेट्टि ने वेलूर में सन् ११८० में मूर्ति की प्रतिष्ठा की थी। (जैन लेख सं० भा० ४ पृ० २७०)।

छठे बालचन्द्र वे हैं, जो माधवचन्द्र त्रैविद्य के शिष्य थे, और कवि कन्दर्प कहलाते थे। इन्होंने शक ११२७, रक्ताक्षी संवत्सर में द्वितीय पौष शुक्ल २ को बेलगाँव के रट्टजिनालय के लिए वीचण द्वारा शुभचन्द्र को दिए जाने वाले लेख को लिखा था। अतएव इनका समय शक ११२७ सन् १२०४ (वि० स० १२६१) है। (जैन लेख सं० भा० ४ पृ०२३६)।

इनमें प्रस्तुत बालचन्द्र पण्डितदेव मूलसंघ देशियगण पुस्तक गच्छ कुन्दकुन्दान्वय इंगलेश्वर शाखा के श्री समुदाय कर माघनन्दि भट्टारक के प्रशिष्य और नेमिचन्द्रभट्टारक के दीक्षित शिष्य थे। और अभयचन्द्र सैद्धान्तिक उनके श्रुत गुरु थे। ये बलचन्द्र व्रति श्रुतमुनि के अणुव्रत गुरु थे श्रुतमुनि ने भी बालचन्द्र मुनि को अभयचन्द्र का शिष्य बतलाया है—

"**सिद्धंताऽहयचंदस्स य सिस्सो बालचन्द मुणि पवरो।**" (भावसंग्रह)

अभयचन्द्र ने स्वयं गोम्मटसार जीवकाण्ड की मन्द प्रबोधिका टीका में बालचन्द्र पण्डित देव का उल्लेख किया है[1]। इन्होंने द्रव्यसंग्रह की टीका शक सं० ११९५ (वि० स० १३३०) में बनाई थी।

बालचन्द्र के सन् १२७४ के समाधि लेख में संस्कृत के दो पद्यों में बतलाया है कि वे बालचन्द्र योगीश्वर जयवंत हों, जो जैन आगमरूपी समुद्र के बढाने के लिए चन्द्र, कामके अभिमान के खंडक, और भव्यरूप कमलों को प्रफुल्लित करने के लिए दिवाकर है, गुणों के सागर, दया के समुद्र, तथा अभयचन्द्र मुनिपति के शिष्योत्तम है, अपनी आत्मा में रत हैं। जिन्होंने इस जगत में पूर्वाचार्यो की परम्परा गत जिनस्तोत्र, आगम अध्यात्म शास्त्र रचे, वे अभयेन्दु योगी प्रख्यात शिष्य बालचन्द्र व्रती से जैन धर्म शोभायमान है। यथा—

श्रीजैनागमवार्धिवर्द्धनविधुः कंदर्पदर्पापहो,
भव्याम्भोजदिवाकरो गुणनिधिः कारुण्यसौधोदधिः।
सश्रीमान् अभयेन्द्र सन्मुनिपति प्रख्यात शिष्योत्तमो,
जीव्यात्········निजात्मनिरतो बालेन्दु योगीश्वरः॥
पूर्वाचार्यपरम्परागत जिनस्तोत्रागमाध्यात्मस,
च्छास्त्राणि प्रथितानि येन सहसा भुवन्निलामंडले।
श्रीमन्मान्येभयेन्दुयोगिविबुधप्रख्यातसतसूनुना,
बालेन्दुव्रतियेन तेनलसति श्रीजैनधर्मोमधुना॥

—(म० मैसूर के प्राचीन स्मारक पृ० २७८)

इनबालचन्द्र पण्डित देव की गृहस्थ शिष्या मालियक्के थी[2]।

प्रस्तुत बालचन्द्र का स्वर्गवास सन् १२७४ में हुआ है। अतः यह बालचन्द्र ईसा की १३ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण और विक्रम की १४ वी शताब्दी के विद्वान थे।

इन्द्रनन्दी

इन्द्रनन्दी ने अपनी गुरु परम्परा और ग्रन्थ रचनाकाल आदि का उल्लेख नहीं किया। इनकी एक कृति

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड कलकत्ता संस्करण पृ० १५०।

२. जैन लेख स० भा० ३ पृ० २६६।

'छेदपिण्ड' है। जो ३३३ गाथा को सख्या का लिए हुए हे। प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय प्रायश्चित्त हे। प्रायश्चित्त-विषयक यह ग्रन्थ एक महत्वपूर्ण कृति हे। प्रायश्चित्त, छद, मलहरण, पापनाशन, शुद्धि, पुण्य पवित्र, और पावन ये सब उसके पर्यायवाची नामान्तर है[1]। इसमे सन्देह नही कि प्रायश्चित्त स चित्त शुद्धि होती है। और चित्तशुद्धि आत्म विकास में निमित्त है। चित्तशुद्धि के विना आत्मा मे निमलता नही आती। अत आत्म विकास क इच्छुक मुमुक्षु जनो को प्रायश्चित्त करना उपयोगी हे, ज्ञानी को आत्म निरीक्षण करते हुए अपने दोषो या अपराधो के प्रति सावधान होना पड़ता हे। अन्यथा दोषो का उच्छेद सम्भव नही ह। किस दोष का क्या प्रायश्चित्त विहित हे यही इस ग्रन्थ का विषय है। जिसका कथन अनेक परिभाषाओ और व्याख्याओ द्वारा दिया है। इन्दनन्दी ने यह ग्रन्थ मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविकारूप चतुर्विध सघ और ब्राह्मण-क्षत्रिय-वश्य-और शूद्ररूप चारो वर्ण के सभी स्त्री-पुरुषो को लक्ष्य करके लिखा गया हे। सभी से बन पडने वाले दोषो का अपराधो के प्रकारो का--आगमादि विहित तपश्चरणादिरूप शोधनो का— ग्रन्थ मे निर्देश किया गया है।

छेद शास्त्र के साथ इसकी तुलना करने से ऐसा जान पडता ह कि एक दूसरे क सामने ये ग्रन्थ रहे हे। छेद शास्त्र के कर्ता का नाम अज्ञात है। छेदशास्त्र की २-३ गाथाए छेदपिण्ड मे प्रक्षिप्त हे[2]। क्योकि वहा उनका होना उपयुक्त नही है। छेदपिण्ड की दूसरी प्रतियो मे वे नही पाई जाती। अतएव व वहा प्रक्षिप्त हे। कुछ गाथाओ में समानता भी पाई जाती है। इस कारण मेरी राय मे छेदपिण्ड के कर्ता के सामने छेदशास्त्र अवश्य रहा है।

छेदपिण्ड व्यवस्थित स्वतत्र कृति मालूम होती है।

इन्द्रनन्दी ने अपने को गणी और योगीन्द्र विशेषणो के साथ उल्लेखित किया हे। इन्द्रनन्दी नाम के अनेक विद्वान हो गए है :—

प्रथम इन्द्रनन्दी वे है, जो वासवनन्दी के गुरु थे।

दूसरे इन्द्रनन्दी व है जो वासवनन्दी के प्रशिष्य और बलनन्दी के शिष्य थे, और जिन्होने शक स० ८६१ (वि० स० ६६६) मे ज्वालामालिनी कल्प की रचना की है। सम्भवत. गोम्मटसार के कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के भी गुरु यही जान पडते है।

तीसरे इन्द्रनन्दी श्रुतावतार के कर्ता है। इनका समय निश्चित नही है। चौथे इन्द्रनन्दी का उल्लेख मल्लिषेण प्रशस्ति मे पाया जाता है[3]। जो शक स० १०५० (वि० स० ११८५) मे उत्कीर्ण की गई है।

पाचवे इन्द्रनन्दी भट्टारक नीतिसार के कर्ता है। यह ग्रन्थ ११३ श्लोकात्मक है। इसमे जिन आचार्यों के ग्रन्थ प्रमाण माने जाते है। उनमे श्लोक ७० मे सोमदेवादि के साथ प्रभाचन्द्र और नेमिचन्द्र (गोम्मटसार के कर्ता) का भी नामोल्लेख है। इस कारण ये इन्द्रनन्दी उनके बाद के विद्वान है।

छठे इन्द्रनन्दी वे ह। जिन्होने श्वेताम्बरी विद्वान हेमचन्द्र के योगशास्त्र की टीका शक स० ११८० (वि० स० १३१५) मे बनाई थी और जो अमरकीर्ति के शिष्य थे। यह योगशास्त्र टीका कारजा भडार मे उपलब्ध है।

सातवे इन्द्रनन्दी सहिता ग्रन्थ के कर्ता है। इन सात इन्द्रनन्दी नाम के विद्वानो मे से यह निश्चित करना कठिन है कि कौन से इन्द्रनन्दी छेदपिण्ड ग्रन्थ के कर्ता है।

प० नाथूराम जी प्रेमी ने सहिता ग्रन्थ के कर्ता इन्द्रनन्दी को छेदपिण्ड का कर्ता बतलाया है। और मुख्तार सा० ने नीतिसार के कर्ता इन्द्रनन्दी को छेदपिण्ड का कर्ता सूचित किया है। बहुत सभव हे नीतिसार क कर्ता ही छेदपिण्ड के कर्ता निश्चित हो जाय।

नीतिसार के कर्ता का समय विक्रम की तेरहवी शताब्दी माना जाता हे। इन्होने अपने दैवज्ञ और कुन्द-

१. पायछित्त सो ही मलहरण पावाणसणं छदो। पज्जाया……। छन्दशास्त्र

२. देखो, पुरातन वाक्य-सूची की प्रस्तावना पृ० १०६

३ दुरित ग्रह-निग्रहाद्भय यदि भो भूरि-नरेन्द्र-वन्दिनम्।
ननु तेन हि भव्यदेहिना भजत श्री मुनीमिन्दिने ।। —मल्लिषेण प्रशस्ति

कुन्द प्रभु के चरणों की विनय करनेवाला सूचित किया है। इससे यह मूलसंघ के विद्वान ज्ञात होते हैं। मेरी राय में यह छेदपिण्ड के कर्ता हो सकते हैं।

विमलकीर्ति

प्रस्तुत विमलकीर्ति वागडसंघ के रामकीर्ति के शिष्य थे[1]। यह रामकीर्ति वही है जो जयकीर्ति के शिष्य थे। और जिनकी लिखी हुई प्रशस्ति चित्तौड़ में संवत् १२०७ में उत्कीर्ण की हुई उपलब्ध है।

विमलकीर्ति की दो रचनाएँ हैं। सोखवइ विहाण कहा' और सुगन्धदसमो कहा। दोनों कथाओं में व्रत का महत्त्व और उसके विधान का कथन किया गया है। जगत्सुन्दरी प्रयोगमाला के कर्ता यशःकीर्ति भी विमलकीर्ति के शिष्य थे। इनका समय विक्रम की १३ वीं शताब्दी है।

मेघचन्द्र

यह मूलसंघ, देशीगण, कुन्दकुन्दान्वय, पुस्तक गच्छ और इंगलेश्वर वलि के विद्वान थे। इनके गुरु का नाम भानुकीर्ति था और प्रगुरु का बाहुबलि था। यह चन्द्रनाथ पार्श्वनाथ वसदि का पुरोहित था। अनन्तपुर जिले के ताड़पत्रीय शिलालेख मे प्रकट है कि उस स्थान पर एक जैन मन्दिर और जैन गुरुओं की प्रभावशाली परम्परा थी। उन्हें उस प्रदेश के सामान्तों से संरक्षण प्राप्त था। यह शिलालेख सन् ११९८ ई० का है, जिसमें उदयादित्य सामन्त के द्वारा मेघचन्द्र को भूमिदान देने का उल्लेख है। (Jainism in South India P. 22)

इससे प्रस्तुत मेघचन्द्र विक्रम की १३वीं शताब्दी के विद्वान है। इनकी कोई रचना उपलब्ध नहीं है।

कुमुदेन्दु

मूलसंघ-नन्दिसंघ बलात्कार गण के विद्वान थे। इन कुमुदेन्दु योगी के शिष्य माघनन्दि सैद्धान्तिक थे। परवादिगिरिवज्र और सरस कवितिलक इनके उपनाम थे। इनकी एक मात्र कृति **'कुमुदेन्द-रामायण'** नाम का ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि—यह पद्मनन्दि व्रती का पुत्र था, और इसकी माता का नाम कामाम्बिका था। पद्मनन्दि व्रती साहित्य कुमुदवन चन्द्रचतुर चतुर्विधि पाण्डित्य कला शतदलविकसन दिनमणिवादि धराधर कुलिश-कवि मुखमणिमुकुर, उपाधियाँ थी। इनके पितृव्य (काका) श्री अर्हनन्दि व्रति बतलाये गये है। उन्हें परमागम नाटक तर्क व्याकरण निघण्टु छन्दोलङ्कृति चरित पुराण षडङ्गस्तुति नीति स्मृतिवेदान्त भरत सुरत मन्त्रौषधि सहित नर तुरग गजमणिगण परीक्षा परिणत विशेषणों के साथ उल्लेखित किया गया है। इनका समय सन् १२६० के लगभग है। (कर्नाटक जैन कवि)

गुणभद्र

यह मूलसंघ देशीगण और पुस्तकगच्छ कुन्दकुन्दान्वय के गगन दिवाकर थे। इनके शिष्य नयकीर्ति सिद्धान्त देव थे, और प्रशिष्य भानु कीर्ति व्रतीन्द्र को, जिन्हें शक स० १०९५ के विजय संवत में होय्यसल वंश के बल्लाल नरेश ने पार्श्वनाथ और चौबीस तीर्थंकरो की पूजन हेतु 'मास हल्लि' नाम का गांव दान में दिया था। अतएव इनका समय विक्रम सवत् १२३० है। और इनके प्रगुरु गुणभद्र का समय इनसे कम से कम २५ वर्ष पूर्व माना जाय तो उनका समय विक्रम की १२वी शताब्दी का अन्तिम चरण और १३वीं का प्रारम्भिक भाग माना जा सकता है। (जैन लेख सं० भा० १ पृ० ३८५)

प्रभाचन्द्र

प्रस्तुत प्रभाचन्द्र श्रवणवेलगोल के शक संवत् १११८ के उत्कीर्ण हुए शिलालेख नं० १३० में, और शक सं०

१. रामकित्ति गुरुविणउ करेविणु विमलकित्ति महियलि पडे विणु। —सुगन्ध दसमी कहा प्र०

११२८ के १२८ वें शिलालेख में नयकीर्ति सिद्धान्तदेव के शिष्यो में प्रभाचन्द्र का नामोल्लेख है। इससे वे नयकीर्ति के शिष्य थे। नयकीर्ति का स्वर्गवास शक संवत् १०९९ (सन् ११७७—वि० सं० १२३४) में हुआ था। ऐसा शिला लेख नं० ४२ से ज्ञात होता है। अतः यह प्रभाचन्द्र विक्रम की १३वी शताब्दी के विद्वान हैं।

अण्डय्य

इनके पितामह का नाम भी अण्डय्य था। जिनके तीन पुत्र थे। शान्त, गुम्मट और वैजण। ज्येष्ठ पुत्र शान्त की पत्नी बल्लब्बे के गर्भ से प्रस्तुत अण्डय्य का जन्म हुआ था। इनका निवास स्थान कन्नड था। इसका रचा हुआ 'कब्बिगर' नाम का एक काव्य ग्रन्थ है, जो शुद्ध कन्नड़ी भाषा का ग्रन्थ है। इसमें संस्कृत का मिश्रण नही है। इसने जन्न कवि की स्तुति की है। अतएव इसका समय १२४० ई० के लग-भग माना जा सकता है। यह ईसा की १३वी शताब्दी का कवि था।

शिशु मायण

यह होयसल देश के अन्तर्गत नयनापुर नाम का एक ग्राम है। उसके समीप कावेरी नदी की नहर बहती है और वहां देवराज के इष्टानुसार राजराज ने भगवान नेमिनाथ का विशाल मन्दिर बनवाया है। इस ही ग्राम में उक्त कवि के पितामह मायण सेट्टी रहते थे। वे बड़े भारी धनिक और व्यापारी थे। उनकी स्त्री तामरसि के गर्भ से बोम्मसेट्टि नाम का पुत्र हुआ। बोम्मसेट्टि की स्त्री नेमांबिका के गर्भ से कवि शिशुमायण का जन्म हुआ था। काणूर गण के भानुमुनि इसके गुरु थ। कवि ने दो ग्रंथों की रचना की है। त्रिपुर दहनसागत्य, और अंजनाचरित। इनमें अजना चरित की रचना कवि ने बेलुकेरे पुर के राजा गुम्मट देव की रुचि और प्रेरणा से की थी। इनका समय ईसा की १३वी शताब्दी है।

पार्श्व पंडित

यह पंडित सोदत्तिके रट्टराज वंशी कार्तिवीर्य (१२०२-१२२०) का सभा कवि था। इसने अपने एक पद्य में कहा है कि-- कार्तवीर्य का पुत्र लक्ष्मणोवीर्य था। यह लक्ष्मणोवीर्य १२२९ में राज्य करता था। बाम्बे की रायल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में जो एक शिलालेख प्रकाशित हुआ है, उसे पार्श्व कवि ने शक सम्वत् ११२७ सन् १२०५ में लिखा था, उसमें लिखा है कि—'कोण्डी मण्डल के वेणुग्राम में रट्टवंशीय राजाकार्तवीर्य,—जो मल्लिकार्जुन के सहोदर भाई थे राज्य करते थे। और उन्होंने अपने मण्डल के आचार्य शुभचन्द्र भट्टारक के लिये उक्त ग्राम कर रहित कर दिया था। यह शिलालेख पार्श्वकवि का ही लिखा हुआ है। इसमें इसलिए भी सन्देह नही रहता कि कवि, ने अपने 'पार्श्वपुराण' में जिस कविकुल तिलक विरुद को अपने नाम के साथ जोड़ा है, वही उक्त शिलालेख के भी अन्तिम पद्य में लिखा है। इससे इस का समय १२०५ के लगभग निश्चित होता है। सुकविजन मनोहर्प शस्यप्रवर्ष, बुधजन मनः पद्मिनी पद्ममित्र, कविकुल तिलक आदि इसके प्रशसा सूचक उपनाम थे। इसकी एकमात्र कृति पार्श्व पुराण ग्रन्थ उपलब्ध है, जो गद्य-पद्य-मय चम्पू ग्रन्थ है। इसमें सोलह आश्वास है। ग्रथ के प्रारम्भ में जिनकी स्तुति करके कवि ने सिद्धान्तसेन से लेकर वीरनन्दी पर्यन्त गुरुओं की, और पप पोन्न, रन्न, धनंजय, भूपालदेव, अच्चण्ण अग्गल, नागचन्द्र, बोप्पण आदि पूर्व कवियों की स्तुति की है। कवि ने स्वय अपने इस ग्रन्थ की चार पद्यों में प्रशसा की है। अकलक भट्ट ने अपने शब्दानुशासन (१६०४) में इस ग्रथ के बहुत से पद्य उदाहरण स्वरूप उद्धृत किये हैं कवि का समय सन् १२०५ (वि० स० १२६२) है।

कवि जन्न

जन्न—का जन्म कम्मे नामक वंश में हुआ था। इनके पिता का नाम शंकर और माता का नाम गंगादेवी था शंकर हयशालवंशीय राजा नरसिह के यहाँ कटकोपाध्याय (युद्ध विद्या का शिक्षक या सेनापति) था। गंगादेवी

के गुरु रामचन्द्रदेव नाम के मुनि थे, जो माधवचन्द्र के शिष्य थे। रामचन्द्रदेव जगदेक मल्ल के दरबार के कटकोपाध्याय थे यह जन्न के गुरु नागवर्म के भी गुरु थे। जन्न कवि सूक्तिमुधार्णव ग्रन्थ के कर्ता मल्लिकार्जुन का साला और शब्दमणिदर्पण के कर्ता केशिराज का मामा था। यह चोलकुल नरसिंहदेव राजा के यहाँ सभी कवि, सेनानायक और मन्त्री भी रहा है। यह बड़ा भारी धर्मात्मा था। इसने किल्लेकाल दुर्ग में अनन्तनाथ का मन्दिर और द्वार समुद्र के विजयी पार्श्वनाथ के मंदिर का महाद्वार बनवाया था। इसकी यशोधरा चरित्र, अनन्तनाथ पुराण और शिवाय स्मरतन्त्र नाम की तीन रचनाएं मिलती हैं। इसका समय सन् १२०६ ई० कर्नाटक कवि रचित में दिया हुआ है।

श्री कीर्ति

यह मुनि— कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा के नन्दि सघ के विद्वान थे। जो चित्रकूट से नेमिनाथ तीर्थकर की यात्राके लिये गिरनार जाते हुए गुजरात की राजधानी अणहिलपुर म आये। वहा उन्हे राजा ने मण्डलाचार्य का विरुद (पद) प्रदान किया और उनका सत्कार किया। इनका समय विक्रम की १३वी शताब्दी है।

(देखो वेरावल का शिलालेख' जैन लेख स० भा० ४ पृ० २२०)

महाबल कवि

महाबल कवि—भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण था। इसके पिता का नाम रायिदेव और माता का नाम राजियक्का था। गुरुका नाम माधवचन्द्र था जो त्रैविद्य की उपाधि से उपलक्षित थे। क्योंकि नेमिनाथ पुराण के अश्वास के अन्त में--'**माधवचन्द्र त्रैविद्य चक्रवर्ती श्रीपादपद्मप्रसादसादित सकलकलाकलाप**" इत्यादि वाक्य लिख कर अपना नाम लिखा है। सहजकविमलगेह (१) माणिक्यदीप, और विश्वविद्याविरंचि, कवि इन तीन नामों से प्रसिद्ध था। इसकी एकमात्र कृति नेमिनाथ पुराण उपलब्ध है। जिसमें २२ आश्वास है। उसमें प्रधानता से हरिवंश और कुरुवश का वर्णन है। यह कनड़ी भाषा का चम्पू ग्रन्थ है। इसके प्रारम्भ में नेमिनाथ तीर्थकर, सिद्ध, सरस्वती आदि की स्तुति करके भूतबलि से लेकर पुष्पसेन पर्यन्त आचार्यो का स्तवन किया गया है। इसके पश्चात् अपने आश्रयदाता के नायक और अपना परिचय देकर कविने ग्रन्थ प्रारम्भ किया है। केतनायक परमवीर और स्वय कवि था। उसी के अनुरोध से इस ग्रन्थ की रचना हुई है। ग्रथ की रचना सुन्दर और प्रौढ है। कवि ने इसे शक सवत् ११७६ (ई० सन् १२५४) में समाप्त किया है।

लघु समन्तभद्र

लघु समन्तभद्र—इनकी गुरु परम्परा और गण-गच्छादि का कोई परिचय नही मिलता। इन्होंने आचार्य विद्यानन्दकी अष्टसहस्री पर 'विषम पदतात्पर्यवृत्ति' नामक टिप्पण लिखा है, जो अष्टसहस्री के विषम पदों का अर्थ व्यक्त करता है। इनका समय विक्रम की १३वी शताब्दी बतलाया जाता है। इनके टिप्पण की प्राचीन प्रति पाटन के ज्ञान भण्डार में उपलब्ध है।

देवं स्वामिनममलं विद्यानदं प्रणम्य निजभक्त्या।
विवृणोम्यष्टसहस्री विषमपदं लघुसमन्तभद्रोऽहम् ।।

अन्तिम—

शिष्ट कृत दुर्दृष्टि सहस्री दृष्टी कृत परदृष्टि सहस्री।
स्पष्टी कुरुतादिष्टसहस्री मरमाविष्टपमष्टसहस्री ?

सं० १५७१ वर्षे—पूर्ण ग्रन्थ मुख्तारसा० के नोट से

कुलचन्द्र उपाध्याय—सं० १२२७ वैशाख वदि ७ शुक्रवार के दिन वर्द्धमानपुर के शांतिनाथ चैत्य में सा० भलन सा० गोयल ठा० ब्रह्मदेव ठा० कणदेवादि ने कुटुम्ब सहित अम्बिकादेवी की मूर्ति बनवाई और उसकी प्रतिष्ठा कुलचन्द्र उपाध्याय ने की। इससे कुलचन्द्र का समय विक्रम की १३वी शताब्दी है।

सकलचन्द भट्टारक

मूलसंघ काणूरगण तिन्त्रिणी गच्छ के विद्वान थे। महादेव दण्डनायक के गुरु थे। मुनिचन्द्र के शिष्य कुलभूषणव्रति त्रैविद्य विद्याधर के शिष्य थे। शक वर्ष १११६ (वि० स १२५४) में महादेव दण्डनायक ने 'एरग' जिनालय बनवा कर उसमें शान्तिनाथ भगवान की प्रतिष्ठाकर सकलचन्द्र भट्टारक के पाद प्रक्षालन पूर्वक हिडगण तालाब के नीचे दण्ड से नापकर ३ मत्तल चावल की भूमि, दो कोल्लू और एक दूकान का दान किया। अतः इनका समय वि० की १३वी शताब्दी है। --जैनलेख सं० भा० ३ पृ० २४६

सकलकीर्ति

यह माथुर संघ के आचार्य थे। संवत् १२३२ मे फाल्गुण सुदी १० मी को इनके भक्त श्रेष्ठी मनोरथ के पुत्र कुलचन्द्र ने मूर्ति की प्रतिष्ठा की।

(संवत् १२३२ फाल्गुन सुदि १० माथुरसंघे पडिताचार्य श्री सकलकीर्ति भक्त श्रेष्ठ मनोरथ सुत कुलचन्द्र लक्ष्मी पति श्रेयमेकारितेय।)

इसी सवत् में एक दूसरी मूर्ति की भी प्रतिष्ठा उनके भक्त साहु हेल्याक के प्रथम पुत्र वील्हण ने कल्याणार्थ की थी।

(सं० १२३२ फाल्गुन सुदि १० माथुरसंघे पडिताचार्य श्री सकलकीर्ति भक्तिन साहु हेल्याकेन प्रथम पुत्र वील्हण सुतेन श्रेयसे करणये। (कारितेयं) — देख, मारोठ का इतिहास

नल्विगुंद मादिराज

इसका जन्म साकल्य कुल में हुआ था। इसके पिता का नाम चाम और माता का नाम महादेवी था। नल्विगुद ग्राम में इसका जन्म हुआ था। गुण वर्म्म का पुष्पदन्त पुराण ई० सन् १२२६ के लगभग बना है। उसकी एक प्रति के अन्त में दो पद्य दिये है। पद्यों की रचना देखने से ज्ञात होता है कि यह एक अच्छा कवि था। पुष्पदन्त पुराण की प्रतिलिपि करने के कारण यह उससे कुछ समय बाद सन्१३०० के लगभग हुआ होगा। इसकी अन्य कोई रचना प्राप्त नहीं हुई।

शुभचन्द योगी

इनके संघ गण गच्छादि 'का कोई परिचय' उपलब्ध नही है। संभवतः यह मूलसंघ के विद्वान थे, तपश्चरण द्वारा आत्म-शोधन में तत्पर थे। रागादिरिपुमल्लाण— रागादि शत्रुओं को—जीतने के लिये मल्ल थे कषाय और इन्द्रिय जय द्वारा योग की साधना में उन्होंने चार चांद लगा दिये थे। उस समय वे अत्यन्त प्रसिद्ध थे।

जाहिणी आर्यिका ने, तपस्या द्वारा शरीर की क्षीणता के साथ कषायों को कृशकिया था। उसने अपने ज्ञानावरणी कर्मके क्षयार्थ शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव की प्रति लिखवा कर संवत् १२८४ में उन प्रसिद्ध शुभचन्द्र योगी को प्रदान की थी। इससे इन शुभचन्द्र का समय विक्रम की १३ वीं शताब्दी है।

—देखो ज्ञानार्णव की पाटन प्रति की लिपि प्रशस्ति।

मल्लिषेण पंडित——

यह द्रविल संघ स्थित नन्दिसंघ अरुन्गलान्वय के विद्वान श्रीपालत्रैविद्य देव के प्रशिष्य और वासुपूज्य देव के शिष्य मल्ल पंडित को शक वर्ष १०८० (वि० सं० १२३५) में पारिसण्ण की मृत्यु के बाद उसके पुत्र शान्तियण दण्डनायक ने एक वसदि बनवाई और उसके लिये भूमिदान और दीपक के लिये तेल की चक्की दान में दी। तथा मल्ल गौण्ड और समस्त प्रजा ने गांव के घाट की आमदनी, तथा धान से चावल निकालते समय अनाज का हिस्सा भी उक्त मल्लिषेण पण्डित को दिया। मल्लिषेण पंडित का समय विक्रम की १३वीं शताब्दी है।

बालचन्द मलधारि

मूल सघ, देशीय गण कोण्ड कुन्दान्वय पुस्तकगच्छ इंगलेश्वर वलिक त्रिभुवनकीर्ति रावल के प्रधान शिष्य थे। इनके प्रिय गृहस्थशिष्य संङ्कयके पुत्र बोम्मिसेट्टि तथा मेलव्वे से उत्पन्न मल्लि सेट्टि ने तैनगेर वसदि के प्रसन्न पार्श्वदेव के लिये तम्मडियहल्लि में सुपारी के २००० पेड़ों के दो हिस्से वशानु वंशतक जाने के लिये अलग निकाल दिये। और दोपनायक पोन्नव्वेसे उत्पन्न चेल्ल पिल्ले को अर्पित कर दिये। चेल्लपिल्लेनेजो सवनगिरि और बालेन्दु-मल धारि देव का शिष्य था। अमरापुर के इस लेखका समय शक १२०० (सन् १२७८ ई० है। अतएव बालचन्द्र मल-धारि का समय ईसा की १३वी शताब्दी है।

वादिराज (द्वितीय)

यह वादिराज की शिष्य परम्परा के विद्वान थे। ४९५ नं० के शिलालेख में, जो शकस० ११२२ (वि० स० १२५७ के लगभग का उत्कीर्ण किया हुआ है, लिखा है कि षट् दर्शन के अध्येता श्रीपालदेवके स्वर्गवास हो जाने पर उनके शिष्य वादिराज (द्वितीय) ने 'परवादिमल्ल-जिनालय' नाम का मन्दिर बनवाया था। और उसकी पूजन तथा मुनियों के आहार दान के लिये कुछ भूमि का दान दिया। प्रस्तुत वादिराज गंग नरेश राचमल्ल चतुर्थ या सत्य वाक्य के गुरु थे। इनका समय विक्रम का १३वी शताब्दी है। (जैनलेख स० भा० १ पृ० ४०८)

त्रिविक्रमदेव (प्राकृत शब्दानुशासन के कर्ता)

यह अर्हन्नन्दि त्रैविद्य मुनि के शिष्य थे। त्रिविक्रम का कुल वाणस था। आदित्यवर्माके पौत्र और मल्लि-नाथ के पुत्र थे। इनके भाई का नाम भाम (देव) था जो वृत्त और विद्या का धाम (स्थान) था[१]। यह दक्षिण देश के निवासी थे। इनकी एक मात्र कृति 'प्राकृत शब्दानुशासन' है। जो तीन अध्यायों में विभक्त है और स्वोपज्ञ वृत्ति से युक्त है। प्रत्येक अध्याय के चार-चार पाद हैं। इसमें हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में दिये हुए अपभ्रंश पद्यों को उद्धृत किया है, और उनके पद्यों को उद्धृत कर उनका खण्डन भी किया है। इससे यह निश्चित है कि प्रस्तुत व्याकरण का रचना काल हेमचन्द्र के बाद, विक्रम की १३वी शदी है, डा० ए० एन० उपाध्ये ने इनका समय १२३६ ई० बत-लाया है। व्याकरण बहुत अच्छा है, इसका अध्ययन करने से प्राकृत भाषा का अच्छा परिज्ञान हो जाता है। डा० पी० एल० वैद्य ने इसका सम्पादन किया है, और यह ग्रथ जीवराज ग्रंथमाला शोलापुर से सन् १९५४ में प्रकाशित हो चुका है।

भट्टारक प्रभाचन्द

यह मूलसंघ के भट्टारक रत्नकीर्ति के पट्टधर थे। रत्नकीर्ति और प्रभाचन्द्र नाम के अनेक विद्वान आचार्य और भट्टारक हो गए है। उनमें यह भट्टारक प्रभाचन्द्र उन रत्नकीर्ति के पट्धर थे जो भ० धर्मचन्द्र के प्रपट्ट पर अजमेर में प्रतिष्ठित हुए थे, जिन का समय पट्टावली में स० १२९६ से १३१० बतलाया गया है।

पट्टे श्री रत्नकीर्तेरनुपमतपसः पूज्यपादीयशास्त्र-
व्याख्या विख्यातकीर्ति गुणगणनिधिपः सत्क्रियाचारुचंचुः।

१. अनभर्तु रर्हन्नन्दि त्रैविद्यमुनेः पदाम्बुज भ्रमरः।
श्रीवाणसकुल कमलद्युमणेरादित्यवर्मणः पौत्रः ॥२
श्रीमल्लिनाथ पुत्रो लक्ष्मीगर्भामृताम्बुधिसुधांशुः।
भामस्य वृत्त विद्याधाम्नो भ्राता त्रिविक्रमः सुकविः ॥३

श्रीमानानन्दधामा प्रतिबुधनुतमामानसंदायिवादो ।
जीयादाचन्द्रतारं नरपतिविदितः श्रीप्रभाचन्द्रदेवः[1] ॥

पट्टावली के इस पद्य से प्रकट है कि भट्टारक प्रभाचन्द्र रत्नकीर्ति भट्टारक के पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए थे। रत्नकीर्ति अजमेर पट्ट के भट्टारक थे। दूसरी पट्टावली में दिल्ली पट्ट पर भ० प्रभाचन्द्र के प्रतिष्ठित होने का समय सं० १३१० बतलाया है। और पट्टकाल स० १३१० से १३८५ तक दिया है, जो ७५ वर्ष के लगभग बैठता है। दूसरी पट्टावली में स० १३१० पौष सुदी १५ प्रभाचन्द्र जी गृहस्थ वर्ष १२ दीक्षा वर्ष १२ पट्ट वर्ष ७४ मास ११ दिवस १५ अन्तर दिवस ८ सर्व वर्ष ९८ मास ११ दिवस २३। (भट्टारक सम्प्रदाय पृ० ९१)।

भट्टारक प्रभाचन्द्र जब भ० रत्नकीर्ति के पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए उस समय दिल्ली में किसका राज्य था, इसका उक्त पट्टावलियों में कोई उल्लेख नहीं है। किन्तु भ० प्रभाचन्द्र के शिष्य धनपाल के तथा दूसरे शिष्य ब्रह्म नाथूराम के स० १४५४ और १४१६ के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्र ने मुहम्मद बिन तुगलक के मन को अनुरंजित किया था और वादी जनों को वाद में परास्त किया था - जैसा कि उनके निम्न वाक्यों से प्रकट है :

तहिं भव्वहिं सुमहोच्छव विहियउ, सिरिरयणकित्ति पट्टेणिहियउ।
महमंद साहिमणुरंजियउ, विज्जहिंवाइयमणुभजियउ ॥

—बाहुबलि चरिउ प्रशस्ति

उस समय दिल्ली के भव्यजनों ने एक उत्सव किया था और भ० रत्नकीर्ति के पट्ट पर प्रभाचन्द्र को प्रतिष्ठित किया था। मुहम्मद बिन तुगलक ने सन १३२५ (वि० स० १३८२) से सन १३५१ (वि० सं० १४०८) तक राज्य किया है। यह बादशाह बहुभाषा-विज्ञ, न्यायी, विद्वानों का समादर करने वाला और अत्यन्त कठोर शासक था। अतः प्रभाचन्द्र इसके राज्य में स० १३८५ के लगभग पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए हों। इस कथन से पट्टावलियों का वह समय कुछ आनुमानिक सा जान पड़ता है। वह इतिहास की कसौटी पर ठीक नहीं बैठता। अन्य किसी प्रमाण से भी उसकी पुष्टि नहीं होती।

प्रभाचन्द्र अपने अनेक शिष्यों के साथ पट्टण, खंभात, धारानगर और देवगिरि होते हुए जोइणिपुर (दिल्ली) पधारे थे। जैसा कि उनके शिष्य धनपाल के निम्न उल्लेख से स्पष्ट है :—

पट्टणे खंभायच्चे धारणयरि देवगिरि।
मिच्छामयविहुणंतु गणिपत्तउ जोयणपुरि ॥ बाहुबलि चरिउ प्र०

आराधना पंजिका के स० १४१६ के उल्लेख से स्पष्ट है कि वे भ० रत्नकीर्ति के पट्ट को सजीव बना रहे थे[2]। इतना ही नहीं, किन्तु जहां वे अच्छे विद्वान, टीकाकार, व्याख्याता और मंत्र-तंत्र-वादी थे, वहां वे प्रभावक व्यक्तित्व के धारक भी थे। उनके अनेक शिष्य थे। उन्होंने फीरोजशाह तुगलक के अनुरोध पर रक्ताम्बर वस्त्र धारण कर अन्तःपुर में दर्शन दिये थे। उस समय दिल्ली के लोगों ने यह प्रतिज्ञा की थी कि हम आपको सवस्त्र जती मानेंगे। इस घटना का उल्लेख बखतावर शाह ने अपने बुद्धिविलास के निम्न पद्य में किया है :—

दिल्ली के पातिसाहि भये पेरोजसाहि जब, चांदौ साह प्रधान भट्टारक प्रभाचन्द्र तब,
आये दिल्ली मांझि वाद जीते विद्यावर, साहि रीझि कै कही करै दरसन अंतहपुर,

---

१. जैन सि० भा, भा०१ किरण ४।

२. सं० १४१६ चैत्र सुदि पचम्या सोमवासरे सकलराजशिरोमुकुटमाणिक्यमरीचि पिंजरीकृत चरणकमलपादपीठस्य श्रीपेरोजसाहेः सकल साम्राज्यधुरीविभ्राणस्य समये श्री दिल्यां श्रीकुंदकुंदाचार्यान्वये सरस्वती गच्छे बलात्कारगणे भ० श्रीरत्नकीर्तिदेवपट्टोदयाद्रि तरुणतरणित्वमुर्वीकुर्वाण भट्टारक श्री प्रभाचन्द्रदेव तत्शिष्याणां ब्रह्म नाथूराम इत्याराधना पंजिकायां ग्रन्थ आत्म पठनार्थ लिखापितम्। जैन साहित्य और इतिहास पृ० ८१

दूसरी प्रशस्ति सं० १४१६ भादवा सुदी १३ गुरुवार के दिन की लिखी हुई द्रव्यसंग्रह की है जो जयपुर के ठोलियों के मन्दिर के शास्त्र भण्डार में सुरक्षित है। ग्रंथ सूची भा० २, पृ० १८०।

तिह समै लंगोट लिवाय पुनि चांद विनती उच्चरी।
मानि हैं जती जुत वस्त्र हम सब श्रावक सौगंद करी।।६१६

यह घटना फीरोजशाह के राज्यकाल की है, फीरोजशाह का राज्य सं० १४०८ से १४४५ तक रहा है। इस घटना को विद्वज्जन बोधक में सं० १३०५ की बतलाई है जो एक स्थूल भूल का परिणाम जान पड़ता है क्योंकि उस समय तो फीरोजशाह तुगलक का राज्य ही नहीं था फिर उसकी सगति कैसे बैठ सकती है। कहा जाता है कि भ० प्रभाचन्द्र ने वस्त्र धारण करके बाद में प्रायश्चित लेकर उनका परित्याग कर दिया था, किन्तु फिर भी वस्त्र धारण करने की परम्परा चालू हो गई।

इसी तरह अनेक घटना क्रमों में समयादि की गड़बड़ी तथा उन्हें बढ़ा-चढ़ा कर लिखने का रिवाज भी हो गया था।

दिल्ली में अलाउद्दीन खिलजी के समय राघो चेतन के समय घटने वाली घटना को ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किये बिना ही उसे फीरोजशाह तुगलक के समय की घटित बतला दिया गया है। (देखो बुद्धिविलास पृ०७६ और महावीर जयन्ती स्मारिका अप्रैल १९६२ का अंक पृ० १२८)।

राघव चेतन ऐतिहासिक व्यक्ति हैं और अलाउद्दीन खिलजी के समय हुए हैं। यह व्यास जाति के विद्वान मंत्र, तंत्रवादी और नास्तिक थे। धर्म पर इनकी कोई आस्था नहीं थी, इनका विवाद मुनि माहवसेन से हुआ था, उसमें यह पराजित हुए थे।

ऐसी ही घटना जिनप्रभसूरि नामक श्वे० विद्वान के सम्बन्ध में कही जाती है—एक बार सम्राट मुहम्मद-शाह तुगलक की सेवा में काशी से चतुर्दशविद्या निपुण मंत्र तंत्रज्ञ राघवचेतन नामक विद्वान आया। उसने अपनी चातुरी से सम्राट् को रंजित कर लिया। सम्राट् पर जैनाचार्य श्री जिनप्रभसूरि का प्रभाव उसे बहुत अखरता था। अतः उन्हें दोषी ठहरा कर उनका प्रभाव कम करने के लिए सम्राट् की मुद्रिका का अपहरण कर सूरिजी के रजोहरण में प्रच्छन्न रूप से डाल दी। (देखो जिनप्रभसूरि चरित पृ० १२)। जब कि वह घटना अलाउद्दीन खिलजी के समय की होनी चाहिए। इसी तरह कुछ मिलती-जुलती घटना भ० प्रभाचन्द्र के साथ भी जोड़ दी गई है। विद्वानों को इन घटनाचक्रों पर खूब सावधानी से विचार कर अन्तिम निर्णय करना चाहिए।

टीका-ग्रन्थ

पट्टावली के उक्त पद्य पर से जिसमें यह लिखा गया है कि पूज्यपाद के शास्त्रों की व्याख्या से उन्हें लोक में अच्छा यश और ख्याति मिली थी। किन्तु पूज्यपाद के समाधि तंत्र पर तो पं० प्रभाचन्द्र की टीका उपलब्ध है। टीका केवल शब्दार्थ मात्र को व्यक्त करती है उसमें कोई ऐसी खास विवेचना नहीं मिलती जिसमे उनकी प्रसिद्धि को बल मिल सके। हो सकता है कि वह टीका इन्हीं प्रभाचन्द्र की हो, आत्मानुशासन की टीका भी इन्हीं प्रभाचन्द्र की कृति जान पड़ती है, उसमें भी कोई विशेष व्याख्या उपलब्ध नहीं होती।

रही रत्नकरण्ड श्रावकाचार की टीका की बात, सो उस टीका का उल्लेख पं० आशाधरजी ने अनगार धर्मामृत की टीका में किया है।

"यथाहुस्तत्र:-भगवन्तः श्रीमत्प्रभेन्दुपादारत्नकरण्डटीकायां चतुरावर्तत्रितय इत्यादि सूत्र द्विनिषद्यइत्यस्य-व्याख्यानेदेववन्दनां कुर्वताहि प्रारम्भे समाप्तौचोपविश्य प्रणामः कर्तव्य इति।"

इन टीकाओं पर विचार करने से यह बात तो सहज ही ज्ञात होती है कि इन टीकाओं का आदि-अन्त मंगल और टीका की प्रारंभिकसरणी में बहुत कुछ समानता दृष्टिगोचर होती है। इससे इन टीकाओं का कर्त्ता कोई एक ही प्रभाचन्द्र होना चाहिये। हो सकता है कि टीकाकार की पहली कृति रत्नकरण्डकटीका ही हो। और शेष, टीकाएं बाद में बनी हों। पर इन टीकाओं का कर्त्ता प्रभाचन्द्र पं० प्रभाचन्द्र ही है, प्रमेयकमलमार्तण्ड के कर्त्ता प्रभाचन्द्र इनके कर्त्ता नहीं हो सकते। क्योंकि इन टीकाओं में विषय का चयन और भाषा का वैसा सामंजस्य अथवा उसकी वह प्रौढ़ता नहीं दिखाई देती, जो प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र में दिखाई देती है। यह प्रायः मुनि-

श्चित-सा है कि वे धारावासी प्रभाचन्द्राचार्य जो माणिक्यनन्दि के शिष्य थे उक्त टीकाओं के कर्त्ता नहीं हो सकते।

समय-विचार

प्रभाचन्द्र का पट्टावलियों में जो समय दिया गया है, वह अवश्य विचारणीय है। उसमें रत्नकीर्ति के पट्ट पर बैठने का समय सं० १३१० तो चिन्तनीय है ही। सं० १४८१ के देवगढ़वाले शुभचन्द्रवाले शिलालेख में भी रत्नकीर्ति के पट्ट पर बैठने का उल्लेख है, पर उसके सही समय का उल्लेख नहीं है। प्रभाचन्द्र के गुरु रत्नकीर्त्ति का पट्टकाल पट्टावली में १२९६-१३१० बतलाया है। यह भी ठीक नहीं जंचता, सभव है वे १४ वर्ष पट्टकाल में रहे हों। किन्तु वे अजमेर पट्ट पर स्थित हुए और वहीं उनका स्वर्गवास हुआ। ऐसी स्थिति में समय सीमा को कुछ बढ़ा कर विचार करना चाहिए, यदि वह प्रमाणों आदि के आधार से मान्य किया जाय तो उसमें १०-२५ वर्ष की वृद्धि अवश्य होनी चाहिये, जिससे समय की संगति ठीक बेठ सके। आगे पीछे का सभी समय यदि पुष्कल प्रमाणोंकी रोशनी में चर्चित होगा, तो वह प्रायः प्रामाणिक होगा। आशा है विद्वान् लोग भट्टारकीय पट्टावलियां में दिये हुए समय पर विचार करेंगे,।

भट्टारक इन्द्रनन्दी (योगशास्त्र के टीकाकार)

यह काष्ठासंघान्तर्गत माथुरसंघ के विद्वान अमरकीर्ति के शिष्य थे[1]। जिन्हें इन्द्रनन्दिने चतुर्थागमवेदी मुमुक्षुनाथ ईशिन्, अनेक वादिव्रज सेवितचरण और लोक में परिलब्धपूजन जैसे विशेषणों के साथ उल्लेखित किया है।

यथा—लसच्चतुर्थागम वेदिनं परं मुमुक्षुनाथाऽमरकीर्तिमीशिनम्।
अनेकवादिव्रजसेवितक्रमं, विनम्यलोके परिलब्धपूजनम् ॥२॥
जिना (निजा) त्मनो ज्ञानविदे प्रशिष्टां विद्वद्विशिष्टस्य सुयोगिनां च।
योगप्रकाशस्य करोमि टीकां सूरीन्द्रनन्दीहितनन्दिनंवै ॥३

यह अपने समय के अच्छे विद्वान थे। इन इन्द्रनन्दि की एक मात्र कृति श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र कृत योगशास्त्र की टीका है। जिसका नामकर्ता ने योगीरमा, सूचित किया है। जैसा कि 'टीका के योगिरमेन्द्रमुनियः' वाक्य से जाना जाता है। इस टीका की एक प्रति स्व० पं० जुगलकिशोर मुख्तार को करंजाभंडार से माणिक चन्द्र जी चवरे द्वारा प्राप्त हुई थी। और जिसे भट्टारक इन्द्रनन्दि ने जैनागम, शब्दशास्त्र भरत (नाटच) और छन्द शास्त्रादि की विज्ञा चन्द्रमतो नाम की चारु विनया (विनयशील) शिष्य के बोध के लिये बनाई थी। जैसा कि प्रशस्ति के निम्न पद्य वाक्यों से स्पष्ट है—

"श्री जैनागमशब्दशास्त्र-भरत-छन्दोभिमुख्यादिक—
वेत्री चन्द्रमतीति चारुविनया तस्या विबोध्यै शुभा ॥"

टीका सुन्दर और विषय की प्रतिपादक है। इस टीका का विशेष परिचय अनेकान्त वर्ष २० किरण ३ पृ० १०७ में देखना चाहिये। इस टीका का तुलनात्मक अध्ययन करने से योगशास्त्र की मल स्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ेगा। टीका में रचना समय दिया है। जिससे इन्द्रनन्दी का समय वि० सं० १३१५ निश्चित हैं। हेमचन्द्र के ८६ वर्ष बाद टीका बनी है। हेमचन्द्र का स्वर्गवास स० १२२९ में हुआ है। प्रस्तुत टीका ११वें ईश्वर सम्वत्सर ११८० (वि० सं० १३१५) में चैत्र शुक्ल द्वितीया के दिन बनाकर समाप्त की गई है।

खाष्टेशे शरदीतिमासिच शुचौ शुक्लद्वितीया तिथौ,
टीका योगिरमेन्द्रनन्दिमुनियः श्रीयोगसारीकृता।

१. इति योगशास्त्रे ऽस्या पंचमप्रकाशस्य श्रीमदमरकीर्तिभट्टारकाणां शिष्य श्रीभट्टारक इन्द्रनन्दि विरचितायां योगशास्त्र टीकायां द्वितीयोधकारः।" कारंजा भण्डार प्रति, अनेकान्त वर्ष २० किरण ३ पृ० १०७

श्री जैनागम शब्दशास्त्र-भरत छन्दोमिमुख्यादिक—
वेत्री चन्द्रमतीति चारुविनया तस्या विबोध्यै शुभा ।।

श्वेताम्बरीय योगशास्त्र पर दिगम्बरीय विद्वान द्वारा लिखी गई यह टीका अवश्य प्रकाशनीय है। उससे कितनी ही बातों पर नया प्रकाश पड़ेगा[1]।

बालचन्द कवि

यह मूलसंघ देशिय गण इंगलेश्वर शाखा के विद्वान नेमिचन्द्र पण्डितदेव के शिष्य थे। इनकी एक मात्र कृति 'उद्योगसार' है, जो कनड़ीभाषा में रचा गया है। कवि ने ग्रन्थ में अपना नाम व्यक्त नही किया। किन्तु निम्न पद्य में अपने को नेमिचन्द्र का शिष्य सूचित किया है:—

श्रुतनिधि विमलदयाम्बुधिविततयशोधामनेमिचन्द्र मुनीन्द्रः।
श्रुतलक्ष्मी द्वितयक्कं सुतनोनिसि सुतत्वदर्शियेति सुवुदरिदे ।।

श्रवण बेलगोल के शक स० १२०५, सन् १२८३ ई० के लेख में महामण्डलाचार्य श्री मूलसंघीय इंगलेश्वर देशीयगणाग्रगण्य राजगुरु नेमिचन्द पण्डित देव का वर्णन कर उनके शिष्य बालचन्द का उल्लेख किया है[2]। इससे यह ईसा की १३वीं शताब्दी के अन्तिम चरण और वि० की १४वीं शताब्दी के कवि हैं।

देवसेन (भावसंग्रह के कर्ता)

देवसेन नाम के अनेक विद्वान हो गए हैं। उनमें भावसंग्रह के कर्ता वे देवसेन हैं जो विमलसेन के शिष्य थे। दर्शनसार के कर्ता देवसेन इन से भिन्न हैं। उनका समय विक्रम की १०वीं शताब्दी है। किन्तु भावसंग्रह के कर्ता देवसेन सोमदेव और राजशेखर के बाद के विद्वान् हैं। दर्शनसार के कर्ता विमलसेन के शिष्य नहीं थे, इससे भी दोनों की पृथकता स्पष्ट है। भावसंग्रह के कर्ता उनसे पश्चाद्वर्ती विद्वान् हैं।

भावसंग्रह में ७०१ गाथाएं हैं जिनमें चौदह गुणस्थानों का वर्णन किया गया है। प्रथम गुणस्थान के वर्णन में मिथ्यात्व के पांच भेदों का उल्लेख करते हुए ब्रह्मवादियों को विपरीत मिथ्यादृष्टि बतलाया है और लिखा है कि वे जल से शुद्धि मानते हैं, मांससे पितरों की तृप्ति, पशुघात से स्वर्ग और गौ के स्पर्श से धर्म मानते हैं। इसका विवेचन करते हुए स्नानदूषण और मांस दूषण का कथन किया है और उनकी आलोचना की है। प्रस्तुत ग्रन्थ मूलसंघ की आम्नाय का प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उसमें कितना ही कथन उस आम्नाय के विरुद्ध और असम्बद्ध पाया जाता है।

पंचम गुणस्थान का वर्णन लगभग २५० गाथाओं में किया गया है। किन्तु उसमें श्रावक के १२ व्रतों के नाम और अष्टमूलगुणों के नाम तो गिना दिये किन्तु उनके स्वरूपादि का कथन नहीं किया और न सप्त व्यसन और ११ प्रतिमाओं का स्वरूप ही दिया। हां दान पूजादि विषय का कथन विस्तार से दिया है। इस गुणस्थान के वर्णन में गुणव्रत और शिक्षाव्रतों के भेद तो कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार बतलाए हैं किंतु सामायिक के स्थान में त्रिकाल सेवा को स्थान दिया गया है।

भावसंग्रह में त्रिवर्णाचार के समान ही आचमन, सकलीकरण, यज्ञोपवीत और पंचामृत अभिषेक का विधान पाया जाता है। इतना ही नहीं किंतु इन्द्र, अग्नि, काल, नैऋत्य, वरुण, पवन, यक्ष, सोम, दश दिक्पालों की उपासना, भगवान का उबटना करना, शास्त्र तथा युवति वाहन सहित[3] आह्वान करके बलि चरु आदि पूज्य

---

१. टीका के विशेष परिचय के लिये देखें, अनेकान्त वर्ष २० कि० ३ में मुख्तार श्री जुगलकिशोर का लेख पृ० १०७

२. जैन लेख स० भा० १ पृ० १५१-२

३. सोमसेन कृत त्रिवर्णाचार में भी दश दिक्पालो का, आयुध, वाहन, शस्त्र और युवति सहित पूजने का विधान है—ओं इद्राग्नि यम नेऋत्य वरुण पवन कुबेरेशान धरण सोम्यः सर्वेत्यायुध वाहन युवति सहिता आयात आयात इद मर्घ

द्रव्य तथा यज्ञ के भाग को बीजाक्षर नाम युक्त मंत्रों से देने का विधान किया गया है। जैसा कि उसकी निम्न दो गाथाओं में प्रकट है:—

आहाहिऊण देवे सुरवइ-सिहि-कालणेरिउवरुणे।
पवणे जरवे स सूली सपिय स वाहणे स सत्थेय ॥४३९
दाऊण पुज्ज दव्वं वलि चरुयं तहय गण्ण भायंच।
सव्वेसिं मंतेहिं य बीयक्खरणामजुत्तेहिं ॥४४०

पं० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री ने सोमदेव के उपासकाध्ययन और भावसंग्रह का तुलनात्मक अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि भावसंग्रह कार ने सोमदेव के उपासकाध्ययन से बहुत कुछ लिया है। उपासकाध्ययन का रचनाकाल वि० सं० १०१६ है। अतः भावसंग्रह उस के बाद की रचना है।

भावसंग्रह के कर्ता ने कौलधर्म का कथन कर्पूर मंजरी से लिया जान पड़ता है। दोनों कथनों में और शब्दों में समानता दृष्टिगोचर होती है[1]। भावसंग्रह का शिथिलाचार विषयक वर्णन उसकी अर्वाचीनता का द्योतक है।

स्व० पं० मिलापचन्द्र जी कटारिया ने भी भावसंग्रह के सम्बंध में एक विस्तृत लेख 'महावीर जयन्ती' स्मारिका में प्रकट किया था। उसमें भावसंग्रह के कर्ता को दर्शनसार के कर्ता से भिन्न मानते हुए आम्नाय विरुद्ध कथन करने का भी उल्लेख किया है।

गाथा १३वीं में पुरातन साधुओं की कर्म निर्जरा से हीन संहननधारी साधुओं की निर्जरा को महत्वपूर्ण बतलाया है।

वरिस सहस्सेण पुरा जं कम्मं हणइ तेण पुण्णेण।
तं सपइ वरिसेणहु णिज्जरयइ हीण संहणणो ॥१३१

भावसंग्रह कार ने प्राकृत और अपभ्रंश के पद्यों को एक साथ रक्खा है।

पण्डित वामदेव ने भावसंग्रह का संस्कृतिकरण किया है। वामदेव का समय विक्रम की १४वीं शताब्दी है। पण्डित आशाधर जी के सामने भावसंग्रह नहीं था। यदि होता तो वे उसके सम्बंध में अवश्य कुछ लिखते। संभव है देवसेन ने वि० की १३वीं शताब्दी के उपान्त्य समय में इसका संकलन किया हो। ग्रन्थ में कुछ गाथाएं पुरानी भी संग्रहीत है, कुछ ११वीं शताब्दी की भी है। यह मौलिक ग्रंथ नहीं जान पड़ता। कथन क्रम की असम्बद्धता भी इसकी अर्वाचीनता की सूचक है। इस ग्रन्थ के सम्बंध में अन्वेषण होना चाहिए, जिससे ग्रन्थ सम्बद्ध और वस्तु स्वरूप का प्रामाणिक विवेचक हो सके।

श्रुतमुनि

मूलसंघ, देशीयगण, पुस्तक गच्छ की इंगलेश्वर शाखा में हुए हैं। इन के अणुव्रत गुरु बालेन्दु (बालचन्द्र) और मुनिधर्म में दीक्षित करने वाले महाव्रत गुरु अभयचन्द्र सिद्धांती थे। इनमें बालचन्द्र मुनि भी अभयचन्द्र सिद्धांती के शिष्य थे, और इससे वे श्रुतमुनि के ज्येष्ठ गुरुभाई भी हुए। शास्त्र गुरुओं में भी अभयसूरि सिद्धांती थे, जो शब्दागम, परमागम और तर्कागम के पूर्ण जानकार थे। और उन्होंने सभी परवादियों को जीता था। और प्रभाचन्द्र मुनि सारत्रय में—प्रवचनसार, समयसार और पंचास्तिकायसार में निपुण थे। परभाव से रहित हुए शुद्धात्मस्वरूप में लीन थे। और भव्य जनों को प्रतिबोध देने में सदा तत्पर थे। श्रुतमुनि ने प्रशस्ति में इन सभी गुरुओं का जयघोष किया है। और चारुकीर्ति मुनि का भी जयघोष किया है जो श्रवणबेलगोला की भट्टारकीय गद्दी के पट्टधर थे। और जिनका नाम चारुकीर्ति रूढ़ था। उन्हें कवि ने नयनिक्षेपों तथा प्रमाणों के जानकार, सब धर्मों के विजेता,

१. देखो वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० २०३ में कौलधर्म परिचय नाम का लेख

नृपगण से वन्दितचरण, समस्त शास्त्रों के ज्ञाता, और जिनमार्ग पर चलने वाले प्रकट किया है।[1]

रचनाकाल—

श्रुतमुनि की तीन रचनाएँ है—भावत्रिभंगी (भावसंग्रह) आस्रवत्रिभंगी और परमागमसार। इनमें प्रथम की दो रचनाओं में रचना समय नहीं दिया। अन्तिम रचना परगमसार में उसका रचना काल शक संवत् १२६२ (वि० सं० १३९७) वृषसंवत्सर मगशिर सुदी सप्तमी गुरुवार दिया है। जैसा कि उसकी निम्न गाथा से प्रकट है:—

सगकाले हु सहसस्से विसय-तिसट्ठी १२६३ गदे दु विसवरिसे।
मग्गसिरसुद्धसत्तमि गुरुवारे ग्रन्थसंपुण्णो ॥२२४॥

इससे श्रुतमुनि का समय सन् १३४१ (वि० सं० १३९२) है। अर्थात् यह १४वीं शताब्दी के विद्वान् हैं।

रचना-परिचय—

भावत्रिभंगी— इसका नाम भावसंग्रह भी है, जो अनेक ताडपत्रीय प्रतियों में पाया जाता है जैसा कि 'मूलुत्तरभावसरूवं पवक्खामि' वाक्यों से प्रकट है। ग्रन्थ की गाथा संख्या प्रशस्ति सहित १२३ है। इस ग्रन्थ में भावों के तीन भंग करके कथन करने से इसका नाम 'भावत्रिभंगी' रूढ़ हो गया है। इसमें जीवों के औपशमिक आदिक क्षायोपशमिक औदयिक और पारिणामिक ऐसे पांच मूलभावों और इनके क्रमशः २,९,१८,२१ और ३८ ऐसे ५३ उत्तरभावों का कथन किया गया है। जो चौदह गुणस्थानों, १४ मार्गणास्थानों की दृष्टि को लिये हुए है। ग्रन्थ अपने विषय का महत्वपूर्ण है। ग्रन्थ में रचना काल दिया हुआ नहीं है।

आस्रवत्रिभंगी— इस ग्रन्थ की गाथा संख्या ६२ है। इसमें मिथ्यात्व, अविरत, कषाय, योग इन मूल आस्रवों के क्रमशः ५,१२,२५,१५ ऐसे ५७ भेदों का गुणस्थान और मार्गणास्थान की दृष्टि से कथन किया है। इसमें गोम्मटसार की अनेक गाथाओं को मूल का अंग बनाया गया है। अन्तिम गाथा में 'बालेन्दु' बालचन्द्र का जय गान किया है, जो श्रुतमुनि के अणुव्रत गुरु थे। इस ग्रन्थ में भो रचना काल नहीं दिया।

परमागमसार—इसकी गाथा संख्या २३० है, और आठ अधिकारों में विभक्त है। पंचास्तिकाय, षट्द्रव्य

१. अणुवद-गुरु-बालेन्दु महव्वदे अभयचन्द्र सिद्धंति।
सत्थे भयसूरि-पहाचंदा खलु सुयमुणिस्स गुरू ॥११७
सिरि मूलसंघ देसिय (गण) पुत्थय गच्छ कोंडकुन्द मुणिणाहं। (कुंदाणं)
परमण्ण इगलेस बलिम्मि जाद [स्स] मुणि पहाणस्स ॥११८
सिद्धंताऽहय चदस्स य सिस्सो बालचदमुणि पवरो।
सो भविय कुवलयाण आणद करो सया जयऊ ॥११९
सद्दागम परमागम-तक्कागम-निरवसेस वेदी हु।
विजिद-सयलण्णवादी जयउ चिर अभयसूरि सिद्धंति ॥१२०
णय-णिक्खेव-पमाणं जाणित्ता विजिद-सयल-परसमयं।
वर-णिवइ-णिवह-वंदिय-पय-म्मो चारुकित्ति मुणी ॥१२१
णाद-णिखिलत्थ सत्थो सयलपरि देहि पूजिओ विमलो।
जिण-मग्ग-गयण-सूरो जयउ चिरं चारुकित्ति मुणी ॥१२२
वर सारत्तय-णिउणो सुद्धप्परओ विरहिय-परभाओ।
भवियाणं पडिबोहणपरो पहाचंदणाम मुणी ॥१२३
—भावसंग्रह प्रशस्ति

सप्ततत्त्व, नवपदार्थ, बन्ध, और बन्ध के कारण, मोक्ष और मोक्ष के कारणों का[1] क्रमशः वर्णन दिया हुआ है। ग्रन्थ के अन्त में उसका रचना काल शक सं० १२६३ (सन् १३४१ (वि० सं० १३९८) वृषसंवत्सर मगसिर सुदि सप्तमी गुरुवार दिया है। इससे श्रुतमुनि १४वीं शताब्दी के विद्वान् हैं।

रत्नयोगीन्द्र

इन्होंने अपनी गुरु परम्परा का कोई उल्लेख नहीं किया और न समय ही दिया। इनकी एक मात्र कृति 'नागकुमार चरित' है, जो पंचसर्गात्मक है। और पांच सौ श्लोक प्रमाण संख्या को लिये हुए है। जिसमें पंचमी व्रत के उपवास का माहात्म्य वर्णित है।

श्री पंचम्युपवासस्य फलोदाहरणात्मकम्।
एवं नाग कुमारस्य समाप्तिं चरितं ययौ ॥
इति श्री रत्नयोगीन्द्रंणोपसंहृत्य कीर्तितम्।
सहस्त्रार्द्धमिति ग्रन्थये तच्चरितमुच्चकैः ॥

इति श्री नागकुमार चरिते श्री पंचमी महोपवास फलोदाहरणे पंचमः सर्गः।

ग्रन्थ की यह प्रति खंभात के श्वेताम्बरीय शास्त्र भंडार में अवस्थित है[2]। ग्रन्थ की यह प्रति १४वीं शताब्दी की लिखी हुई है अतएव रत्नयोगीन्द्र का समय विक्रम की १३वीं या १४वी शताब्दी अनुमानित किया जा सकता है।

कुलभद्र

कुलभद्र ने अपनी रचना में अपने नामोल्लेख के सिवाय अन्य कोई परिचय देने की कृपा नहीं की। और न अपनी गुरु परम्परा तथा गणगच्छादि का ही उल्लेख किया। इससे इनका परिचय और समय निश्चित करने में बड़ी कठिनाई उपस्थित हो रही है। इस ग्रन्थ की लिपिबद्ध प्रतियां जयपुर और उदयपुर के शास्त्रभंडार में पाई जाती है। इस पर पण्डित दौलतराम जी कासलीवाल ने हिन्दी टिप्पण भी लिखा है। जयपुर के वधीचन्द्र मन्दिर के शास्त्रभंडार में संवत् १५४५ कार्तिक सुदी चतुर्थी की लिखी हुई प्रतिलिपि पाई जाती है। इससे इतना तो सुनिश्चित है कि यह ग्रन्थ सं० १५४५ के बाद की रचना नहीं है, किन्तु उससे पूर्ववर्ती है।

इनकी एकमात्र कृति 'सार समुच्चय' है, जो एक उपदेशिक ग्रन्थ है रचना साधारण होते हुए भी उसमें सरल शब्दों में धर्म के सार को रखने का प्रयत्न किया है। ३३० संस्कृत के अनुष्टुप पद्यों द्वारा आत्मा के स्वहित का उपदेश दिया गया है। उसमें बतलाया है कि जो जीव कषायों से मलिन है, जिनका मन राग से अनुरंजित है, वह चारों गतियों में दुख उठाता है, और जो विषय-कषायों से संतप्त नहीं है किन्तु उन्हें जीतने का यत्न करता है वही सुख का पात्र बनता है। जो परीषहों के जीतने में वीर है, और इन्द्रियों के निग्रह में सुभट है, और कषायों के जीतने में सक्षम है, वही लोक में शूर-वीर कहा जाता है[3]। अथवा जो इन्द्रियों को जीतने में वीर है, कर्म बंधन में कायर है, तत्त्वार्थ में जिसका मन लगा है। और जो शरीर से भी निस्पृह है। वही परीषह रूपी शत्रुओं को जीतने में समर्थ है। और वही कषायों के जीतने में भी धीर है, वही शूर वीर कहा जाता है[4]। रचना को देखते हुए यह अनुमान होता कि प्रस्तुत

---

१. पंचत्थि कायदव्व छक्क तच्चाणि सत्तय पदत्था।
णवबन्धो तक्कारणं मोक्खो तक्कारणं चेदि ॥९
अहियो अट्ठविहो जिणवयण णिरूविदो सवित्थर दो।
वोच्छामि समासेण य सुणुय जणा दत्त चित्ता हु ॥१० (परमागमसार)

२. ग्रन्थ श्वेताम्बरीय Santinatha Sain bhan dar cambay में उपलब्ध है। देखो, खंभात भंडार की सूची भा० २

३. अयं तु कुलभद्रेण भवविच्छत्ति कारणम्। दब्धो बालस्वभावेन ग्रंथः सार समुच्चयः ॥३२५
परीषह जये शूराः शूराश्चेन्द्रियनिग्रहे। कषायविजये शूरास्ते शूरागदिता बुधैः ॥२१०

४. देखो, पद्य नं० २१४, २१५।

कृति १३वी १४वी शताब्दी को हो सकती है।

कुलभद्र का यह ग्रन्थ धर्म और नीति का प्रधान सूक्ति काव्य है।

नास्ति काम समो व्याधिर्नास्ति मोह समोरिपुः।
नास्ति क्रोध समोवह्निर्नास्ति ज्ञान सम सुखम् ॥२७
विषयोरगदष्टस्य कषाय विषमोहित ।
संयमो हि महामन्त्रस्त्राता सर्वत्रदेहिनम् ॥३०
धर्मामृतं सदा पेय दु खातङ्क विनाशनम् ।
यस्मिन्पीते पर सौख्य जीवानां जायते सदा ॥६३

कवि नागराज

यह कौशिक गोत्रीय सेडिम्ब (सेडम) के निवासी थे। जहा अनेक जिन मन्दिर बने हुए थे। इनके पिता का नाम विवेक विट्ठलदेव था, जो जिन शासन दीपक थे और माता का नाम भागीरथी, भाई का नाम तिप्परस था और गुरु अनन्त वीर्य मुनीन्द्र थे। ग्रन्थ की पुष्पिकाओं में उन्होने अपने को मासियालद नागराज कहा है। 'सरस्वती मुख-तिलक, कवि मुख-मुकुर' उभय कविता विलास आदि उनकी उपाधिया थी। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे जिनेन्द्र, पच पर मेष्ठी, सरस्वती आदि के स्तवन के पश्चात् उन्होने वीरसेन, जिनसेन, सिहनन्दि, गद्ध पिच्छ, कोण्डकुन्द, गणभद्र, पूज्यपाद, समन्तभद्र, अकलक कुमारसेन (मतगणाधीश) धरसेन और अनन्तवीर्य आदि पूर्ववर्ती आचार्यो का उल्लेख किया है। उन्होने पम्प, बन्धुवर्म, पोन्न, रन्न, गजाकुश, गुणवर्म और नागचन्द्र आदि पूर्ववर्ती कन्नड कवियो से प्रोत्साहन प्राप्त किया था।

इनकी रचना 'पुण्यास्त्रव चम्पू' जिसमें १२ अध्याय और ५२ कथाएं है। कवि ने नगर के लोगो के हितार्थ अपने गुरु अनन्तवीर्य की आज्ञा से शक सवत् १२५३ सन् १३३१ ई० में संस्कृत से कन्नड में रूपान्तर किया है। कवि ने सूचित किया है कि उनकी इस कृति को आर्यसेन ने सुधार कर चित्ताकर्षक बनाया।

प्रभाचन्द्र

यह मूलसघ देशीयगण पुस्तक गच्छ के विद्वान थे। और श्रुत मुनि के विद्यागुरु थ। जो सारत्रय में निपुण थे। इससे यह समयसार, प्रवचनसार और पचास्तिकाय के ज्ञाता जान पडते है। यह प्रभाचन्द्र विक्रम की १३वी शताब्दी के उत्तरार्ध और १४वी शताब्दी के पूर्वार्ध के विद्वान जान पड़ते है। क्योंकि अभयचन्द्र सैद्धान्तिक के शिष्य बालचन्द्र मुनि ने, जो श्रुतमुनि के अणुव्रत गुरु होने से उनके प्राय समकालीन थे। इन्होंने शक स० ११९५ (वि० स० १३३०) में द्रव्य सग्रह पर टीका लिखी है। दिगम्बर जैन ग्रन्थ कर्ता और उनके ग्रन्थ; नाम की सूची मे उनका समय वि० स० १३१६ का उल्लेख है, जो प्रायः ठीक जान पड़ता है।

मधुर कवि

यह वाजिवश के भारद्वाज गोत्र में उत्पन्न हुआ था। इनके पिता का नाम विष्णु और माता का नाम नागाम्बिका था। बुक्कराय के पुत्र हरिहर (द्वितीय १३७७—१४०४ ई०) का मन्त्री इसका पोषक था। (भूनाथा-स्थान चूड़ामणि मधुर कवीन्द्र) विशेषण से यह ज्ञात होता है कि यह हरिहर राय द्वितीय का आस्थान कवि या सभा कवि था।' इसी राजा के राज्यकाल में रत्न करण्ड कन्नड़ के कर्ता आयतवर्मा और परमागमसार के कर्ता चन्द्र-कीर्ति भी हुए हैं। कविविलास, कविराज कला विलास, कवि माधव मधुरमाधव, सरस कवि रसालवन्त भारती' मानस केलि राजहस आदि इसकी उपाधिया थी। इसकी दो कृतियां प्राप्त है। धर्मनाथ पुराण और गोम्मटाष्टक। यद्यपि धर्मनाथ पुराण पूरा नही मिलता। पर उपलब्ध भाग से भाषा की प्रौढ़ता और कविता हृदयहारिणी और सुन्दर है। कवि का समय ईसा की १४वी शताब्दी है।

पं० हरपाल

पं० हरपाल ने अपना कोई परिचय नहीं दिया। किन्तु अपनी कृति वैद्यशास्त्र में उसका रचना काल विक्रम संवत् १३४१) बतलाया है —विक्कम णरवइ-का ने तेरसया गयाइ एयाल (१३४१) सिय पागट्ठ मि मद विज्ज-यसत्थो य पुण्णो य ।।२५७

इस वैद्यक ग्रन्थ में २५७ गाथाएं हैं, जिनमें रोग और उनकी चिकित्सा का वर्णन है, ग्रन्थ प्राकृत भाषा में लिखा गया है। ग्रन्थ की २५५ वीं गाथा में 'जोयसारेहिं' वाक्य द्वारा अपनी योगसार नामकी रचना का उल्लेख किया है, जो इसके पूर्व रचा गया था। परन्तु वह अभी उपलब्ध नहीं हुआ। कवि का समय विक्रम की १४वीं शताब्दी का दूसरा चरण है।

केशववर्णी

यह अभयचन्द्रसूरि के शिष्य थे। केशव वर्णी ने गोम्मटसार की कनडी वृत्ति (जीवतत्त्व प्रबोधिका) भट्टारक धर्मभूषण के आदेशानुसार शक सं० १२८१ (सन् १३५९ ई०) में बनाकर समाप्त की था। कर्नाटक कवि चरित से ज्ञात होता है कि उन्होंने अमित गति के श्रावकाचार पर भी कनडी में वृत्ति लिखी थी। देवचन्द्र की 'राजावली कथे' से ज्ञात होता है कि केशववर्णी ने सारत्रय—समयसार, प्रवचनसार-पंचास्तिकाय— पर टीका लिखी थी। कवि मंगराज ने केशववर्णी का उल्लेख करते हुए उन्हें 'सारत्रय वेदि' विशेषण दिया है जिससे वे सारत्रय के ज्ञाता थे। इनका समय ईसा की १४वीं शताब्दी है।

कवि विबुध श्रीधर

इन्होंने अपना कोई परिचय प्रस्तुत नहीं किया, जिससे गुरु परम्परा और गण-गच्छादि का परिचय देना शक्य नहीं है। कवि की एक मात्रकृति 'भविष्यदत्त' पंचमी कथा है, जो संस्कृत पद्यों में रची गई है। ग्रन्थ में रचना काल भी नहीं दिया, जिससे यह निश्चित करना कठिन है कि प्रस्तुत श्रीधर कब हुए हैं। हां, ग्रन्थ प्रति पर से इतना जरूर कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थ की रचना विक्रम की १५वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से पूर्व हो चुकी थी, क्योंकि ग्रन्थ की प्रतिलिपि वि० सं० १४८६ की लिखी हुई नया मंदिर धर्मपुरा दिल्ली के शास्त्र भंडार में उपलब्ध है।[1] इस ग्रन्थ की रचना लम्बकंचुक कुल के प्रसिद्ध साहु लक्ष्मण की प्रेरणा से हुई था। जैसा कि ग्रन्थ के निम्न पद्यों से प्रकट है:—

> **श्रीम द्वेदो मयूतायां ? स्थितेन नयशालिना। श्रीलम्बकंचुकाऽनूक-नभो-भूषण-भानुना।९**
> **प्रसिद्ध साधुधामेक दनुजेनदयावता। प्रवरोपासकाचार-विचाराहित-चेतसा।।१०**
> **गुरु देवाऽर्चना-दान-ध्यानाध्ययन-कर्मणा। साधुना लक्ष्मणाख्येन प्रेरितोभक्ति संयुत।।११**
> **तदहं शक्तितो वक्ष्ये चरितं दुरितापहं। श्रीभद्र विष्य दत्तस्य कमलश्री तनुभुव।।१२**

ग्रन्थ में कमल श्री के पुत्र भविष्य दत्त का जीवन-परिचय अंकित किया गया है।

ग्रन्थ का रचनाकाल सं० १४८६ से बाद का नहीं हो सकता उससे पूर्ववर्ती है संभवतः यह चौदहवीं शताब्दी की रचना होना चाहिए।

१ संवत् १४८६ वर्षे आषाढ वदि ७ गुरुदिने गोपाचलदुर्गे राजाडूगरसिंहराज्य प्रवर्तमाने श्रीकाष्ठा संघे माथुरान्वये पुष्करगणे आचार्य सहस्रकीर्ति देवास्तत्पट्टे आचार्य श्री गुणकीर्तिदेवास्तच्छिष्य श्री यशःकीर्तिदेवास्तेन निजज्ञाना-वरणी कर्मक्षयार्थं इदं भविष्यदत्त पंचमी कथा लिखापितं।

—भविष्यदत्त पंचमी कथा लिपि प्रशस्ति

कवि वर्द्धमान भट्टारक

यह मूलसंघ बलात्कारगण और भारती गच्छ के विद्वान थे। इनकी उपाधि 'परवादि पंचानन' थी, वरांग-चरित की प्रशस्ति में कवि ने अपना परिचय निम्न प्रकार दिया है :—

स्वस्ति श्रीमूलसंघे भुवि विदितगणे श्रीबलात्कारसंज्ञे,
श्रीभारत्याख्यगच्छे सकलगुण निधिर्वर्द्धमानाभिधानः।
आसीद्भट्टारकोऽसौ सुचरितमकरोच्छ्रीवरांङ्गस्य राज्ञो,
भव्यश्रेयांसि तन्वद् भुविचरितमिदं वर्ततामार्कतारम् ॥

—वरांगचरित १३-८७,

वर्द्धमान नाम के दो विद्वानों का उल्लेख मिलता है। उसमें एक वर्द्धमान न्यायदीपिका के कर्ता धर्मभूषण के गुरु थे। और 'देशभक्त्यादि महाशास्त्र' के भी कर्ता थे, और दूसरे वर्द्धमान हुमच शिलालेख के रचयिता है। इनका समय १५३० ई० के लगभग है। विजयनगर के शक सं० १३०७ (सन् १३८५ ई०) में उत्कीर्ण शिलालेख में भट्टारक धर्मभूषण के पट्टधर और सिंहनन्दी योगीन्द्र के चरण कमलों के भ्रमर वर्द्धमान मुनि थे, उनके शिष्य धर्मभूषण हुए। जैसा कि उसके निम्नपद्यों से प्रकट है:—

पट्टे तस्य मुनेरासीद्वर्द्धमानमुनीश्वरः।
श्री सिंहनन्दि योगीन्द्र चरणाम्भोज षट्पदः ॥१२
शिस्यस्तस्य गुरोरासीद्धर्मभूषणदेशिकः।
भट्टारक मुनिः श्रीमान् शल्यत्रय विवर्जितः ॥१३

इनके समय में शक सं० १३०७ (सन् १३८५ ई०) की फाल्गुण कृष्ण द्वितीया को राजा हरिहर के मंत्री चैत्रदण्ड नायक के पुत्र इरुगप्प ने विजयनगर में कुन्थनाथ का मन्दिर बनवाया था[1]।

दश भक्त्यादि शास्त्र के निम्न पद्य में उल्लिखित विजयनगर नरेश प्रथम देवराज राजाधिराज परमेश्वर की उपाधि से विभूषित थे। इनका राज्य संभवतः सन् १४१८ ई० तक रहा है। और द्वितीय देवराज का समय सन् १४१६ से १४४६ ई० तक माना जाता है।

राजाधिराज परमेश्वर देवराज, भूपाल मौल्लिसदंघ्रि सरोजयुग्मः।
श्रीवर्द्धमान मुनि वल्लभ मौढ्य मुख्यः श्रीधर्मभूषण सुखी जयती क्षमाढ्यः ॥

भट्टारक धर्मभूषण ने न्यायदीपिका की अन्तिम प्रशस्ति में, और पुष्पिका में भट्टारक वर्द्धमान का उल्लेख किया है:—

मदगुरोर्वर्द्धमानेशो वर्द्धमानदयानिधेः।
श्रीपदस्नेह सम्बन्धात् सिद्धेयं न्यायदीपिका ॥

—न्यायदीपिका प्रश०

इन सब उल्लेखों से स्पष्ट है कि धर्मभूषण के गुरु वही भट्टारक वर्द्धमान हैं, जो वरांग चरित के कर्ता हैं।

वर्द्धमान भट्टारक का समय धर्मभूषण के गुरु होने के कारण ईसा की चौदहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है।

वरांग चरित्र संस्कृत भाषा का लघुकाय ग्रन्थ है। इस काव्य में १३ सर्ग हैं जिसमें बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के वरदत्त गणधर के समकालीन होने वाले राजा वरांग का चरित वर्णित किया गया है। यह जटिल

१. तस्य श्री चैत्रदण्डाधिनायकस्योर्ज्जितश्रियः।
आसीदिरुग दण्डेशो नन्दनो लोकनन्दनः ॥ २१
तस्मिन्निरुग दण्डेशः पुरेवारुशिलामयम्।
श्री कुन्थ जिन नाथस्य चैत्यालयमचीकरत् ॥ २८ —विजयनगर शि० नं० २

कवि के वरांग चरित का संक्षिप्त रूप है, कवि वर्द्धमान ने इसमें धार्मिक उपदेशों और कुछ वर्णनों को निकाल कर कथानक की रूप-रेखा ज्यों की त्यों रहने दी है, ऐसा डा० ए० एन० उपाध्ये ने लिखा है। जैसा कि ग्रन्थ के निम्न पद्य से स्पष्ट है :—

गणेश्वरैर्या कथिताकथावरावराङ्गराजस्य सविस्तरं पुरः।
मयापि संक्षिप्य च सैव वर्ण्यते सुकाव्यबन्धेन सुबुद्धि वर्धिनी॥

कवि वर्द्धमानने राजा वरांग के कथानक में धर्मोपदेश को कम कर दार्शनिक और धार्मिक चर्चाओं को बहुत संक्षिप्त रूप में दिया है। पर जटिल मुनि के वरांग चरित्र का उस पर पूरा प्रभाव है। वरांग का चरित इस प्रकार है :-

विनीतदेश में रम्या नदी के तट पर उत्तमपुर नाम का नगर है उसमें भोजवंशका राजा धर्मसेन राज्य करता था, उसकी गुणवती नाम की सुन्दर और रूपवती पट्टरानी थी। समय पाकर उसके एक पुत्र हुआ जिसका नाम वरांग रक्खा गया। जब वह युवा हो गया, तब उसका विवाह ललितपुर के राजा देवसेन की पुत्री सुनदा, विन्ध्यपुर के राजा महेन्द्रदत्त की पुत्री वपुष्मती, सिंहपुर के राजा द्विषन्तप की पुत्री यशोमती, इष्टपुरी के राजा सनत्कुमार की पुत्री वसुन्धरा, मलयदेशके अधिपति मकरध्वज की पुत्री अनन्त सेना, चक्रपुर के राजा समुद्रदत्त की पुत्री प्रियव्रता, गिरिव्रजनगर के राजा बाह्वायुध की पुत्री सुकेशी, श्रीकोशल पुरी के राजा सुमित्रसिंह की पुत्री विश्वसेना' वारांगदेश के राजा विनयन्धर की पुत्री प्रियकारिणी,और व्यापारी की पुत्री धनदत्ता के साथ होना है। वरांग इनके साथ सांसारिक सुख का उपभोग करता है। एक दिन अरिष्टनेमिके प्रधान गणधर वरदत्त उत्तमपुर में आये, राजा धर्मसेन मुनिवदना को गया। राजा के प्रश्न करने पर उन्होंने आचारादिका उपदेश दिया। वरांग के पूछने पर उन्होंने सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का विवेचन किया। उपदेश से प्रभावित हो वरांग ने अणुव्रत धारण किये। और उनकी भावनाओं का अभ्यास आरम्भ किया। तथा राज्य सचालन और अस्त्र-शास्त्र के सचालन में दक्षता प्राप्त की राजा धर्मसेन वरांग के श्रेष्ठ गुणों की प्रशंसा सुनकर प्रभावित हुआ और तीन सौ पुत्रोंके रहते हुए वरांग को युवराज पद पर अभिषिक्त कर दिया। वरांग के अभ्युदय से उसकी सौतेली मां सुषेणा तथा सुतेले भाई सुषेण को ईर्षा हुई। और मंत्री सुबुद्धि से मिलकर उन्होंने षड्यंत्र किया। मंत्री ने एक शिक्षित घोड़ा वरांग को दिया। वरांग उस पर बैठते ही वह हवा से बातें करने लगा। वह नदी, सरोवर, वन और अटवी को पार करता हुआ आगे बढ़ता है और वरांग को एक कुएं में गिरा देता है। वरांग किसी तरह कुए से निकलता है,और भूख प्यास से पीड़ित हो आगेबढ़ने पर व्याघ्र मिलता है हाथी की सहायता से प्राणों की रक्षा करता है, और एक यक्षिणी अजगर से उसकी रक्षा करती है, और वह उसके स्वदार सन्तोष व्रत की परीक्षा कर सन्तुष्ट हो जाती है। वन में भटकते हुए वरांग को भील बलि के लिये पकड़ कर ले जाते हैं। किन्तु सर्प द्वारा दंशित भिल्लराज के पुत्र का विष दूर करने से उसे मुक्ति मिल जाती है। वृक्ष पर रात्रि व्यतीत कर प्रातः सागरवृद्धिसार्थपति से मिल जाता है। सार्थपति के साथ चलने पर मार्ग में बारह हजार डाकू मिलते हैं सार्थवाह का उन डाकूओं से युद्ध होता है। सार्थवाह की सेना युद्ध से भागती है इससे सागरवृद्धि को बहुत दुख हुआ। सकट के समय वरांग ने सार्थवाह से निवेदन किया कि आप चिन्ता न करें मैं सब डाकुओं को परास्त करता हूं। कुमार ने डाकुओं को परास्त किया, और सागरवृद्धि का प्रिय होकर सार्थवाहों का अधिपति बन ललितपुर में निवास करने लगता है।

इधर घोड़े का पीछा करने वाले सैनिक हाथी-घोड़ा लौट आये, वरांग का कहीं पता न चला, इससे धर्म सेन को बड़ी चिन्ता हुई। राजाने गुप्तचरों को कुमार का पता लगाने के लिये भेजा वे कुएं में गिरे हुये मृत अश्व को देखकर और कुमार के वस्त्रों को लेकर वापिस लौटे। उन्हें ढूढ़ने पर भी कुमार का कोई पता न लगा। अंतःपुर में करुणा का समुद्र उमड़ आया।

मथुरा के राजा इन्द्रसेन का पुत्र उपेन्द्रसेन था इस राजा ने एक दिन ललितपुर देवसेन के पास अपना दूत भेजा, और अप्रतिमल्ल नामक हाथी की मांग की, देवसेन द्वारा हाथी के न दिये जाने पर रुष्ट हो मथुराधिपति ने

उस पर आक्रमण कर दिया। इन्द्रसेन और उपेन्द्रसेन दोनों की सेना ने बड़ी वीरता से युद्ध किया, जिससे देवसेन की सेना छिन्न-भिन्न होने लगी। कुमार वराग ने आकर देवसेन की सहायता की और इन्द्रसेन पराजित हो गया।

ललितपुर क राजा देवसेन कुमार के बल और पराक्रम से प्रसन्न होकर उसे अपनी पुत्री सुनन्दा और आधा राज्य प्रदान करता है। एक दिन राजा की मनोरमा नाम की पुत्री कुमार के रूप सौन्दर्य को देखकर आसक्त हो जाती है, और विरह मे जलने लगती है। मनोरमा कुमार के पास अपना दूत भेजती है। पर दुराचार से दूर रहने वाला कुमार इन्कार कर देता है। मनोरमा चिन्तित और दुखी होतीहै।

वराग के लुप्त होजाने पर सुषेण उत्तम पुर के राज्य कार्य को सम्हालता है परन्तु वह अपनी अयोग्यताओ के कारण शासन मे असफल हो जाता है। उसकी दुर्बलता और धर्मसेन का वृद्धावस्था का अनुचित लाभ उठाकर वकुलाधिपति उत्तमपुर पर आक्रमण कर देता है। धर्मसेन ललितपुर के राजा से सहायता मागता है। वराग इस अवसर पर उत्तमपुर जाता है, और वकुलाधिपति को पराजित कर देता है। पिता-पुत्र का मिलन होता है, और प्रजा वराग का स्वागत करती है। वह विरोधियो को क्षमाकर राज्य प्रशासन प्राप्त करता है। और पिता की अनुमति से दिग्विजय करने जाता है और अपने नये राज्य की राजधानी सरस्वती नदी के किनारे आनर्तपुर को बसाता है।

वराग ने आनर्तपुर मे सिद्धायतन नाम का चैत्यालय निर्माण कराया। और विधि पूर्वक उसकी प्रतिष्ठा सम्पन्न कराई।

एक दिन ब्राह्म मुहूर्त मे राजा वराग ने तेल समाप्त होने हुए दीपक को देखकर देह-भोगो से विरक्त हो जाता है और दीक्षा लेने का विचार करता है परिवार के व्यक्तियो ने उसे दीक्षा लेने से रोकने का प्रयत्न किया, किन्तु वह न माना। और वरदत्त केवली के निकट दिगम्बर दीक्षा धारण की। और तपश्चरण द्वारा आत्मसाधना करता हुआ अन्त मे तपश्चरण से सर्वार्थ सिद्धि विमान को प्राप्त किया। उसकी स्त्रियो ने भी दीक्षा ली उन्होंने भी अपनी शक्ति अनुसार तपादि का अनुष्ठान किया। और यथायोग्य गति प्राप्त की।

मंगराज (द्वितीय)

यह 'कम्म' कुल के विश्वामित्र गोत्रीय रेम्माडे रामरस का पुत्र था। यह अभिनव मगराज के नाम से प्रसिद्ध है। इसने मगराज निघण्टु या अभिनव निघण्टु नाम का कोश बनाया है। कवि ने शशिपुर के सोमेश्वर के प्रसाद से शक स० १३२० (सन् १३९८ ई०) मे उक्त कोष को समाप्त किया है। अतः कवि का समय ईसा की १४वी शदी का अन्तिम भाग है।

अभयचन्द्र

यह कुन्दकुन्दान्वय देशीय गण पुस्तक गच्छ के विद्वान जयकीर्ति के शिष्य थे। यह वही राय राजगुरुमण्डलाचार्य महावाद वादीश्वर रायवादी पितामह अभयचन्द्र सिद्धान्त देव जान पड़ते है जिन्होने साख्य, योग, चार्वाक बौद्ध, भट्ट प्रभाकर आदि अनेक वादियो को शास्त्रार्थ मे विजित किया था। शक स० १३३७ (ई० सन् १४१५) में इनके गृहस्थ शिष्य बुल्ल गौड़ ने समाधिमरण किया था[1]। इनका समय १३७५—१४०० ई० के लगभग सुनिश्चित है। यही अभयचन्द्र लघीयस्त्रयवृत्ति के टीकाकार जान पड़ते है।

गुणभूषण

यह मूलसंघ के विद्वान सागरचन्द्र के शिष्य विनयचन्द्र मौन के शिष्य त्रैलोक्यकीर्ति थे उनके शिष्य गुण-

१ देखो, एपिग्राफिया कर्नाटिका ७ सारव तालुका न० १३६।

भूषण थे। इन्होंने अपने को 'स्याद्वाद चूड़ामणि' लिखा है[१]। इसकी एक मात्र कृति गुणभूषण श्रावक चार है। जिसे भव्य जिन चित्त वल्लभ' भी कहा जाता है। इस ग्रन्थ को कवि ने पुरपाट वंशी जोमन और नामदेवी के पुत्र नेमिदेव के लिये बनाया था। जो गुणभूषण के चरणों का भक्त था। जोमन के दूसरे पुत्र का नाम लक्ष्मण था।[२] जैसा कि ग्रन्थ के निम्न पुष्पिका वाक्य में प्रकट है :—

'इति श्रीमद् गुणभूषणाचार्य विरचिते भव्यजनचित्त वल्लभाभिधान श्रावकाचारे साधु नेमिदेव नामांकिते सम्यक्त्वचरित्रं तृतीयोद्देशः समाप्तः।'

प्रस्तुत ग्रंथ तीन उद्देश्यों में समाप्त हुआ है। अन्तिम उद्देश्यों में सम्यक्त्व और चारित्र का वर्णन किया गया है। गुणभूषण के श्रावकाचार पर वसुनन्दि के उपासका चार का प्रभाव अंकित है। इतना ही नहीं किन्तु दोनों की तुलना से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्होंने उसकी अनेक प्राकृतिक गाथाओं के संस्कृत रूपान्तर द्वारा अपने ग्रन्थ की श्री वृद्धि की है। श्रावकचार के वर्णन में कोई वैशिष्ट्य भी नहीं है—अन्य श्रावका चारों के समान ही उसमें कथन है। जैसा कि निम्न तुलना से स्पष्ट है :—

स्यादन्योन्य प्रदेशानां प्रवेशो जीवकर्मणोः।
स बन्धः प्रकृति स्थित्यनुभावादिस्वभावक ॥१७गु ण०
अण्णोण्णाण् पवेसो जो जीवपएसकम्मखंधाण।
सो पयडिट्ठिदि-अणुभव-पएसदो चउविहो बंधो ॥४१ वसु०
सम्यक्त्वव्रतैः कापादी निग्रहाद्योगनिरोधतः।
कर्मास्रव निरोधा यः सत्सवरः स उच्यते ॥१८ गुण०
सम्मत्तेहिं वएहिं कोहाइ कसाय णिग्गाह गुणेहि।
जोगणिरोहेण तहा कम्मासव सवरो होइ ॥४२ वसु०
सविपाका विपाकाश्च निर्जरा स्याद् द्विधादिमा।
संसारे सर्व जीवानां द्वितीया सु-तपस्विनाम् ॥गुण०
सविपागा अविवागा दुविहा पुण णिज्जरा मुणेयव्वा।
सव्वेसिं जीवाणं पढमा विदिया तवस्सीणं ॥
द्यूतमध्वामिषं वेश्याखेटचार्यपराङ्गना।
सप्तैव तानि पापानि व्यसनानि त्यजेत्सुधीः ॥११४ गुण०
जूयं मज्जं मसं वेसा पारद्धि-चोर-परमारं।
दुग्गइ गमणस्सेदाणि हेउभूदाणि पावाणि ॥ ५९ वसु०

इसी तरह गुणभूषण श्रावकाचार के २०४, २०५, २०६, २०७ पद्यों के साथ वसुनन्दी श्रावकाचारकी गाथा ३३६, ३३७, ३४२, और ३४४ के साथ तुलना कीजिए। और भी अनेक गाथाओं का संस्कृति रूपान्तर किया गया है। वसुनन्दी का समय १२वीं शताब्दी है इससे इतना तो सुनिश्चित है कि गुणभूषण वसुनन्दी के बहुत बाद हुए हैं।

गुणभूषण ने जोमन के पुत्र नेमिदेव के लिये इसकी रचना की है जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। नेमिदेव वीरजिनेन्द्र के चरण कमलों का भक्त, हेय उपादेय के विचारों में निपुण, रत्नत्रय के धारक, दानदाता, आदि

१. विख्यातोऽस्ति समस्तलोकवलये श्री मूलसंघोऽनघः।
तत्राद्विनयेन्दु रनदभुतमतिः श्री सागरेन्दोः सुतः ॥२५९
तच्छिष्योऽजनि मोहभूभृदशनिस्त्रैलोक्यकीर्तिमुनिः।
तच्छिष्यो गुणभूषणः समभवत्स्याद्वादचूड़ामणिः ॥२६० गुण०प्र०

२. देखो गुणभूषण श्रावकाचार प्रशस्ति के २६१ से २६७ तक के पद्य

रूप से उसके गुणों की प्रशंसा करते हुए उसकी मंगल का कामना की है[1]।

समय—गुणभूषण ने ग्रन्थ में रचना काल नहीं दिया, अतः अन्य साधनों से उस पर विचार किया जाता है। विनयचन्द्र पं० आशाधर के शिष्य थे, आशाधर ने उन्हें धर्मशास्त्र पढ़ाया था। सागरचन्द्र के शिष्य विनयचन्द्र के लिए इष्टोपदेश आदि ग्रन्थों की टीका की थी। इन्हीं विनयचन्द्र के शिष्य त्रैलोक्य कीर्ति के शिष्य गुणभूषण थे। अतः गुणभूषण का समय विक्रम की १४वीं शताब्दी का पूर्वार्ध जान पड़ता है।

अय्यपार्य

यह मूल संघान्वयी पुष्पसेन मुनि के शिष्य थे। अय्यणार्य ने अपने गुरु पुष्पसेन की बड़ी प्रशंसा की है, उन्हें 'अन्य मतांधकारमथनः' और 'स्याद्वाद तेजोनिधिः' जैसे विशेषणों से युक्त प्रकट किया है[2]। इससे वे बड़े भारी विद्वान और तपस्वी जान पड़ते हैं। कवि के पिता का नाम करुणाकर था, जो श्रावक धर्म के पालक थे। और माता का नाम 'अर्काम्बा' था जो पतिव्रता, पुण्यलक्ष्मी और चारित्रमूर्ति थी। इनका गोत्र काश्यप था[3]। और इन दोनों का पुत्र था अय्यपार्य, जो जिन चरण युगल के आराधन में तत्पर था। जिसने अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया था। और मंत्र तथा औषधियों का भी ज्ञाता था, नय-विनयवान था, उसने पद्मावती देवी द्वारा वर के प्रसाद से 'जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदय' नामक ग्रन्थ की रचना की थी[4]। इस ग्रन्थ में जिनेन्द्र की प्रतिष्ठा विधि का वर्णन किया है। प्रशस्ति में कवि ने चतुर्विंशतितीर्थंकरों को स्तुति के बाद भगवान महावीर की संघ परम्परा के श्रुतधर आचार्यों का उल्लेख करते हुए कुन्दकुन्द, वाचक उमास्वाति (गृद्धपिच्छाचार्य) समन्तभद्र, शिवकोटि, शिवायन, पूज्यपाद वीरसेन जिनसेन, गुणभद्र नेमिचन्द्र, रामसेन, अकलंक, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, रामचन्द्र, वासवचन्द्र, आदि का उल्लेख किया है।

---

१. श्रीमद् वीरजिनेश पादकमले चेतः षडंघ्रि सदा।
हेयादेय विचारबोधनिपुणा बुद्धिश्च यस्यात्मनि ॥२६८
दानं श्रीकर कुड्मले गुणगनिर्देहे शिरस्युन्नतिः।
रत्नाना त्रितयं हृदि स्थितममसौ नेमिश्चर नंदतु ॥२६९

२. तच्छिष्योन्य मतान्धकारमथनः स्याद्वादतेजोनिधिः।'

—जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदय प्र०

३. त पुष्पसेन देवं कलिगणेश्वरं सदावंदे।
यस्यपद्मसेना बिबुधानां भवति काम दुहाः ।५१
तदीयशिष्योऽजनि दाक्षिणात्यः श्रीमान्द्विजन्माभिपजां वरिष्ठः।
जिनेन्द्र पादाम्बुरुहैकभक्तः सागारधर्मः करुणाकराख्यः ॥५२
तस्यैव पत्नी कुलदेवते व पतिव्रतालंकृत पुण्यलक्ष्मीः,
यदर्कमाम्बा जगति प्रतीतः चारित्रमूर्तिः जिनशासनोक्ता ॥५३
तयोरासीत्सूनुस्सदमलगुणाढ्यो स विनयो,
जिनेन्द्रः श्री पादाम्बुरुह युगलाराधन परः।
अधीतः शास्त्राणामखिलमणि मन्त्रौषधिवना,
विपश्चि निर्णतः नय-विनयवानार्य्य इतिपः ॥५४
श्रीमूलसंघकविना खिल सन्मुनीनां, श्रीपादपद्मसरसीरुह राजहसः।
स्यादर्यपार्य इति काश्यप गोत्रवर्यो जैनालपाक वरवंशसमुद्रचन्द्रः ॥५५ —जि० कल्या० प्र०

४. पद्मावती दत्तवरप्रसादात्सारस्वतं प्राप्य बुधार्य्यं येन।
जिनेन्द्र कल्याण समाह्वयो यं ग्रन्थोभ्युधाय्यभ्युदयाः प्रबधः ॥५६ —जि० कल्याण० प्र०

कारंजा शास्त्र भंडार[1] की प्रंशस्ति में ग्रन्थ का रचना काल शक सं० १२४१ सिद्धार्थ संवत्सर बतलाया है। अय्यपार्य ने इस ग्रन्थ की रचना पुष्पसेनाचार्य के आदेश से शक १२४१ (सन् १३१९) माघ शुक्ला दशमी रविवार के दिन पुष्प नक्षत्र में एक शैल नगर में रुद्र कुमार के राज्यकाल में की है, जैसा कि उसके निम्न पद्य से प्रकट है :—

शाकाब्दे विधुवेदनेत्रहिमगे (१) सिद्धार्थ संवत्सरे।
माघेमासि विशुद्ध पक्ष दशमी पुष्यार्कवारेऽहनि।
ग्रन्थो रुद्रकुमार राज्य विषये जैनेन्द्र कल्याणभाक।
सम्पूर्णोऽभवदेक शैलनगरे श्रीपाल बन्धूजितः।।

कवि ने लिखा है जिनसेन गुणभद्र, वसुनन्दि, इन्द्रनन्दि आशाधर और हस्तिमल्ल आदि विद्वानों द्वारा कथित ग्रन्थों का सार लेकर इस ग्रन्थ को रचना की है :—

वीराचार्य सुपूज्यपाद जिनसेनाचार्य संभाषितो।
यः पूर्वं गुणभद्र सूरिवसुनन्दीन्द्रादि न ह्यूर्ज्जितः।
यश्चाशाधर हस्तिमल्ल कथितो यश्चैक संधीरितः।
तेभ्यः स्वहृतसारमार्यरचितः स्याज्जैन पूजा क्रमः।।१९

यही बात ग्रन्थ की अन्तिम पुष्पिका वाक्य मे भी स्पष्ट है—

'इति श्री सकल तार्किकचक्रवर्तिश्रीसमन्तभद्र मुनीश्वर प्रभृति कवि वृन्दारक वन्द्यमान सरोवर राज हंसाय मान भगवदर्हतंप्रतिमाभिषेक विशेष विशिष्ट गन्धोदकपवित्री कृतोत्तमाङ्गे वाय्यपार्येण श्री पुष्पसेनाचार्योपदेश क्रमेण सम्यग्विचार्य पूर्वशास्त्रेभ्यः सारमुद्धृत्य विरचितः श्री जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदयापरनामधेयस्त्रि दशाभ्युदयोऽर्हत् प्रतिष्ठा ग्रन्थः समाप्तः।

प्रस्तुत प्रशस्ति में ग्रन्थ का रचनास्थल एक शैलनगर बतलाया है, जो वर्तमान वरंगल का प्राचीन नाम है[2]। वरंगल के और भी कई नाम हैं[3]। यह प्राचीन नगर तैलंग देश की राजधानी था[4]। काकतेयों ने इस पर सन् १११०ई० से १३२३ ई० तक राज्य किया है[5]। इसी वंश में रुद्रदेव हुए हैं[6]। जान पड़ता है रुद्रदेव इस वंश के अन्तिम राजा थे। क्योंकि इस ग्रन्थ की रचना सन् १३१९-२० ई० में हुई है। उस समय वे वहाँ शासन कर रहे थे। अतएव अय्यपार्य वि० सं० १३७६ के विद्वान हैं।

माघनन्दि योगीन्द्र

प्रस्तुत माघनन्दि मूलसंघ-नन्दिसंघवलात्कार गण के विद्वान कुमुदेन्दु योगी के शिष्य थे। इन्हें सन् १२६५ ई०

१. See catalogse sons krit and prakrit manuscripts in the cenintral Province and berar। रायबहादुर हीरालाल द्वारा सम्पादित।

२. हिन्दी विश्व कोष भा० ३ पृ० ४६६ और list of the– Antquuarian rem ains in the NIzams, territorics By consens. Another name of warrangal x x,is Akshalinagar, which in the of mr. consens is the same yckshilanagara,,
—TheGeographycal dictionary of Anecent and Midicaval India Naudlal Day p. 8

३. अनुमकुन्दपुर, अनुमकन्द पट्टन, कोरुकोल (of Ptalemy) वेणाटक, एक शेल नगर आदि (the geoproPhical CoPS tionary (p. 262)

४. रुद्रदेव का शिलालेख JASB, 1834 P० 903 साथ ही peof Wilsons Mackenzie collection p. 76

५. The Jcopraphical dictionorp p. 8

६. वरंगलके का कतीयवंशी एक राजा x x x,। हिन्दी विश्वकोष भाग १२ पृ ६२७।

(वि० सं० १३२२) में त्रिकूट रत्नत्रय शान्तिनाथ के जिनालय के लिए होयसल नरेश नरसिंह द्वारा उक्त माघनन्दि सैद्धान्तिक को 'कल्लनगेरे' नाम का गांव दान में दिया गया[१]। इस कारण इस जिनालय को त्रिकूट रत्नत्रय जिनालय भी कहते थे। दोर समुद्र के जैन नागरिकों ने भी शान्तिनाथ की भेट के लिये भूमि और द्रव्य प्रदान किया था।

इन माघनन्दि की चार रचनाओं का उल्लेख मिलता है। सिद्धान्तसार, श्रावकाचारसार, पदार्थसार और शास्त्रसार समुच्चय—

माघनन्दि योगीन्द्रः सिद्धान्ताम्बोधि चन्द्रमाः।
अचीकरद्विचित्रार्थं शास्त्रसारसमुच्चयम्॥
उक्तं श्रीमूलसंघश्रीबलात्कारगणाधिपैः।
श्रीमाघनन्दि सिद्धान्तैः शास्त्रसार समुच्चयम्॥

ये दोनों पद्य दौर्बलि जिनदास शास्त्री की टीका रहित प्रति में दिये हैं। इनका समय १३वीं शताब्दी है। इनके शिष्य कुमुदचन्द्र भट्टारक थे। शास्त्र समुच्चय के टीकाकार वही माघनन्दिश्रावकाचार के कर्ता है। टीका कन्नड़ में है।

प्रेमी जी ने लिखा है कि मद्रास की ओरियन्टल लायब्रेरी में 'प्रतिष्ठाकल्प टिप्पण' या जिन संहिता नाम का एक ग्रन्थ है, उसकी उत्थानिका[२] और अन्तिम पुष्पिका से मालूम होता है कि प्रतिष्ठाकल्प टिप्पण के कर्ता वादि कुमुदचन्द्र माघनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती के शिष्य थे।

वादि कुमुद चन्द्र

यह माघनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती के पुत्र थे। और प्रतिष्ठाकल्प के कनाडी टिप्पणकार हैं।

श्री माघनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ति तनुभवः।
कुमुदेन्दु रहं वच्मि प्रतिष्ठा कल्पटिप्पणम्॥

इस टिप्पण के अन्त में लिखा है—

'इति श्री माघनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती सुत चतुर्विध पाण्डित्य चक्रवर्ति-श्री वादि कुमुदचन्द्र पण्डितदेव-विरचिते प्रतिष्ठा कल्प टिप्पणे—। इस पुष्पि का वाक्य में वादि कुमुदचन्द्र को स्पष्ट रूप से 'सुत' और 'यात्रार्चन विधिः समाप्तः' पद्य में 'तनुभव' लिखा है, जिससे वे उनके पुत्र थे। और उनकी उपाधि चतुर्विध पाण्डित्य चक्रवर्ती थी अतः इनका समय भी वही है जो माघनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती का सन् १२६५ (वि० सं० १३२२) है। यह विक्रम की १४ वी शताब्दी के विद्वान है।

कवि मंगराज

इनका जन्म स्थान वर्तमान मैसूर राज्यान्तर्गत मुगुलिपुर था। उन्हें उभय कवीश, कवि पद्म भास्कर और साहित्य वैद्या विद्याम्बुनिधि उपाधियाँ प्राप्त थी। यह कन्नड और संस्कृत दोनों भाषाओं के प्रौढ़ कवि थे। और जैन धर्म के पालक थे। इनका समय स्वर्गीय आर० नरसिंहाचार्य ने सन् १३६० ई० के लगभग बतलाया है। इनकी कृति का नाम 'खगेन्द्रमणि दर्पण है।

यह एक वैद्यक ग्रन्थ है, इसमें स्थावर विषों की प्रक्रिया और प्रायः सभी विषों की चिकित्सा लिखी है।

१. जैन लेख सं० भाग ४ पृ० २५८
२. श्री माघनन्दि सिद्धान्त तनुभवः।
कुमुदेन्दुरहं वच्मि प्रतिष्ठा कल्प टिप्पणम्।
३. इति श्री माघनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती तनूभव चतुर्विध पाण्डित्य चक्रवर्ती श्रीवादि कुमुदचन्द्र मुनीन्द्र विरचिते जिन संहिता टिप्पणे पूज्य-पूजक पूजकाचार्य पूजाफल प्रतिपादनं समाप्तम्॥

गरुड़ पक्षी सर्पो का वैरी है वह सर्प विषापहारक है, यह लोक में प्रसिद्ध है उसी प्रकार गरुड़मणि भी लोक में विष निवारक मानी जाती है। उसी तरह यह ग्रन्थ भी विष दूर करने के उपाय को बतलाता है, इस कारण इसका यह नाम अन्वर्थक जान पड़ता है। यह ग्रन्थ कद वृत्तों में रचा गया है। कवि ने इसे 'जीवित चिन्तामणि' भी बतलाया है। कवि इस ग्रन्थ को पुरुषार्थ चतुष्टय का कथन करने वाला बतलाता है।

इसमें १६ अधिकार है। जिनमें विष और उसके दूर करने के उपायों का वर्णन है।

प्रथम अधिकार मे मंगल के बाद स्थावर जंगम और कृत्रिम आदि विषों के भेद, सर्पो की जातियाँ, औषधियों का संग्रह काल, भेद और उनकी शक्तियों के वर्णन के साथ सद् वैद्य और दुर्वैद्य के लक्षणादि बतलाये गये हैं।

दूसरे अधिकार में स्थावर विषभेद, विषाक्रान्त लक्षण और उनके परिहारक नस्य, पान, लेप और अंजन आदि के औषध और अनेक मंत्र दिये हैं। इसी तरह अन्य सब अधिकारों में 'विष' के दश प्रकार, लक्षण, उनके भेद, विषापहारक मंत्र और औषधियों का वर्णन किया गया है। ग्रन्थ यदि हिन्दी अर्थ के साथ प्रकाशित हो जाय तो उसका परिज्ञान हिन्दी भाषा भाषियों को भी सुलभ हो जायगा। ग्रन्थ उपयोगी है।

ग्रन्थ मे कवि ने अपने से पूर्ववर्ती कुछ आचार्यो आदि का नामोल्लेख किया है पूज्यपाद, वीरसेन, कुन्दकुन्द भानुकीर्ति, अमरकीर्ति नरिच्छय्य धर्मभूषण आदि।

पं० वामदेव

यह मूल संघ के भट्टारक विनयचन्द्र के शिष्य, त्रैलोक्यकीर्ति के शिष्य और मुनि लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य थे इन्होंने अपने को इन्द्रवाम देव भी लिखा है। पंडित वामदेव का कुल नैगम था। नैगम या निगम कुल कायस्थों का है, इससे स्पष्ट है कि पंडित वामदेव कायस्थ थे। अनेक कायस्थ विद्वान जैन धर्म के धारक हुए है। जिनमें हरिचन्द्र, पद्मनाभ और विजयनाथ माथुर आदि का नाम उल्लेखनीय है। पंडित वामदेव जैन धर्म के अच्छे विद्वान, प्रतिष्ठादि कार्यो के ज्ञाता और जिन भक्ति में तत्पर थे। वामदेव ने पंच संग्रह दीपक की प्रशस्ति में अपने को—'नाना शास्त्र विचार कोविद मतिः श्री वामदेवः कृती' वाक्य द्वारा नाना शास्त्र विचार कोविद मति प्रकट किया है।

इनकी इस समय तीन रचनाएं उपलब्ध है। भावसंग्रह (संस्कृत), 'त्रैलोक्य दीपक' और पंच संग्रह दीपक। इनमें से केवल भावसंग्रह माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला मे प्रकाशित हुआ है। शेष दोनों रचनाएं अप्रकाशित है।

भावसंग्रह—प्रस्तुत ग्रन्थ संस्कृत भाषा का पद्य ग्रन्थ है, जो ७८१ पद्यों में पूर्ण हुआ है। यह देवसेन के प्राकृत भावसंग्रह का संशोधित और परिवर्धित अनुवाद है। यह ग्रन्थ माणिकचन्द्र ग्रन्थ माला से प्राकृत भाव संग्रह के साथ प्रकाशित हो चुका है।

१. भूयाद्भूव्यजनस्य विश्वमहितः श्री मूलसंघः श्रिये,
यत्राभूद्विनयेन्दुरद्भुतगुणः सच्छील दुग्धार्णवः।
तच्छिष्योऽजनि भद्रमूर्तिरमलस्त्रैलोक्य कीर्ति शशी।
येनैकान्तमहातमः प्रमथिते स्याद्वादविद्याकरैः॥७७६
दृष्टि स्वस्तटिनी महीधरपतिर्ज्ञानाब्धिचन्द्रोदयो,
वृत्त श्री नलिनि केलि हंसललित शान्ति क्षमा मन्दिरम्
काम स्वातमरक्षा प्रसन्न हृदयः मंगक्षपा भास्कर—
स्तच्छिष्यः क्षितिमण्डले विजयते लक्ष्मीन्दु नामा मुनिः॥७८०
श्री मत्सर्वज्ञपूजा करण परिणतस्तत्त्वचिन्ता रसालो,
लक्ष्मीचन्द्रांह्रि पद्म मधुकरः श्री वामदेवः सुधीः।
उत्पत्तिर्यस्य जाता शशिविशद कुले नैगमश्री विशाले।
सोऽयं जीया प्रकामं जगति रसलसद्भाव शास्त्र प्रणेता॥७८१ —भाव संग्रह प्रशस्ति

त्रैलोक्य दीपक—इस ग्रन्थ में तीन लोक के स्वरूप का कथन किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के त्रिलोकसार का संस्कृत रूपान्तर है। उसे देखकर ही इसकी रचना की गई है। इस ग्रन्थ में तीन अधिकार—अधोलोक-मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक—इन तीनों अधिकारों के श्लोकों की कुल संख्या १२८१ श्लोक प्रमाण है। प्रथम अधिकार में २०५ श्लोक हैं। जिनमें लोक का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि जिसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल का संघात पाया जाता है वह लोक है। उस लोक का मान दो प्रकार का है। लौकिकमान और लोकोत्तर मान। इन दोनों मानों के भेद-प्रभेदों का कथन किया गया है।

दूसरे अधिकार में मध्य लोक का वर्णन है, जिसकी श्लोक संख्या ६१६ है। मध्य लोक का कथन करते हुए द्वीप, समुद्रों के वलय, व्यास, सूची व्यास, सूक्ष्म परिधि, स्थूल परिधि सूक्ष्म और स्थूल फल आदि का गणित द्वारा कथन किया है। जम्बूद्वीप के षट् कुलाचल और सप्त क्षेत्रों आदि का गणित द्वारा विस्तार के साथ वर्णन दिया है। भारत क्षेत्र के उत्सर्पिणी अवसर्पिणी के षट् कालों का वर्णन करते हुए, तीर्थकरों, चक्रवर्तियों, नारायण प्रति नारायण त्रेसठ शलाका पुरुषों की आयु, शरीरोत्सेध, और विभूति आदि का सुन्दर वर्णन किया गया है। मध्यलोक के कथन में व्यासपरिधि, सूची फल, क्षेत्रफल और घनफल आदि के लाने के लिए करण सूत्र भी दिये हैं। संदृष्टियाँ भी यथास्थान दी हैं।

ऊर्ध्वलोक के वर्णन में भवनवासी, व्यन्तर ज्योतिषी और कल्पवासी, देवों का वर्णन, आयु, शरीरोत्सेध, परिवार, विभव, कथन संख्या, विस्तार उत्सेध आदि का वर्णन किया गया है। यह सब त्रिलोकसार के अनुसार किया गया है।

कवि ने यह ग्रन्थ नेमिदेव की प्रार्थना से बनाया है। जो पुरवाडवंश में समस्त राजाओं के द्वारा माननीय कामदेव नाम का राजा हुआ। उसकी पत्नी का नाम नामदेवी था, जिससे राम और लक्ष्मण के समान जोमन और लक्ष्मण नाम के दो पुत्र हुए थे[1]। पंच संग्रह दीपक की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि जोमन की पुत्री बड़ी गुणाग्र और धर्माराम रूप वृक्ष की वर्धिका, सर्वज्ञपदारविंदनिरता, सद्दान चिन्तामणी, और व्रतशीलनिष्ठा थी। प्रशस्ति पद्य के अन्तिम अक्षर त्रुटित होने से उसका नाम ज्ञात नहीं हो सका जैसा कि उसके पद्य से प्रकट है[२]।

जोमन का पुत्र नेमिदेव था, उसकी माता का नाम पद्मावती था[3]। नेमिदेव जिनचरणसेवी और सम्यकव से विभूषित था। बड़ा उदार न्यायी, दानी, स्थिर यश वाला और प्रतिदिन जिनदेव की पूजा करता था। उक्त नेमिदेव के अनुरोध से ही ग्रन्थ की रचना की गई है। ग्रन्थ में रचना काल नहीं दिया। इसकी एक प्राचीन प्रति सं० १४३६ में फीरोजशाह तुग़लक के समय की योगिनीपुर (दिल्ली में लिखी हुई ८६ पत्रात्मक उपलब्ध है[४] जो अतिशय क्षेत्र महावीर जी के शास्त्रभंडार में उपलब्ध है। उससे जान पड़ता है कि त्रिलोकदीपक सं० १४३६ से पूर्व रचा गया है।

१. अस्त्यत्र वंश: पुरवाड़ संज्ञ: समस्त पृथ्वीपति माननीय: ।
त्यक्त्वा स्वकीया सुरलोक लक्ष्मी देवा अपीच्छन्ति हि यत्र जन्म ॥६३
तत्र प्रसिद्धोऽजनि कामदेव: पत्नी च तस्या जनि नामदेवी ।
पुत्रौ तयोर्जोमन लक्ष्मणाख्यौ बभूवतु: राघव लक्ष्मणाविव ॥६४ —त्रैलोक्य दीपक प्र०

२. जोमणस्य दुहिता जाता गुणाग्रेसरा ।
धर्मारामतरो: प्रवर्धन सुधाकल्पक पुण्योह का ।
श्री सर्वज्ञपदारविंदनिरता सद्दान चिंतामणी—
श्चारित्त व्रत देवता सुविदिता श्री वाइदे········· । २२१ —अनेकान्तवर्ष २३ कि० ४ पृ० १४६

३. पद्मावती पुत्र पवित्रवंश: क्षीरोदचन्द्रामलयो: यथास्य ।
तनोरुह: श्रीजिनपादसेवी स नेमिदेवाश्चिरमत्र जीयात् ॥
—पंच सं० दीपक शांतिनाथ सेनभंडार खभात

४. देखो, आमेर शास्त्रभंडार जयपुर की सूची पृ० २१८ ग्रन्थ० नं० ३०६ प्रति नं० २

पंचसंग्रह दीपक

इस गन्थ की १०४ पत्रात्मक ताड पत्रीय प्रति खंभात के श्वेताम्बरीय शान्तिनाथसेन भंडार में नं० १३८ उपलब्ध है। उससे ज्ञात होता है कि यह नेमिचन्द्र सिद्धान्त चन्द्रवर्ती के गोम्मटसार अपरनाम पंचसंग्रह की संस्कृत श्लोक बद्ध रचना है, जैसा कि उसके प्रारम्भिक निम्न पद्यों से प्रकट है :—

सिद्धं शुद्धं जिनाधीशं नेमीशं गुणभूषणम् ।
न त्वा ग्रन्थं प्रवक्ष्यामि 'पंचसंग्रह दीपकम्' ॥१॥
नेमिचन्द्रं मुनीन्द्रेण यः कृतः पंचसंग्रहः ।
स वव श्लोक बंधेन प्रव्यक्ती क्रियते मया ॥२॥
बन्धको बध्यमानं च बंधभेदास्तथेसता ।
हेतवश्चेति पचानां संग्रहोऽभ प्रकाशते ॥३॥
यस्तत्र बंधको जीवः सदृ सत्कर्मणां स्वयम् ।
तत्स्वरूप्य प्रकाशाय विंशतिः स्यु प्ररूपणा ॥४॥
गुण जीवाश्च पर्याप्ति प्राणसंज्ञाश्च मार्गणा ।
उपयोग समा युक्ता भवंव्येता-प्ररूपणा ॥५॥
मार्गणा गुण-भेदाभ्ला फवतो के प्ररूपणे ।
मार्गणांतर्गताशेषाः जीव मुख्याः प्ररूपणाः ॥६॥

गोम्मटसार का श्लोक बद्ध यह सस्कृतिकरण अब तक देखने में नही आया था। स्व० मुनिश्री पुण्यविजय जी ने खंभात के शांतिनाथ सेन भंडार की सूची भाग० २ में न० १३६ में पचसगह दीपक का 'श्लोक बद्ध' नाम से परिचय दिया है[1]।

यह ताडपत्र प्रति १३वीं शताब्दी की लिखी हुई है।

'इति श्रीद्रवामदेव विरचिते 'पुरवाट वंश विशेषक श्री नेमिदेव यशः प्रकाशके पंचसंग्रह प्रदीपके बंधक स्वरूप प्र (प्ररूपिणो नाम) प्रथमो अधिकारः ।

यह प्रति संभवतः ग्रन्थ रचना के समय की या आस-पास की रची हुई जान पड़ती है। चूंकि विनयचन्द्र पंडित आशाधर जी के शिष्य थे, उन्होंने विनयचन्द्र को धर्मशास्त्र पढ़ाया था। विनयचन्द्र के शिष्य त्रैलोक्य कीर्ति के शिष्य लक्ष्मीचन्द्र थे। इन लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य वामदेव ने इस ग्रन्थ की रचना की। पं० आशाधर जी १३वी शताब्दी के विद्वान हैं। अतएव उसके बाद वामदेव का समय होना चाहिए। अतः वामदेव का समय विक्रम की १४वीं शताब्दी जान पड़ता है।

अमरकीर्ति

यह ऐन्द्रवंश के प्रसिद्ध विद्वान थे। जो त्रैविद्य कहलाते थे। यह अपने समय के अच्छे विद्वान जान पड़ते हैं। इनका बनाया हुआ धनंजय कवि की नाममाला का भाष्य भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हो चुका है। उस ग्रन्थ की पुष्पिका में उन्हे त्रैविद्य महा पण्डित और शब्द वेधस बतलाया है। भाष्य को देखने से अमरकीर्ति विविध ग्रन्थों के अभ्यासी ज्ञात होते हैं।

"इति महापण्डित श्रीमदमरकीर्तिना त्रैविद्येन श्रीसेन्द्रवंशोत्पन्नेन शब्द वेधसा कृतायां धनंजय नाम मालायां प्रथम काण्डं व्याख्यातम्"

---

1 See – No 139 Panchasangarha Dipak Slok Bandha, Folios 104 Extent Granthas Age M.S Firasta Play of 13th exet 4S- Shautinatha Sain Bhandar Combay

—अनेकान्त वर्ष २३ कि० ४ पृ० १४६

प्रस्तुत कोश का भाष्य लिखते हुए अमरकीर्ति ने परम भट्टारक यश कीर्ति, अमरसिंह, हलायुध, इन्द्रनन्दी, सोमदेव, हेमचन्द्र और आशाधर आदि के नामों का उल्लेख करते हुए महापुराण सूक्त मुक्तावली, हेमीनाममाला, यशस्तिलक, इन्द्रनन्दी का नीति सार और आशाधर के महाभिषेक पाठ का नामोल्लेख किया है। इनमे आशाधर का समय स० १२४६ से १३०० तक है। अत अमरकीर्ति इसके बाद के विद्वान ठहरते है। यह १३वी शताब्दी के उपान्त्य समय के या १४वी शताब्दी के पूर्वार्ध के विद्वान होने चाहिए।

हस्तिमल्ल

इन के पिता का नाम गोविन्द भट्ट था, जो वत्सगोत्री दक्षिणी ब्राह्मण थे। उन्होंने आचार्य समन्तभद्र के 'देवागमस्तोत्र' को सुनकर सद्‌दृष्टि प्राप्त की थी—सर्वथा एकान्तरूप मिथ्यादृष्टि का परित्याग कर अनेकान्तरूप सम्यक्‌दृष्टि के श्रद्धालु बने थे। उनके छह पुत्र थे—श्री कुमार, सत्यवाक्य, देवर वल्लभ, उदयभूषण, हस्तिमल्ल और वर्धमान[1]। ये सभी पुत्र सस्कृतादि भाषाओं के मर्मज्ञ और काव्य शास्त्र के अच्छे जानकार एव कवि थे।

हस्तिमल्ल कवि का असली नाम नहीं है। असली नाम कुछ और ही रहा होगा। यह नाम उन्हे सरण्यापुर में एक मदोन्मत्त हाथी को वश में करने के कारण पाण्ड्य राजा द्वारा प्राप्त हुआ था। उस समय राज सभा में उनका अनेक प्रशसा वाक्य से सत्कार किया गया था[2]। हस्ति युद्ध का उल्लेख सुभद्रा नाटक मे कवि ने स्वय किया है। उसमें जिन मुनि का रूप धारण करने वाले किसी धूर्त को भी परास्त करने का उल्लेख है।

कवि के सरस्वती स्वयवर वल्लभ, महा कवि तल्लज और 'सूक्तिरत्नाकर' विरुद थे।

कवि हस्तिमल्ल गृहस्थ विद्वान थे। इनके पुत्र का नाम पार्श्व पंडित था। जो अपने पिता के समान ही यशस्वी, शास्त्र मर्मज्ञ और धर्मात्मा था। हस्तिमल्ल ने अपनी कीर्ति को लोक व्यापी बना दिया था। और स्याद्वादशासन द्वारा विशुद्ध कीर्ति का अर्जन किया था। वे पुण्य मूर्ति और अशेष कवि चक्रवर्ती कहलाते थे। तथा परवादिरूप हस्तियो के लिये सिह थे। अतएव हस्तिमल्ल इस सार्थक नाम से लोक मे विश्रुत थे। इन्हे अनेक विरुद अथवा उपाधिया प्राप्त थी, जिनका समुल्लेख कवि ने स्वय विक्रान्त कौरव नाटक में किया है। 'राजा वलाकथे' के कर्ता कवि देवचन्द्र ने हस्तिमल्ल को 'उभय भाषा कविचक्रवर्ती' सूचित किया है। कविवर हस्तिमल्ल ने स्वय अपने को कनड़ी आदि पुराण की पुष्पिका मे उभय भाषा चक्रवर्ती लिखा[3] है। ऐसा जैन साहित्य और इतिहास से ज्ञात होता है। इससे वे सस्कृत और कनड़ी भाषा के प्रौढ़ विद्वान जान पड़ते है। उनके नाटक तो कवि की प्रतिभा के सद्योतक है ही, किन्तु जैन साहित्य में नाटक परम्परा के जन्मदाता है। मेरे ख्याल में शायद उस समय तक नाटक रचना नही हुई था। कविवर हस्तिमल्ल ने इस कमी को दूर कर जैन समाज का बड़ा उपकार किया है। यह उस समय

१. गोविन्दभट्ट इत्यासीद्विद्वान्मिथ्यात्ववर्जित.। देवागमन सूत्रस्यश्रुत्या सद्दर्शनान्वित ।
अनेकान्तमतं तत्त्व बहुमन विदावर., नन्दनातस्य सजाता वाधिकाश्च नकोविदः ॥
दाक्षिणात्या जयन्त्यत्र स्वर्णयक्षीप्रसादत., श्रीकुमारकविः सत्यवाक्यो देवरवल्लभ. ॥
उद्यद्‌भूषणनामा च हस्तिमल्लाभिधानका ; वर्धमानकविश्चेति षड् भूवन् कवीश्वरः । विक्रन्त कौरव

२. श्रीवत्सगोत्रजनभूषणगोत्रभट्टप्रेमैकधामतनुजो भुविहस्तियुद्धात् ।
नाना कलाम्बुनिधिपाण्ड्यमहीश्वरेण श्लोकै. शतैस्समदसि सत्कृतवान् बभूव ॥ विक्रन्तकौरव

३. सम्यक्त्व सुपरीक्षित मदगजे मुक्ते सरण्यापुरे ।
चास्मिन्पाण्ड्यमहेश्वरेण कपटाद्धन्तु स्वमभ्यागते (त) ।
शैलूष जिनमुद्धधारिणमपास्यासौ मदध्वसिना ।
श्लोकेनापिमदेभमल्ल इति य. प्रख्यातवान्सूरिभि ॥—सुभद्रा,
सम्यक्त्वस्य परीक्षार्थ मुक्त मत्तमतगजम् । यः सरण्यापुरे जित्वा हस्तिमल्लेति कीर्तित ॥

४. 'इत्युभयभाषा कविचक्रवर्ति हस्तिमल्ल विरचित पूर्वपुराण महाकथाया दशमपर्वम् ।'' —आदि पु० पुष्पिका

के कवियों में तो अग्रणो थे ही, कि तु नाटकों के प्रणयन में भी दक्ष थे आपक ज्येष्ठभ्राता सत्य वाक्य आपकी सूक्तियों की बड़ी प्रशंसा किया करते थे।

हस्तिमल्ल ने पाण्ड्य नरेश का अनेक स्थानों पर उल्लेख किया है, पर उन्होंने उनके नाम का उल्लेख नही किया। वे उनके कृपापात्र थ और उनकी राजधानी में अपने विद्वान आप्तजनों क साथ आ बसे थ। पाण्ड्य नरेश ने सभा में उनका खूब सम्मान किया था। पाण्ड्य नरेश अपने भुजबल से कर्नाटक प्रदेश पर शासन करते थे[1]।

ब्रह्मसूरि ने प्रतिष्ठा सारोद्धार में लिखा है कि वे स्वय हस्तिमल्ल के वश में हुए है, उन्होंने उनके परिवार के सम्बन्ध में भी प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा है कि पाण्ड्यदेश में दीप गुडिपत्तन[2] के शासक पाण्ड्य राजा थे। वे बड़े धर्मात्मा, वीर, कलाकुशल और विद्वानों का आदर करते थे। वहा भगवान आदिनाथ का रत्न सुवर्ण जटित सुन्दर मन्दिर था, जिसमे विशाखनदो आदि विद्वान मुनि रहते थे। कवि क पिता गोविन्दभट्ट यही के निवासी थे। पाण्ड्यराजाओं का राज्य दक्षिण कार्नाटक में रहा है। कार्किल वगैरह भी उसमें शामिल थे। इस देश में जैनधर्म का अच्छा प्रभाव रहा है। इस वंश में प्राय सभी राजा जैनधर्म पर प्रेम और आस्था रखते थे। कवि हस्तिमल्ल विक्रम की १४वी शताब्दी के विद्वान थे। कर्नाटक कवि चरित्र क कर्ता आर० नर्रसहाचार्य ने हस्तिमल्ल का समय ईसा की १३वी शताब्दी का उत्तरार्ध १२९० और विक्रम स० १३४७ निश्चित किया है।

रचनाएं

कवि की सात रचनाए उपलब्ध है। विक्रान्तकौरव, मैथिली कल्याण, अजनापवनजय और सुभद्रा। ये चारों नाटक माणिकचन्द्र ग्रथमालामें प्रकाशित हो चुके है। प्रतिष्ठा पाठ आरा जैन सिद्धान्तभवन मे है और दो रचनाएं कन्नड भाषा की है आदिपुराण और श्री पुराण। उनकी मूल प्रतिया। मूर्लबिद्री और वराग जैन मठों में पाई जाती है। कन्नड आदि पुराण का परिचय डा०ए०एन० उपाध्ये ने अंग्रेजी में हस्तिमल्ल एण्ड हिज आदिपुराण नामक लेख में कराया है।

पं० नरसेन

इन्होंने अपना कोई परिचय नहीं दिया। इनकी दो कृतियां उपलब्ध हैं। सिद्धचक्रकथा और जिणरत्ति-विहाण कथा।

सिद्ध चक्र कथा (श्रीपाल चरित)—इस ग्रन्थ में सिद्धाचक्र व्रतके माहात्म्य को व्यक्त करने वाली कथा दी हुई है। चम्पा नगरी के राजा श्रीपाल अशुभोदय वस और उनके सातसौ साथी भयंकर कुष्ट रोग से पीड़ित हो गए। रोग की वृद्धि हो जाने पर उनका नगर में रहना असह्य हो गया। उनके शरीर की दुर्गध से जनता का वहां रहना भी दूभर हो गया। तब जनता के अनुरोध से उन्होंने अपना राज्य अपने चाचा अरिदमन को दे दिया और

१. कि वीणागुणभंकृतैः किमथवा सार्द्रैर्मधुस्यन्दिभि—
विभ्राम्यत्सहकारकोरकशिखाकर्णावतंसैरपि।
पर्याप्ताः श्रवणोत्सवाय कवितासाम्राज्यलक्ष्मीपते।
सत्य नस्तव हस्तिमल्लसुभगाम्नाम्नाः सदासूक्तयः॥—मै०क० ना०

२. दीपंगुडी पत्तनमस्तितस्मिन् हर्म्यावलीतोरणराजिगोपुरैः।
मनोहरागारसुरत्नसंभृतैरुद्यानजैर्भात्यमरावतीव॥३
तद्राजराजेन्द्रमुपाण्ड्यभूपः कीर्त्या जगद्व्यापितवान सुधर्मा।
रराज भूमाविति निस्सपत्नः कलान्वितः सद्विबुधैः परीतः॥४
तत्रास्ति सद्रत्नसुवर्णतुंगचैत्यालये श्रीवृषभेश्वरो जिनः।
विशाखनन्दीशमुनीद्रमुख्याःसच्छास्त्रवन्तो मुनयो वसन्ति॥५

प्रशस्ति सग्रह, आरा पृ० १६२

कहा कि जब मेरा रोग ठीक हो जायेगा, तब मैं अपना राज्य वापिस ले लूंगा। श्रीपाल अपने साथियों के साथ नगर छोड़ कर चले गए, और अनेक कष्ट भोगते हुए उज्जैन नगर के बाहर जंगल में ठहर गए। वहां का राजा अपने को ही सब कुछ मानता था कर्मों के फल पर उसका विश्वास नहीं था। उसकी पुत्री मैना सुन्दरी ने जैन साधुओं के पास विद्याध्ययन किया था कर्मसिद्धान्त का उसे अच्छा परिज्ञान हो गया था। उसकी जैनधर्म पर बड़ी श्रद्धा और भक्ति थी ! साथ ही साध्वी और शीलवती थी। राजा ने उसे अपना पति चुनने के लिये कहा, परन्तु उसने कहा कि यह कार्य शीलवती पुत्रियों के योग्य नहीं है। इस सम्बन्ध में आप ही स्वय निर्णय करें। राजा ने उसके उत्तर से असन्तुष्ट हो उसका विवाह कुष्ट रोगी श्रीपाल के साथ कर दिया। मंत्रियों ने बहुत समझाया परन्तु उस पर राजा ने कोई ध्यान न दिया। निदान कुछ ही समय में मैना सुन्दरी ने, सिद्ध चक्र का पाठ भक्ति भाव से सम्पन्न किया और जिनेन्द्र के अभिषेक जल से उन सब का कुष्ठ रोग दूर हो गया। और वे सुखपूर्वक रहने लगे। पश्चात् श्रीपाल बारह वर्ष के लिये विदेश चला गया, वहां भी उसने कर्म के अनेक शुभाशुभ परिणाम देखे और बाह्यविभूति के साथ बारह वर्ष बाद मैनासुन्दरी से आ मिला। उसे पटरानी बनाया और चम्पापुर जाकर चाचा से अपना राज्य वापिस लेकर प्रजा का सुखपूर्वक पालन किया। अन्त में तप द्वारा आत्म-लाभ किया। इस कथानक से सिद्धचक्र की महत्ता का आभास मिलता है। रचना सुन्दर और संक्षिप्त है। कथानक रोचक होने के कारण इस पर अनेक ग्रन्थकारों की विभिन्न कृतियां पाई जाती हैं। ग्रन्थ में रचना काल और रचना स्थल का उल्लेख नही है।

जिनरात्रि कथा— इसे वर्धमान कथा भी कहा जाता है। जिस रात्रि में भगवान महावीर ने अष्ट कर्म का नाशकर अविनाशी पद प्राप्त किया उस व्रत की यह कथा शिवरात्रि के ढंग पर रची गई है। उस रात्रि मे जनता को इच्छाओं पर नियत्रण रखते हुए आत्म-शोधन का प्रयत्न करना चाहिये। रचना सरस है। कवि ने रचना में अपना कोई परिचय नहीं दिया और न गुरु परम्परा तथा समयादि का कोई उल्लेख ही किया है। इससे कवि के सम्बन्ध में कोई जानकारी नही प्राप्त हो सकी।

सिद्ध चक्र कथा की प्रति सं० १५१२ लिखी हुई उपलब्ध है, उस से इतना तो सुनिश्चित है कि ग्रन्थ उक्त संवत् से पूर्व बन चुका था। संभवतः ग्रन्थ १४वीं शताब्दी के आस-पास कहीं रचा गया जान पड़ता है।

सुप्रभाचार्य

इनका कोई परिचय प्राप्त नहीं है। इनकी एकमात्र कृति ७७ दोहात्मक वैराग्यसार है। जिसमें संसार के पदार्थों की असारता दिखलाते हुए वैराग्य को पुष्ट किया गया है। दोहों का अर्थ व्यक्त करने वाली अज्ञात कर्तृक एक संस्कृत टीका भी है, जो जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १६ किरण २ और भाग १७ किरण १ में प्रकाशित है। दोहा उपदेशिक है। पाठकों की जानकारी के लिये उसमें से कुछ दोहा भावानुवाद के साथ नीचे दिये जाते हैं। भाषा सरल कथनी सम्बोधात्मक हैं। ग्रन्थ का पहला पद्य ही वैराग्यभाव का प्रतिपादन करता है। ससार में जहां एक घर में बधाई मंगलाचार हो रहे हैं वहीं दूसरे घर में धाड़मार-मार कर रोया जा रहा है। कवि सुप्रभपरमार्थ-भावसे कहता है कि ऐसी विषम स्थिति में वैराग्यभाव क्यों धारण नहीं किया जाता ?

इक्कहि घरे बधामणा अण्णहि घरि धाहहि रोविज्जइ।
परमत्थइं सुप्पउ भणइ, किम वइरायाभाउ ण किज्जइ ॥१

सांसारिक विषयों की अस्थिरता और संसार की दुःखबहुलता का प्रतिपादन करते हुए कवि सुप्रभ कहते हैं। कि हे धार्मिको ! दशविध धर्म से स्खलित मत होओ, सूर्योदय के समय जो शुभ ग्रह थे। वे सूर्यास्त के होने पर श्मशान हो गए।

सुप्पउ भणइ रे धम्मिपहु खसहु म धम्मवियाणि।
जे सूरग्गमि धवलहरि ते अंथवण मसाण ॥२

कवि सुप्रभ का कहना है कि परोपकार करना मत छोड़, क्योंकि संसार क्षणिक है जब चन्द्रमा और सूय भी अस्त हो जाते हैं तब अन्य कौन स्थिर रह सकता है।

सप्पउ भणइ मा परिहरहु पर उवयार चरत्थु ।
ससि-सूर दुहु अंथणि अण्ण हं कवण थिरत्थु ।। ३

यह जीव गुरुतर गंभीर पाप करके शरीर सरक्षणार्थ धन का संचय करता है, कवि सुप्रभ कहते है कि धन रक्षित वह शरीर दिन पर दिन गलता जाता है, ऐसी अवस्था में धन-धान्यादि अन्य परिग्रह कैसे नित्य हो सकते हैं।

जसु कारणि धन संचइ पाव करे वि गहीरु ।
तं पिच्छहु सुप्पउ भणइ, दिणि दिणि गलइ सरीरु ।।३६

जो पुरुष दीनों को धन देता है, सज्जनों के गुणों का आदर करता है। और मन को धर्म में लगाता है। कवि सुप्रभ कहते है कि विधि भी उसकी दासता करता है।

धणु दीणहं गुण सज्जणहं मणु धम्महं जो देइ ।
तह पुरिसे सुप्पउ भणइ विही दासत्तु कोइ ।।३८

जिस तरह अपने वल्लभ (प्रिय) का ध्यान किया जाता है वैसा यदि अरहंत का ध्यान किया जाय तो कवि सुप्रभ कहते हें कि तब मनुष्यों के घर के आंगन में ही स्वर्ग हो जाय।

जिम भाइज्जइ वल्लहउ तिमजइ जिय अरिहंतु ।
सुप्पउ भणइ ते माणसहं सग्गु घरिंगण हुतु ।।६

इस तरह यह वैराग्य सार दोहा भावात्मक उपदेश का सुन्दर ग्रन्थ है। दोहों की भाषा हिन्दी के अत्यन्त नजदीक है। इसमे यह ग्रन्थ १८वीं शताब्दी का जान पड़ता है।

विद्यानन्द

मूलसंघ बलात्कारगण सस्वतीगच्छ कुन्दकुन्दान्वय के विद्वान राय राजगुरुमंडलाचार्य महा वाद-वादीश्वर सकल विद्वज्जन चक्रवर्ती सिद्धन्ताचार्य पूज्यपाद स्वामी के शिष्य थे। शक सं० १३१३ या १३१४ (सन् १३६२ ई०) अंगिरस संवत्सर में फाल्गुन महीने के कृष्ण पक्ष की दशमी शनीवार के दिन विद्यानन्द के नाम पर निषिधि का निर्माण किया गया था। अतः मलखेड के यह विद्यानन्द ईसा को १५वीं सदी के विद्वान है।

जैनिज्म इन साउथ इंडिया पृ० ४२२

भास्करनन्दी

प्रस्तुत भास्करनन्दी सर्वसाधु के प्रशिष्य और मुनि जिनचन्द्र के शिष्य थे। जैसा 'सुखबोधा' नामक तत्त्वार्थवृत्ति को प्रशस्ति के निम्न पद्यो से प्रकट है :—

"नो निष्ठीवेन्न शेते वदति च न परं एहि याहीति जातु ।
नो कण्डूयेत गात्रं व्रजति न निशि नोद्धाट्येद्द्वार्नंधत्ते ।
नावष्टं भ्नाति किञ्चिद् गुणनिधिरिति यो बद्धपर्यङ्कयोगः ।
कृत्वा संन्यासमन्ते शुभगतिरभवत्सर्वसाधु प्रपूज्यः ।।२
तस्यासीत्सुविशुद्धदृष्टिविभवः सिद्धांतपारंगतः ।
शिष्यः श्रीजिनचन्द्रनामकलितश्चारित्र भूषान्वितः ।।
शिष्यो भास्करनन्दिनामविबुधस्तस्या भवत्तत्ववित
तेनाकारि सुखादिबोधविषया तत्त्वार्थवृत्तिः स्फुटं ।

भास्करनन्दी[1] नाम के एक विद्वान का उल्लेख लक्ष्मेश्वर (मैसूर) के सन् १०७७-७८ के लेख में मिलता

१. एक भास्करनन्दी का उल्लेख आरा जैन सिद्धान्त भवन की न्याय कुमुदचन्द्र की लिपि प्रशस्ति में सौव्यनन्दी के प्रशिष्य और देवनन्दी के शिष्य भास्करनन्दी का उल्लेख है, जो उनसे भिन्न हैं। (अनेकान्त वर्ष १ पृ० १३३

है। सूरस्थगण के श्रीनन्दिपंडित देव तथा उनके बन्धु भास्करनन्दि पंडितदेव के समाधिमरण का उल्लेख है। (जैन लेख स० भा० ४ पृ० ११३)।

जिनचन्द्र नाम के भी अनेक विद्वान हो गए हैं: -

एक जिनचन्द्र का उल्लेख स० १२२६ के विजोलिया के शिलालेख में है जो लोलाक के गुरु थे।

कलसापुर (मैसूर) के सन् ११७६ के शिलालेख में बालचन्द्र की गुरुपरम्परा में गोपनन्दि चतुर्मुखदेव के बाद जिनचन्द्र का उल्लेख है[1]।

श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० ५६ मे एक योगि जिनचन्द्र का उल्लेख है[2]।

चौथे जिनचन्द्रवे है। जिनका स० १४४८ (सन्१३९२) के लेख में जिनचन्द्र भट्टारक के द्वारा मूर्ति स्थापना का उल्लेख है[3]।

पाचवे जिनचन्द्र वे है जिनका उल्लेख माधवनन्दी की गुरु परम्परा में गुणचन्द्र के बाद जिनचन्द्र का नाम दिया है।

छठे जिनचन्द्र भास्करनन्दि के गुरु हैं। और सातवें जिनचन्द्र मूलसघ के भट्टारक शुभचन्द्र क पट्धर है, जो स० १५०७ में प्रतिष्ठित हुए थे। इनका समय विक्रम की सोलहवीं शताब्दी है।

इन जिनचन्द्रों में से कोन से जिनचन्द्र भास्करनन्दि के गुरु थे, यह निश्चित करना कठिन है।

भास्करनन्दि ने अपनी सुखबोधवृत्ति के तीसरे अध्याय के तोसरे सूत्र की टीका में निम्न पद्य उद्धृत किया हैं :—जो डड्ढा के संस्कृत पच सग्रह के जीव समास प्रकरण का १९८ वां पद्य है :—

द्विष्कापोताथ का पोता नील नीला च मध्यमा।
नीलाकृष्णे च कृष्णाति कृष्णरत्नप्रभादिषु॥
पंच स० १-१९८ पृ० ६७०

इसके अतिरिक्त भास्करनन्दी ने चतुर्थ अध्याय के दूसरे सूत्र की टीका में निम्न पद्य उद्धृत किये हैं—

"लेश्या योगप्रवृत्तिः स्यात्कषायोदयरञ्जिताः।
भावतो द्रव्यतोऽङ्गस्य छविः षोढोमतो तु सा"॥१ १८४
"षड्लेश्यांगा मतेऽन्येषां ज्योतिष्का भौमभावनाः।
कापोतमुद्गगोमूत्र वर्णलेश्यानिलाङ्गिनः॥१-१९०
"लेश्याश्चतुर्षु षट् च स्युस्तिस्रस्तिस्रः शुभास्त्रिषु।
गुणस्थानेषु शुक्लैका षट्सु निर्लेश्यमन्तिमम्॥१-१९५
आद्यास्तिस्रोप्य पर्याप्तेष्व संख्येयाब्दं जीविषु।
लेश्याः क्षायिक सदृष्टौ कापोतास्या ज्जघन्यका"॥१-१९६
षट्न्ट-तिर्यक्षु तिस्रोऽन्यास्तेष्वसंख्याब्द जीविषु।
एकाक्ष विकला संज्ञिष्वाद्यं लेश्यात्रयं मतम्"॥१-१९७

इससे स्पष्ट है कि भास्करनन्दि ने उक्त पद्य डड्ढा के संस्कृत पचसंग्रह से उद्धृत किये हैं। डड्ढा का समय विक्रम की ११वी शताब्दी का पूर्वार्ध है। और भास्करनन्दि उसके बहुत बाद हुए हैं।

शान्तिराज शास्त्री ने 'सुखबोधावृत्ति' की प्रस्तावना में भास्करनन्दी का समय ईसा की १३वीं शताब्दी का अन्तिम भाग बतलाया है। मेरी राय में इनका समय विक्रम की १४वीं शताब्दी होना संभव है ग्रन्थ सामने न होने से उस पर इस समय विशेष विचार नहीं किया जा सकता।

भास्करनन्दी की दूसरी कृति ध्यानस्तव है। जिसमें मय प्रशस्ति पद्यों के १०० पद्य हैं, जिनमें ध्यान का वर्णन किया है इसका ध्यान से समीक्षण करने पर उसपर तत्त्वानुशासनादिग्रन्थों का प्रभाव परिलक्षित होता है।

---

१. जैन लेख स० भा० ४ पृ० २०१
२. जैन लेख संग्रह भा० १ पृ० ११५
३. जैन लेख सं० भा० ४ पृ० २८७

छठा अध्याय

१५वीं, १६वीं, १७वीं और १८वीं शताब्दी के आचार्य, भट्टारक और कवि

कवि रइधू
हरिचन्द्र अग्रवाल
भट्टारक पद्मनन्दी
भट्टारक यशःकीर्ति
मुनि कल्याणकीर्ति
भट्टारक प्रभाचन्द्र
भ० शुभकीर्ति
कवि मंगराज (तृतीय)
सोमदेव
पद्मनाभ कायस्थ
कवि धनपाल
भट्टारक सकलकीर्ति
पण्डित रामचन्द्र
नागदेव
चारुकीर्ति पण्डितदेव
लक्ष्मीचन्द्र
कवि हल्ल या हरिचन्द्र
कवि असवाल
ब्रह्म साधारण
बुध विजयसिंह
भट्टारक शुभचन्द्र
भ० रत्नकीर्ति
पंडित योगदेव
कवि जल्हिग
नेमचन्द्र
पण्डित नेमिचन्द्र
भ० शुभचन्द्र
कवि भास्कर
भ० कमलकीर्ति
कवि चन्द्रसेन
कवि गोविन्द
कवि कोटीश्वर
पंडित खेता
भट्टारक ज्ञानभूषण
कवि दामोदर
नागचन्द्र
अभिनव समन्तभद्र
भ० गुणभद्र
ब्रह्म श्रुतसागर
ब्रह्म नेमिदत्त
अभिनव धर्मभूषण
भ० विद्यानन्दि
भ० श्रुतकीर्ति
कवि माणिक्यराज
कवि तेजपाल
भ० सोमकीर्ति
अजित ब्रह्म
कवि ठकुरसी
ब्रह्म जी बंधर
पं० नेमिचन्द्र (प्रतिष्ठा तिलक के कर्ता)
कवि धर्मधर
पं० हरिचन्द्र
पं० मेघावी
कवि महाचन्द्र
भ० प्रभाचन्द्र
भ० शुभचन्द्र
भ० अमरकीर्ति
वीर कवि या बुधवीरु
कवि दोड्डय्य
पंडित जिनदास

ब्रह्म कृष्ण या केशवसेन सूरि
वादिचन्द्र
कवि राजमल्ल
शाह ठाकुर
भट्टारक विश्वसेन
भट्टारक विद्याभूषण
भ० श्रीभूषण
भ० चन्द्रकीर्ति
भ० सकलभूषण
भ० धर्मकीर्ति
भ० गुणचन्द्र
भ० रतनचन्द्र
वादि विद्यानन्द
ब्रह्म कामराज
ब्रह्म रायमल्ल
भ० ज्ञानकीर्ति
पण्डित रूपचन्द्र
सुमतिकीर्ति
भट्टकलंकदेव
कवि भगवतीदास
भ० सिंहनन्दी
पण्डित शिवाभिराम
पण्डित अक्षयराम
कवि नागव
पं० जगन्नाथ
कवि वादिराज
अरुणमणि (लालमणि)
भ० देवेन्द्रकीर्ति
भ० धर्मचन्द्र
विमलदास

कविवर रइधू

कविवर रइधू संघाधिप देवराय के पौत्र और हरिसिंघ के पुत्र थे, जो विद्वानों को आनन्ददायक थे, और माता का नाम 'विजयसिरि' (विजयश्री) था[१] जो रूपलावण्यादि गुणों से अलंकृत होते हुए भी शील संयमादि सद्गुणों से विभूपित थी। कविवर की जाति पद्मावती पुरवाल थी और कविवर उक्त पद्मावती कुलरूपी कमलों को विकसित करने वाले दिवाकर (सूर्य) थे जैसाकि 'सम्मइजिनचरिउ' ग्रंथ की प्रशस्ति के निम्न वाक्यों से प्रकट है—

चंस देवराय संघाहिब णंदणु, हरिसिंघु बुहयण कुल, आणंदणु।
'पोमावइ कुल कमल-दिवायरु, हरिसिंघु बुहयण कुल, आणंदणु।
जस्स घरिज रइधू बुह जायउ. देव-सत्थ-गुरु-पय-अणुरायउ ।।'

कविवर ने अपने कुल का परिचय 'पोमावइकुल' पोमावइ 'पुरवाडवंस' जैसे वाक्यों द्वारा कराया है। जिससे वे पद्मावती पुरवाल नाम के कुल में समुत्पन्न हुए थे। जैनसमाज में चोरासी उपजातियों के अस्तित्व का उल्लेख मिलता है। उनमें कितनी ही जातियों का अस्तित्व आज नही मिलता। किन्तु इन चोरासी जातियों में ऐसी कितनी ही उपजातियां अथवा वंश हैं जो पहले कभी बहुत कुछ समृद्ध और सम्पन्न रहे हैं; किंतु आज वे उतने समृद्ध एवं वैभवशाली नहीं दिखते और कितने ही वंश एवं जातियां प्राचीन समय में गौरवशाली रही हैं किंतु आज उक्त संख्या में उनका उल्लेख भी शामिल नहीं है। जैसे धर्कट[२] आदि।

इन चौरासी जातियों में पद्मावती पुरवाल भी एक उपजाति है, जो आगरा, मैनपुरी, एटा, ग्वालियर आदि स्थानों में आबाद है। इनकी जन-संख्या भी कई हजार पाई जाती है। वर्तमान में यह जाति बहुत कुछ पिछड़ी हुई है तो भी इसमें कई प्रतिष्ठित विद्वान है। वे आज भी समाज-सेवा के कार्य में लगे हुए हे। यद्यपि इस जाति के विद्वान् अपना उदय ब्राह्मणों से बतलाते हैं और अपने को देवनन्दी (पूज्यपाद) का सन्तानीय भी प्रकट करते हैं, परन्तु इतिहास से उनकी यह कल्पना केवल कल्पित जान पड़ती है। इसके दो कारण है। एक तो यह कि उपजातियों का इतिवृत्त अभी अंधकार में है। जो कुछ प्रकाश में आ पाया है, उसके आधार से उसका अस्तित्व विक्रम की दशमी शती से पूर्व का ज्ञात नही होता। हो सकता है कि वे उसके भी पूर्ववर्ती रही हों, परन्तु बिना किसी प्रामाणिक आधार के इस सम्बन्ध में कुछ नही कहा जा सकता,

पट्टावली वाला दूसरा कारण भी प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि पट्टावली में आचार्य पूज्यपाद (देवनन्दी) को पद्मावती-पुरवाल लिखा है, परन्तु प्राचीन ऐतिहासिक प्रमाणों से उनका पद्मावती-पुरवाल होना प्रमाणित नही होता, कारण कि देवनन्दी ब्राह्मण कुल में समुत्पन्न हुए थे।

जाति और गोत्रों का अधिकांश विकास अथवा निर्माण गाव, नगर और देश आदि के नामों पर से हुआ है। उदाहरण के लिए सांभर के आस-पास के बघेरा स्थान से बघेरवाल, पाली से पल्लीवाल, खण्डेला से खण्डेलवाल, अग्रोहा से अग्रवाल, जायस अथवा जेसा से जैसवाल और ओसा से ओसवाल जाति का निकास हुआ है। तथा चंदेरी के निवासी होने से चन्देरिया, चन्दवाड से चांदुवाड या चांदवाड और पद्मावती नगरी से पद्मावतिया आदि गोत्रों एवं मूर का उदय हुआ है। इसी तरह अन्य कितनी ही जातियों के सम्बंध में प्राचीन लेखों, ताम्रपत्रों, सिक्कों, ग्रन्थ-प्रशस्तियों और ग्रन्थों आदि पर से उनके इतिवृत्त का पता लगाया जा सकता है।

१. हरिसिघहु पुत्ते गुणगण जुत्ते हूंसिवि विजयसिरि णंदणेण।

—समत्त गुणनिधान जैन ग्रन्थ प्र०, प्रस्ता० भा०: पृ० ८७

२. यह जाति जैन समाज में गौरवशालिनी रही है। इसमें अनेक प्रतिष्ठित श्रीसम्पन्न श्रावक और विद्वान् हुए हैं जिनकी कृतियां आज भी अपने अस्तित्व से भूतल को समलंकृत कर रही हैं। भविष्यदत्त कथा के कर्ता बुध धनपाल और धर्मपरीक्षा के कर्ता बुध हरिषेण ने भी अपने जन्म से 'धर्कट वंश को पावन किया है। हरिषेण ने अपनी धर्मपरीक्षा वि० सं० १०४४ में बनाकर समाप्त की है। धर्कट वंश के अनुयायी दिगम्बर श्वेताम्बर दोनो ही सम्प्रदायों में रहे हैं।

उक्त कविवर के ग्रंथों में उल्लिखित 'पोमावइ' शब्द स्वय पद्मावती नाम को नगरी का वाचक है। यह नगरी पूर्व समय में खूब समृद्ध थी। उसकी इस समृद्धि का उल्लेख खजुराहो के वि० सं० १०५२ के शिलालेख में पाया जाता है। इसमे यह बतलाया गया है कि यह नगरो ऊँचे-ऊँचे गगनचुम्बी भवनों एवं मकनातां से सुशाभित थी उसके राजमार्गों में बड़े-बड़े तेज तुरंग दौड़ते थे और उसकी चमकती हुई स्वच्छ एव शुभ्र दीवारें आकाश से बातें करती थीं—

सोधुत्तुंगपतङ्गलङ्घनपथप्रोत्तुंगमालाकुला,
शुभ्राम्रंकषपाण्डुराच्चशिखरप्राकारचित्रा (म्ब) रा
प्रालेयाचल श्रृङ्गसन्नि (नि) भशुभप्रासादसद्मावती
भव्यापूर्वमभूदपूर्वरचना या नाम पद्मावती ॥
त्वंगत्तुंगतुरंगमोदगमक्षु (खु) रक्षोदाद्रजः प्रो [द्ध] त,
यस्यां जीर्न (र्ण) कठोर बभु (स्र) मकरो कूर्मोदराभं नम ।
मत्तानेककरालकुम्भि करटप्रोत्कृष्टवृष्ट्या [द् भु] वं ।
तं कर्दम मुद्रिया क्षितितलं ता ब्रू (ब्र) त किं संस्तुमः ॥

—Enigraphica Indica V. I. P. 149

इस समुल्लेख पर से पाठक सहज ही में पद्मावती नगरी की विशालता का अनुमान कर सकते हैं। इस नगरी को नागराजाओं की राजधानी बनने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ था और पद्मावती कांतिपुरी तथा मथुरा में नौ नागराजाओं के राज्य करने का उल्लेख मिलता है[१]। पद्मावती नगरी के नागराजाओं के सिक्के भी मालवा में कई जगह मिले हैं[२]। ग्यारहवीं शताब्दी में रचित 'सरस्वती कंठाभरण' में भी पद्मावती का वर्णन है। मालती-माधव में भी पद्मावती का कथन पाया जाता है जिसे लेखवृद्धि के भय से छोड़ा जाता है। परंतु खेद है कि आज यह नगरी वहां अपने उस रूप में नही है किन्तु ग्वालियर राज्य में उसके स्थान पर 'पवाया' नामक एक छोटा सा गांव बसा हुआ है, जो कि देहली से बम्बई जाने वाली रेलवे लाइन पर 'देवरा' नाम के स्टेशन से कुछ ही दूर पर स्थित है। यह पद्मावती नगरी ही पद्मावती जाति के निकास का स्थान है। इस दृष्टि से वर्तमान 'पवाया' ग्राम पद्मावती पुरवालों के लिए विशेष महत्व की वस्तु है। भले ही वहां पर आज पद्मावती पुरवालों का निवास न हो, किन्तु उसके आस पास आज भी वहां पद्मावती पुरवालों का निवास पाया जाता है। ऊपर के इन सब उल्लेखों पर से ग्राम नगरादिक नामों पर से उपजातियों की कल्पना को पुष्टि मिलती है।

श्रद्धेय पं० नाथूरामजी प्रेमी ने 'परवार जाति के इतिहास पर प्रकाश' नाम के अपने लेख में परवारों के साथ पद्मावती पुरवालों का सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न किया था[३] और पं० बखतराम के 'बुद्धिविलास' के अनुसार सातवां भेद भी प्रगट किया है[४]। हो सकता है कि इस जाति का कोई सम्बन्ध परवारों के साथ भी रहा हो किन्तु पद्मावती पुरवालों का निकास परवारों के सत्तममूर पद्मावतिया से हुआ हो। यह कल्पना ठीक नहीं जान पड़ती और न किन्हीं प्राचीन प्रमाणों से उसका समर्थन ही होता है और न सभी 'पुरवाडवंश' परवार ही कहे जा सकते हैं। क्योंकि पद्मावती पुरवालों का निकास पद्मावती नगरी के नाम पर हुआ है, परवारों के सत्तममूर से नहीं। आज भी जो लोग कलकत्ता और देहली आदि दूर शहरों में चले जाते हैं उन्हे कलकतिया या कलकत्ते

१. नवनागा पद्मावत्यां कांतिपुर्या मथुरायां, विष्णु पु० अंश ४ अ० २४।

२. देखो, राजपूताने का इतिहास प्रथम जिल्द पहला संस्करण पृ० २३०।

३. देखो, अनेकान्त वर्ष ३ किरण ७

४. सात खांप परवार कहावें, तिनके तुमको नाम सुनावें।
अठसक्खा पुनि हैं चौसक्खा, ते सक्खा पुनि हैं दोसक्खा।
सोरठिया अरु गांगज जानो, पद्मावतिया सत्तम मानो॥ —बुद्धि विलास

वाला देहलवी या दिल्ली वाला कहा जाता है, ठीक उसी तरह परवारों के सत्तमूर पद्मावतिया, की स्थिति है।

गाव के नाम पर से गोत्र कल्पना कैसे की जाती थी इसका उदाहरण प० बनारसीदासजी के अर्धकथानक से ज्ञात होता है और वह इस प्रकार है—मध्यप्रदेश के निकट 'बीहोली' नाम का एक गाव था उसमें राजवशी राजपूत रहते थे। वे गुरु प्रसाद से जैनी हो गये और उन्होंने अपना पापमय क्रिया-काण्ड छोड़ दिया। उन्होंने णमोकार मन्त्र की माला पहनी, उनका कुल श्रीमाल कहलाया और गोत्र बिहोलिया रक्खा गया।

याही भरत सुखेत में, मध्यदेश शुभ ठांउ। बसै नगर रोहतगपुर, निकट बिहोली गांउ॥ ८

गांउ बिहोली में बसै, राजवंश रजपूत। ते गुरुमुख जैनी भए, त्यागि करम अघ-भूत॥ ९

पहिरी माला मंत्र की पायो कुल श्रीमाल। थाप्यो गोत्र बिहोलिया, बीहोली रखपाल॥ १०॥

इसी तरह से उपजातियो और उनके गोत्रादि का निर्माण हुआ है।

कवि रइधू भट्टारकीय प० थे, और तात्कालिक भट्टारकों को वे अपना गुरु मानते थे। और भट्टारकों के साथ उनका इधर उधर प्रवास भी हुआ है। उन्होंने कुछ स्थानों मे कुछ समय ठहरकर कई ग्रथो की रचना भी की है, ऐसा उनकी ग्रथ प्रशस्तियो पर से जाना जाता है। वे प्रतिष्ठाचार्य भी थे और उन्होंने अनेक मूर्तियो की प्रतिष्ठा भी कराई थी। उनके द्वारा प्रतिष्ठित कई मूर्तियों के मूर्तिलेख आज भी प्राप्त है जिनसे यह मालूम होता है कि उन्होंने उनकी प्रतिष्ठा स० १४९७ और १५०९ मे ग्वालियर के प्रसिद्ध शासक राजा डूगरसिह के राज्य मे कराई थी। वह मूर्ति आदिनाथ की है।[1] और स० १५२५ का लेख भी ग्वालियर के राजा कीर्तिसिह के राज्यकाल का है।

कविवर विवाहित थे या अविवाहित, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख मेरे देखने मे नहीं आया और न कवि ने अपने को बालब्रह्मचारी ही प्रकट किया है। इससे तो वे विवाहित मालूम होते है और जान पडता है कि व गृहस्थ-पडित थे और उस समय वे प्रतिष्ठित विद्वान् गिने जाते थे। ग्रन्थ-प्रणयन मे जो भेटस्वरूप धन या वस्त्राभूषण प्राप्त होते थे, वही उनकी आजीविका का प्रधान आधार था।

बलभद्रचरित्र (पद्मपुराण) की अन्तिम प्रशस्ति के १७वे कडवक के निम्न वाक्यो से मालूम होता है कि उक्त कविवर के दो भाई और भी थे, जिनका नाम बाहोल और माहणसिह था। जैसा कि उक्त ग्रन्थ की प्रशस्ति के निम्न वाक्यों से प्रकट है—

सिरिपोमावइपुरवालवसु, णंदउ हरिसिंघु संघवी जासुसंसु

घत्ता— बाहोल माहणसिंह चिरु णंदउ, इह रइधूकवि तीयउ वि धरा।

मोलिक्य समाणउ कलगुण जाणउ णंदउ महियलि सो वि परा॥

यहा पर मै इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि मेघेश्वर चरित (आदिपुराण) की सवत १८५१ की लिखी गई एक प्रति नजीबाबाद जिला बिजनोर के शास्त्र-भण्डार मे है जो बहुत ही अशुद्ध रूप से लिखी गई है जिसके कर्ता ने अपने को आचार्य सिहसेन लिखा है और उन्होंने अपने को सघवी हरिसिह का पुत्र भी बतलाया है। सिहसेन के आदिपुराण के उस उल्लेख पर से ही प० नाथूरामजी प्रेमी ने दशलक्षण जयमाला की प्रस्तावना मे कवि रइधू का परिचय कराते हुए फुटनोट मे श्री पडित जुगलकिशोरजी मुख्तार की रइधू को सिहसेन का बड़ा भाई मानने की कल्पना को असगत ठहराते हुए रइधू और सिहसेन को एक ही व्यक्ति होने की कल्पना की है। परन्तु प्रेमीजी की यह कल्पना सगत नही है और न रइधू सिहसेन का बड़ा भाई ही है किन्तु रइधू और सिहसेन दोनो भिन्न-भिन्न व्यक्ति है। सिहसेन ने अपने को 'आइरिय' प्रगट किया है जबकि रइधू ने अपने को पण्डित और कवि ही सूचित किया है। उस आदिपुराण की प्रति का देखने और दूसरी प्रतियो के साथ मिलान करने से यह सुनिश्चित जान पड़ता है कि उसके कर्ता कवि रइधू ही है। सारे ग्रन्थ की केवल आदि अन्त प्रशस्ति में ही कुछ परिवर्तन है। शेष ग्रन्थ का कथा भाग ज्यो का त्यों है उसमें कोई अन्तर नही। ऐसी स्थिति में उक्त आदिपुराण के कर्ता

१. देखो, ग्वालियर गजेटियर जि० १, तथा अनेकान्त वर्ष १० कि० ३, पृ० १०१।

रइधू कवि ही प्रतीत होते हैं, सिंहसेन नहीं। हाँ, यह हो सकता है कि सिंहसेनाचार्य का कोई दूसरा ही ग्रन्थ रहा हो, पर उक्त ग्रन्थ सिंहसेनादूरिय का नहीं किन्तु रइधू कविकृत ही है। सम्मइजिनचरिउ की प्रशस्ति में रइधू ने सिंहसेन नाम के एक मुनि का उल्लेख भी किया है और उन्हें गुरु भी बतलाया है और उन्हीं के वचन से सम्मइजिनचरिउ की रचना की गई है। धत्ता –

"तं णिसुणि वि गुरुणा गच्छहु गुरुणाइं सिंहसेण मुणे।
पुरुसंठिउ पंडिउ सील अखंडिउ भणिउ तेण तं तम्मि खणि ।।५।।

गुरु परम्परा

कविवर ने अपने ग्रन्थों में अपने गुरु का कोई परिचय नहीं दिया है और न उनका स्मरण ही किया है। हां, उनके ग्रन्थों में तात्कालिक कुछ भट्टारकों के नाम अवश्य पाये जाते है जिनका उन्होंने आदर के साथ उल्लेख किया है। पद्मपुराण की आद्य प्रशस्ति के चतुर्थ कडवक की निम्न पक्तियों में, उक्त ग्रन्थ के निर्माण में प्रेरक साहु हरसी द्वारा जो वाक्य कवि रइधू के प्रति कहे गए हैं उनमें रइधू को 'श्रीपाल ब्रह्म आचार्य के शिष्य रूप से सम्बोधित किया गया है। साथ ही साहू सोढल के निमित्त 'नेमिपुराण के रचे जाने और अपने लिए रामचरित के कहने की प्रेरणा भी की गई है जिसमें स्पष्ट मालूम होता है कि रइधू के गुरु ब्रह्म श्रीपाल थे। वे वाक्य इस प्रकार हैं:—

भो रइधू पंडिउ गुण णिहाणु, पोमावइ वर वंसह पहाणु।
सिरिपाल ब्रह्म आयरिय सीस, महु वयणु सुणहि भो बुह गिरीस ।।
सोढल णिमित्त णेमिहु पुराण, विरयउ जह कइजणविहिय-माणु।
तं रामचरित्तु वि महु भणेहिं, लक्खण समेउ इय मणि मुणेहि ।।

प्रस्तुत ब्रह्म श्रीपाल कवि रइधू के गुरु जान पड़ते हैं, जो भट्टारक यशःकीर्ति के शिष्य थे। 'सम्मइ-जिन-चरिउ' की अन्तिम प्रशस्ति में मुनि यशःकीर्ति के तीन शिष्यों का उल्लेख किया गया है[1]—खेमचन्द, हरिषेण और ब्रह्म पाल (ब्रह्म श्रीपाल)। उनमें उल्लिखित मुनि ब्रह्मपाल ही ब्रह्म श्रीपाल जान पड़ते हैं। अब तक सभी विद्वानों की यह मान्यता थी कि कविवर रइधू भट्टारक यशःकीर्ति के शिष्य थे किंतु इस समुल्लेख पर से वे यशःकीर्ति के शिष्य न होकर प्रशिष्य जान पड़ते हैं।

कविवर ने अपने ग्रंथों में भट्टारक यशःकीर्ति का खुला यशोगान किया है और मेघेश्वर चरित की प्रशस्ति में तो उन्होंने भट्टारक यशःकीर्ति के प्रसाद से विचक्षण होने का भी उल्लेख किया है। सम्मत्त गुण-णिहाण ग्रंथ में मुनि यशःकीर्ति को तपस्वी, भव्यरूपी कमलों को संबोधन करने वाला सूर्य, और प्रवचन का व्याख्याता भी बतलाया है और उन्ही के प्रसाद से अपने को काव्य करने वाला और पापमल का नाशक बतलाया है।

तह पुणु सुतव तावतवियंगो, भव्व-कमल-संबोह-पयंगो।
णिच्चोब्भासिय पवयण संगो, वंदिवि सिरि जसकित्ति असंगो।
तासु पसाए कव्वु पयासमि, आसि विहिउ कलि-मलु-णिण्णासमि।

इसके सिवाय यशोधर चरित्र में भट्टारक कमलकीर्ति का भी गुरु नाम से स्मरण किया है।

निवास स्थान और समकालीन राजा

कविवर रइधू कहां के निवासी थे और वह स्थान कहां है और उन्होंने ग्रन्थ रचना का यह महत्वपूर्ण कार्य किन राजाओं के राज्यकाल में किया है यह बातें अवश्य विचारणीय है। यद्यपि कवि ने अपनी जन्मभूमि आदि का कोई परिचय नही दिया, जिससे उस सम्बन्ध में विचार किया जाता, फिर भी उनके निवास स्थान आदि के

१. मुणि जसकित्ति हु सिस्स गुणायरु, खेमचन्दु हरिसेणु तवायरु।
मुणि त पाल्हू बभुए णंदहु, तिण्णि वि पावहु भास णिकंदहु। —सम्मइ जिनचरिउ प्रशस्ति

सम्बन्ध में जो कुछ जानकारी प्राप्त हो सकती है, उसे पाठकों की जानकारी के लिए नीचे दिया जाता है: —

उक्त कवि के ग्रन्थो मे पता चलता है कि वे ग्वालियर में नेमिनाथ और वर्द्धमान जिनालय में रहते थे और कवित्तरूपी रसायन के निधि रसाल थे। ग्वालियर १५वी शताब्दी में खूब समृद्ध था, उस समय वहां पर देहली के तोमर वंश का शासन चल रहा था। तोमर वंश बड़ा ही प्रतिष्ठित क्षत्रिय वंश रहा है और उनके शासन-काल में जैनधर्म को पनपने का बहुत कुछ आश्रय मिला है। जैन साहित्य में ग्वालियर का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। उस समय तो वह एक विद्या का केन्द ही बना हुआ था, वहां की मूर्तिकला और पुरातत्व की कलात्मक सामग्री आज भी दर्शकों के चित्त को अपनी ओर आकर्षित कर रही है। उसके समवलोकन से ग्वालियर की महत्ता का सहज ही भान हो जाता है। कविवर ने स्वय सम्यक्त्व-गुण-निधान नामक ग्रन्थ की आद्य प्रशस्ति में ग्वालियर का वर्णन करते हुए वहां के तत्कालीन श्रावकों की चर्या का जो उल्लेख किया है उसे बतौर उदाहरण के नीचे दिया जाता है:—

तहु रज्जि महायण बहुधणट्ठ, गुरु-देव सत्थ विणयं वियट्ठ।
जहिं वियक्खण मणुव सव्व, धम्माणुरत्त वर गलिय गव्व ॥
जहिं सत्त-वसण-चुय सावयाइं, णिवसहिं पालिय दो-दह-वयाइं।
सम्मद्दंसण-मणि-भूसियंग, णिच्चोब्भासिय पवयण सुयंग ॥
दारापेखण-विहि णिच्चलीण, जिण महिम महुच्छव णिरु पवीण।
चेयणगुण अप्पारुह पवित्त, जिण सुत्त रसायण सवण तित्त ॥
पंचम दुस्समु अइ-विसमु-कालु, णिद्दलि वि तुरिउ पविहिउ रसालु।
धम्मज्झाणे जे कालु लिंति, णवयारमंतु अह-णिसु गुणंति ॥
संसार-महण्णव-वडण-भीय, णिस्संक पमुह गुण वण्णणीय।
जहिं णारीयण दिढ सीलजुत्त, दाणे पोसिय णिरु तिविह पत्त ॥
तिय मिसेण लच्छि अवयरिय एत्थु, गयरूव ण दीसइ का वि तेत्थ।
वर अंवर कणयाहरण एहि, मंडिय तणु सोहहिं मणि जडेहि ॥
जिण-णह्वण-पूय-उच्छाह चित्त, भव-तणु-भोयहिं णिच्च जि विरुत्त।
गुरु-देव पाप पंकयाहिं लीण, सम्मद्दंसणपालण पवीण ॥
पर पुरिस स-बंधव सरिस जांहि, अह णिसु पडिवण्णिय णिय मणाहिं।
किं वण्णमि तहि हउं पुरिस णारि, जहिं डिंभ वि सग वसणावहारि।
पव्वहिं पव्वहिं पोसहु कुणंति, घरि घरि चच्चरि जिण गुण थुणंति।
साहम्मि य वत्थु णिरु वहंति, पर अवगुण झंपहि गुण कहंति ॥
एरिसु सावयहिं विहियमाणु, णेमीसुरजिण हरि वड्ढमाणु।
णिवसइ जा रइधू कवि गुणालु, सुकित्त-रसायण-णिहि रसालु ॥५॥

इन पद्यों पर दृष्टि डालने से उस समय के ग्वालियर की स्थिति का सहज ही ज्ञान प्राप्त हो जाता है। उस समय लोग कितने धार्मिक सच्चरित्र और अपने कर्त्तव्य का यथेष्ट पालन करते थे यह जानने तथा अनुकरण करने की वस्तु है।

ग्वालियर में उस समय तोमर वंशी राजा डूंगरसिंह का राज्य था। डूंगरसिंह एक प्रतापी और जैनधर्म में आस्था रखने वाला शासक था। उसने अपने जीवन काल में अनेक जैन मूर्तियों का निर्माण कराया, वह इस पुनीत कार्य को अपनी जीवित अवस्था में पूर्ण नहीं करा सका था, जिसे उसके प्रिय पुत्र कीर्तिसिंह या करणसिंह ने पूरा किया था। राजा डूंगरसिह के पिता का नाम गणेश या गणपतिसिंह था, जो वीरमदेव का पुत्र था। गणपतिसिंह वि० सं० १४७६ में राज्य पद पर आसीन थे। इनके राज्य काल में उक्त संवत् वैशाख सुदि शुक्रवार के दिन मूलसंघी नंद्याम्नायी भट्टारक शुभचन्द्र देव के मण्डलाचार्य पण्डित भगवत के पुत्र खेमा और धर्मपत्नी खेमादे ने धातु की

चौबीसी मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई थी[1]। पश्चात् सं० १४८१ में डूंगरसिंह राजगद्दी पर बैठा। राजा डूंगरसिंह राजनीति में दक्ष, शत्रुओं के मान मर्दन करने में समर्थ, और क्षत्रियोचित क्षात्र तेज से अलंकृत था। गुण समूह से विभूषित, अन्याय रूपी नागों के विनाश करने में प्रवीण, पंचाँग मंत्रशास्त्र में कुशल तथा असि रूप अग्नि से मिथ्यात्व-रूपी वंश का दाहक था। उसका यश सब दिशाओं में व्याप्त था। वह राज्य-पट्ट से अलंकृत, विपुल बल से सम्पन्न था। डूंगरसिंह की पट्टरानी का नाम चँदादे था, जो अतिशय रूपवती और पतिव्रता थी। इनके पुत्र का नाम करणसिंह, कीर्तिसिंह या कीर्तिपाल था, जो अपने पिता के समान ही गुणज्ञ, बलवान और राजनीति में चतुर था। डूंगरसिंह ने नरवर के किले पर घेरा डाल कर अपना अधिकार कर लिया था। शत्रु लोग इसके प्रताप एवं पराक्रम से भयभीत रहते थे। जैनधर्म पर केवल उसका अनुराग ही न था किंतु उस पर वह अपनी पूरी आस्था भी रखता था। फलस्वरूप उसने जैन मूर्तियों की खुदवाई में सहस्रों रुपये व्यय किए थे। इससे ही उसकी आस्था का अनुमान किया जा सकता है।

डूंगरसिंह सन् १४२४ (वि० सं० १४८१) में ग्वालियर की गद्दी पर बैठा था। उसके राज्य समय के दो मूर्ति लेख सम्वत् १४९६ और १५१० के प्राप्त हैं। सम्वत् १४८२ की एक,[2] और सम्वत् १४८६ का दो लेखक प्रशस्तियाँ पं० विबुध श्रीधर के संस्कृत भविष्यदत्त चरित्र और अपभ्रंश-भाषा के सुकमालचरित्र की प्राप्त हुई हैं। इनके सिवाय 'भविष्यदत्त पंचमी कथा' की एक अपूर्ण लेखक प्रशस्ति कारजा के ज्ञान भण्डार की प्रति से प्राप्त हुई है। डूंगरसिंह ने वि० सं० १४८१ से सं० १५१० या इसके कुछ बाद तक शासन किया। उसके बाद राज्य सत्ता उसके पुत्र कीर्तिसिंह के हाथ में आई थी।

कविवर रइधू ने राजा डूंगरसिंह के राज्य काल में तो अनेक ग्रन्थ रचे ही हैं किन्तु उनके पुत्र कीर्तिसिंह के राज्य काल में भी सम्यक्त्व कौमुदी (सावय चरिउ) की रचना की है। ग्रन्थकर्ता ने उक्त ग्रन्थ की प्रशस्ति में कीर्तिसिंह[3] का परिचय कराते हुए लिखा है कि वह तोमर कुल रूपी कमलों को विकसित करने वाला सूर्य था और दुर्वार शत्रुओं के संग्राम से अतृप्त था। वह अपने पिता डूंगरसिंह के समान ही राज्य भार को धारण करने में समर्थ था। बन्दी-जनों ने उसे भारी अर्घ समर्पित किया था। उसकी निर्मल यश रूपी लता लोक में व्याप्त हो रही थी। उस समय वह कलिचक्रवर्ती था।

तोमरकुलकमलवियास मित्त, दुव्वारवैरिसंगर अतित्तु।
डूंगरणिवरज्जधरा समत्थु, वंदीयण समप्पिय भूरि अत्थु।
चउराय विज्जपालण अतंदु, णिम्मल जसवल्ली भुवणकंदु।
कलिचक्कवट्टि पायडणिहाणु, सिरिकित्तिसिंधु महिवइपहाणु॥

—सम्यक्त्व कौमुदी पत्र २ नागौर भण्डार

१. चौबीसी धातु-१५ इंच—संवत् १४७९ वर्षे वैशाखसुदि ३ शुक्रवासरे श्री गणपति देव राज्य प्रवर्तमाने श्री मूलसंघे नद्याम्नाये भट्टारक शुभचन्द्र देवा मंडलाचार्य पं० भगवत तत्पुत्र संघवी खेमा भार्या खेमादे जिनबिम्ब प्रतिष्ठा कारापितम्। नयामंदिर लश्कर

२. सं० १४८२ वैशाखसुदि १० श्रीयोगिनीपुरे साहिजादा मुरादखान राज्य प्रवर्तमाने श्रीकाष्ठा संघे माथुरान्वये पुष्करगणे आचार्य श्रीभावसेन देवास्तत्पट्टे भ० श्रीगुणकीर्तिदेवास्तच्छिष्य श्री यशःकीर्ति देवा उपदेशेन लिखापितं॥
—जैन ग्रन्थसूची भा० ५ पृ० ३६३

३. सन् १४५२ (वि० सं० १५०९) में जौनपुर के सुलतान महमूदशाह शर्की और देहली के बादशाह बहलोल लोदी के बीच होने वाले संग्राम में कीर्तिसिंह का दूसरा भाई पृथ्वीपाल महमूदशाह के सेनापति फतहखां हार्वी के हाथ से मारा गया था। परंतु कविवर रइधू के ग्रंथों में कीर्तिसिंह के दूसरे भाई पृथ्वीपाल का कोई उल्लेख नहीं पाया जाता। —देखो टाड राजस्थान पृ० २५० स्वर्गीय महामना गौरीशंकर हीराचंद जी ओझा कृत ग्वालियर की तंवर वंशावली टिप्पणी।

कीर्तिसिंह वीर और पराक्रमी शासक था। उसने अपना राज्य अपने पिता से भी अधिक विस्तृत किया था। वह दयालु एवं सहृदय था। जैनधर्म के ऊपर उसकी विशेष आस्था थी। वह अपने पिता का आज्ञाकारी था, उसने अपने पिता के जैनमूर्तियों के खुदाई के अवशिष्ट कार्य को पूरा किया था। इसका पृथ्वीपाल नाम का एक भाई और भी था। जो लड़ाई में मारा गया था। कीर्तिसिंह ने अपने राज्य को यहाँ तक पल्लवित कर लिया था कि उस समय उसका राज्य मालवे के सम कक्षका हो गया था। दिल्ली का बादशाह भी कीर्तिसिंह की कृपा का अभिलाषी बना रहना चाहता था। सन् १४६५ (वि० सं० १५२२) में जौनपुर के महमूदशाह के पुत्र हुसैनशाह ने ग्वालियर को विजित करने के लिए बहुत बड़ी सेना भेजी थी। तब से कीर्तिसिंह ने देहलो के बादशाह बहलोल लोदी का[1] पक्ष छोड़ दिया था और जौनपुर वालों का सहायक बन गया था।

सन् १४७८ (वि० स० १५३५) में हुसैनशाह दिल्ली के बादशाह बहलोल लोदी से पराजित होकर अपनी पत्नी और सम्पत्ति वगैरह को छोड़कर तथा भागकर ग्वालियर में राजा कीर्तिसिंह की शरण में गया था तब कीर्तिसिंह ने धनादि से उसकी सहायता की थी और कालपी तक उसे सकुशल पहुचाया भी था। इसके सहायक दो लेख सन् १४६८ और (वि० स० १५२५) सन् १४७३ (वि० स० १५३०) के मिले हे। कीर्तिसिंह की मृत्यु सन् १४७६ (वि० स० १५३६) मे हुई थी। अतः इसका राज्य काल सम्वत् १५१० के बाद मे स० १५३६ तक पाया जाता है[2]। इन दोनो क राज्यकाल मे ग्वालियर में जैनधर्म खूब पल्लवित हुआ।

रचनाकाल

कवि रइधू के जिन ग्रन्थों का परिचय दिया गया है, यहा उनके रचनाकाल के सम्बन्ध में विचार किया जाता है। कवि की सबसे प्रथम कृति आत्म-सम्बोध काव्य है। उसकी स० १४४८ की लिखित प्रति आमेर भण्डार में सुरक्षित है। रइधू के सम्मत्त गुणनिधान और सुकोसलचरिउ इन दो ग्रन्थों में ही रचना समय उपलब्ध हुआ है। सम्मत्तगुणनिधान नाम का ग्रन्थ वि० स० १४९२ की भाद्रपद शुक्ला पूर्णिमा मगलवार के दिन बनाया गया है[3] और जो तीन महीने में पूर्ण हुआ था और सुकोशलचरिउ उससे चार वर्ष बाद विक्रम सं० १४९६ में माघ कृष्णा दशमी के अनुराधा नक्षत्र में पूर्ण हुआ है। सम्मत्तगुणनिधान में किसी ग्रन्थ के रचे जाने का कोई उल्लेख नही है, हाँ सुकोशलचरिउ में पार्श्वनाथ पुराण हरिवंश पुराण और बलभद्रचरिउ इन तीन ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है, जिससे स्पष्ट है कि ये तीनों ग्रन्थ भी सवत् १४९६ से पूर्व रचे गये है और हरिवंश पुराण में त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (महापुराण) मेघेश्वरचरित, यशोधर चरित, वृत्तसार, जीवंधरचरित और पार्श्वचरित इन छह ग्रन्थों के रचे जाने का उल्लेख है, जिससे जान पड़ता है कि ये ग्रन्थ भी हरिवंश की रचना से पूर्व रचे जा चुके थे। सम्मइ जिनचरिउ में, पार्श्वपुराण, मेघेश्वरचरित, त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित (महापुराण) बलभद्रचरित (पउमचरिउ) सिद्धचक्र विधि, सुदर्शनचरित और धन्यकुमारचरित इन सात ग्रन्थों के नामों का उल्लेख किया गया है, जिससे यह ग्रन्थ भी उक्त सम्वत् से पूर्व रचे जा चुके थे।

---

१. बहलोल लोदी देहली का बादशाह था उसका राज्य काल सन् १४५१ (वि० स० १५०८) से लेकर सन १४८९ (वि० सं० १५४६) तक ३८ वर्ष पाया जाता है।

२. देखो, ओझा जी द्वारा सम्पादित टाट राजस्थान हिन्दी पृष्ठ २५४

३. 'चउदहसय वाणव उत्तरालि, वरिसइगय विक्कमरायकालि।
वक्खेयत्तु जि जिणवय समक्खि, भद्दव मासम्मि स-सेय पक्खि।
पुण्णमिदिणि कुजवारे समोइं, सुहयारे सुहणामें जणोइं।
तिहु मास रयहि पुण्णहुउ, सम्मत्तगुणाहिणिह णाधूउ।"

४. "सिरि विक्कम समयंतरालि, वट्टतइ इंदु सम विसम कालि।
चउदहसय संवच्छरइ अण्ण छण्णउ अहिपुणु जाय पुण्ण।
माह दुजि किण्हदहमी दिणम्मि, अणुराहुरिक्ख पयडिय सकम्मि॥"

इसके अतिरिक्त करकण्डुचरिउ, सम्यक्त्व कौमुदी, वृत्तसार अणथमीकथा, पुण्णासबकथा, सिद्धांतार्थसार, दशलक्षण जयमाला और षोडशकारण जयमाला। इन आठ ग्रन्थों में से पुण्यास्रव-कथा कोष को छोड़कर शेष ग्रन्थ कहां और कब रचे गए, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। रइधू ने प्राय: अधिकांश ग्रन्थों की रचना ग्वालियर में रहकर तोमर वंश के शासक डूंगरसिंह और कीर्तिसिंह के राज्य समय में की है जिनका राज्य काल संवत् १४८१ से सं० १५३६ तक रहा है। अतएव कवि का रचनाकाल स० १४४० से १५३० के मध्यवर्ती समय माना जा सकता है।

मैं पहले यह बतला आया हूं कि कविवर रइधू प्रतिष्ठाचार्य थे। उन्होंने कई प्रतिष्ठाएँ कराई थीं। उनके द्वारा प्रतिष्ठित संवत् १४९७ की आदिनाथ की मूर्ति का लेख भी दिया था[1]। यह प्रतिष्ठा उन्होंने गोपाचल दुर्ग में कराई थी इसके सिवाय, संवत् १५१० और १५२५ की प्रतिष्ठित मूर्तियों के लेख भी उपलब्ध है, जिनकी प्रतिष्ठा वहां इनके द्वारा सम्पन्न हुई है[2] संवत् १५२५ में सम्पन्न होने वाली प्रतिष्ठाएँ रइधू ने ग्वालियर के शासक कीर्तिसिंह या करणसिंह के राज्य में कराई है, जिनका राज्य संवत् १५३६ तक रहा है।

कुरावली (मैनपुरी) के मूर्तिलेख जिनका संकलन बाबू कामताप्रसाद जी ने किया था[3]। ये भी रइधू को प्रतिष्ठाचार्य घोषित करते हैं। तदनुसार रइधू ने सं० १५०६ जेठ सुदि शुक्रवार के दिन चंदवाड़ में चौहान वंशी राजा रामचन्द्र के पुत्र प्रतापसिंह के राज्यकाल में अग्रवाल[4] वंशी साहू गजाधर और भोलाने भगवान शांतिनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई थी। अन्वेषण करने पर अन्य मूर्ति लेख भी प्राप्त हो सकते हैं। इन मूर्तिलेखों से कवि रइधू के जीवनकाल पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। वे सं० १४४० से संवत् १५२५ तक तो जीवित रहे ही हैं, किंतु बाद में और कितने वर्ष तक जीवित रहे, यह निश्चय करना अभी कठिन है अन्य साधन-सामग्री के मिलने पर उस पर और भी विचार किया जायगा। इस तरह कवि विक्रम की १५वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के विद्वान् थे।

१. देखो, अनेकान्त वर्ष १०, किरण १०, तथा ग्वालियर गजिटियर जि० १

२. देखो, मेरी नोट बुक सं० १५२५ में प्रतिष्ठित मूर्तिलेख, ग्वालियर

३. सं० १५०६ जेठ सुदी ''शुक्रे श्रीचन्द्रपाट दुर्गे पुरे चौहान वंशे राजाधिराज श्रीरामचन्द्रदेव युवराज श्री प्रतापचन्द्रदेव राज्य वर्तमाने श्री काष्ठा संघे माथुरान्वये पुष्करगणे आचार्य श्री हेमकीतिदेव तत्पट्टे भ० श्री कमलकीतिदेव। पं० आचार्य रैधू नामधेय तदम्नाये अग्रोतकान्वये वासिल गोत्रे साहु त्योंधर भार्या द्वौ पुत्रौ द्वौ सा महाराज नामानौ त्योंध० भार्या श्रीपा तयो: पुत्राश्चत्वार: संघाधिपति गजाधर मोल्हण जलकू रातू नामान: संघाधिपतिगजे भार्या द्वे राय श्री गांगो नाम्नि संघाधिपति मोल्हण भा० सोमश्री पुत्र तोहक, सघाधिपति जलकू भार्या महाश्री तयो: पुत्रौ कुलचन्द्र मेघचन्दौ सघपति रातू भा० अभया श्री साधु त्योधर पुत्र महाराज भार्या मदन श्री पुत्रौ द्वौ माणिक'''भार्या शिवदे''' सघपति जयपाल भार्या मुगापते संघाधिपति गजाधर संघा० भोला प्रमुख शान्तिनाथ बिम्बं प्रतिष्ठापितं प्रणमितं च। देखो, (प्राचीन जैन लेख संग्रह, सम्पादक बा० कामताप्रसाद)।

४. 'अग्रवाल' यह शब्द एक क्षत्रिय जाति का सूचक है। जिसका विकास अग्रोहा या अग्रोदक जनपद से हुआ है। यह स्थान पंजाब राज्य में हिसारनगर से १३ मील दूर दिल्ली सिरसा सड़क पर स्थित है। इस समय यह उजड़ा हुआ छोटा सा गाव है। यह प्राचीन काल में विशाल एवं वैभव सम्पन्न ऐतिहासिक नगर था। इसका प्रमाण वे भग्नावशेष हैं जो इसके स्थान के निकट प्राय: सात सौ एकड़ भूमि में फैले हुए हैं। यहां एक टीला ६० फुट ऊंचा था, जिसकी खुदाई सन् १९३९ या ४० में हुई थी। उसमें प्राचीन नगर के अवशेष, और प्राचीन सिक्को आदि का ढेर प्राप्त हुआ था। २६ फुट से नीचे प्राचीन आहत मुद्रा का नमूना, चार यूनानी सिक्के और ५१ चौखूटे तांबे के सिक्को में सामने की ओर वृषभ' और पीछे की ओर सिंह या चैत्यवृक्ष की मूर्ति है। सिक्को के पीछे ब्राह्मी अक्षरों में—'अगोद के अगच जनपदस 'शिलालेख भी अंकित है' जिसका अर्थ 'अग्रोदक में अगच जनपद का सिक्का' होता है। अग्रोहे का नाम अग्रोदक भी रहा है। उक्त सिक्कों पर अंकित वृषभ, सिंह या चैत्य वृक्ष की मूर्ति जैन मान्यता की ओर संकेत करती हैं। (देखो, एपिग्राफिका इंडिका जि० २ पृ० २४४। इंडियन एण्टीक्वेरी भाग १५ के पृ० ३४३ पर अग्रोतक वैश्यों

रचनाएं

कवि रइधू ने अपभ्रंश भाषा में अनेक ग्रन्थों की रचना की है। उनमें से उपलब्ध रचनाओं का संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है :—

१. **अप्प सम्बोहकव्व**—यह कवि की सबसे पहली कृति ज्ञात होती है। क्योंकि इसकी २९ पत्रात्मक एक हस्तलिखित प्रति सं० १४४८ की आमेर भंडार मे उपलब्ध है[1] इस प्राथमिक रचना को आत्मसम्बोधार्थ लिखी हैं इसमें ३ संधिया और ५८ कड़वक है। जिनमे अहिंसा अणुव्रतादि पच व्रतो का कथन किया गया है। और बतलाया है कि जो दोष रहित जिन देव, निर्ग्रन्थगुरु और दशलक्षण रूप अहिंसा धर्म का श्रद्धान (विश्वास) करता है वह सम्यक्त्वरत्न को प्राप्त करता है :—

जिणदेव परमणिग्गंथगुरु, दहलक्खणधम्मु अहिंसयरू।
सोणिच्छ उभावे सद्दहइ, सम्मत्त-रयण फुडु सोलहइ ॥

इसके पश्चात् पच उदम्बर फल और मद्य-मास-मधु के त्याग को अष्टमूल गुण बतलाया है। और इस प्रथम संधि में अहिंसा, सत्य और अचौर्य रूप तीन अणुव्रतो के स्वरूप का कथन दिया है। दूसरी संधि मे चतुर्थ अणुव्रत ब्रह्मचर्य का वर्णन किया है। तृतीय संधि में भगवान महावीर का नमस्कार कर कर्मक्षय के हेतु परिग्रह परिमाण नाम के पाचवे अणुव्रत के कथन करने को प्रतिज्ञा की है।

सम्मत्त गुणणिहाण—यह ग्रन्थ ग्वालियर निवासी साहु खेमसिंह के ज्येष्ठ पुत्र कमल सिंह के अनुरोध से बनाया गया है। इस ग्रन्थ में ४ संधि और १०८ कड़वक दिये हुए है, उनकी अनुमानिक श्लोक संख्या तेरह सौ पचहत्तर के लगभग है। ग्रन्थ का आद्यन्त प्रशस्ति में साहु कमल सिंह के परिवार का परिचय दिया हुआ है। इसमें सम्यक्त्व के आठ अंगों में प्रसिद्ध होने वाले प्रमुख पुरुषो की रोचक कथाए बहुत ही सुन्दरता से दी गई है ये कथाएं पाठको

का वर्णन दिया है। यह स्थान ही अग्रवाल जाति का मूल निवास स्थान था। यहा के निवासी देशभक्त वीर अग्रवालो ने यूनानी, शक, कुषाण, हूण और मुसलमान आदि विदेशी आक्रमण कारियो से अनेक शताब्दियों तक जमकर लोहा लिया था। मुहम्मद गौरी के आक्रमण के समय (संवत् १२५१) में वही प्राचीन राज्य पूर्णतया विनष्ट हो गया था। और यहा के निवासी अग्रवाल आदि राजस्थान और उत्तर प्रदेश आदि मे बस गए थे।

कहा जाता है कि अग्रोहा मे अग्रसेन नाम के एक क्षत्रिय राजा थे। उन्ही की सन्तान परम्परा अग्रवाल कहलाते है। अग्रवाल शब्द के अनेक अर्थ है। किन्तु यहा उन अर्थों की विवक्षा नही है, यहा अग्रदेश के रहने वाले अर्थ ही विवक्षित है। अग्रवालो के १८ गोत्र बतलाये जाते है। जिनमे गर्ग, गोयल, मित्तल जिन्दल, सिंहल आदि नाम है। अग्रवालो मे दो धर्मों के मानने वाले पाये जाते है। जैन अग्रवाल और वैष्णव अग्रवाल। श्री लोहाचार्य के उपदेश से उस समय जो जैनधर्म मे दीक्षित हो गये थे, वे जैन अग्रवाल कहलाये और शेष वैष्णव, परन्तु दोनों मे रोटी बेटी व्यवहार होता है, रीति रिवाजो मे कुछ समानता होते हुए भी उनमे अपने-अपने धर्मपरक प्रवृत्ति पाई जाती है हाँ सभी अग्रवाल अहिंसा धर्म के मानने वाले है। उपजातियो का इतिवृत्त १० वी शताब्दी मे पूर्व का नही मिलता, हो सकता है कि कुछ उपजातियाँ पूर्ववर्ती रही हो। अग्रवालो की जैन परम्परा के उल्लेख १२वी शताब्दी तक के मेरे देखने मे आए है। यह जाति खूब सम्पन्न रही है। लोग धर्मज्ञ, आचारनिष्ठ दयालु और जन-धन से सम्पन्न तथा राज्यमान्य रहे है। तोमर वंशी राजा अनगपाल तृतीय के राजश्रेष्ठी और आमात्य अग्रवाल कुलावतंश साहू नट्टल ने दिल्ली मे आदिनाथ का एक विशाल सुन्दरतम मंदिर बनवाया था, जिसका उल्लेख कवि श्रीधर अग्रवाल द्वारा रचे गये पार्श्वपुराण मे किया गया है। यह पार्श्वपुराण संवत् ११८९ मे दिल्ली में उक्त नट्टल साहू के द्वारा बनवाया गया था उसकी संवत् १५७७ की लिखित प्रति आमेर भंडार मे सुरक्षित है। अग्रवालो द्वारा अनेक मन्दिरो का निर्माण तथा ग्रन्थो की रचना और उनकी प्रतिलिपि करवाकर साधुओं, भट्टारको आदि को प्रदान करने के अनेक उल्लेख मिलते है। इससे इस जाति की सम्पन्नता धर्मनिष्ठा और परोपकारवृत्ति का परिचय मिलता है। हाँ, इनमे शासकवृत्ति अधिक पाई जाती है।

१. लिपि संवत् १४४८ वर्ष फाल्गुण वदि १ गुरौ दिने स्रावग (श्रावक) लष्मण लक्ष्मण कम्मक्षय विनावा (शा) थं लिखित। आमेर भंडार

को अत्यन्त सुरुचिकर और सरस मालूम होती हैं प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि क्षेमसिंह का कुल अग्रवाल और गोत्र गोयल था उनकी पत्नी निउरादे से दो पुत्र हुए। कमलसिंह और भोजराज, कमल सिंह विज्ञान कला कुशल और बुद्धिमान, देव शास्त्र और गुरु का भक्त था। इसकी भार्या का नाम 'सरासइ' था, उससे मल्लिदास नाम का पुत्र हुआ था। और इनके लघु भ्राता भोजराज की पत्नी देवइ से दो पुत्र चन्द्रसेन और देवपाल नाम के हुए थे। ग्रन्थ की प्रथम संधि में १७वें कडवक से स्पष्ट है कि कमलसिह ने भगवान् आदिनाथ की ग्यारह हाथ की ऊँची एक विशाल मूर्ति का निर्माण राजा डूंगरसिंह के राज्यकाल में कराया था, जो दुर्गति के दुःखों की विनाशक, मिथ्यात्व रूपी गिरीन्द्र के लिये वज्र समान, भव्यों के लिये शुभगति प्रदान करने वाली, दुःख, रोग, शोक की नाशिका थी—जिसके दर्शन चिन्तन से भव्यों की भव बाधा सहज ही दूर हो जाती थी। इस महत्वपूर्ण मूर्ति की प्रतिष्ठा कर कमलसिंह ने महान पुण्य का संचय किया था।

"जो देवहिदेव तित्थंकरु, आइणाहु तित्थोयसुहंकरु।
तहु पडिमा दुग्गइणिण्णासणि, जा मिच्छत्त-गिरिंद-सरासणि।
जापुणु भव्वहसुहगइ-सासणि, जामहिरोय-सोय-दुहु—णासणि।
सा एयारहकर-अविहंगी, काशवियणिरूवमअइतुंगी।
अगणियअणपडिमकोलक्खइं, सुरगुरुताहु गणणजइअक्खइ।
करि वि पयिट्ठ तिलउ पुणु दिण्णउ, चिरुभवि पविहिउ कलिमलु-छिण्णउ॥"

तब कमलसिंह ने चतुर्विधि संघ की विनय की थी। सम्यक्त्व के अंगों में प्रसिद्ध होने वाले पुरुषों की कथाओं का आधार आचार्य सोमदेव का यशस्तिलक चम्पू का उपासकाध्ययन रहा प्रतीत होता है।

कवि ने इस ग्रन्थ की रचना सं० १४९२ में की थी।

"चउदह सय बाणउ उत्तरालि, वरिसइ गय विक्कमराय कालि।
वक्खेयत्तु जि जणवय समक्खि, भद्दव मासम्मि स-सेयपक्खि।
पुण्णमिदिणि कुजवारे समोइ, सुहयारें सुहणामें जणोइ।"

सम्मइजिणचरिउ—इसमें १० सर्ग और २४६ कडवक हैं, जिसमें जैनियों के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर का जीवन-परिचय अंकित किया गया है। कवि ने इस ग्रन्थ के निर्माण करने की कथा बड़ी रोचक दी है। ब्रह्म खेल्हाने कवि से ग्रन्थ बनाने की स्वयं प्रेरणा नहीं की, क्योंकि उन्हें सन्देह था कि शायद कवि उनकी अभ्यर्थना को स्वीकार न करे। इसी से उन्होंने भट्टारक यशःकीर्ति द्वारा कवि को ग्रन्थ बनाने की याद दिलाने का प्रयत्न किया क्योंकि उन्हें विश्वास था कि कवि भट्टारक यशःकीर्ति की बात को टाल नहीं सकते। भ० यशःकीर्ति ने हिसार निवासी साहू तोसउ की दानवीरता, साहित्य रसिकता, और धर्म निष्ठता का परिचय कराते हुए उनके लिये 'सम्मइ जिनचरिउ' के निर्माण करने का निर्देश किया। कवि ने अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए उसे स्वीकृति किया। इससे ब्रह्मचारी खेल्हा को हर्ष होना स्वाभाविक है। प्रस्तुत ब्रह्म खेल्हा हिसार निवासी अग्रवाल वंशी गोयल गोत्रीय साहू-तोसउ का ज्येष्ठ पुत्र था। उसका विवाह कुरुक्षेत्र के तेजा साहू की जालपा पत्नी से उत्पन्न खीमी नाम की पुत्री से हुआ था। उनके कोई सन्तान न थी। अतः उन्होंने अपने भाई के पुत्र हेमा को गोद ले लिया, और गृहस्थी का सब भार उसे सौंपकर मुनि यशःकीर्ति से अणुव्रत ले लिये। उसी समय से वे ब्रह्म खेल्हा के नाम से पुकारे जाने लगे। वह उदार, धर्मात्मा और गुणज्ञ थे और संसार देह-भोगों से उदासीन थे।

उन्होंने ग्वालियर के किले में चन्द्रप्रभ भगवान की एक ग्यारह हाथ उन्नत विशाल मूर्ति का निर्माण कराया।

ता तम्मि खणि बंभवय-भार भारेण सिरि अयरवालंकवंसम्मि सारेण।
संसार-तणु-भोय-णिव्विण्णचित्तेण, वरधम्म झाणामएणेव तित्तेण।
खेल्हाहिहाणेण णमिऊण गुरुतेण जसकित्ति विण्णत्तु मंडिय गुणेहेण।
भो मयणदावग्गिउल्हवणवणदाण, संसार-जलरासि-उत्तार-वर जाण।

अम्हहं पसाएणभव-दुह-कयंतस्स; ससिपह जिणेदस्स पडिमा विसुद्धस्स।
कारावियां मइं जि गोवायले तुंग, उडुचावि णामेण तित्थम्मि सुहसंग।

खेल्हा ने उस समय अपनी त्यागवृत्ति का क्षेत्र बढ़ा लिया था और ग्यारह प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक के रूप में आत्मसाधना करने लगे थे।

ग्रन्थ की आद्यन्त प्रशस्ति में कवि ने तोसउ साहु के वंश का विस्तृत परिचय दिया है जिसमें उनके परिवार द्वारा सम्पन्न होने वाले धार्मिक कार्यों का परिचय मिल जाता है। कविने तोसउ साहू का उल्लेख करते हुए उन्हें जिन चरणों का भक्त, पंचइन्द्रियों के भोगों से विरक्त, दान देने में तत्पर, पाप से शंकित-भय-भीत और तत्त्व-चिन्तन में सदा निरत बतलाया है। साथ ही यह भी लिखा है उसकी लक्ष्मी दुखी जनों के भरण-पोषण में काम आती थी। वाणी श्रुत का अवधारण करती थी। मस्तक जिनेन्द्र को नमस्कार करने में प्रवृत्त होता था। वह शुभ-मती था, उसके सभाषण में कोई दोष नहीं होता था। चित्त तत्त्व विचार में निमग्न रहता था और दोनों हाथ जिन-पूजा-विधि से सन्तुष्ट रहते थे।

जो णिच्चं जिण-पाय-कंज भसलो जो णिच्च दाणेरदो।
जो पंचेंदिय-भोय-भाव-विरदो जो चिंतए संहिदो।
जो संसार महोहि-पावन-भिदो जो पावदो संकिदो।
एसो णंदउ तोसडो गुणजुदो सत्तत्थ वेईचिरं॥२
लच्छी जस्स दुहीजणाणभरणे वाणी सुयं धारिणे।
सीस सण्णई कारणे सुभमई दोसं ण संभासणे।
चित्तं-तत्त्व वियारणे करजुयं पूया-विही संददं।
सोऽयं तोसउ साहु एत्थ धवलो संणदओ भूयले॥३

हिसार के अग्रवाल वंशी साहु नरपति के पुत्र साहु बील्हा, जो जैनधर्मी निष्पाप तथा दिल्ली के बादशाह फीरोजशाह तुग़लक द्वारा सम्मानित थे।

संघाधिप सहजपाल ने, जो सहदेव का पुत्र था, जिनेन्द्रमूर्ति की प्रतिष्ठा करवाई थी। साहू सहजपाल के पुत्र ने गिरनार की यात्रा का संघ भी चलाया था, और उसका सब व्यय भार स्वयं वहन किया था। ये सब ऐतिहासिक उल्लेख महत्वपूर्ण है। और अग्रवालों के लिये गौरवपूर्ण है।

कवि ने प्रशस्ति में काष्ठा संघ की भट्टारक परम्परा का इस प्रकार उल्लेख किया है—देवसेन, विमलसेन, धर्मसेन, भावसेन, सहस्र कीर्ति, गुणकीर्ति (सं० १४६८ से १४८१) यशःकीर्ति १४८ से १५१०, मलयकीर्ति १५०० से १५२५, गुणभद्र १५२० से १५४०)।

कविने अपने से पूर्ववर्ती निम्न साहित्यकारों का उल्लेख किया है—चउमुह, स्वयंभू, पुण्यदन्त और वीर कवि। कवि ने इस ग्रन्थ से पूर्व रची जानेवाली इन रचनाओं का नामोल्लेख किया है –

पासणाहचरिउ, मेहेसरचरिउ, सिद्धचक्कमाहप्प, बलहद्दचरिउ, सुदंसणचरिउ और धणकुमारचरिउ।

सुकौशलचरिउ—में ४ संधियां और ७४ कडवक है। पहली दो संधियों में कथन क्रमादि की व्यवस्था व्यक्त करते हुए तीसरी संधि में चरित्र का चित्रण किया है। चौथी संधि में चरित्र का वर्णन करते हुए उच्चकोटी का काव्य मय वर्णन किया है। किन्तु शैली विषयवर्णनात्मक ही है। कवि ने इस खण्ड-काव्य में सुकौशल की जीवन-गाथा को अङ्कित किया है कथानक इस प्रकार है :—

इक्ष्वाकु वंश में कीर्तिधर नाम के प्रसिद्ध राजा थे। उन्हे उल्कापात के देखने से वैराग्य हो गया था, अतएव वे साधुजीवन व्यतीत करना चाहते थे। परन्तु मंत्रियों के अनुरोध से पुत्रोत्पत्ति के समय तक गृही जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया। कई वर्षो तक उनके कोई सन्तान न हुई। उनकी रानी सहदेवी एक दिन जिन मन्दिर गई। वहां जिन दर्शनादि क्रिया सम्पन्न कर उसने एक मुनिराज से पूछा कि मेरे पुत्र कब होगा? तब साधु ने कहा की तुम्हारे एक पुत्र अवश्य होगा, परन्तु उसे देखकर राजा दीक्षा ले लेगा, और पुत्र भी दिगम्बर साधु को देखकर साधु बन जायगा। कुछ समय पश्चात् रानी के पुत्र हुआ। रानी ने पुत्रोत्पत्ति को गुप्त रखने का बहुत प्रयत्न किया;

किन्तु राजा को उसका पता चल गया और राजा ने तत्काल ही राज्य का भार पुत्र को सौंप कर जिन दीक्षा ले ली। राजा ने पुत्र के शुभ लक्षणो को देखकर उसका नाम सुकौशल रक्खा। रानी को पति-वियोग का दुःख असह्य था। साथ ही पुत्र के भी साधु हो जाने का भय उसे आतंकित किये हुए था। युवावस्था में उसका विवाह ३२ राज कन्याओं से कर दिया गया और भोग विलासमय जीवन बिताने लगा। उसे महल से बाहर जाने का कोई अधिकार न था। माता सदा इस बात का ध्यान रखती थी कि पुत्र कही किसी मुनि को न देख ले। अतएव उसने नगर में मुनियों का आना निषिद्ध कर दिया था।

एक दिन कुमार के मामा मुनि कीर्तिधवल नगर मे आये, किन्तु उनके साथ अच्छा व्यवहार न किया गया। जब राजकुमार को यह ज्ञात हुआ, तो उसने राज्य का परित्याग कर उनके समीप ही साधु दीक्षा लेकर तप का अनुष्ठान करने लगा। माता सहदेवी पुत्र वियोग से अत्यन्त दुखी हुई ओर आर्त परिणामो से मर कर व्याघ्री हुई।

एक दिन उसने अत्यत भूखी होने के कारण पर्वतपर ध्यानस्थ मुनि सुकौशल को ही खा लिया। सुकौशल ने समताभाव से कर्म कालिमा नष्ट कर स्वात्मलाभ किया। इधर मुनि कीर्तिधवल ने उस व्याघ्री को उपदेश दिया, जिसे सुनकर उसे जाति स्मरण हो गया, और अन्त मे उसने सन्यास पूर्वक शरीर छोड़ा और स्वर्ग प्राप्त किया, कीर्तिधवल भी अक्षय पद को प्राप्त हुए। कविने यह ग्रथ अग्रवाल वशी साहू आना के पुत्र रणमल के अनुरोध से बनाया था।

कवि ने इस ग्रन्थ को वि० स० १४९६ मे माघ कृष्ण दशमी के दिन ग्वालियर में राजा डूगरसिंह के राज्य में समाप्त किया।[1]

सावय चरिउ (सम्मत्तकउमुइ)

इस ग्रन्थ मे छह सधियां हे, जिनमे श्रावकाचारका कथन करते हुए सम्यक्तोत्पादक सुन्दर कथाओ का सयोजन किया है। ग्रथ की अन्तिम पुष्पिका में 'सम्मत्त कउमुइ' का नाम ग्रन्थ कार ने स्वय दिया है :—

इस सिरि सावयचरिए सदसण पमुह सुद्ध गुण भरिए सिरि पंडित रइधू वण्णिए सिरि महाभव्य सेउ साहु सुय साहू संघाहिव कुसराज अणुमण्णिए सम्मत्त कउमुइ नाम छट्ठो सधि परिच्छेओ समत्तो।'

ग्रन्थ के आदि मे कवि ने—'तह सावय चरिउ भणहुमत्थ' वाक्य द्वारा श्रावकाचार कहने का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि कर्ता ने ग्रन्थ के दोनो नाम दिये हे। यद्यपि ग्रन्थ मे श्रावकाचार का कोई खास कथन नही किया, किन्तु सम्यक्त्वोत्पादन सुन्दर आठ कथाएं अंकित की है। ये कथाएं संस्कृत की सम्यक्त्वकौमुदी मे भी ज्यों की त्यो पाई जाती है। उन मे भाषा-भेद अवश्य विद्यमान है।

साहु टेक्काणि ने इसके बनाने की कवि से प्रेरणा की थी। और वही ग्वालियर के गोलाराडान्वयी सेउ साहू के पुत्र कुशराज को कवि के समीप ले गया और उनका कवि से परिचय कराया। अतएव वह ग्रन्थ रचना मे प्रेरक है। और कवि रइधू ने कुशराज की अनुमति मे ग्रन्थ की रचना की है। कुशराज मूलसघ के अनुयायी थे। इसलिये कवि ने मूलसघ के भट्टारक पद्मनन्दी शुभचन्द्र और जिनचन्द्र का उल्लेख किया है[2]।

---

१. सिरिविक्कम समयतरालि वट्टतइ दुस्समविसमकालि।
चउदह सय सवक्छरइ अण्ण, छण्णव अहिय पुणु जाय पुण्ण।
माह दुजि किण्ह दहमी दिणम्मि, अणुराहु रिक्खि पयडिय स कम्मि। —जैन ग्रन्थ प्रशस्ति० भा० २, पृ० ७२

२. मूलसघ उज्जोयण दिणयरु, पामणदि सिरि बुहयण सुन्दरु।
तासु पट्टिरयणत्तयधारउ सजायउ, सुहचदु भडारउ।
पुणु उत्तुणु सिंहासण मडणु, मिच्छावाइ वय-मड-खडणु।
जिण सासण काणण पचाणणु णदिसघ णदिय तव माणणु।
सद्द बभरयणोह पयोणिहि, दिव्ववाणि उप्पाइय जणदिहि।
सरसइ गच्छे गच्छ सरथाहिउ, बाल बंभयारी सज साहिउ।
सिरि जिणचदु भडारउ मुणिवइ, तहु पय-पयरुह वदिवि कइवइ। —सावयचरिउ प्रशस्ति।

कुशराज ग्वालियर के निवासी थे। उन्होंने राजा डुगरसिंह के पुत्र कीर्तिसिंह के राज्यकाल में ध्वजाओं से अलंकृत जिनमंदिर का निर्माण किया था वह लोभ रहित और पर नारी से पराङ्मुख था। दुःखी दरिद्रीजनों का सपोषक था। उक्त सावयचरिउ (सम्यक्त्वकौमुदी) उसी की अनुमति से रचागया था। इसी से प्रत्येक संधि पुष्पिका वाक्य में—"संघाहिवइ कुसराज अणुमण्णिए' वाक्य के साथ उल्लेख किया गया हैं। इससे सावयचरिउ की रचना सं० १५१० के बाद हुई जान पड़ती हैं, क्योंकि कीर्तिसिंह सं० १५१० के बाद गद्दी पर बैठा था।

'पासणाहपुराण या पासणाहचरिउ' में ७ सन्धियाँ और १३६ के लगभग कडवक हैं, जिनमें जैनियों के तेवीसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ का जीवन-परिचय दिया हुआ है। पार्श्वनाथ के जीवन-परिचय को व्यक्त करने वाले अनेक ग्रंथ प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषा में तथा हिन्दी में लिखे गये हैं। परन्तु उनसे इसमें कोई खास विशेषता ज्ञात नहीं होती। इस ग्रन्थ की रचना जोर्यणिपुर (दिल्ली) के निवासी साहु खेऊ या खेमचन्द की प्रेरणा से की गई है इनका वंश अग्रवाल और गोत्र एेंडिल था। खेमचंद के पिता का नाम पजण साहु, और माता का नाम बील्हादेवी था किन्तु धर्मपत्नी का नाम धनदेवी था उससे चार पुत्र उत्पन्न हुए थे, सहसराज, पहराज, रघुपति, और, होलिवम्म। इनमें सहसराज ने गिरनार की यात्रा का संघ चलाया था। साहू खेमचन्द सप्त व्यसन रहित और देव-शास्त्र गुरु के भक्त थे। प्रशस्ति में उनके परिवार का विस्तृत परिचय दिया हुआ है। अतएव उक्त ग्रंथ उन्ही के नामांकित किया गया है। ग्रन्थ की आद्यन्त प्रशस्ति बड़ी ही महत्वपूर्ण है, उसमे तात्कालिक ग्वालियर की सामाजिक धार्मिक, राजनैतिक परिस्थितियों का यथेष्ट परिचय मिल जाता है। और उसमे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि उस समय ग्वालियर में जैन समाज का नैतिक स्तर बहुत ऊंचा था, और वे अपने कर्तव्य पालन के साथ-साथ अहिंसा, परोपकार और दयालुता का जीवन में आचरण करना श्रेष्ठ मानते थे।

ग्रन्थ बन जाने पर साहू खेमचन्द ने कवि रइधू को द्वीपांतरों से आये हुए विविध वस्त्रों और आभरणादिक से सम्मानित किया था, और इच्छित दान देकर संतुष्ट किया था।

'बलहद्दचरिउ' (पउमचरिउ) में ११ संधियाँ और २४० कडवक हैं जिनमें बलभद्र, (रामचन्द्र), लक्ष्मण और सीता आदि की जीवनगाथा अंकित की गई है, जिसकी श्लोक संख्या साढ़े तीन हजार के लगभग है। ग्रन्थ का कथानक बड़ा ही रोचक और हृदयस्पर्शी है। यह १५वी शताब्दी की जैन रामायण है। ग्रथ की शैली सीधी और सरल है, उसमें शब्दाडम्बर को कोई स्थान नहीं दिया गया, परन्तु प्रसगवश काव्योचित वर्णनों का सर्वथा अभाव भी नहीं है। राम की कथा बड़ी लोकप्रिय रही है। इससे इस पर प्राकृत संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी में अनेक ग्रथ विविध कवियों द्वारा लिखे गए हैं।

यह ग्रन्थ भी अग्रवालवंशी साहु बाटू के सुपुत्र हरसी साहु की प्रेरणा एवं अनुग्रह से बनाया गया है। साहु हरसी जिन शासन के भक्त और कषायों को क्षीण करने वाले थे। आगम और पुराण-ग्रन्थों के पठन-पाठन में समर्थ, जिन पूजा और सुपात्रदान में तत्पर, तथा रात्रि और दिन में कायोत्सर्ग में स्थित होकर आत्म-ध्यान द्वारा स्व-पर के भेद-विज्ञान का अनुभव करने वाले, तथा तपश्चरण द्वारा शरीर को क्षीण करने वाले धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे। आत्म-विकास करना उनका लक्ष्य था। ग्रन्थ की आद्य प्रशस्ति में हरसी साहू के कुटुम्ब का पूरा परिचय दिया हुआ है। ग्रन्थ में रचनाकाल दिया हुआ नहीं है।

'मेहेसरचरिउ' में २३ संधियाँ और ३०४ कडवक हैं। जिनमें भरत चक्रवर्ती के सेनापति जयकुमार और उनकी धर्मपत्नी सुलोचना के चरित्र का सुन्दर चित्रण किया गया है। जयकुमार और सुलोचना का चरित बड़ा ही पावन रहा है। ग्रन्थ की द्वितीय-तृतीय संधियों में आदि ब्रह्मा-ऋषभदेव का गृहत्याग, तपश्चरण और केवलज्ञान की प्राप्ति, भरत की दिग्विजय, भरत बाहुबलि युद्ध, बाहुबलि का तपश्चरण और कैवल्य प्राप्ति आदि का कथन दिया हुआ है। छठवीं सन्धि के २३ कडवकों में सुलोचनाका स्वयम्बर, सेनापति मेघेश्वर (जयकुमार) का भरत चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिके साथ युद्ध करने का वर्णन किया है। ७वी सन्धि में सुलोचना और मेघेश्वर के विवाह का कथन दिया हुआ है। और ८वी से १३वीं संधि तक कुबेर मित्र, हिरण्यगर्भ का पूर्वभव वर्णन तथा भीम भट्टारक का निर्वाण गमन, श्रीपाल चक्रवर्ती का हरण और मोक्ष गमन, एवं मेघेश्वर का तपश्चरण, निर्वाण गमन आदि का

सुन्दर कथन दिया हुआ है। ग्रन्थ काव्य-कला की दृष्टि से उच्चकोटि का है। ग्रन्थ में कवि ने दुवई, गाहा, चामर, घत्ता, पद्धडिया, समानिका और मत्तगयंद आदि छन्दों का प्रयोग किया है। रसों में शृंगार, वीर, वीभत्स और शान्त रस का, तथा रूपक उपमा और उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की भी योजना की गई है। इस कारण ग्रन्थ सरस और पठनीय बन गया है।

कवि ने ग्रन्थ में अपने से पूर्ववर्ती निम्न कवियों और उनकी कृतियों का उल्लेख किया है। कवि चक्रवर्ती धीरसेन, देवनन्दी अपर नाम पूज्यपाद (ईस्वी सन् ४७५ से ५२५ ई०) जैनेन्द्र व्याकरण, वज्रसेन और उनका षड्दर्शन प्रमाण नाम का जैन न्याय ग्रन्थ का, रविषेण (वि० सं० ७३४) तथा उनका पद्मचरित, पुन्नाटसंघी जिनसेन (वि० सं० ८४०) और उनका हरिवंश, महाकवि स्वयभू, चतुर्मुख तथा पुष्पदन्त, देवसेन का मेहेसरचरिउ (जयकुमार-सुलोचना चरित) दिनकरसेन का अनंगचरित।

ग्रन्थ की आद्यन्त प्रशस्तियों में ग्रन्थ रचना में प्रेरक ग्वालियर नगर के सेठ अग्रवाल कुलावतंश साहू खेऊ या खेमसिह के परिवार का विस्तृत परिचय दिया हुआ है। और ग्रन्थ की प्रत्येक सन्धि के प्रारम्भ में कवि ने संस्कृत श्लोको में आश्रयदाता उक्त साहू की मंगल कामना की है। द्वितीय संधि के प्रारम्भ का निम्न पद्य दृष्टव्य है।

तीर्थेशो वृषभेश्वरो गणनुतो गौरीश्वरो शंकरो,
आदीशो हरिणंचितो गणपतिः श्रीमान्युगादिप्रभु।
नाभेयो शिववार्द्धिवर्धन शशिः कैवल्यभाभासुरः,
क्षेमाख्यस्य गुणांन्वितस्य सुमतेः कुर्याच्छिवं सो जिनः॥

इस पद्य में ऋषभदेव के जो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं वे जहाँ उनकी प्राचीनता के द्योतक हैं, वहाँ वे ऋषभदेव और शिव की सादृश्यता की झांकी भी प्रस्तुत करते है। ग्रन्थ सुन्दर है और इसे प्रकाश में लाना चाहिये।

'रिट्ठणेमिचरिउ' या 'हरिवंश पुराण' ग्रन्थ में १४ सन्धियाँ और ३०२ कडवक हैं तथा १९०० के लगभग पद्य होंगे, जिनमें ऋषभ चरित, हरिवंशोत्पत्ति, वसुदेव और उनका पूर्वभव कथानक, बन्धु-बान्धवों से मिलाप, कंस बलभद्र और नारायण के भवों का वर्णन, नारायण जन्म, कंसवध, पाण्डवों का जुए में हारना द्रोपदी का चीर हरन, पाण्डवों का अज्ञातवास, प्रद्युम्न को विद्या प्राप्ति और श्रीकृष्ण से मिलाप, जरासंध वध, कृष्ण का राज्यादि सुखभोग नेमिनाथ का जन्म, बाल्यक्रीडा यौवन, विवाहमें वैराग्य, दीक्षा तथा तपश्चरण केवलज्ञान और निर्वाण प्राप्ति आदि का कथन दिया है। ग्रन्थ में जैनियों के बाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ की जीवन-घटनाओं का परिचय दिया हुआ है। नेमिनाथ यदुवंशी क्षत्री थे और थे कृष्ण के चचेरे भाई। उन्होंने पशुओं के बंधन खुलवाए और संसार की असारता को देख, वैरागी हो तपश्चरण द्वारा आत्म-शोधन किया, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बने, और जगत को आत्म-हित करने का सुन्दरतम मार्ग बतलाया। उनका निर्वाण स्थान ऊर्जयन्त गिरि या रैवतगिरि है जो आज भी नेमिनाथ के अतीत जीवन की झाँकी को प्रस्तुत करता है। तीर्थंकर नेमिकुमार की तपश्चर्या और चरण रज से वह केवल पावन ही नहीं हुआ, किन्तु उसकी महत्ता लोक में आज भी मौजूद है।

इस ग्रन्थ की रचना योगिनीपुर (दिल्ली) से उत्तर की ओर बसे हुए किसी निकटवर्ती नगर का नाम था जो पाठ की अशुद्धि के कारण ज्ञात नहीं हो सका। ग्रन्थ की रचना उस नगर के निवासी गोयल गोत्रीय अग्रवाल वंशी महाभव्य साहू लाहा के पुत्र संघाधिप साहु लोणा की प्रेरणा से हुई है। ग्रन्थ की आद्यन्त प्रशस्तियों में साहु लोणा के परिवार का संक्षिप्त परिचय कराया गया है।

कवि ने ग्रन्थ में अपने से पूर्ववर्ती विद्वानों और उनके कुछ ग्रन्थों का उल्लेख किया है, देवनन्दि (पूज्यपाद) जैनेन्द्र व्याकरण, जिनसेन (महापुराण) रविषेण (जैन रामायण-पद्मचरित) कमलकीर्ति और उनके पट्टधर शुभचन्द्र का नामोल्लेख है। जिनका पट्टाभिषेक कनकगिरि वर्तमान सोनागिरि में में हुआ था[1]। साथ ही कवि

१. कमल किति उतम खमधारउ, भव्वह-भव-अंबोणिहि-तारउ।
तस्स पट्ट कणयट्ठि परिट्ठिउ, सिरि-सुहचंद सु-तव-उक्कंठिउ॥ हरिवंश पु० प्र०

ने अपने रिट्ठणेमिचरिउ से पहले बनाई हुई अपनी निम्न रचनाओं के भी नाम दिये हुए हैं। महापुराण, भरत-सेनापति चरित (मेघेश्वर चरित) जसहरचरिउ (यशोधरचरित) वित्तसार, जीवंधर चरिउ और पासचरिउ का नामोल्लेख किया है। ग्रन्थ में रचनाकाल नहीं दिया, इसलिए यह निश्चित बतलाना तो कठिन है कि यह ग्रन्थ कब बना ? फिर भी अन्य सूत्रों से यह अनुमान किया जा सकता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ विक्रम की १५वीं शताब्दी के अन्तिम चरण या १६वीं के प्रथम चरण मे रचा गया है।

प्रस्तुत 'धणकुमार चरिउ' में चार सन्धियां और ७४ कडवक हैं। जिनकी श्लोक संख्या ८०० श्लोकों के लगभग है जिनमें धनकुमार की जीवन-गाथा अंकित की गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना आरौन जिला ग्वालियर निवासी जैसवाल वंशी साहु पुण्यपाल के पुत्र साहु भुल्लण की प्रेरणा एवं अनुरोध से हुई है। अतएव उक्त ग्रन्थ उन्हीं के नामांकित किया गया है। ग्रन्थ की आद्य प्रशस्ति में साहु भुल्लण के परिवार का विस्तृत परिचय कराया गया है।

इस ग्रन्थ की रचना कब हुई ? यह ग्रन्थप्रशस्ति पर से कुछ ज्ञात नहीं होता; क्योंकि उसमें रचना काल दिया हुआ नहीं है। किन्तु प्रशस्ति में इस ग्रन्थ के पूर्ववर्ती रचे हुए ग्रन्थों के नामों में 'णमिजिणिंद चरिउ' (हरिवंश पुराण) का भी उल्लेख है इससे स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ उसके बाद बनाया गया है।

'जसहर चरिउ' में ४ सन्धिया और १०४ कडवक हैं जिनकी श्लोक संख्या ६७७ के लगभग है। ग्रन्थ में योधेय देशके राजा यशोधर और चन्द्रमती का जीवन परिचय दिया हुआ है। ग्रन्थ का कथानक सुन्दर और हृदयग्राही है और वह जीव दया की पोषक वार्ताओं से ओत-प्रोत है। यद्यपि राजा यशोधर के सम्बंध में संस्कृतभाषा में अनेक चरित ग्रन्थ लिखे गए हैं जिनमें आचार्य सोमदेव का 'यशस्तिलक चम्पू' सबसे उच्चकोटि का काव्य-ग्रन्थ है परन्तु अपभ्रंश भाषा का यह दूसरी रचना है प्रथम ग्रन्थ महाकवि पुष्पदन्त का है। यद्यपि भ० अमरकीर्ति ने भी 'जसहर चरिउ' नाम का ग्रन्थ लिखा था; परंतु वह अभी तक अनुपलब्ध है। ऐ० प० सरस्वती भवन ब्यावर में इसकी सचित्र प्रति विद्यमान है।

इस ग्रन्थ की रचना भट्टारक कमलकीर्ति के अनुरोध से तथा योगिनीपुर (दिल्ली) निवासी अग्रवाल वंशी साहु कमलसिंह के पुत्र साहु हेमराज की प्रेरणा से हुई है। अतएव ग्रन्थ उन्हीं के नाम किया गया है। उक्त साहु परिवार ने गिरनार जी की तीर्थयात्रा का संघ चलाया था। ग्रन्थ की आद्यन्त प्रशस्ति में साहु कमलसिंह के परिवार का विस्तृत परिचय कराया गया है। कवि ने यह ग्रन्थ लाहडपुर के जोधा साहु के विहार में बैठकर बनाया है, और उसे स्वय 'दयारसभर गुणपवित्तं'—पवित्र दयारूपी रस से भरा हुआ बतलाया है।

'अणथमी कहा' में रात्रिभोजन के दोषों और उससे होने वाली व्याधियों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि दो घड़ी दिन के रहने पर श्रावक लोग भोजन करें; क्योंकि सूर्य के तेज का मंद उदय रहनेपर हृदय-कमल सकुचित हो जाता है अत: रात्रि भोजनके त्याग का विधान धार्मिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से किया गया है जैसा कि उसके निम्न दो पद्यों से प्रकट है :—

> "जि रोय-दलद्दिय दीण अणाह, जि कुट्ठ-गलिय कर करण सवाह।
> दुहग्गु जि परियणु वग्गु अणेहु, सु-रयणिहि भोयण फलु जि मुणेहु।
> घड़ी दुइ वासरु थक्कइ जाम, सुभोयण सावय भुंजहि ताम।
> दिवायरु तेज जि मंदउ होइ, सकुच्चइ चित्तहु कमलु जिव सोइ।"

कथा रचने का उद्देश्य भोजन सम्बन्धी असंयम से रक्षा करना है, जिससे आत्मा धार्मिक मर्यादाओं का पालन करते हुए शरीर को स्वस्थ बनाये रखे।

'सिद्धांतार्थसार' का विषय भी सैद्धांतिक है और अपभ्रंश के गाथा छंद में रचा गया है। इसमें सम्यग्दर्शन जीव स्वरूप, गुणस्थान, व्रत, समिति, इंद्रिय-निरोध आदि आवश्यक क्रियाओं का स्वरूप, अट्ठाईस मूलगुण, अष्टकर्म, द्वादशांगश्रुत, लब्धिस्वरूप, द्वादशानुप्रेक्षा दशलक्षणधर्म; और ध्यानों के स्वरूप का कथन दिया गया है। इस ग्रन्थ की रचना वणिकवर श्रेष्ठी खेमसी साहु या साहु खेमचन्द्र के निमित्त की गई है। परन्तु खेद है कि उपलब्ध ग्रन्थ

का अंतिम भाग खंडित है। लेखक ने कुछ जगह छोड़कर लिपि पुष्पिका की प्रतिलिपि कर दी है। ग्रन्थ के शुरू में कवि ने लिखा है कि यदि मैं उक्त सभी विषयों के कथन में स्खलित हो जाऊं तो छल ग्रहण नहीं करना चाहिए। यह ग्रन्थ भी तोमर वंशी राजा कीर्तिसिंह के राज्य में रचा गया है।

'वृत्तसार' में छह सर्ग या अंक (अध्याय) हैं। ग्रन्थ का अन्तिम पत्र त्रुटित है जिसमें ग्रन्थकार की प्रशस्ति उल्लिखित होगी। यह ग्रन्थ अपभ्रंश के गाथा छंद में रचा गया है, जिनकी संख्या ७५० है। बीच बीच में संस्कृत के गदय-पद्यमय वाक्य भी ग्रन्थांतरों से प्रमाण स्वरूप में उद्धृत किये गये हैं। प्रथम अधिकार में सम्यग्दर्शन का सुन्दर विवेचन है, और दूसरे अधिकार में मिथ्यात्वादि छह गुणस्थानों का स्वरूप निर्दिष्ट किया है। तीसरे अधिकार में शेष गुण-स्थानों का और कर्मस्वरूप का वर्णन है। चौथे अधिकार में बारह भावनाओं का कथन दिया हुआ है। पाँचवें अंक में दशलक्षण धर्म का निर्देश है और छठवें अध्याय में ध्यान की विधि और स्वरूपादि का सुन्दर विवेचन किया गया है। ग्रन्थ सम्पादित होकर हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाश में आने वाला है।

'पुण्णासव कहा कोश' में १३ संधियां दी हुई हैं जिनमें पुण्य का आस्रव करने वाली सुन्दर कथाओं का संकलन किया गया है। प्रथम सन्धि में सम्यक्त्व के दोषों का वर्णन है, जिन्हें सम्यक्त्वी को टालने की प्रेरणा की गई है। दूसरी संधि में सम्यक्त्व के निश्शंकितादि अष्ट गुणों का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए उनमें प्रसिद्ध होने वाले अंजन चोर का चित्ताकर्षक कथानक दिया हुआ है तीसरी संधि में निकांक्षित और निर्विचिकित्सा इन दो अंगों में प्रसिद्ध होने वाले अनन्तमती और उदितोदय राजा की कथा दी गई। चौथी संधि में अमूढदृष्टि और स्थितिकरण अंग में रेवती रानी और श्रेणिक राजा के पुत्र वारिषेण का कथानक दिया हुआ है। पांचवीं सन्धि में उपगूहन अंग का कथन करते हुए उसमें प्रसिद्ध जिनभक्त सेठ की कथा दी हुई है। सातवीं सन्धि में प्रभावना अंग का कथन दिया हुआ है। आठवीं संधि में पूजा का फल, नवमी संधि में पंचनमस्कार मंत्र का फल, दशवीं संधि में आगमभक्ति का फल और ग्यारहवीं संधि में सती सीता के शील का वर्णन दिया हुआ है। बारहवीं सन्धि में उपवास का फल और १३वीं संधि में पात्र-दान के फल का वर्णन किया है। इस तरह ग्रन्थ की ये सब कथाये बड़ी ही रोचक और शिक्षाप्रद हैं।

इस ग्रन्थ का निर्माण अग्रवाल कुलावतंस साहु नेमिदास की प्रेरणा एवं अनुरोध से हुआ है और यह ग्रन्थ उन्हीं के नामांकित किया है। ग्रन्थ की आद्यन्त प्रशस्तियों में नेमिदास और उनके कुटुम्ब का विस्तृत परिचय दिया हुआ है। और बतलाया है कि साहु नेमिदास जोइणिपुर (दिल्ली) के निवासी थे और साहु तोसउ के चार पुत्रों में से प्रथम थे। नेमिदास श्रावक व्रतों के प्रतिपालक, शास्त्रस्वाध्याय, पात्रदान, दया और परोपकार आदि सत्कार्यों मे प्रवृत्ति करते थे। उनका चित्त समुदार था और लोक में उनकी धार्मिकता और सुजनता का सहज ही आभास हो जाता है, और उनके द्वारा अगणित मूर्तियों के निर्माण कराये जाने, मन्दिर बनवाने और प्रतिष्ठादि महोत्सव सम्पन्न करने का भी उल्लेख किया गया है। साहु नेमिदास चन्द्रवाड के राजा प्रतापरुद्र से सम्मानित थे[1]। वे सम्भवत: उस समय दिल्ली से चन्द्रवाड चले गए थे, और वहां ही निवास करने लगे थे उनके अन्य कुटुम्बी जन उस समय दिल्ली में ही रह रहे थे राजा प्रतापरुद्र चौहान वंशी राजा रामचन्द्र के पुत्र थे, जिनका राज्य विक्रम सं० १४६८ में वहां विद्यमान था[2]। ग्रन्थ में उसका रचनाकाल दिया हुआ नहीं है, परन्तु उसकी रचना पन्द्रहवीं

---

१. णिव पयावरुद्द सम्माणिउ—पुण्यास्रव प्रशस्ति।

२. चन्द्रवाड के सम्बन्ध में लेखक का स्वतन्त्र लेख देखिए। सं० १४६८ में राजा रामचन्द्र के राज्य मे चन्द्रवाड में अमर-कीर्ति के षट्कर्मोपदेश की प्रतिलिपि की गई थी, जो अब नागौर के भट्टारकीय शास्त्र भंडार मे सुरक्षित है। यथा—अथ संवत्सरे १४६८ वर्षे ज्येष्ठ कृष्ण पंचदश्यां शुक्रवासरे श्रीमच्चन्द्रपाट नगरे महाराजाधिराज श्रीराम चन्द देव-राज्ये। तत्र श्री कुंदकुंदाचार्यान्वये श्री मूलसंघ गुजरगोष्ठि तिहुयनगिरिया साहु श्री जगसीहा भार्या: सोमा तयो: पुत्रा: (चत्वार:) प्रथम उदैसीह (द्वितीय) अजैसीहि तृतीय पहराज चतुर्थ खाह्यदेव। ज्येष्ठ पुत्र उदैसीह भार्या रतो, तस्य त्रयो: पुत्रा:, ज्येष्ठ पुत्र देल्हा द्वितीय राम तृतीय भीखम ज्येष्ठ पुत्र देल्हा भार्या हिरो (तयो:) पुत्रा: द्वयो: ज्येष्ठ पुत्र हालू द्वितीय पुत्र अर्जुन ज्ञानावरणी कर्म क्षयार्थ इदं षट्कर्मोपदेश लिखापितं।

भग्नपृष्ठि कटिग्रीवा सन्च दृष्टि रधो मुखं। कष्टेन लिखितं शास्त्रं यत्नेन परिपालयेत्॥ —नागौर भंडार

शताब्दी के अंतिम चरण में हुई जान पड़ती है। क्योंकि उसके बाद मुस्लिम शासकों के हमलों से चन्दवाड की श्री सम्पन्नता को भारी क्षति पहुंची थी।

कवि ने ग्रन्थ की प्रत्येक संधि के प्रारम्भ मे ग्रन्थ रचना मे प्रेरक साहु नेमिदास का जयघोष करते हुए मगल कामना की है। जैसा कि उसके निम्नपद्यो से प्रकट है—

प्रतापरुद्रनृपराजविश्रुतस्त्रिकालदेवार्चनवंचिता शुभा।
जैनोक्तशास्त्रामृतपानशुद्धधीः चिरं क्षितो नन्दतु नेमिदासः ।। ३
सत्कवि गुणानुरागी श्रेयांन्निव पात्रदानविधिदक्षः।
तोसउ कुलनभचन्द्रो नन्दतु नित्येव नेमिदासाख्यः ।।४।।

ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है, उसे प्रकाश में लाना आवश्यक है।

'जीवधर चरिउ' में तेरह संधियां दी हुई है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे दर्शनविशुद्धचादि षोडशकारण भावनाओं का फल वर्णन किया गया है। उनका फल प्राप्त करने वाले जीवधर तीर्थंकर की रोचक कथा दी गई है। प्रस्तुत जीवधर स्वामी पूर्व विदेह क्षेत्र के अमरावती देश में स्थित गधर्वराउ (राज) नगर के राजा सीमधर और उनकी पट्ट महिषी महादेवी के पुत्र थे। इन्होंने दर्शनविशुद्धचादि षोडश कारण भावनाओं का भक्तिभाव से चिन्तन किया था, जिसके फलस्वरूप वे धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक तीर्थंकर हुए। ग्रन्थ का कथा भाग बड़ा ही सुन्दर है। परन्तु ग्रंथ प्रति अत्यंत अशुद्धरूप में प्रतिलिपि की गई है जान पड़ता है। प्रतिलिपिकार पुरानी लिपि का अभ्यासी नहीं था। प्रतिलिपि करवा कर पुनः जाच भी नही की गई।

इस ग्रंथ का निर्माण कराने वाले साहु कुन्थदास है, जो सम्भवतः ग्वालियर के निवासी थे। कवि ने इस ग्रन्थको उक्त साहु को 'श्रवण भूषण' प्रकट किया है। साथ ही उन्हें आचार्य चरण सेवी, सप्त व्यसन रहित, त्यागी धवलकीति वाला, शास्त्रों के अर्थ को निरतर अवधारण करनेवाला और शुभ मती बतलाते हुए उन्हे साहु हेमराज और मोल्हा देवी का पुत्र बतलाया गया है। कवि ने उनके चिरंजीव होने की कामना भी की है जैसा कि द्वितीय संधि के प्रथम पद्य मे ज्ञात होता है।

'जो भत्तो सूरिपाए विसणसगसया जि विरत्ता स एयो।
जो चाई पुत्त दाणे ससिपह धवली कित्ति वल्लिकु तेजो।
जो नित्यो सत्थ-अत्थे विसय सुहमई हेमरायस्स ताओ।
सो मोल्ही अंग जाओ 'भवदु इह धुवं कुंथुयासो चिराओ।'

'सिरिपालचरिउ' या सिद्धचक्र विधि' मे दश संधियाँ दी हुई है, और जिनकी आनुमानिक श्लोक संख्या दो हजार दो सो बतलाई है। इसमे चम्पापुर के राजा श्रीपाल और उनके सभी साथियो का सिद्धचक्रव्रत (अष्टाह्निका व्रत) के प्रभाव मे कुष्ठ रोग दूर हो जाने आदि की कथा का चित्रण किया गया है और सिद्धचक्रव्रत का माहात्म्य ख्यापित करते हुए उसके अनुष्टान की प्रेरणा की गई है। ग्रन्थ का कथाभाग बड़ा ही सुन्दर और चित्ताकर्षक है। भाषा सरल तथा सुबोध है। यद्यपि श्रीपाल के जीवन परिचय और सिद्धचक्रव्रत के महत्व को चित्रित करने वाले संस्कृत, हिंदी गुजराती भाषा में अनेक ग्रन्थ लिखे गए हैं। परंतु अपभ्रंश भाषा का यह दूसरा ग्रन्थ है। प्रथम ग्रन्थ पंडित नरसेन का है।

प्रस्तुत ग्रन्थ ग्वालियर निवासी अग्रवाल वंशी साहु बाटू के चतुर्थ पुत्र हरिसी साहु के अनुरोध से बनाया है कवि ने प्रशस्ति में उनके कुटुम्ब का संक्षिप्त परिचय भी अंकित किया है। कवि ने ग्रन्थ की प्रत्येक संधियों के प्रारम्भ में संस्कृत पद्यों में ग्रन्थ निर्माण में प्रेरक उक्त साहु का यशोगान करते हुए उनकी मगल कामना की है। जैसा कि ७वीं संधि के निम्न पद्य से प्रकट है।

यः सत्यं वदति व्रतानि कुरुते शास्त्रं पठंन्त्यादरात्
मोहं मुञ्चति गच्छति स्व समयं धत्ते निरीहं पदं।

पापं लुम्पति पाति जीवनिवहं ध्यानं समालम्बते ।
सोऽयं नंदतु साधुरेव हरषी पुण्णाति धर्म सदा ।
—सिद्धचक्र विधि (श्रीपालच० संधि ७)

कवि की अन्य कृतियाँ :

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त कवि की 'दश लक्षण जयमाला' और 'षोडशकारण जयमाला' ये दोनों पूजा ग्रन्थ भी मुद्रित हो चुके हैं। इनके सिवाय पज्जुण्ण चरिउ, सुदसणचरिउ, करकण्डुचरिउ ये तीनों ग्रन्थ अभी अनुपलब्ध हैं। इनका अन्वेषणकार्य चालू है।। 'सोऽहं थुदि' नाम की एक छोटी-सी रचना भी अनेकात में प्रकाशित हो चुकी है।

अभी अभी सूचना प्राप्त हुई है कि रइधू कवि का तिसट्ठि पुरिस गुणालंकार (महापुराण) ग्रन्थ बाराबकी के शास्त्र-भण्डार से पं० कैलाशचन्द्र सि० शा० को प्राप्त हुआ है, जिसकी पत्र सख्या ४६५ है, ५० सधियाँ, १३५७ कदवक है। यह प्रति स० १४९९ की लिखी हुई है।

कवि रइधू ने अपने से पूर्ववर्ती कवियों का अपनी रचनाओ में ससम्मान उल्लेख किया है[1]। उनके नाम इस प्रकार है—१ देवनन्दी (पूज्यपाद) २ रविषेण ३ चउमुह ४ द्रोण ५ स्वयभूदेव, ६ वज्रसेन, ७ पुन्नाट सघी जिनसेन ८ पुष्पदन्त ९ और दिनकर सेन का अनंग चरित। इनमें से अधिकांश कवियों का परिचय इसी ग्रथ में अन्यत्र दिया हुआ है।

कवि हरिचन्द

कवि हरिचन्द का वंश अग्रवाल है। पिता का नाम जंडू और माता का नाम वील्हादेवी था। कवि ने अपने गुरु का कोई उल्लेख नहीं किया।

कवि की एक मात्र रचना 'अणत्थमिय कहा' है। प्रस्तुत कथा में १६ कडवक दिये हुए है, जिनमें रात्रि भोजन से होने वाली हानियों को दिखलाते हुए उसका त्याग करने की प्रेरणा को गई है और वतलाया है कि जिस तरह अन्धा मनुष्य ग्रासकी शुद्धि अशुद्धि सुन्दरता आदि का अवलोकन नही कर सकता। उसी प्रकार सूर्य के अस्त हो जाने पर रात्रि में भोजन करने वाले लोगों से कीड़ी, पतगा, झीगुर, चिउटो, डास मच्छर आदि सूक्ष्म और स्थूल जीवों की रक्षा नहीं हो सकतो। बिजली का प्रकाश भी उन्हें राकने में समर्थ नही हा सकता। रात्रि में भोजन करने से भोजन में उन विषैले जीवों के पेट में चले जाने से अनेक तरह के रोग हो जाते है, उनमे शारीरिक स्वास्थ्य को बड़ी हानि उठानी पड़ती है। अतः धार्मिक दृष्टि और स्वास्थ्य का दृष्टि से रात्रि में भोजन का परित्याग करना हा श्रेयस्कर है जैसा कि कवि के निम्न पद्य से स्पष्ट है:—

जिहि दिट्ठि णय सरइ अंधुजेम, नहि गास-सुद्धि भण होय केम।
किमि-कीड-पयंगइ झिंगुराइ पिप्पीलइं डंसइं मच्छिराइं।
खज्जूरइं कण्णसलाइयाइं अवरइ जीवइं जे बहु सयाइं।
अण्णाणी णिसि भुंजंतएण, पसु सरिसु चरिउ अप्पाणु तेण॥
घत्ता— जंवालि विदीणउकरि उज्जोवउ अहिउ जीउ संभवई परा।
भमराई पयंगइं बहुविह भंगइं मंडिय दीसइं जित्थु धरा॥५॥

कवि ने ग्रन्थ में रचनाकाल नही दिया। परन्तु रचना पर से वह रचना १५वी शताब्दी को जान पड़ती है।

भ० पद्मनन्दी

मुनि पद्मनन्दी भट्टारक प्रभाचन्द्र के पट्टधर विद्वान थे[2]। विशुद्ध सिद्धान्तरत्नाकर और प्रतिभा द्वारा प्रतिष्ठा को प्राप्त हुए थे। उनके शुद्ध हृदय में अभेद भाव से आलिङ्गन करती हुई ज्ञान रूपी हंसी आनन्दपूर्वक

१. विशेष परिचय के लिए देखिए, अनेकान्त वर्ष ९ किरण ९ में प्रकाशित महाकवि रइधू नाम का लेख। तथा वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० ३९८।

२. श्रीमत्प्रभाचन्द्र मुनीन्द्र पट्टे, शश्वत प्रतिष्ठा प्रतिभागरिष्ठः।
विशुद्धसिद्धान्तरहस्यरत्नरत्नाकरानन्दतु पद्मनन्दी॥ —शुभचन्द पट्टावली

क्रीड़ा करती थी वे स्याद्वाद सिन्धु रूप अमृत के वर्धक थे। उन्होंने जिनदीक्षा धारण कर जिनवाणो और पृथ्वी को पवित्र किया था। महाव्रती पुरन्दर तथा शान्ति से रागांकुर दग्ध करने वाले वे परमहंस निर्ग्रन्थ, पुरुषार्थ शालो, अशेष शास्त्रज्ञ सर्वहित परायण मुनिश्रेष्ट पद्मनन्दी जयवन्त रहें।[1] इन विशेषणों से पद्मनन्दी की महत्ता का सहज ही बोध हो जाता है। इनकी जाति ब्राह्मण थी। एक बार प्रतिष्ठा महोत्सव के समय व्यवस्थापक गृहस्थ की अविद्यमानता में प्रभाचन्द्र ने उस उत्सव को पट्टाभिषेक का रूप देकर पद्मनन्दी को अपने पट्ट पर प्रतिष्ठित किया था। इनके पट्ट पर प्रतिष्ठित होने का समय पट्टावली में सं० १३८५ पौष शुक्ला सप्तमी बतलाया गया है। वे उस पट्ट पर संवत् १४७३ तक तो आसीन रहे ही हैं। इसके अतिरिक्त और कितने समय तक रहे, यह कुछ ज्ञात नहीं हुआ, और न यह ही ज्ञात हो सका कि उनका स्वर्गवास कहां और कब हुआ है?

कुछ विद्वानों की यह मान्यता है कि पद्मनन्दी भट्टारक पद पर स० १४६५ तक रहे हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने कोई पुष्ट प्रमाण तो नहीं दिया, किन्तु उनका केवल वैसा अनुमान मात्र है और यह भी संभव है कि पट्ट पर शुभचन्द्र को प्रतिष्ठित कर प्रतिष्ठादि कार्य सम्पन्न किये हों कुछ समय और अपने जीवन से भूमण्डल को अलंकृत करते रहे हों। अतः इस मान्यता में कोई प्रामाणिकता नहीं जान पड़ती। क्योंकि संवत् १४७३ का पद्मकीर्ति रचित पार्श्वनाथ चरित की प्रशस्ति से स्पष्ट जाना जाता है कि पद्मनन्दी उस समय तक पट्ट पर विराजमान थे, जैसा कि प्रशस्ति के निम्न वाक्य से प्रकट है—

"कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्री रत्नकीर्ति देवास्तेषां पट्टे भट्टारक श्री प्रभाचन्द्र देवा तत्पट्टे भ० श्री पद्मनन्दि देवास्तेषां पट्टे प्रवर्तमाने—' (मुद्रित पार्श्वनाथ चरित प्रशस्ति)

इससे यह भी ज्ञात होता है कि पद्मनन्दी दीर्घजीवी थे। पट्टावली में उनकी आयु निन्यानवे वर्ष अट्ठाईस दिन की बतलाई गई है और पट्टकाल पैंसठ वर्ष आठ दिन बतलाया है।

यहाँ इतना और प्रकट कर देना उचित जान पड़ता है कि वि० सं० १४७९ में असवाल कवि द्वारा रचित 'पासणाहचरिउ' में पद्मनन्दी के पट्ट पर प्रतिष्ठित होने वाले भ० शुभचन्द्र का उल्लेख निम्न वाक्यों में किया है— **"तहो पट्टंबर ससिणामें सुहससि मुणि पयपंकयचंद हो।"** चूंकि सं० १४७४ में पद्मनन्दी द्वारा प्रतिष्ठित मूर्ति लेख उपलब्ध है, अतः उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि पद्मनन्दी ने सं० १४७४ के बाद और सं० १४७९ से पूर्व किसी समय शुभचन्द्र को अपने पद पर प्रतिष्ठित किया था।

कवि असवाल ने कुशार्त देश के करहल नगर में सं० १४७१ में होने वाले प्रतिष्ठोत्सव का उल्लेख किया है। और पद्मनन्दी के शिष्य कवि हल्ल या जयमित्र हल्ल द्वारा रचित 'मल्लिणाह' काव्य की प्रशंसा का भी उल्लेख किया है। उक्त ग्रन्थ भ० पद्मनन्दी के पद पर प्रतिष्ठित रहते हुए उनके शिष्य द्वारा रचा गया था। कवि हरिचन्द ने अपना वर्धमान काव्य भी लगभग उसी समय रचा था। इसी से उसमें कवि ने उनका खुला यशोगान किया है:—

'पद्मणंदि मुणिणाह गणिंदहु, चरण सरण गुरु कइ हरिइंदहु'

—(वर्धमान काव्य)

आपके अनेक शिष्य थे, जिन्हें पद्मनन्दी ने स्वयं शिक्षा देकर विद्वान बनाया था। भ० शुभचन्द, तो उनके

१. हंसोज्ञानमरालिका समसमा श्लेषप्रभूताद्भुता।
नन्दं क्रीडति मानसेति विशदे यस्यानिशं सर्वतः॥
स्याद्वादामृतसिन्धुवर्धनविधौ श्रीमप्रभेन्दुप्रभाः।
पट्टे सूरि मतल्लिका स जयतात् श्रीपद्मनन्दी मुनिः॥
महाव्रत पुरन्दरः प्रशमदग्ध रोगाङ्कुरः।
स्फुरत्परमपौरुषः स्थितिरशेषशास्त्रार्थवित्
यशोभर मनोहरीकृत समस्तविश्वम्भरः।
परोपकृति तत्परो जयति पद्मनन्दीश्वरः॥ —शुभचन्द्र पट्टावली

पट्टधर शिष्य थे ही, किन्तु आपके अन्य तीन शिष्यों से भट्टारक पदों की तीन परम्पराएं प्रारम्भ हुई थी जिनका आगे शाखा-प्रशाखा रूप में विस्तार हुआ है। भट्टारक शुभचन्द्र दिल्ली परम्परा के विद्वान थे। इनके द्वारा 'सिद्ध-चक्र' की कथा रची गई है।[1] जिसे उन्होंने सम्यग्दृष्टि जालाक के लिये बनाई थी। भ० सकलकीर्ति से ईडर की गद्दी और देवेन्द्रकीर्ति से सूरत की गद्दी की स्थापना हुई थी। चूंकि पद्मनन्दी मूलसंघ के विद्वान थे अतः इनकी परम्परा से मूल संघ की परम्परा का विस्तार हुआ। पद्मनन्दी अपने समय के अच्छे विद्वान, विचारक और प्रभावशाली भट्टारक थे। भ० सकलकीर्ति ने इनके पास आठ वर्ष रहकर धर्म, दर्शन, छन्द, काव्य, व्याकरण, कोष, साहित्य आदि का ज्ञान प्राप्त किया था और कविता में निपुणता प्राप्त की थी। भट्टारक सकलकीर्ति ने अपनी रचनाओं में उनका स-सम्मान उल्लेख किया है पद्मनन्दी केवल गद्दी धारी भट्टारक ही नहीं थे, किन्तु जैन संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार में सदा सावधान रहते थे।

पद्मनन्दी प्रतिष्ठाचार्य भी थे। इनके द्वारा विभिन्न स्थानों पर अनेक मूर्तियों की प्रतिष्ठा की गई थी। जहां वे मंत्र-तंत्र वादी थे, वहां वे अत्यन्त विवेकशील और चतुर थे। आपके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियां विभिन्न स्थानों के मन्दिरों में पाई जाती है। पाठकों की जानकारी के लिये दो मूर्ति लेख नीचे दिये जाते हैं:—

१ आदिनाथ—ओं संवत १४५० वैशाख सुदी १० गुरौ श्री चहुवाण वंश कुशेशय मार्तण्ड सारवे विक्रमन्य श्रीमत स्वरूप भूपान्वय भुंडदेवात्मजस्य भूवज शक्रस्य श्री सदानृपतेः राज्ये प्रवर्तमाने श्री मलसंघे भ० श्री प्रभा-चन्द देव, तत्पट्टे श्री पद्मनन्दि देव तदुपदेशे गोलाराडान्वये———

—(भट्टारक सम्प्रदाय ८९२)

२ **अरहंत—हरितवर्ण कृष्णमूर्ति— सं० १४६३ वर्षे माघ सुदी १३ शुक्रे श्री मल संघे पट्टाचार्य श्री पदम नन्दि देवा गोलाराडान्वये साधु नागदेव सुत———।** (इटावा के जैन मूर्ति लेख- प्राचीन जैन लेख संग्रह पृ० ३८)

ऐतिहासिक घटना

भ० पद्मनन्दी के सानिध्य मे दिल्ली का एक संघ गिरनार जी की यात्रा को गया था। उस समय श्वेताम्बर सम्प्रदाय का भी एक संघ उक्त तीर्थ की यात्रार्थ वहां आया हुआ था। उस समय दोनों संघों में यह विवाद छिड़ गया कि पहले कौन वन्दना करे, जब विवाद ने तूल पकड़ लिया और कुछ भी निर्णय न हो सका, तब उसके शमनार्थ यह युक्ति सोची गई कि जो संघ सरस्वती से अपने को 'आद्य' कहला देगा, वही संघ पहले यात्रा को जा सकेगा अतः भट्टारक पद्मनन्दी ने पाषाण की सरस्वती देवी के मुख से 'आद्य दिगम्बर' शब्द कहला दिया, परिणामस्वरूप दिगम्बरों ने पहले यात्रा की, और भगवान नेमिनाथ की भक्ति पूर्वक पूजा की। उसके बाद श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने की। उसी समय से बलात्कारगण की प्रसिद्धि मानी जाती है। वे पद्य इस प्रकार है :—

पद्मनन्दि गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी।
पाषाणघटिता येन वादिता श्री सरस्वती॥
ऊर्जयन्त गिरौ तेन गच्छः सारस्वतोऽभवत्।
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्री पद्मनन्दिने॥

यह ऐतिहासिक घटना प्रस्तुत पद्मनन्दी के जीवन के साथ घटित हुई थी। पद्मनन्दी नाम साम्य के कारण कुछ विद्वानों ने इस घटना का सम्बन्ध आचार्य प्रवर कुन्दकुन्द के साथ जोड़ दिया। वह ठीक नहीं है; क्योंकि कुन्दकुन्दाचार्य मूल संघ के प्रवर्तक प्राचीन मुनि पुंगव है और घटनाक्रम अर्वाचीन है। ऐसी स्थिति में यह घटना आ० कुन्दकुन्द के समय की नहीं है। इसका सम्बन्ध तो भट्टारक पद्मनन्दी से है।

१. श्रीपद्मनन्दी मुनिराजपट्टे शुभोपदेशी शुभचन्द्रदेवः।
श्रीसिद्धचक्रस्य कथाऽवतारं चकार भव्याबुजभानुमाली॥

(जैनग्रन्थ प्रशस्ति सं० भा० १ पृ० ८८)

रचनाएँ

पद्मनन्दी की अनेक रचनाएँ हैं। जिनमें देवशास्त्र गुरु-पूजन संस्कृत, सिद्धपूजा संस्कृत, पद्मनन्दि श्रावकाचारसारोद्धार, वर्धमानकाव्य, जीरापल्लि पार्श्वनाथ स्तोत्र और भावनाचतुर्विंशति। इनके अतिरिक्त वीतराग स्तोत्र, शान्तिनाथ स्तोत्र भी पद्मनन्दी कृत है, पर दोनों स्तोत्रों, देव-शास्त्र गुरु-पूजा तथा सिद्धपूजा में पद्मनन्दि का नामोल्लेख तो मिलता है, परन्तु उसमें भ० प्रभाचन्द का कोई उल्लेख नही मिलता। जब कि अन्य रचनाओं में प्रभाचन्द का स्पष्ट उल्लेख है, इसलिये उन रचनाओं को बिना किसी ठोस आधार के प्रस्तुत पद्मनन्दो की ही रचनाएं नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कि वे भी इन्हीं की कृति रही हों।

श्रावकाचारसारोद्धार संस्कृत भाषा का पद्य बद्ध ग्रन्थ है, उसमें तीन परिच्छेद है जिनमें श्रावक धर्म का अच्छा विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ के निर्माण में लम्बकंचुक कुलान्वयी (लमेचू वंशज) साहू वासाधर प्रेरक हैं।[1] प्रशस्ति में उनके पितामह का भी नामोल्लेख किया है जिन्होंने 'सूपकारसार' नामक ग्रथ का रचना की थी। यह ग्रन्थ अभी अनुपलब्ध है। विद्वानों को उसका अन्वेषण करना चाहिए। इस ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति में कर्ता ने साहू वासाधर के परिवार का अच्छा परिचय कराया है। और बतलाया है कि गोकर्ण के पुत्र सोमदेव हुए, जो चन्द्रवाड के राजा अभयचन्द्र और जयचन्द्र के समय प्रधान मन्त्री थे। सोमदेव की पत्नी का नाम प्रेमसिरि था, उससे सात पुत्र उत्पन्न हुए थे। वासाधर, हरिराज, प्रहलाद, महाराज, भवराज रतनाख्य और सतनाख्य। इनमें से ज्येष्ठ पुत्र वासाधर सबसे अधिक बुद्धिमान, धर्मात्मा और कर्तव्यपरायण था। इनकी प्रेरणा और आग्रह से ही मुनि पद्मनन्दी ने उक्त श्रावकाचार की रचना की थी। साहू वासाधर ने चन्द्रवाड में एक जिनमन्दिर बनवाया था और उसकी प्रतिष्ठा विधि भी सम्पन्न की थी। कवि धनपाल के शब्दों में वासाधर सम्यग्दृष्टि, जिनचरणों का भक्त, जैनधर्म के पालन में तत्पर, दयालु, बहुलोकमित्र, मिथ्यात्वरहित और विशुद्ध चित्तवाला था। भ० प्रभाचन्द्र के शिष्य धनपाल ने भी सं० १४५४ में चंद्रवाड नगर में उक्त वासाधर की प्रेरणा से अपभ्रंश भाषा में बाहुबलीचरित की रचना की थी[2]।

दूसरी कृति वर्धमान काव्य या जिनरात्रि कथा है, जिसके प्रथम सर्ग में ३५९ और दूसरे सर्ग में २०५ श्लोक है। जिनमें अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर का चरित अंकित किया गया है, किन्तु ग्रन्थ में रचनाकाल नहीं दिया जिससे उसका निश्चित समय बतलाना कठिन है। इस ग्रन्थ की एक प्रति जयपुर के पार्श्वनाथ दि० जैन मदिर के शास्त्र भंडार में अवस्थित है जिसका लिपिकाल सं० १५१८ है और दूसरी प्रति सं० १५२२ की लिखी हुई गोपीपुरा सूरत के शास्त्र भंडार में सुरक्षित है। इनके अतिरिक्त 'अनन्तव्रत कथा' भी भ० प्रभाचद्र के शिष्य पद्मनन्दो की बनाई उपलब्ध है। जिसमें ८५ श्लोक है।

पद्मनन्दी ने अनेक देशों, ग्रामों, नगरों आदि में विहार कर जन कल्याण का कार्य किया है, लोकोपयोगी साहित्य का निर्माण तथा उपदेशों द्वारा सन्मार्ग दिखलाया है। इनके शिष्य-प्रशिष्यों से जैनधर्म और संस्कृति की महती सेवा हुई है। वर्षों तक साहित्य का निर्माण, शास्त्र भंडारों का संकलन और प्रतिष्ठादिकार्यों द्वारा जैन संस्कृति के प्रचार में बल मिला है। इसी तरह के अन्य अनेक संत है, जिनका परिचय भी जनसाधारण तक नहीं पहुंचा है। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर पद्मनन्दी का परिचय दिया गया है चूंकि पद्मनन्दी मूल सघ के विद्वान थे, वे दिगम्बर वेष में रहते थे और अपने को मुनि कहते थे। और वे यथाविध यथाशक्य निर्दोष आचार विधि का पालन कर जीवन यापन करते थे।

१. श्रीलम्बकंचुकुलपद्मविकासभानुः सोमात्मजो दुरितदारु चयकृशानुः।
धर्मैकसाधन परो भुवि भव्यबन्धु र्वासाधरो विजयते गुणरत्न सिन्धुः॥ —बाहुबलीचरित संधि ४

२. जिणणाह चरण भत्तो जिणधम्मपरो दयालोए।
सिरि सोमदेवतणओ णंदउ वासद्धरो णिच्चं।
सम्मत्त जुत्तो जिणपायभत्तो दयालुरत्तो बहुलोय मित्तो।
मिच्छत्तचत्तो सुविसुद्धचित्तो वासाधरो णंदउ पुण्णचित्तो॥ —बाहुबली चरित संधि ३

शिष्य परम्परा

भ० पद्मनन्दी के अनेक शिष्य थे उनमें चार प्रमुख थे। शुभचन्द्र उनके पट्टधर शिष्य थे। देवेन्द्र कीर्ति ने सूरत में भट्टारक गद्दी स्थापित की थी। शिवनन्दी जिनका पूर्वनाम सूरजन साहु था। पद्मनन्दी द्वारा दीक्षित होकर शिवनन्दी नाम दिया, जो बड़े तपस्वी थे। धर्मध्यान और व्रतादि में संलग्न रहते थे। बाद में उनका स्वर्गवास हो गया था। चतुर्थ[1] शिष्य सकलकीर्ति थे जिन्होंने ईडर में भट्टारक गद्दी स्थापित की थी। यह अपने समय के सबसे प्रसिद्ध और प्रतिभा सम्पन्न भट्टारक थे। दिगम्बर मुद्रा में रहते थे। इन्होंने अनेक प्रतिष्ठाएं, और अनेक ग्रन्थों की रचना की है। इनकी शिष्य परम्परा भी पल्लवित रही है। भ० पद्मनन्दी द्वारा 'दीक्षित रत्नश्री' नाम की आर्यिका भी थी। इस तरह पद्मनन्दी ने और उनकी शिष्य परम्परा ने जैन संस्कृति की महान् सेवा की है।

भट्टारक यशःकीर्ति

यह काष्ठासंघ माथुर गच्छ और पुष्कर गण के भट्टारक गुणकीर्ति जिनका तपश्चरण से शरीर क्षीण हो गया था, लघुभ्राता और पट्टधर थे[2]। यह उस समय के सुयोग्य विद्वान और प्रतिष्टाचार्य थे। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषा के अच्छे विद्वान और कवि थे। अपने समय के अच्छे प्रभावशाली भट्टारक थे। जैसा कि निम्न प्रशस्ति वाक्यों से प्रकट है:—

"सुतासु पट्टभायरो वि आयमत्थ-सायरो, रिसिसु गच्छणायको जयन्त सिक्ख दायको जसक्खकित्ति सुंदरो अकंपुणाय मंदिरो,।"　　　　　　　　　　(पास पुराण प्र०)

'तहो बंधउ जसमुणि सीसु जाउ, आयरिय पणासिय दोसु राउ।'

—हरिवंश पुराण

'भव्व-कमल-सबोह पयंगो तह पुण-तव ताव तवियंगो।
णिच्चोब्भासि य पवयण अंगो, वंदिवि सिरि जस कित्ति असंगो।"

—सन्मति जिन च० प्र०

यशः कीर्ति असंग (परिग्रह रहित) थे, और भव्यरूप कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान थे, वे यशः कीर्ति वन्दनीय है। काष्ठासंघ की पट्टावली में उनकी अच्छी प्रशंसा की गई है। उनकी गुणकीर्ति प्रसिद्ध थी वे पुण्य मूर्ति, कामदेव के विनाशक और अनेक शिष्यों से परिपूर्ण, निर्ग्रन्थ मुद्रा के धारक, जिनके चित्त में जिन चरण कमल प्रतिष्ठित थे—जिन भक्त थे और स्याद्वाद के सत्प्रेक्षक थे।

इन्होंने स० १४८६ में विबुध श्रीधर के संस्कृत भविष्यदत्त चरित्र और अपभ्रंश भाषा का 'सुकमाल चरित' ये दो ग्रन्थ लिखवाये थे[3]।

भट्टारक यशः कीर्ति ने स्वयंभू कवि के खंडित जीर्ण-शीर्ण दशा में प्राप्त हरिवंशपुराण (रिट्ठणेमि चरिउ) का ग्वालियर के समीप कुमारनगर के जैन मन्दिर में व्याख्यान करने के लिए उद्धार किया था[4]। उसमें उन्होंने

१. स० १४७१ पट्टावली के प्रारम्भ में सकल कीर्ति को पद्मनन्दी का चतुर्थ शिष्य बतलाया है।

२. तहो सीसु सिद्धु गुण कित्तिणासु, तव तावें जासु शरीर खामु।
तहो बंधव जस मुणि सीसु जाउ, आयरिय वण सिय दोसु-राउ॥ (हरिवंशपुराण)

३. सं० १४८६ वर्षे आषाढ वदि ७ गुरु दिने गोपाचल दुर्गे राजा डूंगरेन्द्र सिंह देव विजय राज्य प्रवर्तमाने श्री काष्ठा संघे माथुरान्वये पुष्कर गणे आचार्य श्री सहस्रकीर्ति देवास्तत्पट्टे आचार्य गुणकीर्तिदेवास्तच्छिष्य श्री यशःकीर्तिदेवास्तेन निज ज्ञानवरणी कर्म क्षयार्थं इदं भविष्यदत्त पंचमी कथा लिखापितम्॥"
(नयामदिर धर्मपुरा दिल्ली प्रति) तथा जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भा०२ पृ० ८३

४. तं जसकित्ति मुणिहि, उद्धरियउ, णिए वि सत्तु हरिवंसच्छरिउ।
णिय गुरु सिरि-गुणकित्ति पसाएँ किउ परिपुण्णु मणहो अणुराएँ।
सरह सणेदं (१) सेठि आएसें, कुमरिणयरि आविउ सविसेसें।
गोवग्गिरिहे समीवे विसालए पणियारहे जिणवर चेयालए।
सावय जणहो पुरउ वक्खाणिउ, दिढु मिच्छत्तु मोहु अवमाणिउ।　　—हरिवंश पुराण प्रशस्ति

अपना नाम भी अंकित कर दिया था। कवि रइधू इन्हें अपना गुरु मानते थे।

समय

सं० १४८२ में बैशाख सुदी १० के दिन योगिनीपुर (दिल्ली) के शाहजादा मुराद के राज्य में यशः कीर्ति के उपदेश से श्रीधर की भविष्यदत्त कथा लिखवाई गई[1]। कवि का समय संवत् १४८२ से १५०० तक उपलब्ध होता है। अतः कवि का समय १५वी शताब्दी सुनिश्चित है। क्योंकि सं० १५०० में इन्होंने हरिवंशपुराण की रचना की है, उसके बाद वे कितने समय और जीवित रहे यह कुछ ज्ञात नहीं होता। इनके अनेक शिष्य थे। इनके पट्टधर शिष्य मलयकीर्ति थे।

रचनाएँ

इनकी इस समय चार रचनाएं उपलब्ध हैं। पाण्डवपुराण, हरिवंशपुराण, जिनरात्रि कथा, और रवि-व्रत कथा।

पाण्डव पुराण—इस ग्रन्थ में ३४ सन्धियाँ है जिनमें भगवान नेमिनाथ की जीवन-गाथा के साथ युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव, और दुर्योधनादि कौरवों के परिचय से युक्त कौरवों से होने वाले महाभारत युद्ध में विजय, नेमिनाथ युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन की तपश्चर्या तथा निर्वाण-प्राप्ति, नकुल, सहदेव का सर्वार्थ सिद्धि प्राप्त करना और बलदेव का ५ वें स्वर्ग में जाने का उल्लेख किया है। कवि यशःकीर्ति विहार करते हुए नवग्राम नामक नगर में आये जो दिल्ली के निकट था[2]। कवि ने पाण्डवपुराण की रचना इसी नगर में शाह हेमराज के अनुरोध से सं० १४९९ कार्तिक शुक्ला अष्टमी बुधवार को समाप्त किया था[3]। शाह हेमराज सैयद मुबारिक शाह के मन्त्री थे। यह सन् १४५० में मुबारिक शाह का मन्त्री था[4]। कवि ने ग्रन्थ निर्माण में प्रेरक हेमराज की संस्कृत पद्यों में मंगल कामना की है। इन्होंने एक चैत्यालय भी बनवाया था।[5] उसकी प्रतिष्ठा संवत् १४९७ पूर्व हुई थी। ग्रन्थ में नारी का वर्णन परम्परागत उपमानों से अलंकृत है किन्तु शारीरिक सौन्दर्य का अच्छा वर्णन किया गया है—'जाहे णियंति हे रइवि उक्खिज्जइ'—जिसे देखकर रति भी खीज उठती है। इतना ही नहीं किन्तु उसके सौन्दर्य से इन्द्राणी भी खिन्न हो जाती है—'लावण्णे वासवपिय जूरइ'। कवि ने जहां शरीर के बाह्य सौन्दर्य का कथन किया है वहां उसके अन्तर प्रभाव की भी सूचना की है। छन्दों में पद्धडिया के अतिरिक्त आरणाल, दुवई, खंडय, हेला, जंभोट्टिया, मलय विलासिया, आवली, चतुष्पदी, गुज्जरी, वंशस्थ, गाहा, दोहा, और वस्तु छन्द का प्रयोग किया है। कवि ने २८वीं संधि के कडवकों के प्रारम्भ में दोहा छन्द का प्रयोग किया है और दोहे को दोधक और दोहउ नाम भी दिया है। यथा—

१. स० १४८२ वैश १० दि० सुदी १० दिने श्री योगिनीपुरे साहिजादा मुरादखान राज्यप्रवर्तमाने श्रीकाष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे आचार्य श्री भावसेन देवास्तत्पट्टे श्री गुणकीर्ति देवास्तच्छिष्य श्री यशःकीर्ति उपदेशेन लिखापितं।
दि० जैन पंचायती मंदिर बयवा, जैन ग्रन्थ सूची भा० ५ पृ० ३६३

२. सिरि अयरवाल वंसहि पहाणु, जो सघहं वच्छलु विगयमाणु।
तहो णंदणु वील्हा गयरमाउ, नव गाव नयरि सो सइं जिआउ ॥ पाण्डवपु० प्र०

३. 'विक्कमराय हो ववगय कालए, महि-सायर-गह-रिसि अंकालए।
कत्तिय सिय अट्ठमि बुह वास, हुउ परिपुण्ण, पढम णंदीसर ॥
(जैन ग्रंथ प्रश०भा० २ पृ० ४०)

४. सुरतान मुवारख तणइ रज्ज, मंतितणेथिउ पिय भारकज्ज।

५. जेण करावउ जिण चेयालउ, पुण्णहेउ चिर-रय-पक्खालिउ।
धय-तोरण—कलसेहिं अलंकिउ, जसु गुरुत्ति हरि जाणु वि संकिउ।
—वही जैन ग्रंथ प्रश० भा०२ पृ० ३६

द्रोधक— ता सिंचिय सीयल जलेण, विज्जिय चमर विलेण।
उग्गिय सीयानल तविय, मयलिय अंजुजलेण ॥

ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति में हेमराज के परिवार का विस्तृत परिचय दिया है और ग्रन्थ उन्हीं के नामांकित किया है जैसा कि निम्न पुष्पिका वाक्य से प्रकट है:—

इय पंडव पुराण सयल जणमण सवण सुहयरे सिरिगुणकित्ति सीस मुणि जसकित्ति विरइए साधु वील्हा सुत राय मंति हेमराजणामंकिए—..................।'

हरिवंस पुराण—प्रस्तुत ग्रंथ में १३ सन्धियाँ और २६७ कडवक हैं। जो चार हजार श्लोकों के प्रमाण को लिए हुए है। इसमें कवि ने भगवान नेमिनाथ और उनके समय में होने वाले यदुवंशियों का—कौरव पाण्डवादि का—संक्षिप्त परिचय दिया गया है। अर्थात् महाभारतकालीन जैन मान्यता सम्मत पौराणिक आख्यान दिया हुआ है। ग्रन्थ में काव्यमय अनेकस्थल अलंकृत शैली से वर्णित हैं। उसमें नारी के बाह्यरूप का ही चित्रण नही किया गया किन्तु उसके हृदयस्पर्शी प्रभाव को अंकित किया है। कवि ने ग्रन्थ को पद्धडिया छन्द में रचने की घोषणा की है 'किन्तु आरणाल' दुवई, खंडय, जंभोट्टिया, वस्तुबध और हेलाआदि छन्दों का भी यत्र-तत्र प्रयोग किया गया है। ऐतिहासिक कथनों की प्रधानता है, परन्तु सभी वर्णन सामान्य कोटि के हैं उनमें तीव्रता की अभिव्यक्ति नही है। यह ग्रन्थ हिसार निवासी अग्रवाल वंशी गर्ग गोत्री साहू दिवड्ढा के अनुरोध से बनाया गया था। साहु दिवड्ढा परमेष्ठी आराधक, इन्द्रिय विषय विरक्त, सप्त व्यसन रहित, अष्ट मूलगुणधारक, तत्त्वार्थ श्रद्धानी, अष्ट अंग परिपालक, ग्यारह प्रतिमा आराधक, और बारह व्रतों का अनुष्ठापक था, उसके दान-मान की यशः कीर्ति ने खूब प्रशसा की है। कवि ने लिखा है कि मैंने इस ग्रन्थ की रचना कवित्त कीर्ति और धन के लोभ से नही की है और न किसी के मोह से, किन्तु केवल धर्म पक्ष से कर्म क्षय के निमित्त और भव्यों के संबोधनार्थ की है[1]। कवि ने दिवड्ढा साहु के अनुरोध वश यह ग्रन्थ वि० सं० १५०० में भाद्रपद शुक्ला एकादशी के दिन इदउर[2] (इन्द्रपुर) में जलालखां के राज्य में, जो मेवातिचीफ के नाम से जाना जाता[3] है, की है। इसने शय्यद मुबारिक शाह को बड़ी तकलीफें दी थीं।

जिनरात्रि कथा—में शिवरात्रि कथा की तरह भगवान महावीर ने जिस रात्रि में अवशिष्ट अघाति कर्म का विनाशकर पावापुर से मुक्तिपद प्राप्त किया था, उस का वर्णन प्रस्तुत कथा में किया गया है। उसी दिन और रात्रि में व्रत करना तथा तदनुसार आचार का पालन करते हुए आत्म-साधना द्वारा आत्म-शोधन करना कवि की रचना का प्रमुख उद्देश्य है।

रवि व्रत कथा—में रविवार के व्रत से लाभ और हानि का वर्णन करते हुए रवि व्रत के अनुष्ठापक और उसकी निन्दा करने वाले दोनों व्यक्तियों की अच्छी-बुरी परिणतियों से निष्पन्न फल का निर्देश करते हुए व्रत की सार्थकता, और उसकी विधि आदि का सुन्दर विवेचन किया है।

मुनि कल्याण कीर्ति

यह मूल संघ देशीयगण पुस्तक गच्छ के भट्टारक ललित कीर्ति के दीक्षित शिष्य थे। इनके विद्यागुरु कौन थे यह ज्ञात नहीं हुआ। भट्टारक ललित कीर्ति कार्कल के मठाधीश थे। ललित कीर्ति के गुरुदेव कीर्ति। इन भट्टारकों

---

१. दाणेण जामु कित्ती पर उवयारसु संपया जस्स।
णिय पुत्त कलत्त सहिउ णंदउ दिवढाल्य इह भुवणे ॥ —हरिवंसपुराण प्र०
भवियण संबोहणहं णिमित्तें, एउ गंथु किउणिम्मल चित्तें।
णउकवित्त कित्तहें धणलोहें, णउ कासुवरि पवड्ढिय मोंहें।
+ × + +
कम्मक्खय णिमित्तु णिरवेक्खे, विरइउ केवल धम्मह पक्खें ॥ (जैन ग्रंथ प्रशस्ति सं० भा० २ पृ० ४२)

२. इंद उरहि एउ हुउ संपुण्णउ, रज्जे जलालखान कय उण्णउ। —वही प्रशस्ति सं० १ भा० २ पृ. ४२

३. देखो, तवारीख मुबारिकशाही पृ० २११

का मूल पट्टस्थान मैसूर राज्यान्तर्गत पनसोगे (हनसोगे) में था। इनके देवचन्द्र नाम के दूसरे भी शिष्य थे, जैसा कि जिनयज्ञ-फलोदय कि प्रशस्ति के निम्न वाक्य से प्रकट है—'देवचन्द्र मुनीन्द्राच्यो दयापाल: प्रसन्नधी:''। कल्याण कीर्ति अपने समय के अच्छे विद्वान कवि और लेखक थे। और वादिरूपी पर्वतों के लिये वज्र के समान थे।

इनकी अनेक रचनाएँ हैं जिनमें नौ रचनाओं का नामोल्लेख इस प्रकार है:—१. जिनयज्ञफलोदय २. ज्ञानचन्द्राभ्युदय ३. कामनकथे ४. अनुप्रेक्षे ५. जिनस्तुति ६. तत्त्वभेदाष्टक ७ सिद्धराशि, ८. फणिकुमारचरित ९. और यशोधर चरित।

प्रस्तुत कवि पाण्डच राजा के समय मौजूद थे। यह पाण्डचराज वही वीर पाण्डव भैररस ओडेय हैं जिन्होंने कार्कल में बाहुबलीस्वामी को विशाल एव मनोग्य मूर्ति का स्थापित किया था और जिसकी प्रतिष्ठा शक सं० १३५३ सन् १४३१-३२ ई० में हुई थी।

१. **जिन यज्ञफलोदय**—में जिन पूजा और उनके फलोपदेश का वर्णन किया गया हैं इसमें नो लम्ब और दो हजार सातसौ पचास श्लोक हैं। यथा—

"द्वि सहस्रमिदं प्रोक्तं शास्त्रं ग्रन्थं प्रमाणतः।
पञ्चाशदुत्तरैः सप्त शतश्लोकैश्च संगतम्॥"

कवि ने इसकी रचना शक स० १३५० में की थी, जैसाकि उसकी प्रशस्ति के निम्न वाक्य से प्रकट है—

पञ्चाशत्त्रिशती युक्त सहस्रशकवत्सरे।
प्लवंगे श्रुत पञ्चम्यां ज्येष्ठे मासि प्रतिष्ठितम्॥४२८

२. **ज्ञानचन्द्राभ्युदय**—में ९०८ पद्य हैं। और उसकी रचना शक स० १३६१ (सन् १४३९ ई०) में समाप्त हुई है। यह ग्रन्थ षट्पदी छन्द में है। इस कारण इसे ज्ञानचन्द्र षट् पदी भी कहते है। ज्ञानचन्द्र नाम के राजा ने तपश्चर्या द्वारा मुक्ति प्राप्त की थी। उसी का कथानक इस ग्रन्थ में दिया हुआ है।

३. कामनक थे—सांगत्य छन्द में रची गई है। इसमें जैन धर्मानुसार काम-कथा का वर्णन ४ सन्धियों और ३३१ पद्यों में किया गया है। ग्रंथ के प्रारम्भ में गुरु ललित कीर्ति का स्मरण किया गया है। इस ग्रन्थ की रचना तुलुव देश के राजा भैरव सुत पाण्डच राय की प्रेरणा से की थी।

४. अनुप्रेक्षे—में ७४ पद्य है जो कुन्दकुन्दाचार्य की प्राकृत अनुप्रेक्षा का अनुवाद जान पड़ता है।

५. जिनस्तुति—६. तत्त्वभेदाष्टक—इनमें से जिन स्तुति में १७ और तत्त्वभेदाष्टक में ९ पद्य हैं।

७. सिद्ध राशि का परिचय ज्ञात नही हुआ।

८. फणि कुमार चरित—कन्नड़ भाषा में रचा गया है। प० के भुजबली शास्त्री इसका कर्ता इन्हीं कल्याण कीर्ति को मानते हैं। जो शक १३६४ (सन् १४४२) में समाप्त हुआ है।

९. यशोधर चरित्र—प्रस्तुत ग्रन्थ संस्कृत के १८५० श्लोकों में रचा गया है। यह ग्रन्थ गंधर्व कवि के प्राकृत (अपभ्रंश) यशोधर चरित को देख कर पाण्डचनगर के गोम्मट स्वामी चैत्यालय में शक स० १३७३ (सन् १४५१) में समाप्त किया है[1] इसमें राजा यशोधर और चन्द्रमति का कथानक दिया हुआ है। इसके प्रशस्ति पद्य में मुनि ललितकीर्ति का उल्लेख किया है:—

यो ललितकीर्तिमुनिमहदुदयगिरेरभवदागममयूखः
कल्याणकीर्ति मुनि रवि रखिल धरातलतत्त्वबोधन समर्थः॥२२१

इस सब रचानओं के समय से ज्ञात होता है कि मुनि कल्याण कीर्ति ईसा की १५वीं शताब्दी के विद्वान हैं। वे विक्रम सं० १४८८ से १५०८ के ग्रन्थकर्ता हैं।

प्रभाचन्द्र

यह काष्ठा संघीय भट्टारक हेमकीर्ति के शिष्य और धर्म चन्द्र के शिष्य थे। जो तर्क व्याकरआदि सकल

१. देखो प्रशस्ति संग्रह, जैन सिद्धान्तभवन आरा पृ० २७ श्लोक ४११ से ४१३।

शास्त्रों में निपुण थे। भव्यरूपी कमलों को विकसित करने वाले सूर्य थे। वे संघ सहित विहार करते हुए सकीट नगर में आए, जो एटा जिले में है इन्होंने सकीटनगर (एटा जिला) वासी लम्बकचुक (लमेचू) आम्नाय के सकतू साहु के पुत्र प० सोनिक[१] की प्रार्थना पर तत्त्वार्थसूत्र का 'तत्त्वार्थ रत्न प्रभाकर', नाम की टीका वि०सं० १४८६ में ब्रह्मचारी जैताख्य के प्रबोधार्थ लिखी थी[२]। इससे इन प्रभाचन्द्र का समय विक्रम की १५वीं शताब्दी सुनिश्चित है। काल्हू पुत्र हावा साधू की प्रार्थना से उक्त टिप्पण बनाया गया और उन्हीं के नामांकित किया है। जैसा कि उसके निम्न पुष्पिका वाक्य से प्रकट है :—

इति श्री भट्टारक धर्मचन्द्र शिष्य गणिप्रभाचन्द्र विरचिते तत्त्वार्थ टिप्पणके ब्रह्मचारि जैता साधु हावादेव नामांकिते दशमा ऽध्यायः समाप्तः।

भ० शुभकीर्ति

शुभकीर्ति नाम के अनेक विद्वान हो गए हैं। उनमें एक शुभकीर्ति वादीन्द्र विशाल कीर्ति के पट्टधर थे। इनकी बुद्धि पंचाचार के पालन में पवित्र थी। एकान्तर आदि उग्रतपों के करने वाले तथा सन्मार्ग के विधि विधान में ब्रह्मा के तुल्य थे, मुनियों में श्रेष्ठ और शुभ प्रदाता थे[३]। इनका समय विक्रम की १३वीं शताब्दी है। दूसरे शुभकीर्ति कुन्दकुन्दान्वयी प्रभावशाली रामचन्द्र के शिष्य थे[४]। और तीसरे शुभकीर्ति प्रस्तुत शान्तिनाथ चरित के कर्ता हैं। जो देवकीर्ति के समकालीन थे, उन्होंने प्रभाचन्द्र के प्रसाद से शान्तिनाथ चरित की रचना की थी कवि ने अपनी गुरुपरम्परा और जीवन-घटना के सम्बन्ध में कोई प्रकाश नहीं डाला। ग्रन्थ की पुष्पिका वाक्य में उहय भासा चक्का वट्टि सुहकित्तिदेव विरइए' पद दिया है, जिससे वे अपभ्रंश और संस्कृत भाषा में निष्णात विद्वान थे। कविने ग्रन्थ के अन्त में देवकीर्ति का उल्लेख किया है। एक देवकीर्ति काष्ठासंघ माथुरान्वय के विद्वान थे उनके द्वारा सं० १४६४ आषाढ वदि २ के दिन प्रतिष्ठित एक धातु मूर्ति आगरा के कचौड़ा बाजार के मन्दिर में विराजमान है[५]। हो सकता है कि प्रस्तुत शुभकीर्ति देवकीर्ति के सम कालीन हों, या किसी अन्य देव कीर्ति के समकालीन

१. प्राप्त पुरं सकीटाख्यं समानीतां जिनालयं।
लम्बकचुक आम्नाये सकतू साधुनन्दनः ॥११
पंडिता सोनिको विद्वान जिनपादाब्जषट्पदः।
सम्यग्दृष्टि गुणावासो बुध-शीर्ष शिरोमणि ॥१२ (आदि प्रशस्ति)

२. अस्मिन्संवत्सरे विक्रमादित्य नृपतेः गते।
चतुर्दशशतेऽतीते नवासीत्यब्द संयुते ॥ १३
भाद्रपदे शुक्ले पंचमी वासरे शुभे।
वारेऽर्के वैधृतियोगे विशाखा ऋक्षके वरे ॥१४
तत्त्वार्थ टिप्पण भद्रं प्रभाचन्द्र तपस्विना।
कृत मिदं प्रबोधाय जैनाख्य ब्रह्मचारिणे ॥१५ (अन्तिम प्र०)

३ ··· ··· तपो महात्मा शुभकीर्त्ति देवः।
एकान्तराद्युग्रतपो विधानाद्धाते सन्मार्गविधे विधाने। —पट्टावली शुभचन्द्रः
तत्पट्टे जनि विख्यातः पंचाचारपवित्रधीः।
शुभकीर्ति मुनि श्रेष्ठ शुभकीर्ति शुभप्रदः॥ —सुदर्शन चरित्र

४. श्री कुंदकुंदस्य बभूववंशे श्री रामचन्द्र प्रथत' प्रभावः
शिष्यस्तदीयः शुभकीर्तिनामा तपोंगना वक्ष सि हारभूतः॥ ७
प्रद्योतने सम्प्रति तस्य पट्टे विद्या प्रभावेण विशालकीर्तिः।
शिष्यैरनेकैरुपसेव्यमान एकान्तवादादि विनाश वज्रय ॥ ८ —धर्मशर्माभ्युदय लिपि प्र०

५. स० १४६४ आषाढ वदि २ काष्ठासंघे माथुरान्वये श्री देवकीर्ति प्रतिष्ठिता।

पर जब कवि ग्रन्थ का रचना काल सं० १४३६ दे रहा है तब देवकीर्ति दूसरे ही होंगे यह विचारणीय है।

प्रस्तुत शान्तिनाथ चरित १९ सन्धियों में पूर्ण हुआ है। इसकी एक मात्र कृति नागोर के शास्त्रभंडार में सुरक्षित है जो सं० १५५१ की लिखी हुई है। इस ग्रन्थ में जैनियों के १६ वें तीर्थंकर भगवान शान्तिनाथ का जीवन परिचय अंकित है। भगवान शान्ति नाथ पंचम चक्रवर्ती थे, उन्होंने षट् खण्डों को जीतकर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया था। फिर उसका परित्याग कर दिगम्बर दीक्षा ले तपश्चरणरूप समाधिचक्र से महा दुर्जय मोहकर्मका विनाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया और अन्त में अघाति कर्मका नाश कर अचल अविनाशी सिद्ध पद प्राप्त किया। कविने इस ग्रन्थ को महाकाव्य के रूप में बनाने का प्रयत्न किया है। काव्य-कला की दृष्टि से भले ही वह महाकाव्य न माना जाय; परन्तु ग्रन्थकर्ता की दृष्टि उसे महाकाव्य बनाने की रही है। कविने लिखा है कि शान्तिनाथ का यह चरित वीर जिनेश्वर ने गौतम को कहा, उसे ही जिनसेन और पुष्पदन्त ने कहा, वही मैंने भी कहा है।

जं अत्थं जिणराजदेव कहियं जं गोयमेणं सुदं,
जं सत्थं जिणसेण देव रइय जं० पुष्पदंतादिहीं।
तं अत्थं सुहकित्तिणा वि भणियं रा रूपचंदत्थियं,
सण्णाणं दुज्जण सहाव परमं पीएहिए संगदं ।।१०वीं संधि।

कविने ग्रन्थ निर्माण में प्रेरक रूपचन्द्र का परिचय देते हुए कहा है कि वे इक्ष्वाकुवंशी कुल में (जैसवालवंशमें) आशाधर हुए, जो टक्कुर नाम से प्रसिद्ध थे और जिन शासन के भक्त थे इनके धनदेउ 'टक्कुर नाम का पुत्र हुवा उसकी पत्नी का नाम लोनावती था, जिसका शरीर सम्यक्त्व से विभूषित था उससे रूपचन्द्र नाम का पुत्र हुआ जिसने उक्त शान्तिनाथ चरित का निर्माण कराया है। कवि ने प्रत्येक संधि के अन्त में रूपचन्द्र की प्रशंसा में एव आशीर्वादात्मक अनेक पद्य दिये हैं, उसका एक पद्य पाठकों की जानकारी के लिये नीचे दिया जाता है:—

इक्ष्वाकूणां विशुद्धो जिनवरविभवाम्नाय वंशे समांशे।
तस्मादाशाधरीया बहुजनमहिमा जातजैसालवंशे।
लीला लंकार सारोद्भव विभवगुणा सार सत्कार लुद्धैः।
शुद्धि सिद्धार्थसारा परियगुणी रूपचन्द्रः सुचन्द्रः ।।

कविने अन्त में ग्रन्थ का रचना काल सं० १४३६ दिया है जैसाकि उनके निम्न पद्य से स्पष्ट है:

आसी विक्रमभूपतेः कलियुगे शांतोत्तरे संगते।
सत्यं क्रोधननामधेयविपुले संवच्छरे संमते।
दत्ते तत्र चतुर्दशेतु परमो षट्त्रिंशके स्वांशके।
मासे फाल्गुण पूव पक्षकबुधे सम्यक् तृतीयां तिथौ ।।

इससे स्पष्ट है कि कवि शुभकीर्ति १५वीं शताब्दी के विद्वान हैं। अन्य ग्रन्थ भंडारों में शान्तिनाथ चरित्र की इस प्रति का अन्वेषण आवश्यक है। अन्यथा एक ही प्रति परसे उसका प्रकाशन किया जाय।

कवि मंगराज तृतीय

कवि के पितामह का नाम 'माधव' और पिता का नाम 'विजयभूपाल' था, जो होयसल देशान्तर्गत होसवृत्ति प्रान्त की राजधानी कलहल्लि का स्वामी था, और जिसके उद्भव कुल चूड़ामणि, शार्दूलाक उपनाम थे। युदुवंश के महा मण्डलेश्वर चगाल नृपके मंत्रीवंश मे उत्पन्न हुआ था। इसकी माता का नाम 'देविले' था और इसकेगुरु का नाम 'चिक्क-प्रभेन्दु' था। प्रभु राज और प्रभुकुल रत्नदीप इसके उपनाम थे। इसकी छह कृतियां उपलब्ध हैं— जयनृप काव्य, प्रभंजन चरित, सम्यक्त्व कौमुदी, श्रीपाल चरित, नेमि जिनेश संगीत, पाकशास्त्र (सूपशास्त्र)।

जयनृप काव्य—यह काव्य परिवर्द्धिनी षट्पदी में लिखा गया है, इसमें १६ सन्धियाँ और १०७० पद्य है। इसमें कुरु जांगल देश के राजा राजप्रभदेव के पुत्र जयनृप की जीवन कथा वर्णित है। कवि ने लिखा है कि पहले यह चरित जिनसेन ने रचा था, और दूध में शर्करा मिश्रण के समान संस्कृत में कनड़ी मिश्रित कर मैंने इसकी रचना की

है। ग्रन्थ में अपने से पूर्ववर्ती निम्न विद्वानों का स्मरण किया है—गुणभद्र, कवि परमेष्ठी, बाहुबलि अकलंक, जिनसेन पूज्यपाद, प्रभेन्दु और तत्पुत्र श्रुतमुनि का नामोल्लेख किया हैं।

प्रभंजन चरित—इसमें शुभदेश के भंभापुर नरेश देवसेन के पुत्र प्रभंजन की जीवन-गाथा अंकित है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में जिन, मध्यमें गुरु, उपाध्याय, साधु, सरस्वती, यक्ष, नवकोटि मुनि, और अपने गुरु चिक्क प्रभेन्दु का स्मरण किया हैं। इस ग्रन्थ की अपूर्ण प्रति ही उपलब्ध है।

सम्यक्त्व कौमुदी—इसमें सम्यक्त्व को प्राप्त करने वालों की कथाएँ दी गई हैं। ग्रन्थ में १२ संधियाँ और ६२ पद्य हैं जिनमें अर्हदास सेठ की स्त्रियों द्वारा कही गई सम्यक्त्वोत्पादक कथाएं हैं। इसमें कवि ने, पच, रत्न, श्रीविजय, गुणवर्म, जन्न, मधुर, पौन्न, नागचन्द्र, कण्णय, नेमि और बन्धुवर्ग का उनकी रचनाओं के नामोल्लेख साथ स्मरण किया हैं। कवि ने इसकी रचना शक सम्वत् १४३१ (सन् १५०६) में की है।

कवि मंगराज ने शक संवत् १३५५ (१४३३) में श्रुतमुनि की ऐतिहासिक प्रशस्ति लिखी है[1]। जिसकी पद्य संख्या ७८ है। प्रशस्ति सुन्दर और भावपूर्ण है। इसने श्रवण वेलगोल का १०८ वां संस्कृत का शिलालेख (शक संवत् १४४३ (सन् १५२१ ई०) में लिखा था।

प्रबन्ध-ध्वनि सम्बन्धात्सद्रागोत्पादन-क्षमा।
मङ्गराज-कवेर्व्वाणी वाणी वीणायते तरां॥ ७८

श्रीपाल चरित—इस ग्रन्थ में १४ सन्धियाँ और १५२७ पद्य हैं। यह संगात्य छन्द में रचा गया है। इसमें पुण्डरीकणी नगरी के राजा गुणपाल के पुत्र श्रीपाल का चरित वर्णित है। मंगल पद्य के बाद कवि ने भद्रबाहु, पूज्य पाद आदि कवियो की प्रशंसा की है।

नेमि जिनेश संगति—इसमें ३५ सन्धियाँ और १५३८ सोमत्य छन्द हैं। इसमें नेमिनाथ तीर्थंकर का चरित वर्णित है। कवि ने इसमें अनेक विद्वान आचार्यों का उल्लेख किया है।

पाकशास्त्र (सूप शास्त्र)—यह ग्रन्थ वार्धिक षट् पदी के ३५६ पद्यों में समाप्त हुआ है। इसमें पाक और शास्त्र का अच्छा वर्णन किया है।

कवि का समय ईसा की १५वीं शताब्दी का उत्तरार्ध १६वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है।

सोमदेव

इनका वंश वघेरवाल था। इनके पिता का नाम आभदेव और माता का विजैणी (विजयिनी) था, जो सुधर्मा, सुगुणा और सुशीला थी। यह गृहस्थ विद्वान थे[2]। नेमिचन्द्राचार्य रचित 'त्रिभंगी सार' की, श्रुतमुनि द्वारा कर्नाटक भाषा में रची गई टीका को लाटीय भाषा में रचा है[3]। सोमदेव ने गुणभद्राचार्य की स्तुति की है, सभवतः वे इनके गुरु होंगे। या अन्य कोई प्राचीन आचार्य, क्योंकि गुणभद्र को टीका कर्ता ने कर्मद्रुमोन्मीलन दिक्करीन्द्र, सिद्धान्त थे। निधिदृष्टपार, और पट् त्रिंशदाचार्य गुण युक्त तीन विशेषणों से विशिष्ट बतलाते हुए नमस्कार किया है।

---

१. इशु-शर शिखि-विधुमित-शकररिधावि शरद द्वितीयगाषाढ़े।
मित नर्वाम-विधु-दिनोदय जुषि सविशाखे प्रतिष्ठितेय मिह॥ ७६

२. यथा नरेन्द्रस्य पुलोमजातिया नारायणस्याब्धि सुता बभूव।
तथाभदेवस्य विजैणि नाम्नी प्रिया सुधर्मा सुगुणा सुशीला॥३
तयो सुतः सद्गुण वान सुवृत्तः सोमोऽविधः कौमुदवृद्धि कारी।
व्याघ्रेर पा लाम्बु निधेः सुरत्नं जीयाच्चिरं सर्व जनीन वृत्तः॥४ —जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सं० भा० १ पृ० २८

३. या पूर्व श्रुत मुनिना टीका कर्णाटभाषया विहिता।
लाटीयभाषया सा विरच्यते सोमदेवेन॥
वही जैन ग्रन्थ प्र० भा० १ पृ० २८

कर्मद्रुमोन्मीलन दिक्करीन्द्र सिद्धान्तपाथोनिधिदृष्टपारं ।
षट् त्रिंशदाचार्य गुणैः प्रयुक्तं नमाम्यहं श्री गुणभद्रसूरिम् ॥

श्रुतमुनि ने अपना 'परमागमसार' शक सं० १२६३ (वि० सं० १३९८) में रचा है। अतः टीकाकार सोमदेव उसके बाद के (१५वीं शताब्दी के) विद्वान हैं।

पद्मनाभ कायस्थ

कवि पद्मनाभ का जन्म कायस्थ कुल में हुआ था। वह संस्कृत भाषा के अच्छे विद्वान थे, और जैनधर्म के प्रेमी थे। इन्होंने भट्टारक गुणकीर्ति के उपदेश से पूर्व सूत्रानुसार यशोधर चरित या दयासुन्दरविधान नामक काव्य की रचना की थी। सन्तोष नाम के जैसवाल ने उनके इस ग्रन्थ की प्रशंसा की थी, और विजय सिंह के पुत्र पृथ्वीराज ने अनुमोदना की थी।

प्रस्तुत यशोधर चरित्र में ९ संधियाँ हैं जिनमें राजा यशोधर और चन्द्रमती का जीवन-परिचय दिया गया है। यह ग्रन्थ वीरमदेव के राज्य में कुशराज के लिए लिखा गया था। कुशराज ग्वालियर के तोमर वंशी राजा वीरम देव का विश्वास पात्र मन्त्री था। यह राजनीति में चतुर और पराक्रमी शासक था। सन् १४०२ (वि० सं० १४-५९) या उसके कुछ समय बाद राज्य सत्ता उसके हाथ में आई थी। इसने अपने राज्य की सुदृढ़ व्यवस्था की थी। शत्रु भी इसका भय मानते थे। इसके समय हिजरी सन् ८०५ सन् १४०५ (वि० सं० १४६२) में मल्लू इकबाल खां ने ग्वालियर पर चढ़ाई की। परन्तु उसे निराश होकर लौटना पड़ा। फिर उसने दूसरी बार ग्वालियर पर घेरा डाला, किन्तु उसे इस बार भी आस-पास के इलाके लूट-पाट कर दिल्ली का रास्ता लेना पड़ा।

कुशराज वीरमदेव का विश्वासपात्र महामात्य था, जो जैसवाल कुल में उत्पन्न हुआ था, यह राजनीति में दक्ष और वीर था। पितामह का नाम भुल्लण और पितामही का नाम उदिता देवी था और पिता का नाम जैनपाल और माता का नाम लोणादेवी था। कुशराज के ५ भाई और भी थे जिनमें चार बड़े और एक छोटा था। हंसराज, सैराज, रैराज, भवराज, ये बड़े भाई थे। और क्षेमराज छोटा भाई था। इनमें कुशराज बड़ा धर्मात्मा और राजनीति में कुशल था। इसने ग्वालियर में चन्द्रप्रभ जिनका एक विशाल मन्दिर बनवाया था और उसका प्रतिष्ठादि कार्य बड़े भारी समारोह के साथ सम्पन्न किया था[1]। कुशराज की तीन स्त्रियाँ थीं रल्हो, लक्षण श्री

---

१. वंशेऽभूज्जैसवाले विमलगुणनिधर्भुल्लणः साधु रत्नं,
साधु श्री जैनपालो भवदुदितया स्तत्सुतो दानशीलः ।
जैनेन्द्राराधनेषु प्रमुदित हृदयः सेवकः सद् गुरुणां
लोणाख्या सत्यशीलाऽजनि विमलमति जैनपालस्य भार्या ॥५
जाताः षट् तनयास्तयोः सुकृतिनोः श्री हंसराजोऽभवत् ।
तेषामाद्यतमस्ततस्तदनुजः सैराज नामाऽजनि ।
रैराजो भवराजकः समजनि प्रख्यात कीर्तिर्महा,
साधु श्री कुशराज कस्तदनुच श्रीक्षेमराजो लघुः ॥६
जातः श्रीकुशराज एव सकलक्ष्मापाल चूलामणेः ।
श्रीमत्तोमर-वीरमस्य विदितो विश्वास पात्रं महान् ।
मंत्री मंत्र विचक्षणः क्षणमयः क्षीणारिपक्षः क्षणात् ।
क्षौणीमीक्षण रक्षण क्षममति र्जैनेन्द्र पूजारतः ।७॥
स्वर्ग स्पर्द्धि समृद्धि कोति विमलश्चैत्यालयः कारितो,
लोकानां हृदयंगमो बहुधनैश्चन्द्र प्रभस्य प्रभोः ।
ये नैतत्समकालमेव रुचिरं भव्यं च काव्यं तथा ।
साधु श्री कुशराज केनसुधिया कीर्तेश्चिरस्थापकं ॥८ —जैन ग्रन्थ प्रशस्ति भा० १ पृ० ६

और कौशीरा । ये तीनों ही पत्नियाँ सती, साध्वी तथा गणवती थीं और नित्य जिन पूजन किया करती थीं। रल्हो से कल्याणसिंह नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ था, जो बड़ा ही रूपवान दानी और जिन गुरु के चरणाराधन मे तत्पर था।

सं० १४७५ आषाढ़ सुदि ५ को वीरमदेव के राज्य में कुशराज उसके परिवार द्वारा प्रतिष्ठित किया हुआ यंत्र नरवर के मन्दिर में मौजूद है। कुशराज ने श्रुतभक्ति वश यशोधर चरित्र की रचना कवि पद्मनाभ से कराई थी। यह पौराणिक चरित्र बड़ा ही रुचिकर प्रिय और दयारूपी अमृत का श्रोत बहाने वाला है। इस पर अनेक विद्वानों द्वारा प्राकृत, संस्कृत अपभ्रंश और हिन्दी गुजराती भाषा में ग्रन्थ रचे गए है।

कवि ने ग्रन्थ में रचनाकाल नही दिया। किन्तु यह रचना स० १४७५ के आस-पास की है। क्योंकि वीरमदेव का राज्य सं० १४७९ के कुछ महीने तक रहा है। उक्त स० १४७९ के वैशाख में महीने उनके पुत्र गणपतिसिंह का राज्य हो गया था[१]। उसी के राज्यकाल में धातु की चौबीसी मूर्ति की प्रतिष्ठा को गई थी। अतः पद्मनाभ कायस्थ का समय विक्रम की १५ वी शताब्दी का तृतीय चरण है।

कवि धनपाल

कवि धनपाल गुजरात देश के पल्हणपुर[१] या पालनपुर के निवासी थे। वहाँ राजा वीसल देव का राज्य था। उसी नगर के पुरवाड़ वंश जिसमें अगणित पूर्व पुरुष हो चुके है 'भोवइ' नाम के राज श्रेष्ठी थ। जो जिनभक्त और दयागुण से युक्त थे। यह कवि धनपाल के पितामह थे। इनके पुत्र का नाम 'सुहड प्रभ' श्रेष्ठी था, जो धनपाल के पिता थे। कवि की माता का नाम सुहडादेवी' था इनके दो भाई और भी थे, जिनका नाम सन्तोष और हरिराज था। इनके गुरु प्रभाचन्द्र थे, जो अपने बहुत से शिष्यो के साथ देशाटन करते हुए उसी पल्हणपुर मे आये थे। धनपाल ने उन्हें प्रणाम किया और मुनि ने आशीर्वाद दिया कि तुम मेरे प्रसाद से विचक्षण हो जाओगे और मस्तक पर हाथ रखकर बोले कि मैं तुम्हे मंत्र देता हू ! तुम मेरे मुख से निकले हुए अक्षरों को याद करो। आचार्य प्रभाचन्द्र के वचन सुनकर धनपाल का मन आनन्दित हुआ, और उसने विनय से उनके चरणो की वन्दना की, और आलस्य रहित होकर गुरु के आगे शास्त्राभ्यास किया, और सुकवित्व भी पा लिया। पश्चात् प्रभाचन्द्र गणी खंभात धारनगर और देवगिरि (दौलता बाद) होते हुए योगिनी पुर (दिल्ली) आये। देहली निवासियों ने उस समय एक महोत्सव

१. संवत् १४७९ वर्षे वैशाख सुदि ३ शुक्रवासरे गणपति देव राज्य वर्तमाने श्री मूलसंघे नद्याम्नाये भट्टारक शुभचन्द्रदेव मण्डलाचार्य पं० भगवन तत्पुत्र संघवी खेमा भार्या खेभादे जिनबिम्ब प्रतिष्ठा कारापितम्।

मूर्ति लेख नया मन्दिर लश्कर

१. पालनपुर (पल्हणपुर) Palanpur आबू राज्य के परमारवंशी धारा वर्ष स० १२२० (सन् ११६३ ई०) से १२७६ ई० सन् १२१९) तक आबू का राजा धारावर्ष था, जिसके कई लेख मिल चुके है उसके कनिष्ठ भ्राता यशोधवल के पुत्र प्रह्लादन देव (पालनसी) ने अपने नाम पर बसाया था। यह बड़ा वीर योद्धा था, साथ में विद्वान भी था। इसी से इसे कवियों ने पालनपुर या पल्हणपुर लिखा है। यह गुजरात देश की राजधानी थी। यहा अनेक राजाओं ने शासन किया है। आबू के शिला लेखों में परमारवंश की उत्पत्ति और माहात्म्य का वर्णन है और प्रह्लादन देव की प्रशंसा का भी उल्लेख है ! जिस समय कुमारपाल शत्रुंजयादि तीर्थों की यात्रा को गया, तब प्रह्लादन देव भी साथ था।

—(पुरातन प्रबंध सं० पृ० ४३)

प्रह्लादन देव की प्रशंसा प्रसिद्ध कवि सोमेश्वर ने कीर्ति कौमुदी मे और तेजपाल मंत्री द्वारा बनवाए हुए लूणवसही की प्रशस्ति में की है। यह प्रशस्ति वि० सं० १२८७ में आबू पर देलवाड़ा गांव के नेमिनाथ मन्दिर में लगाई थी। मेवाड़ के गुहिल वंशी राजा सामन्तसिंह और गुजरात के सोलंकी राजा अजयपाल की लड़ाई में, जिसमें वह घायल हो गया था प्रह्लादन ने बड़ी वीरता से लड़ कर गुजरात की रक्षा की थी।

प्रस्तुत पालनपुर में दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनो ही सम्प्रदाय के लोग रहते थे। धनपाल के पितामह तो वहां के राज्य श्रेष्ठी थे। श्वेताम्बर समाज का तो वह मुख्य केन्द्र ही था।

किया और भट्टारक रत्नकीर्ति के पट्ट पर उन्हें प्रतिष्ठित किया। भट्टारक प्रभाचन्द्र ने मुहम्मदशाह तुगलक के मन को अनुरंजित किया था और विद्या द्वारा वादियो का मनोरथ भग्न किया था[1]। मुहम्मदशाह ने वि० सं० १३८१ से १४०८ तक राज्य किया है।

भट्टारक प्रभाचन्द्र का भ० रत्नकीर्ति के पट्ट पर प्रतिष्ठित होने का समर्थन भगवती आराधना की पंजिका टीका की उस लेखक प्रशस्ति से भी होता है जिसे सं० १४१६ में इन्ही प्रभाचन्द्र के शिष्य ब्रह्मनाथूराम ने अपने पढ़ने के लिए दिल्ली के बादशाह फीरोजशाह तुगलक के शासन काल में लिखवाया था[2]। उसमें भ० रत्नकीर्ति के पट्ट पर प्रतिष्ठित होने का स्पष्ट उल्लेख है। फीरोज शाह तुगलक ने सं० १४०८ से १४४५ तक राज्य किया है। इससे स्पष्ट है कि भ० प्रभाचन्द्र सं० १४१६ से कुछ समय पूर्व भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित हुए थे।

कविवर धनपाल गुरु आज्ञा से सौरिपुरतीर्थ के प्रसिद्ध भगवान नेमिनाथ जिन की वन्दना करने के लिये गए थे। मार्ग में इन्होंने चन्द्रवाड नाम का नगर देखा, जो जन धन से परिपूर्ण और उत्तुंग जिनालयों से विभूषित था वहा साहु वासाधर का बनवाया हुआ जिनालय भी देखा और वहा के श्री अरहनाथ जिनकी वन्दना कर अपनी गर्हा तथा निंदा की और अपने जन्म-जरा और मरण का नाश होने की कामना व्यक्त की। इस नगर में कितने ही ऐतिहासिक पुरुष हुए है जिन्होने जैनधर्म का अनुष्ठान करते हुए वहाँ के राज्य मन्त्री रहकर प्रजा का पालन किया है। कवि का समय १५ वी शताब्दी का मध्यकाल है। क्योंकि कवि ने अपना बाहुबली चरित सं० १४५४ में पूर्ण किया है।

कवि की एक मात्र रचना 'बाहुबली चरित' है। प्रस्तुत ग्रन्थ में अठारह सन्धिया तथा ४७५ कडवक है। कवि कथा सम्बन्ध के बाद सज्जन दुर्जन का स्मरण करता हुआ कहता है कि 'नीम को यदि दूध से सिंचन किया जाय तो भी वह अपनी कटुता का परित्याग नही करती। ईख को यदि शस्त्र से काटा जाय तो भी वह अपनी मधुरता नहीं छोड़ती। उसी तरह सज्जन-दुर्जन भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते। सूर्य तपता है और चन्द्रमा शीतलता प्रदान करता है[3]।

ग्रन्थ में आदि ब्रह्मा ऋषभदेव के पुत्र बाहुबली का, जो सम्राट् भरत के कनिष्ठ भ्राता और प्रथम कामदेव थे, चरित दिया हुआ है। बाहुबली का शरीर जहाँ उन्नत और सुन्दर था वहा वह बल पौरुष से भी सम्पन्न था। वे इन्द्रिय विजयी और उग्र तपस्वी थे। वे स्वाभिमान पूर्वक जीना जानते थे, परन्तु पराधीन जीवन को मृत्यु से कम नही मानते थे। उन्होंने भरत सम्राट् से जल-मल्ल और दृष्टि युद्ध में विजय प्राप्त की थी, परिणाम स्वरूप भाई का मन अपमान से विक्षुब्ध हो गया और बदला लेने की भावना से उन्होने अपने भाई पर चक्र चलाया, किन्तु देवोपुनीत अस्त्र 'वंश-घात' नही करते। इससे चक्र बाहुबली की प्रदक्षिणा देकर वापिस लौट गया—वह उन्हें कोई नुकसान न पहुंचा सका। बाहुबली ने रणभूमि में भाई को कंधे पर से धारे से नीचे उतारा और विजयी होने पर भी उन्हें ससार-दशा का बड़ा विचित्र अनुभव हुआ।

१. तहि भव्वहि सुमहोच्छव विहिउ सिरिरयणकित्ति पट्टे णिहियउ।
महमद स हि मणु रंजियउ, विज्जहि वाइयमणु भंजियउ।" —बाहुबलिचरिउ प्रशस्ति

२. संवत् १४१६ वर्षे चैत्र सुदि पञ्चम्यां सोमवासरे सकलराज शिरो मुकुटमाणिक्यमरीचि पिंजरीकृत चरण कमल पाद पीठस्य श्रीपीरोजसाहे सकलसाम्राज्यधुरी विभ्राणस्य समये श्री दिल्यां श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये सरस्वती गच्छे बलात्कारगणे भट्टारक श्री रत्नकीर्ति देव पट्टोदयाद्रि तरुणतरुणित्वमुर्वीकुर्वाण भट्टारक श्री प्रभाचन्द्र देव शिष्याणां ब्रह्म नाथूराम इत्याराधना पंजिकाया ग्रंथ आत्म पठनार्थ लिखापितम्।
—आरा० पंजि० प्र० व्यावर भवन प्रति

३. णिबु कोवि जइ खीरहि सिंचहि तो वि ण सो कुडवत्तणु मुचइ।
उच्छु को वि जइ सत्थे खडइ, तो विण सो महुरत्तणु छडइ।
दुज्जण-सुअण सहावे तप्परू, सूरु तवइ ससहरसीयरकरू। —बाहबली चरित प्रशस्ति

वे सोचने लगे कि भाई को परिग्रह की चाह ने अंधा कर दिया है और अहंकार ने उनके विवेक को भी दूर भगा दिया है। पर देखो, दुनिया में किसका अभिमान स्थिर रहा है? अहकार की चेष्टा का दण्ड हो तो अपमान है। तुम्हें राज्य की इच्छा है तो लो इसे सम्हालो और जो उस गद्दी पर बैठे उसे अपने कदमों में झुकालो, उस राज्य सत्ता को धिक्कार है, जो न्याय-अन्याय का विवेक भुला देती है। भाई-भाई के प्रेम को नष्ट कर देती है और इंसान को हैवान बना देती है। अब मै इस राज्य का त्याग कर आत्म-साधना का अनुष्ठान करना चाहता हूँ और सबके देखते-देखते ही वे तपोवन को चले गये, जहां दिगम्बर मुद्राद्वारा एक वर्ष तक कायोत्सर्ग में स्थित रहकर उस कठोर तपश्चर्या द्वारा आत्म-साधना की, और पूर्ण ज्ञानी बन स्वात्मोपलब्धि को प्राप्त हुए।

ग्रन्थ में अनेक स्थल काव्यमय और अलकृत मिलते हैं। कवि ने अपने से पूर्ववर्ती अनेक कवियों और उनकी कुछ प्रसिद्ध कृतियों का नामोल्लेख किया है—जैसे कविचक्रवर्ती धीरसेन, जैनेन्द्र व्याकरण के कर्ता देवनन्दी (पूज्य-पाद) श्री वज्रसूरि और उनके द्वारा रचित षट्दर्शन प्रमाण ग्रन्थ, महासेन सुलोचना चरित, रविषेण पद्मचरित जिनसेन हरिवश पुराण, मुनि जटिल वरांगचरित, दिनकर सेन कदर्प चरित, पद्मसेन पार्श्वनाथ चरित, अमृताराधना गणिअम्बसेन, चन्द्रप्रभ चरित, धनदत्त चरित, कवि विष्णु सेन मुनिसिंहनन्दी, अनुप्रेक्षा, णवकार मन्त्र-नरदेव' कवि असग-वीरचरित, सिद्धसेन, कवि गोविन्द, जयधवल, शालिभद्र, चतुर्मुख, द्रोण, स्वयंभू, पुष्पदन्त और सेढु कवि।

कवि ने इस ग्रथ का नाम 'काम चरिउ या कामदेव चरित भी प्रकट किया है और उसे गुणों का सागर बतलाया है। ग्रन्थ में यद्यपि छन्दों की बहुलता नहीं है फिर भी ११ वीं संधि में दोहों का उल्लेख अवश्य हुआ है। कवि ने इस ग्रथ की रचना उस समय का है जब कि हिन्दी भाषा का विकास हो रहा था। कवि ने इसे वि० स० १४५४ में वैशाख शुक्ला त्रयोदशी को स्वाति नक्षत्र में स्थित सिद्धियोग में सोमवार के दिन, जबकि चन्द्रमा तुला राशि पर स्थित था पूर्ण किया है[2]।

ग्रन्थ निर्माण में प्रेरक

प्रस्तुत ग्रन्थ चन्द्रवाड नगर के प्रसिद्ध राज श्रेष्ठी और राजमंत्री, जो जादव कुल के भूषण थे[1]। साहु वासाधर की प्रेरणा से बनाया है, और उन्हीं के नामांकित किया है। वासाधर के पिता का नाम सोमदेव था, जो सभरी नरेन्द्र कर्णदेव के मन्त्री थे। कवि ने साहु वासाधर को सम्यक्त्वी, जिन चरणों के भक्त, जिन धर्म के पालन में तत्पर, दयालु, बहुलोक मित्र, मिथ्यात्वरहित और विशुद्ध चित्तवाला बतलाया है। साथ ही आवश्यक दैनिक षट् कर्मों में प्रवीण, राजनीति में चतुर और अष्ट मूलगुणों के पालने में तत्पर प्रकट किया है।

जिणणाह चरणभत्तो जिणधम्मपरो दया लोए,
सिरि सोमदेव तणओ णंदउ वासद्धरो णिच्चं ॥
सम्मत्त जुत्तो जिणपायभत्तो दयालुरत्तो बहुलोयमित्तो ।
मिच्छत्त चत्तो सुविसुद्ध चित्ते वासाधरो णदंउ पुण्यचित्तो । —सन्धि ३

वासाधर की पत्नी का नाम उभयश्री था, जो पतिव्रता और शीलव्रत का पालन करने वाली तथा चतुर्विध संघ के लिए कल्पनिधि थी। इनके आठ पुत्र थे, जसपाल, जयपाल, रतपाल, चन्द्रपाल, विहराज, पुण्यपाल, वाहड और रूपदेव। ये सभी पुत्र अपने पिता के समान ही सुयोग्य, चतुर और धर्मात्मा थे। इन आठों पुत्रों के साथ

---

१. श्री लंब कंचुकुलपद्म विकासभानुः, सोमात्मजो दुरित दारुचयकृशानुः।
धर्मकर्मसाधनपरो भुविभव्य बन्धुर्वासाधरो विजयते गुणरत्नसिन्धुः—संधि ॥

२. विक्कमणरिंद अंकिय समए, चउदहसय संवच्छरहिं गए।
पंचासवरिसचउ अहिय गणि वैसाहरहो सिय-तेरसि सु-दिणि।
साईणक्खत्ते परिट्ठियइं वार सिद्ध जोग णामें ठियइं। —बाहुबलि चरिउ प्रशस्ति

साहू वासाधर अपने धर्म का साधन करते हुए जीवन यापन करते थे। कवि ने उनका खूब गुणगान किया है। भट्टारक पद्मनन्दि ने श्रावकाचार सारोद्धार नाम का ग्रन्थ भी वासाधर के लिये बनाया था।

सधियों में पाये जाने वाले पद्य में कवि ने सूचित किया है कि राजा अभयचन्द्र ने अन्तिम जीवन में राज्य का भार रामचन्द्र को देकर स्वर्ग प्राप्त किया। स० १४५८ में रामचन्द्र ने राज्य पद प्राप्त किया था। जो राज्य कार्य में दक्ष और कर्त्तव्य परायण था। इस तरह यह रचना महत्वपूर्ण और प्रकाशित होने के योग्य है।

भ० सकलकीर्ति

मूलसघ सरस्वती गच्छ बलात्कारगण के भट्टारक पद्मनन्दि के शिष्य थे। इनका जन्म सवत १४४३ में हुआ था। इनके माता-पिता 'अणहिलपुर पट्टण' के निवासी थे। इनकी जाति 'हुंबड' थी, जो गुजरात की एक प्रतिष्ठित जाति है। इस जाति में अनेक प्रसिद्ध पुरुष और दानी श्रावक-श्राविकाएं तथा राजमान्य व्यक्ति हुए हैं। इनके पिता का नाम 'करमसिह' और माता का नाम 'शोभा' था। इनकी बाल्यावस्था का नाम पूर्णसिंह था। जन्मकाल से ही यह होनहार तथा कुशाग्र बुद्धि थे। पिता ने पांच वर्ष की बाल्यावस्था में इन्हें विद्यारम्भ करा दिया था, और थोड़े ही समय में इन्होंने उसे पूर्ण कर लिया था। पूर्णसिंह का मन रातदिन अर्हद्भक्ति की ओर रहता था। चौदह वर्ष की अवस्था में इनका विवाह हो गया था। किन्तु इनका मन सांसारिक विषयों की ओर नहीं था। अतः वे घर में उदासीन भाव से रहते थे। माता-पिता ने उनकी उदासीन वृत्ति देखकर इन्हें बहुत समझाया और कहा कि—हमारे पास प्रचुर धन-सम्पत्ति है वह किस काम आवेगी? सयम पालन के लिये तो अभी बहुत समय पड़ा है। परन्तु पूर्णसिह १२ वर्ष से अधिक घर में नहीं रहे, और २६ वर्ष की अवस्था में वि० सं० १४६३ में नेणवा ग्राम में आकर भट्टारक प्रभाचन्द्र के पट्ट शिष्य भ० पद्मनन्दी के पास दीक्षित हो गए और उनके पास आठ वर्ष तक रह कर जैन सिद्धान्त का अध्ययन किया और काव्य, न्याय, छन्द और अलंकार आदि में निपुणता प्राप्त की। 'दीक्षित होने पर गुरु ने इनका नाम 'सकलकीर्ति' रक्खा। तब से वे 'सकलकीर्ति' नाम से ही लोक में विश्रुत हुए। उस समय उनकी अवस्था ३४ वर्ष की हो गई। तब वे आचार्य कहलाये। भट्टारक बनने से पहले आचार्य या मण्डलाचार्य पद देने की प्रथा का उल्लेख पाया जाता है।

सकलकीर्ति १५वी शताब्दी के अच्छे विद्वान और कवि थे। उनके शिष्यों ने उनकी खूब प्रशंसा की है। उनकी कृतियां भी उनके प्रतिभा सम्पन्न विद्वान होने की सूचना देती है। ब्रह्म जिनदास ने, जो उनके शिष्य और लघुभ्राता थे। उन्होंने रामचरित्र की प्रशस्ति में निर्ग्रन्थ, प्रतापी कवि, वादि कला प्रवीण, तपोनिधि और 'तत्पट्टपंकेज विकास भास्वान्' बतलाया है।

> **तत्पट्टे पंकेजविकास भास्वान् बभूव निर्ग्रन्थवरः प्रतापी।**
> **महाकवित्वादि कला प्रवीणस्तपोनिधि श्री सकलादिकीर्तिः ॥ १८४**

और शुभचन्द्र ने 'पुराण काव्यार्थ विदाम्बर' बतलाया है[1]।

ब्रह्म कामराज ने जयपुराण में सकलकीर्ति को 'योगीश, ज्ञाना भट्टारकेश्वर बतलाया है[2]। इससे वे अपने समय के प्रसिद्ध ज्ञानी दिगम्बर भट्टारक थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

नैणवां से शिक्षा सम्पन्न होकर आने के पश्चात् जन साधारण में चेतना जागृत करने के लिये स्थान-स्थान पर विहार करने लगे। एक बार वे खोडण नगर आये, और नगर के बाहर उद्यान में ध्यानस्थ मुद्रा में बैठ गए और सम्भवतः तीन दिन तक वे उसी मुद्रा में स्थित रहे, उन पर किसी की दृष्टि न पड़ी। नगर से पानी भरने आई हुई एक श्राविका ने जब नग्न साधु को ध्यानस्थ बैठे देखा तो उसने शीघ्र जाकर अपनी सासु से निम्न शब्दों में निवेदन किया—कि इस नगर के बाहर कुएं के समीप जो पुराना मकान बना हुआ है उस

१. पुराण-काव्यार्थ विदावरत्वं विकाशयन्मुक्ति विदारत्वं।
विभातु वीरः सकलादिकीर्तिः············ · ······॥ श्रेणिक चरित प्र०

२. सकलकीर्ति योगीश ज्ञानी भट्टारकेश्वरः। जयपुराण प्र०

पुराने मकान के पास एक साधु बैठा है जिसके पास एक काठ का कमंडलु और मोर की पिच्छिका है। सासु ने कहा कोई साधु ऋषी आया होगा, यह कह कर वह वहाँ गई और उन्हें 'नमोस्तु' कहकर नमस्कार किया तीन प्रदक्षिणा दी, तब साधु ने धर्म वृद्धिरूप आशीर्वाद दिया, और वे नगर में आये, पोचा श्रावक के घर उन्होंने आहार लिया। सकलकीर्ति ने बागड प्रान्त के छोटे बड़े नगरों में विहार किया, जनता को धर्ममार्ग का उपदेश दिया, उन्हें जैन धर्म का परिचय दिया और जनसमूह में आये हुए धार्मिक शैथिल्य को दूर किया और जैनधर्म की ज्योति को चमकाने का उद्योग किया। सं० १४७७ से १४९९ तक के २२ बाईस वर्षीय काल में सकलकीर्ति ने ग्रन्थ रचना, जिन मंदिर-मूर्तियों की प्रतिष्ठा आदि प्रशस्त कार्यों द्वारा जैन धर्म का प्रसार किया। इससे सकलकीर्ति के कार्यों का इतिवृत्त सहज ही ज्ञात हो जाता है।

प्रतिष्ठाकार्य

सकलकीर्ति ने कितनी प्रतिष्ठाएं सम्पन्न कराई। इसका निश्चित प्रमाण बतलाना कठिन है। जब तक सभी स्थानों के मूर्ति लेख संग्रह नहीं किये जाते, तब तक उक्त प्रश्न का सही उत्तर देना संभव नहीं जंचता। मेरी नोट बुक में ६ प्रतिष्ठाओं के मूर्ति लेख विद्यमान हैं सं० १४८०, १४९०[1], १४९२, १४९६, १४९७ और १४९९ के हैं। इनमें सं० १४८०[2] का और १४९९ के लेख मुनि कांतिसागर की डायरी तथा हरिसागर के संग्रह के श्वेताम्बरीय मंदिरों में प्रतिष्ठित दिगम्बर मूर्तियों के हैं, शेष चारों लेख उदयपुर, डूंगपुर, सूरत, जयपुर में प्रतिष्ठित मूर्तियों के हैं। उस काल के अनेक प्रतिष्ठित संघपतियों ने उनकी प्रतिष्ठाओं में सहयोग दिया था। गलियाकोट में स० १४९२ में संघपति मूलराज ने चतुर्विंशति जिनबिम्ब की स्थापना कराई थी। नागद्रह में संघपति ठाकुरसिंह ने बिम्ब प्रतिष्ठित में योग दिया था।

सकलकीर्ति रास में उनकी कुछ रचनाओं का उल्लेख किया गया है। ग्रन्थ भंडारों में उनकी जो कृतियां उपलब्ध हैं। उनमें से किसी में भी उन्होंने रचना काल नहीं दिया। सकलकीर्ति की सभी रचनाए सुन्दर है। हां काव्य की दृष्टि से उनमें रसअलंकार आदि का विशेष वर्णन नहीं है। सीधे सादे शब्दों में कथानक या चरित दिया हुआ है। यद्यपि उनमें पूर्ववर्ती ग्रन्थों से कोई खास वैशिष्ट्य नहीं है किन्तु रचना संक्षिप्त और सरल है। उनके सभी ग्रन्थ प्रकाशन के योग्य हैं।

संस्कृत रचनाएँ

१. आदिपुराण (वृषभनाथ चरित) २. उत्तर पुराण, ३. शांतिनाथ पुराण ४. पार्श्व पुराण ५. वर्धमान पुराण ६. मल्लिनाथ चरित्र ७. यशोधर चरित्र ८. धन्यकुमार चरित्र ९. सुकमाल चरित्र १०. सुदर्शन चरित्र ११. जम्बू स्वामि चरित्र १२. श्रीपाल चरित्र १३. मूलाचार प्रदीप १४. सिद्धान्तसारदीपक १५. पुराणसार संग्रह १६. तत्त्वार्थसार दीपक १७ आगमसार १८. समाधिमरणोत्साह दीपक १९. सारचतुर्विंशतिका २०. द्वादशानुप्रेक्षा २१. कर्म विपाक २२. अनन्त व्रत पूजोद्यापन २३. अष्टाह्निक पूजा २४. सोलह कारण पूजा २५. गणधर वलय पूजा २६. पंच परमेष्ठी पूजा २७. परमात्मराज स्तोत्र।

राजस्थानी गुजराती रचनाएं

१. आराधना प्रति बोधसार २. कर्म चूरव्रतवेलि ३. पार्श्वनाथाष्टक ४. मुक्तावलि गीत ५. सोलह कारण

---

१. स० १४९० वर्षे बैशाख सुदी ९ शनौ श्री मूलसंघे नन्दि संघे बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे श्री कुन्दकुन्दाचार्य भ० श्री पद्मनन्दी तत्पट्टे श्री शुभचन्द्र तस्य [गुरु] भ्राता जगतत्रय विख्यात मुनि श्री सकलकीर्ति उपदेशात् हुंबड ज्ञातीय ठा० नरवद भार्या बला तयोः पुत्राः ठा० देवपाल, अर्जुन, भीम्मं कृपा चासण चांपा काटा श्री आदिनाथ प्रतिमेयं (सूरत)।

२. सं० १४९७ मूलसंघे श्री सकलकीर्ति हुंबड ज्ञातीय शाह कर्ण भार्या भोली सुता सोमा भ्राता मोदी भार्या पासी आदिनाथं प्रणमति।

रास ६. शान्तिनाथ फागु ७. धर्म वाणी ८. पूजा गीत ९. णमोकार गीतड़ी १०. जन्माभिषेक धूल ११. भवभ्रमण गीत १२. चउवीसतीर्थंकर फागु १३. सारशिखामण रास १४. चारित्रगीत १५. इंद्रिय सवर गीत आदि।

रचनाएं सामने न होने से इनका परिचय नहीं दिया जा रहा। ग्रन्थों के नाम सूचियों पर मे दिये गये हैं। अवकाश मिलने पर फिर कभी इनका परिचय लिखा जायगा।

मूलाचार प्रदीप में भी रचना काल नहीं है किन्तु, बडाली के चातुर्मास में लिखी गई एक गुजराती कविता में मूलाचार प्रदीप के रचे जाने का उल्लेख किया गया है। इसकी रचना उन्होंने लघुभ्राता जिनदास के अनुग्रह से की गई थी, उसका समय सं० १४८१ दिया गया है।

"तिहि अवसरे गुरु आविया वडाली नगर मझार रे।
चातुर्मास तिहाकरो शोमनो, श्रावक कीधा हर्ष अपार रे।
अमीझरे पधराविथां वधाई पावे नरनार रे।
सकल संघ मिलके दया कीन्या जय-जयकार रे।

× ×

चौदह सौ इक्यासी भला, श्रावणमास लसंत रे।
पूर्णिमा दिवसै पूरण कर्मा, मूलाचार महंत रे।
भ्राताना अनुग्रह थकी, कीधा ग्रन्थ महानरे।"

भ० सकलकीर्ति ने १५ वीं शताब्दी में राजस्थान और गुजरात में विहार कर जनता में धार्मिक रुचि जागृत की, उन्हें जैनधर्म का परिज्ञान कराया, और प्रवचनों द्वारा उनके अज्ञान मल को धोया। उन्ही का अनुसरण उनके लघु भ्राता ब्रह्म जिनदास ने किया। उसके बाद उनकी शिष्य परम्परा में वही क्रम चलता रहा।

संवत् १४८२ में डूंगर पुर में दीक्षा महोत्सव सम्पन्न किया[1]। संवत् १४९२ वें गलिया कोट में एक भट्टारक गद्दी की स्थापना की और अपने को बलात्कारगण और सरस्वती गच्छ का भट्टारक घोपित किया।

समय विचार

एक पट्टावली में भट्टारक सकलकीर्ति का जीवन ५६ वर्ष का बतलाया है। संवत् १४९९ में महसाना में वे दिवंगत हुए। वहां उनकी निषधि भी बनी हुई है। सकलकीर्ति का जन्म सं० १४४३ में हुआ। १४ वर्ष की अवस्था में उनका विवाह हुआ। और १२ वर्ष वे गृहस्थी में रहे। २६ वर्ष की अवस्था में सं० १४६९ में घर मे नैणवा जाकर भ० पद्मनन्दी से दीक्षा लेकर आठ वर्ष तक उनके पास रहकर, न्याय, व्याकरण. सिद्धान्त, काव्य छन्द अलकार आदि का अध्ययन कर वैदुष्य प्राप्त किया। सकलकीर्ति रास में भूल से 'चउद उनहत्तर' के स्थान पर 'चउद त्रेसठि पढ़ा गया या लिखा गया, जो गलत है, उससे उनके समय सम्बन्ध में विवाद उठ खड़ा हुआ। वे सं० १४७७ में चौतीस वर्ष की अवस्था में बागड़ गुजरात के ग्राम खोडणे में आये, और वहाँ शाह पोचा के गृह में आहार लिया। पश्चात् २२ वर्ष पर्यन्त विविध स्थानों में भ्रमण किया। अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ बनाये। मन्दिर-मूर्ति-निर्वाण एवं प्रतिष्ठादि कार्य सम्पन्न किये और अन्त में ५६ वर्ष की अवस्था में सं० १४९९ में स्वर्गवासी हुए।

डा० ज्योति प्रसाद जी सकलकीर्ति का जीवन ८१ वर्ष का स्वीकार करते हैं जो ठीक नहीं जान पड़ता डा० विद्याधर जोहरापुर कर ने भट्टारक सम्प्रदाय में सकलकीर्ति का समय सं० १४५० से १५१० तक का दिया है, जिसका उन्होंने कोई आधार नहीं बतलाया। उक्त दोनों विद्वानों द्वारा बतलाया समय पट्टावली के समय से मेल नहीं खाता। आशा है दोनों विद्वान अपने बतलाये समय पर पुनः विचार करेंगे।

---

१. चउदह अव्यासीय संवति कुल दीपक नरपाल संघपति। डूंगरपुर दीक्षा महोच्छव तीणि कियाए।
श्री सकलकीर्ति सह गुरु सुकरि, दीधी दीक्षा आणंदभरि—जय जयकार सयल चराचरु ए।

—सकलकीर्ति रास

पंडित रामचन्द

इनका जन्म लम्ब कंचुक वंश में हुआ था। इनके पिता का नाम 'सुभग' और माता का नाम 'देवकी' था। इनकी धर्मपत्नी का नाम 'मल्हणा' देवी था, जिसमे 'अभिमन्यु' नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ था, जो शीलादि सद् गुणों से अलंकृत था। कवि ने उक्त अभिमन्यु की प्रार्थना से आचार्य पुन्नाट संघीय जिनसेन के हरिवंश पुराणानुसार संक्षिप्त हरिवंश पुराण की रचना की है[१]। ग्रन्थ की रचना कब और कहां पर हुई इसका प्रशस्ति में कोई उल्लेख नहीं है। कारंजा के बलात्कारगण के शास्त्रभंडार की यह प्रति सं० १५६० की लिखी हुई है। इससे इतना तो सुनिश्चित है कि ग्रन्थ संवत् १५६० से पूर्ववर्ती है। संभवतः यह रचना १५ वीं शताब्दी में रची गई हो।

नागदेव

नागदेव मल्लुगित का पुत्र था उसने अपने कुटुम्ब का परिचय इस प्रकार दिया है:--चंगदेव का पुत्र हरदेव हरदेव का नागदेव, नागदेव के दो पुत्र हुए हेम और राम। ये दोनों ही वैद्य कला में अच्छे निष्णात थे। राम के प्रियंकर और प्रियंकर के मल्लुगित, और मल्लुगित के नागदेव नाम का पुत्र हुआ[२]।

नागदेव ने अपनी लघुता व्यक्त करते हुए अपने को अल्पज्ञ तथा छन्द अलंकार, काव्य, व्याकरणादि से अनभिज्ञ प्रकट किया है। इसकी एक मात्र कृति 'मदन पराजय' है। कवि ने लिखा है कि सबसे पहले हरदेव ने 'मयणपराजय' नाम का एक ग्रन्थ अपभ्रंश भाषा के पद्धडिया और रंगा छन्द में बनाया था। नागदेव ने उसी का अनुवाद एवं अनुसरण करते हुए उसमें यथावश्यक संशोधन परिवर्धनादि के साथ विविध छन्दों आदि से समलंकृत किया है।

यह ग्रन्थ एक रूपक खण्ड काव्य है, जो बड़ा ही सरस और मनमोहक है, इसमें कामदेव राजा मोह, मंत्री अहंकार और अज्ञान आदि सेनानियों के साथ जो भावनगर में राज्य करते हैं। चारित्र पुर के राजा जिनराज उनके शत्रु हैं; क्योंकि वे मुक्तिरूपी कन्या से पाणिग्रहण करना चाहते हैं। कामदेव ने राग-द्वेष नाम के दूत द्वारा महाराज जिनराज के पास यह सन्देश भेजा कि आप या तो मुक्ति कन्या से अपने विवाह के विचार का परित्याग कर अपने प्रधान सुभट दर्शन, ज्ञान, चारित्र को मुझे सौंप दें, अन्यथा युद्ध के लिये तैयार हो जांय। जिनराज ने उत्तर में कामदेव से युद्ध करना ही श्रेयस्कर समझा और अन्त में कामदेव को पराजित कर अपना विचार पूर्ण किया।

अब रही समय की बात, ग्रन्थ कर्ता ने रचना समय नहीं दिया, जिससे यह निश्चित करना कठिन है कि नागदेव कब हुए हैं। ग्रन्थ की प्रति सं० १५७३ की प्रतिलिपि की हुई उपलब्ध है उससे स्पष्ट है कि ग्रन्थ उसके बाद का नहीं हो सकता, उससे पूर्ववर्ती है। संभवतः ग्रन्थ विक्रम की १५ वीं शताब्दी में रचा गया है।

१. लम्बकंचुक वंशेऽसौ जातो जन-मनोहरः।
शोभनाङ्गी सुभगाख्यो देवकी यस्य वल्लभा ॥४
तदात्मजः कलावेदी विश्वगुण विभूषितः।
रामचन्द्राभिधः श्रेष्ठी मल्हणा वनिता प्रिया ॥५
तत्सू नुर्जन विख्यातः शील पूजाद्यलंकृतः।
अभिमन्यु महादानी तत्प्रार्थना वशादसौ ॥६ —जैन ग्रन्थ प्रशस्ति० भा० १ पृ० ३९

२. यः शुद्ध सोमकुल-पद्म-विकाशनार्को जातोऽर्थिनां सुरतरुर्भुविचंगदेवः।
तन्नंदनो हरि रसत्कवि नागसिंहः तस्माद्भिषग् जनपति र्भुविनागदेवः ॥२
तज्जा बुभौ सुभिषजा विह हेम-रामौ रामात्प्रियंकर इति प्रियदोऽर्थिनां यः।
तज्जश्चिकित्सित-महांबुधि-पारमाप्तः श्री मल्लुगिज्जिनपदांबुज-मत्त-भृंगः ॥३ जैन ग्रन्थ प्रश० भा० १ प्र० ७६

अभिनव चारुकीर्ति पंडितदेव

चारुकीर्ति पंडितदेव—यह नन्दिसंघ देशीय गण पुस्तक गच्छ इगलेश्वर बलिशाखा के भट्टारक श्रुतकीर्ति के शिष्य थे। इनका जन्म नाम कुछ और ही रहा होगा। चारुकीर्ति नाम तो श्रवण बेलगोल के पट्ट पर बैठने कारण प्रसिद्ध हुआ है। इनका जन्मस्थान द्राविण देशान्तर्गत सिंहपुर था[1]। यह चारुकीर्ति पंडिताचार्य के नाम से ख्यात थे और श्रवण बेलगोल के चारुकीर्ति भट्टारक के पद पर प्रतिष्ठित थे। यह विद्वान और तपस्वी थे। वादी तथा चिकित्सा शास्त्र में निपुण थे। तप में निष्ठुर, चित्त में उपशान्त, गुणों में गुरुता और शरीर में कृशता थी एक बार राजा बल्लाल युद्ध क्षेत्र के समीप मरणासन्न हो गए। भट्टारक चारुकीर्ति ने उन्हें तत्काल नीरोग कर दिया था।

इन्होंने गंगवंश के राजकुमार देवराज के अनुरोध से 'गीत वीतराग' का प्रणयन किया था[2]। इसमें ऋषभदेव का चरित वर्णित है। जयदेव (सन ११८०) के 'गीत गोविन्द' के ढंग पर इसकी रचना हुई है। इसका अपर नाम अष्टपदी है।

इस ग्रन्थ का पुष्पिका वाक्य इस प्रकार है :—

"इति श्री मद्रायराज गुरु भूमण्डलाचार्यवर्य महावाद वादीश्वरराय वादि पितामह सकलविद्वज्जन चक्रवर्ती बल्लालराय जीव रक्षापाल (?) कृत्याद्यनेक विरुदावलिविराजच्छ्रीमद्वेलगोल सिद्ध सिंहासनाधीश्वर श्रीमदभिनवचारुकीर्ति पण्डिताचार्य वर्य प्रणीत गीत वीतरागाभिधानाष्ट पदी समाप्ता।"

इनकी दूसरी कृति 'प्रमेयरत्नमालालंकार' है जो परीक्षामुखसूत्र की व्याख्या प्रमेयरत्न माला की व्याख्या है। उसी के विषय का विशद विवेचन किया है। ग्रन्थ दार्शनिक है और छह परिच्छेदों में विभक्त है। ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है इसका समाप्ति पुष्पिका वाक्य इस प्रकार है :—

इति श्रीमद्देशिगणाग्रगणण्यस्य श्रीमद्वेल मुलपुर निवास रसिकस्य चारुकीर्ति पण्डिता चार्यस्य कृतौ परीक्षा मुख सूत्र व्याख्यायां प्रमेय रत्नमाला लङ्कार समाख्यायां षष्ठः परिच्छेदः समाप्तः ॥

समय—भट्टारक श्रुतकीर्ति का स्वर्गवास शक सं० १३५५ (सन् १४३३) में हुआ है। अतएव अभिनव चारुकीर्ति का समय शक सं० १३५० (सन् १४२८) है। यह विक्रम की १५वी शताब्दी के विद्वान हैं।

लक्ष्मीचन्द्र

इनका कोई परिचय प्राप्त नही है। लक्ष्मीचन्द्र की दो कृतियां उपलब्ध है। एक सावय धम्म दोहा (श्रावक धर्म दोहा) दूसरी कृति 'अनुप्रेक्षा दोहा' है।

श्रावक धर्म दोहा—में श्रावक धर्म का वर्णन २२४ दोहों में किया गया है। दोहा सरस और सरल है। किन्तु कवि कुशल, अनुभवी, व्यवहार चतुर और नीतिज्ञ जान पड़ता है। कथन शैली आदेशात्मक है। ग्रन्थ की भाषा अपभ्रंश होते हुए भी लोक भाषा के अत्यधिक निकट है। दोहों में दृष्टान्त वाक्य जुड़े होने के कारण ग्रन्थ प्रिय और सग्राह्य हो गया है। वादीभसिंह की क्षत्र चूड़ामणि सुभाषित नीतियों के कारण बहुत ही प्रिय और उपादेय बना हुआ है। डा० ए० एन० उपाध्याय के अनुसार ब्रह्मश्रुतसागर ने नौ दोहे इस ग्रन्थ के उक्तं च रूप से दिये है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि प्रस्तुत दोहों की रचना विक्रम की सोलहवी शताब्दी के मध्य काल से पूर्व हुई है ग्रन्थ में अष्ट प्रकारी पूजा का फल दिया है और निम्न अभक्ष वस्तुओं के खाने से सम्यग्दर्शन का भंग होना बतलाया है।

सूलउ-णाली-भिसु-ल्हसुणु-तुंबड-करडु-कलिंगु।
सूरण-फुल्ल-ऽत्थाणयहं भक्खणि दंसण-भंगु।

---

१. द्रविड देश विशिष्टे सिंहपुरे लब्धशस्तजन्मासौ। —गीत वीतराग प्रश०

२. जैन लेखसंग्रह भा० १ पृ० २१३ लेख नं० १०८।

३. देखो, गीत वीतराग प्रशस्ति।

इसका अर्थ पं० दीपचन्द पाण्डया ने इस प्रकार दिया है— मूली आदि हरे जमीकंद, नाली (कमल प्याज आदि की नाली भिस- कमल की जड़, लहसुण, लुम्बी शाक (लोकी शाक ?) करड कंसूभी की भाजी) कलिंग (तरबूजा ?) सूरण कन्द आदि कन्द, पुष्प हरे फूल, सब प्रकार के अनाज (बहुत दिनों का बना आचार मुरब्बा) इनके खाने से दर्शन भग होता है। इसमें लुम्बी शाक का अर्थ लोकी (घीया) दिया गया है। लोकी को कहीं भी अभक्ष पदार्थों में नहीं गिनाया गया। सम्भव है ग्रन्थकार का इससे कोई दूसरा ही अभिप्राय हो, क्योंकि लोकी जिसे घिया भी कहा जाता है, वह अभक्ष नहीं है इसी तरह सेम की फली भी अभक्ष नहीं है।

ग्रन्थ की तुलना पर से स्पष्ट है, कि प्रस्तुत रचना पं० आशाधर के बाद की है। संस्कृत भाव संग्रह के कर्त्ता वामदेव या इन्द्र वामदेव के गुरु लक्ष्मी चन्द्र थे। पर इनके सम्बन्ध में अन्य कोई जानकारी प्राप्त नहीं हैं। डा० ए० एन० उपाध्ये ने सावय धम्म दोहा का कर्ता १६वीं शताब्दी के लक्ष्मीचन्द को नही माना, उसका कारण ब्रह्म श्रुतसागर द्वारा सावयधम्म दोहा के पद्यों को उद्धृत करना है। अतः लक्ष्मीचन्द्र १६वीं शताब्दी के नहीं हो सकते। उन्होंने उसे पूर्ववर्ती बतलाया है[1]। मेरी राय में यह ग्रन्थ १४वीं शताब्दी या उसके आस-पास की रचना होनी चाहिये। प० दीपचन्द पाण्डया ने सावयधम्म दोहा का रचना काल विक्रम की १६वीं शताब्दी का प्रथम चरण बतलाया है[2]। अतः ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर लक्ष्मीचन्द का समय निश्चित करना जरूरी है, आशा है विद्वान इस ओर अपना ध्यान देंगे।

दोहानुप्रेक्षा —में ४७ दोहा हैं, उनमें कवि ने अपना नाम उल्लिखित नहीं किया, किन्तु सूची में उसका कर्ता 'लक्ष्मीचन्द्र' लिखा। यह दोहा नुप्रेक्षा अनेकान्त वर्ष १२ की १०वी किरण में प्रकाशित है। दोहा सुन्दर और प्रत्येक भावना के स्वरूप के विवेचक है। सावय धम्म दोहा से अनुप्रेक्षा के दोहा अधिक सुन्दर व्यवस्थित जान पड़ते है पर रचना काल और रचना स्थल तथा लेखक के नाम से रहित होने के कारण उस पर विशेष विचार करना शक्य नही है। साथ ही यह निर्णय भी वांछनीय है कि दोनों के कर्ता एक ही हैं; या भिन्न-भिन्न।

कवि हल्ल या हरिचन्द

मूलसंघ, बलात्कारगण और सरस्वती गच्छ के भट्टारक प्रभाचन्द्र के प्रशिष्य और भट्टारक पद्मनन्दी के शिष्य थे। अच्छे विद्वान और कवि थे इनकी दो कृतियां उपलब्ध है। श्रेणिक चरिउ या वड्ढमाणकव्व और मल्लिणाहकव्व। कर्ता ने रचनाकाल नहीं दिया। फिर भी अन्य साधनों से कवि का समय विक्रमी की १५वीं शताब्दी है।

रचनाएँ

श्रेणिक चरित या वर्द्धमानकाव्य में ११ संधियां हैं, जिनमें अंतिम तीर्थंकर वर्द्धमान का जीवन परिचय अंकित किया गया है। कवि ने यह ग्रन्थ देव राय के पुत्र 'होलिवम्म' के लिये बनाया है[1]। साथ ही उनके समकालीन होने वाले मगध सम्राट् बिम्बसार या श्रेणिक की जीवन गाथा भी दी हुई है। यह राजा बड़ा प्रतापी और राजनीति में कुशल था। इसके सेनापति श्रेष्ठि जंबुकुमार थे। इस राजा की पट्ट महिषी रानी चेलना थी, जो वैशाली गणतंत्र के अध्यक्ष लिच्छवि राजा चेटक की विदुषी पुत्री थी। जो जैन धर्म संपालिका और पतिव्रता थी। श्रेणिक प्रारम्भ में अन्य धर्म का पालक था, किन्तु चेलना के सहयोग से दिगम्बर जैन धर्म का भक्त और भगवान महावीर की सभा का प्रमुख श्रोता हो गया था। प्रस्तुत ग्रन्थ देवराय के पुत्र संघाधिप होलिवम्म के अनुरोध से रचा गया है। और ग्रन्थ का सं० १५५० लिखी हुई प्रति वधी चन्द्र मंदिर जयपुर के शास्त्र भंडार में मौजूद है।

---

१. यह लक्ष्मीचन्द्र श्रुतसागर के समकालीन लक्ष्मीचन्द्र से जुदे हैं। परमात्म प्रकाश प्रस्तावना पृ० १११

२. ग्रन्थकार का नाम लक्ष्मीचन्द्र है और उनका समय ग्रन्थ की उपलब्ध प्रतियों और प्राप्त ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर विक्रम की—१६वीं शताब्दी का प्रथम चरण रहा है। सावय धम्मु दोहा, सम्पादकीय पृ० १२

इयसिरि वड्ढमाण कव्वं पयडिय चउवग्गभरिए सेणियअभयचरित्ते विरइय जयमित्तहल्ल सुकयन्तो भवियण जणमण हरणे संघाहिव होलिवम्म कण्णाहरणे सम्मइजिण णिव्वाण गमणो णाम एयारहमो संधि परिच्छेओ समत्तो ॥

कवि की दूसरी रचना मल्लिनाथ 'काव्य' है। जिसमें १९वें तीर्थंकर मल्लिनाथ का जीवन परिचय दिया हुआ है। आमेर शास्त्र भण्डार की यह प्रति त्रुटित है, इसके आदि के तीन पत्र और अन्तिम पत्र भी उपलब्ध नहीं है। इस ग्रन्थ की रचना पृथ्वीराज (संसारचन्द) चोहान के राज्य में हुए हैं। इसीलिए कवि ने 'चिरणंदउ देसु पुसहमि णरेसु' वाक्य में उनका उल्लेख किया है। पृथ्वीराज भोजराज चौहान करहल का पुत्र था, इसको माता का नाम नाइक्क देवी था। पार्श्वनाथ चरित के कर्ता असवाल (सं० १४७९) ने उसके राज्य की सं० १४७१ की घटना का उल्लेख किया है, उक्त १४७१ में भोजराज के मंत्रो यदुवंशी अमरसिंह ने रत्नमयी जिन बिम्ब को प्रतिष्ठा की थी। कवि हल्ल के मल्लिनाथ काव्य के कर्ता की लोणासाहु ने प्रशसा की थी। इसमे उक्त मल्लिनाथ काव्य सं० १४७१ या १४७० की रचना है। अतः कवि का समय सं० १४५० से १४७५ है।

कवि की तीसरी कृति 'श्रीपालचरित्र' है। यह भी अपभ्रंश भाषा में रचा गया है। इसकी ६० पत्रात्मक प्रति दि० जैन मंदिर दीवानजी कामा के शास्त्र भण्डार में सुरक्षित है। (राजस्थान ग्रन्थ सूची भाग ५ पृ० ३९३)

कवि असवाल

कवि का वंश गोलाराड या गोलालारे था। यह पंडित लक्ष्मण का पुत्र था[1]। कवि कहां का निवासी था। कवि ने इसका उल्लेख नहीं किया। पर कवि ने मूल सघ बलात्कारगण के भ० प्रभाचन्द्र, पद्मनन्दी, शुभचन्द्र और धर्मचन्द्र का उल्लेख किया है। अत: कवि इन्हीं की आम्नाय का था। संवत् १४९८ मे कवि के पुत्र विद्याधर ने भ० अमरकीर्ति के 'पट् कर्मोपदेश' की प्रति लिखी थी[2]। यह ग्रन्थ नागौर के शास्त्र भंडार में सुरक्षित है।

कवि की एक मात्र कृति पार्श्वनाथचरित्र है। जिसमें १३ सधियां है। जिनमें २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की जीवन गाथा दी हुई है। ग्रन्थ में पद्धडिया छन्द की बहुलता है। ग्रन्थ की भापा उस समय की है जब हिन्दी भाषा अपना विकास और प्रतिष्ठा प्राप्त कर रही थी। भापा मुहावरेदार है। रचना सामान्य है।

यह ग्रन्थ कुशार्त देश[3] में स्थित 'करहल[4]' नगर निवासी साहु सोणिग के अनुरोध से बनाया था, जो यदु-वंश में उत्पन्न हुए थे। उस समय करहल में चौहान वंशी राजाओं का राज्य था। इस ग्रन्थ की रचना वि० सं० १४-७९ भाद्र पद कृष्णा एकादशी को बनाकर समाप्त की गई थी[5]। ग्रन्थ निर्माण में कवि को एक वर्ष का समय लगा था। ग्रन्थ निर्माण के समय करहल में चौहान वंशी राजाभोजराज के पुत्र संसारचन्द्र (पृथ्वीसिंह) का राज्य था। इनकी माता का नाम नाइक्कदेवी था और यदुवंशी अमरसिंह भोजराज के मंत्री थे, जो जैन धर्म के संपालक थे। इनके चार भाई और भी थे, जिनके नाम करमसिंह, समरसिंह, नक्षत्रसिह और लक्ष्मणसिंह थे। अमरसिंह की धर्म पत्नी का नाम कमल श्री था। उससे तीन पुत्र उत्पन्न हुए थे। नन्दन, सोणिग और लोणा साहु। इनमें लोणा साहु जिनयात्रा, प्रतिष्ठा आदि प्रशस्त कार्यो में द्रव्य का विनियम करते थे और अनेक विधान—उद्यापनादि कार्य कराते थे। उन्होंने मल्लिनाथ चरित के कर्ता कवि 'हल्ल' को प्रशसा की थी। लोणा साहू के अनुरोध मे कवि असवाल ने पार्श्वनाथ चरित की रचना उनके ज्येष्ठ भ्राता सोणिग के लिए की थी। प्रशस्ति में सं० १४७१ में राजा भोजराज के राज्य में सम्पन्न होने वाले प्रतिष्ठोत्सव का भी उल्लेख किया है, जिसमें रत्नमयी जिन बिम्ब की प्रतिष्ठा सानन्द सम्पन्न हुई थी।

कवि की अन्य क्या रचना है अन्वेपण करना आवश्यक है। कवि का समय १५ वीं शताब्दी का तृतीय चरण है।

---

१. अहो पंडिय लक्खण सुय गुलग, गुलराड वंसि धयवड अहंग।
जैन ग्रन्थ प्रशस्ति० भा० २ पृ० १२९

२. गोलाराडान्वये इक्ष्वाकुवंशे श्री मूलसंघे पंडित असवाल सुत विद्याधर नामा लिलेखि।" (नागौर शास्त्रभण्डार प्रति)

३. कुशार्त देश सूरसेन देश के उत्तर में वसा हुआ था और उसकी राजधानी शौरी पुर थी, जिसे यादवों ने बसाया था। जरा संघ के विरोध के कारण यादवों को इस प्रदेश को छोड़कर द्वारिका को अपनी राजधानी बनानी पड़ी थी।

४. करहल इटावा से १३ मील की दूरी पर जमुना नदी के तट पर वसा हुआ है, वहां चौहान वंशी राजाओं का राज्य रहा है। यहां शिखरबन्द चार जैन मन्दिर है। और अच्छा शास्त्रभंडार भी हैं।

ब्रह्म साधारण

यह मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वयी भ० परम्परा के विद्वान हरिभूषण शिष्य नरेन्द्र कीर्ति के शिष्य थे। इन्होंने अपनी गुरुपरम्परा का निम्न प्रकार उल्लेख किया है :—

सिरि कुन्दकुन्द गणि रयणकित्ति, पहसोम पोम णंदी सुवित्त।
हरिभूसण सीसणरिंदकित्ति, विज्जाणंदिय दंसण धरित्ति ॥"

रत्नकीर्ति, प्रभाचन्द्र, पद्मनन्दी, हरिभूषण शिष्य नरेन्द्र कीर्ति, और विद्यानन्द। कवि ने अपनी रचनाओं में रचनाकाल और रचना स्थल का कोई उल्लेख नही किया। कथा की यह प्रति वि० सं० १५०८ की लिखी हुई है[1]। इससे ग्रन्थ उक्त स०१५०८ से पूर्व रचा गया है। कवि का समय १५ वीं शताब्दी है।

इस कथा संग्रह में ८ कथाएँ और अनुप्रेक्षा दी हुई है। कोकिला पंचमी, मुकुट सप्तमी, दुद्धारसिक था, आदित्यवार कथा, तीन चउवीसी कथा पुष्पांजलि कथा, निर्दुखसत्तमी कथा, निर्झर पंचमी कथा और अनुप्रेक्षा। प्रत्येक रचना के अन्त में निम्न पुष्पिका वाक्य दिया हुआ है।

'इति श्री नरेन्द्र कीर्ति शिष्य ब्रह्म साधारण कृता अनुप्रेक्षा समाप्ता।'

इन कथाओं में जैन सिद्धान्त के अनुसार व्रतों का विधान और उनके फल का विवेचन किया गया है। साथ ही व्रतों के आचरण का क्रम और तिथि आदि के उल्लेखों के साथ संक्षेप में उद्यापन विधि का उल्लेख किया है। यदि उद्यापन की शक्ति न हो तो दुगने वर्ष व्रत करने की प्रेरणा की है।

अन्तिम ग्रन्थ अनुप्रेक्षा में अनित्यादि द्वादश भावनाओं के स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए ससार और देह-भोगों की असारता का उल्लेख करते हुए आत्मा को वैराग्य की ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

कोइल पंचवी कथा :

पाठकों की जानकारी के लिए 'कोइल पंचमी' कथा का सार नीचे दिया जाता है—भरत क्षेत्र के कुरु जांगल देश में स्थित रायपुर नामक नगर में वीरसेन नाम के राजा राज्य करते थे। उसी राज्य में धनपाल सेठ अपनी भार्या धनमति के साथ सुख पूर्वक रहते थे। उनका पुत्र धनभद्र और पुत्रवधू जिनमति थी। जिनमति कुशल गृहिणी जिनपूजा और दानादि में अभिरुचि रखने बली थी, परन्तु उसकी सासु धनमति को जैन धर्म से प्रेम नही था। दोनों के बीच यही एक खाई का कारण था।

कालान्तर में धनपाल काल कवलित हो गया। कुछ समय वाद विषण्ण वन्दना धनमति भी चलवसी, और पापकर्म के कारण वह उसी घर में कोइल हुई। अतः दुर्भावशात् वह जिनमति के शिर में हमेंशा टक्कर मारकर उसे दुःखित करती रहती थी।

एक दिन उस नगर में श्रुतसागर नाम के मुनिराज आये, वे अवधिज्ञानी थे। धनभद्र और जिनमति ने उन्हें आहार देकर उनसे कोइल की गति-विधियों के सन्दर्भ में पूछा। तब मुनिराज ने बतलाया कि वह तुम्हारी जननी है। मुनियों के आहार दान मे अन्तराय डालने के कारण वह कोइल हुई। पश्चात् मुनिराज ने संसार की असा-रता का वर्णन किया, और बतलाया कि ५ वर्ष तक कोइल पंचमी व्रत का अनुष्ठान करो, आषाढ़ महीने के कृष्ण पक्ष में उपवासकरो, व्रत पूरा होने पर कार्तिक के कृष्ण पक्ष में उसका उद्यापन करो, उद्यापन में पांच पांच वस्तुएँ जिन मन्दिर में दीजिए उद्यापन की शक्ति न हो तो दुगुने दिन व्रत करना चाहिए।

यह सुन कर कोइल मूर्छित हो गयी, जल सिंचन से उसे सचेत किया गया अनंतर धर्मोपदेश सुनकर कोइल ने सन्यास पूर्वक दिवंगत हुई।

१. सं० १५०८ वर्षे श्री मूलसंघे जिनचन्द्र देव खंडेलान्वये सावडा गोत्रे सा० पं० वीभा इयं कथानक ग्रन्थ लिखाप्य कर्मक्षय निमित्त प्रदत्तं।

दम्पति ने मुनिराज द्वारा निर्दिष्ट कोइल पंचमी व्रत का विधि पूर्वक पालन किया। व्रत समाप्त होने पर उसका उद्यापन किया। कालान्तर में वे भी सन्यास पूर्वक स्वर्ग वासी हुए। इसमें जीव दया पालन करने का फल बतलाया गया है। इसी तरह अन्य सब कथाएँ दी गई हैं। कथाएँ अप्रकाशित हैं।

बुध विजयसिंह

कवि के पिता का नाम सेठ विल्हण और माता का नाम राजमती था। कवि का वंश पद्मावती पुरवाल था और यह मेरुपुर के निवासी थे। कवि ने अपने गुरु का नामोल्लेख नही किया। कविको एकमात्र कृति 'अजित पुराण' उपलब्ध है जिसका रचना काल वि० सं० १५०५ कार्तिकी पूर्णिमा है। इससे कवि का समय सं० १४८५ से १५१५ तक समझना चहिए।

अजित नाथ पुराण

इस ग्रन्थ में १० संधियाँ हैं, जिनमें जैनियों के दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ का जीवन परिचय अंकित किया गया है। रचना साधारण हैं, भाषा अपभ्रंश होते हुए भी उसमें देशी शब्दों की बहुवलता है।

कवि ने इस ग्रन्थ की रचना महाभव्य पं० कामराय के पुत्र देवपाल की प्ररणा से की है। ग्रन्थ की आद्यन्त प्रशस्ति में कामराय के परिवार का सक्षिप्त परिचय कराया है। और लिखा है कि वणिपुर या वणिक पुर नाम के नगर में खंडेल वाल वंश में कउडि (कोडी) नाम के पंडित थे उनके पुत्र छीतु या छोतर थे, जो बड़े धर्मनिष्ठ और श्रावक की ११ प्रतिमाओं का पालन करते थे। वही पर लोकमित्र पंडित खेता थे, उनके प्रसिद्ध पुत्र कामराय थे। कामराय की पत्नी का नाम कमलश्री था, उससे तीन पुत्र उत्पन्न हुए थे। जिनका नाम जिनदास, रयणु और दिउपाल (देवपाल) था। उसने वहां वर्धमान का एक चैत्यालय बनवाया था, जो उत्तु गध्वजाओं से अलंकृत था। और जिस में वर्धमानतीर्थंकर की प्रशान्त मूर्ति विराजमान थी। उसी देवपाल ने यह चरित्र ग्रन्थ बनवाया था। कवि ने प्रथम सन्धि में जिनसेन, अकलंक, गुणभद्र, गृद्ध पिच्छ, पोढिल्ल (प्रोष्ठिल्ल) लक्ष्मण और श्रीधर कवि का नामोल्लेख किया है।

कवि ने इस ग्रन्थ की रचना स० १५०५ में कार्तिकी पूर्णिमा के दिन की है।

समएह पणदह सएह पंचतह कत्तिय पुण्णिम वासरें।
ससिद्धु गंथुइउ विजसिंह किउ वुह दिउपालकयादरे॥३२५

भट्टारक शुभचन्द्र

यह मूलसंघ दिल्ली पट्ट के भट्टारक पद्मनन्दी के पट्टधर शिष्य थे[1]। यह पद्मनन्दी के पट्टपर कब प्रतिष्ठित हुए, इसका निश्चिय समय तो ज्ञात नहीं हो सका, पर वे संभवतः १४७० और १४७९ के लगभग किसी समय पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए थे। ग्वालियर लश्कर के नयामन्दिर के चोबोसी धातु की मूर्ति लेख में सं० १४७९ में भ० शुभचन्द्र का उल्लेख है। अतः वे उससे पूर्व ही पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए जान पड़ते हैं। यह अपने समय के अच्छे विद्वान थे। इनकी दो कृतियां मेरे अवलोकन में आई हैं। 'सिद्ध चक्र कथा' और श्री शारदा स्तवन। शारदा स्तवन के ९वें पद्य में—'श्री पद्मनन्दीन्द्र मुनीन्द्र पट्टे शुभोपदेशी शुभचन्द्रदेवाः' वाक्य द्वारा उन्होंने अपना उल्लेख किया है। यह प्रतिष्ठाचार्य भी रहे हैं। इनके समय में ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ भी हुई हैं। इनके पट्टधर शिष्य जिनचन्द्र थे भ० शुभचन्द्र संभवतः १५०२ तक उस पट्ट पर प्रतिष्ठित रहे हैं।

---

१. "तत्पट्टांबुधिः सच्चन्द्रः शुभचन्द्रः सतांवरः।
पंचाक्षवन दावग्नि कषायाक्ष्मा धराशनिः। २०—मूलाचार प्रशस्ति
तासु पट्टी रयणत्तय धारउ, संजायउ सुहचन्द भडारउ। सिद्ध चक्र कथा प्रशस्ति
पुणु उवण्णु सिंहासणु मंडणु, मिच्छावाइ वाय-भड-खंडणु, सावय चरिउ प्र०

सिद्धचक्र कथा

इसमें सिद्धचक्र व्रत के माहात्म्य का वर्णन है जिसे उन्होंने सम्यग्दृष्टि श्रावक जालाक के लिए कल्याण-कारी कथा का चित्रण किया था[1]। इस कथा की अन्तिम प्रशस्ति के निम्न वाक्य में—**'श्री पद्मनन्दी मुनिराज पट्टे शुभोपदेशी शुभचन्द्रदेवः' श्री सिद्धचक्रस्य कथावतारं चकार भव्यां बुजभानुमाली ॥१॥**

भ० शुभचन्द्र का समय विक्रम की १५वीं शताब्दी का तृतीय चतुर्थचरण है।

रत्नकीर्ति

यह बलात्कारगण के विद्वान थे। यह भावकीर्ति और अनंतकीर्ति के शिष्य थे। इनकी एकमात्र कृति पुष्पांजलि व्रतकथा है जो अपभ्रंश भाषा की रचना है। कथा में कवि ने रचनाकाल और रचनास्थल का कोई उल्लेख नहीं किया। इसका कारण रचना काल का निश्चय करना कठिन है। संभव है १५वीं शताब्दी की रचना हो।

पंडित योगदेव

यह कनारा जिले के कुम्भनगर के निवासी थे। पंडित योगदेव राजा भुजबली भोमदेव के द्वारा राज्यमान्य थे। वहां की राज्यसभा में सम्मान प्राप्त था। इनकी एक कृति तत्त्वार्थसूत्र की टोका 'सुखबोधवृत्ति' है। ग्रन्थ में गुरु परम्परा और रचनाकाल का कोई उल्लेख नही है। इस कारण इनका समय निश्चित करना कठिन है।

अपभ्रश भाषा की 'सुव्रतानुप्रेक्षा' नाम की २० कडवक की रचना है जिसमें मुनि सुव्रत की बारह भावना का वर्णन है। जिसे उन्होंने कुभनगर में रहते हुए विश्वसेन मुनि के चरण कमलों की भक्ति से रचा है। इस ग्रन्थ की यह प्रतिलिपि सं० १५८५ बैशाख वदि १३ के दिन मैसूर के पद्मप्रभ चैत्यालय में की गई है। इससे इतना तो सुनिश्चित है कि पंडित योगदेव उससे पहले हुए हैं। संभवतः यह १५वीं शताब्दी के विद्वान हैं।

कवि जल्हिग

इन्होंने अपना कोई परिचय, गुरुपरम्परा और 'रचना' काल नहीं दिया जिससे उनके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। इनकी एकमात्र कृति, 'अनुपेहारास' है जिसमें अनित्य, अशरण संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा लोक बोधि दुर्लभ और धर्म। इन बारह भावनाओं का स्वरूप दिखलाते हुए उनके बार-बार चिन्तवन करने की प्रेरणा की है। ये भावनाएं देह-भोगों की आशक्ति को दूर करती हुई उनके प्रति अरुचि उत्पन्न करती हैं और आत्मस्वरूप की ओर आकृष्ट करती हैं। इसीलिये इन्हें माता के समान हितकारी बतलाया है। कवि जल्हिग कब हुए, यह रचना पर से ज्ञात नही होता। संभवतः इनका समय विक्रम की १४वीं या १५वीं शताब्दी है। कवि कहता है कि जो इनकी भावना भाता है वह पाप-पास को दूर करता हुआ परम सुख प्राप्त करता है। साथ में कवि कहता है कि मैने निज शक्ति से इसकी रचना की है, उसमें जो कुछ हीन या अधिक कहा गया हो, या पद अक्षर मात्रा से हीन हो, तो उसका विगत-मल मुनीश्वर शोधन करें।

नेमचन्द

यह माथुर संघ के विद्वान थे। इनकी रची हुई 'रविवयकहा' (रवि व्रत कथा) है जिसमें रविवार के व्रत की विधि और उसके फल प्राप्त करने वाले की कथा दी गई है। रचना में गुरुपरम्परा और रचना काल का कोई उल्लेख नही है। इससे निश्चित समय बतलाना शक्य नहीं है। कथा की भाषा साहित्यादि पर से १५वीं शताब्दी की रचना जान पड़ती है। अन्य साधन सामग्री के अन्वेषण से समयादिका निश्चय हो सकेगा।

१. सम्यग्दृष्टि विशुद्धात्मा जिनधर्म च वत्सलः ।
जालाकः कारयामास कथां कल्याण कारिणि ॥२

पंडित नेमिचन्द्र

यह षट् तर्क चक्रवर्ती विनयचन्द्र के प्रशिष्य और देवनन्दी के शिष्य थे। इन्होंने धनंजय कवि के 'राघव पाण्डवीय' काव्य या द्विसन्धान काव्य की 'पदकौमुदी नाम की टीका बनाई है। टीकाकार ने रचना काल का उल्लेख नहीं किया। प्रशस्ति में त्रैलोक्यकीर्ति नाम के एक विद्वान का उल्लेख किया है जिसके चरण कमलों के प्रसाद से वह ग्रन्थ समुद्र के पार को प्राप्त हुआ है। टीका में रचना काल न होने से समय के निश्चय करने में बड़ी कठिनाई हो रही है। इस टीका की अनेक प्रतियां भण्डारों में पाई जाती हैं। जयपुर के पार्श्वनाथ मन्दिर के शास्त्र भण्डार में ७० पत्रात्मक प्रति जो सं० १५०६ में राजाडूंगरसिंह के काल में गोपाचल में लिखी गई थी, लेखक प्रशस्ति अपूर्ण है। (जैन ग्रन्थ सूची भा० ४ पृ० १७२) इससे इतना तो, सुनिश्चित है कि पद कोमुदो टीका इससे पूर्ववर्ती है। संभवतः १५वीं शताब्दो में रची गई है।

भ० शुभचन्द्र

यह कर्नाटक प्रदेश के निवासी और काणूरगण के विद्वान थे जो राद्धान्त रूपी समुद्र के पार को पहुंचे हुए थे और विद्वानों के द्वारा अभिवन्दनीय थे। इनको एक छोटी सी कृति 'षट्दर्शन प्रमाण प्रमेय संग्रह' नाम को उपलब्ध है, जो जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १६ किरण २ पृष्ठ ४५ पर प्रकाशित हो चुकी है।

भट्टारक शुभचन्द्र ने आचार्य समन्तभद्र की आप्तमी मांसा गत प्रमाण के 'तत्वज्ञान प्रमाणं' नामक लक्षण का उल्लेख करते हुए उसके भेद-प्रभेदों की चर्चा की है। ग्रन्थ में रचना काल दिया हुआ नहीं है और न गुरु परम्परा का ही कोई उल्लेख किया है। जिससे भट्टारक शुभचन्द्र के समय पर प्रकाश डाला जा सके। ग्रन्थ में सांख्य, योग, चवाक, मीमांसक, और बौद्ध दर्शन के तत्वों का संक्षेप में विचार किया है।

काणूरगण में अनेक विद्वान हो गये हैं। श्रवणबेलगोल के समीप वही सोमवार नामक ग्राम की पुरानी बस्ती के समीप शक सं० १००१ (सन् १०७९) के उत्कीर्ण किये हुए शिलालेख में काणूरगण के प्रभाचन्द्र सिद्धान्त देव का उल्लेख निहित है। पर यह निश्चित करना कठिन है कि उक्त शुभचन्द इस काणूरगण में कब हुए हैं।

'ग्रन्थ की भाषा अत्यन्त सरल है, उससे जान पड़ता है कि यह विक्रम की १४वीं शताब्दी में रचागया होगा।

विश्व तत्व प्रकाश की प्रस्तावना के पृष्ठ ६६ में डा० विद्याधर जोहरापुर करने भ० विजय कीर्ति के शिष्य भ० शुभचन्द्र को उक्त ग्रन्थ का कर्ता ठहराया है जबकि यह शुभचन्द्र मूलसंघ बलात्कारगण के थे और षट् दर्शन प्रमाण प्रमेय संग्रह के कर्ता भ० शुचन्द्र कंडूरगण विद्वान थे। अतएव मूलसंघ के भ० शुभचन्द्र इसके कर्ता नहीं हो सकते। इनकी भिन्नता होते हुए भी डा० विद्याधर जोहरापुर करने उन्हें मूलसंघ के भ० विजय कीर्ति का शिष्य कैसे मान लिया[1]। इस सम्बन्ध में अन्वेषण करना आवश्यक है, जिससे यथार्थ स्थिति का निर्णय हो सके।

भास्कर कवि

यह विश्वामित्र गोत्री जैन ब्राह्मण था, इसके पिता का नाम बसवांक था। कवि पेनुगोंडे ग्राम का वासी था। इसकी एक रचना 'जीवंधर चरित' प्राप्त है। जो वादीभसिंह सूरि के संस्कृत ग्रन्थ का कनड़ी अनुवाद है। ऐसी सूचना कवि ने स्वयं दी है। ग्रंथ के प्रारम्भ में कवि ने अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों और कवियों का स्मरण किया है—पंच परमेष्ठी, भूतवलि, पुष्पदन्त, वीरसेन, जिनसेन, अकलंक, कवि परमेष्ठी समन्तभद्र, कोण्डकुन्द, वादी भसिंह, पण्डितदेव, कुमारसेन, वर्द्धमान, धर्मभूषण, कुमारसेन के शिष्य वीरसेन, चरित्र भूषण, नेमिचन्द्र, गुणवर्म नागवर्म, होत्र (पोत्र), विजय, अग्गलदेव, गजांकुश और यशचन्द्र आदि।

कवि ने इस ग्रन्थ की रचना 'शान्तेश्वर वस्ती' नाम के जैन मन्दिर में शक सं० १३४५ के क्रोधन संवत्सर (सन् १४२४) में फाल्गुण शुक्ला १०मी रविवार के दिन पेनुगोंडे के जिन मन्दिर में समाप्त की है। कवि का समय ईसा की १५वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है।

भ० कमल कीर्ति

यह काष्ठासंघ माथुरगच्छ और पुष्करगण के विद्वान भट्टारक अमलकीर्ति के पट्टधर थे। उनकी गुरु परम्परा क्षेमकीर्ति, हेमकीर्ति अमलकीर्ति कमलकीर्ति यह परम्परा सं० १५२५ के ग्वालियर के मूर्ति लेख में पाई जाती है। इसी सम्वत् के दूसरे लेख में, अमलकीर्ति के बाद संयमकीर्ति का नाम मिलता है। कमलकीर्ति केपट्ट पर सोना गिर में शुभचन्द्र प्रतिष्ठित हुए थे। इसका उल्लेख कवि रइधू ने किया है। इससे स्पष्ट है कि ग्वालियर का एक पट्ट सोना गिर में था, और उस पर कमलकीर्ति प्रतिष्ठित थे। उन्हीं के पट्ट पर शुभचन्द्रप्रतिष्ठितहुए थे। अतः ये सब भट्टारक १५वीं शताब्दी विद्यमानमें रहे हैं।

कमलकित्ति उत्तमखमधारउ, भव्वहभवअम्भोणिहितारउ।
तस्स पट्टकणयट्टिपरिट्ठिउ, सिरि सुहचन्द सु तव उक्कंट्ठिउ।

हरिवंशपुराण, आदि प्र०

जिणसुत्त अत्थ अलहंतएण सिरिकमलकित्ति पयसेवएण।
सिरि कं जकित्ति पटंटवरेसु, तच्चत्थ सत्थभासणदि णेसु।
उइण मिच्छत्ततमोहणासु, सुहचन्द भडारउ सुजस वासु।

हरि० अन्तिम प्र०

कमलकीर्ति की एकमात्र रचना 'तत्वसार' टीका है। यह देवसेन के तत्वसार की टीका है जिसे कमल कीर्ति ने कायस्थ माथुरान्वय में अग्रणी अमरसिंह के मानस रूपी अरविन्द को विकसित करने के लिए दिनकर (सूर्य) स्वरूप इस टीका की रचना की है अर्थात् यह टीका उनके लिए लिखी गई है। प्रस्तुत कमलकीर्ति वहीं हैं जिन का उल्लेख कवि रइधू ने हरिवंश पुराण में किया है और जिसका उल्लेख सं० १५२५ के कवि रइधू द्वारा प्रतिष्ठित मूर्ति लेख में हुआ है। अतः इनका समय १५वीं शताब्दी का उत्तारर्ध जान पड़ता है।

कवि चन्द्रसेन

इन्होंने अपना परिचय देने की कोई कृपा नहीं की। कवि की एकमात्र लघु कृति अपभ्रंश भाषा की १० पद्यात्मक 'जयमाला' उपलब्ध है जिसमें सिद्धचक्र व्रत के माहात्म्य को ख्यापित किया गया है और बतलाया है कि सिद्धचक्र व्रत का मन में अच्छी तरह चिन्तन करने से व्यक्ति के ज्वर, क्षय, गंडमाला, कुष्ट शूल आदि रोग नष्ट हो जाते हैं तथा सिद्धचक्र का स्मरण करने वाले व्यक्ति के सभी बन्धन, चौरादिक का भय और विपदाएं विनष्ट हो जाती हैं। परन्तु इसका स्मरण भावात्मक और निश्चल होना चाहिये।

घत्ता—इय वर जयमाला परमरसाला विधुसेणेन वि कहिय थुंहि।
जो पढइ पढावइ निय मणिभावइ सोणरु पावइ सिद्ध सुहम्॥

कवि ने जयमाला का रचनाकाल नहीं दिया। पर लगताहै कि कवि की यह रचना १५वीं शताब्दी के लगभग होगी।

कवि गोविन्द

इनकी जाति अग्रवाल और गोत्र 'गर्ग' था। इनके पिता का नाम साहु हीगा और माता का नाम पद्मश्री था। यह जिनशासन के भक्त थे। यह संस्कृत भाषा के अच्छे विद्वान थे। इनकी एकमात्र कृति 'पुरुषार्थानुशासन' है। ग्रन्थ में उल्लेख है कि माथुर कायस्थों के वंश में खेतल हुआ जो बन्धुलोक रूपी तारागणों से चन्द्रमा के समान प्रकाशमान था। खेतल के रतिपाल नाम का पुत्र हुआ, रतिपाल के गदाधर और गदाधर के अमरसिंह और अमरसिंह के लक्ष्मण नाम का पुत्र हुआ, जिसकी ग्रन्थ प्रशस्ति में बड़ी प्रशंसा की गई है। अमरसिंह मुहम्मद बादशाह के द्वारा अधिकारियों में सम्मिलित होकर प्रधानता को पाकर के भी गर्व को प्राप्त नहीं हुआ। वह प्रकृतितः

उदार था। कायस्थ जाति में और भी अनेक विद्वान हुए हैं जिन्होंने जैनधर्म को अपनाकर अपना कल्याण किया है। और कितने ही अच्छे कवि हुए हैं जिनकी सुन्दर एवं गंभीर रचनाओं से साहित्य विभूषित है। कितने ही लेखक हुए हैं। कवि ने यह ग्रंथ अमरसिंह के पुत्र लक्ष्मण के नामांकित किया है क्योंकि वह इन्हीं की सत्प्रेरणादि को पाकर ग्रन्थकार उसके बनाने में समर्थ हुआ है।

प्रशस्ति में कहीं पर भी रचनाकाल दिया हुआ नहीं है, जिससे कवि का समय निश्चित किया जाता। हां, प्रशस्ति में कवि ने अपने से पूर्ववर्ती कवियों का स्मरण जरूर किया गया है, जिनमें समन्तभद्र, भट्ट अकलंक, पूज्यपाद (देवनन्दी) जिनसेन, रविषेण, गुणभद्र वट्ट केर, शिवकोटि, कुन्दकुन्दाचार्य, उमास्वाति, सोमदेव, वीरनन्दी धनंजय, असग, हरिचन्द्र जयसेन और अमितगति (द्वितीय)।

इन नामों में हरिचन्द्र और जयसेन ११वीं और १३वीं शताब्दी के विद्वान हैं। किन्तु इस प्रशस्ति में मलयकीर्ति और कमलकीर्ति नाम के विद्वान भट्टारक का भी उल्लेख है, जिनका समय विक्रम की १५वीं शताब्दी है। अतः यह रचना भी १५वीं शताब्दी की जान पड़ती है।

कवि कोटीश्वर

इनके पिता तम्मणसेट्टि तुलुदेशान्तर्गत बइदूर राज्य के सेनापति थे। इनकी माता का नाम रामक, बड़े भाई का नाम सोमेश और छोटे भाई का नाम दुर्ग था। संगीतपुर के नगर सेठ 'कामसेणही' इनका जामाता था। श्रवण बेलगुल के पण्डित योगी के शिष्य प्रभाचन्द्र इनके गुरु थे। संगीतपुर के नेमिजिनेन्द्र इनके इष्टदेव थे और संगीतपुर के राजा संगम इनके आश्रय दाता थे। इन्ही के आदेश से कवि कोटीश्वर ने जीवन्धर षट्पदी, नाम के ग्रन्थ की रचना की थी।

बिलगि ताल्लुके के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि श्रुतकीर्ति संगम के गुरु थे और इन्ही श्रुतिकीर्ति की शिष्य परम्परा में 'कर्नाटक शब्दानुशासन' के कर्ता भट्टाकलंक (१६०४) पांचवें थे। कोटीश्वर ने जीबन्धर षट् पदी में अपने पूर्ववर्ती गुरुओं की स्तुति विजयकीर्ति के शिष्य श्रुतकीर्ति पर्यन्त की है। इससे कोटीश्वर का समय ई० सन् १५०१ के लगभग जान पड़ता है।

जीवंधरषट् पदी की एक ही अपूर्ण प्रति प्राप्त हुई है, जिसमें ९ अध्याय के और दशवें अध्याय ११९ पद्य दिये हुए हैं। इसके मंगलाचरण में कवि ने कोण्डकुन्द, समन्तभद्र, पंडित मुनि, धर्मभूषण, भट्टाकलंक, देवकीर्ति, मुनिभद्र, विजय कीर्ति, ललितकीर्ति और श्रुतकीर्ति आदि गुरुओं का स्तवन किया है।

और पूर्ववर्ती कवियों में जन्न, नेमिचन्द्र, होन्न, हंपरस, अग्गल, रन्न, गुणवर्म औरनागवर्म का स्मरण किया है। कवि का समय ईसा की १५वीं शताब्दी का उपान्त्य और विक्रम सं० १५७८, सोलहवीं का उत्तरार्द्ध है।

पंडित खेता

पंडित खेता ने अपना कोई परिचय अंकित नहीं किया। और न अपनी गुरु परम्परा का ही उल्लेख किया है। इनकी एक मात्र कृति 'सम्यक्त्व कौमुदी' है, जो तीन हजार श्लोकों के प्रमाण को लिए हुए है। इस ग्रन्थ की यह प्रति सं० १६६६ की माघ वदि ५ गुरुवार के दिन जहांगीर बादशाह के राज्य में श्रीपथ (वयाना) में लिखी गयी थी। वह प्रति सं० १६८९ ज्येष्ठ कृष्णा १३ को शुभ दिन में शाहजहां के राज्य में काष्ठासंघ माथुर गच्छ पुष्करगण लोहाचार्यान्वय के भट्टारक गुणचन्द्र, सकलचन्द्र, महेन्द्रसेन के शिष्य पं० भगवती दास को श्वेताम्बर रुपचन्द्र के पास से प्राप्त हुई थी, जो अब नयामंदिर दिल्ली के शास्त्र भंडार में सुरक्षित है।

रचना सरल है, उसकी भाषा आदि से १५वीं-१६वीं शताब्दी की कृति जान पड़ती। ग्रंथ अप्रकाशित है, प्रकाशन की बाट जोहरहा है।

भट्टारक ज्ञानभूषण

ज्ञान भूषण नाम के चार विद्वानों का उल्लेख मिलता है उनमें तीन ज्ञान भूषण इनके बाद के विद्वान हैं। प्रस्तुत ज्ञान भूषण मूलसंघ सरस्वती गच्छ बलात्कारगण के भट्टारक सकलकीर्ति की परम्परा में होने वाले भ० भुवनकीर्ति के पट्टधर थे[1]। यह संस्कृत भाषा के अच्छे विद्वान और कवि थे। गुजरात के निवासी थे, अतएव गुजराती भाषा पर इनका अधिकार होना स्वाभाविक हैं। यह सागवाड़ा गद्दी के भट्टारक थे। यह सं० १५३१ में भुवनकीर्ति के पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए थे। और वे उस पर १५५७ तक अवस्थित रहे हैं। पश्चात उन्होंने स्वयं विजयकीर्ति को अपने पद पर प्रतिष्ठित कर भट्टारक पद से निवृत्ति ले ली। भट्टारक पद पर रहते हुए उन्होंने अनेक मूर्तियों की प्रतिष्ठा कराई।

गुजरात में इन्होने सागराधर्म और आभीर देश में श्रावक की एकादश प्रतिमाओं को धारण किया था। और वाग्वर (वागड़) देश में पंचमहाव्रत धारण किये थे। इन्होंने भट्टारक पद पर आसीन होकर आभीर, वागड़ तौलब तैलंग, द्रविण, महाराष्ट्र और दक्षिण प्रान्त के नगरों और ग्रामों में विहार ही नहीं किया, किन्तु उन्हें सम्बोधित किया और सन्मार्ग में लगाया था। द्रविण देश के विद्वानों ने इनका स्तवन किया था, और सौराष्ट्र देशवासी धनी श्रावकों ने उनका महोत्सव किया था उन्होंने केवल उक्त देशों में ही धर्म का प्रचार नहीं किया था किन्तु उत्तरप्रदेश में भी जहाँ तहाँ विहार कर धर्म मार्ग की विमल धारा बहाई थी[2]। जहाँ यह विद्वान और कवि थे, वहाँ ऊंचे दर्जे के प्रतिष्ठाचार्य भी थे। आप के द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ आज भी उपलब्ध हैं। इन्होंने भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित होते ही स० १५३१ में डूगरपुर में सहस्रकूट चैत्यालय की प्रतिष्ठा का सचालन किया। स० १५३४ को प्रतिष्ठापित मूर्तियाँ कितने ही स्थानों पर मिलती हैं। सं० १५३५ में उदयपुर में प्रतिष्ठा कार्य सम्पन्न किया। सं० १५४० में हुंबड़ श्रावक लाखा और उसके परिवार ने इन्ही के उपदेश से आदिनाथ की प्रतिमा की प्रतिष्ठा करवाई थी।

ऋषभदेव के यशःकीर्ति भण्डार की पट्टावली से ज्ञात होता है कि ज्ञान भूषण पहले भ० विमलेन्द्र के शिष्य थे। और इनके सगे भाई एवं गुरु भ्राता ज्ञानकीर्ति थे। यह गोलालारीय जाति के श्रावक थे। सं० १५३५ में सागवाड़ा और नोगाम में महोत्सव एक ही साथ आयोजित होने से दो भट्टारक परम्पराएँ स्थापित हो गई। सागरवाड़ा की प्रतिष्टा के संचालक थे भ० ज्ञानभूषण। और नोगाम की प्रतिष्ठा के संचालक थे ज्ञानकीर्ति। ज्ञानभूषण बडसाजनों के भट्टारक माने जाने लगे और ज्ञानकीर्ति लोहड साजनों के भ० कहलाने लगे। बाद में यह भेद समाप्त हुआ और भ० ज्ञान भूषण ने भुवन कीर्ति को गुरु मानना स्वीकार किया।

भ० ज्ञान भूषण अपने समय के अच्छे प्रतिभा सम्पन्न भट्टारक थे। डा० कस्तूरचन्द कासली वाल ने द्वितीय ज्ञानभूषण की रचनाओं को प्रथम ज्ञानभूषण की रचनाएँ मान लिया है। जो ठीक नहीं हैं। सिद्धान्तसार भाष्य, पोषहरास, जलगालनरास आदि रचनाएँ द्वितीय ज्ञानभूषण की हैं। जो लक्ष्मीचन्द वीरचन्द के शिष्य थे। और सूरत्त की गद्दी के संस्थापक भ० देवेन्द्र कीर्ति के परम्परा के विद्वान थे। सबसे पहले पं० नाथूराम जी प्रेमी ने सिद्धान्तसार भाष्य को प्रथम ज्ञान भूषण की कृति माना था[3]। डा० ए० एन० उपाध्याय ने कार्तिकेयाणुप्रेक्षा की प्रस्तावना पृ० ८० पर सिद्धान्तसार भाष्य को इन्हीं ज्ञान भूषण की कृति लिखा है जो ठीक नहीं जान पड़ता।

---

१. विख्यातो भुवनादि कीर्ति मुनियः श्री मूलसंघेऽभवत्।
तत्पट्टेऽजनि बोधभूषण मुनिः स्वात्मस्वरूपे रतः।
जाता प्रीति रतीवतस्य महता कल्याणकेषु प्रभो—
स्तेनेदं विहितं ततो जिनपतेराद्यस्य तद्वर्णणं॥ आदिनाथ फाग प्र०

२. शुभ चन्द्र गुर्वावली

३. देखो, राजस्थान के जैन संत, पृ० ५४-५५

४. देखो, सिद्धान्तसारादि संग्रह की भूमिका पृ० ६

रचनाएँ

प्रथम ज्ञानभूषण की निम्न रचनाएँ उपलब्ध हैं—पूजाष्टक टीका, तत्वज्ञानतरंगिणी स्वोपज्ञवृत्ति सहित आदिनाथ फाग, नेमिनिर्वाण पंजिका, परमार्थदेश, सरस्वती स्तवन।

इन सब रचनाओं में पूजाष्टक टीका सबसे पहली कृति जान पड़ती है; क्योंकि कवि ने उसे मुनि अवस्था में वि० सं० १५२८ में डूंगरपुर के आदिनाथ चैत्यालय में बनाकर समाप्त की थी।

यह ज्ञानभूषण की स्वयं रचित पूजाओं की स्वोपज्ञ टीका है। यह दश अधिकारों में विभाजित है। इसकी एक लिखित प्रति सम्भवनाथ मन्दिर उदयपुर के शास्त्र भण्डार में उपलब्ध है। उसमें पूजाष्टक टीका का नाम 'विद्वज्जन-वल्लभा' बतलाया है[1]।

तत्वज्ञानतरंगिणी स्वोपज्ञटीका सहित

यह ग्रन्थ १८ अध्यायों में विभक्त हैं। इसमें शुद्ध चिद्रूप का अच्छा कथन दिया हुआ है। ग्रन्थ अध्यात्म रस से सराबोर है। ग्रन्थ रोचक और मुमुक्षुओं के लिये उपयोगी हैं। इस ग्रन्थ की रचना कवि ने उस समय की है जब वे भट्टारक पद से निःशल्य हो गये थे। उस समय ध्यान और अध्ययन दो ही कार्य मुख्य रह गये थे। यह ग्रंथ हिन्दी अर्थ के साथ प्रकाशित हो चुका है। पाठकों की जानकारी के लिये उसके कुछ पद्य हिन्दी भावार्थ के साथ दिये जाते हैं—

स्वकीये शुद्धचिन्द्रूपे रुचिर्या निश्चयेन तत्।
सद्दर्शनं मतं तज्ज्ञैः कर्मेन्धन हुताशनम् ॥८-१२

जिसकी शुद्ध चिद्रूप में रुचि होती है उसे तत्वज्ञानियों ने निश्चय सम्यग्दर्शन बतलाया है, वह सम्यग्दर्शन कर्म ईंधन के जलाने के लिये अग्नि के समान है।

मैं शुभ चैतन्य स्वरूप हूं ऐसा स्मरण करते ही शुभाशुभ कर्म न जाने कहाँ चले जाते हैं। चेतन अचेतन परि-ग्रह और रागादि बिकार हो विलीन हो जाते हैं। यह मैं नहीं जानता।

क्व यांति कर्माणि शुभा शुभानि क्व यांति संगाश्चिदचित्स्वरूपः।
क्व यान्ति रागादय एव शुद्ध चिद्रूपकोहं स्मरणे न विद्मः ॥८-२

इस शुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति के लिए ज्ञानी जन निस्पृह होकर सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर एकान्त पर्वतों की गुफाओं में निवास करते हैं।

संगं विमुच्य विजने वसंति गिरि गह्वरे।
शुद्ध चिद्रूप सम्प्राप्त्यै ज्ञानिनोऽन्यत्र निःस्पृहा ॥५-३

हे आत्मन्! तू उस शुद्ध चिद्रूप का स्मरण कर, जिसके स्मरणमात्र से शीघ्र ही कर्म नष्ट हो जाते हैं।

तं चिद्रूपं निजात्मानं स्मर शुद्धं प्रतिक्षणं।
यस्य स्मरण मात्रेण सद्यः कर्मक्षयो भवेत् ॥१३-२

कवि ने तत्वज्ञान तरगिणी की रचना सं० १५६० (सन् १५०३) में बनाकर समाप्त की है।

आदिनाथ फाग

यह ग्रन्थ ५९१ श्लोकों की संख्या को लिए हुए है, जिसमें २२९ पद्य संस्कृत भाषा के हैं और २६२ पद्य हिन्दी भाषा के हैं। इन सब को मिला कर ग्रन्थ की ५९१ श्लोक प्रमाण संख्या आती है।

सर्व्वामिव नवोन षट्शहमितान (५९१) श्लोकान्विवुध्याऽन्नवे।
शुद्धं ये सुधियः पठन्ति सबहं ते पाठयन्त्वादरात् ॥"

---

१. इति भट्टारक श्री भुवनकीर्ति शिष्य मुनि ज्ञानभूषण विरचितायां स्वकृताष्टक दशक टीकायां बिद्वज्जन वल्लभा संज्ञायां नन्दीश्वर द्वीपजिनालयार्चन वर्णनीय नामा दशमोऽधिकारः ॥

इसमें भगवान आदि नाथ की जीवन गाथा अंकित है। उनके जन्म, जन्माभिषेक, बाल्य लीला राज्य पद और तपस्वी जीवन का सुन्दर एवं संक्षिप्त परिचय दिया है। हिन्दी पद्यों में जिन पर गुजराती भाषा का प्रभाव अंकित है, उन्ही संस्कृत पद्यों का भाव दिया हुआ है।

डा० प्रेमसागर ने हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि में इस ग्रन्थ का रचना काल सं० १५५१ दिया है, जो किसी भूल का परिणाम है। उन्होंने ५६१ पद्य संख्या को फुटनोट में दिया है। वह निर्माण सूचक पद्य नहीं है, किन्तु पद्य संख्या की सूचना देता है। यदि प्रति में उसका रचना काल उन्हें मिला है तो उसका प्रमाण देना चाहिए था, पर नहीं दिया, यह रचना समय गलत है।

नेमि निर्वाण पंजिका

इसमें वाग्भट के नेमि निर्वाण महाकाव्य के विषम पदों का अर्थ स्पष्ट किया है। कहीं-कहीं यमक आदि के गूढ स्थलो के उद्घाटन करने का भी प्रयत्न किया है। पंजिका उपयोगी है उसका मगल पद्य निम्न प्रकार है :—

धृत्वा नेमीश्वरं चित्ते लब्धानन्तचतुष्टयं।
कुर्वेहं नेमिनिर्वाण महाकाव्यस्य पंजिका॥

श्री नाभिसूनोः युगादिदेवस्य प्रथयंतु विस्तारयंतु। समं युगपत्। विस्तृताः, अधः पतिताः, मणीयितं मणिभिरिव चरितं। यैः पदपद्मयुग्मनखैः।

इति भट्टारक श्री ज्ञानभूषण विरचितायां महाकाव्य पंजिकायां प्रथम सर्गः॥१॥

नेमि निर्वाण के सातवें सर्ग में रैवतक (गिरनार) पर्वत का बड़ा सुन्दर वर्णन आर्या, विद्युमाला आदि ४४ छन्दों में किया है जिस श्लोक में छन्द का प्रयोग किया है उसका नाम भी पद्य में अकित है। ज्ञान भूषण ने द्वयर्थक पद्यों के अर्थ को स्पष्ट किया है:—

मुनिगण सेव्या गुरुणा मुक्तार्या जयति सा मुत्र।
चरणमतमखिलमेव स्फुरतितरां लक्षणं यस्याः॥७-२

इसकी पंजिका निम्न प्रकार है:—

"'मुनिगण सेव्या मुनिगणो भदन्तसमूहः सेव्यो लक्षणया पूज्यो नमस्करणीयो वयस्याः स तथोक्ताः, पक्षे सप्तगण सेव्या। गुरुणा गुरु दीक्षा गुरुः शिक्षा गुरुर्वरतेन, पक्षे एकेन दीर्घाक्षरेण। आर्या, आर्यिका, पक्षे आर्या नाम छन्दः। अमुत्र अत्र रैवतकाचले पक्षे अस्मिन्सर्गे। चरणगतेहे चारित्राश्रितम् पक्षे पादाश्रितम्। यस्याः आर्यिकायाः पक्षे आर्यस्याः॥"

दिल्ली धर्मपुरा मंदिर के शास्त्र भंडार में इस पंजिका की प्रति उपलब्ध है।

परमार्थोपदेश—यह ग्रन्थ सूचियों में दर्ज है। पर मैने उसे देखा नहीं है, इसलिये उसका परिचय शक्य नहीं है। सरस्वती स्तवन—छोटा सा स्तोत्र है, जिसमें सरस्वती का स्तवन किया है, यह स्तोत्र अनेकान्त में प्रकाशित हो चुका है। आत्म-सम्बोधन नाम का ग्रन्थ भी बताया जाता है, पर उसके देखे बिना उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता।

इन्हीं ज्ञानभूषण के उपदेश से नागचन्द्रसूरि ने विषापहार और एकीभाव स्तोत्र की टीका की है। इनका समय १५२० से १५६० तक है। इसके बाद इनका कोइ विशेष परिचय मुझे ज्ञात नही होसका। इनकी मृत्यु कहां और कब हुई यह भी ज्ञात नहीं हो सका।

कवि दामोदर

यह मूलसंघ सरस्वति गच्छ और बलात्कार गण के भट्टारक प्रभाचन्द्र, पद्मनन्दी, शुभचन्द्र और जिन चन्द्र के शिष्य थे। भट्टारक जिनचन्द्र दिल्ली पट्ट के पट्टधर थे। उस समय के प्रभावशाली भट्टारक थे, प्राकृत संस्कृत के विद्वान और प्रतिष्ठाचार्य थे। आपके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियां भारत के प्रायः सभी मन्दिरो में पाई

जाती हैं। यह सं० १५०७ में भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित हुए थे और पट्टावली के अनुसार उस पर ६२ वर्ष तक अवस्थित होना लिखा है। इनके अनेक शिष्य थे, उनमें पंडित मेधावी और कवि दामोदर आदि हैं। कवि दामोदर की इस समय दो कृतियाँ प्राप्त हैं—सिरिपाल चरिउ और चन्दप्पहचरिउ। इन ग्रन्थों की प्रशस्ति में कवि ने अपना कोई परिचय अंकित नहीं किया।

सिरिपाल चरिउ

इस ग्रन्थ में चार संधियाँ हैं। जिनमें सिद्धचक्र के माहात्म्य का उल्लेख करते हुए उसका फल प्राप्त करने वाले राजा श्रीपाल और मैनासुन्दरी का जीवन-परिचय दिया हुआ है। सिद्धचक्रव्रत के माहात्म्य से श्रीपाल का और उनके सात सौ साथियों का कुष्ठ रोग दूर हुआ था। ग्रन्थ में रचना समय नहीं दिया, इससे उसका निश्चित समय बतलाना कठिन है।

चंदप्पह चरिउ

यह ग्रंथ नागौर के शास्त्रभंडार में उपलब्ध है, पर ग्रन्थ देखने को अभी तक प्राप्त नहीं हो सका. इस कारण यहां उसका परिचय नहीं दिया जा सका। ग्रन्थ में आठवें तीर्थंकर की जीवन-गाथा अंकित की गई है। कवि का समय विक्रम की १६वीं शताब्दी है। कवि की अन्य क्या कृतियां है, यह अन्वेषणीय है।

नागचन्द्र

यह मूलसंघ देशीयगण पुस्तक गच्छ—पनसोगे के जो तुलु या तौलवदेश में था, भट्टारक ललितकीर्ति के अग्र शिष्य और देवचन्द मुनीन्द्र के शिष्य थे[1]। कर्णाटक के विप्रकुल में उत्पन्न हुए थे। इनका गोत्र श्रीवत्स था, पार्श्वनाथ और गुमटाम्बा के पुत्र थे। इन्हों ने धनजय कविकृत विषापहारस्तोत्र की संस्कृत टीका की प्रशस्ति में अपने को प्रवादिगज केशरी और नागचन्द्र सूरि प्रकट किया है। विषापहारस्तोत्र टीका बागड देश के मण्डलाचार्य ज्ञानभूषण के अनुरोध से बनाई है—

"बागड देश मंडलाचार्य ज्ञानभूषण देवैर्मुहुर्मुहुरुपरुद्धः कार्णादिराजसभे प्रसिद्धः प्रवादिगज केशरी विरुद कविमद विदारी सद्दर्शन ज्ञानधारी नागचन्द्रसूरिर्भर्धनंजयसूरिभिहिमार्थ व्यक्तीकर्तुं शक्नुवन्नपि गुरुवचन मलंघनीयमिति न्यायेन तदभिप्रायं विवरीतुं प्रतिजानीते।" (विषा० स्तोत्र पु० वाक्य)

यह जैन धर्मानुयायी थे। इन्होंने ललितकीर्ति के शिष्य देवचन्द्र मुनीन्द्र का भी उल्लेख किया है:—

इथ महंन्मत क्षीर पारावार पार्वण शशांकस्य मूलसंघ देशीय गण पुस्तक गच्छ यनशोकावलो तिलकालंकारस्य तौलवदेश पवित्रीकरणप्रबल श्रीललितकीर्ति भट्टारकस्याग्रशिष्य गुण वहण पोषण सकल शास्त्राध्ययन प्रतिष्ठा यात्राद्युपदेशानून धर्मप्रभावना धुरीण देवचन्द्र मुनीन्द्र चरण नख किरण चंद्रिका चकोरायमाणेन कर्णाट विप्रकुलोत्तंस श्रीवत्सगोत्र पवित्र पार्श्वनाथ गुमटाम्बातनुजेन प्रवादिगजकेशरिणा नागचन्द्रसूरिणा विषापहार स्तोत्रस्य कृता व्याख्या कल्पांत तत्त्व बोधायेति भद्रं।"

विषापहार स्तोत्र की यह टीका उपलब्ध टीकाओं में सबसे अच्छी है। स्तोत्र के प्रत्येक पद्य का अर्थ स्पष्ट किया है। कहा जाता है कि इन्होंने पंच स्तोत्रों पर टीका लिखी है। किन्तु वह मुझे उपलब्ध नहीं हुई। हां

१. भट्टारक ललित कीर्ति काव्य न्याय व्याकरणादि शास्त्रो के अच्छे विद्वान एवं प्रभावशाली भट्टारक थे। उनके शिष्य थे कल्याण कीर्ति, देवकीर्ति और नागचन्द्र आदि। इन्होंने कारकल में भैररस राजा वीरपाण्ड्य द्वारा निर्मापित ४१ फुट ५ इंच उत्तुंग बाहुबली की विशाल मूर्ति की प्रतिष्ठा शक सं० १३५३ (वि० सं० १४८८) में स्थिर लग्न में कराई थी। इनके बाद कारकल की इस भट्टारकीय गद्दी पर जो भी भट्टारक प्रतिष्ठित होता रहा वह ललित कीर्ति नाम से उल्लेखित किया जाता है।

एकीभावस्तोत्र' की टीका जरूर उपलब्ध हुई है, उसकी कापी जयपुर के भंडार की प्रति पर से मैंने सन् ४४ में की थी जो मेरे पास है। उसकी उत्थानिका में लिखा है भट्टारक ज्ञानभूषण के उपरोध से मैंने यह टीका भव्यों के शीघ्र सुख बोध के लिये छायामात्र लिखी है।

'चास्याति गहन गंभीरस्य सुखावबोधार्थं भव्याशुजिप्टक्षापारतंत्रैज्ञानभूषण भट्टारकैरुपरुद्धो नागचन्द्र सूरि यथाशक्ति छायामात्रमिदं निबंधनमभिधत्ते।'

इन टीकाओं के अतिरिक्त नागचन्द्र की अन्य किसी कृति का उल्लेख मेरे देखने में नहीं आया। इनका समय १६वीं शताब्दी है। क्योंकि नागचन्द्र ने भ० ज्ञानभूषण का उल्लेख किया है, और ज्ञानभूषण ने सं० १५६० में तत्त्वज्ञानतरंगिणी की टीका समाप्त की है। अतएव नागचन्द्र का समय भी १६वीं शताब्दी सुनिश्चित है।

अभिनव समन्तभद्र

अभिनव समन्तभद्र मुनि के उपदेश से योजन-श्रेष्ठी के बनवाये हुए नेमीश्वर चैत्यालय के सामने कांसी का एक मानस्तम्भ स्थापित हुआ था। जिसका उल्लेख शिमोगा जिलान्तर्गत नगर ताल्लुके के शिलालेख नं०५५ में मिलता है[1]। यह शिलालेख तुलु, कोंकण आदि देशों के राजा देवराय के समय का है, और इस कारण मि० डेविस राइस साहब ने इनका समय ई० सन् १५६० के करीब बतलाया है।

भट्टारक गुणभद्र

गुणभद्र नाम के अनेक विद्वान हो गए हैं। परन्तु यह उनसे भिन्न जान पड़ते हैं। यह काष्ठासघ माथुरान्वय के भट्टारक मलय कीर्ति के शिष्य और भ० यशःकीर्ति के प्रशिष्य थे। और मलयकीर्ति के बाद उनके पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए थे। यह प्रतिष्ठाचार्य भी थे, इनके द्वारा अनेक मूर्तियों की प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई है। इन्होंने अपने विहार द्वारा जिनधर्म का उपदेश देकर जनता को धर्म में स्थिर किया है, और उसके प्रचार एवं प्रसार में सहयोग दिया है। इनके उपदेश से अनेक ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ की गई हैं। इनकी बनाई हुई निम्न १५ कथाएं उपलब्ध है। १ सवणवारसि कहा २ पक्खवइ कहा ३ आयास पंचमी कहा ४ चंदायणवय कहा ५ चंदणछठ्ठी कहा ६ दुग्धारस कहा, ७ णिद्दह सत्तमी कहा ८ मउडसत्तमी कहा ९ पुप्फंजलि कहा १० रयणत्तय कहा ११ दहलक्खणवय कहा १२ अणंतवय कहा १३ लद्धिविहाण कहा १४ सोलह कारण कहा १५ और सुयधदशमी कहा।

भ० गुणभद्र संभवतः १५०० में या उसके कुछ वर्ष बाद भ० पट्ट पर प्रतिष्ठित हो गये थे। क्योंकि सं० १५१० में प्रतिलिपि की गई समयसार की प्रशस्ति ग्वालियर के डूँगरसिंह राज्य काल में भ० गुणभद्र की आम्नाय में अग्रवाल वंशी गर्ग गोत्रीय साहु जिनदास ने लिखवाई थी। इस कवि गुणभद्र का समय विक्रम की १६वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है।

गुणभद्र ने उक्त व्रत कथाओं में व्रत का स्वरूप, उनके आचरण की विधि और फल का प्रतिपादन करते हुए व्रत की महत्ता पर अच्छा प्रकाश डाला है। आत्म-शोधन के लिए व्रतों की नितान्त आवश्यकता है; क्योंकि आत्म-शुद्धि के बिना हित साधन सम्भव नहीं है। इन कथाओं में से श्रावण द्वादशी कथा और लब्धि विधान कथा ये दो कथाएं ग्वालियर निवासी संघपति साहू उद्धरण के जिनमन्दिर में निवास करते हुए साहु सारंगदेव के पुत्र देवदास की प्रेरणा से रची गई है। और दशलक्षण व्रतकथा, अनन्त व्रत कथा और पुष्पांजलि व्रतकथा ये तीनों कथाएं जैसवालवंशी चौधरी लक्ष्मणसिंह के पुत्र पण्डित भीमसेन के अनुरोध से बनाई हैं। और नरक उतारी दुद्धारस कथा बीधू के पुत्र सहणपाल के लिए बनाई गई। शेष ९ कथाएं कवि ने किसकी प्रेरणा से बनाई, यह कुछ ज्ञात नहीं हो सका। वे धार्मिक भावना से प्रेरित हो रची गई जान पड़ती हैं। कवि की अन्य क्या रचनाएँ है यह अन्वेषणीय है।

ब्रह्म श्रुतसागर

मूलसंघ सरस्वती गच्छ और बलात्कारगण के विद्वान थे। इनके गुरु का नाम विद्यानन्दि था जो भट्टारक

१. देखो, दानवीर मणिकचन्द्र पृ० ३०

पद्मनन्दि के प्रशिष्य और देवेन्द्र कीर्ति के शिष्य थे। और देवेन्द्रकीर्ति के बाद ये सूरत के पट्ट पर आसीन हुए थे। विद्यानन्दी के बाद उस पट्ट पर क्रमशः मल्लिभूषण और लक्ष्मीचन्द्र प्रतिष्ठित हुए थे। इनमें मल्लिभूषण गुरु श्रुतसागर को परम आदरणीय गुरु भाई मानते थे और इनकी प्रेरणा से श्रुतसागर ने कितने ही ग्रन्थों का निर्माण किया है। ये सब सूरत की गद्दी के भट्टारक हैं[1]। इस गद्दी की परम्परा भ० पद्मनन्दी के बाद देवेन्द्र कीर्ति से प्रारम्भ हुई जान पड़ती है। ब्रह्मश्रुतसागर भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित नहीं हुए थे, किन्तु वे जीवन पर्यन्त देश व्रती ही रहे जान पड़ते हैं।

श्रुतसागर ने ग्रन्थों के पुष्पिका वाक्यों में अपने को 'कलिकाल सर्वज्ञ, व्याकरण कमलमार्तण्ड, तार्किक शिरोमणि, परमागम प्रवीण, नवनवति महावादि विजेता आदि विशेषणों के साथ, तर्क-व्याकरण-छन्द अलंकार-सिद्धान्त और साहित्यादि शास्त्रों में निपुणमती बतलाया है जिससे उनकी प्रतिभा और विद्वत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है।

यशस्तिलक चन्द्रिका की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि श्रुतसागर ने ६६ वादियों को विजित किया था।

जहां ये विद्वान टीकाकार थे, वहाँ वे कट्टर दिगम्बर और असहिष्णु भी थे। यद्यपि अन्य विद्वानों ने भी दूसरे मतों का खण्डन एव विरोध किया है, पर उन्होंने कहीं अपशब्दों का प्रयोग नहीं किया। किन्तु श्रुतसागर ने उनका खण्डन करते हुए अप्रिय अपशब्दों का प्रयोग किया है, जो समुचित प्रतीत नहीं होते।

मूलसंघ के विद्वानों, भट्टारकों में विक्रम की १३वीं शताब्दी से आचार में शिथिलता बढ़ने लगी थी, और श्रुतसागर के समय तक तो उसमें पर्याप्त वृद्धि हो चुकी थी। इसी कारण श्रुतसागर के टीका ग्रन्थों में मूल परम्परा के विरुद्ध कतिपय बातें शिथिलाचार की पोषक उपलब्ध होती हैं, जैसे तत्त्वार्थसूत्र के 'संयम श्रुत प्रतिसेवना' आदि सूत्र की तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागरी टीका) में द्रव्य लिंगी मुनि को कम्बलादि ग्रहण करने का विधान किया है। मूल सूत्रकार का ऐसा अभिप्राय नहीं है।

समय विचार

ब्रह्मश्रुतसागर ने अपनी कृतियों में उनका रचना काल नहीं दिया जिससे यह निश्चित करना शक्य नहीं है कि उन्होंने ग्रन्थों की रचना किस क्रम से की है। पर यह निश्चयतः कहा जा सकता है कि वे विक्रम की १६वी शताब्दा के विद्वान हैं। वे सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण से लेकर तृतीय चरण के विद्वान रहे हैं। इनके गुरु भट्टारक विद्यानन्दी के वि० सं० १४६६ से १५२३ तक ऐसे मूर्तिलेख पाये जाते हैं जिनकी प्रतिष्ठा भ० विद्यानन्दी ने स्वय की है अथवा जिनमें भ० विद्यानन्दी के उपदेश से प्रतिष्ठित होने का समुल्लेख पाया जाता है[2] और मल्लि-भूषण गुरु वि० सम्वत १५४४ तक या उसके कुछ समय बाद तक पट्ट पर आसीन रहे हैं ऐसा सूरत आदि के मूर्तिलेखों से स्पष्ट जाना जाता है। इससे स्पष्ट है कि विद्यानन्दी के प्रिय शिष्य ब्रह्मश्रुतसागर का भी यही समय है। क्योंकि वह विद्यानन्दी के प्रधान शिष्य थे। दूसरा आधार उनका व्रत कथा कोष है, जिसे मैंने देहली पंचायती मन्दिर के शास्त्रभण्डार में देखा था, और उसकी आदि अन्त प्रशस्तियां भी नोट की थी। उनमें २४वीं 'पल्य-विधान कथा' की प्रशस्ति मे ईडर के राठौर राजाभानु अथवा रावभाणू जी का उल्लेख किया गया है और लिखा है कि—'भानुभूपति की भुजा रूपी तलवार के जल प्रवाह में शत्रु कुल का विस्तृत प्रभाव निमग्न हो जाता था, और उनका मंत्री हुबड कुलभूषण भोजराज था, उसकी पत्नी का नाम विनयदेवी था, जो अतीव पतिव्रता साध्वी और जिनदेव के चरण कमलो की उपासिका थी। उससे चार पुत्र उत्पन्न हुए थे, उनमें प्रथम पुत्र कर्मसिंह, जिसका शरीर भूरि रत्नगुणों से विभूषित था और दूसरा पुत्र कुलभूषण था, जो शत्रु कुल के लिए काल स्वरूप था, तीसरा

१. देखो, गुजरातीमन्दिर सूरत के मूर्तिलेख, दानवीर माणिकचन्द्र पृ० ५३,५४

२. मल्लिभूषण के द्वारा प्रतिष्ठित पद्मावती की सं० १५४४ की एक मूर्ति, जो सूरत के बड़े मन्दिर जी में विराजमान है।

पुत्र पुण्य शाली श्री घोषर, जो सघन पापरूपी गिरीन्द्र के लिए वज्र के समान था और चौथा गंगा जल के समान निर्मल मन वाला गङ्ग। इन चार पुत्रों के बाद इनकी एक बहिन भी उत्पन्न हुई थी, जिसका नाम पुतली था जो ऐसी जान पड़ती थी कि जिनवर के मुख से निकली हुई सरस्वती हो, अथवा दृढ़ सम्यक्त्व वाली रेवती हो, शील वती सीता हो और गुणरत्नराशि राजुल हो'। श्रुतसागर ने स्वयं भोजराज की इस पुत्री पुतली के साथ संघ सहित गजपन्थ और तुङ्गीगिरि आदि की यात्रा की थी। और वहां उसने नित्य पूजन की, तप किया और संघ को दान दिया था। जैसा कि उक्त प्रशस्ति के निम्न पद्यों से स्पष्ट है:—

"श्री भानुभूपति भुजासिजलप्रवाह निर्मग्नशत्रुकुलजाततत्तप्रभावः।
सद्बुद्धच हुंवह कुले बृहतील दुर्गे श्री भोजराज इति मंत्रिवरो बभूव ॥४४
भार्यास्य सा विनयदेव्यभिधासुधोपसोद्गारवाक् कमलकान्तमुखी सखीव।
लक्ष्म्याः प्रभोर्जिनवरस्य पदाब्जभृंगी साध्वी पतिव्रतगुणामणिवन्महार्घ्या ॥४५
सासूत भूरिगुणरत्नविभूषितांगं श्री कर्मसिंहमिति पुत्रमनूकरत्नं।
कालं च शत्रुकुलकालमनूनपुण्यं श्री घोषरं घनतराघगिरीन्द्र वज्रं ॥४६
गंगाजलप्रविलोच्यमनोनिकेतं तुर्यं च वर्यतरमंगजमत्र गंगं।
जाता पुरस्तदनु पुत्तलिका स्वसैषां वक्त्रेषु सज्जिनवरस्य सरस्वतीव ॥४७
सम्यक्त्वदार्ढ्यकलिता किल रेवतीव सीतेव शीलसलिलोर्क्षितभूरिभूमिः।
राजीमतीव सुभगा गुणरत्नराशिः वेला सरस्वति इवांचति पुत्तलीह ॥४८
यात्रां चकार गजपंथ गिरौ ससंघा ह्य तत्तपो विदधती सुदृढ़व्रतासा।
सच्छान्तिकं गणसमर्चनमर्हदीश नित्यार्चनं सकलसंघ सदत्त दानम् ॥४९
तुंगीगिरौ च बलभद्रमुनेः पदाब्जभृंगी तथैव सुकृतं यतिभिश्चकार।
श्री मल्लिभूषणगुरुप्रवरोपदेशाच्छास्त्रं व्यधाय यदिदं कृतिनां हृदिष्टं ॥५०

—पल्य विधान कथा प्रशस्ति

इन प्रशस्ति पद्यों में उल्लिखित भानुभूपति ईडर के राठौर वंशी राजा थे। यह राव के पूँजोजी प्रथम के पुत्र और रावनारायण दास जी के भाई थे, और उनके बाद राज्य पद पर आसीन हुए थे। इनके समय वि० सं० १५०२ में गुजरात के बादशाह मुहम्मद शाह द्वितीय ने ईडर पर चढ़ाई की थी, तब उन्होंने पहाड़ों में भागकर अपनी रक्षा की, बाद में उन्होंने सुलह कर ली थी। फारसी तबारीखों में इनका वीरराय नाम से उल्लेख किया गया है। इनके दो पुत्र थे सूरजमल्ल और भीमसिंह। रावभाण जी ने स० १५०२ से १५२२ तक राज्य किया है[1]। इनके बाद राव सूरजमल्ल जी स० १५५२ में राज्यासीन हुए थे। उक्त पल्ल विधान कथा की रचना रावभाण जी के राज्यकाल में हुई है। इससे भी श्रुतसागर का समय विक्रम की सोलहवीं शताब्दी का द्वितीय चरण निश्चित होता है।

श्रुतसागर का स्वर्गवास कब और कहाँ हुआ, उसका कोई निश्चित आधार अब तक नहीं मिला, इसी से उनके उत्तर समय की सीमा निर्धारित करना कठिन है, फिर भी सं० १५८२ से पूव तक उसकी सीमा जरूर है और जिसका आधार निम्न प्रकार है :—

श्रुतसागर ने पं० आशाधर जी के महाभिषेक पाठ पर एक टीका लिखी है जिसकी स० १५७० की लिखी हुई टीका की प्रति भ० सोनागिर के भंडार में मौजूद है। इससे यह टीका सं० १५७० से पूर्व बनी है यह टीका अभि-षक पाठ संग्रह में प्रकाशित हो चुकी है। उसकी लिपि प्रशस्ति सं० १५८२ की है[2] जिससे भ० लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य ब्रह्मज्ञानसागर के पठनार्थ आर्या विमलश्री की चेली और भ० लक्ष्मीचन्द्र द्वारा दीक्षित विनयश्री ने स्वयं लिखकर

---

१. देखो, भारत के प्राचीन राजवंश भा० ३ पृ० ४२६।

२. सं० १५८५ की लिखी हुई श्रुतसागर की षट् पाहुड टीका की एक प्रति आमेर के शास्त्र भंडार में उपलब्ध है। उसकी लिपिप्रशस्ति मेरी नोटबुक में उद्धृत है।

प्रदान की थी। इनके सिवाय, ब्रह्मनेमिदत्त ने अपने आराधना कथा कोश, श्रीपाल चरित, सुदर्शन चरित, रात्रिभोजन त्याग कथा और नेमिनाथ पुराण आदि ग्रन्थों में श्रुतसागर का आदरपूर्वक स्मरण किया हैं। इन ग्रन्थों में आराधना कथा कोश सं० १५७५ के लगभग की रचना है, और श्रीपाल चरित सं० १५८५ में रचा गया है। शेष रचनाएं इसी समय के मध्य की या आसपास के समय की जान पड़ती है।

रचनाएँ

ब्रह्म श्रुतसागर की निम्न रचनाएं उपलब्ध हैं—१. यशस्तिलक चन्द्रिका २. तत्त्वार्थ वृत्ति ३. तत्त्व त्रय प्रकाशिका, ४. जिन सहस्र नाम टीका ५. महाभिषेक टीका ६. षट् पाहुडटीका ७. सिद्धभक्ति टीका ८. सिद्ध चक्राष्टक टीका,

९ व्रत कथा कोश—ज्येष्ठ जिनवर कथा, रविव्रतकथा, सप्त परम स्थान कथा, मुकुट सप्तमी कथा, अक्षयनिधि कथा, षोडश कारण कथा, मेघमालाव्रत कथा, चन्दन षष्ठी कथा, लब्धिविधान कथा, पुरन्दर विधान कथा दशलाक्षणी व्रत कथा, पुष्पांजलि व्रत कथा, आकाश पचमी कथा, मुक्तावलि व्रत कथा, निर्दुख सप्तमी कथा, सुगंध-दशमी कथा, श्रावण द्वादशी कथा, रत्नत्रय व्रत कथा, अनन्त व्रत कथा, अशोक रोहिणी कथा, तपो लक्षण पक्ति कथा मेरु पंक्ति कथा, विमान पक्ति कथा और पल्ल विधान कथा। इन सब कथाओं के सग्रह का नाम व्रत कथा कोष है। यद्यपि इन कथाओं में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के अनुरोध एव उपदेशादि द्वारा रचे जाने का स्पष्ट उल्लेख निहित है। १० श्रीपाल चरित ११. यशोधर चरित १२. औदार्य चिन्तामणि (प्राकृत स्वोपज्ञवृत्ति युक्त व्याकरण) १३. श्रुत स्कन्ध पूजा १४. श्रीपार्श्वनाथ स्तोत्रम् १५. शान्तिनाथ स्तुतिः। पार्श्वनाथ स्तोत्र १५ पद्यात्मक है, जा अनेकान्त वर्ष १२ किरण ८ पृ० २३६ पर प्रकाशित हुआ है। यह जीरा पल्लिपुर[1] में प्रतिष्ठित पार्श्वनाथ जिन का स्तवन है। इस स्तवन में पार्श्वनाथ जिन का पूरा जीवन अकित है। इसमें पार्श्वनाथ के पिता का नाम विश्वसेन बतलाया है, जा काशी (वाराणसी) के राजा थे।

वमिष्टो विश्वसेनः शतमख रुचितः काशि वाराणसीशः।
प्राप्तेज्यो मेरु शृंगे मरकत मणि रुवपार्श्वनाथो जिनेन्द्रः।
तस्याभूस्त्वं तनूजः शत शरद्रुचितस्वापुरानंदहेतु—
भंव्यानां भाव्यमानो भवचकितधियां धर्मधुर्यो धरित्र्यां॥"९

शान्तिनाथ स्तुतिः में नौ पद्य हैं। यह स्तवन भी अनेकान्त वर्ष १२ किरण ९ पृ० २५१ में मुद्रित हुआ है। ब्रह्म श्रुतसागर की कई रचनाएँ अभी अप्रकाशित हैं जिनके प्रकाशन की व्यवस्था होनी चाहिए।

ब्रह्म नेमिदत्त

यह मूलसंघ सरस्वतीगच्छ बलात्कार गण के विद्वान मल्लिभूषण के शिष्य थे। इनके दीक्षा गुरु भ० विद्यानन्दि थे, जो सूरत गद्दी के संस्थापक भ० देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। इन्ही विद्यानन्दि के पट्ट पर प्रतिष्ठित होने वाले मल्लिभूषण गुरु थे, जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्ररूप रत्नत्रय से सुशोभित थे। और विद्यानन्दि रूप पट्ट को प्रफुल्लित करने वाले भास्कर थे[1]। मल्लिभूषण के दूसरे शिष्य भ० सिंहनन्दिगुरु थे, जो मालवा की गद्दी के भट्टारक थे। इनकी प्रार्थना (मालवादेश भट्टारक श्री सिंहनन्दि प्रार्थना) से श्रुतसागर ने यशस्तिलक चम्पू की 'चन्द्रिका' नाम की टीका लिखी थी और ब्रह्मनेमिदत्त ने नेमिनाथ पुराण भी मल्लिभूषणके उपदेश से बनाया था और वह उन्हीं के नामांकित किया गया था।

ब्रह्म नेमिदत्त के साथ मूर्ति लेख में ब्रह्म महेन्द्रदत्त नाम का और उल्लेख मिलता है। जो नेमिदत्त के सह-पाठी हो सकते हैं। ब्रह्मनेमिदत्त संस्कृत हिन्दी और गुजराती भाषा के विद्वान थे। आपकी संस्कृत भाषा को १०

१. जीरा पल्लिपुर प्रकृष्ट महियन् मौकुन्द सेवानिधे। —पार्श्वनाथ स्तवन

चनाएँ उपलब्ध हैं। वे सब ग्रन्थ चरित पुराण और कथा सम्बन्धी हैं। पूजा सम्बन्धी साहित्य भी आपका रचा हुआ होगा। अंतरीक्ष पार्श्वनाथ पूजा आपकी लिखी हुई पाई जाती है। आपका समय विक्रम की १६वीं शताब्दी का तृतीय चतुर्थ चरण है। क्योंकि इन्होंने आराधना कथाकोश सं० १५७५ और श्रीपाल चरित सं० १५८५ में बनाकर समाप्त किया है। इनका जन्मकाल सं० १५५० या १५५५ के आसपास का जान पड़ता है।

रचनाएँ

(१) आराधना कथा कोश (२) रात्रिभोजन त्याग कथा (३) सुदर्शन चरित (४) श्रीपाल चरित (५) धर्मोपदेशपीयूषवर्ष श्रावकाचार (६) नेमिनाथ पुराण (७) प्रीतिकर महामुनि चरित (८) धन्य कुमार चरित (९) नेमि-निर्माण काव्य (ईडर भंडार) (१०) और अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ पूजा। इनके अतिरिक्त हिन्दी भाषा की भी दो रचनाएँ उपलब्ध हैं। मालारोहिणी (फुल्ल माल) और आदित्य व्रतरास। इन दोनों रचनाओं का परिचय अनेकान्त वर्ष १८ किरण दो पृ० ८२ पर देखना चाहिए। नेमिदत्त के आराधना कथा कोश के अतिरिक्त अन्य रचनाएँ अभी अप्रकाशित हैं। रचनाएँ सामने नही है। अतः उनका परिचय देना शक्य नहीं है। नेमिनाथ पुराण का हिन्दी अनुवाद सूरत से प्रकाशित हुआ है। पर मूल रूप छपा हुआ मेरे अवलोकन में नहीं आया।

भ० अभिनव धर्मभूषण

धर्मभूषण नाम के अनेक विद्वान हो गये हैं। प्रस्तुत धर्मभूषण उनसे भिन्न हैं। क्योंकि इन्होने अपने को 'अभिनव' 'यति' और 'आचार्य विशेषणों के साथ उल्लेखित किया है। यह मूलसंघ में नन्दिसंघस्थ बलात्कारगण सरस्वति गच्छ के विद्वान भट्टारक वर्द्धमान के शिष्य थे[1]। विजय नगर के द्वितीय शिलालेख में उनकी गुरुपरम्परा का उल्लेख निम्न प्रकार पाया जाता है—पद्मनन्दी, धर्मभूषण, अमरकीर्ति, धर्मभूषण, वर्द्धमान, और धर्मभूषण[2]।

यह अच्छे विद्वान व्याख्याता और प्रतिभाशाली थे। इनका व्यक्तित्व महान् था। विजयनगर का राजा देवराय प्रथम, जो राजाधिराज परमेश्वर की उपाधि से विभूषित था, इनके चरण कमलों की पूजा किया करता था।

राजाधिराज परमेश्वर देवराय, भूपाल मौलिलसदंघ्रि सरोजयुग्मः।
श्रीवर्द्धमान मुनि वल्लभ मौढ्य मुख्य; श्रीधर्मभूषण सुखी जयति क्षमाढ्यः॥

दशभक्त्यादि महाशास्त्र

इस राजा देवराय प्रथम की महारानी भीमा देवी जैनधर्म की परम भक्त थी। इसने श्रवण बेलगोल की मंगायी वसदि में शान्तिनाथ की मूर्ति प्रतिष्ठित कराई थी और दान दिया था। इसका राज्य सन् १४१८ ई० तक रहा है। विजय नगर के द्वितीय शिलालेख में जो शक सं० १३०७ (सन् १३८५) का उत्कीर्ण किया हुआ है[3]। इससे इन धर्मभूषण का समय ईसा की १४वीं शताब्दी का उत्तरार्ध और १५वीं शताब्दी का पूर्वार्ध सुनिश्चित है।

इसमें सन्देह नहीं कि अभिनव धर्मभूषण अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान थे। पद्मावती देवी के शासन लेख में इन्हें बड़ा विद्वान और वक्ता प्रकट किया है। यह मुनियों और राजाओं से पूजित थे[4]।

१. "शिष्यस्तस्य गुरोरासी द्धर्मभूषण देशकः।"
भट्टारक मुनिः श्रीमान् शल्यत्रय विवर्जितः।। विजय नगर द्वि० शिलालेख।
"मदगुरो र्वर्द्धमानिशो वर्द्धमान दयानिधेः।
श्री पाद स्नेह सम्बन्धात् सिद्धेयं न्याय दीपिका॥ —न्याय दीपिका प्रशस्ति

२. विजय नगर का द्वितीय शिलालेख, जैन सि० भास्कर भा० १ किरण ४ पृ० ८६

३. प्रशस्ति संग्रह, जैनसिद्धान्तभवन आरा पृ० १२५।

४. मिडियावल जैनिज्म पृ० २९९।

न्याय दीपिका

आपकी एकमात्र कृति 'न्यायदीपिका' है, जो अत्यन्त संक्षिप्त विशद और महत्वपूर्ण कृति है। यह जैन न्याय के प्रथम अभ्यासियों के लिये बहुत उपयोगी है। इसकी भाषा सुगम और सरल है। जिससे यह जल्दी ही विद्यार्थियों के कण्ठ का भूषण बनजाती है। श्वेताम्बरीय विद्वान उपाध्याय यशोविजय जी ने इसके अनेक स्थलों को आनुपूर्वी के साथ अपना लिया है। इसमें संक्षेप में प्रमाण और नय का स्पष्ट विवेचन किया गया है।

इसमें तीन प्रकाश या अध्याय हैं—प्रमालक्षण प्रकाश, प्रत्यक्ष प्रकाश और परोक्षप्रकाश। इनमें से प्रथम प्रकाश में उद्देशादि निर्देश के साथ प्रमाणसामान्य का लक्षण, संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय का लक्षण, इन्द्रियादि को प्रमाण न हो सकने का वर्णन, स्वतः परतः प्रमाण का निरूपण, बौद्ध भाट्ट और प्रभाकर तथा नैयायिकों के प्रमाण लक्षणादि की आलोचना और जैनमत के सम्यग्ज्ञानत्व को प्रमाणसामान्ग का निर्दोष लक्षण स्थिर किया है।

दूसरे प्रकाश में प्रत्यक्ष का स्वरूप, लक्षण, भेद-प्रभेदादि का वर्णन करते हुए अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष का समर्थन कर सर्वज्ञसिद्धि आदि का कथन किया है।

तीसरे परोक्षप्रकाश में परोक्ष का लक्षण, उसके भेद-प्रभेद साध्य-साधनादिका लक्षण, हेतु के त्रैरुप और पंचरूप का निराकरण, अनुमान भेदों का कथन, हेत्वाभासों का वर्णन तथा अन्त में आगम और नय का कथन करते हुए अनेकान्त तथा सप्तभंगी का संक्षेप में प्रतिपादन किया है।

ग्रन्थ में ग्रन्थ कर्ता ने रचना काल नहीं दिया। फिर भी विजयनगर के द्वितीय शिलालेख के अनुसार इनका समय ईसा की १४वीं-१५वीं शताब्दी है।

भ० विद्यानन्दी

मूलसंघ भारतीगच्छ और बलात्कार गण के कुन्दकुन्दान्वय में हुए थे। इन्होंने अपनी पट्ट परम्परा का उल्लेख निम्न प्रकार किया है—प्रभाचन्द्र, पद्मनन्दी, देवेन्द्रकीर्ति और विद्यानन्दि।

श्रीमूलसङ्घे वर भारतीये गच्छे बलात्कारगणेऽतिरम्ये।
श्रीकुन्दकुन्दाख्य मुनीन्द्र पट्टे जातः प्रभाचन्द्र महामुनीन्द्रः ॥ ४७
पट्टे तदीये मुनिपद्मनन्दी भट्टारको भव्यसरोजभानुः।
जातो जगत्त्रयहितो गुणरत्न सिन्धुः कुर्यात् सतां सार सुखं यतीशः ।४८
तत्पट्टपद्माकरभास्करोऽत्र देवेन्द्रकीर्तिर्मुनिचक्रवर्ती।
तत्पाद पङ्कज सुभक्तियुक्तो विद्यादिनन्दी चरितं चकार ॥४९

—सुदर्शन चरित प्रशस्ति

इनके गुरु भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति थे, जो सूरत की गद्दी के पट्टधर थे। भट्टारक पद्मनन्दी का समय सं०-१३८५ से १४५० तक पाया जाता है। सम्भवतः सूरत की पट्ट-शाखा का प्रारम्भ इन्हीं देवेन्द्रकीर्ति ने किया है। इन्हीं के पट्ट शिष्य विद्यानन्दी थे। सूरत के सं० १४९९ के धातु प्रतिमा लेख से जो चौबीसी मूर्ति के पादपीठ पर अंकित है, उसकी प्रतिष्ठा विद्यानन्दी गुरु के आदेश से हुई थी। सं० १४९९ से १५२१ तक की मूर्तियों के लेखों से स्पष्ट है कि वे विद्यानन्दी गुरु के उपदेश से प्रतिष्ठित हुई हैं[1]।

विद्यानन्दी के गृहस्थ जीवन का कोई परिचय मेरे अवलोकन में नहीं आया। सं० १५१३ के मूर्तिलेख से

१. सं० १४९९ वर्षे वैशाख सुदी १० बुधे श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे मुनि देवेन्द्रकीर्ति तत्शिष्य श्री विद्यानन्दी देवा उपदेशात् श्री हुबडवंश शाह खेता भार्या रूडी एतेषां मध्ये राजा भग्नी रानी श्रेया चतुर्विंशतिका कारापिता। (सूरत, दा० मा० पृ० ५५

स्पष्ट है कि वे भ० देवेन्द्र कीर्ति के द्वारा दीक्षित थे[1]। इन्होंने अनेक मूर्तियों की प्रतिष्ठा की और करवाई।

इनका कार्य सं० १४९९ से १५३८ तक पाया जाता है। पट्टावली के अनुसार इन्होंने सम्मेदशिखर, चम्पा, पावा, ऊर्जयन्तगिरि (गिरनार) आदि सिद्ध क्षेत्रों की यात्रा की थी। ये अनेक राजाओं से—वज्रांग, गंगजय सिंह, व्याघ्रनरेन्द्र आदि से सम्मानित थे। इन्हें डा० हीरालाल जी ने अष्ट शाखा प्राग्वाट वंश, परवारवंश का बतलाया है। इनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ हूमडवंशी श्रावकों की अधिक पाई जाती है[2]।

भ० विद्यानन्दी के अनेक शिष्य थे—ब्रह्म श्रुतसागर, मल्लिभूषण, ब्रह्म अजित, ब्रह्म छाहड, ब्रह्म धर्मपाल आदि। श्रुतसागर ने अनेक ग्रन्थों की रचना की, उन्होंने अपने गुरु का आदरपूर्वक स्मरण किया है। मल्लिभूषण इनके पट्टधर शिष्य थे। ब्रह्मअजित ने भडौंच में हनुमान चरित की रचना की। ब्रह्म छाहड ने सं० १५९१ में भडौंच में धनकुमार चरित की प्रति लिखी। और ब्रह्म धर्मपाल ने स० १५०५ में एक मूर्ति स्थापित की थी[3]।

इनकी दो कृतियों का उल्लेख मिलता है—सुदर्शन चरित और सुकुमाल चरित।

सुदर्शन चरित—यह संस्कृत भाषा में लिखा गया एक चरित ग्रन्थ है जो १२ अधिकारों में विभक्त है, और जिसकी श्लोक संख्या १३६२ है। प्रस्तुत ग्रन्थ में सुदर्शन मुनि के चरित के माध्यम से णमोकार मंत्र का माहात्म्य प्रदर्शित किया गया है। मुनि सुदर्शन तीर्थकर महावीर के पांचवें अन्तकृत् केवली माने गये हैं। इनकी सबसे बड़ी विशेषता है कि इन्होंने घोर तपस्या करते हुए नाना उपसर्गों को सह कर उसी भव में केवलज्ञान प्राप्त कर स्वात्म लब्धि को प्राप्त किया है।

ग्रन्थ में सुदर्शन मुनि के पांच भवों का वर्णन सरल संस्कृत पद्यों में किया गया है। णमोकार मन्त्र के प्रभाव से बालक गोपाल ने सेठ सुदर्शन के रूप में जन्म लिया, खूब वैभव मिला, किन्तु उसका उदासीन भाव से उपभोग किया। घोर यातनाएं सहनी पड़ीं, पर उनका मन भोग विलास में न रमा, और न परीषह उपसर्गों से भी रंचमात्र विचलित हुए। आत्म संयम के उच्चादर्श रूप में वीतरागता और सर्वज्ञता प्राप्त कर अन्त में शिवरमणी को वरण किया। सेठ सुदर्शन की यह पावन जीवन-गाथा प्राकृत संस्कृत और अपभ्रंश के ग्रन्थों में अंकित की गई है।

दूसरी रचना सुकुमाल चरित्र को मुमुक्षु विद्यानन्दी की कृति बतलाया है, देखो, टोडारायसिंह भण्डार सूची, जैन सन्देश शोधांक १० पृ० ३५६। ग्रन्थ सामने न होने से इसके सम्बन्ध में कुछ लिखना सम्भव नहीं है। इनका समय विक्रम की १६वीं शताब्दी है।

भट्टारक श्रुतकीर्ति

श्रुतकीर्ति नन्दि संघ बलात्कारगण सरस्वती गच्छ के विद्वान थे। यह भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के प्रशिष्य और त्रिभुवन कीर्ति के शिष्य थे। ग्रन्थकर्ता ने भ० देवेन्द्रकीर्ति को मृदुभाषी और अपने गुरु त्रिभुवनकीर्ति को अमृत वाणी रूप सद्गुणों के धारक बतलाया है। श्रुतकीर्ति ने अपनी लघुता व्यक्त करते हुए अपने को अल्प बुद्धि बतलाया है। कवि की उक्त सभी रचनाएं वि० सं० १५५२ और १५५३ में रची गई हैं और वे सब रचनाएं मांडवगढ़ (वर्तमान मांडू) के सुलतान गयासुद्दीन के राज्य में दमोवा देश के जेरहट नगर के नेमिनाथ मन्दिर में रची गई हैं।

इतिहास से प्रकट है कि सन् १४०६ में मालवा के सूबेदार दिलावर खां को उसके पुत्र अलफ खां ने विष देकर मार डाला था, और मालवा को स्वतन्त्र उद्घोषित कर स्वयं राजा बन बैठा था। उसकी उपाधि हुशंगसाह

१. सं० १५१३ वर्षे वैशाखसुदी १० बुधे श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे भ० श्रीप्रभाचन्द्रदेवाः तत्पट्टे भ० पद्मनन्दी तत्शिष्य श्री देवेन्द्रकीर्ति दीक्षिकार्यं श्री विद्यानन्दी गुरूपदेशात् गांधार वास्तव्य हुबड ज्ञातीय समस्त श्री संघेन कारापित मेरुशिखरा कल्याण भूयात्। (सूरत दा० मा० पृ० ४३)

२. जैन सि० भा० १० पृ० ५१

३. भट्टारक सम्प्रदाय पृ० १९

थी। इसने मांडवगढ़ को खूब मजबूत बनाकर उसे ही अपनी राजधानी बनाई थी। उसी के वंश में गयासुद्दीन, हुआ, जिसने मांडवगढ़ से मालवा का राज्य सं० १५२६ से १५५७ अर्थात् सन् १४६९ से १५०० ई० तक किया है[1]। इसके पुत्र का नाम नसीरशाह था, और इसके मन्त्री का नाम पुंजराज था जो वणिक और वैष्णव धर्मानुयायी था, संस्कृत भाषा का अच्छा विद्वान कवि और राजनीति में चतुर था। जैन धर्म तथा जैन विद्वानों से प्रेम रखता था।

भट्टारक श्रुतकीति की तीन कृतियां पूर्ण और चौथी कृति अपूर्णरूप में उपलब्ध है। हरिवंशपुराण परमेष्ठी प्रकाशसार और जोगसार। चौथी कृति का नाम 'धर्म परीक्षा है, जो डा० हीरालाल जी एम० ए० डी० लिट् को प्राप्त हुई है।

हरिवंशपुराण

इसमें ४७ सन्धियां है जिनमें २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ का जीवन-परिचय अंकित किया गया है। प्रसंग वश उसमें श्रीकृष्ण आदि यदुवशियों का सक्षिप्त जीवन चरित्र भी दिया हुआ है।

इस ग्रन्थ की दो प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं। एक प्रति जैन सिद्धान्त भवन आरा में हैं, और दूसरी आमेर के भट्टारक महेन्द्र कीर्ति के शास्त्र भण्डार में उपलब्ध है, जो सम्वत् १६०७ की लिखी हुई है और जिसका रचना काल सम्वत् १५५२ हैं[2]। जो जेरहट नेमिनाथ मन्दिर मे गयासुद्दीन के राज्य काल म रचा गया है। आरा की प्रति सं० १५५३ की लिखी हुई है और जिसमें ग्रन्थ के पूरा होने का निर्देश है, जो मण्डपाचल (मांडू) दुर्ग के शासक गयासुद्दीन के राज्य काल में दमोवा देश के जेरहट नगर के महाखान और भोजखान के समय लिखी गई है[3]। ये महाखान भोजखान जेरहट नगर के सूबेदार जान पड़ते है। वर्तमान मे जेरहट नाम का एक नगर दमोह के अन्तर्गत है। दमोह पहले जिला रह चुका है। बहुत सम्भव है कि दमोह उस समय मालव राज मे शामिल हो। कवि ने इस ग्रन्थ की प्रशस्ति मे अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख निम्न प्रकार किया है—नन्दिसघ बलात्कारगण, वागेश्वरी (सरस्वती) गच्छ में, प्रभाचन्द्र, पद्मनन्दी शुभचन्द्र, जिनचन्द्र, विद्यानन्दि, पद्मनन्दि (द्वितीय), देवेन्द्र कीति (द्वितीय), त्रिभुवन कीर्ति, श्रुतकीर्ति।

परमेष्ठी प्रकाशसार

इस ग्रन्थ की एकमात्र प्रति आमेर ज्ञानभण्डार में उपलब्ध हुई है जिसके आदि के दो पत्र और अन्त का एक पत्र नहीं है, पत्र सख्या २८८ है। ग्रन्थ में सात परिच्छेद या अध्याय हैं जिनकी श्लोक सख्या तीन हजार के प्रमाण को लिए हुए है। ग्रन्थ का प्रमुख विषय धर्मोपदेश है, इसमें सृष्टि और जीवादि तत्वों का सुन्दर विवेचन कडवक और घता शैली में किया गया है। कवि ने इस ग्रन्थ को भी उक्त माडवगढ़ के जेरहट नगर के प्रसिद्ध नेमीश्वर जिनालय मे बनाया है। उस समय वहां गयासुद्दीन का राज्य था और उसका पुत्र नसीरशाह राज्य कार्य में अनु-

१. See Combridge Shorter History of india P.309

२. संवतु विक्कम सेण णरेसइं, सहसु पंचसय बावणसेसइं।
मडवगडु बर मालवदेसइं, साहि गयासु पयावअसेसइं।
णयर जेरहट जिणिहर चंगउ, णेमिणाह जिणबिंब अभंगउ। —जैन ग्रन्थ प्रश० भा० २ पृ०

३. सं० १५५३ वर्षे ववार वदि द्वजसुदि (द्वीतीय) गुरौ दिने अद्येह मण्डपाचलगढ़ दुर्गे सुलतान गयासुद्दीन राज्ये प्रवर्तमाने श्री दमोवादेशे महाखान भोजखान प्रवर्तमाने जेरहट स्थाने सोनी श्री ईसुर प्रवर्तमाने श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्री पद्मनन्दि देवतस्य शिष्य मण्डलाचार्य देविंदकीर्तिदेव तच्छिष्य मण्डलाचार्य श्री त्रिभुवनकीर्ति देवान् तस्य शिष्य श्रुतकीर्ति हरिवंश पुराणे (णे) परिपूर्ण कृतम् ....।"
—आरा प्रति

राग रखता था। पुंजराज नाम का एक वणिक उसका मन्त्री था। ईश्वर दास नाम के सज्जन उस समय प्रसिद्ध थे। जिनके पास विदेशों से वस्त्राभूषण आते थे, जयसिंह, संघवी शंकर और संघपति नेमिदास उक्त अर्थ के ज्ञायक थे। अन्य साधर्मी भाइयों ने भी इसकी अनुमोदना की थी और हरिवंशपुराणादि ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ कराई थी। प्रस्तुत ग्रन्थ विक्रम सं० १५५३ के श्रावण महीने की पंचमी गुरुवार के दिन समाप्त हुआ था।

जोगसार

प्रस्तुत ग्रन्थ दो संधियों या परिच्छेदों में विभक्त है जिनमें गृहस्थोपयोगी आचार सम्बन्धी सैद्धान्तिक बातों पर प्रकाश डाला गया है। साथ में कुछ मुनि चर्या आदि के सम्बन्ध में भी लिखा गया है।

ग्रन्थ के अन्तिम भाग में भगवान महावीर के बाद के कुछ आचार्यों की गुरु परम्परा के उल्लेख के साथ कुछ ग्रन्थकारों की रचनाओं का भो उल्लेख किया गया है, और उससे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि भट्टारक श्रुत कीर्ति इतिहास से प्राय: अनभिज्ञ थे और उसे जानने का उन्हें कोई साधन भी उपलब्ध न था, जितना कि आज उपलब्ध है। दिगम्बर श्वेताम्बर संघभेद के साथ आपुलीय (यापनीय) संघ मिल्ल और नि:पिच्छक संघ का नामोल्लेल किया गया है। और उज्जैनी में भद्रबाहु से सम्राट चन्द्रगुप्त की दीक्षा लेने का भी उल्लेख है। ग्रन्थकार संकीर्ण मनोवृत्ति को लिए था, वह जैनधर्म की उस उदार परिणति से भी अनभिज्ञ था, इसीसे उन्होंने लिखा है कि—'जो आचार्य शूद्रपुत्र और नोकर वगैरह को व्रत देता है वह निगोद में जाता है और अनन्त काल तक दुःख भोगता है'[1]। प्रस्तुत ग्रन्थ सं० १५५२ में मार्गशिर महीने के शुक्ल पक्ष में रचा गया है[2]। इसकी अन्तिम प्रशस्ति में 'धर्म परीक्षा' ग्रन्थ का उल्लेख किया है, जिससे वह इससे पूर्व रची गई हैं।

कवि की चौथी कृति 'धम्म परिक्खा' धर्मपरीक्षा है। जिसकी एक अपूर्ण प्रति डा० हीरालाल जी एम० ए० डी० लिट्को प्राप्त हुई थी। उसमें १७६ कडवक है, उसे सम्वत् १५५२ में बना कर समाप्त किया था। जिस का परिचय उन्होंने 'अनेकान्त' वर्ष १२ किरण दो में दिया था। इन चारों ग्रथों के अतिरिक्त कवि की अन्य भी कृतियां होंगी, जिनका अन्वेषण करना आवश्यक है।

कवि माणिक्यराज

यह जैसवाल कुलरूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिये तरणि (सूर्य) थे। इनके पिता का नाम 'बुधसूरा' था और माता का नाम 'दीवा' था[3]। कवि ने अमरसेन चरित में अपनी गुरु परम्परा निम्न प्रकार दी है—क्षेमकीर्ति, हेमकीर्ति, कुमारसेन, हेमचन्द्र और पद्मनन्दी। ये सब भट्टारक मूलसंघ के अनुयायी थे। कवि के गुरु पद्मनन्दी थे, जो बड़े तपस्वी शील की खानि निर्ग्रन्थ, दयालु और अमृतवाणी थे। अमरसेन चरित की अन्तिम प्रशस्ति में कवि ने पद्मनन्दी के एक शिष्य का और उल्लेख किया है, जिनका नाम देवनन्दी था और जो श्रावक की एकादश प्रतिमाओं के सपालक, राग द्वेष के विनाशक, शुभध्यान में अनुरक्त और उपशमभावी था। कवि ने अपने गुरु का अभिनन्दन किया है।

कवि की दो रचनाएं उपलब्ध हैं। कवि ने रोहतासपुर के जिनमंदिर में निवास करते हुए ग्रन्थों की रचना की है और दोनों ग्रन्थ ही अपूर्ण हैं। उनमें प्रथम अमरसेन चरित का रचनाकाल वि० सं० १५७३ चैत्रशुक्लपंचमी

---

१. अह जो सूरि देइ वउणिच्चह, नीच-सूद-सुय दासभिच्चहं।
जाय णियोग असुहअणुहुन्जइ, अभिय कालतहं घोर दुह भुजइ। —योगसार पत्र ६५

२. विक्कम रायहु ववगइ कालइ, पण्णरह सयते बावण अहियइं।
रयउ गंथु तं जाउ सउण्णउ, पंच''''''''दासस जायउ —जोग-सार प्रशस्ति

३. "सिरि जयसवाल-कुल-कमल-तरणि,
इक्खाकु वंस महियलि वरिट्ठ,वुहसूरा णंदणु सुअ गरिट्ठ।
उघण्णउ दीवा उररवण्णु, बहुमाणिकुणामें वुहाहि मण्णु।" —नागकुमार चरित प्र०

शनिवार है[1]। और दूसरे ग्रन्थ नागकुमार चरित्र का रचनाकाल सं० १५७९ है अतः कवि विक्रम को १६वीं शताब्दी के तृतीय चरण के विद्वान हैं।

अमरसेन चरित्र

इस ग्रन्थ में सात सन्धियां या परिच्छेद हैं, जिनमें अमरसेन की जीवन गाथा दी हुई है। राजा अमरसेन धर्मनिष्ठ और संयमी था। इसने प्रजा का पुत्रवत् पालन किया था। वह देह-भोगों से उदास हो आत्म-साधना के लिये उद्यत हुआ। उसने राज्य और वस्त्राभूषण का परित्याग कर दिगम्बर दीक्षा ले ली और शरीर से भी निस्पृह हो अत्यन्त भीषण तपश्चरण किया। आत्मशोधन की दृष्टि से अनेक यातनाओं को साम्यभाव से सहा। उनकी कठोर साधना का स्मरण आते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। यह १६वीं शताब्दी का अपभ्रंश भाषा का अच्छा खण्डकाव्य है। आमेरशास्त्र भंडार की इस प्रतिका प्रथम पत्र त्रुटित है। प्रति सं० १५७७ कार्तिक वदी चतुर्थी रविवार को सुनपत में लिखी गई है। यह ग्रन्थ रोहतासपुर के अग्रवाल वन्शी सिंघल गोत्री साहु महण के पुत्र चौधरी देवराज के अनुरोध से रचा गया है और उन्ही के नामांकित किया गया है। प्रशस्ति में इनके वंश का विस्तृत परिचय दिया हुआ है।

नागकुमार चरित्र

दूसरी रचना नागकुमार चरित है। जिसमें चार सन्धियां हैं जिसकी श्लोक संख्या ३३०० के लगभग है। जिसमें नागकुमार का पावन चरित अंकित किया गया है। चरित वही है जिसे पुष्पदत्तादि कवियों ने लिखा है। उसमें कोई खास वैशिष्टय नहीं पाया जाता। ग्रन्थ की भाषा सरल और हिन्दी के विकास को लिये हुए है। इस खण्डकाव्य के भी प्रारम्भ के दो पत्र नहीं है। जिससे प्रति खण्डित हो गई है। उससे आद्य प्रशस्ति का भी कुछ भाग त्रुटित हो गया है। कवि ने यह ग्रन्थ साहू जमनी के पुत्र साहू टोडरमल की प्रेरणा से बनाया है। साहू टोडरमल का वंश इक्ष्वाकु था और कुल जायसवाल[2]। टोडरमल धर्मात्मा था वह दानपूजादि धार्मिक कार्यों में संलग्न रहता था[3]। और प्रकृतितः दयालु था। कवि ने ग्रन्थ उसी के अनुरोध से बनाया है, और उसी के नामांकन किया है। ग्रन्थ की कुछ सन्धियों में कतिपय संस्कृत के पद्य भी पाये जाते हैं, जिनमें साहू टोडरमल का खुला यशोगान किया गया है। उसे कर्ण के समान दानी, विद्वज्जनों का सम्पोषक, रूप लावण्य से युक्त और विवेकी बतलाया है।

कवि ने चौथी संधि के प्रारम्भ में साहू टोडरमल का जयघोष करते हुए लिखा है कि वह राज्य सभा में मान्य

१. विक्कम रायहु ववगय कालइं। लेसु मुणीस विसर अंकालइं !
धरणि अंकसहु चइत विमासे, सणिवारे सुय पंचमी दिवसे। —अमरसेन च० प्रश०

२. यादव या जायस वंश का इतिहास प्राचीन है। परन्तु उसके सम्बन्ध में कोई अन्वेषण नहीं हुआ। जैसा से जैसवालों की कल्पना की गई है किन्तु ग्रन्थ प्रशस्तियों में यादव, जायस आदि नाम मिलते हैं, अतः इन्हें यदुवंशियों की सन्तान बताया जाता है। उसी यदु या यादव का अपभ्रंश जादव या जायस जान पड़ता है। यदु एक क्षत्रिय राजवंश है, उसका विशाल राज्य रहा है। शौरीपुर से लेकर मथुरा और उसके आस-पास के प्रदेश उसके द्वारा शासित रहे है। यादव वंशी जरासंध के भय से शौरीपुर को छोड़कर द्वारावती (द्वारिका) में बस गये थे। श्रीकृष्ण का जन्म यदुकुल में हुआ था, और जैनियों के २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ का जन्म भी उसी कुल में हुआ था, वे कृष्ण के चचेरे भाई थे। जायस वंश में अनेक प्रतिष्ठित व्यक्ति हुए हैं। अनेक ग्रन्थकर्ता, विद्वान, श्रेष्ठी राजमान्य तथा राजमन्त्री भी रहे हैं। उनके द्वारा जिन मन्दिरों का निर्माण और प्रतिष्ठादि कार्य भी सम्पन्न हुए हैं। प्रस्तुत टोडरमल और कवि मणिक राज उसी वंश के वंशज हैं।

३. "जइसवाल कुल संपन्नः दान-पूय-परायणः।
जगसी नन्दनः श्रीमान् टोडरमल चिरं जियः॥"

था, अखण्ड प्रतापी, स्वजनों का विकासी और पुत्रों से अलंकृत था। यथा—

नृपति सदसि मान्यो यो ह्यखण्ड प्रतापः, स्वजन जनविकासी सप्ततत्त्वावभासी।
विमल गुणनिकेतो भ्रातृ पुत्रो समेतः, स जयति शिवकामः साधु टोडरुत्ति नामा ॥

कवि ने इस ग्रन्थ को पूरा कर जब साहू टोडरमल के हाथ में दिया तब उसने उसे अपने शिर पर रखकर कवि माणिक्य राज का खूब आदर सत्कार किया। उसने कवि को सुन्दर वस्त्रों के अतिरिक्त कंकण कुण्डल और मुद्रिका आदि आभूषणों से भी अलंकृत किया था। उस समय गुणी जनों का आदर होता था। किन्तु आज गुणी जनों का निरादर करने वाले तो बहुत है किन्तु गुण ग्राहक बहुत ही कम हैं; क्योंकि स्वार्थ तत्परता और अहंकार ने उसका स्थान ले लिया है। अपने स्वार्थ तथा कार्य की पूर्ति न होने पर उनके प्रति आदर की भावना उत्पन्न हो जाती है। 'गुण न हिरानो किन्तु गुण ग्राहक हिरानो' की नीति के अनुसार खेद है कि आज टोडरमल जैसे गुण ग्राहक धर्मात्मा श्रावकों की संख्या विरल है—वे थोड़े हैं। कवि ने इस ग्रन्थ की रचना विक्रम संवत् १५७९ फाल्गुन शुक्ला ९वीं के दिन पूर्ण की है[1]।

कवि तेजपाल

यह मूलसंघ के भट्टारक रत्नकीर्ति भुवनकीर्ति, धर्मकीर्ति, और विशालकीर्ति की आम्नाय का विद्वान था। वासवपुर नामक गांव में वरसावडह वंश में जाल्हड नाम के एक साहु थे। उनके पुत्र का नाम सूजउसाहु था। जो दयावंत और जिनधर्म में अनुरक्त रहता था। उसके चार पुत्र थे—रणमल, बल्लाल, ईसरु और पोल्हण। ये चारों भाई खण्डेलवाल कुल के भूषण थे। प्रस्तुत रणमल साहु के पुत्र ताल्हुय साहु हुए। उनका पुत्र कवि तेजपाल था। कवि के तीन खण्डकाव्य अपभ्रंश भाषा में रचे गए हैं, जो अभी अप्रकाशित है। कवि का समय विक्रम की सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। कवि की तीन रचनाओं के नाम संभवणाह चरिउ, वरांग चरिउ, और पासणाह चरिउ है।

१ संभवणाह चरिउ

इस ग्रन्थ में छह संधियां और १७० कडवक हैं, जिनमें जैनियों के तीसरे तीर्थंकर संभवनाथ का जीवन परिचय दिया गया है। रचना संक्षिप्त और वाह्याडंबर से रहित है। इस खण्ड काव्य में तीर्थंकर चरित को सीधे सादे शब्दों में व्यक्त किया गया है।

प्रस्तुत ग्रंथ की रचना में प्रेरक अग्रवाल वंशी साहु थील्हा है जिनका गोत्र मित्तल था, और जो श्रीप्रभनगर के निवासी थे। थील्हा साहु लखमदेव के चतुर्थ पुत्र थे। इनकी माता का नाम महादेवी था और धर्मपत्नी का नाम कोल्हाही था, दूसरी भार्या का नाम आसाही था। जिससे त्रिभुवनपाल और रणमल नाम के दो पुत्र हुए थे। साहु थील्हा के पांच भाई और थे, जिनके नाम 'खिउसी, होल्लू दिवसी मल्लिदास, और कुन्थदास हैं। ये सभी भाई धर्मनिष्ठ, नीतिमान तथा जैनधर्म के उपासक थे। लखमदेव के पितामह साहु होलू ने जिनबिम्ब प्रतिष्ठा कराई थी, उन्हीं के वंशज थील्हा के अनुरोध से कवि तेजपाल ने संभवनाथ चरिउ की रचना भादानक देश के श्रीप्रभनगर में दाउद शाह के राज्य काल में की थी। ग्रन्थ रचना का समय संभवतः १५०० के आस-पास का होना चाहिये।

२ वरांग चरिउ

दूसरी रचना 'वरांगचरिउ' है, जिसमें चार संधियां है। उनमें राजा वरांग का जीवन-परिचय अंकित किया गया है। राजा वरांग यदुवंशी तीर्थंकर नेमिनाथ के शासन काल में हुए हैं। राजा वरांग का चरित बड़ा सुन्दर रहा

१. "विक्कमरायहं ववगय काले, ले समुणीस विसरअकाले।
पणरहसइ गुणासिय उरवाले, फागुण चंदिए पक्खि ससिवालें।
णवमी सुहणक्खित्तु सुहवाले, सिरि पिरथी चन्दु पसाये सुंदरें ॥" —नागकुमार चरित प्र०

है। रचना साधारण और संक्षिप्त है, और भाषा हिन्दी के विकास को लिये हुए है। कवि तेजपाल ने इस ग्रन्थ को वि० सं० १५०७ वैशाख शुक्ला सप्तमी के दिन समाप्त किया है[1]। और उसे विपुलकीर्ति मुनि के प्रसाद से बनाया था।

३ पासणाह चरिउ

तीसरी रचना पार्श्वनाथ चरित है। यह भी एक खण्ड काव्य है, जो पद्धडिया छन्द में रचा गया है। और जिसे कवि यदुवंशी साहु घूघलि की अनुमति से बनाया था। यह मुनि पद्मनन्दि के शिष्य शिवनदि भट्टारक की आम्नाय के थे। जिनधर्म रत, श्रावकधर्म प्रतिपालक, दयावंत और चतुर्विधसंघ के संपोषक थे। मुनि पद्मनन्दि ने शिवनदी को दिगम्बर दीक्षा दी थी। दीक्षा से पूर्व इनका नाम सुरजनसाहु था जो लबकंचुक कुल के थे। जो संसार से विरक्त और निरन्तर भावनाओं का चितवन करते थे। उन्होंने दीक्षा लेने के बाद कठोर तपश्चरण किया, मासोपवास किये, तथा निरंतर धर्मध्यान में सलग्न रहते थे। बाद में उनका स्वर्गवास हो गया। प्रशस्ति में सुरजन साहु के परिवार का भी परिचय दिया है। तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित वही है, जो अन्य कवियों ने लिखा है, उसमें कोई वैशिष्ट्य देखने में नहीं मिलता। कवि ने इस ग्रन्थ की रचना वि० सं० १५१५ कातिक कृष्णा पचमी के दिन समाप्त की थी।

"पणरह सय पणरह अहियएहिं, एत्तिय जिसंवच्छर गएहिं।
पंचमिय किण्ह कत्तिय हो मासि।......वारे समत्तउ सरय भासि॥"

कवि ने संधि वाक्य भी पद्य में दिये है—

सिरि पारस चरित्तं रइयं बुह तेजपाल साणंदं।
अणु मण्णियं सुहद्दं घूघलि सिवदास पुत्तेण॥१
देवाणरयण विट्ठी वम्माए बीएसोल सो दिट्ठो।
कयगब्भसोहणत्थं पढमो संधि इमो जाओ॥२

सोमकीर्ति

काष्ठासंघ के नन्दीतट गच्छ के रामसेनान्वयी भट्टारक लक्ष्मीसेन के प्रशिष्य और भीमसेन के शिष्य थे। कवि सोमकीर्ति की संस्कृत भाषा की तीन रचनाएं उपलब्ध है—सप्त व्यसन कथा-समुच्चय, प्रद्युम्न चरित्र और यशोधर चरित्र।

सप्त व्यसन कथा समुच्चय—में दो हजार सड़सठ श्लोकों में द्यूतादि सप्त व्यसनों का स्वरूप और उनमें प्रसिद्ध होने वालों की कथा देते हुए उनके सेवन से होने वाली हानि का उल्लेख किया है, और उनके त्याग को श्रेष्ठ बतलाया है। कवि ने इस ग्रन्थ की रचना वि० सं० १५२६ में माघ महीने के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा सोमवार के दिन पूर्ण[2] की है।

प्रद्युम्नचरित्र—दूसरी रचना है। जिसमें ४८५० श्लोकों में श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का जीवन परिचय अंकित किया है। इस ग्रन्थ में सोलह अधिकार है। अन्तिम अधिकार में प्रद्युम्न शंवर और अनुरुद्ध आदि के निर्वाण

१. सम पमाग संवच्छ्र खीणइ, पुणु सत्तगल सउ वोलीणइ।
वइसाह हो किण्ह वि सत्तमिदिणि, किउ परिपुण्णउ जो सुह महुर-झुणि॥ —वरांग चरिउ प्र०

२. रसनयनसमेते बाण युक्तेन चन्द्रे (१५२६)
गतिवति सति नूनं विक्रमस्यैव काले।
प्रतिपदि धवलायां माघ मासस्य सोमे।
हरिभ दिन मनोज्ञे निर्मितो ग्रन्थ एषः॥ ७१॥ (सप्त व्यसन कथा समुच्चय प्र०)

प्राप्त करने का वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ की रचना कवि ने संवत् १५३१ पौष शुक्ला त्रयोदशी बुधवार के दिन भीमसेन के प्रसाद से बना कर समाप्त की थी[1]।

यशोधरचरित—यह कवि की तीसरी रचना है, इसमें राजा यशोधर और चद्रमती का जीवन परिचय अंकित किया गया है। इसमें १०१८ श्लोक हैं। इस ग्रन्थ की रचना कवि ने संवत् १५३६ में मेदपाठ (मेवाड़) के गोंढिल्य नगर के शीतल नाथ मन्दिर में पौष कृष्णा पंचमी के दिन बनाकर समाप्त की है[2]।

इनके अतिरिक्त कवि की हिन्दी राजस्थानी भाषा की कई रचनाएं हैं। उनमें यशोधर रास १५३६ में वनाया। ऋषभनाथ की धूल, त्रेपन क्रिया गीत आदि रचनाएं भी इनकी बनाई हुई कही जाती हैं। सोमकीर्ति कवि १६वीं शताब्दी के द्वितीय चरण के विद्वान हैं।

अजित ब्रह्म

मूलसंघ के भट्टारक देवेन्द्र कीर्ति के शिष्य थे[3]। यह गोलशृंगार (गोल सिंघाडे) वंश में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम बीरसिंह और माता का नाम वीधा था[4]। यह भट्टारक देवेन्द्र कीर्ति के दीक्षित शिष्य थे और ब्रह्मअजित के नाम से लोक में प्रसिद्ध थे। इन्होंने विद्यानन्दि के आदेश से 'हनुमान' चरित की रचना दो हजार श्लोकों में की थी। हनुमान पवनंजय का पुत्र था, बड़ा बलवान तथा वीर पराक्रमी था। इसकी माता का नाम अंजना था, जो राजा महेन्द्र की पुत्री थी। कवि ने ग्रन्थ में रचना काल नहीं दिया, किन्तु ग्रन्थ के रचना स्थल का उल्लेख किया है। और हनुमान के चरित को पाप का नाशक बतलाया है। कवि ने इस चरित की रचना भृगुकच्छ (भडौच) के नेमिनाथ जिनमन्दिर में की है। कवि ने ग्रन्थ में कुन्दकुन्द, जिनसेन, समन्तभद्र, अकलंक, नेमिचन्द्र, और पद्मनन्दि आदि पूर्ववर्ती आचार्यो का स्मरण किया है।

इस ग्रंथ की सं० १५६९ की लिखी हुई एक प्राचीन प्रति लाला विलासराय पंसारी टोला इटावा के मंदिर के शास्त्रभंडार में मौजूद है। इससे इस ग्रंथ की रचना उससे पूर्व ही हुई है।

कल्याणालोचना—नाम की एक रचना उपलब्ध है, जिसमें ५४ पद्यों में आत्मकल्याण की आलोचना की गई है। ग्रन्थ में आत्मसम्बोधन रूप से अपनी भूलों अथवा अपराधों की विचारणा करते हुए अपने से जो दुष्कृत बने हैं जिन-जिन जीवादिकों की जिस तिस प्रकार से विराधना हुई है, उसके लिये 'मिच्छामे दुक्कडं हुज्ज' वाक्यों द्वारा खेद व्यक्त किया गया है। स्वभावसिद्ध ज्ञान दर्शनादि रूप एक आत्मा को एक परमात्मा का ही शरण है, अन्य कोई शरण नहीं है। 'अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एक्क परमप्पा' शब्दों द्वारा उसकी घोषणा की है। यह रचना भी अजित ब्रह्म की है।. सभक्तः यह रचना इन्हीं अजित ब्रह्म की है। इन अजित ब्रह्म का समय विक्रम की १६वीं शताब्दी है।

---

१. जैनेन्द्र शासन सुधारस पानपुष्टो देवेन्द्रकीर्त्ति यतिनायक नैष्ठिकात्मा।
तच्छिष्य संयम धरेण चरित्रिमेतत् सृष्टं समीरणसुतस्य महर्द्धिकस्य ॥९१॥　　—हनुमान चरित प्रशस्ति

२. गोला शृंगारवंशे नभसि दिनमणि वीरसिंहो विपश्चित्।
भार्या वीधा प्रतीता तनुरुह विदितो ब्रह्मदीक्षाश्रितोऽभूद्।
तेनोच्चैरेष ग्रन्थः कृति इति सुतरां शैलराजस्य सूरेः।
श्री विद्यानन्दि देशात् सुकृतविधिवशात्सर्वसिद्धि प्रसिद्ध्यै ॥९६　　—हनुमान चरित प्रशस्ति

३. संवत्सरे सत्तिथि संज्ञके वै वर्षे ऽत्र त्रिशैक युते (१५३१) पवित्रे।
विनिर्मितं पौषसुदेश्च (?) तस्यां त्रयोदशीया बुधवार युक्ता ॥१६९　　—जैन ग्रंथ प्रशस्ति सं० भाग १ पृ० ६१

४. वर्षे षट्त्रिंश संख्ये तिथि परगणना युक्त संवत्सरे (१५३६) वै।
पंचम्यां पौष कृष्णे दिनकर दिवसे चोत्तरस्थे हि चन्द्रे।
गोंढिल्यां मेदपाटे जिनवरभवने शीतलेन्द्रस्य रम्ये।
सोमादि कीर्तिनेदं नृपवर चरितं निर्मितं शुद्धभक्त्या ॥ ६२　　—जैन ग्रन्थ प्र० सं० भा० १ पृ० १०६

कवि ठकुरसी

प्रस्तुत कवि चाटसू (वर्तमान चम्पावती) नगरी के निवासी थे। इनकी जाति खंडेलवाल और गोत्र 'अजमेरा' था। ठकुरसी के पिता का नाम 'घेल्ह' था जो कवि थे। इनकी कविता मेरे अवलोकन में नहीं आई, किन्तु कवि ने 'पंचेन्द्रिय वेलि' के अंतिम पद के 'कवि-घेल्ह सुतनु गुण गाऊँ' वाक्य में उन्हें स्वयं कवि ने सूचित किया है। कवि के पुत्र का नाम नेमिदास था, जिसने मेघमाला व्रत को भावना की थी। कवि की रचनाओं का काल सं० १५७८ से १५८५ है। मेघमाला वय कथा अपभ्रंश भाषा में रची गई है, किन्तु शेष रचनाएं हिन्दी भाषा के विकास को लिये हुए हैं। कृपण चरित्र, पंचेन्द्रिय वेल, नेमि राजमती वेल और जिन चउवीसी।

मेघमाला व्रत कथा—इसमें ११५ कडवक है जो लगभग २१५ श्लोकों के प्रमाण को लिये हुए हैं। इस मेघमालाव्रत के अनुष्ठान की विधि और उसके फल का वर्णन किया है। इस व्रत का अनुष्ठान भाद्रपद मास की प्रतिपदा से किया जाता है। व्रत के दिन उपवास पूर्वक जिनपूजन अभिषेक, स्वाध्याय और सामायिक आदि धार्मिक अनुष्ठान करते हुए समय व्यतीत करना चहिए। इस व्रत को पांच प्रतिपदा, और पांच वर्ष तक सम्पन्न करना चाहिए। पश्चात् उसका उद्यापन करे। यदि उद्यापन की शक्ति न हो तो दुगने समय तक व्रत करना चाहिए।

इस व्रत का अनुष्ठान चाटसू (चम्पावती) नगरी के श्रावक-श्राविकाओं ने सम्पन्न किया था। उस समय राजा रामचन्द्र का राज्य था। वहाँ पार्श्वनाथ का सुन्दर जिनालय था और तत्कालीन भट्टारक प्रभाचन्द्र भी (जिनकी दीक्षा सं १५७१ में हुई थी) मौजूद थे। जो गणधर के समान भव्यजनों को धर्मामृत का पान करा रहे थे। वहाँ खण्डेलवाल जाति के अनेक श्रावक रहते थे। उनमें पं० माल्हा पुत्र कवि मल्लिदास ने कवि ठकुरसी को मेघमाला व्रत की कथा के कहने की प्रेरणा की थी। वहाँ के श्रावक सदा धर्म का अनुष्ठान करते थे। हाथुह साहु नाम के एक महाजन और भट्टारक प्रभाचन्द्र के उपदेश से कवि ने 'मेघमाला' व्रत कैसे करना चाहिए, इसका सक्षिप्त वर्णन किया। वहाँ तोषक, माल्हा और मल्लिदास आदि विद्वान भी रहते थे। श्रावकजनों में प्रमुख जीणा, ताल्हू, पारस, नेमिदास, नाथूसि, भुल्लण और वडली आदि ने इस व्रत का अनुष्ठान किया था। कवि ने इस ग्रन्थ की रचना सं० १५८० प्रथम श्रावण शुक्ला छठ के दिन पूर्ण किया था।

कवि ने सं० १५७८ में 'पारस श्रवण सत्ताइसी' नाम की एक कविता लिखी थी, जो एक ऐतिहासिक घटना को प्रकट करती है। और कवि के जीवन काल में घटी थी, उसका कवि ने आँखों देखा वर्णन किया है। कवि की सभी रचनाएँ लोकप्रिय और सरल है।

ब्रह्म जीवंधर

यह माथूर संघ विद्यागण के प्रख्यात भट्टारक यशकीर्ति के शिष्य थे। आप संस्कृत और हिन्दी भाषा के सुयोग्य विद्वान थे। आपकी संस्कृत भाषा की दो कृतियाँ उपलब्ध हैं। यद्यपि वे लघुकाय हैं किन्तु महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें पहली कृति 'चतुर्विंशति तीर्थंकर स्तवन जयमाल हैं'[1]। इसका अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि जीवंधर संस्कृत भाषा में सुन्दर कविता कर सकते थे। पाठक पार्श्वनाथ और महावीर स्तवन-विषयक निम्न दो पद्य पढ़ें, जो भावपूर्ण और सरस एवं सरल हैं :—

> **"विधुरित विघ्नं पार्श्वजिनेशं दुरित तिमिरभर हनन दिनेशम्।**
> **अज्ञान द्रुम तीव्रकुठारं वांछित सुखदं करुणाधारं॥**
> **'जीवंधर' नुत—चरण सरोजं विकसित निर्मल कीर्तिपयोजम्।**
> **कल्याणोदयकदलीकन्दं, वन्दे वीरं परमानन्दम्'॥**

दूसरी संस्कृत रचना **'श्रुतजयमाला'** है, जिसमें आचाराङ्ग आदि द्वादश अंगों का परिचय दिया गया है।

---

१. देखो अनेकान्त वर्ष १५ किरण ४ में प्रकाशित 'चतुर्विंशति तीर्थंकर-जयमाला।' सन् १९६२।

रचना सुन्दर और संस्कृत पद्यों में निबद्ध है।

इनके अतिरिक्त कवि की दस रचनाएँ हिन्दी भाषा की उपलब्ध हैं, जिनका परिचय 'राजस्थान जैन साहित्य परिषद्' की सन् १९६७-६८ की स्मारिका पृष्ठ ७ पर लेखक ने दिया है। जो 'राजस्थान के संत ब्रह्म जीवंधर' नाम से मुद्रित हुआ है। कवि की उन रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—गुणठाणावेलि, खटोला रास, झुंबक गीत, मनोहर, रास या नेमिचरित रास, सतीगीत, बीस तीर्थंकर जयमाला वीस चौबीसी स्तुति, ज्ञान विरगा विनति मुक्तावली रास और आलोचना आदि। रचनाएँ सुन्दर और सरल हैं।

ब्रह्म जीवंधर विक्रम की १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के विद्वान हैं। इन्होंने सं० १५९० में बैसाख वदी १३ सोमवार के दिन भट्टारक विनयचन्द्र की स्वोपज्ञ चूनड़ी टीका की प्रतिलिपि अपने ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयार्थ की थी। इससे इनका समय १६वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध सुनिश्चित है।

पं० नेमिचन्द (प्रतिष्ठा तिलक के कर्ता)

यह देवेन्द्र और आदि देवी के द्वितीय पुत्र थे। इनके दो भाई और भी थे जिनका नाम आदिनाथ और विजयम था। इन्होंने अभयचन्द्र उपाध्याय के पास तर्क व्याकरणादि का ज्ञान प्राप्त किया था। नेमिचन्द्र के दो पुत्र थे—कल्याणनाथ और धर्मशेखर। दोनों ही विद्वान थे। नेमिचन्द्र ने सत्यशासन मुख्य प्रकरणादि ग्रन्थ रचे। प्रतिष्ठा तिलक को इन्होंने अपने मामा ब्रह्मसूरि के आदेश से वनाया था। कवि ने उसमें अपने कुटुम्ब की दश पीढ़ियों तक का परिचय दिया है, किन्तु उसमें रचनाकाल नहीं दिया। पर प्रतिष्ठा तिलक का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इनकी यह रचना पं० आशाधर जी के बहुत वाद रची गई है। संभवतः यह रचना १५वीं शताब्दी की है। ग्रंथ सामने न होने से उस पर विशेष विचार नहीं किया जा सकता।

कवि धर्मधर

पं० धर्मधर इक्ष्वाकु वंश के गोलाराडान्वयी साहु महादेव के प्रपुत्र और पं० यशपाल के पुत्र थे। यशपाल कोविद थे। उनकी पत्नी का नाम 'हीरा देवी' था। उससे भव्य लोगों के बल्लभ रत्नत्रय के समान तीन पुत्र थे, उनमें दो ज्येष्ठ और लघु पुत्र धर्मधर थे। विद्याधर, देवधर और धर्मधर। इनमें विद्याधर और देवधर श्रावकाचार के पालक और परोपकारकर्त्ता थे और धर्मधर धर्म कर्म करने वाला था। धर्मधर की पत्नी का नाम 'नन्दिका' था जो शीलादि सद्गुणों से अलंकृत थी। उससे दो पुत्र और तीन पुत्री उत्पन्न हुई थी। पुत्रों का नाम पाराशर और मनसुख था[1]। इस तरह कवि का परिवार सम्पन्न था।

कवि ने मूल संघ सरस्वती गच्छ के भट्टारक पद्मनन्दी, शुभचन्द्र और भट्टारक जिनचन्द्र का उल्लेख किया है जिससे ज्ञात होता है कि कवि मूल संघ की आम्नाय का था। उसने पद्मनन्दी योगी से विद्या प्राप्त की थी और वह उन्हें गुरु रूप से मानता था। कवि का समय विक्रम की १६वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है क्योंकि कवि ने नागकुमार

---

१. कोविदः यशपालस्य समभूत्तनु-जगत्रयं।
बल्लभं भव्यलोकानां रत्नत्रयमिवापरं ॥२॥
वैयाकरणपारीण धिषणो धिषणोपमः।
हीराकुक्षि समुत्पन्नः आद्यो विद्या धराधिपः ॥३॥
देवार्च्चनरतो नित्यं ततो देवधरोऽभवत्।
श्रावकाचार शुद्धात्मा परोपकृति तत्परः ॥४॥
अमी धर्मधरः पश्चात् तृतीयो धर्मकर्मकृत्।
पद्मनन्दि गुरोर्लब्ध्वा विद्यापरम् योगिनः ॥५॥

—श्रीपाल चरित प्रशस्ति, भट्टारक भण्डार, अजमेर।

चरित्र की रचना सं० १५११ में की है। उसमें अपनी पहली रचना 'श्रीपाल चरित' की रचना का उल्लेख किया है। अतः धर्मधर १६वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के विद्वान सुनिश्चित हैं।

कवि की दो रचनाएँ उपलब्ध हैं—श्रीपाल चरित और नागकुमार चरित।

श्रीपाल चरित—में कवि ने पूर्ववर्ती पुराणों का अवलोकन करके सिद्ध चक्र के माहात्म्य का कथन किया है। उसके माहात्म्य से श्रीपाल और उसके सात सौ साथियों का कुष्ट रोग दूर हो गया था। उनकी पत्नी मैना सुन्दरी ने सिद्धचक्र व्रत का अनुष्ठान किया था। इस ग्रन्थ की रचना कवि ने गोलाराडान्वयी श्रावक खेमल की प्रेरणा से की थी। प्रशस्ति में खेमल के परिवार का परिचय दिया है। खेमल जिन चरणों का भक्त, दानी, रूप-शील सम्पन्न और परोपकारी था।

> **श्री सर्वज्ञपदारविंदयुगले भक्तिर्विकासाम्बुधिः;**
> **दानचतुष्टये च निरता लक्ष्मीसुधायुग्म च।**
> **रूपं शीलगतं परोपकारकरणं व्यापारनिष्ठं वपुः;**
> **साधो खेमलसंज्ञको गतमदं काले कलौ दृश्यते ॥२६॥**

ग्रन्थ चार सर्गात्मक है। ग्रन्थकर्ता कवि और रचना प्रेरक श्रावक खेमल सम्भवतः एक ही स्थान चन्दवाड के पास 'दत्त पल्ली' नाम के नगर के निवासी थे।

नागकुमार चरित—इसमें कवि ने **पूर्वसूत्रानुसारतः**' पूर्वसूत्रानुसार कामदेव नागकुमार का चरित अंकित किया है। नागकुमार ने अपने जीवन में जो-जो कार्य किये, व्रतादि का अनुष्ठान कर पुण्य सचय किया और परिणामतः विद्यादि का लाभ तथा भोगोपभोग की जो महती सामग्री मिली उसका उपभोग करते हुए नागकुमार ने उनसे विरक्त होकर आत्म-साधना-पथ में विचरण किया है। उसका जीवन बड़ा ही पावन रहा है। उसे क्षण स्थायी भोगों की चकाचौंध इन्द्रिय-विषयों में आसक्ति उत्पन्न करने में असमर्थ रही है। वह आत्म-जयी वीर था, जो अपनी साधना में खरा उतरा है, और अपने ही प्रयत्न द्वारा कर्मबन्धन की अनादि परतन्त्रता से सदा के लिये उन्मुक्ति प्राप्त की है।

ग्रन्थ रचना में प्रेरक—इस ग्रन्थ को कवि ने यदुवंशी लंबकंचुक (लमेचू) गोत्री साहू नल्हू की प्रेरणा से बनाया है। साहू नल्हू चन्द्रपाट या चन्द्रवाड नगर के समीप दत्तपल्ली नामक नगर के निवासी थे। उस समय उस नगर में ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र नामक चातुर्वर्ण के लोग निवास करते थे। नल्हू साहू के पिता का नाम धनेश्वर या धनपाल था। जिनदास के चार पुत्र थे—शिवपाल, घूघलि, जयपाल और धनपाल। धनपाल की पत्नी का नाम लक्षणश्री था। धनेश या धनपाल चौहानवशी राजा माधवचन्द्र का मंत्री था[1]। धनपाल के दो पुत्र थे - ज्येष्ठ नल्हू और दूसरा उदयसिंह। दोनों ही जिनभाक्तिक और राजा माधवचन्द्र द्वारा प्रतिष्ठित थे। ज्येष्ठ पुत्र नल्हू साहू की दो पत्नी थीं—दूमा और यशोमती। साहू नल्हू राज्यमान्य थे। उनके चार पुत्र थे तेजपाल, विनयपाल, चन्दसिह और नरसिंह। इन्हीं नल्हू साहू की प्रेरणा से कवि धमंधर ने कवि पुष्पदन्त के नागकुमार चरित्र को देख कर इसका रचना की है :

कवि ने इस ग्रन्थ की रचना वि० स० १५११ में श्रावणशुक्ला पूर्णिमा सोमवार के दिन की है।

> **व्यतीते विक्रमादित्ये रुद्रव्रत-शशिनामनि।**
> **श्रावणे शुक्लपक्षे च पूर्णिमा चन्द्रवासरे ॥५३**
> **अभूत्समाप्तिर्ग्रन्थस्य जयंधरसुतस्य हि।**
> **नूनं नागकुमारस्य कामरूपस्य भूपतेः ॥५४**

पं हरिचन्द्र

मूलसंघ बलात्कारगण सरस्वती गच्छ के भट्टारक पद्मनन्दि, शुभचन्द्र, जिनचन्द्र, सिंहकीर्ति, मुनि खेमचन्द्र,

१. तस्य मन्त्रिपदे श्रीमद्यदुवंश समुद्भवः।
लंबकंचुक सद्गोत्रे धनेशो जिनदासजः ॥१२ —नागकुमारचरित प्रशस्ति, जयपुर तेरापंथी मंदिर प्रति।

विजयकीर्ति जिनका शरीर तप से क्षीण हो गया था, आम्नाय के विद्वान थे। इन्होंने ग्वालियर के तोमर वंशी राजा कीर्तिसिंह के राज्यकाल में सं० १५२५ में भाद्र पद शुक्ला ५वीं गुरुवार के दिन लम्बकंचुक वंश के साहु जिनदास के पुत्र हरिपाल के लिए अपभ्रंश भाषा में दसलक्षणव्रत की कथा की रचना आदिनाथ के चैत्यालय में की है[1]।

"जिण आइणाह - चेइ हरयं, विरइय दहलक्खण कह सुवयं।
उवएसय कहियं गुणग्गलयं, पंदहसइ चउवीस मलयं॥
भादव सुदि पंचमि अइविमलं, गुरुवार विसारयणु खलु अमलं॥"

—अग्रवाल मन्दिर उदयपुर, जैन ग्रन्थ सूची भा० ५, पृ० ४४५

इससे पं० हरिचन्द का समय वि० की १६वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है।

पंडित मेधावी

यह मूल संघ के भट्टारक जिनचन्द्र के शिष्य थे। यह भट्टारकीय विद्वान थे। इनका वंश अग्रवाल था। यह साहू लवदेव के प्रपुत्र और उद्धरण साहु के पुत्र थे। इनकी माता का नाम 'भीषुही' था। यह आप्त आगम के विचारज्ञ और जिनचरण कमलों के भ्रमर थे। इन्होने अपने को पंडित कुंजर लिखा है[2]। यह विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के अच्छे विद्वान और कवि थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की पुस्तकदात्री प्रशस्तियाँ भी लिखी हैं जिनमें लिपि कराने वाले दातार के कुटुम्ब का विस्तृत परिचय कराया गया है। जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इनसे स्पष्ट है कि विक्रम की १६वीं शताब्दी में श्रावकों द्वारा हस्तलिखित ग्रन्थों को लिखाकर प्रदान करने की परम्परा जैन समाज में प्रचलित थी। शास्त्र दान की यह परम्परा जहाँ श्रुतभक्ति और उसके संरक्षण को बल प्रदान करती है, वहाँ दातार भी अपनी विशुद्ध भावनावश अपूर्व पुण्य का संचय करता है। इससे ग्रन्थों के संकलन और श्रुतरक्षा को आश्रय मिला है। इन दातृ प्रशस्तिओं के कारण मेधावी उस समय प्रसिद्ध विद्वान माने जाते थे। मेधावी द्वारा लिखित दातृ प्रशस्तियाँ सं० १५१६, १५१६, १५२१, १५३३ और १५४६ की लिखी हुई, मूलाचार, तिलोय पण्णत्ती, तत्त्वार्थभाष्य (सिद्धसेन गणि) जंबूद्वीप पण्णत्ती, अध्यात्म तरंगिणी और नीतिवाक्यामृत की मेरी नोट बुक में दर्ज हैं। सं० १५१४ में ज्येष्ठ सुदी ३ गुरुवार के दिन हिसार में बहलोल लोदी के राज्य में अग्रवालवंशी बंसल गोत्री साहु छाजू ने हेमचन्द्र के प्राकृत हेम शब्दानुशासन की प्रति लिखाकर प्रदान की थी, जो अजमेर के हर्षकीर्ति भंडार के बड़े मन्दिर में मौजूद है।

मेधावी ने सं० १५४१ में एक श्रावकाचार की रचना की थी, जिसे धर्म संग्रह श्रावकाचार के नाम से उल्लेखित किया जाता है। इनका समय १५०० से १५५० तक का रहा है। यह विक्रम की १६वीं शताब्दी के विद्वान हैं।

कवि महिन्दु या महाचन्द्र

महाचन्द्र इल्लराज के पुत्र थे। नामोल्लेख के अतिरिक्त कवि ने अपना कोई परिचय नहीं दिया। प्रशस्ति

१. जिण आइणाह चेइ हरयं विरइय दह लक्खण कह सुवयं।
उवएसय कहिय गुणग्गलयं, पंदहसइ चउवीस मलयं॥
भादव सुदि पंचमी अयविमलं, गुरुवार विसारयणु खलु अमलं।
गोवग्गिरि दुग्गइ दाणइयं तोमरहं वंस कित्तिम समयं॥
वर लंबकंचु वंसह तिलकं जिणदास सुधम्महं पुण णिलयं।
भज्जा विमुतीला गुणसहियं णंदण हरिपाउ बुद्धिणिहियं॥ —दशलक्षण कथा प्रशस्ति।

२. अग्रोत वंशजः साधुर्लवदेवाभिधानकः।
तत्त्वगुद्धरणः संज्ञा तत्पत्नी भीषुहीप्सुभिः॥३२
तयोः पुत्रोऽस्ति मेधावी नामा पंडितकुंजरः।
आप्तागम विचारज्ञो जिनपादाब्ज षट्पदः॥३३, 'तत्त्वार्थभाष्य दातृ प्र०

में काष्ठा संघ माथुर गच्छ की भट्टारकीय परम्परा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि काष्ठासंघ माथुर गच्छ पुष्कर गण में भट्टारक यशः कीर्ति और उनके शिष्य गुणभद्र सूरी थे। इससे यह स्पष्ट है कि कवि इन्हीं की आम्नाय का था। पर इनमें किसका शिष्य था यह स्पष्ट नहीं लिखा।

कवि की एकमात्र कृति 'शान्तिनाथ चरित' है, जिसमें १३ सन्धियां या परिच्छेद और २६० कडवक हैं जिनकी आनुमानिक श्लोक संख्या पांच हजार है। ग्रन्थ की प्रथम संधि के १२ कडवकों में मगध देश के शासक राजा श्रेणिक और रानी चेलना का वर्णन, श्रेणिक का महावीर के समवशरण में जाना और महावीर को वंदन कर गौतम से धर्म कथा का सुनना।

दूसरी संधि के २१ कडवकों में विजयार्ध पर्वत का वर्णन, अकलंक कीर्ति की मुक्ति साधना, और विजयांक के उपसर्ग निवारण करने का कथन है।

तीसरी सन्धि के २३ कडवकों में भगवान शान्तिनाथ की पूर्व भवावली का कथन है। चौथी सन्धि के २६ कडवकों में शान्तिनाथ के भवान्तर, बलभद्र जन्म का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। ५वीं संधि के १६ कडवकों में वज्रायुध चक्रवर्ती का सविस्तर कथन है। और छठी संधि के २६ कडवकों में मेघरथ की सोलह कारण भावनाओं की आराधना, और सर्वार्थसिद्धि गमन का वर्णन दिया है।

सातवीं सन्धि के २५ कडवकों में मुख्यतः भ० शान्तिनाथ के जन्माभिषेक का वर्णन है। आठवीं संधि के २६ कडवकों में भगवान शान्तिनाथ की कैवल्य प्राप्ति और समवसरण विभूति का विस्तृत वर्णन है। नौमी संधि के २७ कडवकों में भगवान शान्तिनाथ की दिव्य ध्वनि एव प्रवचनों का कथन है।

दशवीं संधि के २० कडवकों में तिरेसठ शलाका पुरुषों के चरित का संक्षिप्त वर्णन है।

११वीं संधि के ३४ कडवकों में भौगोलिक आयामों का वर्णन है, भरत क्षेत्र का ही नहीं किन्तु तीनों लोकों का सामान्य कथन है। १२वीं संधि के १८ कडवकों में भगवान शान्तिनाथ द्वारा वर्णित सदाचार का कथन दिया हुआ है। और अन्तिम १३वीं संधि के १७ कडवकों में शान्तिनाथ का निर्वाण गमन का वर्णन है।

यद्यपि कथावस्तु की दृष्टि से ग्रन्थ में कोई नवीनता दृष्टिगोचर नहीं होती, किन्तु काव्यकला और शिल्प की दृष्टि से रचना महत्वपूर्ण है। ग्रन्थ का वर्ण्य विषय पौराणिक है। इसी से उसे पौराणिकता के सांचे में ढाला गया है। आलोच्यमान रचना अपभ्रंश के चरित काव्यों को कोटि की है। इसमें चरितकाव्य के सभी लक्षण परि-लक्षित होते हैं। प्रत्येक संधि के आरम्भ में कवि ने अग्रवाल श्रावक साधारण की शान्तिनाथ से मंगल कामना की है।

ग्रन्थ रचना में प्रेरक जोयणिपुर[1] (दिल्ली) निवासी अग्रवाल कुलभूषण गर्ग गोत्रीय साहू भोजराज के ५ पुत्रों (खेमचन्द्र, ज्ञानचन्द्र, श्रीचन्द्र, गजमल्ल और रणमल) में से द्वितीय पुत्र ज्ञानचन्द्र का पुत्र साधारण था जिसकी प्रेरणा से ग्रन्थ की रचना की गई है। कवि ने प्रशस्ति में साधारण के परिवार का विस्तृत परिचय कराया है। उसने हस्तिनापुर की यात्रार्थ संघ चलाया था। और जिनमन्दिर का निर्माण करा कर उसकी प्रतिष्ठा सम्पन्न कर पुण्यार्जन किया था। ज्ञानचन्द्र की पत्नी का नाम 'सउराजही' था, जो अनेक गुणों से विभूषित थी। उससे तीन पुत्र हुए थे। पहला पुत्र सारंगसाहु था, जिसने सम्मेद शिखर की यात्रा की थी। उसकी पत्नी का नाम 'तिलोकाही' था। दूसरा पुत्र साधारण था, जो बड़ा विद्वान और गुणी था, उसका वैभव बढ़ा चढ़ा था। उसने शत्रुंजय की यात्रा की थी, उसकी पत्नी का नाम 'सोवाही' था, उससे चार पुत्र हुए थे—अभयचन्द्र, मल्लिदास, जितमल्ल और सोहिल्ल उनकी चारों पत्नियों के नाम चंदणही, भदासही, समदो और भीखणही। ये चारों ही पतिव्रता, साध्वी और धर्मनिष्ठा थीं। इस तरह साहू साधारण ने समस्त परिवार के साथ शान्तिनाथ चरित का निर्माण कराया।

---

१. जोयणिपुर दिल्ली का नाम है। यहाँ ६४ योगिनियों का निवास था, और उनका मन्दिर भी बना हुआ था। इस कारण इसका नाम योगिनीपुर पड़ा है। 'जोयणिपुर' अपभ्रंश भाषा का रूप है। विशेष परिचय के लिये देखें, अनेकान्त वर्ष १३ किरण में प्रकाशित दिल्ली के पाँच नाम शीर्षक मेरा लेख।

कवि ने इस ग्रन्थ की रचना वि० सं० १५८७ की कार्तिक कृष्णा पंचमी के दिन मुगल बादशाह बाबर[1] के राज्यकाल में योगिनीपुर में बनाकर समाप्त की थी[2]।

कवि ने अपने से पूर्ववर्ती निम्न विद्वान कवियों का स्मरण किया है—अकलंक, पूज्यपाद (देवनन्दी), नेमिचन्द्र सैद्धांतिक, चतुर्मुख स्वयंभू, पुष्पदन्त, यशःकीर्ति, रइधू, गुणभद्रसूरि और सहणपाल। इनमें सहणपाल का कोई ग्रन्थ अवलोकन में नहीं आया।

भट्टारक प्रभाचन्द्र

यह भ० पद्मनन्दी के प्रपट्ट पर प्रतिष्ठित होने वाले भट्टारक जिनचन्द्र के पट्ट शिष्य थे। जिनका पट्टाभिषेक सम्मेद शिखर पर सुवर्ण कलशों से सं० १५७१ में फाल्गुन कृष्ण दोइज के दिन हुआ था[3]। इनका पूर्व नाम सुहृज्जन था, जो विवेकी और वादि रूपी गजों के लिए सिंह के समान था। यह वैद्यराट् बिंभ के द्वितीय पुत्र थे। इन्होंने राजा के समान विभूति का त्याग कर दीक्षा ग्रहण की थी। भट्टारक होने पर इनका नाम प्रभाचन्द्र रक्खा गया था[4]। वे इस पद पर ९ वर्ष ४ मास और २५ दिन रहे हैं।

भट्टारक प्रभाचन्द्र सं० १५७८ में चम्पावती (चाटसू) में थे और वहाँ के श्रावकों में उन्होंने धार्मिक रुचि बढ़ाने का प्रयत्न किया था। कवि ठकुरसी ने सं० १५७८ में मेघमाला कथा में प्रभाचन्द्र का उल्लेख किया है[5]। इन प्रभाचन्द्र की कोई रचना मेरे अवलोकन में नहीं आई। इनका समय वि० की १६वीं शताब्दी का तृतीय चरण है।

भट्टारक शुभचन्द्र

मूल संघ कुन्दकुन्दान्वय में प्रसिद्ध नन्दिसंघ और बलात्कारगण के भट्टारक ज्ञानभूषण के प्रशिष्य और भ०

---

१. बाबर ने सन् १५२६ मे पानीपत की लड़ाई में दिल्ली के बादशाह इब्राहीम लोदी को पराजित और दिवंगत कर दिल्ली का राज्य शासन प्राप्त किया था। उसके बाद उसने आगरा पर भी अधिकार कर लिया था और सन् १५३० (वि० सं० १५८७) में आगरा में ही उसकी मृत्यु हो गई थी। इसने केवल ५ वर्ष ही राज्य किया है।

२. विक्कमरायहु ववगय कालहु, रिसिवसु-सर-भुवि-अंकालइ।
कत्तिय-पढम पक्खि पंचमिदिणि, हुउ परिपुण्ण वि उग्गंतइ इणि। शान्तिनाथ चरित प्रशस्ति

३. तत्पट्टोदय भूधरेऽजनि मुनिः श्रीमत्प्रभेन्दुर्वशी।
हेयाहेयविचारणैकचतुरो देवागमालकृतो।
भोजदिवाकरादिर्विविधे तर्के च चंचुश्चणो।
जैनेन्द्रादिकलक्षणप्रणयने दक्षोऽनुयोगेषु च ॥३२
त्यक्त्वा सांसारिकी भूति किंपाकफल सन्निभाम्।
चिन्तारत्न निभा जैनी दीक्षा सप्राप्य तत्त्ववित् ॥३३
शब्द ब्रह्मसरित्पतिस्मृतिबलादुत्तीर्य यो लीलया।
षट् तर्कागमार्क कर्कश गिरा जित्वाऽखिलान् वादिनः।
प्राच्या दिग्विजयी भवन्निव विभूर्जैनी प्रतिष्ठाकृते।
श्री सम्मेदगिरौ सुवर्ण कलशैः पट्टाभिषेकः कृतः ॥३४ —बलात्कारगण गुर्वावली

४. द्वितीय पुत्रोऽपि सुहृज्जनाख्यो विवेकवान्वादिगजेन्द्रसिंहः।
आसीत्सदा सर्वजनोपकारी खानिः सुखानां जिनधर्मचारी ॥३६।
भट्टारकः श्री जिनचन्द्र पट्टे भट्टारकोऽयं समभूद् गुणाढ्यः।
प्रभेन्दु संज्ञो हि महा प्रभावः त्यक्त्वा विभूतिं नृपराज साम्याम् ॥३७

५. 'तहु मज्झिपहासंसि वा मुणीसु, सह, संठिउं णं गोयमु मुणीसु॥' मेघमाला कथा प्र०

विजयकीर्ति के शिष्य थे। यह संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, गुजराती और हिन्दी भाषा के विद्वान थे। कवि ने अपने को अध्यात्मतरंगिणी टीका प्रशस्ति में—'संसारभीताशय, भावाभाव विवेकवारिधि और स्याद्वाद विद्यानिधि' विशेषणों से युक्त प्रकट किया है[1]। तथा 'अंग पण्णत्ति' में अपने को त्रैविद्य और 'उभयभाषापरिसेवी' सूचित किया है[2]। तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका में 'त्रैविद्य' और 'वादिपर्वतवज्रिणा' लिखा है[3]। यह सागवाड़ा गद्दी के भट्टारक थे। पट्टावली से ज्ञात होता है कि वे तर्क, व्याकरण, साहित्य और अध्यात्मशास्त्र आदि विषयों के महान ज्ञाता थे। उन्होंने विभिन्न स्थानों की यात्रा की थी। उनके अनेक शिष्य थे। उन्होंने वादियों को परास्त किया था, उनका 'वादि पर्वतवज्रिणा' विशेषण इस बात का पोषक है।

भट्टारक शुभचन्द्र ने अनेक प्रतिष्ठा समारोहों में भाग ही नहीं लिया किन्तु भट्टारक होने के नाते उनके प्रतिष्ठा कार्य को भी सम्पन्न किया। इनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ उदयपुर, सागवाड़ा, डूँगरपुर और जयपुर आदि के मन्दिरों में विराजमान हैं। संवत् १६०७ में इन्हीं के उपदेश से पञ्चपरमेष्ठी की मूर्ति की स्थापना की गई थी[4]।

भट्टारक शुभचन्द्र ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है, जिन्हें दो विभागों में विभाजित किया जा सकता है। रचनाओं के नाम निम्न प्रकार हैं :—

अध्यात्मतरंगिणी (समयसारकलश टीका) जीवंधरचरित, चन्दनाचरित, अंगपण्णत्ती, पार्श्वनाथ पंजिका, करकंडुचरित, संशयवदन विदारण, स्वरूप सम्बोधनवृत्ति, प्राकृत व्याकरण, श्रेणिकचरित, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, पाण्डव पुराण, सप्ततत्त्व निरूपण, अपशब्द खण्डन, स्तोत्र (तर्क ग्रन्थ) नन्दीश्वर कथा, कर्मदहन विधि, चिन्तामणि पूजा, तेरह द्वीप पूजा, पंचकल्याणक पूजा, गणधर वलय पूजा, पल्योपमउद्यापन विधि, सार्धद्वयद्वीप पूजा, सिद्धचक्र पूजा, पुष्पांजलि व्रत पूजा, सरस्वती पूजा, चारित्र शुद्धि विधान, सर्वतो भद्र विधान आदि।

इन रचनाओं में से यहाँ कुछ रचनाओं का परिचय दिया जाता है।

रचना-परिचय

अध्यात्मतरंगिणी टीका—यह आचार्य अमृतचन्द्र के समयसार कलशों (नाटक समयसार) की टीका है जिसे भट्टारक शुभचन्द्र ने सं० १५७३ में बनाकर समाप्त की थी[5]। टीका में कलश के पद्यों के अर्थ का उद्घाटन किया है। टीका विशद है और पद्यों के अन्तर्भाव को खोलने का प्रयत्न किया गया है। कहीं-कहीं टीकाकार ने पद्यों के अर्थ करने में चमत्कार दिखलाया है। भट्टारक शुभचन्द्र की यही टीका सबसे पहली रचना जान पड़ती है। टीका प्रकाशित हो चुकी है।

जीवंधर चरित—इसमें भगवान महावीर के समकालीन होने वाले जीवंधर कुमार का जो राजा सत्यंधर के पुत्र थे, जीवन परिचय अंकित किया गया है। जीवंधर ने अपने पिता के राज्य को पुनः प्राप्त किया, भोग भोगे, किन्तु अन्त में अपने पुत्र को राज्य देकर भगवान महावीर से दीक्षा लेकर आत्म-साधना की। कठोर तपश्चरण कर कर्म

---

१. शिष्यस्तस्य विशिष्ट शास्त्रविशदः संसारभीताशयो।
भावाभावविवेक वारिधितरस्याद्वादविद्यानिधि :॥ —अध्यात्मतरंगिणी टीका प्र०

२. "तप्पय सेवणसत्तो तेवेज्जो उहय भास परिवेई।" —अंगपणत्ती प्र०

३. सूरिश्रीशुभचन्द्रेण वादिपर्वतवज्रिणा।
त्रैविद्येनानुप्रेक्षाया वृत्तिर्विरचिता नरा॥ —कार्तिकेयानुप्रेक्षा टी० प्र०

४: संवत् १६०७ वर्षे वैशाखवदी २ गुरु श्री मूलसंघे भ० श्री शुभचन्द्र 'गुरूपदेशात् हूबडशंखेश्वरा गोत्रे सा० जिना।
भट्टारक सम्प्रदाय प्र० १४५

५. विक्रम वरभूपालात्पंचत्रिंशते स्त्रिसप्तति व्यधिके।
वर्षेप्याश्विन्मासे शुक्ले पक्षेऽथ पंचमीदिवसे ॥६ अध्या० टी० प्र०

शृंखला का विनाश कर अविनाशी पद प्राप्त किया। भट्टारक शुभचन्द्र ने इस पावन चरित की रचना संवत् १६०३ में की है[1]।

अंगपण्णत्ती—यह प्राकृत भाषा का ग्रन्थ है। इसमें २४८ गाथाएँ दी हुई हैं, जिनमें अंग पूर्वादि का स्वरूप और पदादि की संख्या दी हुई है। ग्रन्थ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला के सिद्धान्त सारादि संग्रह में प्रकाशित हो चुका है। ग्रन्थ में रचनाकाल दिया हुआ नहीं है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका—यह स्वामी कुमार की प्राकृकि गाथाओं में निबद्ध अनुप्रेक्षा ग्रन्थ है जिसे कार्तिकेयानुप्रेक्षा कहा जाता है। मूल ग्रन्थ में ४९१ गाथाएँ हैं। इन अनुप्रेक्षाओं को ग्रन्थकार ने भव्यजनों के आनन्द को जननी लिखा है, ग्रन्थ हृदयग्राही है और उक्तियां अन्तस्तल को स्पर्श करती हैं। शुभचन्द्र ने टीका द्वारा मूल गाथाओं का अर्थ उद्घाटित करते हुए अनेक ग्रन्थों से समुद्धृत पद्यों द्वारा उस विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। शुभचन्द्र के शिष्य लक्ष्मीचन्द्र ने भी कुछ भाग लिखा था। वह भी उसमें शामिल कर लिया गया है। भट्टारक शुभचन्द्र ने यह टीका वि० सं० १६१३ में बनाकर समाप्त की है[2]।

श्रेणिक चरित्र—इस ग्रंथ में १५ पर्व हैं जिनमें मगध देश के शासक और भगवान महावीर के प्रमुख श्रोता राजा श्रेणिक बिम्बसार का जीवन-वृत्त अंकित किया गया है। इसका दूसरा नाम 'पद्मनाभ पुराण' भी हैं। क्योंकि श्रेणिक का जीव पद्मनाभ नाम का प्रथम तीर्थंकर होगा, इस कारण ग्रन्थ का नाम भी पद्मनाभचरित रख दिया गया है। कर्त्ता ने इसका रचनाकाल नहीं दिया।

करकण्डु चरित—इसमें १५ सर्ग हैं। यह एक प्रबन्ध काव्य है। इसमें राजा करकंडु का जीवन-परिचय अंकित किया गया है। चरित पावन रहा है, और ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। यह राजा पार्श्वनाथ की परम्परा में हुआ है। कवि ने इस ग्रन्थ की रचना संवत् १६११ में जवाछपुर के आदिनाथ चैत्यालय में की है[3]। इस ग्रन्थ की रचना में शुभचन्द्र के शिष्य सकलभूषण सहायक थे।

पाण्डव पुराण—इस ग्रन्थ में २५ सर्ग या पर्व हैं जिनमें पाण्डवों आदि का जीवन-परिचय दिया हुआ है। उनकी जीवन-घटनाओं का भी उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में कवि ने अपने रचित २८ ग्रन्थों का उल्लेख किया है। शुभचन्द्र ने इस ग्रन्थ की रचना वि० सं० १६०८ में बाग्वर देश के शाकीवाटपुर के आदिनाथ चैत्यालय में की है[4]। इसकी रचना ने श्रीपाल वर्णी ने सहायता की है।

---

१. श्रीमद् विक्रमभूपतेर्वसुहत द्वैतेशते सप्तह।
वेदैर्न्यंनतरे समे शुभतरे मासे वरेण्ये शुचौ।
वारेणीष्पतिक त्रयोदशतिथौ सन्नूतने पत्तने।
श्रीचन्द्रप्रभधाम्नि वैविरचितं चेदं मया तोषतः ॥८७॥ जीवं० प्र०

२. श्रीमत् विक्रम भूपतेः परमिते वर्षे शते षोडशे।
माघे मासि दशाग्रवन्हि सहिते (१६१३) ख्याते दशम्यां तिथौ।
श्रीमच्छ्रीमहिसार-सार नगरे चैत्यालये श्रीगुरोः।
श्रीमच्छ्री शुभचन्द्र देव-विहिता टीका सदा नन्दतु ॥९॥

३. द्वयष्टे विक्रमतः शते समहते चैका दशाब्दाधिके,
भाद्रे मासि समुज्वले युगतिथौ खङ्गे जवाछापुरे।
श्री मच्छ्रीवृषभेश्वरस्य सदने चक्रे चरित्रंत्विदं।
राज्ञः श्री शुभचन्द्रसूरि यतिपश्चंपाधिपस्याद् ध्रुवं ॥५५॥ —करकण्डु चरित प्र०

४. श्रीमद्विक्रमभूपतेर्द्विकहते स्पष्टाष्टसंख्ये शते।
रम्येऽष्टाधिकवत्सरे (१६०८) सुखकरे भाद्रे द्वितीया तिथौ।
श्रीमद्वाग्वर नीवृतीदमतुले श्री शाकवाटेपुरे,
श्रीमच्छ्रीपुरुधाम्नि चैवरचितं स्थेयात्पुराणं चिरं ॥१८६

इनके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ मेरे अवलोकन में नहीं आए, इससे उनके सम्बन्ध में लिखना कुछ शक्य नहीं है। पूजा ग्रन्थ भी सामने नही हैं इसलिए उनका परिचय भी नहीं दिया जा सकता।

कवि की संस्कृत रचनाओं के अतिरिक्त अनेक हिन्दी रचनाएँ भी हैं जिनके नाम यहाँ दिए जाते हैं—महावीर छन्द (स्तवन २७ पद्य) विजयकीर्ति छन्द, तत्त्वसार दूहा, नेमिनाथ छन्द आदि।

भ० शुभचन्द्र का कार्यकाल सं० १५७३ (सन् १५१६) से १६१३ (सन् १५५६) ४० वर्ष रहा है। इनके अनेक शिष्य थे—श्रीपालवर्णी, सकलचन्द्र, लक्ष्मीचन्द्र और सुमतिकीर्ति आदि। इनका समय १६वीं और १७वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।

अमरकीर्ति

यह मूल संघ सरस्वती गच्छ के भट्टारक मल्लिभूषण के शिष्य थे। मल्लिभूषण मालवा की गद्दी के पट्टधर थे। इन्हीं के समकालीन विद्यानन्दि और श्रुतसागर थे। अमरकीर्ति ने जिन सहस्र नाम स्तोत्र की टीका प्रशस्ति में विद्यानंदि और श्रुतसागर दोनों का आदरपूर्वक स्मरण किया है। इनकी एकमात्र कृति जिन सहस्रनाम टीका है। प्रशस्ति में रचनाकाल दिया हुआ नही है। फिर भी अमरकीर्ति का समय विक्रम की १६वीं शताब्दी है। टीका अभी अप्रकाशित है उसे प्रकाश में लाना चाहिए। अमरकीर्ति की यह टीका भ० विश्वसेन द्वारा अनुमोदित है।

वीर कवि या बुधवीरु

कवि का वंश अग्रवाल था और यह साहू तोतू के पुत्र थे तथा भट्टारक हेमचन्द्र के शिष्य थे। संस्कृत भाषा के विद्वान और कवि थे। इनकी दो कृतियाँ मेरे देखने में आई हैं—वृहत्सिद्धचक्र पूजा और धर्मचक्र पूजा।

वृहत्सिद्धचक्र पूजा—यह सिद्धचक्र की विस्तृत पूजा है। पं० जिनदास काष्ठा संघ माथुरान्वय और पुष्करगण के भट्टारक कमलकीर्ति, कुमुदचन्द्र और भट्टारक यशसेन के अन्वय में हुए हैं। यशसेन की शिष्या राजश्री नाम की थी, जो संयम निलया थी। उसके भ्राता पद्मावती पुरवाल वंश में समुत्पन्न नारायण सिंह नाम के थे, जो मुनियों को दान देने में दक्ष थे। उनके पुत्र जिनदास नाम के थे, जिन्होंने विद्वानों में मान्यता प्राप्त की थी। इन्हीं पंडित जिनदास के आदेश से उक्त पूजा-पाठ रचा गया है। जिसे कवि ने वि० सं० १५८४ में दिल्ली के बादशाह बाबर के राज्यकाल में रोहितासपुर (रोहतक) के पार्श्वनाथ मन्दिर में बनाया है[१]।

धर्मचक्र पूजा—इस पूजा-पाठ को भी उक्त पद्मावती पुरवाल पंडित जिनदास के निर्देश से रोहितासपुर के पार्श्वनाथ जिन मन्दिर में अग्रवाल वंशी गोयल गोत्री साधारण के पुत्र साहू रणमल्ल के पुत्र मल्लिदास के लिए बनाया गया है। इसकी श्लोक संख्या ८५० है। इसे कवि ने सं० १५८६ में पूस महीने के शुक्ल पक्ष की षष्ठी के दिन समाप्त किया है[२]। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि कवि ने नन्दीश्वर पूजा और ऋषिमंडल यंत्र पूजा-पाठ की भी रचना की है। ये दोनों पूजा ग्रन्थ मेरे देखने में नहीं आए, इसी से उनका परिचय नहीं दिया। इनके अतिरिक्त कवि की अन्य क्या कृतियाँ हैं वह अन्वेषणीय है। कवि का समय विक्रम की १६वीं शताब्दी है।

१. वेदाष्टबाण शशि-संवत्सर विक्रमनृपाद्वहमाने।
रुहितासनाम्नि नगरे बब्बेर मुगलाधिराज-सद्राज्ये ॥?
श्रीपार्श्व चैत्यगेहे काष्ठा संघे च माथुरान्वयके ॥
पुष्करगणे बभूव भट्टारकमणिकमल कीर्त्याह्वः ॥ २ (सिद्ध० पू० प्र०)

२. चन्द्रबाणाष्ट षष्ठांकैः (१५८६) वर्तमानेषु सर्वतः।
श्री विक्रमनृपान्नूनं नय विक्रमशालिनः ॥८॥
पौष मासे सिते पक्षे षष्ठींदु दिन नामके।
रुहितासपुरे रम्ये पार्श्वनाथस्य मन्दिरे ॥९॥ —धर्मचक्र पूजा प्र०

कवि दोड्डय्य

यह देवप्प का पुत्र था, जो जैन पुराणों की कथा में निपुण था और पंडित मुनि का शिष्य था। देवप्प जैन ब्राह्मण था और उसका गोत्र 'आत्रेय' था। यह होय्सल देश के चंग प्रदेश के पिरिय राज शहर में राज्य करने वाले यदुकुल तिलक विरुपराज का दरबारी कत्थक था। यह राजा साहित्य का बड़ा प्रेमी था, और इसने शान्ति जिन की एक मूर्ति को विधिवत् तैयार करा कर उसे स्थापित किया था। ऐसा लेख मद्रास के अजायबघर में मौजूद एक जैन मूर्ति के नीचे उत्कीर्ण किया हुआ है[1]।

कवि दोड्डय्य ने अपने चन्द्रप्रभ चरित में विरुप राजेन्द्र की स्तुति की है। जैन ब्राह्मण पं० सलिवेन्द्र का पुत्र वोम्मरस इसी राजा का प्रधान था।

चन्द्रप्रभ चरित में २८ सन्धियाँ और ४४७५ पद्य हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में कवि ने लिखा है कि मैं कवि परमेष्ठी और गुणभद्र की कही हुई कथा को कानड़ी में लिखता हूं। पहले चन्द्रनाथ, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, रत्नत्रय, सरस्वती, गणधर, ज्वालामालिनी, विजयपक्ष और पिरिय शहर के अनन्त जिन की, और कमलभृंग महिषिकुमारपुराधीश्वर ब्रह्मदेव की स्तुति की है।

ग्रन्थ में कुछ पूर्ववर्ती कवियों का भी स्मरण किया है। कवि का समय १५५० के लगभग अर्थात् ईसा की १६वीं शताब्दी है।

पं० जिनदास

यह वैद्य विद्या में निष्णात वैद्य थे। इनके पिता का नाम 'रेखा' था जो वैद्य थे। इनकी माता का नाम 'रिखश्री' था और पत्नी का नाम जिनदासी था, जो रूप लावण्यादि गुणों से अलंकृत थी। पंडित जिनदास रणस्तम्भ दुर्ग के समीप नवलक्षपुर के निवासी थे। ग्रन्थ प्रशस्ति में उन्होंने अपने पूर्वजों का परिचय निम्न प्रकार दिया है :—

उनके पूर्वज 'हरिपति' नाम के वणिक थे। जिन्हें पद्मावती देवी का वर प्राप्त था और जो पेरोजशाह नामक राजा से सम्मानित थे। उन्हीं के वंश में 'पद्म' नामक के श्रेष्ठी हुए, जिन्होंने अनेक दान दिये और ग्यासशाहि नाम के राजा से बहु मान्यता प्राप्त की। इन्होंने शाकुम्भरी नगरी में विशाल जिन मन्दिर बनवाया था। वे इतने प्रभावशाली थे कि उनकी आज्ञा का किसी भी राजा ने उल्लंघन नहीं किया। वे मिथ्यात्व के नाशक थे और जिन गुणों के नित्य पूजक थे। इनके दो पुत्र थे। उनमें प्रथम का नाम बिंझ था, जो वैद्यराट् था। बिंझ ने शाह नसीर से उत्कर्ष प्राप्त किया था। इनके दूसरे पुत्र का नाम 'सुहृज्जन' था, जो विवेकी और वादी रूपी गजों के लिए सिंह के समान था। सबका उपकारक और जैन धर्म का आचरण करने वाला था। यह जिनचन्द्र भट्टारक के पट्ट पर प्रतिष्ठित हुआ था। इनका पट्टाभिषेक सं० १५७१ (सन् १५१४) में सम्मेदशिखर पर सुवर्ण कलशों से हुआ था। इन्होंने राजा के समान विभूति का परित्याग कर भट्टारक पद प्राप्त किया। इनका नाम भट्टारक प्रभाचन्द्र रखा गया। वे इस पट्ट पर नौ वर्ष ४ मास और २५ दिन रहे। उक्त बिंझ वैद्य का पुत्र धर्मदास हुआ, जिसने महमूद शाह से बहुमान्यता प्राप्त की थी। यह भी वैद्य शिरोमणि और विख्यातकीर्ति था। इसे भी पद्मावती देवी का वर प्राप्त था। इसकी पत्नी का नाम 'धर्मश्री' था, जो अद्वितीय दानी, सदृष्टि, रूपवान्, मन्मथविजयी और प्रफुल्ल वदना थी। इसका रेखा नाम का एक पुत्र था, जो वैद्यकला में दक्ष, वैद्यों का स्वामी और लोक में प्रसिद्ध था। यह 'वैद्य विद्या' इनकी कुल परम्परा से चली आ रही थी और उससे आपके वंश की बड़ी प्रतिष्ठा थी। रेखा अपनी वैद्य विद्या के कारण रणस्तम्भ (रणथम्भोर) नामक दुर्ग के बादशाह शेरशाह द्वारा सम्मानित हुआ था, इन्हीं रेखा का पुत्र पं० जिनदास था। इनका पुत्र नारायण दास नाम का था।

पंडित जिनदास ने शेरपुर के शान्तिनाथ चैत्यालय में ५१ पद्योंवाली 'होलीरेणुका चरित्र' की प्रति का अवलोकन कर सं० १६०८ (सन् १५५१ ई०) में ज्येष्ठ शुक्ला दसवीं शुक्रवार के दिन इस 'होलीरेणु का चरित्र' ग्रन्थ की रचना ८४३ श्लोकों में की है।

1. I. T. J. 18.

"पुरे शेरपुरे-शान्तिनाथचैत्यालये वरे।
वसुखकायशीतांशु (१६०८) संवत्सरे तथा ।।
ज्येष्ठमासे सिते पक्षे दशम्यां शुक्रवासरे।
अकारि ग्रन्थः पूर्णोऽयं नाम्ना वृष्टिप्रबोधकः ।।"

कवि जिनदास ने इस ग्रन्थ को भ० प्रभाचन्द्र के शिष्य मुनि धर्मचन्द्र और धर्मचन्द्र के शिष्य मुनि ललित कीर्ति के नाम किया है।

कवि का समय १७वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है।

ब्रह्मकृष्ण या केशवसेनसूरि

काष्ठासंघ के भट्टारक रत्नभूषण के प्रशिष्य और जयकीर्ति के पट्टधर शिष्य थे। यह कवि कृष्णदास के नाम से प्रसिद्ध थे। वाग्वर (बागड) देश के दम्पति वीरिका और कान्तहर्ष के पुत्र और ब्रह्म मंगलदास के अग्रज (ज्येष्ठ भ्राता) थे। कर्णामृत की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि कवि का गंगासागर पर्यन्त, दक्षिण देश में, गुजरात में मालवा और मेवाड़ में यश और प्रतिष्ठा थी। वे अपने समय के सुयोग्य विद्वान थे और १७वीं शताब्दी के अच्छे कवि थे।

आपकी इस समय तीन रचनाएं उपलब्ध हैं, मुनिसुव्रतपुराण—कर्णामृत पुराण और षोडशकारण व्रतोद्यापन।

मुनिसुव्रत पुराण—इसमें जैनियों के २० वें तीर्थंकर मुनिसुव्रत की जीवन गाथा अंकित की गई है। मंगल सहोदर कवि कृष्ण ने इस पुराण का निर्माण वि० सं० १६८१ के कार्तिक शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी के अपराह्न काल में कल्पवल्ली नगर में कर समाप्त किया है।

इन्द्वष्टषट्चन्द्रमितेऽथ वर्षे (१६८१) श्री कार्तिकाख्ये धवले च पक्षे।
जीवे त्रयोदश्यपराह्नया मे कृष्णेन सौख्याय विनिर्मितोऽयं ।।६६

कवि ने अपने को लोहपत्तन का निवासी और हर्ष वणिक् का पुत्र बतलाया है। और कल्पवल्ली नगर में ब्रह्मचारी कृष्ण ने ३०२५ पद्यों में इस ग्रन्थ की रचना की है। जैसा कि उसके पुष्पिका वाक्य से स्पष्ट है :—

इति श्री पुण्यचन्द्रोदये मुनिसुव्रत पुराणे श्रीपूरमल्लां के हर्ष वीरिका देहज श्री मंगलदासाग्रज ब्रह्मचारी—श्वर कृष्णदास विरचिते रामदेव शिवगमनं त्रयोविंशतितमः सर्गः समाप्तः।

कर्णामृत पुराण—इसमें कर्ण राजा के चरित का वर्णन किया गया है। यह दूसरी रचना है। कवि ने इसे वि० सं० १६८८ में मालव देश को भूतिलक पुरी के पार्श्वनाथ मन्दिर में माघ महीने में पूर्ण किया है[1]। इस ग्रन्थ की रचना में ब्रह्मवर्धमान ने सहायता पहुंचायी थी, जो इनके शिष्य जान पड़ते हैं।

षोडशकारण व्रतोद्यापन—इसमें षोडशकारणव्रत की विधि और उसके उद्यापन का वर्णन किया गया है। कवि केशवसेन या कृष्ण ने इसे वि० सं० १६९४ (सन् १६३७) में मगशिर शुक्ला सप्तमी के दिन रामनगर में बना कर समाप्त किया है।

वेदनंद रसचन्द्रवत्सरे (१६९४) मार्गमासि सितसप्तमी तिथौ।
रामनामनगरे मया कृताच्चर्यान्य-पुण्यनिवहाय सूरिणा ।१४

इति आचार्य केशवसेन विरचितं षोडशकारण व्रतोद्यापनं संपूर्णः

इसके अतिरिक्त कवि की अन्य कृतियां भी अन्वेषणीय हैं। कवि का समय विक्रम की १७वीं शताब्दी है।

---

१. लेलिहान-वसु-षड् विधुप्रमे (१६८८) वत्सरे विविध भाव संयुतः।
एष एव रचितो हिताय में ग्रन्थ आत्मन इहाखिलांगिनाम् ।।
जैन ग्रन्थ प्रश० भा० १ पृ० ५५

भ० वादिचन्द्र

यह मूलसंघ सरस्वती गच्छ के भट्टारक-भट्टारक ज्ञानभूषण द्वितीय के प्रशिष्य और भ० प्रभाचन्द्र के शिष्य थे। यह अपने समय के अच्छे विद्वान कवि और प्रतिष्ठाचार्य थे। इनको पट्ट परम्परा निम्न प्रकार है :—विद्यानन्दि के पट्टधर मल्लिभूषण, उनके पट्टधर लक्ष्मीचन्द्र, वीरचन्द्र, ज्ञानभूषण, प्रभाचन्द्र और इनके पट्टधर वादिचन्द्र। इनकी गद्दी गुजरात में कहीं पर थी।

इनकी निम्न रचनाएं उपलब्ध हैं—पार्श्वपुराण, ज्ञानसूर्योदय नाटक, पवनदूत, सुभग सुलोचना चरित, श्रीपाल आख्यान, पाण्डवपुराण, और यशोधर चरित। होलिका चरित और अम्बिका कथा।

पार्श्वपुराण—इस ग्रन्थ में १५०० पद्य है जिनमें भगवान पार्श्वनाथ का चरित अंकित है। इस ग्रन्थ को कवि ने वि० सं० १६४० कार्तिक सुदी ५ के दिन बाल्मीकि नगर में बनाया है[१]। वादिचन्द्र ने अपने गुरु प्रभाचन्द्र को बौद्ध, काणाद, भाट्ट, मीमांसक, सांख्य, वैशेषिक आदि को जीतने वाला और अपने को उनका पट्ट सुशोभित करने वाला प्रकट किया है—

बौद्धो मूढति बौद्ध गर्भितमतिः काणादको मूकति,
भट्टो भृत्यति भावनाप्रतिभटो, मीमांसको मन्दति।
सांख्यः शिष्यति सर्वथैवकथनं वैशेषिको रंकति,
यस्य ज्ञानकृपाणतो विजयतां सोऽयं प्रभाचन्द्रमा॥

ज्ञानसूर्योदय नाटक—यह एक संस्कृत नाटक है, जो 'प्रबोधचन्द्रोदय' नामक नाटक के उत्तर रूप में लिखा गया है। कृष्णमिश्रयति परिव्राजक ने बुन्देलखण्ड के चन्देल वंशी राजा कीर्तिवर्मा के समय में उक्त नाटक रचा है। कहा जाता है कि वि० सं० ११२२ में उक्त राजा के सामने यह नाटक खेला भी गया था। इसके तीसरे अंक में क्षपणक (जैन मुनि) को निन्दित एवं घृणित पात्र रूप में चित्रित किया है। वह देखने में राक्षस जसा है और श्रावकों को उपदेश देता है कि तुम दूर से चरण वन्दना करो, और यदि हम तुम्हारी स्त्रियों के साथ अति प्रसंग करें तो तुम्हें ईर्षा नहीं करनी चाहिये। आदि। उसी का उत्तर वादिचन्द्र ने दिया है। दोनों नाटकों की तुलना करने से पात्रों की समानता है, दोनों के पद्य और गद्य वाक्य कुछ हेर फेर के साथ मिलते हैं। अस्तु, कवि ने इस ग्रन्थ की रचना वि० सं० १७४८ में मधूक नगर (महुआ) में समाप्त की थी—

वसु-वेद-रसाब्जांके वर्षे माघे सिताष्टमी दिवसे।
श्रीमन्मधूकनगरे सिद्धोऽयं बोधसंरभः॥

पवन दूत—यह एक खण्ड काव्य है, जिसकी पद्य संख्या १०१ है। जिस तरह कालिदास के विरही यक्ष ने मेघ के द्वारा अपनी पत्नी के पास सन्देश भेजा है, उसी तरह इसमें उज्जयिनी के राजा विजय ने अपनी प्राणप्रिया तारा के पास, जिसे अशनिवेग नाम का विद्याधर हर ले गया था, पवन को दूत बनाकर विरह सन्देश भेजा है। यह रचना सुन्दर और सरस है। अपने पद्य[२] में कवि ने अपने नाम के सिवाय अन्य कोई परिचय नहीं दिया है। पद्य से स्पष्ट है कि यह रचना विगतवसन वादिचन्द्र की है। यह वादिचन्द्र वही है जो ज्ञान सूर्योदय नाटक के कर्त्ता है।

सुभग सुलोचना चरित्र—इस ग्रन्थ की एक प्रति ईडर के शास्त्र भंडार में है। प्रशस्ति से जान पड़ता है कि

---

१. तत्पट्टमण्डनं सूरिर्वादिचन्द्रा व्यरीरचत्।
पुराणमेतत्पार्श्वस्य वादिवृन्द शिरोमणिः॥२
शून्यवेदरसाब्जांके वर्षे पक्षे समुज्वले।
कार्तिके मासि पचम्यां बाल्मीके नगरे मुदा॥३ पा० पु० प्र०

२. पादौ नत्वा जगदुपकृत्स्वर्थं सामर्थ्यवन्तौ विघ्नध्वान्तप्रसर तरणेः शान्तिनाथस्य भक्त्या।
श्रोतुं चैतत्सदसि गुणितावायुदूताभिधानं, काव्यं चक्रे विगतवसनः स्वल्पधीर्वादिचन्द्रः॥ —पवन-दूत

यह ग्रन्थ सुगम संस्कृत में लिखा गया है। वादिचन्द्र के शिष्य सुमतिसागर ने वि० सं० १६६१ में व्यारा (नगर) में लिखा था[1]।

श्रीपाल आख्यान - यह एक गीतिकाव्य है जो गुजराती मिश्रित हिन्दी भाषा में है, और जिसे कवि ने सं० १६५१ में संघपति धनजी सवा की प्रेरणा से बनाया था[2]।

पाण्डव पुराण—इस ग्रन्थ में पाण्डवों का चरित अंकित किया गया है जिसकी रचना कवि ने वि० सं० १६५४ में समाप्त की है।

वेद बाण षडब्जांके वर्षे नभसि मासके।
बोधका नगरेऽकारि पाण्डवानां प्रबन्धकः ॥

—तेरापंथी बड़ा मन्दिर, जयपुर

यशोधर चरित—इसमें यशोधर का जीवन-परिचय दिया हुआ है। कवि ने इस ग्रन्थ को अंकलेश्वर (भरोंच) के चिन्तामणि पार्श्वनाथ मन्दिर में वि० सं० १६५७ में रचा है।

एक पंच-षडैकांक वर्षे नभसि मासके।
मुदा······कथामेनां वादिचन्द्रो विदांवरः ॥

इनके अतिरिक्त कवि की होलिका चरित और अम्बिका कथा दो रचनाएं बतलाई जाती है, जो मेरे देखने में नहीं आई। आदित्यवार कथा और द्वादश भावना हिन्दी की रचनाएं है। एक दो गुजराती रचनाएं भी इनकी कही जाती है। कवि का समय १७वी शताब्दी है।

कवि राजमल्ल

काष्ठा संघ माथुरगच्छ पुष्करगण के भट्टारकों की आम्नाय के विद्वान् थे उस समय पट्ट पर भ० खेमकीर्ति विराजमान थे। कवि राजमल्ल १७वीं शताब्दी के प्रतिभा सम्पन्न विद्वान और कवि थे। व्याकरण, सिद्धान्त, छन्द शास्त्र और स्याद्वादविद्या में पारगत थे। स्याद्वाद और अध्यात्मशास्त्र के तलस्पर्शी विद्वान थे। राजमल्ल ने स्वयं लाटी संहिता की संधियों में अपने को 'स्याद्वादानवद्य-गद्य-पद्य-विद्या विशारद विद्वन्मणि' लिखा है[3]। कुन्द-कुन्दाचार्य के समयसारादि ग्रन्थों के गहरे अभ्यासी थे। उन्होंने जन मानस में अध्यात्म विषय को प्रतिष्ठित करने के

---

१. विहाय पद काठिन्य सुगमैर्वचनोत्करैः। चकार चरितं साध्व्या वदिचन्द्रोऽल्पमेधसाम् ॥
इति भट्टारक प्रभाचन्द्रानुचरसूरि श्री वादिचन्द्र विरचिते नवमः परिच्छेदः समाप्तः ॥
सं० १६६१ वर्षे फाल्गुन मासे सुदि पचम्यां तिथौ श्री व्यारा नगरे शान्तिनाथ चैत्यालये श्री मूलसंघे कुन्दकुन्दान्वये भ० ज्ञानभूषणाः भ० श्री प्रभाचन्द्राः भ० वादिचन्द्रस्य शिष्य ब्रह्म श्री सुमतिसागरेण इद चरितं लिखितं ज्ञानावरणीय कर्म-क्षयार्थमिति।

२. संवत् सोल एकावना वर्षे कीधो ये परबंधजी।
भवियन थिर मन करीने सुणज्यो नित सबध जी ॥९
दान दीजे जिन पूजा कीजे समकित मन राखिजे जी।
सूत्रज भणिए णवकार वणिए असत्य न विभषिजे जी ॥१०
लोभव तजी ब्रह्म धरीजे साँभल्यानुं फल एह जी ॥
ए गीत जे नरनारी सुणसे अनेक मंगल तरु गेह जी ॥११
संघपति धनजी सवा वचनें कीधोए परबंध जी ॥
केवली श्रीपाल पुत्र सहित तुम्ह नित्य करो जयकार जी ॥१२

३. इतिश्री स्याद्वादानवद्यगद्यपद्य विद्याविशारद-राजमल्ल विरचितायां श्रावकाचारापर नाम लाटीसंहितायां साधुदूदात्मज-फामनमनः सरोजारविंदविकाशनैक मार्तण्ड मण्डलायमानायां कथामुख वर्णनं नाम प्रथमः सर्गः ॥

लिए आचार्य अमृतचन्द्र के समय सार कलश के पद्यों की खंडान्वयी टीका लिखी थी। इस टीका के अध्ययन से अनेक लोग अध्यात्मरस का पान करने को समर्थ हो सके हैं। आपका व्यक्तित्व प्रभावशाली था, और उनके चित्त में जन कल्याण की भावना सदा जागृत रहती थी। उन्होंने अनेक स्थानों पर विहार कर जनता को कल्याणमार्ग का उपदेश दिया था। खासकर राजस्थान के मारवाड़ और मेवाड़ देश में विहार कर जनकल्याण करते हुए यश और प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। उनका विशुद्ध परिणाम और सर्वोपकारिणी बुद्धि इन दोनों गुणों का एकत्र सम्मेलन उनके बौद्धिक जीवन की विशेषता थी। इन्हीं से साहित्य संसार में उनके यश सौरभ का विस्तार हो रहा था। उनकी अध्यात्मकमल मार्तण्ड और पंचाध्यायी कृतियाँ उनके अध्यात्मानुभव और स्याद्वादसरणी की निर्देशक हैं। वे जहाँ जाते वहाँ उनका स्वागत होता था।

उन्हें आगरा में शाहजहाँ के राज्यकाल में कुछ समय रहने का अवसर मिला है। उन्होंने शाहजहाँ को नजदीक से देखा है। और जम्बूस्वामी चरित में उसकी विशेषताओं का दिग्दर्शन भी कराया है। गुजरात विजय का वर्णन करते हुए लिखा है। उसने 'जजियाकर' छोड़ दिया था और शराब भी बन्द कर दी थी।

"मुमोच शुल्कं त्वथ जेजियाभिधं, स यावदंभोधर भूधराधरं ।।" २७

"प्रमादमादायजः प्रवर्तते कुधर्मवर्मेषु यतः प्रमत्तधीः ।
ततोऽपि मद्यं तदवद्यकारणं ।नवारयामास विदांबरः सहि ।।" २९

—जंबू स्वामिचरित

उस समय आगरा में अकबर बादशाह के खास अधिकारी कृष्णामंगल चौधरी नाम के क्षत्रिय थे, जो ठाकुर और अरजानी पुत्र भी कहलाते थे और इन्द्रश्री को प्राप्त थे। उनके आगे 'गढमल्लसाहु' नाम के एक वैष्णव धर्मावलम्बी दूसरे अधिकारी थे, जो बड़े परोपकारी थे। कवि ने उन्हें परोपकारार्थ शाश्वती लक्ष्मी प्राप्त करने का आशीर्वाद दिया है। जम्बू स्वामी चरित की रचना कराने वाले साहू टोडर उन दोनों के खास प्रीतिपात्र थे, उन्हें कवि ने टकसाल के कार्य में दक्ष बतलाया है:—

"तयोर्द्वयोः प्रीतिरसामृतात्मकः सभातिनानाटकसार दक्षकः ।"

साहू टोडर भटानिकोल (अलीगढ़) के निवासी अग्रवाल थे, इनका गोत्र गर्ग था। यह काष्ठा संघी भट्टारक कुमारसेन की आम्नाय के श्रेष्ठी थे। कवि ने इन्हीं कुमारसेन के पट्ट पर क्रमशः हेमचन्द्र, पद्मनन्दी, यशःकीर्ति और क्षेमकीर्ति का प्रतिष्ठित होना लिखा है।

कवि राजमल्ल की निम्न कृतियाँ उपलब्ध हैं—जम्बू स्वामी चरित्र, अध्यात्म-कमल मार्तण्ड, समयसारकलश-टीका, लाटी सहिता, छन्दोविद्या और पंचाध्यायी।

रचना-परिचय

जम्बूस्वामी चरित्र—इसमें अन्तिम केवली जम्बू स्वामी के चरित्र का अंकन किया गया है। इस काव्य में १३ सर्ग और २४०० के लगभग श्लोक हैं। इस ग्रन्थ की रचना कवि ने आगरे में की है, अतः आगरे का वर्णन करना स्वाभाविक है। वहाँ के शासक शाहजहाँ का अच्छा वर्णन किया है और उसके कार्यों की प्रशंसा भी की है। काव्य-वैराग्य प्रधान है। कहीं पर युद्ध का वर्णन करते हुए वीर रस आ गया है, कहीं धर्मशास्त्र और नीति का वर्णन है। जम्बूकुमार के साथ उनकी स्त्रियों और विद्युच्चर के जो संवाद हुए हैं वे बहुत ही रोचक हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्व के हैं। इस ग्रन्थ की रचना साहू टोडर के अनुरोध से हुई है जिसने प्रचुर द्रव्य व्यय करके मथुरा में ५१४ स्तूपों का जीर्णोद्धार किया था। और उनकी प्रतिष्ठा चतुर्विध संघ के समक्ष ज्येष्ठ महीने के शुक्ल पक्ष में द्वादशी बुधवार के दिन की थी[1]। प्रतिष्ठादि कार्य राजमल्ल द्वारा सम्पन्न हुआ था। इस ग्रन्थ की रचना कवि ने सं० १६३२ में

२. सवत्सरे गताब्दानां शतानां षोडशंक्रमात्, शुद्धैस्त्रिंशद्भिरब्दैश्च साधिकं दधति स्फुटम् ११९
शुभे ज्येष्ठे महामासे शुक्ल पक्षे महोदये, द्वादश्यां बुधवारे स्याद्घटीनां च नवोपरि, ।

—जंबू स्वामि चरित्र १,११९ २०

चैत्र वदी अष्टमी के दिन पुनर्वसु नक्षत्र में की है[1]।

अध्यात्म-कमल-मार्तण्ड—इसमें चार परिच्छेद हैं और २५० श्लोक हैं, रचना प्रौढ़ है, इसमें मोक्ष, मोक्ष मार्ग का लक्षण, द्रव्य सामान्य, द्रव्य विशेष और अन्तिम चतुर्थ परिच्छेद में साततत्व नौ पदार्थों का वर्णन है। कवि ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में चिदात्मभाव को नमस्कार किया है, और संसार ताप की शान्ति के लिए मोहनीय कर्म को नाश करने के लिए ग्रन्थ की रचना की है[2]।

समयसारकलश टीका—कवि ने आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा रचित समयसार की आत्मख्याति टीका के संस्कृत पद्यों में उसके हार्द को अभिव्यक्त करने वाले जो कलश रूप पद्य दिये हैं, उन्हीं पद्यों को हृदयंगम कर उनकी खंडान्वयात्मक बालबोध टीका लिखी है। यह टीका जिनागम, गुरुउपदेश, मुक्ति और स्वानुभव प्रत्यक्ष को प्रमाण कर लिखी गई है। यद्यपि टीका की भाषा ढूँढारी ब्रज-राजस्थानी मिश्रित है फिर भी गद्य काव्य सम्बन्धी शैली और लालित्यादि विशेषताओं से ओत-प्रोत है। पढ़ते ही चित्त में आह्लाद उत्पन्न करती है।

टीका में प्रत्येक श्लोक के पद-वाक्यों का शब्दशः अर्थ करते हुए उसके मथितार्थ को 'भावार्थ इस्यो' वाक्य द्वारा प्रकट किया है। खंडान्वय में विशेषणों और तत्सम्बन्धी सन्दर्भों का स्पष्टीकरण बाद में किया जाता है। राजमल्ल की इस टीका में उक्त पद्धति से ही विवेचन किया गया है। टीका में अनेक विशेषताएं पाई जाती है। जान पड़ता है कवि ने समय सारादि ग्रन्थों का खूब मनन किया था। उन्होंने उसका अनुभव होने पर ही इस टीका की रचना की है। टीका कब रची गई, इसका उल्लेख नहीं मिलता। टीका मनन करने योग्य है।

कवि ने इस टीका का निर्माण संवत् १६८० से पूर्व १६४० में किया है क्योंकि १६८० में अरथमलढोर ने यह बनारसीदास को दी है। उसके प्रचार-प्रसार में समय लगा होगा।

लाटी संहिता—यह आचार-शास्त्र का ग्रन्थ है। इसमें सात सर्ग और पद्यों की संख्या १६०० के लगभग है। कवि ने इस रचना को अनुच्छिष्ट और नवीन बतलाया है[3]। कवि ने यह ग्रन्थ अग्रवाल वंशावतस मगल गोत्रीं साहु दूदा के पुत्र संघ के अधिपति 'फामन' नाम के श्रेष्ठी के लिए बनाया है। कवि फामन के वंश का विस्तृत वर्णन करते हुए फामन के पूर्वजों का मूल निवास स्थान 'डौकीन' नगरी बतलाया है। फामन ने बैराट नगर के 'ताल्हू' नाम के विद्वान की कृपा से धर्म-लाभ किया था। जो भट्टारक हेमचन्द्र की आम्नाय के बालक थे। बैराट नाम का यह नगर वही प्रसिद्ध नगर जान पड़ता है जो राजा विराट की राजधानी था, जो मत्स्य देश में स्थित था और जहाँ बनवास के समय पाण्डव लोग गुप्त रूप में रहे हैं। यह नगर जयपुर से लगभग ४० मील दूर है। कवि ने इस नगर की खूब प्रशंसा की है। वहां उस समय अकबर बादशाह का शासन था और नगर कोट-खाई से युक्त था। उसकी पर्वतमाला में तांबे की कितनी ही खानें थी जिनसे तांबा निकाला जाता था। नगर में ऊँचे स्थान पर फामन के बड़े भाई न्योतो ने एक विशाल जिनमन्दिर का निर्माण कराया था जो एक कीर्ति स्तम्भ ही था[4]। यह दिगम्बर जैनमन्दिर बहुत विशाल और अनेक सुन्दर चित्रों से अलंकृत था। यह मन्दिर पार्श्वनाथ के नाम से लोक

१. देखो, जम्बू स्वामीचरित के अन्त की गद्य प्रशस्ति।

२. अध्यात्मकमल मार्तण्ड के प्रारम्भ के चार पद्य।

३. सत्यं धर्म रसायनो यदि तदा मां प्रशिक्षयोप क्रमात्
सारोद्धारमिवाप्यनुग्रहतया स्वल्पाक्षर सारवत्।
आर्षं चापि मृदूक्तिभिः स्फुटमनुच्छिष्टं नवीनं महत्—
न्निर्माणं परिधेहि संघ नृपतिर्भूयाप्यवादीदिति ॥७६—लाटी संहिता

४. तत्राद्यस्य वरो सुतो वरगुणो न्योताह्व संघाधिपो,
येनैतज्जिनमन्दिरं स्फुटमिह प्रोत्तुंगमत्यद्भुतं।
वैराटे नगरे निधाय विधिवत्पूजाश्च बह्व्यः कृताः।
अत्रामुत्र सुखप्रदः स्वयशसः स्तंभः समारोपितः ॥ ७२—लाटी संहिता

प्रसिद्ध था। इसी मन्दिर में बैठ कर कवि ने इस ग्रन्थ की रचना विक्रम संवत् १६४१ में आश्विन शुक्ला दशमी रविवार के दिन बनाकर समाप्त की है, जैसा कि उसकी प्रशस्ति के निम्न पद्यों से प्रकट है :—

श्रीनृपविक्रमादित्यराज्ये परिणते सति
सहैक चत्वारिंशद्भिरब्दानां शतषोडश ।।२
तत्राप्यऽश्विनीमासे सितपक्षे शुभान्विते ।
दशम्यां दाशरथेश्च शोभने रविवासरे ।।३

ग्रन्थ के प्रथम सर्ग में कथा मुख वर्णन है। और शेष छह सर्गों में ग्रन्थ कार ने आठ मूलगुण, सात व्यसन, सम्यग्दर्शन तथा श्रावक के १२ व्रतों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। सम्यग्दर्शन का वर्णन करने के लिए दो सर्ग और अहिंसाणुव्रत के लिए एक सर्ग की स्वतंत्र रचना की गई है।

छन्दो विद्या—इस ग्रन्थ की २८ पत्रात्मक एक मात्र प्रति दिल्ली के पंचायती मन्दिर के शास्त्रभण्डार में मौजूद है, जो बहुत ही जीर्ण-शीर्ण दशा में है। और जिसकी श्लोक संख्या ५५० के लगभग है। इसमें गुरु और लघु अक्षरों का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—जो दीर्घ है, जिसके पर भाग में संयुक्त वर्ण है, जो बिन्दु (अनुस्वार-विसर्ग से युक्त है—पादान्त है वह गुरु है, द्विमात्रिक है और उसका स्वरूप वक्र (ऽ) है। जो एक मात्रिक है वह लघु होता है और उसका रूप शब्द-वक्रता से रहित सरल (।) है !

दीहो संजुत्तवरो बिंदुजुओ यालिओ (?) विचरणंते ।
स गुरू वकं दुमत्तो अण्णो लहु होइ शुद्ध एकअलो ।।८

इसके आगे छन्द शास्त्र के नियम-उपनियमों तथा उनके अपवादों आदि का वर्णन किया है। इस पिंगल ग्रन्थ में प्राकृत संस्कृत अपभ्रंश और हिन्दी इन चार भाषाओं के पद्यों का प्रयोग किया गया है। जिनमें प्राकृत और अपभ्रंश भाषा की प्रधानता है उनमें छन्दों के नियम, लक्षण और उदाहरण दिये हैं। संस्कृत भाषा में भी नियम और उदाहरण पाये जाते हैं। और हिन्दी में भी कुछ उदाहरण मिलते हैं। इससे कवि की रचना चातुर्य और काव्य प्रवृत्ति का परिचय मिलता है।

छन्दो विद्या के निदर्शक इस पिंगल ग्रन्थ की रचना भारमल्ल के लिये की गई है। राजा भारमल्ल का कुल श्रीमाल और गोत्र रांक्याण था। उनके पिता का नाम देवदत्त था, नागौर के निवासी थे। उस समय नागौर में तपागच्छ के साधु चन्द्रकीर्ति पट्ट पर स्थित थे। भारमल्ल उन्हीं की आम्नाय के सम्पत्तिशाली वणिक थे। भारमल्ल के पूर्वज 'रंकाराउ' के प्रथम राजपूत थे। पुनः श्रीभाल और श्रीपुर पट्टन के निवासी थे। फिर आबू में गुरु के उपदेश से श्रावक धर्म धारक हुए थे, उन्हीं की वंश परम्परा में भारमल्ल हुए थे।

पढमं भूपालं पुणु सिरिभालं सिरिपुर पट्टण वासु,
पुणु आबू देसिं गुरु उवएसिं सावय धम्मणिवासु।
धण धम्महणिलयं संघह तिलयं रंकाराऊ सुरिंदु,
ता वंश परंपर धम्मधुरंधर भारहमल्ल णरिंदु ।।११६ (मरहट्टा)

भारमल्ल के दो पुत्र थे—इन्द्रराज और अजयराज।

इन्द्रराज इन्द्रावतार जसु नंदनु दिठ्टं,
अजयराज राजाधिराज सब कज्ज गरिट्ठं ।
स्वामी दास निवासु लच्छि बहु साहि समाणं ।
सोयं भारहमल्ल हेम-हय-कुञ्जर-दानं ।। १३१ (रोडक)

भारमल्ल कोट्याधीश थे, सांभर झील और अनेक भू-पर्वतों की खानों के अधिपति थे। संभवतः टकसाल भी आपके हाथों में थी। आपके भण्डार में पचास करोड़ सोने का टक्का (अशर्फियाँ) मौजूद थीं। जहाँ आप धनी थे वहाँ दानी भी थे। बादशाह अकबर आपका सम्मान करता था। कवि ने इनका अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है। ग्रन्थ में रचना काल नहीं दिया। यह रचना भारमल्ल को प्रसन्न करने को लिखी गई है।

नागौर से कविवर वैराट आये। और वे वहाँ के पार्श्वनाथ जिनमन्दिर में रहने लगे। वह नगर उन्हें अति प्रिय हुआ। वहाँ लाटी संहिता के निर्माण करते समय उनके दिल में एक ग्रन्थ बनाने का उत्साह जागृत हुआ।

पंचाध्यायी—कवि ने इस ग्रन्थ को पाँच अध्यायों में लिखने की प्रतिज्ञा की थी। वे उसका डेढ अध्याय ही बना सके खेद है। कि बीच में ही आयु का क्षय होने से वे उसे पूरा नहीं कर सके। यह समाज का दुर्भाग्य ही है। कवि ने आचार्य कुन्द कुन्द और अमृतचन्द्राचार्य के ग्रन्थों का दोहन करके इस ग्रन्थ की रचना की है। ग्रन्थ में द्रव्य सामान्य का स्वरूप अनेकान्त दृष्टि से प्रतिपादित किया गया है। और द्रव्य के गुण पर्याय तथा उत्पाद व्यय ध्रौव्य का अच्छा विचार किया है। द्रव्य क्षेत्र काल-भाव की अपेक्षा उसके स्वरूप का निर्बाध चिन्तन किया है। नयों के भेद और उनका स्वरूप, निश्चय नय और व्यवहार नय का स्पष्ट कथन किया है। खासकर सम्यग्दर्शन के विवेचन में जो विशेषता दृष्टिगोचर होती है वह कवि के अनुभव की द्योतक है। वास्तव में कवि ने जिस विषय का स्पर्श किया उसका सांगोपांग विवेचन स्वच्छ दर्पण के समान खोलकर स्पष्ट रख दिया है। ग्रन्थराज के कथन की विशेषता अपूर्व और अद्भुत है। उसमें प्रवचनसार का सार जो समाया हुआ है, जो दोनों ग्रन्थों की तुलना से स्पष्ट है। उस समय कवि का स्वानुभव बढ़ा हुआ था। यदि ग्रन्थ पूरा लिखा जाता तो वह एक पूर्ण मौलिक कृति होती। ग्रन्थ की कथन शैली गहन और भाषा प्रौढ है। ग्रन्थ अध्ययन और मनन करने के योग्य है। वर्णी ग्रन्थमाला से इसका प्रकाशन हुआ है।

कवि का समय १७ वी शताब्दी है।

कवि शाह ठाकुर

वंश परिचय—कवि की जाति खंडेलवाल और गोत्र लुहाड्या या लुहाडिया था। यह वंश राज्यमान्य रहा है। शाह ठाकुर साहु सील्हा के प्रपुत्र और साहु खेता के पुत्र थे, जो देव-शास्त्र-गुरु के भक्त और विद्याविनोदी थे, उनका विद्वानों से विशेष प्रेम था। कवि संगीत शास्त्र, छन्द अलंकार आदि में निपुण थे और कविता करने में उन्हें आनन्द आता था। उनकी पत्नी यति और श्रावकों का पोषण करने में सावधान थी, उसका नाम 'रमाई' था। याचक जन उसकी कीर्ति का गान किया करते थे। उसके दो पुत्र थे गोविन्ददास और धर्मदास। इनके भी पुत्रादिक थे। इस तरह शाहठाकुर का परिवार सम्पन्न परिवार था। इनमें धर्मदास विशेष धर्मज्ञ और सम्पूर्ण कुटुम्ब का भार वहन करने वाला, विनयी और गुरु भक्त था। महापुराण कलिका की प्रशस्ति में उनका विस्तृत परिचय दिया हुआ है।

गुरु परम्परा—मूल संघ, सरस्वती गच्छ के भट्टारक प्रभाचन्द्र, पद्मनन्दी, शुभचन्द्र, जिनचन्द्र, प्रभाचन्द्र, चन्द्रकीर्ति और विशालकीर्ति के शिष्य थे। इनके प्रगुरु भ० प्रभाचन्द्र जिनचन्द्र के पट्टधर थे, जो षट् तर्क में निपुण तथा कर्कश वागिरा के द्वारा अनेक कवियों के विजेता थे, और जिनका पट्टाभिषेक सं० १५७१ में सम्मेद शिखर पर सुवर्ण कलशों से किया गया था। इन्हीं प्रभाचन्द्र के पट्टधर भ० चन्द्रकीर्ति थे। इनका पट्टाभिषेक भी उक्त सम्मेद शिखर पर हुआ था[1]। लक्ष्मणगढ़ के दिगम्बर जैन मन्दिर में एक पाषाण मूर्ति है जिसे सं० १६६० में खंडेल वंश के शाह छाजू के पुत्र नारण मल के पुत्र गूजर ने मूलसंघ नंद्याम्नाय के भट्टारक चन्द्रकीर्ति द्वारा प्रति-

१. पट्टावली के ३२,३३,३४ पद्यों में प्रभाचन्द्र के सम्मेद शिखर पर होने वाले पट्टाभिषेक का वर्णन है। उसके बाद निम्न ३५ वें पद्य में चन्द्रकीर्ति के पट्टाभिषेक का कथन किया गया है।

श्री मत्प्रभाचन्द्र गणीन्द्र पट्टे भट्टारक श्री मुनि चन्द्रकीर्तिः—

संस्नापितो योऽवनिनाथवृन्दैः सम्मेद नाम्नीह गिरीन्द्र मूर्ध्नि ॥३५

प्रस्तुत प्रभाचन्द्र चित्तौड़ की गद्दी के भट्टारक थे, और चन्द्रकीर्ति का पट्टाभिषेक १६२२ में सम्मेद शिखर पर हुआ था। इनकी जाति खंडेलवाल और गोत्र गोधा था। इस पट्टावली में विशालकीर्ति का उल्लेख नहीं है।

ष्ठित कराया था[१]। उन्हीं के समसामयिक उक्त विशालकीर्ति थे, जिनको कवि ने गुरु रूप से उल्लेखित किया है[२]। यद्यपि विशालकीर्ति नाम के कई भट्टारक हो गए हैं, परन्तु प्रस्तुत विशालकीर्ति नागौर के पट्टधर ज्ञात होते हैं।

ग्रन्थ रचना—शाह ठाकुर के दो ग्रन्थ मेरे अवलोकन में आये हैं—महापुराण कलिका, और शान्ति नाथ चरित। ये दोनों ही ग्रंथ अजमेर के भट्टारकीय भंडार में उपलब्ध हैं। इनमें महापुराण कलिका में त्रेसठ शलाका पुरुषों का परिचय हिन्दी पद्यों में दिया है, कहीं-कहीं उसमें सस्कृत पद्य भी मिलते हैं। भाषा में अपभ्रंश और देशी शब्दों का बाहुल्य है। इस ग्रन्थ की रचना कवि ने २७ सन्धियों में पूर्ण की है। इसका रचना काल सं० १६५० है[३]। उस समय दिल्ली में हुमाऊँ नन्दन अकबर का राज्य था[४]। और जयपुर में मानसिंह का राज्य था। कवि ने इस त्रेसठ पुण्य पुरुषों की कथा को अज्ञान विनाशक, भव जन्म छेदन करने वाली, पावनी और शुभ करने वाली बतलाया है।

या जन्माभवछेद निर्णयकरी या ब्रह्म ब्रह्मे श्वरी।
या संसारविभावभावनपरा या धर्मकमापुरी।
अज्ञानादथध्वंसिनी शुभकरी ज्ञेया सदा पावनी,
या वेसट्ठिपुराण उत्तमकथा भव्या सदा यापुनः॥

महा पुराण कलिका

कवि की दूसरी कृति 'शान्ति नाथ पुराण' है जो अपभ्रंश भाषा की रचना है, जिसमें पांच सन्धियाँ हैं। कवि ने उनमें शान्तिनाथ का जीवन-परिचय अंकित किया है। जो चक्रवर्ती कामदेव और तीर्थंकर थे। रचना साधारण है। कवि ने सीधे-सादे शब्दों में जीवन-गाथा अंकित की है। कवि ने यह विक्रम सं० १६५२ भाद्र शुक्ला पंचमी के दिन चकत्ता वंश के जलालुद्दीन अकबर बादशाह के शासन काल में, ढूढाहड देश के कच्छप वंशी राजा मानसिंह के राज्य में लुवाइणी पुर में समाप्त किया है[५]। उस समय मानसिंह की राजधानी आमेर थी।

कवि की अन्य रचनाओं का अन्वेषण करना आवश्यक है। कवि का समय १७वीं शताब्दी का मध्यकाल है।

भट्टारक विश्वसेन

काष्ठा संघ के नन्दितट गच्छ रामसेनान्वय के भट्टारक विशालकीर्ति के शिष्य थे।

१. देखो, प्राचीन जैन स्मारक मध्यभारत व राजपूताना पृ० १९६

२. "कल्याणं कीर्ति लोके जसु भवति जगे मंडलाचार्य पट्टे,
नंद्याम्नाये सुगच्छे सुभग श्रुतमते भारतीकार मूर्ते।
सोऽयं मे वैश्य वंशे ठकुर गुरुयते कीर्ति नामा विशालो॥" महापुराण कलिका सन्धि २३

३. सवत् चिति आणि जो जगि जाणी सोलसइ पंचासइले।
षसटी सुदि माह अरु गुरु लाह रेवती नरिवत पवण भले॥
दुवई—किय कवि महापुरिस गुण कलिका सुइ संबोह सारणें।
भवि पव्वोहणाइ णिइ वुधी पइडहु भुवणि कवि इणें॥३

४. साहि अकबर दिल्ली मंडले हुमाऊं नंदन चक्खंडले,
पुव्वा पच्छिम कूट दुहाइ उत्तर दक्खिण सव्व अपणाइ।

५. संवत सोलासइ सुभग सालि, बावन वरिसउ ऊपरि विसालि।
भादव सुदि पंचमि सुभग वारि, दिल्ली मंडलु देसहु मझारि
अकबर जलालदी पाति साहि, वारइ तहु राजा मानसाहि।
कूरभवंसि आंवैरि सानि, ढूढाहड देसहु सोभिराम —शान्तिनाथ चरित प्रशस्ति, भट्टारकीय अजमेर भण्डार

विशालकीर्तिश्च विशालकीर्तिः जम्बू द्रुमांके विमलेश देवः।
विभाति विद्यार्णव एव नित्यं वैराग्यपाथोनिधि शुद्धचेताः॥
श्रीविश्वसेनो यतिवृन्दमुख्यो विराजते वीतभयः सलीलः।
स्वतर्क निर्नाशित सर्वडिम्भः विख्यातकीर्तिर्जितमारमूर्तिः।५५।

कवि की एकमात्र कृति 'षण्णवति क्षेत्रपाल' पूजा है। कवि ने उसमें रचना काल नहीं दिया। अतएव यह निश्चित करना कठिन है कि भ० विश्वसेन ने इसकी रचना कब की।

इन्होंने सं० १५९६ में एक मूर्ति की प्रतिष्ठा की थी[1]। इनके द्वारा रची आराधनासार की टीका सेन गण भंडार नागपुर में उपलब्ध है।

भट्टारक श्रीभूषण ने अपने शान्तिनाथ पुराण में अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख करते हुए विशालकीर्ति के शिष्य भ० विश्वसेन का उल्लेख किया है। इनके शिष्य विद्याभूषण थे। अतएव इनका समय विक्रम की १६वीं शताब्दी का अन्तिम चरण है।

भ० विद्याभूषण

काष्ठा संघ नन्दी तटगच्छ और विद्यागण के विद्वान भट्टारक विश्वसेन सूरि के शिष्य थे। संस्कृत और गुजराती भाषा के विद्वान् थे। इनकी संस्कृत और हिन्दी गुजराती मिश्रित अनेक रचनाए उपलब्ध है।

जम्बूस्वामी चरित्र, वर्द्धमान चरित्र, बारह सौ चौंतीस विधान पल्यविधान पूजा, ऋषिमण्डल यंत्र पूजा, वृहत्कलिकुण्ड पूजा, सिद्धयंत्र मंत्रोद्धार स्तवन-पूजन। इनमें जम्बूस्वामी चरित्र की रचना सं० १६५३ में की है, और पल्य विधान पूजा की रचना संवत १६१४ में समाप्त की है।

इनके उपदेश से बडौदा के वाडी मुहल्ले के दि० जैन मन्दिर में पार्श्वनाथ की प्रतिमा सं० १६०४ में प्रतिष्ठित कराई थी जिसे इनकी दीक्षित शिष्या हुवड अनंतमती ने की थी।

इन्होंने गुजराती में भविष्यदत्तरास की रचना सं० १६०० में की थी। द्वादशानुप्रेक्षा (द्वादश भावना)। नेमीश्वर फाग ३१५ पद्यों में रची गई हैं। यह एक साहित्यिक कृति है, इसके २५१ पद्यों में नेमिनाथ का जीवन परिचय अंकित किया गया है दश भवान्तरों के साथ। इसके प्रारम्भ के दो पद्य संस्कृत में हैं और कहीं-कहीं मध्य में भी संस्कृत पद्य पाये जाते हैं।

इनका समय १६०० से १६५३ तक सुनिश्चित है। यह १७वीं शताब्दी के भट्टारक है।

भट्टारक श्रीभूषण

यह काष्ठा संघ नन्दि तटगच्छ और विद्या गण में प्रसिद्ध होने वाले रामसेन, नेमिसेन, लक्ष्मीसेन, धर्मसेन, विमलसेन, विशालकीर्ति, और विश्वसेन, आदि भट्टारकों की परम्परा में होने वाले भट्टारक विद्याभूषण के पट्टधर थे। और सोजित्रा (गुजरात) की गद्दी के पट्टधर थे। भट्टारक समुदाय से ज्ञात होता है कि इनके पिता का नाम कृष्णासाह और माता का नाम माकुहा था। अच्छे विद्वान थे, परन्तु मूलसंघ से विद्वेष रखते थे। उसके प्रति उनका तीव्र कषाय थी। पं० नाथूराम जी प्रेमी ने अपने जैन साहित्य और इतिहास के पृष्ठ ३९१ में उनके 'प्रतिबोधचिन्तामणि' नामक संस्कृत ग्रन्थ का परिचय कराया है। उससे उनकी उस विद्वेष रूप परिणति का सहज ही पर्दाफाश हो जाता है। सोजित्रा में काष्ठा संघ के भट्टारकों की गद्दी थी, जो अब नहीं है। भ० विद्याभूषण स० १६०४ में उक्त पट्ट पर मौजूद थे। उक्त सम्वत् में उनके उपदेश से पार्श्वनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा हूंवड

---

१. सं० १५९६ वर्षे फा० वदि २ सोमे काष्ठा संघे नरसिंहपुरा ज्ञातीय नागर गोत्रे भ० रत्नश्री भा० लीलादे नित्य प्रणमति भ० श्री विश्वसेन प्रतिष्ठा।

—भ० सम्प्रदाय पृ० २९९

ज्ञातीय अनन्तमती ने कराई थी[1]। श्रीभूषण उक्त पट्ट पर कब प्रतिष्ठित हुए इसका स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता। किन्तु पाण्डव पुराण के सं० १६५७ की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि वे उक्त पट्ट पर प्रतिष्ठित हो चुके थे। सं० १६३४ में इनका श्वेताम्बरों से बाद हुआ था जिससे उन्हें देश त्याग करना पड़ा था। इन्होंने बादिचन्द्र को भी बाद में पराजित किया था।

श्रीभूषण के शिष्य भ० चन्द्रकीर्ति ने अपने गुरु श्रीभूषण को सच्चारित्र तपोनिधि, विद्वानों के अभिमान शिखर को तोडने वाला वज्र, और स्याद्वादविद्याचरण बतलाया है।

यह प्रतिष्ठाचार्य भी थे। इन्होंने सं० १६३६ में पार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित की थी। और सं० १६६० में पद्मावती की मूर्ति की प्रतिष्ठा की थी।

तत्पट्टाम्बर भूषणैकतरणिः स्याद्वादविद्याचिणो।१।
विद्वद्वृन्द कुलाभिमानशिखरी प्रध्वंसतीव्राशनिः।
सच्चारित्र तपोनिधिधर्मनिवरो विद्वत्सुशिष्यै व्रजः,
श्री श्रीभूषण सूरिराट् विजयेत् श्री काष्ठा संघाग्रणी ॥७२

आपकी निम्न कृतियाँ उपलब्ध हैं—पाण्डव पुराण, शान्तिनाथ पुराण, हरिवश पुराण, अनन्तव्रत पूजा, ज्येष्ठ जिनवर व्रतोद्यापन चतुर्विशति तीर्थंकर पूजा, द्वादशाग पूजा।

पाण्डव पुराण—इस में पाण्डवों का चरित अंकित गया है, जिसकी श्लोक संख्या छह हजार सात सौ बतलाई गई है। कवि ने इस ग्रन्थ को वि० सम्वत १६५७, पूस महीने की शुक्ल पक्ष की तृतीया रविवार के दिन पूर्ण किया है—

श्री विक्रमार्क समयागत षोडशार्के सत्सुंदराकृति वरे शुभवत्सरे वै।
वर्षे कृतं सुखकरं सुपुराणमेतत् पचाशदुत्तर सुसप्त युते (१६५७) वरेण्ये॥
पौस मासे तथा शुक्ले नक्षत्रे तृतियादिने।११०
रविवारे शुभेयोगे चरितं निर्मितं मया॥१११

शान्तिनाथ पुराण—इसमें भगवान शान्तिनाथ का जीवन परिचय अंकित है जिसकी पद्य संख्या ४०२५ बतलाई गई है। प्रशस्ति में कवि ने अपनी पट्ट परम्परा के भट्टारकों का उल्लेख किया है। कवि ने इस ग्रन्थ को सं० १६५६ में मगशिर के महीने की त्रयोदशी को सौजित्र में नेमिनाथ के समीप पूरा किया है—

संवत्सरे षोडशनामधेये एकोनशतषष्ठियुते (१६५६) वरेण्ये।
श्री मार्ग शीर्षे रचित मयाहि शास्त्रं च वष विमल विशुद्धं॥४६२
त्रयोदशी सद्दिवसे विशुद्ध वारे गुरौ शान्ति जिनस्य रम्यं।
पुराणयेत द्विपुलं विशालं जीयाच्चिरं पुण्यकरं नराणाम्॥४६३ (युग्म)

हरिवंश पुराण—इस ग्रन्थ की प्रति तेरहपंथी बड़ा मन्दिर जयपुर के शास्त्र भण्डार में उपलब्ध है, जिस का रचना काल सं० १६७५ चैत्र शुक्ला त्रयोदशी है। (जैन ग्रन्थ सूची भा० २ पृ० २१८)

शेष पूजा ग्रन्थ हैं, उनकी प्रतियाँ सामने न होने से उनका परिचय देना शक्य नहीं है।

भट्टारक चन्द्रकीर्ति

काष्ठासंघ नन्दितटगच्छ विद्यागण के भट्टारक श्रीभूषण के पट्टधर शिष्य थे। अच्छे विद्वान थे। इन्होंने अपने ग्रन्थों के अन्त में जो प्रशस्ति दी है उसमें नन्दितट गच्छ के भट्टारकों की प्रशंसा की गई है। चन्द्रकीर्ति कहां के पट्टधर थे, उसका स्पष्ट निर्देश नहीं मिला। उस समय सोजित्रा के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी काष्ठासंघ के पट्ट रहे

१. सं० १६०४ वर्षे वैशाखवदी ११ शुक्रे काष्ठा संघे नन्दी तटगच्छे विद्यागणे भट्टारक रामसेनान्वये भ० श्री विशाल कीर्नि तत्पट्टे भट्टारक श्री विश्वसेन तत्पट्टे भ० विद्याभूषणेन प्रतिष्ठितं, हूँबड जातीय गृहीत दीक्षा बाई अनन्तमती नित्यं प्रणमति।

हैं। चन्द्रकीर्ति ने दक्षिण की यात्रा करते हुए कावेरी नदी के तीर पर नरसिंह पट्टन में कृष्ण भट्ट को वाद में पराजित किया था। यह १७वीं शताब्दी के विद्वान थे। इनकी निम्न रचनाएं उपलब्ध हैं—पार्श्वपुराण, वृषभदेव पुराण, कथा-कोश, पद्मपुराण, पंचमेरू पूजा, अनंतव्रतपूजा और नन्दीश्वर विधान आदि।

पार्श्वपुराण—१५ सर्गों में विभक्त है, जिसकी पद्य संख्या २७१५ है। इसमें तेवीसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित वर्णित है। कवि ने इसकी रचना देवगिरि नामक मनोहर नगर के पार्श्वनाथ जिनालय में वि० सं० १६५४ के वैशाख शुक्ला सप्तमी गुरुवार को समाप्त की है।

> **श्रीमद्देवगिरौ मनोहरपुरे श्रीपार्श्वनाथालये,**
> **वर्षेब्धौ पुरसैक मेय (१६५४) इह वै श्रीविक्रमांकेश्वरे।**
> **सप्तम्यां गुरुवासरे श्रवण भे वैशाखमासे सिते,**
> **पार्श्वाधीशपुराणमुत्तमर्मिदं पर्याप्तमेवोत्तरम्॥ (पार्श्व० प्र०)**

वृषभदेव पुराण—इसमें आदिनाथ का चरित्र वर्णित है। यह २५ सर्गों में समाप्त हुआ है। कवि ने इस ग्रन्थ में रचना काल नहीं दिया, अतः दोनों ग्रन्थों के अवलोकन किये बिना यह निश्चय करना कठिन है कि इनमें कौन ग्रन्थ पहले बना, और कौन बाद में।

कथा कोश—में सप्त परमस्थान के व्रतों की कथाएं दी हुई हैं। ग्रन्थ दो अधिकारों में समाप्त हुआ है। ग्रन्थ में रचना काल दिया हुआ नहीं है। अन्य ग्रन्थ सामने न होने से उनका परिचय देना सम्भव नहीं है। ग्रन्थकर्ता कवि चन्द्रकीर्ति १७वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के विद्वान हैं।

भ० सकलभूषण

मूलसंघ स्थित नन्दिसंघ और सरस्वती गच्छ के भट्टारक विजय कीर्ति के प्रशिष्य और भट्टारक शुभचन्द्र के शिष्य एवं भट्टारक सुमति कीर्ति के गुरुभ्राता थे। भ० सुमतिकीर्ति भी शुभचन्द्र के शिष्य थे और उनके बाद पट्ट पर बैठे थे।

भ० सकलभूषण ने नेमिचन्द्राचार्य आदि यतियों के आग्रह तथा वर्धमान टोला आदि की प्रार्थना से उप-देश रत्नमाला नाम के ग्रन्थ की रचना वि० सं० १६२७ में श्रावण शुक्ला षष्ठी के दिन समाप्त की है[1]। इस ग्रन्थ में १८ अध्याय और तीन हजार तीन सौ तेरासी (३३८३) पद्य हैं।

इनकी दूसरी कृति 'मल्लिनाथचरित्र' है, जिसकी प्रति बूंदी के अभिनन्दन स्वामी के मन्दिर के शास्त्र भंडार में उपलब्ध है[2]। अन्य रचनाएं अन्वेषणीय हैं। कवि का समय १७ वीं शताब्दी है।

भ० धर्मकीर्ति

मूलसंघ सरस्वतीगच्छ और बलात्कार गण के विद्वान भट्टारक ललितकीर्ति के शिष्य थे। ललितकीर्ति मालवा की गद्दी के भट्टारक थे। प्रस्तुत धर्मकीर्ति की दो रचनाएं उपलब्ध हैं—पद्मपुराण और हरिवंश पुराण। पद्म पुराण की रचना कवि ने रविषेण के पद्म चरित को देखकर मालव देश में सं० १६६९ में श्रावण महीने की तृतियाशनिवार के दिन पूर्ण की थी[3]। और हरिवंश पुराण भी उसी मालवा में सं० १६७१ के आश्विन महीने की कृष्णा पंचमी

---

१. सप्तविंशत्यधिके षोडशशतवत्सरेषु (१६२७) विक्रमतः।
श्रावणमासे शुक्ले पक्षे षष्ठ्यां कृतो ग्रन्थः॥२३५ —जैन ग्रन्थ प्र० सं० १ पृ० २०

२. जैन ग्रन्थसूची भा० ५ पृ० ३६६

३. "संवत्सरे द्वयष्ट शते मनोज्ञे चैकोन सप्तत्यधिके (१६६९) सुमासे।
श्री श्रावणे सूर्यदिने तृतीयातिथौ च देशेषु हि मालवेषु॥ (पद्म पु० प्र०)

रविवार के दिन पूर्ण किया था[1]। धर्मकीर्ति ने इन ग्रन्थों में अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख किया है, वह निम्न प्रकार है—देवेन्द्रकीर्ति, त्रिलोक कीर्ति, सहस्त्रकीर्ति, पद्मनन्दी, यशः कीर्ति, ललितकीर्ति और धर्मकीर्ति। कवि का समय विक्रम की १७वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। कवि की अन्य रचनाएं अन्वेषणीय हैं।

भ० गुणचन्द्र

यह मूलसंघ सरस्वतीगच्छ बलात्कार गण के विद्वान थे। यह भ० रत्नकीर्ति के द्वारा दीक्षित और यशः कीर्ति के शिष्य थे। इन के पूजा ग्रन्थ ही उपलब्ध है। अन्य कोई महत्व की रचनाएं अवलोकन करने में नही आई। यह १७वीं शताब्दी के विद्वान थे। भ० गुणचन्द्र ने बाग्वर (वागड) देश के सागवाडा के निवासी हुवड या हूमड वशी सेठ हरषचन्द दुर्गादास की प्रेरणा से उनके व्रत के उद्यापनार्थ स० १६३३ म वहा के आदिनाथ चैत्यालय में ८०० श्लोकों में 'अनतजिन व्रत पूजा' की रचना की थी।

संवत षोडशत्रिशवैष्य फुलके (१६३३) पक्षेऽवदाते तिथो,
पञ्चम्यां गुरुवासरे पुरुजिनेट् श्री शाकमार्गपुरे।
श्रीमद्धुम्बड वंश पद्म सविताहर्षाख्यदुर्गो वणिक्,
सोऽयं कारितवाननंतजिनसत्पूजांवरे वाग्वरे॥

—जैन ग्रन्थ प्रश० स० भा० १ पृ० ३४

मौन व्रत कथा और अन्य अनेक पूजा ग्रन्थ इनके बनाये हुए कहे जाते है, पर सामने न होने से उनके सम्बन्ध में कुछ नही कहा जा सकता।

भट्टारक रत्नचन्द्र

यह हुंबड जाति के महीपाल वैश्य और चम्पा देवी के पुत्र थे। तथा मूलसंघ सरस्वतिगच्छ के भट्टारक सकलचन्द्र के शिष्य थे। इन्होंने अपनी गुरु परम्परा के भट्टारकों का उल्लेख निम्न प्रकार दिया है—पद्मनन्दी सकल कीर्ति, भुवनकीर्ति, रत्नकीर्ति, मंडलाचार्य यशःकीर्ति, गुणचन्द्र, जिनचन्द्र, सकलचन्द्र और रत्नचन्द्र।

रत्नचन्द्र स्याद्वाद के जानकार थे। इनकी एकमात्र रचना सुभौमचक्रवर्ती चरित्र है, जो सात सर्गो में समाप्त हुआ है। कवि ने इस ग्रथ को वि० सं० १६८३ में भाद्रपद शुकला पचमी गुरुवार के दिन समाप्त किया है[2]। यह विक्रम की १७वी (और ईसा की १६२७ सत्रहवी) शताब्दी के विद्वान थे।

भट्टारक रत्न चन्द्र ने यह ग्रन्थ खडेलवाल वशोत्पन्न हेमराज पाटनी के लिये बनाया था, जो सम्मेद शिखर की यात्रार्थ भ० रत्नचन्द्र के साथ गये थे। हेमराज की धर्मपत्नी का नाम 'हमीरदे' था। यह वाग्वर देश में स्थित सागबाड़ा के निवासी थे। कवि ने ग्रन्थ बुध तेजपाल की सहायता से बनाया था[3]।

वादि विद्यानन्द

विद्यानन्द नन्दि संघ, कुन्दकुन्दान्वय वलात्कारगण और भारतीगच्छ के आचार्य थे। यह अपने समय के

---

१. 'वर्षे द्वयष्ट शते चैकाग्रसप्तत्याधिके (१६७१) रवौ।
अश्विने कृष्ण पचम्यां गन्थोऽयं रचित मया॥" —हरिवंश पु० प्र०

२. संवते षोडसाख्याने त्र्यशीति वत्सरांकिते।
मासि भाद्र पदे श्वेत पंचम्या गुरुवारके॥११

३. ग्रन्थ का पुष्पिका वाक्य इस प्रकार है :—
इति श्री सुभौमचरित्रे सूरि श्रीसकलचन्द्रानुचर भट्टारक श्री रत्नचन्द्र विरचिते बिबुधतेजपालसाहाय्य सापेक्षे श्रीखण्डेल—वालान्वय पट्टणि गोत्राम्बरादित्य श्रेष्ठि हेमराजनामांकिते सुभौमनरकप्राप्ति वर्णनो नाम सप्तमसर्गः।
(जैन ग्रन्थ प्र० पृ० ६२)

अच्छे विद्वान, तार्किक और वादी रूप में प्रसिद्ध थे। इनका उल्लेख शक सं० १४५२ (ई० सन् १५३०) में उत्कीर्ण हुए हुम्बच्चके नगर ताल्लुक लेख न० ४६ में हुआ है। वर्द्धमान मुनीन्द्र ने, जो इन्हीं विद्यानन्द के शिष्य और बन्धु थे, उन्होंने शक सं० १४६४ (सन् १५४२) में समाप्त हुए दशभक्तयादि महाशास्त्र में उनका खूब स्तवन किया है। यह विद्यानन्द विजय नगर साम्राज्य के समकालीन है। इन्होंने गजराज, देवराज, कृष्णराज आदि अनेक राजाओं की सभा में जाकर शास्त्रार्थ किये और उनमें विजय प्राप्त कर यश और प्रतिष्ठा प्राप्त की। इन्होंने गेरुसोडये, कोयण और श्रवण बेलगोल आदि स्थानों में अनेक धार्मिक कार्य सम्पन्न किये। इनके देवेन्द्र कीर्ति, वर्द्धमान मुनीन्द्र आदि अनेक शिष्य थे। इनमें वर्द्धमान मुनीन्द्र ने दशभक्तयादि महाशास्त्र और वरांग चरित की रचना की है[1]। स्वर्गीय आर० नरसिंहाचार्य का अनुमान है कि ये विद्यानन्द भल्लातकी पुर (गैरसोप्पे) के निवासी थे। और इन्होंने 'काव्यसार' के अतिरिक्त एक और ग्रन्थ की रचना की थी[2]।

इनका स्वर्गवास शक सं० १४६३ (सन् १५४१) में हुआ था जैसा कि दशभक्तयादि महाशास्त्र के निम्न वाक्य से प्रकट है :—

"शोक वेद खराब्धि चन्द्र कलिते सवत्सरे शार्वरे,
शुद्ध श्रावणभाक्कृतान्त मेये धरणोतुग्मेत्र खौ।
कर्किस्थे समुरौ जिनरमरणतो वारीन्द्रवृन्दार्चितः।
विद्यानन्द मुनीश्वरः सगतवान् स्वर्गे चिदानन्दकः॥

—प्रशस्तिसं० पृ० १२८

ब्रह्म कामराज

मूलसंघ बलात्कार गण के भट्टारक पद्मनन्दी के अन्वय में हुए हैं। यह भट्टारक सकलभूषण के प्रशिष्य और नरेन्द्र कीर्ति के शिष्य ब्रह्म महलाद वर्णी के शिष्य थे। इन्होंने भट्टारक सकलकीर्ति के आदि पुराण को देखकर मेवाड में शक सं० १५५५ फाल्गुन महीने मे (सन् १६३३ वि० सं० १६६१) में जय पुराण नाम के ग्रन्थ की रचना की है[3] रचना साधारण है। कवि का समय विक्रम की १७वी शताब्दी है।

ब्रह्म रायमल्ल

इनका जन्म हूंबड वंश में हुआ था। इनके पिता का नाम 'मह्य' और माता का नाम चम्पादेवी था। यह जिन चरणों के उपासक थे। इन्होंने महासागर के तट भाग में समाश्रित ग्रीवापुर के चन्द्रप्रभ जिनालय में वर्णीकर्मसी के वचनों से 'भक्तामर' स्तोत्र की वृत्ति स० १६६७ में आषाढ शुक्ला पंचमी बुद्धवार के दिन बनाई थी[4]।

ब्रह्म रायमल्ल मुनि अनन्तकीर्ति के शिष्य थे, जो भट्टारक रत्नकीर्ति के पट्टधर थे। इनकी हिन्दी गुजराती मिश्रित ७-८ रचनाएं उपलब्ध हैं- नेमीश्वररास, हनुमन्त कथा, प्रद्युम्नचरित, सुदर्शनसार, निर्दोषसप्तमी व्रत कथा, श्रीपालरास और भविष्यदत्त कथा। इनका समय १७वीं शताब्दी है।

---

१. देखो, अनेकान्त वर्ष २६ किरण २ पृ० ८२

२. प्रशस्तिसंग्रह पृ० १४४

३. गण्ट्रस्यैनत्पुराण शक मनुजपतेर्मेदपाटस्य पुर्या।
पश्चात्संवत्सरस्य प्रचलितपटनः पंच पंचाशतो हि।
अभ्राभ्राक्षैकसवच्छरनिवियजः (१५५५) फाल्गुणे मासि पूर्णे।
मुख्यायामोदयायो सुकविनिगिनो लालजिष्णोश्च वाक्यात्॥ जैनग्रन्थ प्र० पृ० ३६

४. सप्तषष्ठ्यंकिते वर्षे षोडशाख्ये हि संवते (१६६७)। आषाढे श्वेत पक्षस्य पंचम्यां बुधवारके॥८
ग्रीवापुरे महासिंधो स्तटभागं समाश्रिते। प्रस्तुंगदुर्ग-संयुक्ते श्रीचन्द्रप्रभसद्मनि॥
वर्णिनः कर्मसीनाम्नोवचनात् मयकाऽरचि। भक्तामरस्य सद्वृत्तिः रायमल्लेनवर्णिना:॥१० जैन ग्रन्थ प्र० पृ० १००

भट्टारक ज्ञानकीर्ति

मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वय सरस्वती गच्छ और बलात्कारगण के भट्टारक वादिभूषण के पट्टधर शिष्य थे, और पद्म कीर्ति के गुरु भाई थे।

"श्री मूलसंघे च सरस्वतीति गच्छे बलात्कारगणे प्रसिद्धे।
श्री कुन्दकुन्दान्वयके यतीशः श्री वादिभूषो जयतीह लोके ॥५८
तदगुर बन्धर्भुवन समर्च्यः पंकजकीर्ति परम पवित्रः।
सूरि पदाप्तो मदन विमुक्तः सद्गणराशिर्जयतु चिरं सः ॥५६
शिष्यस्तयोर्ज्ञानसुकीर्ति नामा श्री सूरिरल्प सुशास्त्रवेत्ता"

ज्ञानकीर्ति की एकमात्र रचना 'यशोधर चरित' है, जिसमें राजा यशोधर और चन्द्रमती का जीवन-परिचय दिया हुआ है। कवि ने इस ग्रन्थ को बंगदेश में स्थित चम्पानगरी के समीप 'अकच्छपुर' (अकबरपुर) नामक नगर के आदिनाथ चैत्यालय में विक्रम सं० १६५६ में माघशुक्ला पंचमी शुक्रवार के दिन बनाकर पूर्ण किया[१]।

भट्टारक ज्ञानकीर्ति ने साह नानू की प्रार्थना और बुधजयचन्द्र के आग्रह से इस ग्रन्थ की रचना की थी। साह नानू वैरिकुल को जीतने वाले राजा मानसिंह के महामात्य (प्रधानमंत्री थे[२]।) खण्डलवाल वंशभूषण गोधा गोत्रीय साह रूपचन्द्र के सुपुत्र थे। साह रूपचन्द्र जैसे श्रीमन्त थे वैसे ही समुदार, दाता, गुणज्ञ और जिनपूजन में तत्पर रहते थे।

अष्टापद शैल पर जिस तरह भरत चक्रवर्ती ने जिनालयों का निर्माण कराया था, उसी तरह साह नानू ने भी सम्मेद शैल पर निर्वाण प्राप्त बीस तीर्थंकरों के मन्दिर बनवाये थे[३] और उनकी अनेक बार यात्रा भी की थी।

पंडित रूपचन्द्र

यह कुरु नाम के देश में स्थित सलेमपुर के निवासी थे। आप अग्रवाल वंश के भूषण और गर्ग गोत्री थे। आपके पितामह का नाम मामट और पिता का नाम भगवानदास था। भगवानदास की दो पत्नियाँ थी। जिनमें प्रथम से ब्रह्मदास नाम के पुत्र का जन्म हुआ। और दूसरी 'चाचो' से पांच पुत्र समुत्पन्न हुए थे—हरिराज, भूपति, अभयराज, कीर्तिचन्द्र और रूपचन्द्र। इनमें अन्तिम रूपचन्द्र हो प्रसिद्ध कवि थे और जैन सिद्धान्त के अच्छे मर्मज्ञ विद्वान थे। वे ज्ञान प्राप्ति के लिये बनारस गये थे और वहां से शब्द अर्थ रूप सुधारस का पान कर दरियापुर में लौटकर आये थे। दरियापुर वर्तमान में बाराबंकी और अयोध्य के मध्यवती स्थान में बसा हुआ है, जिसे दरियाबाद भी कहा जाता है। वहाँ आज भी जैनियों की बस्ती है और जिन मन्दिर बना हुआ है।

हिन्दी भाषा के प्रसिद्ध कवि बनारसी दास जी ने अपने 'अर्धकथानक' में लिखा है कि संवत् १६६२ में

---

१. शते षोडशएकोन षष्ठिवत्सरके शुभे।
माघे शुक्लेऽपि पंचम्या रचितं भृगुवासरे ॥६१—यशोधर च० प्र०

२. राजाधिराजोऽत्र तदा विभाति श्रीमान् सिंहो जित वैरिवर्ग।
अनेकराजेन्द्र विनम्यपादः स्वदान सर्न्तपित विश्वलोकः ॥
प्रतापः सूर्यस्तपतीह यस्य द्विषां शिरस्सु प्रविधाय पाद।
अन्याय-दुष्यन्ति मयास्य दूरं यथाकरं यः प्रविकाशयेच्च ॥६३
तथैव राज्ञोऽस्ति महानमात्यो नानूसुनामा विदितो धरित्र्या।" —यशोधर०

३. सम्मेद शृंगे च जिनेन्द्र गेहमष्टापदे वादिम चक्रधारी ॥६४
यो कारयद्यत्र च तीर्थनाथाः सिद्धिं गता विंशति मानभुक्ताः।" यशोधर च० प्र०

आगरा में पं० रूपचन्द्र जी गुनी का आगमन हुआ और उन्होंने तिहुना साहू के मन्दिर में डेरा किया[१]। उस समय आगरा में सब अध्यात्मियों ने मिलकर विचार किया कि उक्त पंडित जी से आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती द्वारा रचित गोम्मटसार ग्रन्थ का वाचन कराया जाय। चुनांचे पंडित जी ने गोम्मटसार ग्रन्थ का प्रवचन किया और मार्गणा, गुणस्थान, जीवस्थान तथा कर्मबन्धादि के स्वरूप का विशद विवेचन किया[२]। साथ ही क्रियाकाण्ड और निश्चय व्यवहार नय की यथार्थ कथनी का रहस्य भी समझाया और यह भी बतलाया कि जो नय दृष्टि से विहीन हैं उन्हें वस्तु स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती तथा वस्तु स्वभाव से रहित पुरुष सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकते। पंडित रूपचन्द्र जी के वस्तु तत्त्व विवेचन से पं० बनारसी दास का वह एकान्त अभिनिवेश दूर हो गया जो उन्हें और उनके साथियों को 'नाटक समयसार' की रायमल्लीय टीका के अध्ययन से हो गया था और जिसके कारण वे जप, तप, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं को छोड़कर भगवान को चढ़ा हुआ नैवेद्य भी खाने लगे थे। यह दशा केवल बनारसी दास जी की नहीं हुई किन्तु उनके साथी 'चन्द्रभान, उदयकरन और थानमल्ल की भी हो गई थी। ये चारों ही जने नग्न होकर एक कोठरी में फिरते थे और कहते थे कि हम मुनिराज हैं, हमारे पास कुछ भी परिग्रह नहीं है। जैसा कि अर्धकथानक के निम्न दोहे से स्पष्ट है :—

"नगन होंहि चारों जने फिरहिं कोठरी मांहि।
कहंहि भये मुनिराज हम, कछु परिग्रह नांहि।"

पांडे रूपचन्द्र जी के बचनों को सुनकर बनारसी दास जी का परिणमन और रूप ही हो गया। उनकी दृष्टि में सत्यता और श्रद्धा में निर्मलता का प्रादुर्भाव हुआ। उन्हें अपनी भूल मालूम हुई और उन्होंने उसे दूर किया। उस समय उनके हृदय में अनुपम ज्ञान ज्योति जागृत हो उठी थी, और इसीसे उन्होंने अपने को 'स्याद्वाद परिणति' में परिणत बतलाया है।

सं० १६६३ में पं० बनारसी दास ने आचार्य अमृत चन्द्र के 'नाटक समयसार कलश' का हिन्दी पद्यानुवाद किया और संवत् १६६४ में पंडित रूपचन्द्र जी का स्वर्गवास हो गया[३]।

१. स० १६६० के लगभग रूपचन्द्र का आगरा में आगमन हुआ।
अनायास इस ही समय नगर आगरे थान।
रूपचन्द्र पडित गुनी आयो आगमजान ॥६३०
तिहुना साहु देहरा किया, तहाँ आय तिन डेरा लिया। अर्धकथानक
तिहुना साहु का यह देहरा स० १६५१ से पहले का बना हुआ है। कविवर भगवती दास ने सं० १६५१ में निर्मित अर्गलपुर जिनमन्दिर' के ८वें पद्य में इसका उल्लेख किया है।

२. सब अध्यातमी कियो विचार, ग्रंथ बंचायो गोम्मटसार।
तामे गुनथानक परवान, कह्यो ज्ञान अरु क्रिया विधान ॥

३. अनायास इसही समय नगर आगरे थान, रूपचन्द्र पण्डित गुनी आयो आगमजान ॥
तिहुनासाहुदेहरा किया, तहाँ आय तिन डेरा लिया, सब अध्यातमी कियो विचार, ग्रन्थ वचायो गोम्मट सार ॥६३१
तामें गुन थानक परवान, कह्यो ज्ञान अरु क्रिया विधान।
जो जिय जिस गुनथानक होइ, जैसी क्रिया करै सब कोइ।६३२
भिन्न-भिन्न विवरण विस्तार, अन्तरनियत बहुरि व्यवहार।
सबकी कथा सब विध कही, सुनि कै संसै कछु ना रही ॥६३३
तब बनारसी ओरहि भयो, स्याद्वाद परिणति परिनयो।
पांडे रूपचन्द्र गुरु पास, सुन्यो ग्रन्थ मन भयो हुलास ॥६३४
फिर तिस समय बरस के बीच, रूपचंद्र को आई मीच।
सुन-सुन रूपचन्द्र के बैन, बनारसी भयो दिढ़ जैन ॥६३५ अर्ध कथानक

अर्ध कथानक के इस उल्लेख से मालूम होता है कि प्रस्तुत पाडे रूपचन्द्र ही उक्त 'समवसरण पाठ' के रचयिता है। चूँकि उक्त पाठ भी सवत् १६९२ में रचा गया है और प० बनारसो दास जो ने उक्त घटना का समय भी अर्धकथानक में स० १६९२ दिया है। चूँकि उक्त पाठ आगरे को घटना से पूव हो रचा गया था, इससे प्रशस्ति मे उसका कोई उल्लेख नही किया गया।

प० बनारसी दास ने नाटक समयसार को रचना स० १६९३ में समाप्त को है। और स० १६९४ में रूप चन्द्र की मृत्यु हो गई। अतः नाटक समयसार प्रशस्ति म पाँच विद्वाना मे प० रूपचन्द्र प्रथम का उल्लेख किया है। वे वही रूपचन्द्र है जो आगरा मे सं० १६९० के लगभग आये थे।

इनकी सस्कृत भाषा की एकमात्र कृति 'सम्वसरण पाठ अथवा केवल ज्ञान कल्याणार्चा' हे। इसमे जेन तीर्थकर के केवलज्ञान प्राप्त कर लेने पर जो अन्तर्बाह्य विभूति प्राप्त होती है, अथवा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तरायरूप घातिया कर्मो के विनाश मे अनन्त चतुष्टय रूप आत्म निधि की समुपलब्धि होती है उसका वर्णन है। साथ ही बाह्य मे जो समवसरणादि विभूति का प्रदर्शन होता हे वह सब उनके गुणातिशय अथवा पुण्यातिशय का महत्व है—वे उस विभूति से सर्वथा अलिप्त अन्तरीक्ष मे विराजमान रहते ह और वीतराग विज्ञान रूप आत्म-निधि के द्वारा जगत का कल्याण करते हे, ससार के दुखी प्राणियो को उससे छुटकारा पाने और शाश्वत सुख प्राप्त करने का सुगम मार्ग बतलाते है।

कवि ने इस पाठ की रचना आचार्य जिनसेन के आदि पुराण गत 'समवसरण' विषयक कथन को दृष्टि मे रखते हुए की है। प्रस्तुत ग्रन्थ दिल्ली के बादशाह जहागीर के पुत्र शाहजहाँ के राज्य काल में सवत् १६९१ के आश्विन महीने के कृष्ण पक्ष मे नवमी गुरुवार के दिन, सिद्धि योग में और पुनर्वसु नक्षत्र मे समाप्त हुआ है जैसा कि उसके निम्न पद्य मे स्पष्ट है:—

श्रीमत्सवत्सरेऽस्मिन्नरपति नुत यद्विक्रमादित्य राज्ये—
ऽतीते दृगनंद भद्रांशुकृत परिमिते (१६९२) कृष्णपक्षे च मासे।
देवाचार्य प्रचारे शुभनवमतिथौ सिद्धयोगे प्रसिद्धे ।
पौनर्वस्वित्पुडस्थे (?) समवसृतिमहं प्राप्त माप्ता समाप्ति ॥३४

पं० रूपचन्द्र ने 'केवल ज्ञान कल्याणक पूजा' के बनवाने में प्रेरक भगवानदास के कुटुम्ब का विस्तृत परिचय दिया है जो इस प्रकार है:—

मूल संघान्तर्गत नन्दिसघ, बलात्कारगण, सरस्वती गच्छ के प्रसिद्ध कुन्दकुन्दान्वय मे वादी रूपी हस्तियो के मद को भेदन करने वाले सिहकीर्ति हुए। उनके पट्ट पर धर्मकीर्ति, धर्मकीर्ति के पट्ट पर ज्ञानभूषण, ज्ञानभूषण के पट्ट पर भारती भूषण तपस्वी भट्टारको द्वारा अभिनन्दनीय विगतदूषण भट्टारक जगतभूषण हुए। इन्ही भ० जगद्भूषण की गोलापूर्व[1] आम्नाय में दिव्यनयन हुए। उनकी पत्नी का नाम दुर्गा था। उससे दो पुत्र हुए।

१. यह उपजाति है जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण रही है। इसका निवास अधिकतर बुंदेलखण्ड मे पाया जाता है यह सागर, दमोह जबलपुर, छतरपुर, पन्ना, सतना, रीवा, अहार, महोबा, नावई, धुबेला, शिवपुरी, दिल्ली और ग्वालियर के आस-पास के स्थानो मे भी निवास करते है। १२वी और १३वी शताब्दी के मूर्ति लेखो से इसकी समृद्धि का अनुमान लगाया जा सकता है। इस जाति का निकास 'गोल्लागढ' (गोलाकोट) की पूर्व दिशा से हुआ है। उसकी पूर्व दिशा मे रहने वाले गोलापूर्व कहलाए। यह जाति किसी समय इक्ष्वाकु वशी क्षत्रिय थी। किन्तु व्यापार आदि करने के कारण वणिको मे इनकी गणना होने लगी। ग्वालियर के पास कितने ही गोलापूर्व विद्वानो ने ग्रन्थ रचना और ग्रंथ प्रतिलिपि करवाई हैं। ग्वालियर के अन्तर्गत श्योपुर (शिवपुरी) मे कवि धनराज गोलापूर्व ने स० १६६४ से कुछ ही समय पूर्व भव्यानद पंचासिका' (भक्तामर का भाषा पद्यानुवाद) किया था और उनके पितृव्य जिनदास के पुत्र खडगसेन (असिसेन) ने पन्द्रह-पन्द्रह पदो की एक सस्कृत जयमाला बनाई थी। इसकी एक जीर्ण-शीर्ण सचित्र प्रति मुनि कान्तिसागर जी के पास थी। धनराज का हिन्दी पद्यानुवाद पाडे हेमराज

चक्रसेन और मित्रसेन। चक्रसेन की पत्नी का नाम कृष्णावती था, और उससे केवलसेन तथा धर्म सेन नाम के दो पुत्र हुए। मित्रसेन की धर्मपत्नी का नाम यशोदा था। उससे भी दो पुत्र उत्पन्न हुए थे। उनमें प्रथम पुत्र का नाम भगवानदास था, जो बडा ही प्रतापी और संघ का नायक था। और दूसरा पुत्र हरिवंश भी धर्म प्रेमी और गुण सम्पन्न था। भगवान दास की धर्मपत्नी का नाम केशरिदे था। उससे तीन पुत्र उत्पन्न हुए थे—महासेन, जिनदास और मुनिसुव्रत। संघाधिप भगवानदास ने जिनेन्द्र भगवान की प्रतिष्ठा कराई थी और संघराज की पदवी को प्राप्त किया था। वह दान में कर्ण के समान था। इन्ही भगवानदास की प्रेरणा से पंडित रूपचन्द्र जी ने प्रस्तुत पाठ की रचना की थी। पंडित रूपचन्द्र जी ने इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में नेत्रसिंह नाम के अपने एक प्रधान शिष्य का भी उल्लेख किया है, पर वे कौन थे और कहा के निवासी थे, यह कुछ मालूम नही हो सका।

उक्त संस्कृत पाठ के अतिरिक्त कवि रूपचन्द्र का हिन्दी भाषा की निम्न कृतिया उपलब्ध है, जिनमें रूपचन्द्र दोहाशतक, पंचमंगल पाठ, नेमिनाथ रास, जकड़ी और खटोलना गीत आदि हैं।

सुमतिकीर्ति

मूल संघ स्थित नन्दिसंघ सरस्वतीगच्छ बलात्कारगण और कुन्दकुन्दान्वय के विद्वान भट्टारक प्रभाचन्द्र के पट्टधर थे। भट्टारक लक्ष्मीचन्द्र इनके दीक्षा गुरु और भ० वीरचन्द्र शिक्षागुरु थे। साथ मे सुमतिकीर्ति ने ज्ञानभूषण को गुरु मानकर नमस्कार किया है। इन्होने प्राकृत पंचसंग्रह की संस्कृत टीका हंसा ब्रह्मचारी के उपदेश से वि० सं० १६२० मे भाद्रपद शुक्ला दशमी के दिन ईडर के आदिनाथ मन्दिर में बनाकर समाप्त की है।

पंचसंग्रह मे जीव समास, प्रकृति समुत्कीर्तन, कर्मस्तव शतक और सप्तति इन पाँच प्रकरणों का संग्रह है। प्राकृत संग्रह की यह मूल प्राकृत रचना बहुत पुरानी है। इस पर पद्मनन्दी की प्राकृत वृत्ति भी है। इस पंचसंग्रह का १०वी ११वी शताब्दी मे तो संस्कृतकरण श्रीपाल सुत डड्ढा और अमितगति ने किया है। इतना ही नही किन्तु पंचसंग्रह की प्राकृत गाथाएं धवला मे उद्धृत पाई जाती है। सम्भवत: मूल पंचसंग्रह अकलंक देव के सामने भी रहा है। पं० आशाधर जी ने मूलाराधना दर्पण नाम की टीका मे इसकी ५ गाथाएं उद्धृत की है। इसके उत्तर तंत्रकर्ता लोहार्यारिया भट्टारक अथ भूदिअ आयरिया वाक्य से आत्म भूति आचार्य जान पड़ने है। इसमे इसकी प्रामाणिकता और प्राचीनता झलकती है। भट्टारक सुमतिकीर्ति ने इसकी टीका १७वी शताब्दी के पूर्वार्ध में बनाई है।

सुमतिकीर्ति ने धर्मपरीक्षा नाम का एक ग्रन्थ गुजराती भाषा मे १६२५ में बनाया है। ऐ० प० दि० जैन सरस्वती भवन बम्बई की सूची में 'उत्तर छत्तीसी' नामक एक संस्कृत ग्रन्थ है जो गणित विषय पर लिखा गया है, उसके कर्ता भी सम्भवत: यही सुमतिकीर्ति है। सं० १६२७ मे त्रिलोकसार रास की रचना कोदादा शहर में की।

की दीक्षा से पूर्ववर्ती है। मूर्ति लेखो और मन्दिरों की विशालता से गोलापूर्वान्वय गौरवान्वित है। वर्तमान मे भी उसके पास अनेक शिखरबन्द मन्दिर विद्यमान है। गोलापूर्वान्वय के संवत् ११६६,१२०२, १२०७,१२१३ और १२३७ आदि के अनेक लेख है। जिनसे इस जाति की सम्पन्नता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इस उपजाति मे भी अनेक प्रतिष्ठित विद्वान, ग्रन्थकार, और श्रीसम्पन्न परिवार रहे है। वर्तमान मे भी अनेक डाक्टर, आचार्य और विद्वान एवं व्याख्याता आदि है। विशेष परिचय के लिए देखे 'शिलालेखो मे गोलापूर्वान्वय' अनेकान्त वर्ष २४, कि० ३ पृ० १०२

१. 'तत्थ गुणणामं आराहणा इदि। किं कारण? जेण आराधिज्जन्ते अणाअ दसण-णाण-चरित्त-तवाणि त्ति। कत्तारा तिविधा-मूलततकत्ता, उत्तरतत कत्ता, उत्तरोत्तर तत कत्ता चेदि। तत्थ मूलतंत कत्ता भयवं महावीरो। उत्तरतंतकत्ता गोदम भयवदो। उत्तरोत्तरतंतकत्ता लोहायरिया भट्टारक अप्प भूदिअ आयरिया।"

(—पंच स० ५४३,४४)

यह प्रतिष्ठाचार्य भी थे । इन्होंने सम्वत् १६२२ वैशाख सुदी ३ सोमवार के दिन एक मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई थी[1] । इनका समय १७वीं शताब्दी है ।

भट्टाकलंकदेव

यह मूलसंघ देशीयगण पुस्तकगच्छ कुन्दकुन्दान्वय के चारुकीर्ति पंडिताचार्यका शिष्य था। इसने अपने गुरु का परिचय निम्न वाक्यों में दिया है—"मूलसंघ-देशीयगण-पुस्तकगच्छ-कुंदकुन्दान्वय-विराजमान श्रीमद्रायराज गुरु मण्डलाचार्य महावादि वादीश्वर वादिपिता मह सकल बिद्वज्जन चक्रवर्तिबल्लालराय जीवरक्षापालकेत्यादि अनेकान्वित बिरुदावली विराजमान श्रीमच्चारुकीर्ति पण्डितदेवाचार्य शिष्य परम्परापात श्री संगीतपुर सिंहासन पट्टाचार्य श्रीमदकलंक देवनु" । कवि की एकमात्र कृति 'कर्णाटक शब्दानुशासन' नाम का व्याकरण है । जिसे कवि ने शक सं० १५२६ (ई० सन् १६०४) में निर्मित किया है। विलेगियातालु के एक शिलालेख से इसको परम्परा विषयक कुछ बातें ज्ञात होती हैं ।

देवचन्द्र ने अपनी 'राजावली कथे' में लिखा है कि सुधापुर के भट्टाकलंक स्वामी सर्वशास्त्र पढ़कर महा विद्वान हुए । इन्होंने प्राकृत संस्कृत मागधी आदि षट् भाषाकवि हो कर कर्णाटक व्याकरण की रचना की ।

यह कनड़ी भाषा का व्याकरण है इसमें ४ पाद और ५९२ सूत्र हैं । इन सूत्रों पर भाषा मंजरी नाम की वृत्ति और मजरीमकरंद नाम का व्याख्यान है । सूत्र, वृत्ति, और व्याख्यान तीनों ही संस्कृत में हैं । प्राचीन कनड़ी कवियों के ग्रन्थों पर से अनेक उदाहरण दिये हैं । कर्णाटक भाषा भूषण की अपेक्षा यह विस्तृत व्याकरण है । यह कनड़ी भाषा का अच्छा व्याकरण है ।

कवि ने इसमें अपने से पूर्ववर्ती निम्न कवियों-पंप, होन्न, रन्न, नागचन्द्र, नेमिचन्द्र, रुद्रभट्ट, आगल, अंडय्य, मधुर का स्मरण किया है ।

कवि का समय ईसा की १७वीं शताब्दी का प्रथम चरण (१६०४) है ।

(कर्नाटक कवि चरित)

कवि भगवतीदास

यह काष्ठासंघ ,माथुरगच्छ पुष्कर गण के विद्वान भट्टारक गुणचन्द्र के पट्टधर भ० सकलचन्द्र के प्रशिष्य और भट्टारक महेन्द्रसेन के शिष्य थे । महेन्द्र सेन दिल्ली की भट्टारकीय गद्दी के पट्टधर थे । इनकी अभी तक कोई रचना देखने में नहीं आई । और न कोई प्रतिष्ठित मूर्ति ही प्राप्त हुई है। इससे इनके सम्बन्ध में विशेष विचार करना सम्भव नहीं है । भ० महेन्द्र सेन प्रस्तुत भगवतीदास के गुरु थे, इसीसे उन्होंने अपनी रचनाओं में उनका आदर के साथ स्मरण किया है । यह बूढ़िया[2] जिला अम्बाला के निवासी थे । इनके पिता का नाम किसनदास था और जाति अग्रवाल और गोत्र वंसल था । इन्होंने चतुर्थ वय में मुनिव्रत धारण कर लिया था[3] । यह संस्कृत प्राकृत-अपभ्रंश

---

१. संवत् १६२२ वैशाख सुदि ३ सोमे श्री कुन्दकुन्दान्वये ·········भ० श्री विजयकीर्ति देवाः तत्पट्टे भ० श्री शुभचंद्र देवाः तत्पट्टे भ० सुमतिकीर्ति गुरूपदेशात् हुवंड ज्ञातीय गा रामा भार्या वीरा······। अनेकान्त वर्ष ४ पृ० ५०३

२. बूढ़िया पहले एक छोटी सी रियासत थी, जो मुगल काल में धन-धान्यादि से खूब समृद्ध नगरी थी । जगाधरी के बस जाने से बूढ़िया की अधिकांश आबादी वहां चली गई । आजकल वहां खण्डहर अधिक हो गये हैं, जो उसके गत वैभव की स्मृति के सूचक हैं।

३. गुरुमुनि माहिदसेन भगोती, तिस पद-पंकज रैन भगोती ।
किसनदास वणिउ तनुज भगोती, तुरिये गहिउ व्रत मुनि जु भगोती ॥
नगर बूढिये वसै भगोती, जन्मभूमि है आसि भगोती ।
अग्रवाल कुल वंसल गोती, पण्डित पदजन निरख भगोती ॥८३ —वृहत्सीता सतु, सलावा प्रति

और हिन्दी भाषा के अच्छे विद्वान कवि थे। इनको अधिकांश रचनाएं हिन्दी पद्य में लिखी गई हैं, जिनकी संख्या ६० के लगभग है। उनमें कई रचनाएँ भाषा साहित्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, जैसे अनेकार्थ नाममाला (कोष) सीतासतु, टंडाणारास, आदित्य व्रतरास, खिचड़ी रास आदि[1]। इनकी सब उपलब्ध रचनाएं सवत् १६५१ से १७०४ तक की उपलब्ध है, जो चकत्ता बादशाह अकबर[2] जहांगीर और शाहजहां के राज्य में रची गई हैं। ज्योतिष और वैद्यक की रचनाओं की प्रशस्ति सस्कृत म रची थी, रचना हिन्दी पद्या म है जो कारजा के शास्त्र भण्डार में सुरक्षित हैं। इनके रचे अनेक पद और गीत आदि भा मिलते हे। रचनाओं में अनेक रचना-स्थलों का उल्लेख किया है। उनमें बूढ़िया (अम्बाला) दिल्ली, आगरा, हिसार, कपित्थल, सिहर्रादि आदि। कवि को रचनाएं मंनपुरो, दिल्ली, अजमेर आदि के शास्त्र भंडारों में उपलब्ध है। कवि की सब रचनाएं संवत् १६५१ से १७०४ तक की उपलब्ध होती हैं। अतएव कवि का कार्य काल ५४ वर्ष है।

कवि की अपभ्रंश भाषा की तीन रचनाएं उपलब्ध हैं—मृगांक लेखाचरिउ, सुगंधदसमी कहा और मुकुट सप्तमी कथा। मृगांक लेखाचरित में चार संधियां है जिनमें कवि ने चन्द्रलेखा और सागरचन्द के चरित वर्णन करते हुए चन्द्रलेखा के शीलव्रत का माहात्म्य ख्यापित किया है। चन्द्रलेखा विपदा के समय साहस और धैर्य का परिचय देती हुई अपने शीलव्रत से जरा भी विचलित नहीं होती, प्रत्युत उसमें स्थिर रहकर अपने सतीत्व का जो आदर्श उपस्थित किया है, वह अनुकरणीय है। ग्रन्थ की भाषा अपभ्रंश होते हुए भी हिन्दी के अत्यधिक नजदीक है। जैसा कि उसके दोहों से स्पष्ट है—

ससिलेहा णियकंत सम, धारई संजमु सार
जम्मणु मरण जलंजली, दाण सुयणु भव-तार॥
करि तणु तउ सिउपुर गयउ, सो वणि सायरचंदु।
ससिलेहा सुरवरु भई तजि तिय-तणुं अईणिंदु॥

मुकुट सप्तमी कथा में मुकुट सप्तमी व्रत की अनुष्ठान-विधि का कथन किया गया है।

सुगंधदसमी कथा में 'भाद्रपद शुक्ला दसमी के व्रत का विधान और उसके फल का वर्णन किया गया है। शेष सभी रचनाएं हिन्दी की हैं। कवि का समय १७वीं शताब्दी का उत्तरार्ध और अठारहवीं का पूर्वार्ध है।

भ० सिंहनन्दी

मूलसंघ पुष्कर गच्छ के भट्टारक शुभचन्द्र के पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए थे।[3] इन्होंने 'पंच नमस्कार दीपिका' नाम का ग्रन्थ सं० १६६७ में कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा के दिन समाप्त किया है।

अब्देस्तत्त्व रसर्तु चंद्र कलिते (१६६७) श्री विक्रमादित्यके।
मासे कार्तिक नामनीह धवले पक्षे शरत्संभवे।
वारे भास्वति सिद्ध नामनि तथा योगेषु पूर्णातिथौ,
नक्षत्रेऽश्वनि नामनि तत्वरसिकः पूर्णीकृतो ग्रन्थकः॥५५

ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन बम्बई की ग्रन्थ सूची में 'व्रततिथि निर्णय' नाम का एक ग्रंथ भ० सिंहनन्दी के नाम से दर्ज है। यह ग्रन्थ आरा के जैन सिद्धान्त भवन में भी पाया जाता है, पर वह इन्हीं सिंहनन्दी

१. देखो, अनेकान्त वर्ष ११ किरण ४-५ तथा अनेकान्त वर्ष २० किरण ३ पृ० १०४

२. संवत सोलह सइ जु इक्यावन, रविदिनु मास कुमारी हो,
जिन बंदनु करिफिरि घरि-आए, विजय दसमि उजयारी हो (अर्गलपुर जिनवंदना) मह रचना अकबर के राज्य में रची गई है।

३. श्री मूल संघे वर पुष्कराख्ये गच्छे सुजातः शुभचन्द्र सूरि।
तस्याऽत्र पट्टे ऽजनि सिंहनन्दिर्भट्टारकोऽभूद्विदुषां वरेण्यः॥५३

की कृति है या अन्य की, यह ग्रन्थ के अवलोकन के बिना निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। इनके अतिरिक्त कवि की अन्य रचनाएं अन्वेषणीय है। कवि का समय १७ वी शताब्दी है।

पंडित शिवाभिराम

कवि ने अपना परिचय नही दिया और न गुरु परम्परा का ही उल्लेख किया है। केवल अपने को 'पुषद वनिय' का पुत्र बतलाया है। पंडित शिवाभिराम १७वी शताब्दी के विद्वान थे। इनकी दो कृतिया उपलब्ध है षट् चतुर्थ-वर्तमान-जिनार्चन; और चन्द्रप्रभ पुराण संग्रह (अष्टमजिन पुराण संग्रह)।

इनमें से प्रथम ग्रन्थ की रचना मालवदेश में स्थित विजयसार के 'दिविज' नगर के दुर्ग में स्थित देवालय में, जब अरिकुलशत्रु सामन्तसेन हरितनु का पुत्र अनुरुद्ध पृथ्वी का पालन कर रहा था: जिसके राज्य का प्रधान सहायक रघुपति नाम का महात्मा था। उसका पुत्र ध-यराज ग्रन्थ कर्ता का परम भक्त था। उसी की सहायता से वि० सं० १६६२ में बनाकर समाप्त किया है—

नवशि (?) च नयनाख्ये कर्मयुक्तेन चन्द्रे, गतिवति सति जंतो विक्रमस्यैव काले।
निपतदतितुषारे माघचद्रावतारे जिनवर पदचर्चा सिद्धये सप्रसिद्धा ॥१८

दूसरे ग्रन्थ में आठवे तीर्थंकर चन्द्रप्रभ जिन का जीवन-परिचय अंकित किया गया है। उसमे २७ सर्ग है। प्रशस्ति में बतलाया है कि वृहद्गुर्जरवश का भूषण राजा तारासिंह था, जो कुम्भनगर का निवासी था और दिल्ली के बादशाह द्वारा सम्मानित था। उसके पट्ट पर सामन्तसिंह हुआ जिसे दिगम्बराचार्य के उपदेश से जैन धर्म का लाभ हुआ था। उसका पुत्र पद्मसिंह हुआ, जो राजनीति मे कुशल था। उसकी धर्मपत्नी का नाम 'वीणा देवी' था, जो शीलादि सद्गुणों से विभूषित थी। उसीके उपदेश एवं अनुरोध से उक्त चरित ग्रन्थ की रचना हुई है। ग्रन्थ मे रचना काल दिया हुआ नही है। अतएव निश्चित रूप मे यह बतलाना कठिन है कि शिवाभिराम ने इस ग्रथ की रचना कब की है। पर प्रथम ग्रन्थ की प्रशस्ति से यह स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ की रचना १७वी शताब्दी के अन्तिम चरण में हुई है।

पंडित अक्षयराम

यह भट्टारक विद्यानन्द के शिष्य थे। भट्टारकीय पंडित होने के कारण संस्कृत भाषा के विद्वान थे। इनका समय विक्रम की १८वी शताब्दी है। जयपुर के राजा सवाई जयसिंह के प्रधान मन्त्री श्रावक ताराचन्द्र[1] ने चतुर्दशी का व्रत किया था, उसी का उद्यापन करने के लिये पंडित अक्षयराम ने संवत् १८०० में चैत्र शुक्ला पंचमी के दिन 'चतुर्दशीव्रतोद्यापन' नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

अब्दे द्विशून्याष्टैकांके (१८००) चैत्रमासे सिते दले।
पंचम्या च चतुर्दश्या व्रतस्योद्योतन कृतं ॥४॥

कवि नागव

इसके पिता का नाम 'सोड्डेसेट्टि' था, जो कोटिलाभान्वय का था और माता का नाम 'चौडाम्बिका' था। कवि ने 'माणिकस्वामिचरित' की रचना की है। यह ग्रन्थ भामिनी षट्पदी में लिखा गया है, इसमें ३ सन्धिया और २६८ पद्य हैं। इसमें माणिक्य जिनेश का चरित अंकित किया गया है। उसमें लिखा है-कि देवेन्द्र ने अपना 'माणिक जिनबिम्ब' रावण की पत्नी मदोदरी को उसकी प्रार्थना करने पर दे दिया और वह उसकी पूजा करने लगी। राम-रावण युद्ध में रावण का वध हो जाने के बाद मन्दोदरी ने उस मूर्ति को समुद्र के गर्भ में रख दिया। बहुत समय बीतने पर 'शंकरगण्ड' नाम का राजा एक पतिव्रता स्त्री की सहायता से माणिक स्वामी की वह मूर्ति ले आया

१. श्री जयसिंह भूपस्य मंत्रिमुख्योऽग्रणी सता।
श्रावकस्ताराचंद्राख्यस्तेनेदं व्रत समुद्धृतं ॥ —जैन ग्रन्थ प्र० भा० १ पृ० २७

और निजाम स्टेट के 'कुलपाक' नाम के तीर्थस्थान में उसको स्थापित किया। इस मूर्ति के कारण वह एक तीर्थ बन गया।

कवि ने ग्रन्थ के शुरू में माणिक जिन की, सिद्ध, सरस्वती, गणधर और यक्ष-यक्षी की स्तुति की है। ग्रन्थ में समय नही दिया। सभवतः ग्रन्थ का रचना सन् १७०० के लगभग हुई है

(अनेकान्त वर्ष १, किरण ६-७)

पं० जगन्नाथ

इनकी जाति खडेलवाल और गोत्र सोगाणी था। इनके पिता का नाम सौमराज श्रेष्ठी था। जगन्नाथ ज्येष्ठ पुत्र थे और वादिराज लघु पुत्र थे। जगन्नाथ संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान थे। यह टोड़ा नगर के निवासी थे, जिसे 'तक्षकपुर' कहा जाता था। ग्रन्थ प्रशस्तियों में उसका नाम तक्षकपुर लिखा मिलता है। १६वीं १७वीं शताब्दी में टोडा नगर जन-धन से सम्पन्न नगर था। उस समय वहां राजा रामचन्द्र का राज्य था। वहां खंडेलवाल जैनियों की अच्छी बस्ती थी। टोडा में भट्टारकीय गद्दी थी, और वहां एक अच्छा शास्त्र भंडार भी था। प्राकृत और संस्कृत भाषा के अच्छे ग्रन्थों का संग्रह था। वहां अनेक सज्जन संस्कृत के विद्वान हुए हैं। संवत् १६२० में वहां की गद्दी पर मंडलाचार्य धर्मचन्द्र विराजमान थे, जिन्होंने संस्कृत में गोतम चरित्र की रचना की है। यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है।

पंडित जगन्नाथ भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। इन्होंने 'श्वेताम्बर पराजय की प्रशस्ति में अपने को कवि-गमक-वादि और वाग्मि जैसे विशेषणों से उल्लेखित किया है।—**'कवि-गमक-वादि-वाग्मित्व गुणालंकृतेन खांडिल्लवंशोद्भव पोमराज श्रेष्ठि सुतेन जगन्नाथ वादिना कृतौ केवलिभुक्ति निराकरणं समाप्तम्।'**

कर्मस्वरूप नामक ग्रन्थ की प्रशस्ति में कवि ने अपना नाम अभिनव वादिराज सूचित किया है[1]।

कवि की निम्न कृतियां उपलब्ध हैं— चतुर्विंशतिसंधान, (स्वोपज्ञटीका सहित) सुख निधान, नेमिनरेन्द्रस्तोत्र सुषेणचरित्र, कर्म स्वरूप वर्णन।

चतुर्विंशति संधान— स्रग्धरा छन्दात्मक निम्न पद्य को २५ बार लिख कर २५ अर्थ किये हैं। एक-एक प्रकार में २४ तीर्थंकरों की अलग-अलग स्तुति की है, और अन्तिम २५वें पद्य में समुच्चय रूप से चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की है।

श्रेयान् श्री वासुपूज्यो वृषभजिनपतिः श्रीद्रुमांकोऽथ धर्मो
हर्यंकः पुष्पदन्तो मुनिसुव्रतजिनोऽनंतवाक् श्री सुपार्श्वः।
शान्तिः पद्मप्रभोऽरो विमलविभुरसौ वर्द्धमानोप्यजांको।
मल्लिर्नेमिर्नमिर्मा सुमतिरवतु सच्छ्री जगन्नाथ धीरं ॥१॥

दूसरी रचना 'श्वेताम्बर पराजय' है। कवि ने इस ग्रन्थ को विबुध लाल जी की आज्ञा से बनाया है। इसमें श्वेताम्बरों द्वारा मान्य 'केवलिभुक्ति' का सयुक्तिक खण्डन किया है। ग्रन्थ में 'नेमिनरेन्द्र स्तोत्र स्वोपज्ञ' का एक पद्य उद्धृत किया है: -

यतद् तव न भुक्तिर्नष्टः दुःखोदयत्वाद्रसनमपि न चांगे वीतरागत्वतश्च।
इति निरुपमहेतू न ह्यसिद्धाद्यसिद्धौ विशद-विशद दृष्टीनां हृदिलः (?) सुयुक्तये।"

कवि ने इस ग्रन्थ की रचना संवत् १७०३ में दीपोत्सव के दिन समाप्त की थी। उसका अन्तिम पुष्पिका वाक्य इस प्रकार है:—

इति श्वेताम्बर पराजये कवि गमक-वादि-वाग्मित्व गुणालंकृतेन खांडिल्ल वंशोद्भव पोमराज श्रेष्ठि सुतेन जगन्नाथ वादिना कृतौ केवलिभुक्ति निराकरणं समाप्तम्।"

तीसरी रचना सुखनिधान है— इस ग्रन्थ में विदेह क्षेत्रीय श्रीपाल चक्रवर्ती का कथानक दिया हुआ है। प्रस्तुत काव्य ग्रन्थ की रचना सरस और प्रसाद गुण से युक्त है। इस ग्रन्थ की रचना कवि ने राजस्थान में 'मालपुरा'

१. पंडित जगन्नाथेपराख्याभिनववादिराजै विरचिते कर्मस्वरूप ग्रन्थे। —कर्मस्वरूप वर्णन प्रश०

(जयपुर) नामक स्थान में की है।

कवि ने इस ग्रन्थ में 'अन्यच्च अस्माभिरुक्तं शृङ्गार समुद्र काव्ये' वाक्य के साथ अपने शृंगार समुद्र काव्य नाम के ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इस कृति का अन्वेषण होना चाहिये कि किसी भण्डार में यह ग्रन्थ उपलब्ध है या नहीं। इस ग्रन्थ की ५१ पत्रात्मक एक प्रति पाटौदी भण्डार जयपुर में हैं जिसमें उसका रचना काल संवत् १७०० असोज सुदी १०मी दिया है।

चौथी रचना 'नेमिनरेन्द्र स्तोत्र' है। इसमें २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ का स्तवन किया गया है। रचना सुन्दर है और अभी अप्रकाशित है। इसमें भी केवलिभुक्ति और कवलाहार का निषेध किया गया है। इस पर स्वोपज्ञ टीका भी निहित है। इसे प्रकाश में लाना चाहिये। इसका रचना काल भी ज्ञात नहीं हुआ।

पांचवीं रचना 'सुषेण चरित्र' है। इस ग्रन्थ की ४६ पत्रात्मक एक प्रति आमेर भण्डार में उपलब्ध है, जो सं० १८४२ की लिखी हुई है।

छठवीं रचना 'कर्मस्वरूप वर्णन' है, जिसमें ज्ञानावरणादि कर्मों की मूल और उत्तर प्रकृतियों के वर्णन के साथ प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप चार बंधों का स्वरूप निर्दिष्ट किया है। कवि ने इस ग्रन्थ को संवत् १७०७ के चैत महीने के शुक्ल पक्ष की दोइज के दिन समाप्त किया है :—

> वर्षे तत्व नभोऽश्वभू परिमिते (१७०७) मासे मधौ सुन्दरे।
> तत्पक्षे च सितेतरेहनि तथा नाम्ना द्वितीयाह्वये।
> श्री सर्वज्ञ पदांबुजानति गलद ज्ञानावृति प्राभवा—
> स्त्रं विद्येश्वरता गता व्यरचयन् श्री वादिराजा इमम्॥

कवि का समय १७वी शताब्दी का अन्तिम अंश और १८वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है।

कवि वादिराज

यह खंडेलवंशी पोमराज श्रेष्ठी के लघु पुत्र थे। ज्येष्ठ पुत्र पंडित जगन्नाथ थे, जो संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। इनका गोत्र 'सौगाणी' था। यह तक्षक नगर (वर्तमान टोडा नगर) के निवासी थे। लघु पुत्र का नाम वादिराज था। जो संस्कृत भाषा के अच्छे विद्वान, कवि थे और राजनीति में पटु थे। इनके चार पुत्र थे—रामचन्द्र, लाल जी, नेमिदास और विमलदास। विमलदास के समय 'टोडा' में उपद्रव हुआ था जिसमें एक गुच्छक (गुटका) भी लुट गया था। बाद में उसे छुड़ा कर लाये, वह फट गया था, और उसे सम्हाल कर रक्खा गया[1]।

वादिराज ने अपने को उस समय धनजय, आशाधर और वाग्भट का पद धारण करने वाला दूसरा वाग्भट बतलाते हुए लिखा है कि राजा राजसिंह दूसरा जयसिंह हैं और तक्षक नगर दूसरा अणहिलपुर है और मैं वादिराज दूसरा वाग्भट हूँ।

> धनंजयाशाधरवाग्भटानां धत्ते पदं सम्प्रति वादिराजः।
> खांडिल्ल वंशोद्भवपोमसूनुर्जिनोक्ति पीयूष सुतृप्त गात्रः॥३

वादिराज तक्षक नगर के राजा राजसिंह के महामात्य थे[2]। राजसिंह भीमसिंह के पुत्र थे।

कवि की इस समय दो रचनायें उपलब्ध हैं। वाग्भटालंकार की टीका 'कविचन्द्रिका' जिसका पूरा नाम 'वाग्भट्टालंकारावचूरि-कवि चन्द्रिका' है। इस टीका को कवि ने राज्य कार्य से अवकाश निकाल कर बनाई थी। और दूसरी रचना 'ज्ञानलोचन स्तोत्र' नाम का एक स्तोत्र ग्रन्थ। यह स्तोत्र माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थ माला से

---

१. संवत् १७५१ मगसिर वदी तक्षक नगरे खण्डेलवालान्वये सोगानी गोत्रे साह पोमराज तत्पुत्र साह वादिराजस्तत्पुत्र चत्वार प्रथम पुत्र रामचन्द्र द्वितीय लाल जी तृतीय नेमिदास, चतुर्थ विमलदास, टोडा में विषो हुओ, जब पाहुपोथी लुटी, वहां थे छुडाई फटी तुटी संवारि सुधारि आछी करी, ज्ञानावरणी कर्मक्षयार्थ पुत्रादि पठनार्थं शुभं भवतु। प्र० प्र० प्रशस्ति सं० भाग १ पृ० ३६।

२. इति मत्वा रत्नत्रयालंकृत त्रैविद्यवित्तो विमल पोम श्रेष्ठि कुल भूपो महामात्य पदभृच्छ्रीमद्वाग्भट महाकविस्ताव-दिष्ट देवतामभीष्टेति।

प्रकाशित सिद्धान्त सारादि संग्रह में मुद्रित हो चुका है। और पहला ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। कवि ने इसकी अन्तिम प्रशस्ति में अपना परिचय भी अंकित कर दिया है। कवि ने इस चन्द्रिका टीका को वि० सं० १७२९ की दीपमालिका के दिन गुरुवार को चित्रा नक्षत्र और वृश्चिक लग्न में बनाकर समाप्त किया है[1]। कवि की अन्य रचनाएं अन्वेषणीय हैं। कवि का समय १८ वीं शताब्दी है।

अरुणमणि

यह भट्टारक श्रुतकीर्ति के प्रशिष्य और बुध राघव के शिष्य थे। बुध राघव ने ग्वालियर में जैन मन्दिर बनवाया था। इनके ज्येष्ठ शिष्य बुध रत्नपाल थे, दूसरे वनमाली तथा तीसरे कान्हरसिंह थे। प्रस्तुत अरुणमणि (लालमणि) इन्हीं कान्हरसिंह के पुत्र थे। प्रशस्ति में इन्होंने अपनी गुरु परम्परा[2] इस प्रकार बतलाई है—काष्ठा संघ में स्थित माथुरगच्छ और पुष्करगण में लोहाचार्य के अन्वय में होने वाले भ० धर्मसेन, भावसेन, सहस्रकीर्ति, गुणकीर्ति, यशकीर्ति, जिनचन्द्र, श्रुतिकीर्ति के शिष्य बुधरत्नपाल, वनमाली और कान्हरसिंह। इनमें कान्हरसिंह के पुत्र अरुणमणि ने **'अजित पुराण'** की रचना मुगल बादशाह अवरगशाह (औरंगजेब) के राज्य काल में सं० १७१६ में जहानाबाद नगर (वर्तमान न्यू दिल्ली) के पार्श्वनाथ जिनालय में बनाकर समाप्त की है[3]।

इनके शिष्य पं० बुलाकीदास थे। इन्होंने दिल्ली में बुलाकीदास को पढ़ाया था। कवि बुलाकीदास ने प्रश्नोत्तर श्रावकाचार प्रशस्ति में इनका निम्न पद्यों में उल्लेख किया है—

"अरुन-रतन पंडित महा, शास्त्र कला परवीन।
बूलचन्द तिनपै पढ्यो, ग्यान अश तहाँ लीन ॥१९
बहुत हेत करि अरुन नै, दयो ज्ञान को भेद।
तव सुबुद्धि घट में जगी, करि कुबुद्धि तम छेद ॥"२०

प्रस्तुत अजितपुराण में दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ का जीवन-परिचय अंकित किया गया है। रचना सरस और सरल है।

भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति

यह मूलसंघ के भट्टारक जगतकीर्ति के पट्टधर थे। जगतकीर्ति भ० सुरेन्द्रकीर्ति के पट्ट पर सं० १७३३ में

---

१. सवत्सरे निधिदृगश्व शशाङ्कयुक्ते दीपोत्सवाख्य दिवसे सगुरौ सचित्रे।
लग्नेऽलि नाम्नि च समाप गिरः प्रसादात् सद्वादिराज रचिता कवि चन्द्रिकेयम् ॥ १
श्री राजसिंह नृपतिर्जयसिंह एवं श्री तक्षकाख्यनगरी अणहिल्लतुल्या।
श्री वादिराज विबुधोऽपर वाग्भटोऽयं श्री सूत्र वृत्तिरिह नन्दतु चार्क चन्द्रम् ॥ २
श्रीमद्भीमनृपालजस्य बलिनः श्री राजसिंहस्य मे,
सेवायामवकाशमाप्य विहिता टीका शिशूनां हिता।
हीनाधिक्य वचो यदत्र लिखितं तद्वै बुधैः क्षम्यताम्।
गार्हस्थ्यावनिनाथसेवनधियः कः स्वस्थता माप्नुयात् ॥ ३

२. देखो, जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भाग १, पृ० ६७।

३. रस-वृष-यति-चंद्रे ख्यात संवत्सरे (१७१६) ऽस्मिन्,
नियमित सितवारे वैजयन्ती दशम्यां,
अजित जिनचरित्रं बोध पात्रं बुधानां,
रचितममलवाग्मि-रक्त रत्नेन तेन॥४०
मुद्गले भूभुजां श्रेष्ठे राज्येऽवरंग साहिके।
जहानाबाद-नगरे पार्श्वनाथ जिनालये ॥४१

आमेर में प्रतिष्ठित हुए थे[1]। यह अपने समय के अच्छे विद्वान थे। भ० देवेन्द्र कीर्ति ने 'समयसार' ग्रन्थ की एक टीका 'ईसरदे' ग्राम में संवत् १७८८ में भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी को बनाकर समाप्त की थी। जैसा कि उसके निम्न पद्यों से प्रकट है :—

वस्वष्टयुक्तसप्तेन्दुयुते (१७८८) वर्षे मनोहरे।
शुक्ले भाद्रपदे मासे चतुर्दश्यां शुभे तिथौ ।।१
ईसरदेति सद्ग्रामे टीका पूर्णितामिता।
भट्टारक जगत्कीर्तेः पट्टे देवेन्द्रकीर्तिना ।।२
दुष्कर्महानये शिष्य मनोहर-गिरा कृता।
टीका समयसारस्य सुगमा तत्वबोधिनी ।।३

इस टीका का नाम कवि ने 'तत्वबोधिनी' दिया है। कवि का समय विक्रम की १८वीं शताब्दी का अन्तिम चरण है।

भ० धर्मचन्द्र

मूलसंघ बलात्कार गण भारतीगच्छ के भट्टारक श्रीभूषण के शिष्य थे। इन्होंने अपनी परम्परा निम्न प्रकार बतलाई है—नेमिचन्द्र, यशः कीर्ति, भानुकीर्ति और श्रीभूषण। इनकी जाति खंडेलवाल और गोत्र सेठी था। यह संवत् १७१२ में पट्ट पर बैठे थे। और उस पर १५ वर्ष तक रहे। इनका पट्ट स्थान महरोठ था। भट्टारक धर्मचन्द्र ने वि० सं० १७२६ में ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया शुक्रवार के दिन रघुनाथ नामक राजा के राज्य में महाराष्ट्र ग्राम के आदिनाथ चैत्यालय में 'गौतम चरित्र' बनाकर समाप्त किया है। कवि का समय १८ वीं शताब्दी है[2]।

विमलदास

यह अनन्तसेन के शिष्य और वीरग्राम के निवासी थे। तर्कशास्त्र के अच्छे विद्वान थे। इन्होंने प्लवंग सवत्सर की वैशाख शुक्ला अष्टमी बृहस्पतिवार के दिन सप्तभंग तरंगिणी नाम का ग्रंथ तंजोर नगर में पूर्ण किया था। यह ग्रंथ प्रकाशित हो गया है। इनका समय १७वीं शताब्दी अनुमानित किया गया है।

सप्तभंग तरंगिणी ग्रंथ का विस्तार ८०० श्लोक प्रमाण हैं। उसमें समन्तभद्र, अकलंक, विद्यानन्द माणिक्यनन्दी और प्रभाचन्द्र आदि के ग्रन्थों के उद्धरण देकर सरल भाषा में स्याद्वाद के अस्ति-नास्ति आदि सप्तभंगों का विवेचन किया है, तथा अनेकान्तवाद में प्रतिपक्षियों द्वारा दिए गए संकर, व्यतिकर, विरोध और असभव आदि दोषों का निरसन किया है। अन्त में लेखक ने बौद्ध, मीमांसक नैयायिक और सांख्यादि मतों में अप्रत्यक्ष रूप से सार पेक्षवादका अवलम्बन किया है, इसको स्पष्ट किया है।

१. संवत् सत्रासै अर तेतीसै, सावणवदि पंचमी भणि।
पदवी भट्टारक अचल विराजित धण दान धण राजतंत्र ।। —भट्टारक पट्टावली

२. श्रीमच्छ्रिगणाधिपो विजयतां श्रीभूषणाख्यो मुनिः ।।२६६
पट्टे तदीये मुनि धर्मचन्द्रोभूच्छ्री बलात्कार गणे प्रधानः।
श्री मूलसंघे प्रविराजमानः श्री भारती गच्छ सुदीप्ति भानुः ।।२६७
राजच्छ्री रघुनाथ नामनृपतौ ग्रामे महाराष्ट्रके।
नाभेयस्य निकेतनं शुभतरं भाति प्रसौख्याकरम् ।।
× × ×
तस्मिन् विक्रमया द्विवाद रस युगाद्रींदु प्रमे वर्षके।
ज्येष्ठे मासे सितद्वितीये दिवसे कांते हि शुक्रान्विते ।।२६९ —गौतम चरित्र